पाक्षिक
सारिका
जनवरी : अंक-२
विशेष -
काला आसमान, पेट की राजनीति
और मेरा शहर : अजमेर
टाइम्स ऑफ इंडिया
१.५०
प्रकाशन

आज के सर्वाधि[illegible] ...टार

गुलशन [illegible] ...सी परम्परा में

राजवंश संगीता

मुसाफ़िर

स्टार पाकेट सीरीज़ के स्थायी उपन्यासकार हैं!

की नई भेंट
के रूप में प्रस्तुत है :—

कल्पना

सामाजिक उपन्यासों की यह नई लेखिका अब आपके हमारे-सबके जीवन की घटनाओं एवं पात्रों को लेकर नये नये रोचक उपन्यास 'स्टार' सीरीज़ के अन्तर्गत प्रस्तुत करेंगी

कल्पना का नया प्रथम उपन्यास

और साथ ही पढ़िये **यह नई स्टार बुक्स**

कामिनी	(उपन्यास)	राजवंश	४.००
इश्क़ पर ज़ोर नहीं	"	आदिल रशीद	४.००
काहे होत उदास	(उपन्यास)	गुरुदत्त	४.००
ठोकर	"	संगीता	४.००
वचन	"	मुसाफिर	३.००
सागर और सीपियां	"	अमृता प्रीतम	३.००
लाश का रहस्य	(जासूसी उपन्यास)	गुप्तदूत	३.००
दर्द की तस्वीरें	(उपन्यास)	कमल शुक्ल	३.००
अपने अपने साये	(उपन्यास)	आशा सिंह	३.००
जफर की शायरी	(उर्दू शायरी)	बहादुर शाह 'जफ़र'	३.००

और स्टार की एक और नई लाभप्रद योजना **स्टार बुक बैंक**

केवल 30/- देकर 60/- प्राप्त करें

इस योजना के अन्तर्गत केवल 30/- देकर प्रत्येक मास 8/- मूल्य के आपके प्रिय लेखकों के दो नये उपन्यास (डाक व्यय फ्री) छ मास तक घर बैठे प्राप्त करेंगे। इस प्रकार 30 रु० के बदले 48 रु० के उपन्यास एवं 12 रु० डाक व्यय अर्जित कर पायेंगे।

स्टार बुक बैंक की सदस्यता के लिए आज ही 30/- का मनीआर्डर भेजें या पहले मास के दो उपन्यास 30/- की वी०पी०पी० से मगाने के लिए लिखें। तदोपरान्त 5 मास तक दो नये उपन्यास हर महीने घर बैठे प्राप्त करें।

JUPITER

सब के मनोरंजन के लिये सर्वाधिक लोकप्रिय **स्टार बुक्स**

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा०) लि०
आसफ़ अली रोड, नई दिल्ली-110002

सारिका

जनवरी : अंक-दो,
१६ से ३१ जनवरी, १९७९
वर्ष : १९; अंक : २३५

कहानियों और कथा-जगत की जीवंत पाक्षिक

आवरण : एन. एस. ओलानिया

कहानियां

ज़िन्दगीनामा : (अंतिम किस्त)

विशेष

रिपोर्ताज

अन्य आकर्षण

संपादक :
कन्हैयालाल नंदन

उप-संपादक :
अवधनारायण मुद्गल,
रमेश बत्तरा,
सुरेश उनियाल

सज्जा : रवि शर्मा

टाल गये

साक्षात्कार के अंतर्गत राहीजी का स्वयं का यह स्वीकारना कि "जब तक ज़रूरी न हो थोड़ा पढ़कर (हिंदी) टाल जाना" से लगता है उन्होंने प्रेमचंद को ठीक से पढ़ने की कोशिश नहीं की (टाल गये). नहीं तो वे प्रेमचंद को "रियलिस्टिक" कम और रोमांटिक ज्यादा नहीं कहते.

■ यशवंत, सिन्दरी (बिहार)

सांप्रदायिक समस्या का कांग्रेस मार्का हल

सारिका के दिसंबर अंक-1 में प्रसिद्ध लेखक राही मासूम रज़ा के लंबे साक्षात्कार पर टिप्पणी करना चाहता हूं. विश्वनाथजी ने उन्हें सही मुद्दों पर पकड़ा है.

राही साहब का यह कथन सही है "संप्रदायवाद हमारी पिछड़ी हुई आर्थिक स्थितियों की देन है, इसलिए इसे हिंदू या मुसलमान में बांटना भी ग़लत है." लेकिन स्वयं उन्होंने अपने उपन्यासों में हिंदू संप्रदायिक मनोवृत्ति को संतुष्ट करने की वृत्ति का परिचय दिया है.

पहली बात तो यह है कि उन्होंने मुस्लिम समुदाय के उच्च-मध्य वर्ग के सामंती ढांचे के पतनशील चरित्रों को मुस्लिम प्रतिनिधि पात्रों के रूप में चित्रित किया है, जो कि कतई विशाल मुस्लिम बहुमत का प्रतिनिधित्व नहीं करते.

ऐसा करते हुए उन्होंने जाने-अनजाने हिंदू सांप्रदायिकता के सामंती सोच को ही खुश करने का प्रयत्न किया है. वे इसमें सफल भी हुए.

उनके शेरवानी व चूड़ीदार पहने और उर्दू बोलते हुए हिंदू पात्र और ईद-होली के दिन हिंदुओं से गले मिलते हुए मुस्लिम पात्र बेहद नकली लगते हैं. संप्रदायिक समस्या का कांग्रेसी मार्का 'धर्मनिरपेक्ष' हल वे दिखाते हैं और इसका पर्याप्त फ़ायदा उठाते हैं. जबकि मुस्लिम समाज की आर्थिक व सामाजिक समस्याओं को वे ज़रा भी नहीं छूते.

यह विशाल समुदाय आज भी उसी प्रकार उपेक्षित है जैसा कि आज से तीस साल पहले आज़ादी मिलने के वक्त था. पिछले तीस साल की राजनीति कभी मुस्लिम संप्रदायिकता, तो कभी हिंदू संप्रदायिक ताकतों को खुश करके वोट बटोरने की राजनीति रही है.

राही साहब उसी श्रेणी के साहित्यकार हैं.

प्रेमचंद के "रंगभूमि" उपन्यास पर सतही ढंग से टिप्पणी उन्होंने की है. जहां तक "गोदान" के "रोमांटिसिज़्म" का प्रश्न है वह यथार्थ-आच्छादित है. और तत्कालीन सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा सीमित भी है. लेकिन "आधा गांव" का रोमांटिसिज़्म तो पतनशील सामंती ढांचे के प्रति रोमांटिक लगाव का द्योतक है. "गोदान" की आंचलिकता प्रमाणिक है तो "आधा गांव" की आंचलिकता सीमित व विकृत है.

■ शाकिर अली, बिलासपुर (म. प्र.)

राही साहब की थकावट देखिए

पत्र राहीजी के उत्तर से ही प्रारंभ करता हूं, "आपका विरोध जनसंघ से?"

"नहीं, सिर्फ़ जनसंघ से नहीं. मैं जमाते-इस्लामी और जनसंघ दोनों का विरोधी हूं. ये दोनों सांप्रदायिक हैं और संप्रदाय धर्म को "एक्सप्लायट" करता है, उसका ग़लत लाभ उठाता है."

उपरोक्त विचार राही साहब के फिर पढ़ने को मिले, बड़ा अच्छा लगा. इसी संदर्भ में बहुत पहले शायद "भिवड़ी" कांड के बाद सारिका में ही पढ़ने को मिला था.

उसमें भी उन्होंने बड़ी साफ़गोई के साथ अपनी बात कही थी और संप्रदाय को दोषी ठहराया था. अलीगढ़ मु. वि. वि. के बारे में उनके विचार थे कि यह संस्था क्यों न सभी धर्मावलंबियों के तलबाओं को समान रूप से तालीम पाने का अधिकार दे. यह एक राष्ट्रीय संस्था है जिसमें राष्ट्र (जनता) का हर समान रूप से सहयोगी है. किसी खास धर्मावलंबी के लिए बांधकर रखना श्रेयस्कर नहीं है.

राहीजी के ऐसे तमाम विचारों से मुझे ऐसा लगता है कि अगर हर धर्म के लोग अपने को थोड़ा-सा इधर-उधर खिसका कर चलें तो भारतीय जनता एक ही राष्ट्रीय धारा में जुड़ सकती है.

पर राहीजी जैसे लोग नाम निहाद हैं और जो लोग हैं भी, वे भी प्रयासों से थके से लगते हैं. अब राही साहब की थकावट देखिए (सारिका चर्चित अंक) "आधा गांव" छपने पर मुसलमानों की प्रतिक्रिया ने ठेस पहुंचायी तो वे हार गये जब समझाने की बात चली तो कहते हैं

"मैं समझाता नहीं, अपनी बात कहता हूं. वक्त भी कहां है समझाने का और फिर मैं तो यह मानता हूं, समझाना शुरू करके स्वयं अपना अपमान करूंगा. उतने समय को लिखने में नहीं लगाऊंगा?"

मैं आशा करता हूं कि राहीजी समय-समय पर इसी राह पर अपनी लेखनी द्वारा अवश्य दिशा-निर्देश देते रहेंगे. समान विचार वाले और भी लोग अगर इस मुहिम से जुड़े तो राष्ट्रीय हित होगा.

■ यादव बच्चन आज़मी, ओबरा, मिर्ज़ापुर (उ.प्र.)

राही का तेवर

साक्षात्कार के अंतर्गत जनाब राही मासूम रज़ा से लंबी और बेलाग बातचीत बहुत पसंद आयी. राही साहब के लेखन की एक अपनी शैली है, अपना तेवर है, अपना अंदाज़ है.

सही बात को वे घुमा-फिरा कर नहीं कहते, स्पष्ट रूप से स्वीकारते हैं और अपने पक्ष का दृढ़तापूर्वक औचित्य सिद्ध करते हैं. ये सब बातें राही साहब को एक अच्छा लेखक ही नहीं, एक अच्छा इंसान भी साबित करती हैं.

■ हरीश जी. करमचंदाणी, सिंधुनगर, जोधपुर (राज.)

पलायन उचित नहीं

दिसंबर अंक-1 में विश्वनाथ के साथ मासूम साहब की लंबी बातचीत को पढ़ा. कम्युनिज़्म के संबंध में मासूम साहब के विचार जानकर प्रसन्नता हुई. देश के साहित्यकारों की बड़ी भूमिका होती है किसी भी रचनात्मक कार्य में! आम लोगों की मनोवृत्ति को सही दिशा देने का जिम्मा इन्हीं पर होता है. फख्र की बात है मासूम साहब ने अपने पर "हिंदू" होने के आरोप को भी राष्ट्रीयता के नाम पर मुस्कराकर छोड़ दिया.

पर मैं एक बात कहूंगा. क्या सैद्धांतिक आधार पर भावनात्मक प्रवाहों को भी रोका जा सकता है? यदि ऐसा हो भी सके तो क्या ऐसा सिद्धांत ग्राह्य होगा? क्या प्रेमचंद को इस आधार पर दोषी समझा जाना चाहिए कि उन्होंने तत्कालीन समाज का सही रूप प्रतिबिंबित किया है? (जो वह चाहते भी थे.) रज़ा साहब को "रंगभूमि" के आधार पर प्रेमचंद को नापसंद करने का कोई कारण समझ में नहीं आता. लेखकों को आशावादी, काल्पनिक और संश्लेषणात्मक होना चाहिए, ठीक है पर, रोमांटिक (अंग्रेज़ी) कवियों, लेखकों की तरह पलायन भी तो उचित नहीं है. यथार्थ-यथार्थ है!

"नश्तर" और "सवारियां" में नयापन नहीं था. पानू खोलिया की दो किस्तों वाली कहानी **"अन्ना"** अति सुंदर लगी. कहानी पढ़कर एक बेचैनी महसूस कर रहा था—घुटन-सी महसूस हो रही थी. शायद इससे बचने का कोई रास्ता भी तो सामने नहीं था. अन्ना और प्रोफ़ेसर के माध्यम से आधुनिक 'सभ्य' शहरी समाज का अद्वितीय चित्र प्रस्तुत किया है पानू जी ने!

■ **प्रमोद कुमार झा, डोरंडा, रांची**

अंदाज़ भी फिल्मी, विचार भी!

"सारिका" के दिसंबर-1 अंक में राही मासूम रज़ा का साक्षात्कार पढ़ा. राहीजी फिल्मी लेखक हैं, विचारों से भी और अंदाज़ से भी. इन्हें गुलशननंदा जैसे व्यवसायी लेखकों की श्रेणी में रखना उचित होगा. सार्त्र, इकबाल और प्रेमचंद जैसे विश्व-विख्यात साहित्यकार इन्हें पसंद नहीं हैं. इसका कारण स्पष्ट है. न तो इन जैसा लिखने की राहीजी में प्रतिभा है और न ही इन्हें समुचित रूप से समझना इनके वश की बात है.

■ **प्रो. रामनिवास "मानव", लाडवा (कुरुक्षेत्र)**

....तो निंदा करो!

"सारिका" दिसंबर-1 को छोड़कर बाकी सभी अंकों के संपादन के लिए बधाई. इस अंक की कहानियां "जीवंत" तो कदापि नहीं थीं.

"रंगभूमि" में प्रेमचंद ने हिंदू-मुस्लिम लड़के-लड़की का प्रेम तो करा दिया, पर उनके भीतर के कांग्रेसवाद ने उन दोनों की शादी नहीं होने दी ....." राहीजी का यह कथन पढ़कर मुझे वही कहावत याद हो आयी, जिसमें कहा गया है अगर कोई तुम्हारी बात न सुने, तो निंदा करो! मैंने (पुनः) **रंगभूमि** पढ़ा—इस बार चश्मा उतारकर (मैं मायोपिक हूं) —पर उसमें कहीं हिंदू-मुस्लिम लड़के-लड़की के प्रेम के चित्रण की बात तो दूर, ऐसे पात्र भी न मिले. हां, एक क्रिश्चियन लड़की है, जिसकी शादी हिंदू लड़के से केवल इसलिए नहीं हो पाती है कि पात्र एवं परिस्थिति की मांग थी—"विनयसिंह" की मौत. (आखिर राही जी भी स्वीकार करते हैं—मेरे लेखन का केंद्र मनुष्य है, करेक्टर है. यदि प्लाट भारी पड़ गया तो इस करेक्टर को विकास का मौका नहीं मिलेगा.....) और प्रेमचंद ने केवल उक्त करेक्टर को जीया भर है.

"गोदान" के ग्रामीण-चित्रण में उन्हें रियलिज़्म कम, रोमांटिसिज़्म ज्यादा दिखा. पर मेरा एक सवाल राहीजी के मुखातिब—क्या राहीजी ने गांव देखा भी है? अगर हां, तो....ओह! मैं भूल ही गया था—**"आधा गांव"** के पात्र आपस में गाली-गलौज कर सकते हैं, पर "पूरे" गांव के लोगों में अनैतिकता की वास्तविकता नहीं, रोमांटिसिज़्म ही हो सकता है.

इसी प्रकार गाडगील साहब भी कह चुके हैं—प्रेमचंद से ज्यादा उन्हें शरत् बाबू प्रभावित करते हैं .... उर्फ़ उन्होंने प्रेमचंद को बहुत थोड़ा पढ़ा है.....कैसी विडंबना है!

■ **विजय कुमार पंजियारा, पटना (बिहार)**

बनावट की दीवार

"मैं पचास फुट के सहारे ज़िंदा हूं." साक्षात्कार काफ़ी उबाऊ लगा. हर जगह बनावट की दीवार खड़ी महसूस होती है. लघुकथा **"नीली छत वाली मां"** वास्तव में ऐसे कितने ही दुधमुंहे बच्चों के साथ यह कहानी घटती है. इसे पढ़कर मानो दिल में एक अजीब रोमांच हो जाता है.

■ **श्री नारायण प्र. अमानी, सीतामढ़ी**

शिकायतों की दास्तान

"साक्षात्कार" में डॉ. राही मासूम रज़ा से विश्वनाथ की बातचीत सिर्फ़ शिकायतों की दास्तान है. पारिश्रमिक को लेकर "सारिका" से शिकायत, पुरस्कार न मिलने के लिए साहित्य अकादमी से शिकायत और राजनीतिक स्तर पर अनेक पार्टियों से शिकायत.

पर इससे अलग भी कुछ है—शेक्सपीयर, सार्त्र, इकबाल, कमलेश्वर और नागार्जुन के प्रति रज़ा की नापसंदगी. पर बात यहीं खत्म नहीं होती. प्रेमचंद की जैसी दुर्गति का प्रयास उन्होंने किया है, वह अक्षम्य लगता है. क्या प्रेमचंद किसी राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रेरित थे? क्या प्रेमचंद की **"रंगभूमि"** का आधार वैसा था जैसा राही मासूम रज़ा की कल्पना में समा गया है? **"गोदान"** उन्हें जैसा भी लगा हो, उसकी रेटिंग कर देना क्या इतना सहज है? और अंत में विश्वनाथ के अंतिम सटीक सवाल पर यह कहना, "अरे नहीं, मैं बुरा लिखता ही कब हूं." राही मासूम रज़ा का पूरा व्यक्तित्व ही उजागर कर देता है.

■ **सुधाकर झा, दामोदर घाटी परियोजना, कलकत्ता.**

ज़िंदगीनामा

• कृष्णा सो…
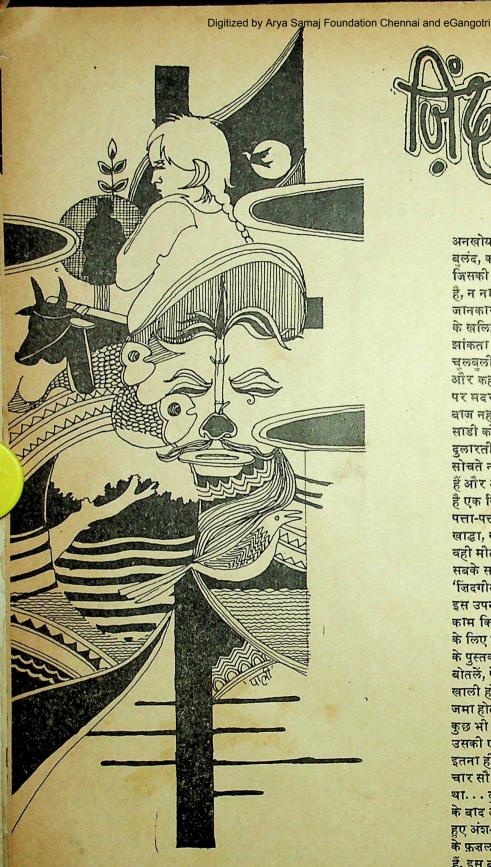
अनखोया बचपन—कविता की उम्र जितना बुलंद, कथा कहने की परंपरा जितना रोमांचक. जिसकी महायात्रा का किस्सा न दादी जानती है, न नानी! पूछे पता नहीं लगता, जाने जानकारी नहीं. . . तब उकर आते हैं स्मृतियों के खलिहान में कई-कई झरोखे और उनमें झांकता है गांव-गवारी का मीठा बचपन, चुलबुली वयसंधि. . . कहीं रेत के घरौंदे उसारती और कहीं अजनबी क्षणों को बिसारती! पर मदरसे की घंटियां दस्तक दर दस्तक देने से बाज नहीं आतीं—रब्बा-रब्बा मींह वसा, साडी कोठी दाने पा! . . . वे अठखेलियां जो कभी दुलारती हैं, तो कभी झकझोर जाती हैं. . . . सोचते न सोचते एक पौध-सी रोपित होने लगती हैं और अपनी खट मिठियां अदाओं से बन जाती है एक जिंदा दरख्त. . . जिनकी टहनी-टहनी, पत्ता-पत्ता सुख देता है. . . उसी सुख को 'वंड खाद्धा, खंड खाद्धा, यानी जो बांटकर जीया वही मीठा की इच्छा से कृष्णा सोबती हम सबके साथ बांट रही हैं, अपने नये उपन्यास 'ज़िंदगीनामा' में.

इस उपन्यास पर उन्होंने किस प्रकार जुट कर काम किया है, एक छोटे से छोटे तथ्य को जांचने के लिए कितने घंटे नियमित राष्ट्रीय अभिलेखागार के पुस्तकालय में बिताये हैं, कितनी स्याही की बोतलें, पेन की नोक से होती हुई कागज़ों पर खाली हो कर उन की मेज़ के आसपास जमा होती गयी हैं. और इस उपन्यास के बारे में कुछ भी कहने में वे कितना कतराती रही हैं, उसकी एक अलग कहानी है. अभी तो सिर्फ़ इतना ही कि उन्होंने इस उपन्यास के लगभग चार सौ पृष्ठ छप जाने पर उसे वापस ले लिया था. . . दुबारा लिखने के लिए. वर्षों के अंतराल के बाद आ रही उनकी इस कृति के कुछ चुने हुए अंश—मदरसा, मुज़रा, मुबारकें, अल्लाह के फ़ज़ल से 'सारिका' के पाठक पढ़ चुके हैं. इस बार पढ़िए दो और महत्वपूर्ण अंश.

औक़ात
न क़लम की
न लेखक की
न लेखन की
ज़िंदगी ख़ुद-ब-ख़ुद
फैलती चली गयी
काग़ज़ के पन्नों पर
कुछ इस तरह
ज्यों धरती में उग आया हो
गहरी जड़ों वाला
विशाल ज़िंदारुख़

एक

उजियारी चादर का सूत

शरद पुण्या की रात!

पिण्ड के कच्चे कोठे चम्म-चम्म चमकने लगे. दमकने लगे. चान्ननी ने सजरी लिपाई से खेत-खलियान, रूख-वृख सब उजरा-उजला दिये.

कूओं के मिट्ठड़े सुर झलमल-झलमल हियरों को हुलसाने लगे.

वेटों-बच्चड़ों के साथ घरों को लौटती बलदों की जोड़ियां जी की तृखा-प्यास जगाने लगी.

चूल्हों से उठती उपलों की कच्ची गंध हर कोठे, हर चौके को महकाने-लहकाने लगी!

रब्बा ये सोहणे समय मनुक्खों के साथ लगे रहें. सजे रहें.

चिट्टी दूध चांदनी में तुरकी बुलबुलों की डार पंख फैलाये अपनी लंबी उडारियों पर.

"लो एक और आया झुंड."

"बग्ग है कि टोका?"

"टोका है."

"न, बग्ग है."

"वीरजी, ये कहां जा रही हैं उड़कर?"

मिट्ठी के भाई मेहरबान ने सिर पर लाड़ से दो धप्पे दिये—

"सुन न, ये चोग के लिए आयी थीं हमारे पिण्ड. चुग्गा जुटाकर अब जा रही हैं तेरी ससुराल."

"हट परे वीरा!"

मीढ़ियां गुंथे सिर पर चौंक फूल डाले मिट्ठी ने भाई की बांह पर चूंढ़ी भर ली. फिर दंदियां झकाकर कहा—

"मंगनी मेरी हुई है कि तुम्हारी! बताऊं तुम्हारी लाड़ीजी का नाम. डोडो-डोडो...."

"चल मरजानी!"

शाहों के कोठे पर कुड़ियों-चिड़ियों के झुंड खेनू खेलने में मग्न थे. छलांग मार मिट्ठी उनमें जा मिली—

आल थाल
पहला थाल
मां मेरी के
लंबे बाल
कूएं हेठ पानी
मां मेरी रानी
काढ़ेगी कसीदड़ा
दूध पाय मथानी!

ऊपर माउंटीवाले बनेरे पर बांहें फैलाये लड़के दरिया की सीध देखने लगे.

"वह देखो अल्लाह रक्खे की बेड़ी—वह किनारे लगी शाहों की."

वह बीच भंवर में दरिया पीर ख़्वाजा खिज़र की बेड़ी झूलती रहती है.

किसी को दिखती नहीं है, पर होती जरूर है!

पीछे से आ चन्नी ने भाई का कुरता खींच लिया—

"मुझे भी दिखाओ न वीरजी. दरिया पीर की बेड़ी क्या कभी नहीं डूबती!"

"हाथ जोड़ दे चन्निये. ख़्वाजा खिज़र ज़िंदगानी के पीर हैं. आप ही दरियाओं में भंवर डालते हैं और आप ही बेड़ियों को पार उतारते हैं."

चन्नी ने आंखें मूंद दरिया की सीध हाथ जोड़ दिये.

"देखो, देखो, दरिया में दो चांद हैं. दो नहीं. एक ऊपर आसमान पर और एक थल्ले पानी में."

"ऊपर वाले का लिशकारा है. जा चन्नी, शाहनी से कांसी का कटोरा लेकर आ. ऊपर वाला चांद हाथ में पकड़ा दूंगा."

खुल्लरों की निक्की और पास ढुक आयी—

"कटोरा मुंह को लगाकर मैं चांद को पी जाऊंगी."

जितने कांसी का कटोरा आये, घोलू ने बंद मूठ में से पंजीरी

का फक्का मार लिया.

खुशबू आते ही लड़कों ने घेर लिया—

"तेरी मां ने पुण्या का व्रत रखा है क्या?"

"न, निक्की बेबे बांट रही है सबको."

"चलो भई, चलो निक्की बेबे के अंगना."

चांद-कटोरा भूल-भाल लड़के कोठों पर कुलांचे भरते चले.

मोहरे की बेबे से हांक पड़ गयी—

"अरे कख न जाये तुम्हारा, नीचे मिट्टी झड़ती है. कहीं रण जीतने तो नहीं जा रहे!"

मंजी पर चौकड़ी मार लाला वड्डे दूध-परांठा खाकर तृप्त हुए ही थे कि बानरों की टोली आ प्रकटी.

"बेबेजी, प्रसाद. बेबेजी पंजीरी."

"आओ मेरे बच्चड़ो, आओ! निक्किये, बालड़ों को बैठने को खीड़े दो. आसन दो."

बेबे निक्की खुश हो-हो गयी—

"साइंया, आज सारा आंगन सुच्चा है. सजरी लिपाई की है. इनका जहां मन आये बैठें."

लड़कों के पीछे-पीछे लड़कियां भी घिर आयीं.

"बेबेजी, प्रसाद खत्म तो नहीं हो गया?"

"न री न! प्रसाद में बहुत बरकत."

मुंह मीठा कर बच्चे लालाजी के पीछे पड़ गये.

"लालाजी कहानी. लालाजी बुझारतें. लालाजी कोई किस्सा."

लाला वड्डे की अंखियों के आगे अपने बचपन की पुण्या उतर आयी. हंसकर कहा—

"पुत्रजांजी, बाबा पीरनेवाली बेरियों पर बेर झाड़ने कौन-कौन जाता रहा."

"लालाजी, वहां कैसे जाते. वहां तो कुत्ता पड़ता है."

"पुत्रजांजी, बेरियों पर कुत्ता ज़रूर पड़ेगा, नहीं तो बेरियां अब तक खाली न हो जातीं. रखवाले न होते बेरियां के तो तभी खाली हो जातीं जब मैं छोटा था."

सुनारों के सुथरे की आंखें फैल गयीं—

"लालाजी, क्या बाबा पीरना तब भी अपने हाथ में लंबी डांग लिये बैठा रहता था!"

मां सदके गयी—

"अरे, पीरना नहीं उसका दादा. मेरे बच्चड़ो, रूख वही रहता है, उसके रखवाले बदलते रहते हैं."

"बेबेजी, हम तो तूत खाने जाती हैं."

"सो भला धियो, जब तक इस ग्रां का दाना-पानी है खूब खा लो. फिर तो जा बैठोगी अपने सासरे."

सिर पर किड़े और मीडियों के जाल बिछाये कंवारियां शरमा-शरमा हंसने लगीं.

"पुत्तो, एक बात तो बताओ, ये सेव-बेरों वाली बेरियां भला किसने लगवायी थीं?"

लसूड़ेवालों के चौखे ने मुण्डी हिलायी—

"लालाजी, मुझे पता है."

"चन्नमल्ल के भाईया, यह तो तुम्हारा भी पुरखा जम्म पड़ा. बोलो पुत्रजी, बोलो!"

"लालाजी, अब वाले बाबे पीरने के दादे के दादे ने रोपी थीं ये बेरियां. इन बेरियों के बूटे पंचनद से आये थे. तभी इनका फल इतना मीठा घुट्ट है."

बच्चों ने रौला डाल दिया—

"लालाजी कहानी. लालाजी आख्यान."

"चंगा. सुनो मेरे बच्चो, जिसे हाजत हो वह हो आये, जिसे प्यास हो वह पी आये—बीच में से उठने की मनाही है."

भाई को कुच्छड़ में उठाये शानो चुपके से उठी और कोठे-कोठे जनानियों को बुलावा दे आयी—

"निक्की बेबे के घर कथा हो रही है. सबको बुलाया है."

शानो वापस आयी तो सब चाचियां-ताईयां एक गोटठ में जुटी बैठी थीं.

"सुनो मेरे बच्चडो, हर पुत्र अपने पिता का अवतार होता है."

लड़के अपने-अपने सिरों को छूने लगे, "जी मैं भी—मैं भी—मैं भी—"

कालू उठ खड़ा हुआ—

"बेबेजी, मैं भी तो!"

"बलिहारी जाऊं पुत्र, तू क्यों नहीं, तुम भी!"

"हर बंदा अपने पिता का अवतार है. याद रखो. अवतार वह जिसके दो हाथ हैं. अवतार वह जिसके दो पांव हैं. अवतार वह जिसका मुंह-माथा है. धड़ है. आगा है. पीछा है. मेरे बच्चो, अवतार वह जो धरती हल से जोतकर पानी से सींचता है. तृप्त करता है. बीज बोता है. फसलें उगाता है."

आगे सुनो . . . .

सबसे पहला अवतार हुआ आदि-पुरुख प्रजापति.
प्रजापति आप ही नर था. आप ही नारी था.
उसने आप ही अपने को दो हिस्सों में बांटा.
एक हिस्से से पैदा हुए बल्द. दूसरे से उत्पन्न हुई गऊ माता.

"लाला जी, गाय और बल्द दोनों भाई-बहन है न?"

"यही समझ लो."

थल्ली वण्डवाले जगतार का ध्यान कहीं और जा भटका—

"न जी, दोनों नर-मादा हैं. गाय बल्ले से ही तो ब्याही जाती है."

दूर बैठी जगतार की बहन दीपो ने उठकर दो-चार कसे हाथ भाई की पीठ पर दिये—

"चुप कर, बीच में नहीं बोलते!"

लालाजी ने हाथ से रोक दिया—

"बस जातको. आगे सुनो . . . फिर पैदा हुआ रूख. सृष्टि-रूख!"

"जी, बल्द और गाय इसकी छांव में बैठ सकें—इसलिए न!"

भोलू क्यों पीछे रहे! आगे होकर बोला—

"कौन-सा रूख था यह भला? पीपल, बोढ़, धरेक कि कीकर!"

मिट्ठी को सूझ गया—

"लालाजी, अपने पीपल वाले खू का पीपल होगा. कितनी बड़ी-बड़ी जटाएं चढ़ी हुई हैं इस पीपल पर."

"बच्चो, यह रूख हमारे सब रूखों से बड़ा था. इतना बड़ा कि गउओं और बल्दों के बड़े-बड़े झुंड इसके नीचे आ ढुके. इसी सृष्टि-रूख से भूलोक उपजा. यह पृथ्वी, धरती हमारी. फिर उपजीं चार दिशाएं और फिर बना आकाश. जब यह सब कुछ

स्थित हो गया तो फिर जन्मा अदिति को दक्ष.

"पीछे-पीछे इसके देवता जन्मने लगे."

"लालाजी, इस तरह तो हम ही हुए न देवता! हम ही हुए न अवतार!"

लालाजी ने उंगली हिला दी, "न पुत्रजी, देवता अपने मुंह से अपने आपको कभी देवता नहीं कहते. अपने मुंह अपनी बड़ाई कभी नहीं करनी."

"हां तो माता अदिति सारे ब्रह्माण्ड की माता है. अदिति आकाश भी है. अदिति धरती भी है. इन दोनों के ऊपर, आगे जो कुछ भी है वह भी अदिति है."

बड़े बेटे चन्नमल्ल का निक्का, दादे का मुकाबला करने लगा. "लालाजी, क्या ध्रुवतारा भी अदिति है! सात तारों की वहंगी भी अदिति है! मैं भी अदिति हूं! आप भी अदिति हैं! नदियां भी अदिति हैं! कूएं भी अदिति हैं!"

निक्के के चाचा भागमल्ल ने कान मरोड़ दिया, "बीच में नहीं बोलते."

"जातको, देवताओं की तीन पांतें हैं—

पृथ्वी के देवता

आकाश के देवता

बड़े मंडल के देवता."

मदरसे में पढ़ते बोद्धे को चमकार हो गया—

"लालाजी, हर कोई मरकर बड़े मंडल में ही जाता है. वड्डे-वड्डेरे जब पूरे हो जाते हैं न तो ऊपर वाले मंडल में जा बैठते हैं. आकाश-गंगा के किनारे मंजियां बिछी हैं. उन्हीं पर बैठ कर सब दादे-नाने हुक्का पीते रहते हैं. नानियां-दादियां पीढ़ियों पर बैठकर चरखे कातती हैं."

बोद्धे की मां ने दूर से हाथ दिखाया, "चुप कर."

"बच्चो, जुग चार होते हैं—

सोता हुआ कलजुग

छोड़ता हुआ द्वापर

खड़ा हुआ त्रेता और

चलता हुआ सतजुग!"

घोलू की फिरकी फिर घूम गयी—

"सतजुग रेलगड्डी पर चढ़ता है, घोड़े पर कि डाची पर?"

"पुत्तरजी, जुग समय के चक्कों पर चलते हैं. गाड़ी में सिर्फ़ जात्रा होती है. सफ़र होता है. भला किसी ने देखी है गडडी!"

गीडे ने हांक मार दी—

"लालाजी, मैंने देखी है. मामे के व्याह में मैं लालामूसा गया था."

"अच्छा है. वाह भला."

"याद रखो, सूरज सारी दुनिया, लोक-परलोक, ऊपर-थल्ले में, धरती-आकाश में सबसे बड़ा है. वह सच्ची-मुच्ची का महाराज है. ब्रह्माण्ड का सरताज सम्राट है."

"अब सुनो कथा सूरज की धी-धीयानी की.

"सूरज ने अपनी धी सूरजा व्याही आकाश को तो सूरज महाराज ने इतनी बड़ी उजियारी चादर धी-जमाई को दी कि वह सारे मंडल में बिछती चली गयी."

चन्नी बोली—

"लालाजी, उस चादर का सूत किसने काता था? सूरजा की दादी ने कि नानी ने!"

बेबी निक्की बड़े लाड़ से हंसी, "ले री, सुन बंतिये, अपनी धी की बातें. पूछती है सूत किसने काता था. फिर पूछेगी उसकी जोड़े की फुल्कारी किसने काढ़ी थी."

"आगे सुनो—

"चादर आगे-आगे और उस पर ठुमक-ठुमक गउओं के झुंड-के-झुंड. पीछे सुनहले रथ में जुटे थे नीले घोड़े. बारह. एक-से-एक बांका. मंडल का शृंगार."

चन्नी की छोटी बहन छबी सूरजा पर अटक गयी.

"बेबेजी, सूरजा की बांहों में लाल चूड़े, चांदी के कलीरे, माथे पर दौनी, सिर पर चौंक-फूल, ऊपर किनारी के बंदोंवाली ओढ़नी झम्म-झम्म करती! किस रंग का जोड़ा था भला उसका लालाजी! लाल कि गुलाबी?"

"सिरमुनिया, इधर तो आ!"

बेबे ने सिर पर प्यार फेरा—

"ले देख ले लाजवंतिये, अभी से तेरी धी का दिल अटका पड़ा है चूड़े-कंगन में. इसे मंग छोड़ जल्दी से."

"बारह घोड़ों वाला रथ चलता रहा—चलता रहा. आकाश और सूरजा लगाते चले चक्कर पूरे ब्रह्माण्ड के चौतरफ़ा."

"जी, घोड़ों पर पलाने पड़े थे कि काठी सजी थी!"

"मेरी बच्ची, घोड़ों पर पड़े थे सतरंगी पलाने और उनके पैरों में हवा की झांझरें."

"फिर क्या हुआ लालाजी?"

"सूरजा को लड़का हो गया अगनकुमार!"

बड़ी-बड़ी आंखों वाली मिट्ठी की मां को कुछ दिन पहले लड़का जन्मा था. मिट्ठी ने फिकर से पूछा—

"अगनकुमार रथ में ही जन्म पड़ा! रथ में कैसे लेटी सूरजा! क्या उसमें मंजी बिछ गयी थी!"

चाची महरी ने पीछे से टनोका लगाया—

"चुप री, पहले लालाजी की बात सुन."

मिट्ठी न मुड़ी—

"तो और क्या, कोठड़ी-पसार न होगा तो कैसे जापा पाया सूरजा ने!"

चाचियां-ताईयां ठुड्डियों पर हाथ रखे मन-ही-मन हंसती चलीं. थनों पर फूल उगने लगे.

"पुत्तरो, ध्यान से सुनो. अगनकुमार सूरज वड्डे का दोतरा और समुद्रों का पोतरा."

"जल का पुत्र अगनकुमार कैसे हुआ लालाजी!"

"अगनकुमार का पिता अंतरिक्ष और समुद्रों का स्वामी. सो जब जन्मा न अगनकुमार तो नद-नदियां वह-वह निकलें. पुत्रजी, यह अगनकुमार सब देवताओं का सारथि है और यही अग्नि और यज्ञ का पिता भी."

"पर जी, अग्नि कहां से उपजी!"

"पुत्रो, अग्नि की उत्पत्ति सुनहले जल से हुई. सोने-जैसे रंगवाले सुथरे पवित्र जल से."

भाई को कंधे से लगाये भोली बड़ी सोचों में पड़ गयी—

"लालाजी, यह सुनहला जल गागर में था कि घड़े में! घट

कांसी का था कि मिट्टी का."

लालाजी बच्ची को देख-देख सिर हिलाते रहे, फिर बड़े लाड़ से बोले—

"बेटी, यह सुनहला जल गागर में नहीं, घड़े में था. आदि पुरुख की सत्या देखो. कलश से बूंदें गिरीं गागर में और हाड़-मांस के मनुक्ख बन-बन खड़े होने लगे."

"लालाजी, चन्न मामा की भी कहानी सुनाओ न!"

"पुत्रो, चंद्रमा अकेला है. इसका कोई संगी-साथी नहीं. इसके कोई आगे-पीछे नहीं. जो मनुक्ख अकेला है वही इसे साथी मान लेता है.

"चंद्रमा ऊपर से धरती को देखकर दिल में बड़ा संताप पाता है. पर अपना दुःख किसी को नहीं दिखाता. सारे दुःख-दर्द अंदर-ही-अंदर पीता रहता है. सो चांद का कालजा शिलाखंड बन गया है."

शाहनी ने ठंडा हौका भरा तो चाची महरी का दिल भर आया.

"लालाजी, सूरज की गर्मी चांद को क्यों नहीं पिघलाती!"

"पुत्री, सूरज अपने आप ही इससे परे रहता है. जानता है न कि अगर चांद के दुःख-संताप पिघल गये वो ब्रह्मांड में प्रलय हो जायेगी."

"लालाजी, चनाब में दो चन्न कैसे दिखते हैं!"

"पुत्तरजी, चांद तो एक ही है. दूसरा तो उसका लिशकारा है."

"लो यह और सुनो."

"ऊपर वाला चन्न और अपना दरिया चनाव दोनों जुड़वां भाई हैं."

"सूरजा के ब्याह में जब गगन-मंडल में उजियारी चादर पड़ी तो इन दोनों भाइयों की आंखें चौंधिया गयीं. एक इधर भागा, एक उधर. बस दोनों बिछुड़े गये."

"बेबेजी, इनकी मां ने क्यों न ढूंढा अपने बच्चों को. वह कहां थी उस वक़्त."

"बच्ची मेरी, वह चाटी में दूध-दही डाल चुकी थी. मथानी कैसे छोड़ती. बेटों के लिए मक्खन भी तो निकालना था न!"

"जब दोनों बच्चे खो गये तो उसने मक्खन का क्या किया!"

"घिए, उसने घी बना लिया होगा!"

"लालाजी, फिर!"

"बच्चो, दोनों भाई बिछुड़े गये तो एक जहां ठिकठा था वहीं-का-वहीं रह गया. दूसरा हिमवान राजा के आंगन में आ गिरा."

"चुप्पा चांद गुमसुम रहकर ठंडा हो गया और दूसरा जोरा-वर चंचल टकरा-टकरा बर्फ़ों को तोड़ने लगा!

"हिमवान ने सोचा इसे पाताल पहुंचा दूंगा, पर यह मनचला लौकड़ा परबतों से कूद भागा और हमारी धरती पर अठखेलियां करने लगा. जोरावरी दिखाने लगा!" □

दो
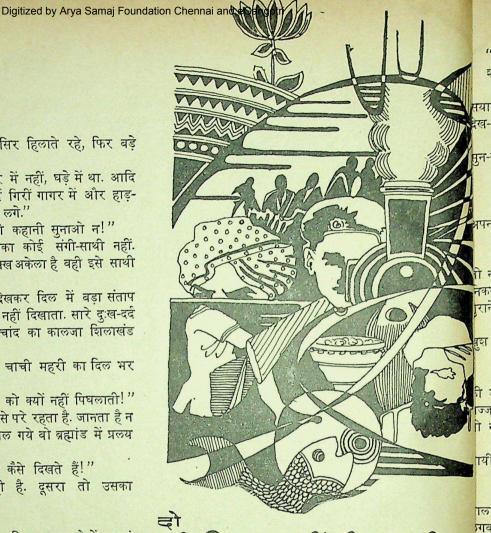
तेरी रहमतों के सदके

"फौजियो मुबारकें! मुबारकें हों, घर आने की मुबारकें! बादशाहो, पूरे तीन साल बाद दरस दे रहे हो. अपने लशकरों में ही दिलजोइयां! धन्य हो, धन्य हो प्यारेयो!"

"जहांदाद जी अखियां थक गयीं राहें देखते. गोरों के साथ इतनी रास्ती हो गयी कि घरों को लौटने को मन ही न करे!"

"अब क्या कैफियत दें आपको चाचा मुहम्मदीन! इतना समझ लो कि जिस दिन छुट्टी मंजूर हुई उसी दिन, टपोसी मार ली."

जहाँदादजी ने अपने साथी को मजलिस में पेश किया—

"बादशाहो, यह हैं अपने अजीज दोस्त साहिब खां. अपने 40 पंजाबी पल्टन के ही हैं. यह समझ लो कि हम सालों साल इकट्ठे रहे हैं. हमारी भरती भी एक ही दिन, एक ही जगह की. अर्ज़ यह है कि दोस्ती-यारी निभानी कोई सीखे इन शाहपुरियों से!"

कर्मइलाही मज़बूत कद-काठी देखकर डाडे खुश हुए—

"बादशाहो, दोस्ती-यारियों की बरक़तें बड़ी, पर पुत्तरजी! शाहपुरी पग आपकी ज़रा आंखों में खटकती है!"

साहिब खां ने झट झुककर सलाम किया—

"जनाब हुक्म करें तो उतारकर कदमों में न रख दें."

शाहजी हंसने लगे—

"बस जी, नज़र उतर गयी. चाचा करमइलाही, आपकी सयानफ़ के क्या कहने. जोड़ी भी तो यारों की ख़ैरों से ऐसी कि देख-देख भूख उतरे."

मौलादादजी छोटे भाई और उसके दोस्त की तारीफ़ें सुन-सुन खुश हुए!

"जी सदके, जी सदके!"

गंडासिंह ने मशकरी की—

"क्यों जी बंदूकों वालेयो, ख़ैरों से इतनी देरों बाद आये हो, अपना घर-पिण्ड तो पहचान लिया है न!"

जहांदादजी बड़ी गर्मजोशी से हंसे—

"सज्जनो, आप 33 पंजाब और हम 40! ज़्यादा फ़रक तो न हुआ ! आप तो जानते हैं, फ़ौजी बंदे दुनिया जहान घूमने निकल जायें पर दिल अपना पोटली में बांधकर अपने पिण्ड के पुराने रुख पर लटका जाते हैं!"

"सुभान अल्लाह ! वाह-वाह भ्रत्थ, क्या बात की है! दिल खुश कर डाला है!"

शाहजी ने भी जहांदाद खां पर परशंसा बरसा दी—

"जी कोई ग्रां का प्यारा अपना चित्त-मन लटका जाये पेड़ की डाल पर तो सरदी-गरमी पिण्ड वाले भी अपने ग़ैर-हाज़िर सज्जन-प्यारों को याद करते रहते हैं. क्यों फ़तेह अली जी झूठ तो नहीं न!"

"बराबरी सही. जिस तरह अपने सुच्चे कपड़ों को धूप हवा लगायी जाती है न, बस वैसी ही समझ लो अपने मित्र-प्यारों की यादें!"

ताया मैयासिंह को सोहणी सूझ गयी—

"ज़रा मेरी भी सुन लो. इस धरती का अन्न पानी मुंह लगाने वाला दिल सुच्चे सोने से आला और बढ़िया! धूप हवाएं लगवाओ न लगवाओ, यहां किसी दिल को जंग-जंगाल लगने का काम नहीं. खुला खुलासा."

दोनों दोस्त सुनकर ऐसे खुश हुए कि उठकर मैयासिंह को फ़ौजी सलाम मार दी.

ताया मैयासिंह का दिल नरमा कपाह हो गया.

"सौ फ़सलों की खट्टी कमाई खाओ. मैयासिंह रोज़ अरदास करेगा वाहगुरु के दरबार में!"

शाहपुरिया साहिब खां बड़ा नटखौना बना छोटा-छोटा हंसता रहा.

कृपाराम आये तो अपने साथ कोकला मिरासी ले आये.

"शाहजी, अपने फ़ौजी सूरमाओं की आमद में पहले तो हो जाये गाना..."

गंडासिंह शड़ापी मार मंजी से उठे और कृपाराम को गर्दन से पकड़ लिया—

"ओये मेरे वैरिया, मैं पिण्ड परता तो क्यों न हाज़र किया ते मिरासी मेरा जस्स गाने को. बोल, जल्दी बोल!"

मंजियों पर बड़ा हास्सा पड़ा.

कृपाराम को कुछ सूझ गया हाथ जोड़कर अर्ज़ की—

"फ़ौज बहादुर, आपकी आमद पर कोठे से हवा में गोलियां चलायी गयीं जो सारे पिण्ड ने सुनी थीं."

"सुन लो लोको, सुन लो इस खच्चरे की बातें. बंदूक मेरी, गोली मेरी और यारा, मंडल में चलने वाली हवा ही खाली तेरी थी न!"

कृपाराम ने गुनहगारी में हाथ जोड़ दिये—

"माफ़ी खता की, माफ़ी! झूठ क्यों बोलूं सिंह बहादुर, उस दिन तो निरी दिल की खुशी ही मेरी थी."

"बस ओ बस, अब इससे बड़ा सच्च न बोलना."

शाहजी ने साहिब खां की ओर देखा—

"बादशाहो, कोकले को इज़ाजत दें तो गाना शुरू करें!"

साहिब खां ने माड़ा-सा सिर हिलाया "जी!"

कृपाराम ने कोकले को आवाज़ दी—

"चल ओ कोकले, शुरू हो जा! कोई फड़फड़ाता-खड़कता सुना वरदी वालों को!"

"जो हुक्म बादशाहो!"

पिण्ड झुके चौकीदार अग्गे
चौकीदार झुके लम्बड़दार अग्गे
लम्बड़दार झुके अहलकार अग्गे
अहलकार झुके सरकार अग्गे
सरकार झुके तलवार अग्गे
तलवार झुके सिपहसालार अग्गे
सिपहसालार झुके फ़तेह तेग अग्गे
फ़तेह तेग झुके बादशाह अग्गे
बादशाह झुके सच्चे पातशाह अग्गे !

बैठक झूम उठी—

"वाह ओ वाह पुत्तर कोकले! यह बंद कब जोड़ा!"

"शहंशाहो, आज ही. सोचा, गोरा फ़ौजों के सिपहसालार घरों को आये हैं, तैयारी ज़रा तगड़ी ही करें."

कोकले ने सलाम किया, झोली फैलायी. बग्गे ने शाहजी के इशारे पर गुड़ की भेली दी. जहांदाद खां जी और साहिब खां जी ने एक-एक टका डाल दिया.

"शाह सलामत. सलामत विलायती फ़ौजों के मालिक! रब्ब-रसूल की मेहरों से बाजों-गाजों के साथ घरों को लौटते रहें अपने सूरमे!"

जहांदाद खां जी ने तारीफ़ की "बड़ा रौबदाब वाला तुक्कड़ था. मिरास अपने पिण्ड की अच्छी हुशियार हो गयी है."

गुरुदित्त सिंह हंसे, "मैंने कहा छावनी साहिब नेग-दस्तूरी तो कोकले की बनती ही थी बाकी यह कवित्त मैंने पार के साल ननकाना साहिब गुरुद्वारे में सुना था."

काशीशाह ने ढीला किया—

"बोल ज़रूर सुने होंगे. मुझसे पूछो तो कोकले ने चंगा सोज़ से गाया है. जो सुर-ही-सुर में पातशाह और बादशाह की तौफ़ीक अलग-अल्हदा कर दे, उसमें कुछ तालीम तो है न!"

मौलादादजी को बात बड़ी पसंद आयी—

"वाह-वाह, क्यों नहीं!"

गुरुदित्त सिंह और मौलादाद भी भरती दफ़्तर का मुंह-माथा देख आये थे, पर डाक्टरी तक पहुंचते-पहुंचते फ़ौज के ख्वाब भू-भस्म!

अरमान से कहा—"जहांदाद जी, आप ही कोई गर्मा-गर्म

सुनाओ. आप्पां भी पुलिस फ़ौज में भरती हो जाते तो इसी आबरू-इज़्ज़त से घरों को आते."

कृपाराम ने समझाया--

"खालसा जी, इतना अरमान और भरम इस उम्र में शोभा नहीं देता. खैरों से काका पृथीसिंह को पेटी-पग्ग मिली हुई है."

जहांदादजी ने पूछा--

"काका अपना किस कंपनी पलटन में है!"

"वही जी तेतीस पंजाब लवाणा आजकल जेहलम छावनी में पड़ी है. जहांदादजी, आपका भी डेरा जट्ट रसाला ही है न!"

"न जी! अपनी रजमंट 40 पंजाबी. 40 पंजाबी मशहूर मुल्की पलटन है. कोई जात-ज़िरगा नहीं जो इसमें न हो. इसमें जट्ट, राजपूत, बुनेरवाल, स्वाती, गिलज़ई, दुर्रानी, बजौरी, भट्टानी, यहां तक कि इसमें गोरखे तक शामिल हैं."

काशीशाह ने पूछा--"अख़बार कहता है कि हकूमत कबाइलियों को काबू करने की जी-तोड़ कोशिश कर रही है."

"जी. सड़कें-छावनियां कई बिछाई-सजाई गयीं पर जी ब्लोच कबाइली बाज नहीं आते. बड़े ज़ालिम. साहिब खां, याद है न जब महसूदियों ने ज़ोब गारद पर गोली चला दी थी!"

"ग़ालिबन यह उसी साल की बात है जब मियां पविंदों का काफ़िला गोमल से होकर खुरासान की ओर बढ़ रहा था. बैसाख का महीना था. कारवां सुस्ताने को रुका. ऊंट खोल दिये गये. आग जलाकर देगें चढ़ाने की तैयारी हो ही रही थी कि जल्ली खेल वजीरियों ने हल्ला बोल दिया. वजीरी सत्तर तो ऊंट ले गये और जो मुकाबले को बढ़ा फिस्स-चित्त!"

काशीशाह को पैसा अख़बार वाली ख़बर याद आ गयी--

"यह तभी की बात तो नहीं जब महसूदों को एक लाख जुरमाना लगाया था सरकार ने."

"जी तभी."

गुरुदित्तसिंह को कुछ ख़्याल आ गया--"बादशाहो, फ़ौज में आपस की दुश्मनियों के वारे-न्यारे भी होते रहते होंगे?"

"बराबर. आप जानो यह रोग तो बंदे के साथ लगा ही हुआ है न. गये साल गुजरांवाले के भट्टी नायक को विरक लैन्सनायक ने गोली मार दी थी."

विरकों और भट्टियों की पुरानी दुशमनी! दोनों के मुण्ड बीकानेर और भाटनेर के ही हैं.

"शाहजी, विरकों की सुनी हुई है न आपने! रेलगड्डी उन दिनों नयी-नयी चली थी. घरवाली ने देखा खसम की पगड़ियां फट-फटा गयी हैं. बंदा रोटी खाने बैठा तो कहा--

"साफों का जोड़-जुगात्त कर डालो. दोनों फट गये हैं."

विरक बच्चा थाली छोड़कर उठ बैठा--

"ठहर, मैं अभी आया." उधर कोई गड्डी टेशन पर खड़ी थी. हाथ में खुट्टीवाला बांस लेकर विरक दूर से ही अंदर डाले और मुसाफ़िरों की पगड़ियां उतार अगले डिब्बों की ओर बढ़ता जाये. जितने में नंगे सिरों वाले मुड़कर देखें, बांस पर छह: आठ पगड़ियां हो गयी थीं. उधर शोर पड़ा, इधर विरक परत के घर थाली के आगे जा बैठा.

घर वाली झुरने लगी--"ओ जनेया रोटी छोड़कर उठ बैठा. कौन-सा घड़ी महूर्त टला जाता था!"

विरक खीझ गया--

"ओ चुप. अकल तेरी गुत्त के पीछे. गड्डी खड़ी थी टेशन पर, बंदा काम करके सुरखरू हुआ. दूसरी गड्डी लंघेगी शाम को तब तक आंखों के डेले घुमाता रहूंगा कि अब आयी-वह आयी लो आ गयी!"

बैठक में बड़ा हास्सा पड़ा.

"बादशाहो, साफे-पग्ग लाने की तरकीब देखो जरा."

"क्यों नहीं जी, विरक बच्चे बड़े कलाबाज़. इन्हीं पर कहावत है--पुत्तरजी, चोरी न करसो तो खासो क्या!"

मुशी इलमदीन पूछ बैठे--

"क्यों जी, क्या पलटनों में भी चोरी-चकारी होती रहती है!"

"होती है. डेरा इस्माइल खां, गाजीखां, कोयटा चमन की तरफ़ फिस्तौल की चोरी काफी. जी में आ जाये तो उठा ले. 40 पंजाब जब कोयटा चमन तैनात थी तो हर रोज़ एक हादसा."

साहिब खां बोले--

"इन कामों में ब्लोच का दिमाग बड़ा तेज़. जब तक बदला न ले ले, कंडे की तरह धुखता-सुलगता रहता है."

जहांदाद खां ने याद दिलाया--

"ताबूत वाला किस्सा हो जाये साहिब खां!"

"बादशाहो, उन दिनों 40 पंजाब डटी हुई थी चमन. एक ब्लोच जवान ने अरज़ी दी कि रिश्तेदारी में मौत हो गयी है. लाश दफ़नाने के लिए उसे तरीह जाना होगा.

"दरख़्वास्त मंजूर हो गयी. होनी ही थी. गोरे अफ़सर अपने जवानों से अच्छी सलूकदारी रखते हैं. इत्तफ़ाक ऐसा हुआ कि ब्लोच जब ऊंट पर ताबूत रखवा ही रहा था, कमान कप्तान उधर से निकल पड़ा. उसे कुछ शक हुआ. हुक्म दिया--

"खोलना मांगता ताबूत--देखना मांगता!"

ब्लोच नज़दीक आया. हौली मगर सख़्त आवाज़ में कहा, "हुक्म वापिस कर लो साहिब. ताबूत की इज़्ज़त में हम जान दे देगा या ले लेगा."

कप्तान ने ब्लोच को गेट-पास देने का हुक्म कर दिया. शाम को बंदूकों की गिनती हुई. एक कम!

ब्लोच छुट्टी से आया. बंदूक कंधे पर थी.

कप्तान के आगे पेशी हुई तो ब्लोच मुकरा नहीं. कहा, "साहब, पुराना दुश्मनी था. हमारे वालिद के कातिल को मारना ज़रूरी था. अब साहब बहादुर जो सज़ा देगा वह मंजूर!"

सुन कर गुरुदित्त सिंह का जीव उबलने लगा. काका पृथीसिंह इस बार छुट्टी पर आये तो कुछ बात बने. टांडे वाले काथासिंह की खलासी लाज़मी है. भरी बिरादरी में अपने टब्बर की जई-तई फेर कर बैठा है.

गंडा सिंह बड़ी गहरी निगाह से गुरुदित्त सिंह के फूलते नथुने देखते रहे. फिर तरकीब से उसे चौकस किया

"बदला लेना तो राह रस्म हुआ उनके लिए. ब्लोचों की खुंदक बड़ी डाडी! सुनो, एक किसी नबीशाह को बन्नू के अतर सिंह ने गुस्से में जख्मी कर दिया. बस जख्म के साथ-साथ ब्लोच का कलेजा धुखता रहा. ठीक हुआ तो पहला काम यह किया कि

अतर सिंह और उसके पूरे खानदान का खात्मा कर दिया. फिर सरे बाज़ार ऐलान किया, "खून का बदला खून."

जहांदाद जी, शाहजी की ओर मुड़े, "शाह साहिब, फ़ौजों के अपने ही खतरे और अपनी ही खातिरें."

"जहांदाद जी, खैरों से सवारियां पिण्ड ही उतरी हैं सीधे कि कहीं रास्ते में चहल-टहल भी हुई?"

"रब्ब की दुआ-खैर, लखनदाता सखी सरवर के दरबार में अपनी हाज़री हो गयी."

"वाह-वाह, सखी सरवर के हज़ूर में पहुंच जाये बंदा तो और क्या चाहिए."

"सबब लग गया. साहिबखां जी ने मन्नत मांगी हुई थी. इनके साथ अपनी तकदीर भी खुल गयी."

छोटे शाह बड़े खुश हुए, "भला कम्म. रोटी रिज़क तो बंदे के चलते ही रहते हैं. बाकी नज़र-नियाज़-मन्नत सब उस रहमत वाले की बंदगी की ही शक्लें हैं."

"शाह साहिब, लखनदाता के हज़ूर में सवाब ही सवाब. जी जाहिरा दरबार सखी सरवर का."

"बहुत बड़ी जियारत गाह है! एक तरफ़ ग़रीब नवाज़ सरवरशाह का थान. दूसरी तरफ बाबा नानक का! बादशाहो सखी सरवर साहिब जी की वालिदा माई आयशा का चर्खा-पीढ़ी देख कर आंखों को ठंड पड़ जाती है. लो और सुनो. पास ही एक ठाकुरद्वारा है. एक तरफ अपने भैरों का मंदिर है."

काशीशाह ने सिर हिलाया——

"अपनी आंखों से न देखा हो तो बंदा यकीन करे. साबित यह हुआ कि ये तकसीमें-फिरकेदारियां तो बाद की बातें हैं. मनुक्ख ने खुद बनायी हैं. रब्ब रसूल और कर्ता कारणहार सब एक ही है."

कर्मइलाही जी को कुछ सूझ गया——

बादशाहो इधर पंजपीर
उधर पंज पांडव
इधर पंज औलिया
उधर पंज प्यारे.

मैयासिंह पांजे पर चौकस हो गये——

"बरखुरदारो, इस अपने पंजाब मुल्क का भी रब्ब के साथ कुछ मेल-ठेल ज़रूर होगा. पूछो भला क्यों! वह यूं कि रब्ब ने भी उठा के मुल्क पंजाब को पंज दरिया लगा डाले. उस धरती का क्या कहना सज्जनो जहां कुदरत से ही पांजा पड़ा हो."

काशीशाह ताया मैयासिंह पर बड़े खुश हुए. उठकर घुटनों को हाथ लगा दिया——"ताया जी, बात वह जो वक्त पर सजे!"

मौलादाद जी ने भी खुशनुमाई की——

"शाहजी, वतन तो अपना बड़े नक्क-दक्ख वाला हुआ न. ज़मानों से बहादुर कौमों की आवा-जावी लगी रही. बड़े-बड़े पीर, औलिया, मुरीद और शहीद हो गये."

"शाह साहब, एक और अनोखी दास्तां हैं वहां की. सखी सरवर के तीन मजावर कुलांग काहीन और शेख इन तीनों की अल-औलाद की हाज़री है दरबार में. कहते हैं सखी साहब के मुंह से निकला वचन है कि इन तीन शाखाओं में कुल मुजावर एक वक्त पर सोलह सौ पचास ही रहेंगे. न एक कम, न एक ज़्यादा."

"बादशाहो, रब्बी पुरख को रब्बी रोशनाई."

जहांदाद जी ने लखनदाता के दरबार से आयी चूरमे भरी कुज्जी नवाब के हाथ घर से मंगवा ली और छोटे शाह को सौंप कर कहा, "आप बरताओ, सबके मुंह लगवाओ. रब्ब करे यहां मजलिस में बैठा सब कोई ग़रीब नवाज़ के दरबार में हाज़िर हो!"

सबने चूरमा मुंह लगाया——

"लखनदाता, तेरी रहमतों के सदके!"

गंडासिंह ने जहांदादजी को इशारा किया——

"फ़ौजियो, आपने अभी कुछ खुशखबरी भी देनी है पिण्डवालों को. आज ही दे डालो. यह न हो मेरी तरह हफ़्ता लग जाये. मैं पैन्शन परची ले के आया तो खबर देने को मुंह न खुले. रोज़ रात कोठे पर चढ़ कर बंदूक से फायर कर दूं! पिंड वाले सोचें मुझे पल्टनी आदत पड़ी हुई है. लगातार पांच छः दिन चलता रहा यह किस्सा. एक सुबह अपने शरीक झंडा सिंह ने आवाज़ दे दी——

"ओए गंडा सिंह ज़रा जिगरा रख. सब फ़ौजियों की पैन्शन परची निकलती है. तू अनोखा ही पैन्शन लेकर नहीं आया. हवा को किसने रोका जो रोज़ रात को गोली दाग देता है."

फिर लोगों को सुना कर ऊंची आवाज दी——

"सुन लो लोको, नायक गंडा सिंह तेतीस पंजाब पैन्शन पाके आया है. आज इसके घर मुबारकें-बधाईयां दे आना."

"सो जहांदाद, कोई भरम न करो. खैरों से प्रभात तड़के ने भी पहुंचना ही हुआ शिखर पर."

"बराबर. बादशाहो, अल्लाह के फ़ज़ल से पूरी इज्जत-आबरू के साथ हम दोनों फ़ौज से पैन्शन पा आये हैं."

बैठक एक पल को तो हक्की-बक्की रह गयी.

मौलादाद जी ने छोटे भाई को हाथ दिया——

"रहने को क्या, अभी पांच-सात बरस और भी रह ही सकते थे. चंगा है अपने घरों को परते हैं——रौनकें लगेंगी."

शाहजी ने समय सहेज लिया——

"मूल बात तो यह हुई बादशाहो कि अपने बरखुरदारों के लिए जगह भी खाली करनी पड़ती है मनुक्ख को. दूसरे घरों में छोड़ी हुई घर वालियां और जिवियां पले-पले मालिकों को पुकारती रहती हैं. एक न एक दिन उनकी सुननी भी ज़रूरी है. जहांदाद खां जी, ग़लत तो नहीं!"

"शाह साहिब, बिल्कुल सही और सच्च!"

चौधरी फ़तेह अली जी ने पूर्णा डाल दिया——"पुत्र जी, मौज-मजे और विकमाजीती बहुतेरी हो गयी. अब अपनी जिवियों में लशकर विछाओ. मजलिसों में सजो और पिण्ड को सजाओ." □

अजनबी होते हुए

● बैकुंठनाथ मेहरोत्र

दुश्चिंताओं की बढ़ती हुई जकड़न अब असह्य होती जा रही है. पर करूं भी क्या! इससे मुक्ति पाने के लिए जितना ही छटपटाता हूं, जितना ही यत्न करता हूं, उतना ही यह मुझे और कसती जा रही है. रोज ही तो छोटा-मोटा ऐसा कुछ घट जाता है, जो आग में घी का काम कर देता है. सब कुछ सहसा और भभक उठता है—तन, मन, घर का सारा वातावरण. सच तो यह है कि घर अब घर जैसा लगता ही नहीं. जिस घर में लौटने को हर समय मन अकुलाता रहता था, वहीं लौटते अब डर लगता है. स्नेह-संबंधों से हर क्षण स्पंदित रहने वाला मेरा अपना घर कैसे और कब धीरे-धीरे, एक होटल का रूप ले बैठा, मैं बिल्कुल नहीं सोच पाता. पहले यहां ज़िंदगी को उत्साह और उल्लास से जीनेवाला एक संतुष्ट पति और स्नेही पिता रहता था, भविष्य के सुनहले सपनों में हर क्षण डूबी आरती नाम की एक पत्नी और ममतामयी मां, अपूर्व, अपर्णा और अंजली नाम के तीन भोले, निश्छल और होनहार बच्चे. पर लगता है जैसे वे सब यहां से कहीं चले गये. उनके स्थान पर जो नये आकर बसे हैं वे एक दूसरे से जुड़ने के बजाय हर क्षण दूर होते जा रहे हैं, एक दूसरे के लिए अजनबी होते जा रहे हैं. आरती के स्थान पर एक चिंतित मां और थकी-हारी पत्नी आ बसी है, अंजली के स्थान पर यौवन की देहरी पर ठिठकी एक तरुणी, अपूर्व के स्थान पर एक उद्दंड, दिशाहीन, स्वार्थी किशोर और अपर्णा के स्थान पर एक निर्मोही और निर्लज्ज किशोरी.

साथ रहने वाले सर्वथा अपरिचितों के बीच भी, धीरे-धीरे एक पहचान उग आती है, मूक स्नेह सांसें लेने लगता है. पर यहां तो जैसे यह क्रम ही उलट गया है. परिचय अपरिचय में बदलता जा रहा है, सामीप्य बिखराव में.

▣

मैं विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था जब आरती मेरे जीवन में आयी. वह भी उसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापिका थी. उसका अपना अलग व्यक्तित्व था, मान-सम्मान था, प्रतिष्ठा थी. लेकिन जिस दिन से वह मेरी हुई, उसने अपना सब-कुछ मुझे समर्पित कर दिया था. एक दूसरे में खोये हुए हम परम सुखी थे, परम संतुष्ट. साथ-साथ सुनहले सपने देखते और भविष्य का ताना-बाना बुनते दो वर्ष कब सरक गये, हमें पता ही न चला. हमारी तंद्रा टूटी तब, जब अंजली आरती की गोद में आयी और हमारा जीवन धीरे-धीरे बाहरी दुनिया से कट कर घर की चहारदीवारी में सिमटता गया. इसके बाद हमारी स्वच्छंदता और निश्चिंतता उत्तरोत्तर घटती ही गयी. अंजली के पांच वर्ष बाद आया अपूर्व और उसके एक वर्ष बाद अपर्णा.
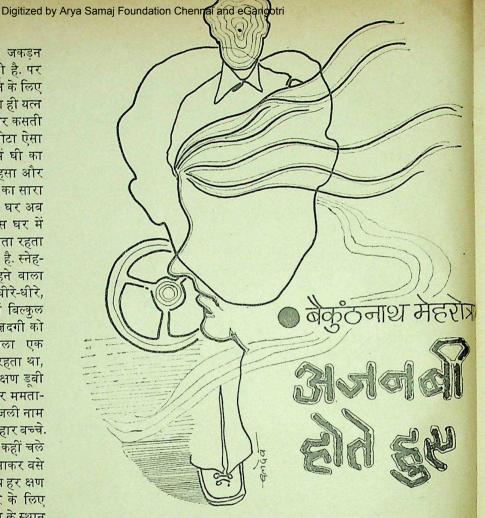
अंजली के जन्म के तेईस वर्ष बाद अपनी स्टडी के एकांत में उदास बैठा मैं इतना उद्विग्न हूं कि कहीं कुछ भी मन को बांध नहीं पाता. काम के बोझ तले दबा और परिवार की चिंताओं से व्यग्र आरती का उदास चेहरा सहसा सामने उभरता है और धीरे-धीरे धूमिल होकर अंजली के चेहरे में बदल जाता है. उसकी आश्वा[स] और स्नेहभरी मुद्रा क्षण भर को मेरे म[न] पर छाये निराशा के काले बादलों [को] छांटती-सी लगती है कि तभी [एक] जोड़ा क्रुद्ध आंखें मुझे घूरने लगती [हैं.] अट्ठारह वर्षीय अपूर्व की आंखों [में] अवज्ञा, तिरस्कार और उपेक्षा है [और] अपर्णा की आंखों में निर्लज्जता [और] उछृंखलता. उनके चेहरे धूमिल [नहीं] पड़ते बल्कि धीरे-धीरे और बड़े, [और] स्पष्ट होते जाते हैं. आंखों की क्रू[रता] और घृणा सघन होती जाती है. मैं उन[की] ओर देखना भी नहीं चाहता, उनके वि[षय] में सोचना तक नहीं चाहता, पर उन[की] दृष्टि जैसे मुझे छलनी कर देना चाहती [है.] विवशता का बोध दम घोटने लगता [है.] माथे पर पसीने की हल्की-हल्की [बूंदें] उभर आती हैं. सांसों की गति तेज़ [हो] जाती है. पहले उनके ऊपर क्रोध से उ[बल] पड़ता था, आपे से बाहर हो जाता

पर अब ऐसा करते डर लगता है. अवहेलना और तिरस्कार चुपचाप पी जाता हूं. कोई भी प्रतिक्रिया व्यक्त करने को जी नहीं करता. मन गहरे अवसाद और विरक्ति से भर उठता है. आंखें अनायास ही नम हो जाती हैं और मेरे थके मस्तिष्क में फिर वही एक प्रश्न बार-बार घुमड़ने लगता है—ऐसा आखिर क्यों?

ऐसी बात नहीं कि इन दोनों का ढर्रा शुरू से ही बिगड़ा रहा हो. यह तो पिछले साल-दो-साल से न जाने क्या हुआ है कि इनकी उच्छृंखलता बढ़ती ही गयी है. विद्रोह का प्रदर्शन अपनी चरम सीमा छूने लगा है. अंजली भी तो आखिर इन्हीं की बहन है. उसी वातावरण में पली है जिसमें ये पले हैं. फिर वह इनसे सर्वथा विपरीत कैसे?

अतीत में मुड़ कर मैं झांकना नहीं चाहता, पर मन है जो मानता ही नहीं. बार-बार उधर ही पलट कर न जाने क्या खोजने लगता है.

▣

शुरुआत शायद एक बहुत छोटी-सी बात से, खाने की मेज़ पर हुई थी. हर काम का अपना एक सलीका होता है. उस दिन खाना खाते समय आपस में बातचीत न करके अपूर्व कोई किताब पढ़ता रहा. मेरी दृष्टि उधर गयी तो गुस्से से बिफ़र उठा, "यह क्या बदतमीज़ी है! फौरन बंद करो किताब! यह कोई पढ़ने की जगह है!"

दो-एक मिनट उसने मेरी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और उसी तरह किताब के पन्ने पर आंखें गड़ाए रहा. मेरा क्रोध बढ़ता जा रहा था और मैं दुबारा उसे टोकने वाला ही था कि तभी वह झटके से उठा और मेरी ओर अवज्ञा से देखता हुआ आवेश में कमरे से बाहर चला गया. आरती ने कई बार उसे पुकारा भी, पर वह लौटकर नहीं आया. मैं और भी उत्तेजित हो उठा और झल्ला कर बोला, "कोई ज़रूरत नहीं उस जंगली को बुलाने की. इस तरह तो वह और भी सिर पर चढ़ता जायेगा. क्या इतना भी नहीं सोच सकतीं तुम?"

"नहीं, आपका तरीक़ा बहुत अच्छा है." उसने भी ज़रा तीखे स्वर में उत्तर दिया, "हर समय पारा आसमान पर चढ़ा रहता है. इस तरह दुत्कारने के बजाय समझा कर नहीं कह सकते थे उससे?"

मैं कुछ नहीं बोला और हम चुपचाप खाना खाते रहे. उठने तक हमारे बीच और घर के पूरे वातावरण में एक अजीब तनाव छा चुका था.

इसके बाद की न जाने कितनी छोटी-मोटी घटनाएं हैं जो हमारे मानसिक तनाव को निरंतरता ही नहीं देती रहीं बल्कि उसे बढ़ाती भी रहीं. धीरे-धीरे अपूर्व हम लोगों से ही नहीं, अपनी पढ़ाई-लिखाई से भी कटता गया. अपने ही जैसे निठल्लों की संगत, दिन भर हंसी-ठट्ठा और सैर-सपाटा. न बाहर जाने का कोई समय, न घर लौटने का. किसी से पूछने-ताछने का तो प्रश्न ही नहीं रहा और न घर के काम-काज में हाथ बंटाने का. हमारे मन को हर समय ठेस पहुंचाना, हमारी भरपूर उपेक्षा करना ही जैसे उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य हो गया था. उसकी इस निरंकुशता और आक्रामक रवैये के आगे हम एकदम निरीह और बेबस होते जा रहे थे.

उसी की देखा-देखी ढीठ होती गयी अपर्णा भी. अंजली जितनी गंभीर, सौम्य और स्नेही है, अपर्णा उतनी ही शोख़ और चंचल. कब पलट कर क्या जवाब दे दे, इससे बचने के लिए मैं उससे कम ही संपर्क रखता हूं. उसके संबंध में जो भी कुछ ख़ास कहना होता है, या तो आरती से कह देता हूं, या फिर अंजली से. मुझे अनुराग से उसका मिलना-जुलना क़तई पसंद नहीं और यह मैं आरती से कई बार कह भी चुका हूं. पर कुछ दिन पूर्व तो मर्यादा की सारी सीमाएं ही टूट गयीं. मैं अपने कमरे में बैठा कुछ पढ़ रहा था. तभी आरती के कमरे में अपर्णा का तेज़ स्वर सुनकर मेरा ध्यान बंट गया. उसने शायद अनुराग के विषय में ही उससे कुछ कहा होगा, तभी वह उत्तेजित होकर उत्तर दे रही थी—

"आप लोग तो न जाने कहां-कहां की बेसिर-पैर की बातों पर विश्वास कर लेते हैं. कौन कहता है कि अनुराग आवारा है?"

"अब यह तुम मुझे बताओगी कि अनुराग कैसा लड़का है?" आरती के स्वर में रोष था," सारा कॉलिज जानता है कि वह आवारा है. उसके मां-बाप तक उससे परेशान हैं. बस एक तुम बड़ी हिमायती बनी हो उसकी!"

"बनी नहीं हूं. हिमायती हूं और बराबर बनी भी रहूंगी. कोई क्या कहता है, इसकी मुझे ज़रा भी परवाह नहीं." उसने झल्ला कर कहा.

"शाबाश, मेरी होनहार बच्ची, शाबाश! तुम ज़रूर खानदान का नाम उजागर करोगी."

आरती ने इतना कहा ही था कि मैं आपे से बाहर होकर तेज़ क़दमों से कमरे में चला आया और लगभग चीखता हुआ बोला, "ख़बरदार, जो आज से अनुराग ने इस घर में क़दम भी रखा! मुझे अपर्णा का उससे मिलना-जुलना क़तई पसंद नहीं."

अपर्णा ने जिस तरह अवज्ञाभरी दृष्टि से मुझे घूर कर देखा उससे स्पष्ट था कि शायद वह मुझसे भी ज़बान लड़ाने का दुस्साहस कर बैठेगी. तभी अंजली कमरे में आयी और उसे लेकर चुपचाप बाहर चली गयी.

मैं आरती से बिना कोई बात किये अपने कमरे में लौट आया और घंटों गहरे अवसाद में डूबा रहा.

▣

इसके बाद कई दिनों तक घर में तनावपूर्ण वातावरण बना रहा. हम एक दूसरे से कतराते, अपने-अपने में सिमटे रहे. हां, इतना ज़रूर हुआ कि उस दिन से अनुराग फिर घर में नहीं आया.

इस बात से मेरा जी कुछ हलका होना चाहिए था, पर ऐसा हो नहीं पाया. अपूर्व और अपर्णा का व्यवहार नम्र होने के स्थान पर और भी उद्दंड और अवज्ञापूर्ण होता गया. एक मानसिक आघात से हम उबर भी नहीं पाते कि दूसरा सामने आ खड़ा होता.

पर आज सुबह अपूर्व ने जो किया उससे तो मैं क्षण भर को बिल्कुल हतप्रभ ही रह गया. उसने मेरे कमरे में आकर जैसे दीवारों को संबोधित करते हुए बड़े ही रूखे स्वर में कहा, "आज मैंने और अपर्णा ने अपने कुछ दोस्तों को पिकनिक पर जाने के लिए बुलाया है. मैं गाड़ी लिये जा रहा हूं."

"क्या...!" मैंने चौंक कर कहा, "यह तुम मुझे सूचना दे रहे हो या मेरी आज्ञा लेने आये हो?"

"जो भी समझिए" उसने उसी तरह रुखाई से कहा, "मैं गाड़ी की चाभी लेने आया हूं."

"पर आज तुम लोगों की छुट्टी तो है नहीं!" मैं खीझ उठता हूं.

"तो इससे क्या ! हमने छुट्टी मनाना तय किया है तो छुट्टी ही समझिए" उसने अधीर होते हुए कहा, "मेरे साथी ड्राइंगरूम में प्रतीक्षा कर रहे हैं. आप चाभी नहीं देना चाहते तो मां से पैसे लेकर हम लोग टैक्सी से चले जायेंगे."

उसकी इस अभद्रता से मैं आपे से बाहर हो उठा और उसकी ओर चाभी फेंकते हुए चीख कर बोला,"ये लो चाभी और जहन्नुम में जाओ. मैं तुम्हारी शक्ल तक नहीं देखना चाहता. बदतमीज़, बेहूदे कहीं के. गेट आउट फ्राम हियर!!"

वह चाभी उठाकर खिसियाया-सा कमरे से बाहर निकल गया.

कुछ देर ड्राइंगरूम से ज़ोर-ज़ोर से बोलने की आवाज़ें आती रहीं. फिर मोटर स्टार्ट होने की ध्वनि और दो मिनट बाद एकदम सन्नाटा.

बाहर भी, भीतर भी. भीतर शायद कुछ ज़्यादा ही.

मेरा क्रोध गहरे अवसाद में बदलता गया और मन निराशा, आत्म-दया और तरह-तरह की दुश्चिंताओं में डूबने लगा. एक तंद्रा-सी छाती जा रही थी मेरे अंग-अंग में और मन न जाने कहां-कहां भटकता चला गया. कुर्सी पर निढाल बैठा मैं आंखें बंद कर लेता हूं.

▣

कुछ देर बाद मुझे लगता है जैसे एक बहुत ऊंचे पहाड़ के कगार पर बदहवास खड़ा मैं पागलों की तरह चिल्ला-चिल्ला कर लाल झंडी हिलाये जा रहा हूं. सामने, सांप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी लेटी सड़क पर एक मोटर आंधी की गति से कगार की ओर दौड़ी चली आ रही है. अपूर्व स्टियरिंग ह्वील पर है. तेज़ हवा में उसके लंबे बाल उड़ रहे हैं और चेहरे पर थिरक रही है एक कुटिल मुस्कान! बगल में बैठी अपर्णा ज़ोर-ज़ोर से कुछ गा रही है. पिछली सीट पर बैठी कुछ अस्पष्ट आकृतियां हाथ नचा-नचा कर तालियां बजा रही हैं.

मेरी आवाज़ उस शोर में डूब जाती है और लाल झंडी को अनदेखा करके बेतहाशा आगे भागती मोटर कगार के छोर पर पहुंच कर सहसा हवा में उछल जाती है. मैं चौंक कर आंखें खोल देता हूं. सामने खड़ी आरती कह रही थी, "अभी आप तैयार भी नहीं हुए! क्या आज युनिवर्सिटी नहीं चलना है?"

मैं कुछ बोलता नहीं. यंत्र-चालित-सा तैयार होकर स्कूटर निकाल लाता हूं.

पीछे बैठी आरती एकदम गुमसुम है. स्कूटर तेज़ी से युनिवर्सिटी की ओर भाग रहा है, पर मेरा उद्विग्न मन फिर पहाड़ के कगार पर लौट कर नीचे गहरी घाटी में झांकने लगता है. □

20–ए, घोष बिल्डिंग्स जवाहरलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद.

उदार

▣ रामानंद राठी
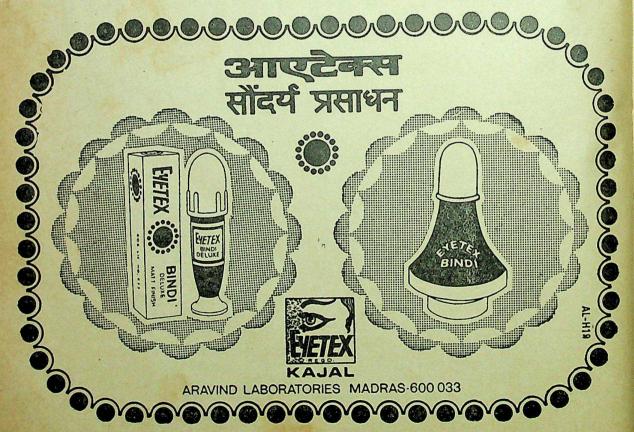
घर तक के लिए रिक्शा तय करते वक्त, मैंने रिक्शेवाले से यह पहले ही बता दिया था कि उसे रास्ते में थोड़ी देर के लिए ठहरना होगा. रिक्शेवाले ने हामी भर दी. वह चलने को हुआ ही था कि एक संभ्रांत से दिखने वाले सज्जन वहां आये और दूसरा कोई रिक्शा आस-पास न देखकर उसी में चलने की पेशकश करने लगे. उन्हें कहीं बीच में ही उतरना था. खैर, दोनों बैठ गये, रिक्शा चला.

रास्ते में जब वाहिद जिल्दसाज़ की दुकान आयी तो मैं अपनी पुस्तकें लेने उतरा. जिल्दसाज़ अपने पूर्व-निर्धारित रेट से कुछ अधिक पैसे मांगने लगा. मैं देने को तैयार न था. पांच-सात मिनट बीत गये. तभी रिक्शे में बैठे सज्जन पुकारे, "अरे साहब, बेवजह आप भी अठन्नी-चवन्नी के लिए तकरार कर रहे हैं, गरीब है बेचारा, दे दिवाकर जल्दी कीजिए."

जाहिर था, उन्हें जल्दी है. मैं जिल्दसाज़ को अधिक रेट से पैसे चुकता कर रिक्शे में आ बैठा. हम दोनों फिर मौन हो गये. कुछ दूरी पर जाकर वे सज्जन उतरे और जेब से बारह आने के पैसे निकाल कर रिक्शेवाले को देने लगे.

"वहां से एक रुपए का रेट है साहब," रिक्शावाल बोला.

"मैं तो रोज़ आता हूं, हरेक बारह आने लेता है."

"नहीं साब, अगर कोई बारह आने बताये, मैं आपसे एक पैसा नहीं लूंगा" रिक्शावाला ऐंठा.

"अब्बे तुम्हारी तो आदत ही भेंगी है, ले, कैसे लेता है एक रुपया" सज्जन ने गुर्राकर रिक्शेवाले का कालर पकड़ लिया.

मैं निर्वाक देखता रह गया. ▣

आदर्श सप्ताह

▣ लक्ष्मणविहारी माथुर

उन दिनों राज्य भर में 'आदर्श सप्ताह' मनाया जा रहा था. सारे लंबित मामलों को समुचित ढंग से निपटाने की सरकारी घोषणा थी. काफी समय पूर्व, परिवहन विभाग में मैंने क्लर्क के पद पर नियुक्ति के लिए आवेदन किया था. इसके लिए इंटरव्यू भी दो महीने पहले ही हो चुका था. किंतु, नियुक्ति का काम रुका हुआ था. कई तरह की अफवाहें सुनने में आ रही थीं. तभी मालूम हुआ कि इस 'आदर्श सप्ताह' कार्यक्रम के अंतर्गत नियुक्ति के इस मामले का भी निपटारा हो जायेगा.

उत्सुकतावश, मैं विभाग के बड़े बाबू से मिला. बड़े बाबू से मालूम हुआ कि सेलेक्टड लिस्ट में मेरा भी नाम है और दो-चार रोज़ में चुने हुए उम्मीदवारों को नियुक्ति पत्र भी भेज दिया जायेगा.

मैं बड़े दीन-भाव से बड़े बाबू के सामने जाकर खड़ा हो गया. बड़े बाबू को अपना नाम-पता बताया. बड़े बाबू ने पहले तो मोटे शीशेवाले चश्मे से झांकती हुई नज़रों से मेरा जायज़ा लिया और फिर बोले, "जानते हैं न, नियुक्ति के समय की कुछ रस्म होती है!"

मैं समझ गया. मैंने जल्दी से अपने पाकिट से 44 रुपए निकालकर उनके सामने मेज़ पर ही रख दिये.

बड़े बाबू ने गिने, फिर रुपए मेरी तरफ फेंक दिये और आंखें तरेरते हुए कहा, "जानते नहीं, आजकल सरकारी दफ्तरों में आदर्श सप्ताह मनाया जा रहा है. जाइये, अगर आपकी नियुक्ति होगी तो सूचना घर पर ही चली जायेगी."

मैं हतोत्साहित भाव से रुपये उठाकर बाहर आने को ही था कि किसी ने मुझे आवाज़ दी. मैं दरवाजे के बाहर ही रुक गया. बड़े बाबू की बगल के टेबुल से उठकर एक व्यक्ति मेरे पास आया और बोला, "डियर, समझने की कोशिश करो. जानते हो कि आजकल सारे राज्य में 'आदर्श सप्ताह' मनाया जा रहा है! अरे, भई, जब हर काम में आदर्श है तो फिर इस काम में भी तो कुछ आदर्श होना चाहिए."

मैं अवाक-सा उसके कथन का अर्थ समझने की कोशिश करने लगा. ▣

वात्सल्य

▣ विनोद श्रीवास्तव

आज फिर उसे मार लगी. अन्य दिनों की अपेक्षा ज़्यादा लगी. वह बेहोश हो गयी. यूं विधवा मां को मारना शिवा के दैनिक कार्यक्रम का आवश्यक अंग था. हर रोज़, हर शाम. और उसकी मां? दनदनाते तोप की तरह अनगिनत गालियां बकती, "बदजात मरता भी नहीं. . मर जाये तो भगवती माई को एक किलो मिठाई चढ़ाऊंगी. कलमुंहे को सांप भी नहीं खाता. . ."

शिवा की पत्नी तथा दो बच्चे हैं. पत्नी दिन भर शिकायत की पोटली बांध कर रखती और जब शिवा शाम को ताड़ी पी कर नशे में धुत आता तो बोलने लगती, "बच्चे को क्या खाक खिलाऊं—दो क्षण नहाने न गयी पांचों रोटी गटक गयी. जाने सारी दुनिया की भूख इसी में क्यों समा गयी. कभी कपड़े में कच्चा चावल ही चुरा ले जाती है. और दिन भर चबाती रहती है. कभी गुड़ कभी चीनी. यहां तक कि तरकारी भी चट कर जाती है. घर का कहां तक पहरा करती रहूं. थोड़ा सब्र हो तो लक्ष्मी भी वास करे."

एक दिन बुढ़िया ने मुझे कहा था, "मैंने बड़े लाड़ से इसे पाला था. एक ही बेटा था.. जीवन का आधार.. मेरा गंतव्य. उसका बाप मर गया वरना उसकी इतनी हिम्मत पड़ती? जिस शरीर पर इतना गर्व करता है,वह मेरा ही बनाया हुआ है. दो खुद भी पाल रहा है, देखूंगी कितना सुख देगा." और उसकी आंखें भीग गयी थीं.

आज की मार से बेहोश हो गयी तो डॉक्टर को बुलाया गया. आस-पास के लोगों ने शिवा को बुरा-भला कहा. . . दुत्कारा भी. प्राथमिक उपचारोपरांत जब वह होश में आयी तो डाक्टर ने कहा, "इसका पेट खाली है. कुछ खिला दो". उसने मना किया, "नहीं. नहीं, आज जीतिया पर्व है. मेरा एक ही तो बेटा है. . मैं नहीं खाऊंगी." आंखें फिर डबडबा आयीं. ☐

टुकड़ा टुकड़ा एहसास

याादवेंद्र शर्मा 'चंद्र'

चित्रांकनः हरिप्रकाश त्यागी

"गुलाबड़ी!"

"जी सेठजी!"

"मैं क्या सुन रहा हूं!"

". . . . . !" गुलाबड़ी मौन.

"अरे बोलती क्यों नहीं?" सेठ ने ज़रा झुंझला कर कहा, "गूंगी बनने से काम नहीं चलेगा."

"आप सब सुन चुके हैं."

"विश्वास कोनी हुवै, इस वास्ते मैं तुम्हारे मूंडे (मुंह) से सुनना चाहता हूं."

गुलाबड़ी ने अपना सिर झुका लिया. बिल्ली की खाल-सी कोमल उदासी उसके चेहरे पर थी. जो वातावरण उसके चारों ओर अभी लिपटा हुआ था, वह काफी आश्चर्यजनित तनावों से घिरा हुआ था. उसकी आंखों के नीचे के दायरे फैले-फैले-से लग रहे थे. वह इस घर की मात्र नौकरानी थी.

सेठ फिर बोला, "मैं तेरे मुंडे से सुनना चाहता हूं."

"सुनिए," उसने लंबा सांस लिया. खिड़की की राह अनंत आकाश फैला हुआ था. नीला-नीला. उसमें एक पक्षी अकेला बहुत ऊंची उड़ान भर रहा था. . . एक शांत उड़ान. उसे अपनी दृष्टि में भर कर वह बोली, "यह सच है कि मैं आपका काम-काज छोड़ कर जा रही हूं."

"क्यों?" सेठ चीखा.

"बस. . . . यूं ही. . ." उसने शांत भाव से कहा.

"ऐसे नहीं चलेगा? ठोस कारण बताना पड़ेगा. एक दिन का नाता नहीं है, पूरे एक जुग का नाता है. मेरे टाबरों (बच्चों) ने तेरे हांचल (आंचल) के साये में पनाह पायी है. तेरा दूध पिया है उसने."

गुलाबड़ी ने सेठ की ओर देखा. सेठ का खिचड़ीनुमा दाढ़ी से भरा चेहरा एक गहरे अपनेपन से भरा था. उसकी आंखों में कहीं मर्म था.. . . अवसाद भरा मर्म. वह फिर बोला, "सच गुलाबड़ी. . . . तुझे एक पल भी नहीं रोकूंगा. . . केवल यह जानना चाहता हूं कि तेरा इस घर से जाने का क्या कारण है?"

गुलाबड़ी उठी. उसके चेहरे पर जड़ता फैल गयी. उसके नयनों में एक ज्वलंत प्रश्न दीप्त हुआ. जैसे वह अपने आप से कहीं लड़ रही है. फिर वह बोली,

नाता करना चाहती हूं, मैं फिर घर बसाना चाहती हूं."

और वह तीर की तरह बाहर निकल गयी.

सेठ को लगा कि किसी ने उसे पथरीला कर दिया है. फिर भी उसने अपनी चेतना को बटोरकर सोचा—कड़ी मेहनत करने वाली लुगाई आसानी से हाथ से निकल रही है. मैं रोकने की चेष्टा करूंगा.

▣

"गुलाबड़ी".

"क्या है?"

"क्या तू नाता कर रही है?" सेठ के बेटे की बहू ने पूछा.

"हां."

"जोबन गुमायके घर मांडने की तेरे मन अब क्यूं आयी? यदि ऐसा ही था तो विधवा होते ही नाता कर लेती? क्यूं धाय मां बनी. क्यूं अपने हांचल का दूध रे बेटे को पिलाया. तू जानती नहीं, तू रे बेटे की 'धाय मां' है, उसे दूध पिलाने वाली जननी है."

गुलाबड़ी ने सेठ के छोटे बेटे की बहू रुक्मणी को तीखी दृष्टि से देखा. फिर कहा, "मैं आपके बेटे की धाय मां हूं तो क्या हुआ? मैंने आपके बेटे को दूध पिलाया और आपने मुझे पैसे दिये हैं. इसमें गर्व-गौरव को बीच में लाने की क्या बात है?"

"ज़रा सोच कि तू किसकी धाय मां है? सेठ रामरतन के बेटे शिवरतन की धाय . . . जिसकी लुगाइयां पांवों में सोने के जेवर पहनती हैं."

"मैं तो नहीं पहनती. मैं तो मोटा पहनती हूं और मोटा खाती हूं. यह कोई जीवन है? जीवन कुछ और ही है." उसका स्वर तल्ख़ हो गया.

"जो तू इज्जत का जीवन जीती है, वह जीवन नहीं?"

"नहीं. . . यह तो केवल गुजर-बसर है," गुलाबड़ी ने कहा, "जीवन तो आप लोगों का है. बाल-बच्चे हैं. . . सास-ससुर हैं. . . धणी (पति) हैं. . . . हर सांझ गणगौर की तरह टीका-टमका काढ़कर उनकी परतीक्षा करती हैं. . . मैं. . . ?"

गुलाबड़ी की लुगाई के भीतर एक और लुगाई मानो प्रवेश कर गयी हो. वर्षों से प्यासी और अतृप्त लुगाई. वह खंखारकर बोली, "मुझे अपनी जिनगी अकारथ और बिरथा लगती है. मैं कई बार एक सपना देखती हूं—रेत के फैले हुए टीबे. . . धोरे ही धोरे. . . . उन धोरों के बीच में भूखी-तिसी पड़ी-पड़ी मैं कलप रही हूं, तड़प रही हूं. . . ज़ोर-ज़ोर से मदद के लिए हेला (पुकार) मारती हूं पर मेरी मदद को कोई नहीं आता! . . . मेरे पास कोई क्यों नहीं आता! . . बीनणी जी! ज़रा सोचिए, दरअसल मेरा अपना सगा कोई नहीं है. . . . केवल रोटी कपड़े के लिए जीना कोई जीना नहीं है. जबकि मैं अभी बूढ़ी नहीं हूं. केवल विधवा हूं."

"सच, तुझमें तो कोई भूतनी घुस गयी है." रुक्मणी ने पश्चाताप भरे स्वर में कहा, "कैसी अणूती बात करती है?"

"मैं कोई अणूती बात नहीं करती."

"फिर इतने साल. . . . ?"

"जब मन ने चाहा. . . . "

"आज रात तू थावस से सोच-विचार कर. कहीं ऐसा न हो कि सारी उमर चस्सर-चस्सर आंसू बहाती फिरे. गिरस्थी धरम सोरा (सरल) नहीं है. . . बहुत दोरा है. . . इसकी दोरप (कठिनाई) में बड़े-बड़े शूरमा हार खा जाते हैं. यहां आराम से मेरे टाबर-टींगरों को रमा और मस्त रह."

"उपदेश देना बड़ा ही सोरा है," गुलाबड़ी ने तीखेपन से कहा, "एक दिन शिवरतन बाबू नहीं आते हैं तब कैसी विकल होती हैं आप? ज़रा सोचिए. मैं भी तो लुगाई हूं."

और गुलाबड़ी अपनी कोठरी में चली गयी.

▣

जाड़े की कड़ाके की ठंड. रात भी ऐसी लगती थी जैसे सर्दी में ठिठुर रही है. भयभीत सन्नाटा! कांच की खिड़कियों पर कोहरा सोया हुआ. चौक की रोशनी का बल्ब भी ठिठुरा-ठिठुरा लग रहा था. अंधेरा भैंसे की खाल की तरह पसरा-पसरा था.

गली के नुक्कड़ पर बसी किसी पंचायती कोटड़ी का सालों से नंगा पेड़ प्रेतात्मा-सा लग रहा था.

गुलाबड़ी सोच रही थी कि वह शादी करेगी. अपना घर बसायेगी. अपनी कोख भरेगी. उसके बाल-बच्चे होंगे. . . वह कब तक दूसरों के बच्चों को पालती रहेगी. कम-से-कम उसने दो सेठों के बच्चों को तो दूध पिला-पिला कर बड़ा किया है. . . आज तक वह दूसरों के लिए ही तो जीती रही है. . . क्यों जीती है? क्या फायदा है इस तरह जीने से?

गुलाबड़ी छींटदार रजाई में लिपटी हुई थी. ज़ीरो वाट का बल्ब जल रहा था. मरा-मरा-सा. उसकी रोशनी बीमार व पीली-सी थी. बाहर ठहर-ठहर कर गंडक भोंक रहा था.

याद आया उसे!

उसका पति बीमार था. निमोनिया बिगड़ गया था. जाति की मालिन. गरीब. सब्ज़ी बेचकर पेट पालने वाली. दवा-दारू की सही व्यवस्था करे तो कैसे?

चार माह का बच्चा. . . एक साथ अनेक कठिनाइयां उसे घेरने लगीं. मानो उसके चारों ओर दलदल फैल गया हो. . . ऐसी स्थिति में गुलाबड़ी के समक्ष दुःखों की तड़ाका खड़ी हो गयी. क्या करें. आखिर गंगी मौसी ने उसे सेठ रामरतन के पोते की धाय रखवा दी. कुछ रुपये दिलवा दिये. . . अब गुलाबड़ी अपने बेटे को भूखा रखकर सेठ रामरतन के पोते को अपना दूध पिलाती थी. अपने बेटे को भूखा रखकर वह अपने सुहाग को बचाने के लिए कृत संकल्प थी. पर दुर्भाग्य उसका पीछा नहीं छोड़ रहा था. सुहाग के बचाने के चक्कर में न तो सुहाग रहा और न ममता!

पति भी मर गया और नवजात शिशु भी.

गुलाबड़ी के दुःख की वह चरम सीमा थी. वह महसूस करती थी कि चैत माह के पत्तों की तरह उसके सारे पत्ते झर गये हैं. . . सोती तो बिस्तर पर भुरट के कांटे चिपकते हुए लगते हैं. . . कभी-कभी तो वह इतनी विचलित हो जाती थी कि फफक-फफक रो पड़ती थी. उसे लगता था कि उसने ही अपने बेटे को मारा है. अपना दूध उसे न पिलाकर सेठ रामरतन के पोते को पिलाकर. . . ? वह कैसी लुगाई है?. . वह कैसी मायड़ (मां) है. . .? फिर धीरे-धीरे उसने सेठ रामरतन के पोते विजय को ही अपना बेटा मान लिया. . .

फिर रामरतन के दूसरे बेटे के बेटे अजय को भी . . . उसकी औरत उन बच्चों में ही नहीं, सेठ के पूरे परिवार के दस बारह-बच्चों में खो गयी. उस परिवार का उसे स्नेह भी मिला. . . धाय मां का ओहदा भी मिला. पर मन में कहीं असंतोष, ऊब और खालीपन पलता रहा. उसकी स्थिति उस बंजर धरती की तरह थी जिसके भीतर कोई ज्वालामुखी पल रहा था. वह कभी-कभी तटस्थ दर्शक की तरह देखती थी—संपूर्ण संतोष सुखों से लिपटी औरतों को, बच्चों पर दुलार बरसाती माताओं को और अपने पतियों की सेवारत बहुओं को. . . तब उसे अपना एकांत काटता था, अपनी ज़िंदगी की निरर्थकता का बोध होता था. . . उसे कभी-कभी यह भी महसूस होता था कि अब अचानक नारकीय यंत्रणाओं से ग्रस्त हो गयी है. विचित्र मनस्थिति थी उसकी!

इस बीच उसे अखाराम मिल गया. उसी की जाति और समाज का मर्द. अभी-अभी विधुर हुआ था.

उस दिन अखाराम ने उसे बाज़ार में देखकर कहा, "गुलाबड़ी!"

गुलाबड़ी थम गयी. समवेदना प्रकट करके बोली, "बहुत ही कोजा (खराब) काम हुआ. तेरी लुगाई अचानक मर गयी. मांदी (बीमार) नहीं रही. मांदी भी होकर मरती तो जी को थावस तो होता. क्या हुआ था?"

"बस, जी दौरा हुआ." कहने लगी, "जी में सोरप नहीं है. उल्टी-सी होगी. . . . ऐसा लग रहा है कि भीतर का सब कुछ निकलना चाहता है. . . . . उसने निबू खाया. . . घबराहट बढ़ती गयी. . . बस फिर एक उल्टी हुई और खून के साथ प्राण भी बाहर निकल आये. . . .बस इत्ती देर लगी मरने में मेरी लुगाई को."

"मौत का कोई भरोसा नहीं, पल-छिन में आ जाती है. भगवान के सामने किसका ज़ोर चलता है?. . . . कितने दिन हुए?"

"सवा महीना. . . . .गुलाबड़ी, तू रीस न करे तो एक बात कहूं. देख, बहुत ही ठंडे व शांत मन से सोचना. . . . न पसंद हो तो थूक देना. . . . मैं बुरा नहीं मानूंगा. . . ."

"अरे! बोल तो सही."

"तू मुझसे नाता करेगी?. . . .मेरे घर में आयेगी. . . मैं दुबारा घर बसाना चाहता हूं. . . . .मरद-लुगाई की अकेले की जिनगी कोई जिनगी नहीं होती. . . मैं तुझे कभी भी दुख-संताप नहीं दूंगा. . . .दरअसल तू मुझे बहुत चोखी लगती है."

गुलाबड़ी ने कोई जवाब नहीं दिया था तब. वह लौट आयी. फिर उसने निर्णय कर लिया कि वह नाता करेगी. अपना घर बसायेगी.

▣

गुलाबड़ी खिड़की में बैठी थी. दोपहर की धूप गूंगी-सी फैली थी.

पांच-सात छोरे-छोरियां गली में 'पैल-दूज' खेल रहे थे. समीप तीन गायें और एक बछड़ा बैठे-बैठे जुगाली कर रहे थे.

एकाएक किसी बात को लेकर बच्चों में झगड़ा हो गया. एक बच्चा अपनी तोतली बोली में गालियां देने लगा. गुलाबड़ी को उसका बोलना बहुत ही चोखा लगा. बच्चे सोनार व ब्राह्मणों के थे. . . . . गरीब और अधनंगे से. शरीरों पर सयाल थे.

वहां से थोड़ी दूर पर बीकानेर के गोगागेट के बुर्ज दिखाई पड़ रहे थे.

"गुलाबड़ी!"

वह चौंक गयी. देखा तो गंगी मौसी थी. गंभीर स्वर में बोली, "हां मौसी!"

"तुझे क्या हो गया?" मौसी ने आश्चर्य मिश्रित झुंझलाहट से कहा.

"कुछ नहीं?" सपाट उत्तर.

"फिर नाता करने की बात. . . . ?"

"मौसी . . . . नाता करना और घर बसाना कोई गुनाह तो नहीं है?" गुलाबड़ी बीच में ही संयत स्वर में बोली.

"गुनाह तो नहीं है पण इस उमर में आकर. . . ."

"मौसी! अठाइस बरस की उमर तो कोई ऐसी उमर नहीं है जिससे मन मर जाये."

"लेकिन बालन जोगी, तेरे भाग में धणी का सुख लिखा कहां है?" गंगामाई ज़रा तल्ख स्वर में बोली, "जदि सुवाग का सुख होता तो विधवा ही क्यूं होती?"

"गंगामाई, तू एकदम भोली-डाली लुगाई है." तूने अपनी सारी उमर सेठ रामरतन के घर में तिल-तिल गलाकर बिता डाली. जद तू मरेगी तब सेठ तुझे जला डालेंगे और तेरे हांड गंगा में डलवा देंगे. न तेरा नाम रहेगा और तेरा वंश. . . . . मौसी! रोटी तो कु भी खाता है. क्या गली के गंडक मरते हैं?. . . .क्या मैं इन गंडकों से गयी बीती हूं.? . . .मैं सच कहती हूं करड़ी मैनत से जब खाली होती हूं मुझे लगता है कि मैं गीली ल की तरह सुलग रही हूं. मेरे रोम-रोम अजीब से कांटे खुभते हैं. सच मौ मुंह में पूर (कपड़ा) डाल कर सब देखती रहती हूं. . . . .छोटी बहूजी बार अपने धणी भैरूं को कहती है—"आप कुछ भी कहें पण बिना के लुगाई का जन्म बिलकुल बिरथ बिना पूत की लुगाई, लुगाई की लकड़ी की देवली लगती है. मैं आपके साथ कलकत्ता ही चलूंगी."

भैरूं बोला, "तूं भी जबरी लुगा यहां आराम से खाती है और पाड़ी तरह पसर कर सोती है?"

वह तुनक कर बोली, "क्या गली कुतिया खाकर पाडी की तरह नहीं सो मैं तो लुगाई हूं. मरद के बिना बिना चंदा की रात लगती है. साथ तो और भी सुख मिलेंगे."

. . . . गंगी मौसी. . . .मैं भी कई बरसों से ऐसा ही सोचती हूं में यहां से जाने के बाद जीने का नहीं हुआ था, पर अब सब हो गया है मौसी! मैं नाता करूंगी. अपनी को भरूंगी. इन सेठ-सेठानियों व बहू-बेटियों की तरह जीऊंगी. जिनगी. . . . .इस हवेली में गंडक नहीं जीना चाहती. . . . . मैंने हाज़िरी भरी है इस घर वालों वे मुझे घर से चोखी तरह विदा करेंगे?"

"तो तू मानेगी नहीं?" गंगी के स्वर में चुनौती थी.

"नहीं मौसी, कदापि नहीं." उ से कहा.

"किससे नाता करेगी?"

"अखाराम से."

"तो तुमने अपने लिए बींद भी छांट लिया."

गुलाबड़ी चुप रही.

ग़ज़ल

त्यौहार की सुबह ही अगर खुशनुमा नहीं,
तो और कुछ हैं आप मगर रहनुमा नहीं.

कल तक थी जिनके कांधों पै यारों की पालकी,
यह उनने कहलवाया है, मेरा बयां नहीं.

कल जो बहायी आपने थी दूध की नदी,
मेरे हुज़ूर! उसका तो मीलों पता नहीं.

किरनों के संग आ रही हैं फिर उदासियां,
सूरज तो कहीं आपका भी बदगुमां नहीं?

खामोश मुझे कर न सके ज़ुल्फ़ के सितम,
मैं आईना हूं आपका, पर बेज़ुबां नहीं.

मौसी तुनक कर फिर बोली, "घर-गिरस्ती का रास्ता बहुत दोरा है, कठिन है. रांड गैली हो जायगी."

वह साहस से बोली, "हवेली में अकेले खाली काम से जूंझणे से तो सही जिनगी के लिए जूंझणा ज़्यादा चोखा है."

"तेरा माथा खराब हो गया है. सोरी-सुखी हो गयी है न, इसलिए दिमाग उलटा सोचने लगा है."

"अपनी-अपनी समझ."

"कर, तेरी मर्ज़ी आये." गंगीमाई नाराज़ होकर लकड़ी टेकती हुई चली गयी.

▣

"तेरा नाता करने का जोग नहीं है."

"क्यूं?"

"अखाराम तुझसे नाता नहीं करेगा." सेठ के बेटे शिवरतन ने कहा.

"आपको कैसे मालूम?" गुलाबड़ी ने आश्चर्य से पूछा.

"मैंने उससे पूछा था. वह तो इंकार कर रहा था."

"आपने. . . . . ?" भृकुटियां तन गयीं गुलाबड़ी की.

"अरे! वो तो मेरे साथ यहां भी आया है."

"कहां है वो?" गुलाबड़ी ने चीख कर पूछा.

"बाहर खड़ा है."

गुलाबड़ी क्रोध में फुंफकारती नागिन की तरह लपकी. वह चिल्लाकर बोली, "कपटी! तू-मुझसे नाता नहीं करेगा?"

रणचंडी-सी लग रही थी वह.

अखाराम उसकी एक डांट में ही डर गया. घिघियाने लगा. गुलाबड़ी ने उसका गला पकड़कर कहा, "कमीने! तेरे अंदर ज़रा-सी सच, गैरत नहीं है. बात करके मुकरता है. तू तो अपने बाप का बेटा भी नहीं लगता. मैं तेरी खाल खींच लूंगी, मेरी इज्जत से खेलता है. तूने गुलाबड़ी को समझ क्या रखा है?"

सारी हवेली के लोग-लुगाइयां इकट्ठे हो गये. अखाराम कांप गया. फिर जब गुलाबड़ी ने उसे धक्का दिया तो उसकी सारी हिम्मत टूट गयी. शिवरतन ने बीच-बचाव करना चाहा तो गुलाबड़ी ने बारूद की तरह फट कर कहा, "खबरदार, जो हमारे बीच में आये तो. . . .? हम अपना फैसला कर लेंगे. . . . बोल, तू कौल से मुकरता क्यों है?"

"मुझे शिवरतन बाबू ने सौ रुपये देने को कहा. . . . मुझे उन्होंने ही भड़काया, मैं तो तैयार हूं. . . .तुझसे नाता. . . ."

"अच्छा तो यह बात है?" गुलाबड़ी कमर में ओढ़ना खोंस कर भड़क उठी, "आपके बच्चे को मैंने दूध पिलाया, उस दूध की 'पत' आपने ऐसे रखी?. . .मैंने अपने बेटे को भूखा मार-मार कर मार डाला और आपके बेटे को जिंदा रखा, शिवरतन बाबू! आपने उसका यह बदला दिया?. . . सच, तुम सब लोग कितने ओछे और स्वार्थी हो. . . अपने स्वार्थ के अलावा तुम लोगों को कुछ सूझता ही नहीं. . . . खैर, यही बदला सही."

और वह भीतर जाकर अपनी गठरी उठा लायी, "आज से मैं तुम लोगों से भी अपने नाते-रिश्ते तोड़ती हूं. . . .थू है ऐसे आदमियों पर!" . . . . वह अखाराम की ओर मुड़कर बोली, "और तू तो मेरे जैसा गरीब था. तेरा ज़मीर भी मर गया? सौ रुपये में अपना 'मानखा' (मनुष्यता) बेच दिया?. . . अपना सच बेच दिया? थू है तुम पर. . . . यदि ज़रा भी गैरत है तो चुल्लू भर पानी में डूब जा."

"मुझे माफ. . . ."

"तुझे जीवन भर माफ नहीं करूंगी. . . तुझ, तुझ पर कैसे भरोसा करूं? . . .जो मुझे अभी सौ रुपये में छोड़ सकता है—वो बाद में पांच सौ रुपये में बेच भी सकता है. . . . . तुझ जैसे मरद को तो लानत है. जो मरद लुगाई को लुगाई न समझ कर कोई चीज समझे, उस मरद को मैं अपनी सायल इस जन्म में क्या, सात जन्मों में भी नहीं दिखाऊं. . . .दूर हो जा मेरी नज़र से. . . . .मैं अपने आप नाता कर लूंगी. . . . रामला. . . किसन. . . मूलिया . . . .बहुत सारे मरद हैं. . . यदि माली जाति में न मिले तो मैं दूसरी जाति में चली जाऊंगी, पर तुझ पर नहीं थूकूंगी. . . . और शिवरतन बाबू!. . . . अपने घर को उजाड़ कर तेरे घर को बसाने वाली गुलाबड़ी अब अपना घर ज़रूर बसायेगी! आपको जितनी दीवारें खड़ी करनी हैं, कर लीजिए. मैं जानती थी कि आप मुझ गरीब को यही इनाम देंगे?"

उसकी बड़ी-बड़ी आंखें भर आयीं. फिर वह घृणा से थूक कर हवेली से बाहर निकल गयी.

एक लानत भरा सन्नाटा चीखता हुआ हवेली पर फैल गया. □

साले की होली, बीकानेर-334001

क्रिस्टोबल मिरांडा

▣ प्रणवकुमार वंद्योपाध्याय

एक उजली सूर्य किरण में
मैं तुमसे खाड़ी में मिला था, क्रिस्टोबल!
तब सागर की तरफ़ तेज
सोडियम नाइट्रेट की हवाएं थीं
जलती हुई नवंबर में.
मुझे आज भी स्मरण है वह
विमुक्त आनंदतर मन
वे धातु की पहाड़ियां, वे स्थिर जल.
और वे सिर्फ़ मल्लाह थे
जो बहती हुई बर्फ़ के साथ भी
चलते रहे आनंदित.
वह नाइट्रेट का हिम-प्रवाह
वेदनार्त कंधों पर आता रहा
जहाजों के निश्चेष्ट उदर में
प्रविष्ट होकर.
वे सूर्यमुक्ति की श्रेष्ठी बत्तखें
तब वहां थीं
जिनकी समाप्ति तेज़ाबों में ही
हो चुकी और
जो मृत्यु के लक्ष्य तक के लिए
नाइट्रेट के सैलाब में अंगीकारबद्ध हैं.

—पाब्लो नेरूदा

सुबह मैं चाय के लिए लाउंज पर उतर ही रहा था कि दिन का पहला अभिवादन मिल गया, "गुड मॉर्निंग डॉक्टर!"

मैं हार गया. कल रात ही से जो सोचता रहा, वह आखिर नहीं ही हो पाया. मैंने तय कर लिया था कि पहले

चित्रांकन : मारियो
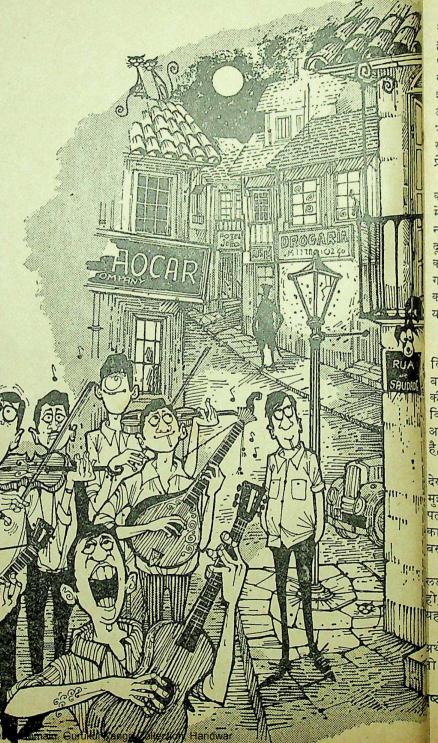
मैं 'विश' करूंगा. कुछ मामलों में मैं क़तई आलसी नहीं हूं लेकिन कुछ लोग होते ही ऐसे हैं कि उनके सामने हारना ही पड़ता है.

ख़ैर, मैंने अभिवादन का उत्तर दिया, "वैरी गुड मॉर्निंग स्वीट मैम!"

स्वीट मैम चार बरस की एक लड़की की तरह हंस पड़ती हैं. ऐसी खूबसूरत हंसी इससे पहले मैंने आज तक किसी औरत के होंठों पर नहीं देखी थी. वह मुड़ती हैं और चाय की ट्रे लेने अंदर चली जाती हैं.

लाउंज पर मुझसे पहले ही शेफ़िल्ड का टोरी टिम्बेल अपनी दोस्त लिज़ा के साथ बैठा हुआ था. अभी कल ही शाम मैं यूथ हॉस्टल लौटने के लिए बस स्टॉप पर बगल में खड़े व्यक्ति से पूछ-ताछ कर ही रहा था कि एक अंग्रेज़ पर्यटक ने भाई (ब्रदर) कहकर मेरी मदद करनी चाही. यह टोरी था. पांजिम की वह शाम मेरे भीतर धंसती चली गयी! स्वामी विवेकानंद जब अमेरिका गये थे, वहां धर्म-सम्मेलन में उपस्थित जन समुदाय को भाई और बहन कहकर संबोधित किया था! यह संबोधन सुनकर समूचा अमेरिका स्तब्ध रह गया था. रहना ही था. इतना बड़ा प्रेम किसी को मिले तो वह स्तब्ध क्यों नहीं रह जायेगा!

कल शाम मैं भी उसी तरह स्तब्ध हुआ था. सात समंदर पार का टोरी मेरे सामने था और मैं लगातार महसूस करता रहा कि मेरा भाई, मेरा यार साथ में है. यह संबोधन मेरे लिए नया तो नहीं है, फिर? हिंदुस्तान की तो मिट्टी का ही संस्कार है कि हम दूसरों को भाई कहकर ही पुकार लेते हैं, लेकिन टोरी की विलायत की मिट्टी यह रस्म कहां जानती है? अब मैं अच्छी तरह समझ गया कि टोरियों का हुजूम चुप नहीं बैठा रहेगा और आज न सही, कल का विलायत वही ज़ुबान समझेगा, जिसे बोलने की परंपरा यहां वेदों की रचना से भी पहले से चली आ रही है.

स्वीट मैम चाय की ट्रे लेकर अब वापस आ गयी हैं.

हम लोग ट्रे में से अपना-अपना मग उठा लेते हैं और टोरी लिज़ा के साथ हिंदुस्तान के गांवों में महीनों फिरते रहने के अनुभव बयान करने लगता है. स्वीट मम एक आदिवासी अल्हड़ युवती की तरह मुग्ध होकर टोरी का एक-एक शब्द सुन रही हैं. ऐसी विमुग्धता आदिवासी अल्हड़ युवती के अलावा घोंसले में से आसमान की तरफ़ देखते उस चिड़िया के बच्चे की दृष्टि में होती है, जिसकी आंखें अभी-अभी खुली हों.

मेरी आदत शुरू से ही बहस करने की है. स्वीट मैम को देखकर ईर्ष्या होती है कि थोड़ी-सी किराये की ही विमुग्धता मुझे मिल जाती तो क्या हर्ज़ था? टोरी मिट्टी का इंसान है. उसे पता है कि हवा, पानी, मिट्टी और आदमी की सांसों की तक़लीफ़ों का क्या मतलब है! ऐसा कोई शख़्स हमेशा कहां मिलता है? बस, हमारी बहस शुरू हो जाती है.

लिज़ा भी बीच-बीच में बोलती है. वह अभी एक कच्ची लड़की है, कच्ची मिट्टी के लौंदे जैसी. लेकिन जिसका दोस्त टोरी हो, उसकी समझ, उसकी परिपक्वता समंदर की तरह बनेगी, यह मैं बग़ैर किसी शुबहा के समझ गया.

विलायत का टोरी जान गया कि 'आदमी' शब्द का क्या अर्थ है? इसीलिए उसे कष्ट होता है कि लोग मंगलग्रह तक की तो खबर की तलाश में लगे हैं लेकिन 'आदमी' का अर्थ कोई जानना नहीं चाहता.

स्वीट मैम बिना पलक झपकाए हमारी बहस सुन रही हैं.

बाहर थोड़ी बूंदा-बांदी हो रही है और नौ बजने वाले हैं. आज मुझे अंजुना बीच पर घूमना है. वहां कई देशों के हिप्पी डेरा डालकर रहते हैं. उन लोगों से बातचीत करने की मेरी चाह बरसों पुरानी है. बरसों से मैं जानना चाहता हूं, वे मनुष्य और ज़मीन को क्या समझते हैं. . . .

टोरी को भी लिज़ा के साथ घूमने के लिए निकलना है. बहस बढ़ सकती थी लेकिन मैंने वहीं फुलस्टॉप लगा दिया. निकल ही रहा था लेकिन एक सेकेंड के लिए रुक गया. स्वीट मैम से बग़ैर कुछ सोचे पता नहीं क्यों वही सवाल कर लिया, जिसकी टीस उनके दिल को बरसों से बेचैन कर रही है. मैंने उनके बच्चों के बारे में सवाल किया था.

फ्लोरेंस नाइटंगिल कभी नहीं रोयी होंगी. स्वीट मैम भी उस वक़्त रो तो नहीं पड़ी थीं लेकिन चेहरा स्याह हो गया था. यूथ हॉस्टल की बगल में मांडवी नदी बह रही है. मांडवी कोई क़ायदे की नदी नहीं, अरब सागर की एक उन्मत्त और चपल खाड़ी है. लेकिन इस खाड़ी को गोवा के लोग नदी कहते हैं. इस वक़्त का अरब सागर का सारा ज्वार क्या मांडवी में ही आ गया? स्वीट मैम तो ख़ामोश हैं लेकिन बरसात की मांडवी की सारी लहरें उनके दिल के पाटों को मेरे सवाल के बाद इस तरह मोड़ देंगी, मैं कहां जानता था?

▣

टोरी और लिज़ा पांजिम छोड़कर बंबई चले गये हैं. वहां से वे इंग्लैंड के लिए रवाना होंगे. इत्तफ़ाक़ है कि उनके चलते समय मैं हॉस्टल में नहीं था और इस वजह से टोरी को बहुत कष्ट हुआ. उसकी मेरे नाम रखी चिट्ठी इस बात का सबूत है.

स्वीट मैम देर तक टोरी और लिज़ा के प्रेम और समझ के बारे में बातें करती हैं. इस वक़्त मैं लगभग चुप ही रहता हूं. एक श्रोता की तरह. कभी-कभी मुझे सुनना बहुत अच्छा लगता है. और फिर सुन चुकने के बाद लगता है कि बहुत संपन्न हो गया हूं. एक अदद औरत मां की तरह जब हंसती है, मैं ही क्यों, कोई भी इससे अपने को संपन्न ही समझेगा .

अब वह थक गयी हैं क्या? वर्ना इस तरह चुप नहीं हो जातीं! मैं भी कुछ नहीं कहता. लाउंज की खिड़कियों से मांडवी दिखाई पड़ती है. आवेगमयी, नवयौवना की तरह मांडवी थिरक रही है. मैं वही देख रहा हूं.

स्वीट मैम फिर लंबी चुप्पी के बाद चित्रा की कहानी शुरू करती हैं. चित्रा को तो मैंने कभी नहीं देखा लेकिन उसकी मां, छप्पन बरस की लिली भागवत को जानता हूं. बहुत कम अरसे में अच्छी तरह जान गया कि लिली भागवत हिंदुस्तान की सबसे खूबसूरत औरत है.

▣

चित्रा कौन है?

मेरे ज़हन में इस नाम से जो तस्वीर उभरती है, उससे यह लड़की बिल्कुल मेल नहीं खाती. दूब की कलगियों पर सुबह का

ओस मणि की तरह चमकता है. यह देखकर कोई मारे खुशी के पागल क्यों नहीं हो जाता? चित्रा भी स्वीट मैम की आंखों में हू-ब-हू उसी तरह चमक रही है. और यह बात मेरे सिवाय कोई नहीं जानता.

मैं समझ गया, यह लड़की माइकलेंजलो की प्रेमिका हो सकती थी. तमाम संभावनाओं के बावजूद पता नहीं क्यों ऐसा नहीं हुआ! चित्रा एक अदद आर्टिस्ट का नाम है. स्वीट मैम ने मुझे उसकी तमाम पेंटिंग्ज़ दिखायी. यामिनी राय और राम किंकर के गांवों से लेकर पाब्लो पिकासो तक की तमाम दूरियां चित्रा में उतर आयी थीं. वह पेंटर थी लेकिन नर्तकी भी थी. एलबम में मैंने उसके नाचने की मुद्राओं की तस्वीरें देखीं.

"लेकिन असल में वह लड़की क्या थी, मालूम?" स्वीट मैम ने मुझसे यूं पूछा, जैसे मैं उनकी बेटी से मांडवी के 'बीच' पर अक्सर मिलता रहा हूं.

मैं एकदम चुप. इस सवाल का क्या जवाब हो सकता है?

अभी यूथ हॉस्टल के पर्यटक घूमने के लिए निकल पड़े हैं. इतने बड़े मकान में अब सन्नाटा-सा है और मैं अपने सामने बैठी स्त्री की एक-एक सांस की आवाज़ तक सुन रहा हूं. ऑफिस में अभी कर्नल भागवत बैठकर रोज़मर्रा के काम निबटा रहे हैं. कर्नल, यूथ हॉस्टल के वार्डन और स्वीट मैम के पति हैं. मैं सोचने की कोशिश करता हूं. शादी के बाद दुलहन का घूंघट पहली बार हटाकर कर्नल किस तरह चकित हुए होंगे.

"तुम्हें नहीं मालूम न?" मैम की आवाज़ थी यह.

मैं चौंका. चौंकने के अलावा मैं और कर ही क्या सकता था? जवाब मुझे मालूम नहीं है और मैं आकाश-कुसुम सोचे जा रहा था.

"वह एक प्रेमी लड़की थी. ख़ास तौर पर बच्चों से उसका बहुत लगाव था."

इतना मैं ही क्यों, मेरे दुश्मन भी यक़ीन करेंगे. लिली भागवत की बेटी के संस्कार में प्रेम तो होना ही है.

पाठक, आप जानते हैं कि चित्रा की अब सिर्फ़ स्मृति रह गयी है. मांडवी की लहरों से रेत पर जो घाटियां बनी हुई हैं, वे बताती हैं, कभी जल यहां तक आया था. इससे आगे न कोई कुछ पूछता है, न ये धारियां ही बताती हैं.

लेकिन मैंने सब कुछ जानना चाहा था. एक बेहद ख़ूबसूरत औरत के जिगर में कितना बड़ा ज़ख़्म अंगारे की तरह छितरा पड़ा है, पांजिम शहर का कोई भी तो नहीं जानता.

चित्रा बच्चों से कितना प्यार करती रही होगी, उसके अधूरे पड़े खिलौनों से कोई भी समझ जायेगा. वे सारे खिलौने अब क्या, बस, यूं ही पड़े रहेंगे? कभी-कभी खिलौने भी बोलते होंगे. यूथ हॉस्टल के वार्डन के घर में कभी-कभी उनके भी दिल से हूक निकलती होगी.

पाठक, क़लम की शक्ति बहुत कम होती है. कई दफ़ा शब्दों से हम समझा नहीं सकते कि जिगर की हालत क्या है! स्वीट मैम के जिगर में कितना बड़ा ज़ख़्म पल रहा है! वर्ना आप समझते, बहुत बड़ी सच्चाई और विमुग्धता के बीच असल में कुछ भी फ़र्क़ नहीं होता.

अब पहली बार वह रोयीं.

मैं एकदम ठंडा पड़ गया.

समूचा पांजिम शहर जानता है कि चित्रा आर्ट और बच्चों की तक़लीफ़ों के बीच बड़ी मुहब्बत से जीती रही है. बरसों पहले मैंने एक कविता लिखी थी—'मृत्यु के बाद पारमिता का शैशव'. अब लगता है, पारमिता भी चित्रा की तरह 'मीरामार बीच' पर जंगल के ठीक सामने हर सुबह सूरज उगते समय नाचती रही है. चित्रा की तरह पारमिता को भी मैंने कभी नहीं देखा. यक़ीन मानिए, देखने की इच्छा भी कभी नहीं हुई! लेकिन मैं जानता हूं, लोगों के कष्टों में हर पल पारमिता गुमसुम आंखों में चुप बैठी है.

पाठकों को न सही, मेरे आलोचकों को लगेगा—यह एक ग़ैरज़रूरी सेंटीमेंट है. और खुलकर कहूं तो कहना यही पड़ेगा कि उनका ख़्याल होगा—यह एक भावुकता की फ़सल है. किसी को कुछ भी लगे, मेरे लिए तो यह एक बहुत ज़रूरी और खुरदुरा यथार्थ है.

. . . .अभी मांडवी पर तेज़ हवा बह रही है. सामने सफ़ेद अगुआदा फोर्ट है. पुर्तगालियों की आखरी निशानियों में से एक. अगुआदा का हिंदी अर्थ है—मीठे पानी का मातृ-स्रोत. हज़ारों बरस से इंसान मां की मुहब्बत की तरह दुनिया को बनाने के लिए सोचता रहा है. मां का प्यार आदमी को कितनी राहत देता है, स्वीट मैम के साथ गुज़रे एक-एक पल ने बता दिया.

अरब सागर में पश्चिम की तरफ़ बढ़ते जहाज अगुआदा से मीठा पानी भरकर सफ़र में जाते थे. पुर्तगालियों के ज़माने में यही रिवाज़ था. मैंने उस आदमी के नाम की बहुत तलाश की, जिसने 'अगुआदा' को पहली बार पुकारा था. मैं इतिहास का विद्यार्थी क्यों नहीं बना, यह मलाल दिल में हो रहा था. वर्ना गोवा छोड़ने से पहले ही 'अगुआदा' के प्रथम उच्चारक का नाम ज़रूर पता हो जाता.

लेकिन बातें मैं स्वीट मैम की बेटी, चित्रा की कर रहा था. कई बार मुझे लगता है, बातें भले ही अलग लगें, उनका सूत्र एक होता है.

"चित्रा अपनी बच्ची तक को देख नहीं सकी थी." स्वीट मैम लगभग फफक पड़ीं.

मैंने नहीं पूछा कि क्यों ऐसा हुआ? इस 'क्यों' का जवाब समंदर की गहराई भी तो नहीं दे सकती!

बच्ची के जन्म के बाद चित्रा बेहोशी में पच्चीस दिन तक मौत से जूझती रही, फिर जूझने की सारी ज़रूरतें ही ख़त्म हो गयीं. उसकी चिता की राख को कलश में भरकर मैम ने समंदर के नीले पानी में बहा दिया था. फिर शायद कभी कई बरस बाद दुनिया के अलग-अलग गांवों में अलग-अलग नामों से अपनी चिता भस्म से चित्रा पैदा होगी और इसी मांडवी के किनारे रेत पर बैठी उसकी मां दूर से आते हर जहाज का इंतज़ार करेगी.

. . . . कर्नल को भी यही दुख है! जो लड़की बरसों बच्चों से इस क़दर मुहब्बत करती रही है, उसने अपनी आत्मजा तक को क्यों नहीं देखा?

यह सवाल कर्नल ही नहीं, सारा पांजिम शहर कर रहा है, हालांकि वे सब जानते हैं, यह कोई सवाल ही नहीं हुआ. और इसका कोई जवाब भी नहीं है.

मैं बच गया हूं. स्वीट मैम मुझसे कम से कम यह सवाल कर ही सकती थीं. अगर वह करतीं तो क्या सिर्फ़ चुप रहकर

मैं अपना बचाव कर पाता? नहीं मालूम. मैं अब कुछ और मालूम भी नहीं करना चाहता.

ड्राइंगरूम में अपनी ही पेंटिंग के नीचे चित्रा की एक तस्वीर पड़ी है. पेंटिंग चित्रा ने तब बनायी थी वह जब शांतिनिकेतन के आर्ट कॉलेज में थी. यह वीरभूम ज़िले की एक संथाली लोककला का नमूना है.

. . . . और तस्वीर के सामने एक थाली में कुछ फूल पड़े हैं. हर सुबह अपने हाथों से फूल चुनकर स्वीट मैम चित्रा का अभिवादन करती हैं. इस अभिवादन में कोई भावुकता नहीं, एक गहरा ममत्व है. और सुबह अभिवादन के वक़्त मैम को याद आ जाता है कि वह एक फ़ौजी की बीवी हैं. जिसके उसूल सैनिकों की तरह ही चट्टानी हैं.

▣

दरवाज़े पर दस्तक.

"प्लीज़ कम इन." मैं बोला. लेटा हुआ कुछ पढ़ रहा था. अब उठ बैठा.

स्वीट मैम अंदर आयीं, "खाना खाने नहीं गये डॉक्टर?"

हड़बड़ाकर मैंने 'डॉक्टर' संबोधन पर खीझ जता दी, "डोंट कॉल मी डॉक्टर. माई फर्स्ट नेम इज़ प्रणव."

"लेकिन तुमने आखिर मेहनत करके डॉक्टरेट भी तो ली है. तुम्हारा हक़ भी है और मुझे 'डॉक्टर' पुकारना भी अच्छा लगता है." अब वह उलाहना देती हैं, "मगर लंच लेने क्यों नहीं गये? तबीयत तो ठीक है?"

मेरी तबीयत के बारे में इससे आधी शंका भी कभी किसी ने ज़ाहिर नहीं की. ज़िंदगी में और भी हज़ारों मौक़े ऐसे आये, जब भूखा रहा हूं लेकिन इतने ममत्व से पहली बार ही किसी ने मेरी खोज-खबर ली.

बाहर बहुत तेज़ बारिश हो रही थी. यूथ हॉस्टल में रहने की तो व्यवस्था है लेकिन खाना बाहर जाकर ही खाना पड़ता है. पिछले तीन-चार दिनों की मटरगश्ती की वजह से मैं इतना थका था कि मैम से रेनकोट लेकर खाना खाने बाहर जाने की तबीयत नहीं हो रही थी.

"आज फ्रूट-सैंडविच खाने का इरादा है." मैंने कहा और बगल में पड़े केले और ब्रेड दिखा दिये. दिखा देने के बाद मैं झेंप रहा था. केलों के रंग काले हो रहे थे और ब्रेड पर फफूंद-सा उग रहा था.

मैम आंखें फाड़े मेरा भोज्य पदार्थ देखती रहीं. फिर वह एकाएक संजीदा हो गयीं और मुझे हुक्म-सा सुना दिया, "मेरे साथ नीचे चलो और खाना खाओ."

ज़ाहिर है, इस हुक्म के बाद कोई विकल्प नहीं रह जाता. कोई मां जब बेटे के लिए थाली में खाना परोसती है, भला उसमें विकल्प हो भी कैसे सकता? लेकिन मेरे भीतर जो दो-टकिया आभिजात्य है, वह मुझे रोकता है. इस निर्विकल्प निर्देश के बावजूद मैं तकल्लुफ़ में ना-ना ही करता रहा, लेकिन मेरी यह अस्वीकृति मैम के निर्देश के सामने कितनी बौनी थी . . . आखिर मुझे वार्डन के अपार्टमेंट के डाइनिंग टेबल तक आना ही पड़ा.

कर्नल यूथ हॉस्टल के दफ़्तर में काम कर रहे हैं और इस सजे हुए घर में एक अदद औरत मुझे खाना खिला रही है. जैसे उसे अच्छी तरह पता है कि मैं कितना खाना खा सकता हूं. वर्ना मेरे नकली आभिजात्य के ना-ना करने के बावजूद वह इस तरह ज़बरदस्ती नहीं करतीं.

सुबह उठकर सबसे पहले किसका चेहरा देखा था, याद नहीं है. सुनने में आता है, अन्नपूर्णा का अन्न इस बात पर निर्भर करता है कि सुबह उठकर व्यक्ति सबसे पहले किससे टकराता है! मेरी दादी इसी तरह कुछ कहा करती हैं. खैर, दिमाग़ में काफ़ी ज़ोर लगाने के बावजूद याद नहीं आया, सुबह आंख खुलने के बाद मैंने सबसे पहले किसे 'विश' किया था.

खाना मैंने डीलक्स फाइव स्टार होटलों से लेकर ढाबों तक में असंख्य बार खाया है. ज़ाहिर है कि इन असंख्य बारों में ढाबों में ही खाना खाने की संख्या अनगिनत रही है. मुझे अच्छी तरह याद है, आज तक कितनी बार फाइव स्टार होटलों में घुसा हूं . . . और यह भी याद है कि इतनी तृप्ति से खाना और कहीं भी तो नहीं खा सका.

स्वीट मैम मुझे अपनी जिंदगी की कहानी सुनाती हैं. अगर उनका बश चलता तो कुछ कहने की बजाय अपनी छाती चीर कर दिखा देतीं कि उनकी कहानी में कितनी बेरुखी सच्चाइयां हैं!

अचानक वह रुकती हैं, "तुम शायद बोर हो रहे हो?"

मुझे झटका-सा लगा. बोला, "मैं सिर्फ़ तुम्हें सुन रहा हूं, मैम!"

"ओह, सॉरी! कभी-कभी मुझे पता नहीं क्यों लगता है कि कुछ भी बोल नहीं पा रही हूं या फिर बोलते हुए सारा कॉन्टेक्स्ट् इस तरह दिमाग़ से स्लिप कर जाता है कि याद ही नहीं आता, अभी एक सेकेंड पहले क्या कह रही थी!"

मुझे जबरदस्त ताज़्जुब होने लगा. इस बीमारी का शिकार मेरे अलावा भी कोई और है, पहली बार पता हुआ. पेशे से मैं इकोनॉमिक्स का प्राध्यापक हूं. कई दफ़ा ऐसा हो जाता है कि लेक्चर देते हुए मैं बिल्कुल 'ज़ीरो' हो जाता हूं. यह 'ज़ीरो' भारतीय तर्कशास्त्र का शून्यवाद नहीं है. इसका कोई दार्शनिक अर्थ भी नहीं होगा. यह 'ज़ीरो' क्लास में लेक्चर सुनते विद्यार्थियों के सामने मुझे कितना असहाय कर देता है, उसे शायद स्वीट मैम ही समझ सकेंगी.

मैं खाना खा चुका था.

मैम मुझे अपने 'बेडरूम' में ले गयीं. ड्राइंग रूम के साथ वाला कमरा ही उनका बेडरूम है. एक मंझोले आकार का कमरा और उसके बीच एक सामान्य क़िस्म का बिस्तर. बिस्तर के ठीक सामने स्टडी टेबल और बगल में योगेश्वर कृष्ण की एक तस्वीर. उसके साथ ही बनारस की आनंदमयी मां की भी एक फ्रेम की हुई तस्वीर.

स्टडी टेबल के कांच के नीचे ढेर सारे फोटोग्राफ़्ज़ सजाये हुए हैं. ये सब चित्रा की यादों की कहानी कहते हैं. स्टडी पर मैम कोई किताब पढ़ती होंगी क्या? यह नामुमकिन है. वह पढ़ ही नहीं सकतीं. वह चुप बैठी तब तक तल्लीनता में चित्रा की तस्वीरें देखती होंगी, जब तक बाहर के दरवाज़े पर लगा कॉलबैल खनखना कर उन्हें चौंका नहीं देता होगा. यह यूथ हॉस्टल है. देशी-विदेशी युवा पर्यटकों का सस्ता-सा आवास. गहमा-गहमी हमेशा लगी ही रहती है. और कर्नल के साथ मैम को पूरा ध्यान रखना पड़ता है कि किसी को कोई तकलीफ़ न हो.

आखिर मैंने कह ही दिया, "आई हैव फॉलेन इन लव विद यू. माई लव इज एक्सक्लूसिव." मैंने 'एक्सक्लूसिव' शब्द पर बहुत ज़ोर डाला.

इस तरह के शब्द मुझसे पहले भी हज़ारों पर्यटकों ने मैम से कहे होंगे. मुझे उन लोगों से ईर्ष्या होने लगती है. काश ये वाक्य मैं ही पहली बार कहता!

मैम के होंठों पर मुस्कराहट है. वह मुझे घूरने लगीं. "नॉटी ब्वाय!"

फिर हम दोनों देर तक मज़ा लेकर हंसते रहे.

मुझे पूरा यकीन है, इस यूथ हॉस्टल में काम करने वाले धोबी माली, जमादार और नौकरों के मन में भी वे ही शब्द होंगे, जो मैंने थोड़ी देर पहले कहे हैं. मैं उन लोगों के सामने वाकई खुशकिस्मत हूं जो बात वे झिझक के मारे कह नहीं पाते. मैं पूरी आज़ादी जताकर इत्मीनान से यूं कह गया जैसे लिली भागवत से मेरी बरसों पुरानी आत्मीयता हो. किसी भी संबंध की गहराई क्या समय की लंबाई से ही मापी जा सकती है? क्या यह मुमकिन नहीं है कि पल भर में कोई उस गहराई तक पहुंच जाये जो लोग बरसों के सफ़र के बावजूद नहीं पहुंच पाते....? मैं कैसे अस्वीकृति में गर्दन हिला दूं? मेरा अनुभव मुझे कहां तक ले गया है, इसे कौन समझेगा?

मैम जिस अभिजात वर्ग से निकली हैं, वहां के लोग गर्द-गुबार में सनी आत्माओं की ख़बर नहीं रखते. पांजिम पहुंचने के बाद ही मेरा यह यकीन टूटा. छोटे-छोटे लोगों के बारे में फ़िक्र कर यातना पाने वाले इस वर्ग में भी कुछ अपवाद क़िस्म के लोग हैं, अब मैं विश्वास करता हूं.

सवाल है यातना का. प्रेम के बग़ैर यह यातना कोई कभी क़बूल नहीं कर सकता. धूल सने लोगों की आत्माओं से पांजिम शहर की फ्लोरेंस नाइटंगिल किस हद तक इश्क करती हैं, मैंने अपने फ़ासले से देख लिया. मैम का कुटुंब इतना बड़ा है कि उसमें धोबी, मोची से लेकर यूथ हॉस्टल में आने वाले पर्यटकों तक हर कोई समा गया है.

वार्डन का अपार्टमेंट बहुत खूबसूरत है. मांडवी के किनारे यह

घर इतना छायाशीतल है कि मुझे गंगा के कछारों पर बसे गांवों की बात याद आ गयी. मेरा बचपन ब्रह्मपुत्र की घाटी में बीता है, पांडू में. पांडू एक वर्णनातीत हरी घाटी है. कभी-कभी मैं गंगा और ब्रह्मपुत्र के बीच का फ़ासला भूल जाता हूं और लगने लगता, गंगा के कछारों में बसे बहुत सारे गांवों में से एक पांडू भी है. अब लगा, मांडवी के 'मीरामार बीच' पर स्वीट मैम का यह अपार्टमेंट भी पांडू ही है.

मैम ने मुझे टोक दिया, "यह पूरा यूथ हॉस्टल ही मेरा अपार्टमेंट है."

जो लोग मैम को नहीं जानते, इस वाक्य को नाटकीय संवाद से ज़्यादा अहमियत नहीं देंगे. लेकिन मेरे पास तो एक-एक बात का सबूत है. यह मेरा बौनापन नहीं तो और क्या होगा कि बग़ैर सबूत के किसी बात को सच नहीं मानता. हम सब तर्कवादी निष्ठुर लोग हैं और उस सत्य की गरिमा को खंडित करते हैं, जो तर्कातीत है, जिसकी अभिव्यक्ति बहुत सूक्ष्म है.

ख़ैर. मैंने देखा कि मैम घनघोर बारिश में टैरेस पर खड़ी हैं और टब में पीने का पानी भर रही हैं. बारिश तो ख़ैर थी ही, मांडवी की तूफ़ानी हवा भी सांय-सांय कर रही थी.

ऐसा मैम के सिवाय कौन दूसरी औरत भला कर सकती थी? पांजिम शहर का पानी प्रदूषित हो गया है और उसके इस्तेमाल से गुर्दे की बीमारी लग सकती है. सरकारी ऐलान है कि नल के पानी को बग़ैर गर्म किये न पिया जाये. लेकिन भला इतने भर से मैम कैसे निश्चिंत हो जातीं? उन्होंने टब में वर्षा का शुद्ध जल इकट्ठा किया, उसे उबाल कर ठंडा किया और बोतलों में भर कर 'यूथ हॉस्टल' के एक-एक पर्यटक को इस सख़्त हिदायत के साथ दिया कि कोई भी इस पानी के अलावा कुछ और न पिये!

मां का एक छोटा-सा कष्ट भी दुनिया के तमाम दुखों से कहीं बड़ा होता है, इस बात का यक़ीन मेरे जैसे जड़ बुद्धि लोग भी अब बिना कोई सवाल किये करते हैं. इसके बाद कोई सिर्फ़ यही कहेगा, "तुमने ग़लत कहा है मैम कि यह समूचा यूथ हॉस्टल ही तुम्हारा घर है! तुम्हारा अपार्टमेंट तो सारी दुनिया है."

▣

'क्रिस्टोबल मिरांडा' तीसरी दुनिया के कवि पाब्लो नेरूदा की सृष्टि है. ऐसी अमर सृष्टि नेरूदा के सिवाय कर ही कौन सकता था? 1971 में मैंने पहली बार यह कविता पढ़ी थी और आप शायद यक़ीन नहीं करेंगे, तबसे मैं बहुत बेचैन रहा हूं. क्रिस्टोबल मुझे 'हांट' करती है और मुझे पता है कि वह यहीं कहीं छिपी होगी. मैं जानता हूं, नेरूदा ने क्रिस्टोबल से आकंठ प्रेम किया था. क्रिस्टोबल से प्रेम नेरूदा जैसी शुद्ध आत्मा के अलावा कोई और भला कैसे करेगा? मेरी क्षुद्रताएं मुझे आगे बढ़ने नहीं देतीं लेकिन पिछले सात बरस से पता नहीं कैसे-कैसे मैं क्रिस्टोबल के पीछे भागता रहा हूं.

क्रिस्टोबल मिरांडा लिली भागवत होकर पांजिम शहर में बसी हुई हैं, यह खबर नेरूदा को भी नहीं थी. सात बरस की भटकन के बाद मुझे यह खबर अपने आप ही मिल गयी.

लेखक या कवि रूप में मैं निश्चित ही एक नगण्य व्यक्ति हूं लेकिन कभी-कभी नगण्य व्यक्तियों की भी किस्मत अच्छी होती है, यह मान लेने में अब मुझे कोई कठिनाई नहीं होती. क्रिस्टोबल मिरांडा से मुलाक़ात ही यह बात प्रमाणित करती है.

मेरे खाने-पीने, रहने-सहने का कोई निश्चित तरीक़ा नहीं है. जब जैसी सुविधा मिली, मैं उसी हिसाब से चलता गया. क्रिस्टोबल मिरांडा को इसी बात के लिए बहुत फ़िक्र होती है. मुझे कम से कम पच्चीस बार हिदायतें मिलीं कि खाने-पीने पर कम से कम कुछ ध्यान ज़रूर दूं.

मैं एक सुबोध क़िस्म के बेटे की तरह 'हां' ज़रूर कहता हूं, लेकिन यह 'हां' निभेगी नहीं, मुझे पता है. मैं चाहूं भी तो नहीं निभ सकती.

मेरा झूठ क्रिस्टोबल समझ जाती हैं. समझती हैं और कुछ नहीं कहतीं. फिर मैं देखता हूं कि वह उदास हो रही हैं.

मैं प्रसंग बदलने के लिए हंस देता हूं.

वह नहीं हंसतीं.

जैसे मांडवी का पानी बिल्कुल स्थिर हो गया हो.

▣

मेरे पास गिने हुए दिन हैं. लेकिन लगता है, गिने हुए दिन नहीं, घंटे हैं. पांजिम छोड़ने का वक़्त करीब आता जा रहा है और 'दोना पावला' में सूर्यास्त की तरह मैं विषण्ण हो रहा हूं. 'दोना पावला' की एक अलग ही विषण्ण-कथा है. पुर्तगाली राजघराने की लड़की पावला एक देसी मछुआरे के प्रेम में पागल हो उठी थी. लेकिन राजघराने की चहारदीवारी की तो अपनी अलग मर्यादा होती है! पावला फिर कैसे मिलती अपने मछुआरे प्रेमी से? आखिर अरब सागर के उस मुहाने पर, जहां 'ज़ुआरी' और 'मांडवी' नदियां शुरू होती हैं, छलांग लगाकर पावला हमेशा के लिए सैकड़ों बरस पहले समंदर की तलहटी में सो गयी थी. तबसे इस जगह का नाम ही 'दोना पावला' हो गया. पुर्तगाली में 'दोना' का अर्थ है कुमारी. लोग यहां सूर्यास्त देखने आते हैं. कहते हैं, ऐसा खूबसूरत सूर्यास्त दुनिया में कहीं और देखने को नहीं मिलता. मैंने भी वहां सूर्यास्त देखा है लेकिन मुझे समूचा दृश्य बहुत विषण्ण ही लगा!

. . . सुबह से मैं बहुत उदास हूं.

बाहर मूसलाधार पानी बरस रहा है. इस बीच स्वीट मैम से कई बार मुलाक़ातें हुईं लेकिन मुझसे खास कुछ बोला नहीं गया. वह भी लगभग खामोश ही रहीं. सिर्फ़ पुरानी हिदायतों को दोहरा ज़रूर दिया था.

आखिर चलने का वक़्त हो ही गया.

कर्नल मेरी बगल में खड़े थे.

स्वीट मैम मेरे नज़दीक आयीं और मुझे पकड़ लिया. कुछ कहा भी था लेकिन वह सब मैं सुन नहीं पाया था. मेरी छाती पर किसने मन भर का पत्थर रख दिया है? मैं चुप.

फिर सफ़र शुरू हुआ और मैं बार-बार मुड़कर क्रिस्टोबल मिरांडा को देख रहा था. वह विदाई में हथेली हिला रही थीं. जब तक मैं वाकई ओझल नहीं हो गया, वह बराबर हथेली हिलाती रहीं. मैं गर्दन मोड़कर उनका चेहरा देखने की कोशिश कर रहा था लेकिन सब कुछ अस्पष्ट हो गया था. आंखें नम हो जायें तो कोई भला कैसे क्रिस्टोबल मिरांडा को देख सकेगा . . . . ! □

डी 240, सर्वोदय एन्क्लेव, नयी दिल्ली-110017.

सुरेश सैर सपाटे पर

सुरेश और जग्गू स्कूल की तरफसे सैर पर

जग्गू सुरेश को सताता है।

वे विश्राम के लिए रुकते हैं।

बाद में—जग्गू सुरेश को धक्का देते समय गिर जाता है।

जग्गू शरमिन्दा है।

सुरेश न्यूट्रामूल नियमित रूपसे लेता है। न्यूट्रामूल अमूल का स्वादिष्ट स्वास्थ्यप्रद पेय है। न्यूट्रामूल मलाईदार अमूल दूध, असली कोको, माल्ट व शक्कर का पौष्टिक मिश्रण है।
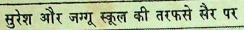
इतना ही नहीं। न्यूट्रामूल की कीमत भी कम है। ५०० ग्राम न्यूट्रामूल सिर्फ १२.२१ रु. में। स्थानीय कर, बिक्री कर और भाड़ा इसके अलावा। सुरेश और अब जग्गू देश भर मे अन्य हजारों लोगों की तरह हर रोज न्यूट्रामूल का आनंद उठाते हैं।

अमूल का न्यूट्रामूल
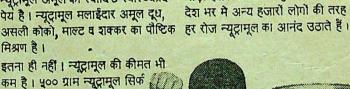
हर कप शक्ति-स्फूर्ति से भरपूर!

daCunha/N 3 HIN

आवश्यकता अपनी सही भूमिका और लक्ष्य पहचानने की है

▣ विष्णु कुमार

आज़ादी प्राप्त करते वक़्त जो पीढ़ी युवा थी, (या हो रही थी) चंद साल बीतने पर उसका मोहभंग हुआ, और उस वक्त के साहित्य में इस मोहभंग की स्थिति को लेकर खासी रचनाएं आयीं. मालूम नहीं यह मोहभंग अचानक कैसे समाप्त हुआ, जो उसका स्वर और तेवर साहित्य से एकदम गायब हो गया. मोहभंग की इस स्थिति से किस प्रकार के साहित्य को जन्मना चाहिए था, यह तो इतिहास के विश्लेषण का विषय है. पर मुझे लगता है कि जैसे साहित्य की जरूरत इस देश को थी, वैसा साहित्य नहीं आया और कालांतर में कुंठा, संत्रास आदि की इस क़दर बाढ़ आयी, कि उस साहित्य को पढ़कर लोग और संत्रस्त, और कुंठित होने लगे. इस अभागे देश के लिए यह एक अजीब स्थिति थी. साहित्य की सही और रचनात्मक भूमिका की बात केवल गोष्ठी और क़ाफी हाउस की बहसों का विषय हो कर रह गयी थी. आश्चर्य होता है कि ऐसे वक़्त भी साहित्य के अलमबरदार अपनी-अपनी गद्दी संभालने के चक्कर में, विभिन्न वादों और आंदोलनों के कुचक्र में रत थे. और कुछ जो बचे थे यानी बातें करते थे तो उनका विद्रोह ले-देकर मां-बाप, पत्नी और ऐसे अन्य रिश्तों तक सीमित था. वे यह भूल गये थे कि इन तमाम रिश्तों वाले लोग भी तो आखिर उसी व्यवस्था के मारे हुए हैं, जिनमें युवा पीढ़ी पिस रही है. आक्रोश और विद्रोह का इतना नपुंसक और बनावटी रूप शायद इस देश में ही संभव था. आश्चर्य की बात थी कि हमारा साहित्यकार (जो समाज का जागरूक और बुद्धिजीवी व्यक्ति कहलाता है) भी, व्यवस्था के उस घिनौने षड्यंत्र को (अपने सही दुश्मन को) पहचान पाने में असमर्थ था. और अगर मैं यह कहूं कि असमर्थ नहीं था वरन् जानबूझकर आंखें चुरा रहा था, तो बहुतों को कष्ट होने लगेगा, और इसका परिणाम यह हुआ कि आने वाले समय की सारी पीढ़ी भी उसी तरह के ग़लत रास्तों

पर चलती रही और खोज सही रास्ते की करती रही. और हमने बेश-कीमती तीस वर्ष यूंही गुजार दिये, नंगी-अधनंगी, भूखी-अधभूखी पीढ़ी के नाम पर.

▣

कहावत है—इतिहास अपने को दुहराता है. तीस वर्ष के बाद बिल्कुल यही स्थिति फिर हमारे सामने है. हमने अगर आपत-काल के उन्नीस महीने देखे, तो इस दूसरी (तथाकथित) आज़ादी के भी साल-डेढ़ साल देख चुके हैं. क्या यह स्थिति पिछले साल-डेढ़ साल के जनतापार्टी के कारनामों को देखते हुए मोहभंग की स्थिति के लिए काफ़ी नहीं है. प्रजातंत्र का जितना मज़ाक इस देश की राजनीतिक शक्तियां उड़ा रही हैं, वह संसार में अपने आप में मिसाल है. इस देश में प्रजातंत्र राजनीतिज्ञों की 'रखैल' हो गया है. लेकिन जहां मसाला पीसने के सिल को सिंदूर लगा कर पूजा की जा सकती है, वहां सब संभव है.

तो स्थिति यह है कि सब कुछ गड्मड् है. जिसके जो मन में आ रहा है, कर रहा है, यह देश और इस देश की जनता राजनीति और राजनीतिज्ञों की प्रयोग-शाला हो गयी है. सभी प्रयोग कर रहे हैं और सामान्य जन पिस रहा है—दिनों-दिन टूट रहा है. चारों ओर अराजकता, असंतोष, भाई-भतीजावाद, घटकवाद और न जाने क्या-क्या चल रहा है, फिर भी नेता चिल्ला रहे हैं-सब ठीक है, कहीं कोई गड़बड़ नहीं.

▣

तो यह है आज की स्थिति और लेखन, (मुझे दुख है) कि वैसा नहीं हो रहा है जैसा होना चाहिए. अभी भी 'अनारो' 'तुम्हारे लिए', 'मेरे संधिपत्र', 'वंशज' जैसी ही रचनाएं लिखी जा रही हैं, शायद इनका लिखना भी जरूरी होगा, पर ऐसा ही केवल लिखा जा रहा है?

इसलिए जरूरत इस बात की है कि हम अपनी सही भूमिका और लक्ष्य को पहचानें और तदनुरूप लिखें. आज जरूरत ऐसी रचनाओं की है जो उस आग को पैदा करें जो इस देश से 'प्रजातंत्र की रखैल' स्थिति को समाप्त करें. ऊपर लिखित रचनाएं साहित्य की धरोहर हो सकती हैं पर अगर वे दस साल बाद भी लिखी जायेंगी तो कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा, पर आज तो निश्चित ही पड़ता है.

इसलिए आज की संपूर्ण स्थिति को देखते हुए हमें अपने लेखन के तेवर को बदलना होगा. वरना आज तो लेखन, पत्रिका और उसके संपादकों को ध्यान में रखकर किया जा रहा है और मेरी नज़र में यह लेखन के साथ बलात्कार है. इससे अच्छा है कि हम लिखना ही बंद कर दें, शायद ऐसा करके हम इस देश का ज्यादा भला करेंगे-इति. □

सहयोग

• जीवनसिंह ठाकुर

दूर तक धूल के गुबार, उड़ते पत्तों, चारों के तिनकों के बीच झांकते कुछ टापरों के इस छोटे से गांव की गरवट से खट-खटाक-खट करता मगन बैलगाड़ी दौड़ाये लिये जा रहा था. पटेल की इस बैलगाड़ी में बैठते उसे हमेशा बड़ा अच्छा लगता है. अपने इस छोटे से गांव में इस बैलगाड़ी से उतरते हुए मगन बड़ा गर्व अनुभव करता—टापरों से निकल कर लोग उसे घूरते—उसे और भी घमंड हो जाता. छगन दादा पूछते भी कि बड़े गांव कब जाओगे तो वह घमंड और बड़प्पन की मिली-जुली पटेली शोख़ी में कहता, "चले-चलना-चले चलना—भई छगना, बस रोटी खा के चलते हैं, अच्छा ऐसा कर, जब तक बैलों को निराव-पानी दे दे." छगना दौड़कर बैलों को खोल कर नाले की तरफ़ लिये जाता. यह क्रम इतनी बार दोहराया गया था कि लगता मगन खुद पांच गांव का पटेल और छगना उसका हाली हो. लेकिन जब बड़े गांव लौटते और जैसे-जैसे बड़ा गांव पास आता जाता, वैसे-वैसे मगन का गर्व-घमंड, पटेली शोख़ी, जैसे खेत के होरियों-पक्षियों की तरह निस्सीम आकाश में उड़ जाती और नगण्य-सी हो उठती. और यह एहसास छगन के साथ और भी गहरा हो जाया करता. लेकिन शाम को जब अपने टापरे की चौखट पर लौटता तो रास्ता देखती मानू को देखकर यह छोटापन घटकर थोड़ा लंबा हो जाता. कागज़ की कोई पुड़ी में छटांक भर भजिये या कभी-कभार बेसन की सेंव जब मानू के हाथ में रख देता तो उसका मन पुन: बैलगाड़ी के टिपकोलों की गति पर महसूस होता. चिमनी के मद्धम उजास में मानू को रोटी सेंकती हुई वह देखता, मगन को लगता खेत में काम करते दोपहर की कठिन ढलान की तरह रोटियां भी देर से सिंकती. मानू की कोई लट उसके होंठों तक लटक जाती, सिर से घूंघट खिसककर कान तक आ जाता, लेकिन वह रोटी बनाने में व्यस्त रहती. मगन को इस घड़ी की सदा प्रतीक्षा रहती. मानू की लंबी नाक, झुका-झुका चेहरा, धीरे-धीरे उठती पलकें उसे अव्यक्त आकर्षण देतीं और उसे
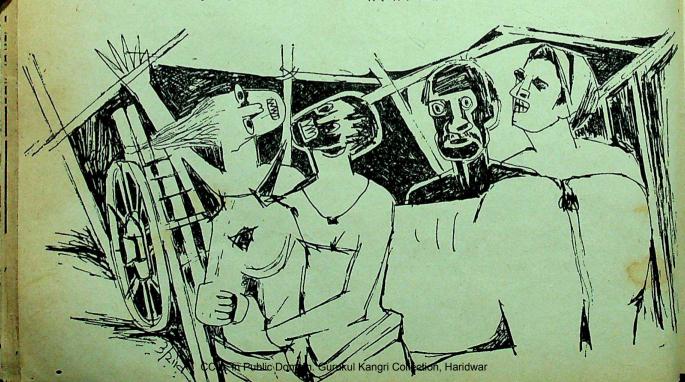
लगता, वह तेज़ी से पटेल की बैलगाड़ी में चारों पर पाल बिछा मानू को लिए मेले में चला जा रहा है. धीरे-धीरे रात खिसकती . . . . झींगुरों की झन-झन-झन . . . बाहर ढोरों के बागोलने की आवाज़ . . . . चिमनी का मद्धम उजाला, मगन—तेज़ी से मानू को अपने पास खींच लेता, फिर वह बाजार की बातें पूछती रहती.

▣

इतनी तेज़ गाड़ी कभी नहीं चलायी थी, सिर पर बंधा कपड़ा भी खिसककर गाड़ी में गिर गया था. गाड़ी के हिचकोलों में वह भी इधर-उधर कांप रहा था. ऐसा लगता था जैसे खुशियों के कुछ टुकड़े उसमें भी चिपक कर रह गये हों. खले की मेढ़ से देखते हुए मगन निकला, लेकिन मानू उसे नहीं दिखी. दोपहर हो रही थी. बैल फिर दौड़ने लगे थे. मगन के टापरे के सामने भी बैल नहीं थमे, रास खींचते-खींचते भी गाड़ी टापरे के आगे तक घिसटती चली गयी. गाड़ी रोक कर मगन धड़धड़ाता टापरे में घुस गया था.

"मानू—ए मानू, कां है री—मानी . . . ." चूल्हे के पास बैठी मेथी काटते हुए मानू ने आश्चर्य से भरकर देखा, मगन हांफ रहा था और धम से चारपाई पर बैठ गया था.

घबरायी हुई-सी मानू उसके पास आ खड़ी हुई. उसने खींचकर पास बैठा लिया था, "क्यों कई हुयो, म्हारे बतावोगा बी की नी बतावोगा. महारो तो जीव सांसत में उलझी रियो है . . . "

"अरे भागवान वा बात नी है. तू ठैरी छोटा गांव की नी अखीर. सरकार ने ऐसो कियो है कि जिना जमीन के जो जोते-बोवे वो हिस्सो ऊके ही मिलेगा और जिना पास जमीन नी है उणके मिलेगा." मगन एक सांस में ही यह कह गया. मानू की आंखों में चमक उभरी—नाक के किनारे लाल-लाल हो गये. मगन कह रहा था, "देखना मानू, अब यह पटेल जैसी बैलगाड़ी अपनी भी होगी और ये टापरे की जगह अपना टापरा बनेगा. अबजा रखने को ओखरी बड़ी-बड़ी बनानी पड़ेगी." ऐसा कहकर मानू और मगन ने टापरी के चारों ओर निहारा, जैसे मकान बन गया हो और अब कोठियां रखने की समस्या खड़ी हो रही है. "तेरे पांव पड़े और यह सब हो रहा है." मानू मगन के इस जुमले से रीझ-रीझ गयी और अलसायी-सी वह मगन के कंधे से टिक गयी. मगन को लगा, जैसे नये मकान की दीवार के पास लगी मसनद पर टिका पटेल रिजकराम की तरह बैठा है. लेकिन बाहर खड़े बैलों की घंटियों की टन-टन से उसकी तंद्रा टूटी और वह उठ खड़ा हुआ. तेजी से आंगन में निकल गया. मानू जैसे सोते से जागी हो "अरे सुनो, रोटी तो खा जाओ . . . सुनो म. . ." तब तक मगन बैलगाड़ी पर बैठ चुका था और घुंघरुओं की आवाज़ दूर होती जा रही थी.

▣

मानू चूल्हे के पास लौट आयी थी. मेथी काटकर उसने हांडी में छौंक दी और आटा परात में डाल दिया. चूल्हे की आंच में उसका चेहरा सिंदूरी दिख रहा था, लंबी नाक, लंबी-लंबी पलकें, कांपते होंठ . . . . जैसे मानू लाल चुनरी में धूप में खड़ी हो. वह आटा उसनने लगी थी. धीरे-धीरे एक राजस्थानी गीत वह गुनगुनाने लगी थी:

मैं जाणु रे मीरां . . . थांका हिवड़ा में आज.
मैं जाणु रे मीरां . . . थांका हिवड़ा में आज.

और रोटियां फूलने लगी थीं.

सांझ उतर आयी थी. काम-धंधे से निपट मगन पटेल से कहने गया था, "भाई जी, मैं जा रहा हूं. सुबह चार बजे हाजिर हो जाऊंगा."

"हो हो . . . ठीक है." . . . पटेल ने अंदर से कहा था. आज मगन के पांव जाने-अनजाने मास्टर अमित के घर की तरफ़ मुड़ गये थे. घर क्या, एक कोठरी भर थी. खूंटी पर लटका एक झोला, किताबों-अखबारों का अंबार. "राम-राम माट् साब."

"क्यों भई मगन, आओ-आओ कैसे आना हुआ, घर नहीं गये?"

"सोचा कि पहले मिलता चलूं."

"हां-हां, कहो"—अमित ने पुचकार भरे शब्दों में कहा था.

मगन हाथ जोड़ते हुए बोला था, "मैंने सुना है जमीनें मिलने वाली हैं . . "

"हां सुना तो है—देखें क्या होता है, हां, यदि मिली तो तुम्हारे लिए कोशिश करूंगा." अमित ने कहा.

"हां—माट् साहब, ऐसा करो तो मैं ज़िंदगी भर एहसान नहीं भूलूंगा."

"अरे-अरे—मगन भाई ऐसा क्यों कहते हो, इसमें एहसान की क्या बात है?"

"नी माट् साब. गरीब आदमी कहीं एहसान भूलता है!"

अमित ने गहरी 'हूं' भरी. सामने टंगे झोले पर उसकी निगाह टिक गयी थी. अमित को यह झोला उमा ने दिया था और उसमें कुछ किताबें भी थीं. जब पहली बार शहर की नौकरी छोड़ गांव में मास्टरी और जन-जागृति के लिए आया था तब मोटर स्टैंड पर अपनी इसी एकमात्र मित्र ने पीपल के नीचे मोटर के पास कहा था, "अमित जी, उदास हो?"

"नहीं तो उमा, ऐसी बात नहीं."

"आज घर के लोग यहां नहीं आये, दोस्त नहीं आये, तुम्हारे नौकरी छोड़ने से सब नाखुश हैं. लेकिन उमा नहीं, मैं तुम्हारा सदा साथ दूंगी अमि . . ." उमा ने पहली बार उसका नाम इतना छोटा करके बोला था और आंखें नीची कर ली थीं. अमित ने लक्ष्य किया था कि उमा आंसू पोंछ रही थी. गाड़ी ने हान दे दिया था. "अच्छा . . ." उमा ने कहा था और प्रणाम करने की मुद्रा तक झुक गयी थी.

"अच्छा उमी, चलूं, पत्र . . . "

"हां हां, जरूर दूंगी." उमा की आंखें लाल हो गयी थीं . . . और धीरे-धीरे मोटर स्टैंड . . .पीपल का पेड़ . . . उसके नीचे खड़ी उमा . . . . सब ओझल हो गये थे.

"अर्जी दे देंगे तो जरूर मिल जायेगी" . . .

"नहीं मिली और न ही कहीं दिखी." हां, एक पत्र आया था. निमंत्रण पत्र, कि उमा का शुभ विवाह . . . निवासी . . . .अधिकारी के साथ दिनांक . . को है. . . . मगन ने डरते हुए पूछा, "क्या नी मिली माट् साब?"

अमित जैसे चौंका . . . सहज होते हुए कहा, "अरे वो बात नहीं, ज़मीन तुम्हें मिलेगी जरूर, मैं प्रयास करूंगा ही . . "

"हो . . ." मगन हाथ जोड़ विदा हो गया था.

दूसरे दिन पटेल के घर पर एक लंबे बांस में कांग्रेस का झंडा लहरा रहा था. मगन ने दूर से उसे देखा था, लेकिन उसकी समझ में कुछ नहीं आया. हां, उसे मालूम था कि इससे पहले दीपक छाप पीला झंडा लगा करता था. वह भी कभी-कभार ही. मगन को लगा कि अब ज़रूर कुछ होगा. उसने अंदाज़ लगाया, लड़की की शादी तो नहीं ... लड़के की भी शादी नहीं ... फिर क्या हो सकता है? उसने खूब सोचा लेकिन उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ा.

तीन-चार दिन बाद पटेल के घर एक औरत के छापे वाले बड़े-बड़े कागज़ आ गये थे. मगन देख रहा था, इसका चेहरा किस देवी-देवता से मिलता है? मगन ने अपनी याददाश्त पर खूब जोर लगा लिया, लेकिन मीजान नहीं मिला. उसने डरते-डरते पूछा था, तो उन्होंने कहा था, इंदिराजी हैं. पटेल ने कुछ इस प्रकार कहा था कि उसे फिर से पूछने की हिम्मत नहीं हुई. मगन जब बाहर आने लगा तो बड़े दरवाज़े से सेठ साहब घुसते हुए दिखे. मगन ने देखा था, पटेल और सेठ दोनों अलग-अलग झंडे वाले हैं. दोनों कभी घर नहीं मिलते—लेकिन आज ...

▣

मगन बाहर आकर सोच रहा था. पटेल कभी पूरी मज़दूरी नहीं देता और सेठ कभी शक्कर नहीं देता. दोनों आज यहां! मगन ने पटेल के मकान पर कांग्रेस का झंडा और गैलरी में इंदिराजी का पोस्टर देखा ... बैलों को छोड़कर गाड़ी तैयार करने लगा था.

अमित ने बताया था कि समिति आ रही है—मगन अपनी अर्जी उसके सामने रखे क्योंकि समितियों को अधिकार है कि वह ज़मीन के पट्टे दे सकते हैं. मगन ने कहा था, "आप ही अर्जी लिख दो." अमित ने कहा था, "हां-हां, मैं लिख दूंगा." मगन ने कहा, "पटेल साहब कह रहे थे कि कुछ लोग जिल्ले से आ रहे हैं—उनके भोजन का 'परबंध' करना है. आज सेठ ने 20 किलो शक्कर पहुंचायी है." "हां, वो ही समिति है." एक कागज़ निकालकर अमित ने अर्जी लिख दी. फिर अविश्वास भरे स्वर में मगन ने पूछा था, "ज़मीन मिल तो जायेगी न!"

"समिति चाहेगी तो मिल जायेगी" मगन ने कहा.

"वो चाहेगी!"

"हां लगता तो ऐसा ही है." मगन अर्जी लेकर चला गया. उसके जाने के बाद अमित से कुछ और लोग अर्जी लिखाने आ गये थे.

▣

सेठ के मकान पर समिति जुड़ी थी. कुल मिलाकर तीन अर्जी आयी थीं. अध्यक्ष ने चारों तरफ़ देखकर पूछा था, "क्या कोई और नहीं —आप लोग बताइये, आपको कोई तकलीफ़ तो नहीं? कोई भूमिहीन तो नहीं?" सारी सभा, कुर्सियों पर पटेल और सेठ को देखती और चुप रह जाती. बाहर एक कोने पर खड़े अमित मास्टर भी आश्चर्य से भरे देख रहे थे. उन्होंने कुल जमा ढाई-तीन सौ अर्जियां लिखी थीं, लेकिन यहां तो तीन व्यक्तियों ने ही अर्जी दी थी. अमित ने सरसरी तौर पर मगन को देखा. बीचों-बीच भीड़ में सिर झुकाये बैठा था, बीच-बीच में वह सिर उठाकर अध्यक्ष को देख लेता और सिर और चेहरे को पोंछ लेता. "अच्छा तो अब कोई नहीं है," अध्यक्ष ने कहा ... और अचानक मगन खड़ा हो गया.

"अनदाता, हुजूर, मेरी अरज है कि मेरे पास कोई जमीन नहीं है."

"तुम इन दिनों कहां काम करते हो?" मगन ने कांपते हाथ की धूजती उंगली से स्थिरचित्त बैठे पटेल की तरफ़ इशारा किया. पटेल एकदम चौंके—अध्यक्ष ने मगन को आग्नेय नेत्रों से देखा. मगन का चेहरा पसीने की बूंदों से भर गया था. उसकी टांगें कांप रही थीं और वह भर-भराकर भीड़ में बैठ गया. अध्यक्ष ने निर्णय दिया, "अगली बैठक में आपकी अर्जी का फैसला कर दिया जायेगा." समिति उठकर अंदर चली गयी.

सभी लोग बाहर आ गये थे. दूर कोने पर खड़े अमित ऐसे लग रहे थे जैसे उन्होंने ढाई सौ अर्जियां नहीं, ढाई सौ जूते सरे-आम खाये हों. सभी सिर झुकाए अमित के सामने से निकल गये. मगन थोड़ी देर के लिए रुका था, लेकिन बिना बोले वह भी आगे बढ़ गया था. अचानक जगराम, सेठ के दरवाज़े से गर्दन निकालकर आवाज़ दे रहा था, "माट् साब, ओ माट् साब, सेठ साब हैला पाड़िरिया है तमारे."

अमित ने कहा था, "आया-आया." अमित अंदर पहुंचा, —गादी पर बिछी सफ़ेद-चक चादर पर सेठ-पटेल सहित समिति के चार-पांच सदस्य बैठे थे. अध्यक्ष ने कहा था, "आइये—आइये गुरुजी, बैठिये, कहिये कैसा चल रहा है?" अमित ने विनीत मुद्रा में कहा, "जी सब ठीक-ठाक है." समिति के एक दूसरे सदस्य ने कहा था, "माट् साहब, देखिये—फालतू राजनीतिक चक्कर में मत पड़िये. हरिजन-आदिवासी, हाली-मवाली की समस्याएं देखना हमारा काम है. आपको सेठ और पटेल साहब के खिलाफ़ कुछ नहीं करना चाहिए." अमित ने प्रतिवाद करते हुए कहा था, "माफ़ कीजियेगा, उनकी अर्जी लिख देना, प्रौढ़ शिक्षा चलाना और देश की जानकारी देना, यदि सेठजी के खिलाफ़ है तो फिर मेरा अध्यापक रहना ही निरर्थक है."

अध्यक्ष ने कुछ गौर से कहा, "देखिए, आप ज़रा निम्नवर्ग से, जिसे कि आपने यह नाम दिया है, दूर रहें तो ठीक रहेगा, अन्यथा मुझे कुछ दूसरा ही सोचना पड़ेगा."

पटेल बोले थे, "मगन की इतनी हिम्मत कभी नहीं हो सकती थी. मान गये सर! आपने उसे खड़ा कर ही दिया."

आखिर, अमित समझ गया. अब एक साल में यह पांचवां गांव भी छोड़ना पड़ेगा. अध्यक्ष ने कंधे पर हाथ रखकर कहा था, "वैसे आप समझदार हैं ..."

▣

मगन सीधा पड़ोस के गांव, अपने घर पहुंचा. मानू ने पूछा, "ताप तो नी है, तबियत खराब थी तो गोली लेते आते." मगन ने कोई जवाब नहीं दिया. धम्म से खाट पर जा पड़ा. मानू ने अपना हाथ जब उसके कपाल पर रखा तो लगभग चीख पड़ी, "ताप है और तम कईरियाओ के कोई कई नीं!" मगन धीरे से बोला था, "मानी, ऐ मानी," वह उसके पास सट आयी थी, "तुलसी की चाय बना ला." मानू बाहर चारा-सांरी बीनने चली गयी थी. मगन

आंखें फाड़े-फाड़े खिसके हुए कवेलू के उजास में नीला आसमान देख रहा था.

▣

अध्यक्ष कह रहे थे, "पटेल साहब, जब अर्जी आ ही गयी है तो कुछ तो व्यवस्था करनी ही पड़ेगी. वैसे भी आपके यहां अट्ठारह साल से काम कर रहा है." पटेल मुस्कराये, "इसकी चिंता आप मत करिए, अगली बैठक में मैं देख लूंगा. आपको इस समस्या का अंत ही मिलेगा. हां, आप अब जैसा करो, अगली मीटिंग में हमें तो फैसला करके पट्टे देने ही पड़ेंगे." अध्यक्ष बोले, "जी हां—ज़रूर हो जायेगा."

▣

खेत की मेढ़ों से वृक्षों के पीछे सूरज का पीलापन फैल गया था. लौटते हुए ढोरों के खुरों से उड़ती हुई धूल पीलेपन में मटमैला रंग घोल रही थी. चारे के भारे लादे औरतें पगडंडी पर कतारबद्ध चल रही थीं. गाड़ी गरवट पर सपाटे से बैलगाड़ी दौड़ाते किसना ने हांक लगायी थी, "बगल हुई जाओ—बगल हुई जाओ रे, बैरां होण, वयांडी हटी जा रे घीसा भई." घीसा बोला था, "वा रे किसनिया, उद्दर ही चडरियो है, अमे आज तो झामाझम गाड़ी पै मूंछ मरोड़ी के पटेल वणियों फिरी रियो है."

"अरे नी हो दा, उना मगना के बुलाने आयो हूं."

आंगन के उस पार मानू ने चिर-परिचित घंटियों की रुन-झुन सुनी तो वह तत्काल बाहर आ गयी, किसना को देखकर वह टापरे के दरवाजे की ओट में आ गयी. मगन को झकझोरते हुए कहा, "सुणो नि, बाहर पटेल की गाड़ी में किसन भैया आया है."

मगन ने वहीं से आवाज़ दनदना दी, "अरे किसना यहीं आ जा." मानू भागकर खंबे की आड़ में चली गयी थी.

"मगन, पटेल साहब ने अभी बुलाया है."

"क्यों कोई खास काम?"

"दिन भर से तुझे याद कर रहे थे, वैसे भी तेरी ये बैलगाड़ी किसी से संभलती नहीं." मगन ने मानू की तरफ देखा, गुदड़ी ओढ़े-आढ़े ही वह किसना के साथ बाहर आ गया. दरवाज़े की ओट से मानू ने धीमी आवाज़ में कहा, "बेगा, आओ जो."

"हो . . ." में मगन ने जवाब दिया था और धीरे-धीरे बैलों की घुंघरुओं की आवाज़ दूर होती चली गयी थी. तारे छिटक आये थे.

मानू सोच रही थी. जमीन के लिए बुलाया, न जाने क्या बात है—दीवार में टंगे भगवान के चित्र के आगे हाथ जोड़े न जाने क्या-क्या कह रही थी. बाहर कुत्ते भौंक रहे थे. रात का सन्नाटा तोड़ रहे थे. कभी-कभार किसी ढोर की घंटियां टन-टना जातीं.

▣

पटेल और सेठ बाहर ही फाटक पर मिल गये. "क्यों रे मगना बीमार है क्या, ये गोदड़ी क्यों ओढ़ रखी है?"

"नी भाई जी साब, यूं ही."

"किसना, अंदर चाय बनाने को बोल मगन आया है."

"नी भाई जी—बस म्हारे हुकुम करो, कई बात है?"

"कुछ नी यूं ही थारे बुलइलियो—तू तो सीधो घर चलियो गियो थो?" मगना कुछ बोला नहीं था. पटेल और सेठ दोनों बैठक में जाकर बैठ गये थे. उन्होंने मगन को भी वहीं बुला लिया था. मगन पसीना पोंछता बैठक में पहुंचा था.

"बैठ मगना, बैठ बेटा." मगन कुछ आश्वस्त-सा हुआ था. चाय लेकर किसना आ गया था. चाय का प्याला हाथ में लेते हुए मगन का हाथ कांपा था. अंदर एक दिल नाम की चीज़ उछल रहा थी.

"मगन आज तू कुछ परेशान-सा दीख रहा है, क्या बात है? कुछ ज़रूरत है क्या? पैसे-वैसे चाहिए तो ले जा . . . ."

"नहीं नहीं भाईजी साहब, ऐसी बात नहीं." मगन सिर से पांव तक कांप गया था. बाहर रात गहराती जा रही थी. कुत्ते भौंक रहे थे. यदा-कदा कोई टेटेहरी, टीं-टीं-टीं करती निकल जाती. पीछे औसारे में बंधे ढोरों की घसर-घसर आ जाती.

पटेल बोले, "मगन तू मेरे बेटे जैसा है, लेकिन बात कहूं या न कहूं, थोड़ा पशोपेश में हूं."

मगन हाथ बांधे बोला, "भाई जी, कहो न, आप तमारे सगलो अधिकार हासिल हेगो."

"बेटा—मगना तू तो छोटे से बड़ा मेरे यहां हुआ, बेटा यह मुझे अच्छा नहीं लगता कि मानू वहां गांव में लाज-शरम भी न रखे. जब शादी हो गयी तो अब तो मान-मर्यादा से रहना चाहिए." मगन को लगा जैसे हवा का कोई तेज़ झोंका आया हो और टापरे के पत्ते उड़ गये हों और दिया बुझ गया हो.

"आप कई कईरिया हो भाई जी साब."

अब सेठ प्रमाणित करता हुए बोला, "उस दिन मैं गांव में मज़ूरों को लेने गया था, तब भी न जाने कौन था सफेद पगड़ी वाले को तेरे टापरे से निकलते हुए देखा था. देख मगना, आखिर है तो वो हमारी बहू, हमें यह सब ठीक नहीं लगता." मगना के कांपते पांवों में स्थिरता आ गयी थी. और तमाम झुरझुरी उसकी आंखों और होंठों में सिमट आयी थी. वह उठा और बाहर निकल आया. सेठ ने पटेल का घुटना दबाया.

▣

बाहर किसना चिलम फूंक रहा था.

"मगना, गाड़ी तैयार है, चल जल्दी बैठ, मेरे कू फिर वापस आना है."

"रहने दे, मैं पांव-पांव चला जाऊंगा."

"चल हट, तबीयत खराब है और पांव-पांव जायेगा! चल बैठ." किसना ने प्यार से झिड़का. और कोई दिन होता तो मगन खुश हो जाता लेकिन आज यह भी अच्छा नहीं लग रहा था. किसना ने बैल जोत दिये थे और गाड़ी में बैठ गया था. मगन अधलेटा-सा बैठ गया. धच्च-धच्चाक, धच्च, गाड़ी चल दी.

मानू ऐसी कैसे हो सकती है? कितनी चुप-शांत औरत है. ऐसा नहीं कर सकती. मुझे देखकर कितनी खुश हो जाती है. रोज काम पर जाते वक्त भी लुगड़े की ओट से झांकती उसकी स्नेहिल आंखें, ममतामरा चेहरा, मेरी सेवा-टहल में जी-जान

एक करती मानू––नहीं––नहीं ऐसा नहीं हो सकता. मेरे अलावा मानू.... "नहीं .. नहीं, ऐसो नी हुई सकें—नी नी ..."

किसना ने बैलों की रास खींची और मगन की तरफ अचरज से देखा, "नी–नी, कई बकी रियो है रे मगना. .. ?" मगन खिसिया गया. गांव का कांकड़ भी आ गया था. मगन उतर पड़ा, "किसना ले जा गाड़ी," और बिना कुछ कहे वह गरवट के रास्ते अपने टापरे की तरफ़ बढ़ गया था. कुत्ते भौंकने लगे थे. तारों में घिरी हिरनी खिसककर पश्चिम की तरफ आ गयी थी. आंगन में पदचाप सुनी तो मानू झपट कर बाहर आ गयी और लगभग सट कर बोली, "कित्ती देर करीदी. म्हारो तो जीव सांसत में थो."

मगन ने इस गरमाई और सच्ची बात की गहराई महसूसी और सोचा सेठ और पटेल की बात यहीं झटक कर टापरे में जाये, लेकिन... अलाव तापते—सत्तू, मीठालाल के शास्त्रार्थ की बातें चोट करने लगीं ... त्रियाचरित कोई नी समझी सके .... मानू चरित कोई नी समझी सके ... मगन ने कोई जवाब नहीं दिया. धीरे-धीरे टापरे में धंसता चला गया. मानू उसके निकट ही बैठ गयी थी. सहज-स्वाभाविक उसने झुककर मगन के कपाल को छुआ. एक कुनकुनी आंच और खामक मगन ने महसूस की थी. दिमाग़ में जमी बर्फ़ पिघलकर बहने लगी थी, लेकिन मगन ने मानू को छोड़ दिया. धीरे-धीरे मानू उसका सिर दबाने लगी थी. रात—टिटहरी की तरह—गुज़र रही थी. मगन को लगता जैसे वह पटेल की बैठक में बैठा है—फड़फड़ाकर वह आंखें खोलता—और पाता कि मानू उसका सिर दबा रही है.

▣

मास्टर अमित के घर भीड़ लगने लगी थी. लोग अर्जियां लिखा रहे थे. कर्जे-माफ़ी की अर्जियां लिखवायी जा रही थीं. दीना कह रहा था, "मास्टर बाबू, सेठ के रियो थो के इना दो रुपल्ली के मास्टर को गलती की, कि यहीं रहणे दिया, जिना दिन से बस्ती मां लोगों को पढ़ाना शुरू कियो थो, तबी से यो गांव बिगाड़ी रियो है. अरे किसना, मगन की मजाल थी कि समिति के सामने खड़े होते—और इत्ती ढेर सारी अर्जियां लिखता." दीना ने आगे बताया था, "और हां, मास्टर बाबू, वो के रिया था कि मास्टर पीले झंडे वाला है. साले को भगा देंगे."

अमित ने एक लंबी सांस लेकर कहा था, "दीना भाई—ये तो होता रहेगा. चलो आओ, तुम्हारी अर्जी लिख दें." दीना घबराहट भरे शब्दों में कह रहा था, "मास्टर बाबू, कहीं आपकी नौकरी तो नहीं छूट जायेगी?" अमित ने कहा था, "जो होगा देखा जायेगा. दीना ने कागज़ अमित को थमा दिया.

दूसरे दिन पूरे गांव में मानू के चर्चे फैले हुए थे. 'किसी दूसरे से वह लगी हुई है'. ये शब्द गांव के गुब्बार की तरह उठ-गिर रहे थे. गांव की सड़क से गुज़रते हुए मगन ने महसूसा था कि सबकी निगाहों में एक हिकारत का भाव है.

एक मितली-सी मगन ने महसूसी थी और वहां से भाग जाना चाहता था, लेकिन जाता कहां? इस गांव से उस गांव तक ...लेकिन मानू? वह ज़्यादा सोच नहीं सका. किसना ने मुंह बिचका कर कहा था, "क्या यार मगना? भाभी ऐसी है..."

"बस-बस कर किसना, बस कर भाई, हूं इना गांव के छोड़ी ने ही चलियो जाऊंगा." जाऊंगा शब्द कहने के साथ किसना से उसने कहा था, "इस बदनामी की पोटली को लेके कहां-कहां फिरूंगा?" कभी-कभी इंसान अपने पक्ष में कितना स्वार्थी हो जाता है कि सारे गांव को अपने पास रखना चाहता है और इसके लिए सब कुछ खत्म कर देना चाहता है. अपना सारा कुछ निजी तक नहीं रहने देना चाहता. पान की गुमटी पर बीड़ी खरीद के लेने की भी उसकी हिम्मत नहीं पड़ी. नीम के पास से पटेल के घर लौट आया था. लेकिन सभी चेहरों पर एक उपेक्षा ने मगन को आहत कर डाला.

▣

आज अमित को जिला मुख्यालय से काम के प्रति चेतावनी मिली थी. घोर अनियमितता और कांग्रेस के खिलाफ़ कुप्रचार करने के आरोप लगाये गये थे. तथा आठ दिनों में अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने को कहा गया था. एक अजीब हालत थी. जनसंघ छोड़कर आया हुआ पटेल, अमित को जनसंघी कहता था और कांग्रेसी सेठ जनसंघी कहता था, और कस्बे के जनसंघी अमित को कांग्रेसी समझते थे. जिले के कांग्रेसी अध्यक्ष कहते थे, "साला कम्युनिस्ट है". अजीब खिन्नता व्याप गयी थी. लगता था एक अजीब सजा भोग रहा है. इससे तो अच्छा था कि मीसा में ही बंद हो जाता. और किसी एकांत कोठरी में एक-आध किताब लिख मारता. किसना कुछ और लोगों को लेकर अर्जी लिखाने आ गया था. साथ ही गेंती, बेलचे, तगारियां भी थीं. अमित, हरिजन बस्ती की सड़क ठीक कराने का भी काम कर रहे थे. अमित ने पुन: खूंटी पर टंगे अपने झोले को निहारा .... दोस्तों ने कहा था, "गांव!" और हिकारत से मुस्करा दिये थे. उमा उत्साहित हुई थी फिल्मों की नायिकाओं की तरह. उसकी आंखों में खिंच आये लाल-लाल डोरों में अमित ने कुनकुने प्यार की गमक देखी थी, मुस्कराहट में अपने ध्येय की निष्ठा देखी थी—तथा सांसों और सान्निध्य में जीवन का साफल्य...और बस धुआं छोड़—भर्र-भर्र-भर्र—पीपल का पेड़ और आंसू पोंछती उमा....

▣

मगन की आंखों में लाली उतर आयी थी. टापरे की हर चीज़ उलट-पलट गयी थी. दरवाज़ा टूटकर बाहर फिंका पड़ा था. ओटले पर भीड़ लगी थी. मानू अपने पल्ले से नाक से बहता हुआ खून रोकने की कोशिश कर रही थी. मगन की बाहों पर खून था, उंगलियों में खून चिपक गया था. तेज हंसिया डैली के पास पड़ा था. मानू चीख रही थी. भीड़ निस्तब्ध थी. रात की तरह बीच-बीच में मानू गीत के स्थायी भाव की तरह चीखती थी.

▣

"वाह मगना वाह, मेरे बेटा, मरद का बच्चा ऐसा ही करता. अच्छा किया इस बदज्जात लुगाई को सबक दिया, साली की नाक काट कर—उसने यारों का भी पत्ता काट दिया मगना, जहां जायेगी वहां उसकी नाक ही कह देगी कि उसने मगना के साथ कैसा विश्वासघात किया था."

सेठ दौड़े आये थे और मगना को तसल्ली देने लगे थे. किसना-

स्याह हाशिये

एक

कत्ल गला घोंट कर किया गया था. जांच में कातिल के बारे में एक ही बात मालूम हुई थी कि मुजरिम टक्कर मारने में माहिर है. उसके बाद पुलिस एक ऐसे आदमी की तलाश में जुट गयी जिसके माथे पर टक्कर का निशान हो.

पुलिस के आदमियों ने सारा शहर छान मारा. आखिर एक दिन एक आदमी को पकड़ लिया जो मस्जिद से सजदा करके आ रहा था. दरअसल मस्जिद में बरसों माथा रगड़-रगड़ कर उसके माथे पर निशान पड़ गया था. उसने कहा, "मुझे क्यों पकड़ रहे हो, मैं तो मस्जिद में सजदा करके आ रहा हूं."

"चलो!" पुलिस वालों ने कहा, "अब थाने जाकर सजदा करना."

दो

मंत्री जी दौरे पर गये. मंत्रालय से संबंधित एक विभाग में जांच करने पहुंचे और वहां के अधिकारियों से आग-बबूला होकर पूछने लगे, "अमुक काम अभी तक क्यों नहीं हुआ? आखिर आप लोग करते क्या हैं?"

अधिकारी हाथ जोड़ कर खड़े हो गये.

"हम तो वह काम करना चाहते हैं, पर क्या करें मंत्रालय से सर्कुलर आ गया."

"सर्कुलर!" मंत्री महोदय ने हैरानी से कहा, "किसने भेजा वह सर्कुलर! मैं लोकसभा में जवाब दे-देकर तंग आ गया हूं."

"साहब उस पर आपके हस्ताक्षर थे."

"मेरे!" मंत्री महोदय ने कहा, "ठीक है, मैं जाकर देखूंगा, आप अपना काम करें."

मंत्री जी के जाने के बाद जब वह काम शुरू होने लगा तो सर्कुलर का 'रिमांइडर' आ गया और काम फिर रोक दिया गया. अगली बार जब मंत्री महोदय दौरे पर गये तो वह फिर अधिकारियों से उसी काम के बारे में पूछ रहे थे. अधिकारी उसी तरह हाथ बांधे खड़ा था.

"आपके सर्कुलर ने हाथ बांध दिये."

"फिर वही सर्कुलर!" मंत्री जी ने कहा, "यह सर्कुलर तो सरकारी काम है. आते ही रहेंगे, आप अपना काम करें."

तीन

बस दुर्घटना में कुछ व्यक्ति मर गये और कुछ घायल हो गये. जब अधिकारी घटना-स्थल पर मुआयना करने पहुंचे तो एक छोटे अधिकारी ने कहा, "मृतकों को देखेंगे."

"उसकी क्या जरूरत है!" बड़े अधिकारी ने कहा, "बस को ही देख लेते हैं."

■ ब्रजेश्वर मदान

छीतू बात कर रहे थे, "यार, ये अच्छा नी हुआ."

सेठ कह रहे थे, "चिंता मत कर, जमानत मैं दे दूंगा."

पटेल कह रहे थे, "जेल से छूटकर बेटा यहां आ जाना, तेरा घर है. चिंता मत करना." मगन रोने लगा था . . . .

■

किसन ने अमित को जब यह खबर दी तो वीरपुर के मेले का सारा दृश्य उसकी आंखों में खिंच गया था. पीला साफ़ा बांधे मगन कांच की चूड़ियों का मोल-भाव कर रहा था. मानू चूड़ा उलट-पलट रही थी. मगन, मास्टर अमित को देख खड़ा हो गया था, "चूड़ी की दुकान पर क्या कर रहे हो?"

"इका वास्ते. . ." मानू की तरफ इशारा करते हुए मगन ने कहा था.

"अच्छा-अच्छा, मगन मैं चलता हूं." चूड़ा धरकर मानू ने अमित को दोनों हाथ जोड़ राम-राम बोली थी. अमित ने लक्ष्य किया था उसके चेहरे से एक समझदारी मालूम पड़ती थी. मानू बोली थी, "ई तमारी घणी बात करे है, भैया जी,"

अरे वा, मगन ने बताया था मानू दूसरी तक पढ़ी-लिखी है, मानू ने गर्व से, बड़े भोलेपन से अमित को देखा था. अमित की आंखों में पीपल के पेड़ से दृश्य फिर उतरने लगा था. "अच्छी बात है मानू जीजी, ज़्यादा पढ़ना था, तकदीर की बात है . . . ." मगन ने कहा था, "माट् साब—चाय . . ."

"नहीं-नहीं मगन मुझे थोड़ा काम है . . . ," और अमित आगे बढ़ गया था. अमित को लगा जैसे कै हो जायेगी और वह कमरे में चक्कर लगाने लगा.

■

मगन को सजा हो गयी थी. मानू को गांव से लोगों ने बहिष्कृत कर दिया था. किसी रात के अंधेरे में टिटहरी बोली थी. तारों की हिरनी खिसक रही थी और गाड़ी के रास्ते पर खेत की मेड़-मेड़ सिर पर कुछ रखे मानू अंधेरे में न जाने कहां चली जा रही थी.

■

स्पष्टीकरण देने के आठ दिन बाद ही मास्टर अमित का दूसरी तहसील के एक शहरी इलाके में ट्रांसफर कर दिया गया था. कुछ हरिजन-आदिवासी, कुछ बच्चे विदा करने आये थे. किसना-छीतू की आंखों में आंसू थे. बस्ती के लोग कह रहे थे, "मास्टर बाबू, हमारा क्या होगा?" इतना असहाय अमित ने अपने को कभी नहीं महसूसा था. आंखों से आंसू टपकने लगे थे. आंसू की भाषा में सारी व्यथा कह दी थी. गाड़ी आ गयी थी. बिस्तर के नाम पर एक दरी, एक कंबल था. कुछ किताबें, एक डिब्बा, थाली, तवा था. छीतू दौड़कर किताबों का छोटा पुलंदा उठा लाया था, "माट् साब ये?"

"हां लाओ." आगे की सीट पर अमित बैठ गये थे. कुछ लोग बस्ती के और जमा हो रहे थे. अमित ने एक वेदनामयी मुस्कराहट फेंकी और रूमाल में अपना मुंह छिपा लिया. □

पुंजापुरा, बागली, देवास (म. प्र.)

रोटी या पाप

■ विष्णु प्रभाकर

उगते सूरज की किरणें अभी समुद्र की इठलाती लहरों को चूम भी नहीं पायीं थी कि फुटपाथ पर बैठे भिखमंगों में आपा-धापी मच उठी. सेठ की आलीशान मोटर वहां आकर रुक चुकी थी. उसकी आवाज़ उन्हें उसी तरह उद्वेलित कर देती थी जैसे भोजन का समय होने पर कुत्तों के मुंह से अपने आप ही लार टपकने लगती है.

सदा की तरह सेठजी के हाथ में एक बड़ा-सा पैकेट था. उसी में से निकाल-निकाल कर वे डबलरोटी का एक-एक टुकड़ा हर एक भिखारी पर फेंकने लगे. एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ में वे भिखारी उन टुकड़ों पर लपकते-झपटते. कुछ तो उन्हें छिपाकर आगे भी जा बैठते. सेठ जी देखते रहते और घृणा से हंसते रहते. कभी-कभी बोल भी उठते, "लोग कहते हैं कि ग़रीब बड़े ईमानदार होते हैं."

लेकिन एक दिन सब कुछ उलट-पुलट हो गया. उन्होंने देखा कि भीड़ से दूर एक भिखारी चुपचाप इस दृश्य को देखता उन्हें घूर रहा है. उसने रोटी का वह टुकड़ा लेने के लिए हाथ तक नहीं हिलाया. सेठ जी ने उससे पूछा, "तुझे रोटी मिली?"

उत्तर दिया उसने, "रोटी है कहां जो मुझे मिलती!"

"क्या यह रोटी नहीं है?"

"नहीं."

"तो क्या है?"

"आपके पाप. आप रोटी नहीं, अपने पाप बांट रहे हैं. मुझे पाप नहीं 'आप' चाहिए. दे सकेंगे अपने आपको?"

सेठ जी सकते में आ गये लेकिन बस एक क्षण के लिए. दूसरे ही क्षण उपेक्षा से हंसकर बोले, "तू भूखा नहीं है. दो आखर पेट में पड़ गये हैं शायद. तभी रोटी को पाप कहता है."

और वे पूर्वतः 'रोटी' बांटने के लिए आगे बढ़ गये □

नारद का अहंकार

■ लक्ष्मीकांत वैष्णव

उन दिनों नारद को अपने बुद्धिमान होने का गर्व हो आया था. सरे-आम कहते फिर रहे थे कि मैं सिवाय भगवान के और किसी से नहीं डरता. लोगों को यह बात खली. लोग भगवान विष्णु के पास पहुंचे और अपना दुखड़ा रोया. बोले, "प्रभु, माना कि नारद हम लोगों से बुद्धिमान हैं, मगर इस बात का ज़िक्र चार आदमियों के बीच करके इन्हें हमें ज़लील करने का कोई अधिकार नहीं."

विष्णु ने पूछा कि क्या करें? लोगों ने कहा कि एक ही उपाय है, "नारद को पृथ्वी पर भेजा जाये और उसे कुछ वर्षों तक सरकारी नौकरी करने को मज़बूर किया जाये.

"इससे क्या होगा?" विष्णु ने पूछा.

"दस-बारह तबादलों, चार-छह विभागीय जांचों और एक-दो बार सस्पेंड होने पर ठीक हो जायेगा प्रभु! हमारे जैसे दस अकलमंद उनके ऊपर बैठेंगे तो वह अपने आप रास्ते पर आ जायेंगे. □

अनलिखा

■ हरनाम शर्मा

लंच-बॉक्स खुलते ही, मेरे चहुं ओर शुद्ध घी में तली सब्ज़ी की महक फैल गयी, जिसका स्वाद मैंने उसे खा कर और निकट बैठे एक मज़दूर ने सूंघ कर लिया. वह बैठा किसी को ख़त लिख रहा था. लिखते-लिखते उसने एक-दो बार मेरी तरफ़ देखा, तो मुझे कुछ अटपटा-सा लगा. मैंने एक रोटी उसकी ओर बढ़ा दी.

उसने कहा, "नहीं बाबू जी, हम खाते हैं." हालांकि साफ ज़ाहिर था कि वह कभी खा पाता है, कभी नहीं. दिन-रात मशीनों पर काम करके उसे न तो खाने का अवकाश मिलता है और न स्वाद!

मैंने फिर आग्रह किया तो उसने कहा, "चार रोटियां खा चुकने के बाद मुझे एक रोटी देने का आपका आशय?"

इसका उत्तर हालांकि मेरे पास नहीं था. किंतु मैं बोला, "नहीं, खा लो, तुम बुरा न मानो मैंने बिल्कुल सादगी से पूछा है. इसे कुछ और न समझो."

उसने मेरे हाथ से रोटी ले ली और तुरंत बड़ी शालीनता से कहा, "बुरा न मानें, मैं भी आपकी यह रोटी बड़ी सादगी से लौटाता हूं. अपनी रोटी मैं वक़्त पर खा चुका हूं."

मैं हड़बड़ा कर पीछे हटा तो वह भी मुस्कराता हुआ चला गया.

जिस पुर्जे पर वह ख़त लिख रहा था, वह वहीं रह गया. लिखा था, "मां, वहां हल चलाकर शाम को रोटी नसीब हो जाती थी. यहां न सोने का समय है, न तुम्हें याद करने का और रोटी खाने का तो, न समय है और न पैसे! □

परिवर्तन

■ मोहन कानूनगो

"अपने बच्चे को क्या खाक कान्वेंट में पढ़ायेगा तू भुखमरा... !" फिल्म के इस संवाद पर सेंसर को आपत्ति थी. क्योंकि सिचुएशन में यह एक शिक्षक को संबोधित करके बोला गया था. और शिक्षक तो राष्ट्र का कर्णधार है उसे पर्दे पर भुखमरा नहीं कहा जा सकता. इसमें तबदीली ज़रूरी थी. निर्माता ने संवाद लेखक को स्थिति समझायी और उक्त संवाद में परिवर्तन करने को कहा. संवाद लेखक ने पलक झपकते 'भुखमरा' शब्द निकालकर संवाद सुधार दिया. फिल्म रिलीज़ हो गयी. फिल्म में अब वह संवाद इस तरह है... "अपने बच्चे को क्या खाक कान्वेंट में पढ़ायेगा तू मास्टर... !" □

▣ छायाकार: सतींद्र कुमार चड्ढा
छाया विभाग, टाइम्स ऑफ इंडिया,
टाइम्स हाऊस, नयी दिल्ली-2

बड़ी रौनकें हैं फकीरों के डेरे

एक ज्वालामुखी के चेहरे
और बर्फ से सर्द ज़ख्मों वाली
दोहरी ज़िंदगी की कहानी, जो न जीने से डरी, न मरने से !

नाम तो उसका कुछ और था, पर मैं कहूंगा—मलखान...मलखानसिंह! बीहड़ों के जाने कितने कोने-कांतरों में या तो किसी ज़िंदगी की अधकही कहानी पड़ी रह गयी है, या फिर किसी की कहानी खत्म हो गयी है. मलखान की कहानी भी ऐसी ही कहानियों में से एक है. पर वह आप तक इसलिए आ रही है, क्योंकि मलखानसिंह थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा था. टूटी-फूटी भाषा में अपनी बात लिखता रहा और यह लिखित दस्तावेज़ एक दिन बीहड़ों में गोलियों की बाढ़ के बीच छूट गया...मलखान की लाश लगी पुलिस के हाथ और एक शहर में चारपाई पर टांगकर प्रदर्शनार्थ रखी गयी– 'ताकि सनद रहे और वक़्त-बेवक़्त सबक दे' ....पर डायरी आ पहुंची मेरे हाथ. इस डायरी के आधार पर मलखानसिंह की कहानी 'सारिका' के पृष्ठों पर प्रस्तुत करके आप तक पहुंचा रहा हूं–"ताकि सनद रहे और 'उसे' समझने में काम आये, जिसकी लाश वह सब नहीं सुना–समझा सकती थी, जो वह कहना चाहता था..."

▣ रामकुमार भ्रमर

बिरज तूने अच्छा नहीं किया! . . . बार-बार ये शब्द मेरी आंतों के बीच उमड़ते-उमड़ते गले तक आते हैं और बर्फ़ की तरह जम कर रह जाते हैं. जाने कितनी तहें लग गयी हैं इन शब्दों की. सारा गला बंद. बोलूंगा नहीं, पर महसूस न कर पाना मेरे वश में नहीं.

बिरज ने फूला की सगाई तोड़ दी. फूला—मेरी बेटी! बिरज—मेरा बालसखा!

खबर सुनी थी और लगा था जैसे—जो खबर लाया है—वह खबर नहीं, दो जलती हुई सलाखें लाया है और एक साथ दोनों को मेरे कानों में घुसेड़ दिया है. छन्न से छनकता लहू. तपती चमड़ी! फटता माथा!

"बिरज ने . . . !" मैं चीख पड़ा था सुनकर. सहसा मेरी आवाज़ टूट गयी थी. वही शब्द बाहर आये थे फिर से, पर इस बार नया अर्थ लिए हुए. अविश्वसनीय अचरज का अर्थ, "बिरज ने—एँ?"

"हां, ठाकुर बिरजसिंह ने . . !" संदेशवाहक बोला था, "कहा है कि मलखान ठाकुर से मेरी हाथ जोड़कर विनती पहुंचाना—मैं लाचार हो गया हूं. अब मेरे बेटे और फूला की

पर बिरज का एक पहलू है. वह है संसारी आदमी. चार लोगों के बीच रह रहा है. मेरी तरह आंधी, बालू और वीराने वाली ज़िंदगी, उसकी ज़िंदगी नहीं. पुलिस-समाज सी तरह के दबाव थे बिरज पर. जितने दिन सह पाया होगा, सह गया. जब बहुत वज़न आया होगा तो दबाव से चटक गया, पुरानी सड़ी लकड़ी की तरह. फूला की सगाई छोड़ दी.

मगर भूल गया बिरज. भूल गया कि फूला, मलखान की बेटी है. यह भी भूल गया कि मलखान की बेटी का बना संबंध तोड़ना ऐसे ही है, जैसे बारूद को पलीता दिखाया जाना! ऐसे दब्बू संसारियों के निवेदनों में लिपटे अपमान, अगर मैं सहता रहा तो इन बीहड़ों में साख ही क्या रहेगी मेरी? सब कहेंगे—लड़की में कोई खोट रहा होगा! हो सकता है यह माना जाये कि बिरजसिंह दिलेर आदमी है. मलखान की बेटी से अपने बेटे की सगाई तोड़ कर मलखान की सारी वीर-बहादुरी पर थूक दिया! . . . ठाकुर का बच्चा बिरजसिंह हुआ!

तब मलखानसिंह किसका बच्चा हुआ, जो यह सहे? . . मैं नहीं सहूंगा!

मैंने सहा भी नहीं है . . . तपती दोपहर में बीहड़ पार किये

एक बाग़ी का आत्ममंथन : पहली किस्त

...ताकि सनद रहे...

• रामकुमार भ्रमर

बात नहीं ठहर सकेगी! . . . कहना कि समझें संजोग ही नहीं था."

मैं चुप देखता रहा था उसे. सुबह-सबेरे खबर मिली थी. जिस गांव के बीहड़ में रात ठहरे थे, वहां से चाय लेकर आया था वह आदमी. साथ में खबर. दस किलोमीटर दूर मेरा अपना गांव है. बिरज का गांव भी है. मेरा अपना घर भी. बिरज का घर भी.

बिरजसिंह ने जो लाचारी बतलायी, सो समझ रहा था मैं. भला कौन लेगा बाग़ी के घर की बेटी? रोज़ पुलिस का दौर-दौरा. रोज़ की हाय-हाय, किट्-किट. एक तरह का क्लेश! यह सब जानता मैं भी हूं, पर मानूंगा नहीं. कैसे मान सकता हूं? बीहड़ों के सोलह गांव नाम पुजता है मेरा. ठाकुर मलखानसिंह! . . बिना छत्र के राजा. बीहड़ में दस आदमी बेलगाम राईफलें लिये घूमते हैं. इनकी नली से इस इलाके में हुक्म निकलता है. 'हां' तो 'हां', 'ना' तो 'ना'. जो चाहा सो किया है, जो मांगा सो पा लिया. बिरज ने सगाई नहीं तोड़ी, मेरे राज की सीमा तोड़ दी. समझकर भी सह नहीं पाऊंगा. चार गांव बात फैलेगी? क्या आबरू रहेगी मेरी? और क्या बात रह जायेगी गिरोह की? . . . . बात गयी और जात गयी; घोर अपमान! नहीं सहूंगा!

हैं पूरे गिरोह में. आज ही बात करनी पड़ेगी बिरज से. . . . और बात नहीं करूंगा मैं. गिरोह में सभी ने राय दी है—ठाकुर, बिरज को सबक दिया जायेगा!

सबक दूंगा बिरजसिंह को! . . . मैंने जबड़े भींच लिये थे.

बिरज तूने अच्छा नहीं किया! . . . मुझे तकलीफ होने लगी थी. गांव के करीब पहुंच रहे थे हम.

गोधूलि! गांव तक पहुंचते-पहुंचते शाम हो जायेगी. रात की शुरुआत के साथ बिरज का फैसला करना होगा. मलखान की बेटी नहीं छोड़ी उसने, अपनी सांसें छोड़ दीं! . . मूरख!

बिरज की सांसें लेते वक्त मुझे तकलीफ ज़रूर होगी. होने की ठहरी. पर क्या किया जाये? बीहड़ों का ये संसार ही अलग है. रीति-रिवाज, रहन-सहन, जीना, जीने के तरीके . . . सब अलग. मैंने वह सब किया है, जो कभी नहीं चाहा.

शायद बिरजसिंह ने भी यही किया है, जो वह नहीं करना चाहता रहा होगा.

पर मैं रहूं या बिरज. उसके साथ यही होता है. अनचाहे ही अनचाहा किया जाता है. इन मौत के टीलों से लेकर, मंदिरों के

ट्रस्टों तक आदमी को वही करना पड़ता है, जो नहीं करना चाहिये.

कैसा लगेगा, जब बिरज को गोली मारूंगा? . . . क्या सोचेगा वह? मैं, उसका बालसखा!

उसने क्यों नहीं सोचा जब सगाई तोड़ी? . . . उसने सोचा, मुझे कैसा लगा होगा? मैं, जो उसका बालसखा हूं!

स्साला! . . .

बिरजसिंह मेरे गांव का. मेरा अपना. हम उम्र. हम बदन. हमज़ात. हमराज़. साथ खेले, साथ हंसे. साल भर की छोटई-बड़ाई. ज़िंदगी हम दोनों ने साथ शुरू की, किसानी से.

पर सब कुछ साथ-साथ चलता है, सिरफ़ भाग साथ नहीं चलता. उसके अपने रास्ते. बिरज के खेत में सरसों लहलहायी. फूल खिले. मेरी किसानी बदल गयी इन बीहड़ों में. मिट्टी फट गयी. फसलों की जगह ठूंठ शेष रहे.

▣

बिरज तूने अच्छा नहीं किया ! . .

पर तू कर भी क्या सकता था? . . . तेरी जगह मैं होता तो मैं भी क्या करता? शायद यही, जो तूने किया है . . .

और मेरी जगह तू होता तो शायद तुझे भी वही करना पड़ता, जो मैं करूंगा . . .

बढ़ते धुंधलके की रफ़्तार हम लोगों से ज़्यादा तेज़ है. लगता है जैसे एक बेवकूफी भरी होड़ कर रहे हैं हम लोग. मैं और गिरोह के नौ आदमी.

ऐसी बेतुकी होड़ें चलती नहीं हैं. चली भी नहीं. धुंधलका बदल गया रात में. गांव तक आते-आते पैर जमने-से लगे. दीखना-सूझना बंद. टार्च जलायी नहीं जा सकती. जिसने बिरजसिंह के बारे में ख़बर दी थी, वही यह ख़बर भी दे गया था कि एक दिन पहले ही एस. ए. एफ़. की एक टुकड़ी इस गांव से होकर निकली है. चार घरों में, चार तरह पुलिस वालों ने पड़ताल कर ली थी.

"मलखान तो नहीं आया?"

"नहीं हुज़ूर!"

"झूठ बोलते हो स्साले?"

"भगवती की सौगंध!"

"ठीक है . . . उसे तो हम देखेंगे ही, पर तुम्हारे अस्तर भी उघेड़ लेंगे!" माटी रौंदते, शब्दों की धूल उछालते पुलिस वाले किसी और गांव निकल गये थे.

निकल गये हैं, पर उनका विश्वास नहीं किया जा सकता कि सचमुच निकले हैं. किस मुख़बिर से कहां ख़बर पा जायेंगे—तय नहीं. लौट पड़ेंगे आंधी-तूफ़ान की तरह. हवा में से मुख़बिर पैदा कर लेते हैं कम्बख़्त!

और मुख़बिर भी तो कैसे हैं—हवा में से पैदा हो जाते हैं! ज़रा धमकी मिली नहीं कि मुख़बिर तैयार हुआ नहीं. मुझे बदरी याद आता है. अच्छा भला लड़का था—बाईस साल की उमर. नये ख़ून के उबाल से भरा बदन. मेरे पास आया था प्यारे के साथ. प्यारे नाई. वही गिरोह के बाल बनाने आया करता था. अंगरेज़ी औजार और क्रीम-पाउडर लाता था. उस बार बदरी को भी साथ लाया था. हाथ बांधकर दोनों सामने आ खड़े हुए थे, "पा-लागें ठाकुर!"

"कैसा है रे?" मैंने प्यारे से पूछा था, फिर नज़र बदरी पर ठहरा दी थी. लगता था कि आदमी से ज़्यादा मलाई की परत है. चेहरे पर दाढ़ी-मूछें, नये बाल, गोरा बदन. नज़र की मार से दरक जाने वाला जिस्म. मेरी आंख के ठहराव ने उसके चेहरे पर घिघियाहट उभार दी थी. प्यारे ने फौरन कहा था, "करमपुरा के पटवारी का बेटा है—बदरीलाल."

बदरी फिर से झुक गया था. . . . घुटनों-घुटनों. हौले-से गरदन हिलाकर मैंने अभिवादन स्वीकार लिया था उसका, फिर याद किया था करमपुरा के पटवारी को. मुझसे पहले इस गैंग को हरचरन चलाता था और करमपुरा का पटवारी उसे सामान 'सप्लाई' करता था. आगरा, इटावा, ग्वालियर जाकर हफ़्ते-दो हफ़्ते में गिरोह की फरमाइशें ख़रीद लाता. तीन गुने पर माल बेचता—देता. फिर एक दिन हरचरन मारा गया और करमपुरा के पटवारी की मौत लू लगने से हो गयी. तब से गैंग का रिश्ता टूट गया था, पर आज खड़ा था मेरे सामने—बदरी. उसी पटवारी का बेटा!

प्यारे नाई ने उसकी अगवाई का कारण बतलाया था, "बदरीलाल ने बाप की पटवारगिरी सम्हाल ली है. अब चाहता है कि आपकी भी कुछ सेवा करे."

सेवा यानी तीन गुने का व्यापार! समझ गया था मैं. ज़्यादा जांच-परख की ज़रूरत नहीं थी. 'हां' कह दिया था मैंने. गैंग से बदरी के बाप के ज़माने से रिश्ता चला आ रहा था—पड़ताल की भला क्या ज़रूरत थी. बस, बदरी पर एक शंकित दृष्टि डालने के बाद हौले से प्यारे को बुलाया था मैंने, "आदमी तो मज़बूत है, कहीं चीड़ की लकड़ी की नांई पहली बार में ही पुलिस वालों के सामने टूट न जाये!"

"उसकी चिंता मत करो, ठाकुर. लड़का दम-ख़म वाला है".

पर वही दम-ख़म-वाला चीड़ से भी गया-बीता साबित हुआ. जाने कैसे पुलिस के सामने घुटने टेक बैठा. हाथ जोड़े होंगे, कहा होगा, "मुझे छोड़ दो हुज़ूर! . . . मलखान ठाकुर की सब ख़बरें दे दिया करूंगा".

और सच ही सब ख़बरें पहुंचने लगी थीं पुलिस के पास. पर अधकचरा मुख़बिर था बदरी. यह अक्ल ही नहीं थी कि मुख़बिरी का भी एक सलीका होता है, जैसे अफ़सरी का होता है. हर पल बोलना भी संभल के, चलना भी संभल के और दांव लगाना भी संभल के. पर तीनों में से एक भी तरीका नहीं आया था उसे. जब बदरी आता, गैंग से पुलिस का एनकाउंटर होता. चार बार में ही मैं क्या, सारा गिरोह समझ गया था—बदरी पुलिस का मुख़बिर है! और जब यह समझ लिया जाये कि मुख़बिर है तो आगे ज़्यादा सोचने-समझने की ज़रूरत नहीं होती. हुई भी नहीं थी. ऐसे ही एक बार बदरी को अचानक बुलवा लिया था घर से. कहलवाया था—इस बार पिछली सारी दोस्ती का सिला दूंगा तुझे!

और सिला दिया था बदरी को—एक गोली! . . . कपाल खिल गया था उसका. ऐसे, जैसे राह चलते मेंढक पर पैर पड़ गया हो . . . . छितराये बाल, मांस के लोथड़े और यहां-वहां लटकी-चिपकी नसें. मुख़बिर!

पर एक सोच मन में था . . . बदरी ने मुख़बिरी क्यों की

कइयों से जानकारी की थी पर पता नहीं चला था कि वैसा क्यों करना पड़ा बदरी को. लगा था—आदमी नहीं, चीड़ का पेड़ था. पहली चोट में ही चटक गया होगा. और कोई कारण नहीं. पर अक्सर ऐसा होता नहीं. मुख़बिर किसी गहरे कारण से ही बनते हैं. बाग़ी से बैर, पुलिस वाले से बैर, किसी गांव वाले से पड़ी गांठ या फिर किसी औरत को पा लेने की शर्त या छोड़ देने की लाचारी! यही कुछ कारण होते हैं जो मुख़बिर भी बनाते हैं, राज़दार भी.

पर बदरी उनमें से कुछ भी नहीं था. आज तक सोच रहा हूं कारण—क्यों बना था वह मुख़बिर? .... कई बार बहुत-सी बातें अकारण ही हो जाती हैं न? ऐसे ही अकारण हो गया होगा मुखबिर.

बहरहाल मैंने बदरी की लाश गांव में भिजवा दी थी. फिर राईफल हवा में उठाये हुए सारे गांव को ख़बर दे आया था मैं, "देख लो इसे! ... यही हाल करूंगा, जो मुझ से दग़ा-धोखा करेगा!" उसके बाद सरपंच को बुलवाकर ख़बर दी थी, "चौधरी, यह रहा तुम्हारे गांव का लड़का. थाने वालों को सौंप देना. कहना कि अगर वे 'अपने आदमी' पैदा कर सकते हैं तो मलखान सिंह को उन्हें मारना आता है! सम्हाल लें इस हराम की औलाद को!"

चला आया था मैं. पीछे-पीछे गिरोह. ऐसे ही धुंधलके की बात है. वह धुंधलका भी रात में बदल गया था. पर बदरी का ख़्याल कई दिनों तक दिमाग़ से नहीं बदला. आख़िर मुख़बिर क्यों हुआ था बदरी? क्या सिर्फ़ मार के डर से? ... सोचता रहा था मैं—बदरी, तूने अच्छा नहीं किया.

उसे मारने से पहले भी सोचा था, आज भी सोच रहा हूं ... और एक बदरी के बारे में ही क्यों, मैं तो उस हर आदमी के बारे, हर बात के बारे में सोचता रहा हूं, जो समझ नहीं आती, या जिसका कारण मैं नहीं ढूंढ़ पाता. कारण बदरी का भी नहीं मिला था. ... बिरज का भी नहीं मिल रहा है ...

शायद नहीं. बिरज का कारण तो है—पुलिस की धौंस-धमकी! मगर नहीं. इस बार कोरे अनुमान पर नहीं चलूंगा—पूछूंगा बिरज से, "बोल, कारण क्या है? किसलिए फूला की सगाई तोड़ी है तूने? ..."

और फिर सोचूंगा कि बिरज ने अच्छा किया या नहीं?

▣

"बिरज! .... तूने अच्छा नहीं किया!" मैं राईफल थामे उसके सामने खड़ा हूं. बोल रहा हूं, उसके प्रति स्नेह से भर कर, पर देख रहा हूं एक भेड़िये की तरह. राईफल की नली उसके सीने की ओर झुकी हुई है. गिरोह के साथियों की नज़रें चौकन्नी. दर्शक इक्का-दुक्का हैं, बिरज की रोज़ की बैठक वाले. मेरे गांव के मेरे अपने. किसी ने मेरा बचपन देखा है, किसी ने जनम और किसी ने जवानी ... कुछ होंगे जो शायद मौत भी देख लेंगे.

बिरज के माथे पर पसीने की बूंदें—एक दो नहीं, दस-बीस-सौ. छोटी-बड़ी-मंझोली. जनमती हुई, लोप होती हुई. मृत्युभय से बदलाया हुआ चेहरा. लगता है एकदम बारिश की तरह झरझरा-कर रो पड़ेगा. आवाज़ नहीं होगी हिचकियों की. शब्द गिने-चुने .... बिजली की तड़प जैसे कौंधते हुए, पर आधे-अधूरे.

"नहीं, मलखान ... छोड़ दे मुझे ... मैं तेरा दोस्त हूं—एक थाली में रोटी खायी है हमने!"

और मैं कहूंगा, "इसीलिए पूछ रहा हूं, बिरज, तूने अच्छा नहीं किया!"

पर इस समय वैसी नौबत ही नहीं. बिरज से सवाल किया था मैंने, "सगाई तोड़ी तूने? ... क्यों?"

बिरज ने थूक का घूंट निगला, फिर गिरोह वालों की तरफ़ नज़रें घुमायीं. चेहरे पर जमी बदली ज़्यादा गहरी हो गयी. एकदम काली घटा. आंखों में हताशा तिर आयी. जैसे-तैसे बोल पाया वह, "पांच मिलट तसल्ली से बैठ ले, मलखान ... बताता हूं सब!"

"अब बताने को बचा क्या है बे?" मैंने अपनी ओर से बहुत क्रोधित होना चाहा है, पर अजीब बात है! शब्द ऐसे और इस टोन में निकले हैं, जैसे मैं और बिरज सरकारी बग़ीचे से आम चुराते समय परस्पर शिकायत किया करते थे, "तूने दो ज़्यादा मार लिये .... !"

जो चोर होता, स्वीकार लेता, फिर ईमानदारी से हिस्सा-बांटता. कहता, "ले, यह ले एक!"

और दूसरा करुण स्वर में रूठता, "हिस्श! ... वह बात नहीं रही. हट बे!"

बिलकुल ऐसे ही! ... सच ही तो आज रूठ गया हूं मैं. अब वह बात नहीं रही.

बिरज बोला था, "मेरी बात सुन मलखान ... दो मिलट ... तसल्ली से बैठ!"

शायद मैं नहीं बैठता, सुनता भी नहीं. यही सोचकर चला आया था. यही सोचे हुए था, पर बिरज के शब्दों ने राईफल मोड़ दी थी दूसरी तरफ़. मेरे हाथों से ज़्यादा ताकत थी उन शब्दों में. मैं उसके पास बैठ गया हूं—चबूतरे पर. बिरज ने अपनी धोती का एक हिस्सा उठाकर माथे का पसीना पोंछ लिया है. एकदम कुछ न कहकर दो बीड़ी सुलगायी हैं, एक मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा है, "फूला की सगाई मैंने नहीं तोड़ी. राधा ने तोड़ दी!"

मैं आश्चर्य और क्रोध से देखता हूं उसे. बड़बड़ाता हूं, "राधा ने?" राधा, बिरज की बेटी है. फूला की हम उम्र. कहता हूं, "चराता है स्साले! ... घर राधा चला रही है, या तू?"

"घर मैं ही चला रहा हूं और इसीलिए राधा की ख़ातिर .." बिरज के स्वर में कमज़ोरी है, "मलखान, जिस घर में राधा के ब्याह की बात ठहरी है, वहां से ख़बर आयी है कि मलखान की बेटी घर लाओगे तो राधा को नहीं लेंगे! ... अब तू ही सोच, भईया . . ?"

और मैं चुप हो गया हूं. चेहरा तनाव से भर उठा है. मेरा दोस्त बनता है स्साला! और अपनी बेटी की ख़ातिर मेरी बेटी के सपनों को पलीता बता दिया हरामी ने! ... याद रख, बिरज! .. तूने अच्छा नहीं किया.

बिरज कुछ और कहना चाहता है, तभी मैं पूछता हूं, "तू कह चुका अपनी बात . . ?"

"हां, अब तू ही फ़ैसला कर! ...." बिरज कातर हो उठा है, "मेरी जगह तू होता तो .... !"

मैं उठ पड़ा हूं, "यही बतलाता हूं स्साले! .." मैंने

राईफल बिरज की कनपटी पर टिका दी है, "वही बतला रहा हूं . . . और एक सवाल भी करता हूं—मेरी जगह तू होता तो क्या करता? . . . ." मैंने ट्रिगर पर अंगुली टिका ली है. पर जाने क्यों दबा नहीं पाता एकदम. शायद मैं बिरज को गिड़गिड़ाते, माफ़ी मांगते, पैरों में लोटते हुए देखना चाहता हूं. इस तरह लोगों को देखने में मुझे सुख मिलता है . . . सुख की बड़ी-बड़ी अजीब क़िस्में हैं संसार में.

पर बिरज नहीं गिड़गिड़ाता. इस बार उसके चेहरे पर पसीना भी नहीं आया है. बदली भी नहीं. वही मौसम, जो बिरज के अपने चेहरे का मौसम है.

जो भी हो, बिरज स्साला है हिम्मतवर! . . . मुझे याद आता है, एक बार इसी तरह बिरज अपने बाप के लातों-जूतों के सामने खड़ा रह गया था—प्रभावहीन. पथरीला होकर. कारण जायज़ था, मार नाजायज़. तहसीलदार के बेटे को गाली देने पर पीट डाला था बिरज ने. और इसी कारण बिरज अपने बाप से पिट रहा था. पिटने के साथ हिदायत थी, "बोल ऐसा क्यों किया तूने? . . . . बोल?"

और बिरज बोला नहीं था. क्या बोलता! . . . और आज भी नहीं बोल रहा है बिरज.

मगर दुनिया में कई जगह, कई स्थितियां, कई मौके ऐसे होते हैं जब ग़लत ही सही होता है. एक तहसीलदार के बेटे को सामान्य किसान के बेटे का पीट डालना ग़लत था . . .

और इसीलिए अपनी ख़ातिर मलखान की बेटी को स्वीकार न कर पाना, सही होते हुए भी ग़लत है! . . .

"हरामी स्साले! . . . तू दोस्त है मेरा? . . . मेरी आबरू उतारी तूने? . . . . ले! . . ." सहसा मैं चीख पड़ा था. सोचना बंद कर दिया था मैंने. बंद नहीं किया था, हो गया था. ऐसा होता रहता है मेरे साथ. ट्रिगर पर अंगुली दबने को ही थी कि पथरा कर रह गया था मेरा जिस्म. राधा सामने आ खड़ी हुई थी—चुप, पर आंखें भरी हुईं—बरसात में गांव का ताल ऐसे ही मुंह-मुंह तक भर आता है.

राधा! . . . . राईफल पर पकड़ ढीली हो गयी थी मेरी.

"कक्का! . . . ." वह मेरे करीब आ गयी थी. वह मेरे सीने से लग गयी थी. मेरे और उसके बीच राईफल थी, जिसे हौले से मैंने बीच से हटा लिया था. मैं उसका सिर दुलराने लगा था. . . बिल्कुल मेरी बेटी फूला जैसी है कम्बख्त! . . . . वैसी ही भोली, वैसी ही सरल, वैसी ही शांत. रोयेगी तो लगेगा जैसे धीमे-धीमे सितार झनझनाया है—करुण ध्वनि में.

एक ताल मेरे भीतर भी भर आया है—छलछलाता हुआ. मैं गिड़गिड़ाकर पूछने लगा हूं राधा से, "कैसी है बिटिया? . . . ठीक है ना? . . . . प्चु! . . . . प्चु! . . . ."

गिरोह के लोग सिटपिटा गये हैं. सहसा बिरज उठ पड़ता है "मार न मुझे गोली! मलखान स्साले मार! . . . . तू मुझे क्या मारने आया था? मुझसे पहले तो तू मर गया है स्साले! . . ." बिरज बदहवास होकर पागलों की तरह बड़बड़ाने लगा है.

और मैं क्या करूं? . . . . एक ओर हिचकियां लेती राधा खड़ी है. दूसरी ओर सिटपिटाये हुए दर्शक ग्रामीण. इर्द-गिर्द गिरोह वाले. . . किसी के चेहरे पर आंच, किसी के चेहरे पर समुंदर . . . .

मैं लौट पड़ता हूं . . . टॉर्च नहीं जलायी जा सकती. अंधेरा गहरा हो गया है. गिरोह के लोग पीछे-पीछे आ रहे हैं. बिरज के बोल अब भी पीछा कर रहे हैं मेरा—' . . . . तू मुझे क्या मारने आया था? . . . . मुझ से पहले तो तू मर चुका है! . . .'

▣

मैं चौंक गया हूं! अंधेरे में कोई पीछे से बोला है "ठाकुर! . . . तुमने अच्छा नहीं किया!"

लगता है एक ठोकर लग गयी है. गिरते-गिरते बचा हूं. हां, शायद अच्छा नहीं किया!

नहीं! . . . शायद यही एक मौका है, जब मैंने कुछ अच्छा किया. वरना मेरी इस लंबी, बीहड़ लदी ज़िंदगी में कुछ भी तो अच्छा नहीं है. किसी बार अगर कुछ किया भी है तो ढोंग या फिर वह, जब मैं मलखानसिंह न रहकर कुछ और हो गया हूं. यह 'कुछ और' मेरे भीतर है. नामहीन. दृश्यहीन. आकारहीन.

यह है शायद. . . मेरा अपना आप. यह न मलखानसिंह है न डाकू, न सरदार . . . . यह कुछ भी नहीं है. इसके बावजूद सब कुछ है. यह सब कुछ किसी भी पल कुछ भी बन जाता है और मैं या तो हार जाता हूं, या जीत जाता हूं, या मर जाता हूं, या जी जाता हूं!

बिरज को जीवित छोड़कर कौन आया? मैं अपने आप से जवाब-तलबी करने लगा हूं.

जवाब नहीं है मेरे पास!

मुझे लगता है मैं उस पल मलखानसिंह न रहकर बिरज हो गया था. वह बिरज, जो राधा का बाप है. या सिर्फ़ एक बाप जिसकी एक बेटी होती है.

अंधेरे में बीहड़ी धूल के बीच जूते खुप जाते हैं और 'फिच्च' की आवाज़ पैदा होती है. तेज़ हवा, रेती के बारीक-बारीक कण अपने भीतर समेटे हुए कनपटियों को छूती निकल जाती है. उसकी सरसराहट के साथ हम लोगों के चलने की आवाज़. कुछ सांप एक साथ फुफकारते हुए.

मैं बिरज को मारने पहुंचा और छोड़ आया. . . ? खबर फैलेगी सब तरफ़. कुछ लोग कहेंगे—'मलखान ने बेटी का ख़्याल किया', कुछ कहेंगे—'बिरज से दोस्ती निबाही' और हो सकता है कि कुछ लोग कहें—'मलखान डर गया होगा बिरज से! बिरज को मार देता तो बिरज के सात बेटे हैं और चार भाई . . . . मलखान के दिया जलाने वाला भी कोई न रहता. इसीलिए कतरा गया मलखान! '

शायद ठीक ही कहा है गिरोह के किसी आदमी ने, "ठाकुर तुमने अच्छा नहीं किया!"

क्या होगा उस धाक का जो इर्द-गिर्द सोलह गांवों तक फैली हुई है? मलखान डरपोक साबित हुआ. आबरू धूल हो गयी! कुछ ऐसे भी होंगे जो सोचेंगे कि मलखान ने शायद ठीक किया.

ऐसे लोग सच को समझेंगे. पर एक मुश्किल तो यह है कि दुनिया की सब अच्छी-बुरी बातें अपनी-अपनी तरह, अपने-अपने अर्थ निकाल लिया करती हैं. या यों कि अर्थ निकल आते हैं. शब्दों में बहुत शक्ति होती है.

बदरी फिर से याद हो आया है. जब गोली से उड़ाया

कितनी ही प्रतिक्रियाएं हुई थीं. किसी ने कहा था, "मुख़बिर को सज़ा मिली, ठीक है. मलखान के साथ धोखा जो किया था उसने!"

पर सुनते हैं कि किसी-किसी ने यह भी कहा था कि बदरी जैसे लोग ही सच्चे होते हैं. किसी बाग़ी को मरवाने के लिए बदरी ने यदि मुख़बिरी की, तो ग़लत भी क्या किया?

इसलिए बिरज को छोड़ना ठीक हुआ! . . . . और शायद इसीलिए बिरज को छोड़ना ठीक नहीं हुआ.

▣

सन्नाटे की एकरसता तोड़ने के लिए मैं अनायास ही बड़-बड़ाने लगा हूं, "अभी-अभी तुममें से कोई कुछ बोला था रे?"

"हां, ठाकुर!" अंधेरे में एक जवाब उठा है.

"क्या?"

"यही कि तुमने अच्छा नहीं किया."

मैं चुप हो रहा हूं. थोड़ी देर बाद शायद इन्हीं में से कोई

● अपराधी के विरुद्ध कानून की जवाबी राईफल!

बोल बैठे, "नहीं, तुमने अच्छा किया!"

मुझे वह दिन याद हो आया है, जिस दिन मैं पहली-पहली बार इन भुतहे बीहड़ों में उतर आया था . . .

वह दिन . . . . और उससे पहले के कुछ दिन! यहीं से तो 'मलखान' की कहानी शुरू होती है.

एक आदमी की कहानी और डाकू की कहानी . . . मेरी आज तक की ज़िंदगी की कहानी, जिसमें मैं डाकू रह पाने और उसके साथ आदमी को सह पाने का संघर्ष झेल रहा हूं. या यों कि आदमी के रहते डाकू को सह पाने की कोशिश कर रहा हूं . . . पर उन दिनों कहां थे ये सुख-दुख? . .

उन दिनों तो सिर्फ़ मलखान था. बीस साला मलखान. भर जवानी का तड़कता बदन. गठी देह. मन सीवा और उमंगों से भरा-भरा. दूर-दूर तक धरती पर बिछे सरसों के भरे खेतों जैसा भविष्य . . . चार अपनों के घर, चालीस बिरानों का समाज. एक छोटी-सी दुनिया . . . आल्हा, रसिया, लंगुरिया . . . कितने-कितने गीतों से महका रस भरा संसार. और इस संसार में मैं और मेरी बरखा.

सोचता हूं, तो लगता ही नहीं है कि बीस बरस बीत गये!

कच्चे घर के दरवाज़े पर लगे वंदनवार उस समय भी हरियाए हुए थे. जुलाई के बदलाये मौसम में जितने ब्याह होते हैं, इसी तरह हरियाए रहते हैं. और मैं ब्याहा था, इसी मौसम. कच्ची पाटौर के बाहर एक छोटा-सा आंगन. आंगन के गिर्द घिरी कच्ची माटी की दीवार और इस आंगन में गये पंद्रह दिनों से ब्याह का ऐसा धूम-धड़ाका मचा था कि अब, जब बरखा की बिदा करवाने उसके भाई आ पहुंचे थे, तब भी लगता था कि घर के पोर-पोर से गीतों के बोल बहे जाते हैं . . . रस-राग भरे, मीठे, व्यंगों की कुरेदन लिये, मदमाते बोल!

बलमा के भावें ना लड्डू जलेबी,
यारन के खाय गयी कारे भटा,
गोरी तोरे नयना कारी घटा . . . .

कारी घटा,
अंधियारी घटा,
गोरी तोरे नयना कारी घटा . . .

▣

बरखा आज जायेगी . . . . चार दिनों से घर में चांदनी बिखेरे रही मेरी नयी ब्याहता . . . . सवेरे से ही मन उदास-उदास था . . . पर समाज की बात, रीत-रस्मों की जात. चबूतरे पर चुप, उकडूं एक ओर बैठा हुआ हूं. भीतर मां ने बरखा को विदा के लिए सजा-संवार कर तैयार कर दिया है और इधर धुली दरी पर बैठे हैं उसके भाई, मेरे दोनों काका—हजारीसिंह, उम्मेदसिंह. मैं हूं बड़े का बेटा. बड़े, बड़ी छोटी उमर में नहीं रहे. बड़े यानी ठाकुर सोबरनसिंह. अब घर का सारा काला-सफ़ेद हजारी और उम्मेद काका के हाथ. धरती का बंटवारा मेरे दादा कर गये थे. पर अब सारी धरती जोत रहे हैं, मेरे काका.

जब से मेरे पिता नहीं रहे, तब से वही कर्ता-धर्ता हैं.

"तो सावन बाद हम गौना करायेंगे". हजारी काका ने बरखा के भाई यानी मेरे साले से कहा है.

हल्का-हल्का लगता है मुझे . . . सावन . . . ? सावन को तो कई दिन पड़े हैं. तब तक बरखा दूर हो जायेगी मुझसे . . ? पर मैं कैसे बोल सकता हूं. बड़े-बूढ़े मौजूद. मन मसोसकर रह जाता हूं.

और बरखा के भाई थैला उठाकर खड़े हो गये हैं. साथ चार लोग. एक ओर दबा-दुबका मैं भी. बरखा बाहर आ गयी है. साथ आयीं दो पोटलियां, मेरे काका ने उठाकर बरखा के भाई की ओर बढ़ा दी हैं, "लो, ठाकुर, सम्हालो!"

वे चल पड़ते हैं. सीने के ढलान तक बरखा ने माथे पर घूंघट खींच रखा है. एक कौंध भरा ख़्याल दबाकर घुट लेता हूं भीतर ही भीतर. थोड़ा चेहरा ही देख पाता उसका . . . पर . . . बात गयी सावन बाद तक . . .

चली गयी बरखा. काका जाने को हुए तो मां ने रुकवा लिया, "हजारी, लाला से कह, पांच मिलट रुकें."

वे रुक गये. भीतर घर में आ बैठे. एक ओर मैं. हजारी काका ने पूछा, "अब क्या बात है भौजी?"

मां एक ओर धरती पर बैठ रही. मुझे संकेत से पास बिठाया. फिर मेरे दोनों काकाओं से कहा, "भगवती मईया की किरपा से तुम्हारी छतरछाया में मलखान पल गया. उसका घर-संसार भी बस गया. अब चाहती हूं कि सब कुछ यही सम्हाले . . . इसीलिए कह रही थी—मीठे कुएं वाले दोनों खेत अब ये जोत लेगा!"

हजारी ने उम्मेदसिंह की ओर, और फिर दोनों ने मेरी ओर देखा. एक पल के लिए चुप हो गये. जब से मेरे पिता नहीं रहे हैं, मीठे कुएं वाले दोनों खेत दोनों काकाओं ने सम्हाले हैं. आधी फसल हर साल मेरी मां को दी है, आधी फसल खुद की मेहनत के एवज में रख ली है. पर अब मां चाहती है कि खेतों की पूरी फसल हम ही सम्हालें. . . भगवती ने मुझे फैलाव-सा कद-काठ ही नहीं दे दिया है, घर-गृहस्थी भी बसवा दी है. यही रीत है दुनिया की.

मां की झुर्रियों भरी निगाहें उन दोनों की ओर लगी हैं. हजारी के चेहरे पर दृढ़ता है. सहसा उम्मेदसिंह काका उठते हैं. कहते हैं, "तू कह तो रही है भौजी, पर अभी मलखान पर हमें भरोसा नहीं. . ."

हजारी बात में जोड़ लगा देते हैं, "ब्याह हो जाने से अकल आ जाती है क्या? अभी तक स्साले ने सरकारी बाग से आम चुराना तो छोड़ा नहीं, ये क्या जोतेगा खेत? थोड़े दिन और रुक जाओ." वह भी उठ जाते हैं.

"पर काका. . ." मैं कुछ कहना चाहता हूं, सहसा हजारी डपट देते हैं मुझे, "चुप रह! . . .बड़ों की बात में थुथरा चलाता है."

मां के चेहरे पर एक उदास, परेशान बेचैनी उभर आयी है. कई दिनों से गांव के चार लोग उससे और मुझसे कहते आये हैं— 'हजारी और उम्मेद मीठे कुएं वाले खेत नहीं छोड़ेंगे. . .' पर किसी बार हमने विश्वास नहीं किया. बैर कराना चाहते हैं स्साले. हरे, बौराये झाड़ नहीं सुहाते कम्बख्तों को! चाहते हैं कि बैर की बिजली गिरे और सूख जायें. पर आज मुझे पहली बार खटका हुआ है. . . कहीं ठीक ही तो नहीं सुना है? हजारी और उम्मेद के मन में बेईमानी तो नहीं पनप आयी? . . .

दोनों चले गये हैं. एक निर्णय थोप कर. निर्णय, जिसके अनुसार मैं नाकारा और ग़ैर-जिम्मेदार हूं.

आशंका का पहला विष-बीज पड़ गया है मेरे मन में. . . फिर यह बीज पनपा है. चार मुंह, चालीस खबरें मिली हैं. पटवारी की कार्रवाई ने आशंका को सच में बदल दिया है. हजारी और उम्मेदसिंह धरती के कागज़ातों में लिखा-पढ़ी बदलवा रहे हैं.

यानी हम भूखे मर जायेंगे? . . . मरेंगे नहीं, हमें मारा जायेगा. इस बीच चार बार बरखा आकर जा चुकी. चार बार मां ने दोनों काकाओं से फिर-फिर धरती की मांग कर दी, पर व्यर्थ! . . . तनाव गहरा और गहरा होता जा रहा है. . . बात घुलते-घुलते एकदम उभर आयी है—हमें ता-ज़िंदगी अपने दोनों काकाओं का मोहताज रहना होगा. वे जो दे दें, सो उनकी कृपा. . . राजा हो गये बिल्कुल!

▣

कुछ धिक्कारें भी आती हैं गांव से—मलखान में सोबरन का ल[illegible] है कि नहीं? . . .

मां सुलगकर रह जाती है. कितनी बार मैं नहीं उखड़ा हूं! पर मां हर बार डांट-थाम लेती है. इकलौते बेटे के भय ने उ[illegible] कायर बना दिया है!

पर कायर जी पाते हैं भला?
इसलिए मैं कैसे जी पाऊंगा?
उस दिन आल्हा बांचते में पढ़ा था—

उमर कौ पट्टा ना कोई लायौ, ना कोई जीवै बरस हजार!
छतरी मारो जावै बा दिन, जा दिन याद करै करतार.

जीना-मरना, राम के हाथ. हजारी और उम्मेद के हा[illegible] नहीं! और ऐसे ही एक दिन मैं भरी चौपाल हजारी और उम्मे[illegible] काका के सामने जा खड़ा हुआ था. . .

"मेरी धरती मुझे चाहिए, कक्का!"

हजारी और उम्मेद ने चौंककर देखा था मुझे. मेरी उखड़ा[illegible] तनाव मेरे चेहरे पर लिखा हुआ था. . .

मगर उन्होंने उस उखड़ाव-तनाव की चिंता नहीं की [illegible] बोले थे, "जर, जोरू और जमीन मरद सम्हालते हैं, लौंडे-लपा[illegible] का काम नहीं है. तुझे जो कहा जाये, वही किया कर, बस!"

हर शब्द तेज़ाब में डुबोया हुआ. बड़ी सफाई से धरती [illegible] बात उन्होंने दरकिनार कर दी, मगर उससे भी कहीं ज्यादा सफ[illegible] के साथ उन्होंने मुझे नामर्द भी कह डाला! . . . सहा नहीं जा स[illegible] था मुझ पर. उसी पल गिरहबान थाम लिया था हजारी का. [illegible] गया था कि मेरा काका है. . . पर हजारी आदमी भी ताकतव[illegible] उसका साथ भी ताकतवर. परिणाम हुआ था मेरी हार. थप्प[illegible] जूतों से पिटकर, गालियों से नहाया हुआ मैं चला आया था. . .

और उसी रात मैंने उनके दिये अपमान का उधार चुका दि[illegible] —एक गोली! . . . कुछ चीखें. . . कुछ भयातुर चेहरे. . . [illegible] के कुछ धब्बे! सब सन्नाटे में सहमे-डरे देखते रह गये थे थोड़ी [illegible] के लिए. और उतने समय में मैं आ पहुंचा था बीहड़ों की अ[illegible] एक ऐसी ओट, जिसे आदमी बचाव समझता है और जो [illegible] ज़िंदगी सिर्फ़ कफ़न की तरह उसके जिस्म से लिपटी रह जाती

ज़िंदा आदमी का कफ़न! मुरदा कपड़े का टुकड़ा और ज़िंदा आदमी!

तब से यह कफ़न लिपटा हुआ है मेरे ऊपर. . . और अपनों-परायों के सवाल लिपटे हुए हैं. . . मां, पत्नी, बंधु-बांधवों के सवाल. . .

मलखान, तूने अच्छा नहीं किया! . . .

और कुछ लोग हैं, जो अब तक कहते रहे हैं. . .

ठाकुर, तुमने अच्छा किया!

अच्छे-बुरे के बीच फैसला कर पाने के लिए कितनी बारीक लकीर ढूंढनी होगी? ऐसी लकीरें आदमी अक्सर नहीं ढूंढ पाता.

वह लकीर मैं भी किसी बार नहीं ढूंढ पाया हूं. . . खोज मैंने हमेशा की है. हर अच्छाई के साथ, हर बुराई के साथ. मेरी खोज निरंतर जारी रही है. . . आज भी जारी है.

कभी-कभी लगता है, जैसे मैं आदमी नहीं, सिर्फ़ सवालों का एक ढेर होकर रह गया हूं. अपने लिए भी, दूसरों के लिए भी.

▣

"ठाकुर! . . ."

अंधेरे में मैं उस तरफ देखता हूं, जिधर से स्वर उठा है. बिंदा की आवाज़ है यह. बिंदा—मेरा दायां हाथ. गिरोह का और कोई आदमी बोलता तब शायद मैं एकदम सुनता भी नहीं—अपने भीतर ही गुनता रहता. कहता हूं, "क्या?"

"कुछ खा-पी लें," बिंदा का प्रस्ताव.

"हूं!" मैं कहता हूं, फिर सोचने लगा हूं कि क्या इस तरह अभी रुक जाना ठीक होगा? . . . शायद नहीं. बीच गांव से निकले हैं. बिरज से बात हुई है. और बिरज को दिखायी है राईफल. हम भले भूल जायें, वह नहीं भूलेगा. नहीं भूलेगा, इसीलिए डर है, वह पुलिस तक बात पहुंचायेगा. न पहुंचाये, गांव से गुनगुनाहट थाने जा पहुंचेगी. जितनी जल्दी हो, ज़्यादा-से-ज़्यादा बीहड़ पार कर जाने में ही कुशल. कहता हूं, "अब खाना-पीना नहीं हो पायेगा. जल्द-जल्दी बढ़े चलो!"

जवाब नहीं आता. मैं जानता हूं, जवाब नहीं आ सकता. आना भी नहीं चाहिये. ऐसे जवाब आने लगें तो मैं सरदार किस बात का? उन्हें भूख लगी होगी. पर भूख दबा लेनी होगी उन्हें. सवाल भी दबा लेना होगा. पर निवेदन आ सकता है. मुझे निवेदन सुनना अच्छा लगता है. जब-जब ऐसा होता है, मुझे लगता है कि मैं डाकू नहीं रहा. . . दानी हो गया हूं. ऐसे ही अपने-आपको सुखी कर लेने में कितना मज़ा आता है?

"ठाकुर!"

"हां." आ गया निवेदन.

"दुपहर भी ठीक-से रोटी-पानी नहीं हुआ. . ."

"जानता हूं, पर मुश्किल से पांच-सात किलोमीटर निकल पाये होंगे अपुन. . . अभी खतरा है बिंदा."

"तुम्हें बिरज से डर है ठाकुर?" बिंदा ही है, जो मुझसे ऐसे बोल पाता है. कह रहा है, "पर जमाखातिर रहो, उसमें इतना दम नहीं है."

एक पल की खामोशी के बाद कहता हूं, "तू मूरख है. बखत बड़े-बड़े नामरदों को मरद बना देता है."

बिंदा चुप हो रहा है. अंधेरा ज्यों-का त्यों है. . . हम चलते जा रहे हैं. भूख से जलती हुई अंतड़ियां और अनिश्चितता में सुलगा हुआ दिमाग़.

"ठाकुर!" बिंदा पुनः बोलता है. कुछ कहना चाहे, इसके पहले ही कुछ हिचकियां अंधेरे में उठने-गिरने लगी हैं. चौंक गया हूं मैं. . . शायद सभी चौंक गये होंगे. बिंदा कहता है, "बजरंग को हिचकियां आने लगी हैं. सभी का बुरा हाल है ठाकुर! . . . थोड़ी देर रुक जाते तो. . . ."

"अच्छा!" मैंने एक गहरी सांस ली है, "जगह देख लो."

"एकाध किलोमीटर ही होगा सुरवाया गांव. . ." बिंदा ने जवाब दिया है, "वहीं, घंटा दो घंटा रुक लेंगे. कासीराम चौधरी है ही वहां." मैं कुछ नहीं कहता. मुख्य आदेश देना भर मेरा काम है. शेष सब काम बिंदा करता है. कर लेगा.

"पर कासीराम का एक काम अटका है अपने पास" बिंदा बतलाता है, "गांव के चमारों से 'चल' गयी है उसकी. . . कितनी ही बार खबर भेज चुका है अपने पास—कुछ मदद करें!"

मैं परेशान हो उठा हूं. कासीराम हमारा आदमी है, हमारा मददगार. . . कितने आड़े मौकों पर उसने हमारी मदद की है! . . . तब हम उसकी मदद न करें—यह कैसे हो सकता है?

मगर उसने हमें जीवन-दान की मदद की है और हमसे लेगा . . .किसी का जीवन छीन लेने की मदद!.

और हम लोग ऐसे सौदे करते रहते हैं. इसलिए कासीराम मददगार नहीं, सौदागर है. और हम भी उसकी मदद कहां करेंगे, सिर्फ़ दाम देंगे उसकी कृपाओं का.

पर मैं उन चमारों को जानता भी नहीं हूं, जिनसे कासीराम की 'चल' गयी है! . . . इसके बावजूद मुझे उन्हें जानना होगा. ज़रूरत हुई तो गोली भी मार देनी होगी. एक बार फिर सवाल उग आयेगा—लकीर में बंटा सवाल!

मैंने अच्छा नहीं किया! शायद मैंने अच्छा किया!

पर मुझे इस सब पर सोचना नहीं है. . . मुझे सिर्फ़ जलते जाना है.

बिंदा बुदबुदाता है, "ठाकुर, आ गये. . . कासीराम की हवेली पर. . . . पिछवाड़े से पहुंचना ही ठीक होगा."

मैं उत्तर नहीं देता. बिंदा के पीछे-पीछे चलता जाता हूं. मैं, जो गिरोह का सरदार हूं. . . ये एक और अजीब बात है! किसी बार मैं अपने पीछे किसी को चलाता हूं, और किसी बार किसी के पीछे चलता हूं. कासीराम का मामला भी कुछ ऐसा ही रहेगा. . . कासीराम मेरे पीछे चलता आया है. मेरे कहने से, मेरी तरह, मेरे इंगितों पर.

और आज मैं कासीराम के पीछे चलूंगा. उसके कहने से. . . उसकी तरह. . . उसके इंगितों पर!

हम लोग गांव के पिछवाड़े आ पहुंचे हैं. ☐

. . . क्रमशः

अगले अंक में

निंदा की तेजी और दुस्साहस मलखान की स्वतंत्रता और अस्तित्व को जकड़ने लगा. . . बीहड़ों में जीते डाकुओं की दिमाग़ी कशमकश और उलझनें. . . !

"अभी मैं घर नहीं लौटा हूं!"

▣ इलाचंद्र जोशी

प्रेमचंद के बाद के उपन्यासकारों में पं. इलाचंद्र जोशी का नाम उन लोगों में गिना जाता है जिन्होंने उस समय कथा के एक अपरिचित-मानस से सीधा साक्षात्कार कराया. 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'संन्यासी' आदि से लेकर 'जहाज का पंछी' या 'ऋतुचक्र' तक जोशीजी ने जो कुछ कहा उसे सामान्य पाठक असामान्य-अभिरुचि से सुनता रहा है. जोशीजी ने साहित्य की अनेक विधाओं में लिखा है. जीवन के बहुरंगी बहुमूल्य अनुभवों के धनी हैं.

जोशीजी संभवतः अपने ढंग के अकेले रचनाकार रहे हैं. जिन्होंने अपने बाद आने वाली पीढ़ी का पूरा सम्मान अर्जित किया है. वैसे तो अज्ञेय और अश्क भी नयी पीढ़ी के पुट्ठे पर बहुत बार हाथ धरते रहे हैं--लेकिन कुछ ऐसा हुस्ने-इत्तिफ़ाक रहा कि इन दोनों ने जिस-जिस के पुट्ठे पर हाथ धरा, उसने एक दिन उलट कर पूछा ही तो--'कि तू कौन?' (और जैसा कहा गया है, उत्तर देने वाले ने कहा--'मैं ख्वामखाह! !') जोशीजी ने भी नयी पीढ़ी को उभारा! खूब उभारा और जहां बस चला उसके बारे में खूब लिखा-पढ़ा. बस उससे उलट कर नहीं कहा कि अब तू मेरे बारे में लिख और किताब छपा. जोशीजी अब भी नयी और मंझली पीढ़ी के लेखकों में उतना ही स्नेह और सम्मान पाते हैं जितना आज से पच्चीस-तीस वर्ष पहले पाते थे.

पिछले कई वर्षों से जोशीजी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हैं. जबसे उन्हें, कोई दस बरस हुए फ़ालिज का दौरा पड़ा था, तबसे अक्सर उन्हें विस्मृति घेर लेती है. आंखों में बड़ी तकलीफ़ है. मोतिया-बिंदु के कारण पढ़ने में कठिनाई होती है. लेकिन किताबें ही उनकी एकमात्र दुनिया है. उसी में वे रमते हैं. तुलसी का 'रामचरित मानस' और कालिदास बराबर पढ़ते रहते हैं. खोये-खोये से... भारी, मोटे फ्रेम के चश्मे के नीचे से झांकती हुई आंखें--कहीं सबसे बेहद जुड़े हुए...कहीं एकदम अपने में भीतर धंसते हुए...

जोशीजी से यह बातचीत दो-तीन बार में की जा सकी. वे अपने बारे में बहुत-सी बातें कहना और बताना चाहते हैं. इस भेंट में बहुत-सी बातें अधूरी हैं. उनके विस्तार में अधिक सरसता भी है और बहुत स्थलों पर सामयिक-प्रासांगिकता भी. अच्छा होता कोई संस्थान या अकादमी जोशीजी को ऐसी सुविधा और सहायता दे सकती कि वे अपनी संपूर्ण और प्रामाणिक जीवनी तत्काल लिखवा सकते.

कहीं ऐसा न हो कि हमेशा की तरह हमसे फिर देर हो जाये!

▣ केशवचंद्र वर्मा

केशव : आज का साहित्य और लेखन जैसा संदर्भहीन और निरर्थक लग रहा है--ऐसी अनुभूति आपको अपने लेखन के प्रारंभ में--या किसी दूसरी स्थिति में कभी लगी थी?

जोशीजी : संभवतः नहीं. वैसे उस समय परिस्थितियां भी इतनी 'कांप्लेक्स' (विषम) नहीं थीं. पश्चिम की नकल शुरू नहीं हुई थी. सीधे-सादे लोग थे और अपनी बात भी सीधे ढंग से करते थे. उसका प्रभाव भी पड़ता था. पत्र-पत्रिकाओं को देखने से उस समय की जागरूकता का साफ़ पता चलता था. मेरे बचपन में ही स्वामी सत्यदेव अल्मोड़े आये थे. उनके प्रयास से हिंदी का अच्छा प्रचार हुआ. अल्मोड़े में एक पुस्तकालय की स्थापना हुई. लोगों का आग्रह था कि उसमें केवल 'विशुद्ध साहित्य' की ही पुस्तकें रहें. वह पुस्तकालय इतना समृद्ध था कि हिंदी साहित्य का समग्र उत्कृष्ट लेखन वहां एक बारगी मिल सकता था. लोग उसे खूब पढ़ते थे. मैंने भी उस पुस्तकालय के ही माध्यम से खूब पढ़ा. इसी से आप साहित्य के प्रति आम पाठक का क्या रुख था, यह समझ सकते हैं. आज यह दुर्लभ है.

केशव : पहली बार रचना के क्षेत्र में कब उतरे?

जोशीजी : अल्मोड़े से ही एक पत्रिका निकलती थी—शक्ति. उसी में मेरी पहली रचना—एक कविता—छपी. यह शायद 1913 की बात है. पैंसठ बरस हुए. भाई साहब स्व. डॉ. हेमचंद्र जोशी अल्मोड़े से ही एक पत्रिका निकालते थे, उसमें एक कहानी लिखी—शीर्षक था—'एकता'. फिर 'साप्ताहिक प्रताप' में और फिर बनारस से प्रसादजी की पत्रिका 'इंदु' में, 1916 में, कहानी छपी जो खासी चर्चित हुई.

केशव : यानी इसी से आपकी साहित्यिक यात्रा आरंभ हो गयी?

जोशीजी : हां, कह सकते हैं. पढ़ ही रहा था, तभी लड़कों ने एक पत्रिका निकालने की योजना बनायी और मुझे उसका संपादक चुना. लिखता-पढ़ता रहा. सहसा पिता के देहांत से हमारे परिवार में बड़ी मुसीबत आयी. गल्ला तो घर में होता था लेकिन

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में इलाचंद्र जोशी का नाम मात्र एक नाम न रह कर एक स्कूल बन गया है. दिसंबर : अंक-२ में हमने जोशीजी पर विशिष्ट सामग्री की घोषणा की थी, उसी घोषणा के तहत वह विशिष्ट सामग्री हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं.

नकद पैसों की बड़ी कमी थी. पिता के देहांत पर दाहक्रिया तक के लिए किसी महाजन से पैसे लेने पड़े थे. तब नौकरी की सूझने लगी. लेख तो मैंने बहुतेरे लिखे. लेख से दस या पंद्रह रुपये आ जाते तो घर का खर्च चलता. लेकिन यह स्थिति चलती दीख नहीं पड़ी. मेरे लेखों की चर्चा होने लगी थी और मुझे अपने ऊपर कुछ-कुछ भरोसा होने लगा था. 1929 में 'मार्डन रिव्यू' में मेरा लेख छपा तो और चर्चा हुई.

केशव : तो नौकरी का सिलसिला कहां से शुरू हुआ?

जोशीजी : लखनऊ से 'सुधा' निकलती थी. उसमें सहायक के लिए एक विज्ञापन आया. मैंने अर्ज़ी दे दी. उनके कोई प्रतिनिधि मुझे ढूंढते हुए आये और अल्मोड़े के बाज़ार में मिले थे. मुझे एक निहायत कमसिन नौजवान देखकर चौंके और बार-बार पूछते रहे, "आप ही इलाचंद्र जोशी हैं, जो लेख लिखते रहते हैं?" बहरहाल लखनऊ पहली बार गया. दुलारेलाल भार्गव जी के यहां काम शुरू किया. यहीं पर अनेक साहित्यकारों से मेरी पहली भेंट हुई. मैथिलीशरण गुप्तजी से भी यहीं मिला. 'सुधा', 'माधुरी' का झगड़ा चलता था. मैंने कितने ही लेख उस ज़माने में लिखे. कुछ अपने नाम से, कुछ छद्म नाम से. 'प्रेमचंद' वाला विवाद वहीं मैंने उठाया था.

केशव : फिर 'सुधा' पत्रिका छोड़ी क्यों?

जोशीजी : वही तमाशा हुआ. अस्सी रुपया कहकर भार्गवजी पचास देने लगे. वहां मैंने काम छोड़ दिया. इलाहाबाद आया. 'चांद' में गया. कुछ-कुछ काम भी किया. वहीं महादेवी वर्मा का नाम जाना.

फिर कुछ दिनों साहित्य-जगत् से एकदम कट ही गया. भाई साहब के साथ-साथ शाहजहांपुर के पंवाया राज में रहने गया. फिर वे बस्तर के राजा की सिफ़ारिश के लिए शिमला गये. मैं भी गया. वहां मैंने टाइप सीखा. फिर राजासाहब के साथ 1921 में नयी दिल्ली आये, जो तब बन ही रही थी. वहां 'कारोनेशन होटल' में पहली बार ठहरा था. फिर बंबई घूमने के लिए गया.

केशव : जब यह दौर समाप्त हो गया तब फिर कहां से शुरुआत हुई?

जोशीजी : फिर कलकत्ते पहुंचा. वहां 'कलकत्ता-समाचार' में साठ रुपये की नौकरी शुरू की, जो बाद में सत्तर रुपये की हो गयी. वहां रहा. लिखता रहा. शरत् चंद्र के उपन्यासों और उनके पात्रों से मैं बहुत अभिभूत था. बहुत प्रयत्न करके मैं उनसे खोज कर मिला. 'श्रीकांत' के बारे में बहुत से प्रश्न किये थे. इस भेंट के बारे में मैंने कहीं लिखा भी है. पत्रकारिता में मेरा मन काफ़ी रमा. फिर तो 'भारत', 'संगम साप्ताहिक' और 'धर्मयुग'—इस सबकी कथा तो आप सभी जानते हैं.

केशव : आज की पत्रकारिता कैसी लगती है?

जोशीजी : युग के अनुरूप ही है. जैसा वक़्त है वैसे ही पत्रकार. आज का संपादक दबा हुआ लगता है. अध्ययन की भी कमी बड़ी साफ़ दीख पड़ती है. घुमा-फिरा कर वह सिर्फ़ राजनीति में ही घुसा रहता है.

केशव : उस वक्त विवाद के मुख्य मुद्दे क्या होते थे जोशीजी?

जोशीजी : गहरे मुद्दों पर बहस उठा करती थी. सरस्वती का चलन अधिक था मेरे बचपन में. कलकतिया समाज और महावीरप्रसाद द्विवेदी की अच्छी झड़पें पढ़ने को मिलती थीं. भाषा के बदलाव के प्रश्न को लेकर 'भाषा की अनस्थिरता' जैसे बहस के मुद्दे हुआ करते थे. मैथिलीशरण और प्रसाद और प्रेमचंद—इनके बारे में भी काफ़ी कहा-सुना जाता था.

केशव : इलाहाबाद के प्रवास ने आपकी साहित्यिक यात्रा में क्या जोड़ा?

जोशीजी : बहुत कुछ. यहां आकर मैंने वास्तव में अपने को साहित्य के गढ़ में पाया. बहुतेरी प्रतिभाओं से इलाहाबाद में ही मुलाकात हुई. असली भी और तथाकथित भी. स्व. गंगाप्रसाद पांडेय मेरे मित्र थे और उनके कारण मेरे परिचय का बहुत विस्तार हुआ. 'परिमल' वाले बंधु मिले. उसमें अनेक नवयुवक लेखकों का लेखन स्तर बहुत ऊंचा था. आज 'परिमल' के तमाम साथी लेखक बहुत अच्छा लिखकर अपना स्थान बना चुके हैं. पंतजी (स्व. सुमित्रानंदन) अल्मोड़े में मुझसे कक्षा में एक साल आगे थे. यहां फिर साथ हुआ. महादेवी, निराला—सभी तो यहीं थे.

केशव : क्या लेखक को नौकरी करनी ही पड़ती है? अगर करनी ही है तो कैसी नौकरी करे?

जोशीजी : अरे भाई, इसमें चुनाव करने की छूट दे कौन रहा है? घर-गिरस्थी चलानी है, रोटी खानी है तो नौकरी करनी ही पड़ेगी. लेखन या रचना का नौकरी से ऐसा रिश्ता नहीं बनता कि एक दूसरे पर निर्भर करें. लोहार का काम करने को मिले तो वही करो. जो भी काम मिले उसे करो. रोटी कमाओ और लिखो.

केशव : क्या हिंदी प्रकाशक, लेखक को उसका समुचित मानदेय देकर एक सामान्य और सहज जीवन जीने का अवसर नहीं दे सकता? आपके अपने प्रकाशनों के आधार पर आपका क्या अनुभव है?

जोशीजी : हिंदी का प्रकाशक भारतीय मनोवृत्ति का बड़ा सटीक उदाहरण है. सम्मान से किसी को जीने देने में वह अकारण परेशान होता है. मेरे प्रकाशनों की संख्या इस समय चालीस से ऊपर है जिनमें दस तो प्रसिद्ध उपन्यास हैं, शेष कहानी-संग्रह, डायरी-लेख या निबंध संग्रह, कविता आदि की पुस्तकें हैं. ऐसे अवसर कम ही आये हैं जब मेरे बिना कहे हुए किसी प्रकाशक ने रायल्टी चुकायी हो. बेईमानी का खुला व्यापार है. उसकी साख उठ गयी है. जो दो-एक ईमानदारी से अपना काम भी करना चाहें वे इसी चक्र में फंसे हुए हैं. हिसाब में काट-छांट करते हैं. शायद ही कोई ऐसा भाग्यशाली लेखक होगा जिसे उसके प्रकाशक का कोई सहयोग मिला होगा.

केशव : आपने इतना लिखा—लेकिन क्या चीज़ लिख कर आपको सचमुच संतोष मिला?

जोशीजी : सच कहूं तो मुझे हमेशा ही जो कुछ लिखा, उसे लिखने पर संतोष ही मिला. मेरे भीतर के अहम् को ऐसा लगता था कि मैंने जो लिख दिया है वह अपनी लकीर छोड़ जायेगा. भाई, 'निज कबित्त केहि लाग न नीका.'

केशव : तो बताइए कि क्या नहीं लिख पाये?

जोशीजी : जीवनी. अपनी जीवनी. बस एकाध उपन्यास और वही अपनी जीवनी. बहुतों का पहले आगाज़ होता है फिर अंजाम. मेरा अंजाम ही पहले हो गया. मेरे बारे में तमाम धारणाएं लोगों के मन में रही हैं. मुझे अपने बारे में बहुत कुछ कहना है. बहुत कुछ बताना शेष है. बच्चन ने जैसी अपनी जीवनी लिखी है, पता नहीं मैं इतने ढंग से लिख भी पाऊंगा या नहीं. लेकिन मेरे मन में अपनी सीधी जीवनी लिख डालने की साध शेष है.

केशव : आप उस तरह की जीवनी लिखेंगे तो आपको बहुत सी ढकी-मुंदी बातों को उघारना पड़ेगा. प्रेम के मामले को लेकर आप बहुत धर्मसंकट में पड़ेंगे?

जोशीजी : कोई धर्मसंकट नहीं. जिस तरह के प्रेम की बातें लोगों को बखानते हुए आज देखता हूं. ऐसा मेरा

(शेष पृष्ठ ५७ पर)

दान में ही ऐश्वर्य और प्रतिभा की पूर्णता सार्थक होती है. इसे पाने के लिए अपने-अपने ढंग से हम सभी उत्सुक रहते हैं. इस सुख या संतोष को प्राप्त करने के लिए कभी हमें किसी व्यक्ति के रूप में कुछ ऐसी उपलब्धि होती है, जो हमारे जीवन और हमारी मानसिकता के विकास के लिए आजीवन एक अंदरूनी ज्योति-शिखा की तरह प्रकाशित रहती है. मेरे लिए जोशीजी एक ऐसी ही ज्योति-शिखा की तरह हैं.

'मैं इस गरिमायुक्त स्वाभिमान के आगे समर्पित था.'

■ रमानाथ अवस्थी

ऐश्वर्यवाही रथ के आगे

सन् 1951 या 52 में सबसे पहले जोशीजी के संपर्क में आया था, जब वे प्रयाग से प्रकाशित होने वाले यशस्वी साप्ताहिक पत्र 'संगम' के संपादक थे. उन दिनों हिंदी के समसामयिक लेखन और पत्रकारिता जगत में 'संगम' अपनी तरह का एक बेजोड़ पत्र था. 'संगम' के माध्यम से उस समय युवा रचनाकारों की एक पूरी-की-पूरी पीढ़ी उभरकर देश के लेखन-क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो रही थी.

'संगम' में काम करने से पहले मैंने इंडियन प्रेस से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक पत्र 'देशदूत' में थोड़े समय काम किया था. पर वहां मुझे वह वातावरण नहीं मिला था, जो सृजन और साहित्य से जुड़ने के लिए मुझे प्रेरणा देता. मुझे याद है ऐसी मनःस्थिति के साथ 'संगम' में पहुंचकर मैंने प्रसन्नता के साथ-साथ एक तरह की घबराहट भी महसूस की थी, क्योंकि मुझे लगा था कि 'संगम' कार्यालय के बहाने मैं एक ऐसे स्थल पर पहुंचा हूं, जहां से कोई ऐसा रास्ता मिलेगा जो मुझे जिंदगी की लंबी मंजिल के किसी-न-किसी आयाम तक ले जायेगा.

जोशीजी के साथ भारतीजी (डॉ. धर्मवीर) भी काम करते थे. उस समय इलाहाबाद में निवास करने वाले विख्यात साहित्यिकों का सूर्य पूरे आकाश पर था, और 'परिमल' (साहित्यिक संस्था) के द्वारा प्रयाग की युवा पीढ़ी के रचनाकार साहित्यिकों के ऐश्वर्यवाही रथ के आगे कभी-कभी अपनी नजरें खड़ी करके उसकी गति को भूमि के योग्य कर लेते थे. 'परिमल' के सभी सदस्य एक-से-एक बढ़कर थे, उन पर सबके बीच डॉ. भारती उस ध्रुवतारे की तरह थे, जिसके बगैर परिमल का नक्षत्र-मंडल सजता नहीं था.
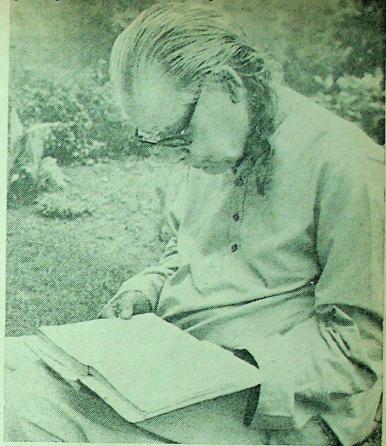
मैं जोशीजी के काले बड़े टेबल के दायीं ओर एक छोटी मेज के साथ कुछ-कुछ कमरे के कोने से लगा हुआ बैठता था. जोशीजी की टेबल पुस्तकों, अखबारों,पत्र-पत्रिकाओं और कागज़-पत्रों से पूरी-की-पूरी घिरी रहती थी. जब वे लिखते थे, तो कभी-कभी उनकी लंबी, काली-चिकनी केशराशि मेज पर झूल जाती थी, ऐश-ट्रे के ऊपर जलती हुई सिगरेट अगरु-धूप की तरह कमरे में लहराती रहती थी.

जोशीजी के लंबे गौरवर्ण शरीर पर लंबा रंगीन कुर्ता और पाजामा होता था. कार्यालय में जब भी आते, हाथ में एक लंबा झोला भी लटकता होता, जिसमें अधिकतर अंग्रेजी की तमाम नयी-पुरानी पत्रिकाएं होती थीं. कार्यालय में प्रायः वे उन्हें उलट-पलट कर देखते थे, कभी-कभी किसी विशेष लेख पर छोटे-छोटे निशान लगाकर रखते थे. मुझे स्मरण है, उन्हीं निशान लगे अंशों की सहायता से दो-एक बार मैंने भी 'संगम' के लिए छोटे-छोटे लेखादि तैयार करके जोशीजी को दिये थे, पर एक संपादक की हैसियत से उन लेखों पर जब उनकी नजर पड़ती थी, तो प्रायः वे बाद में कुछ बदले हुए मिलते थे. मुझे तभी समझाते हुए उन्होंने कहा था कि लिखते समय यह ध्यान जरूर होना

चाहिए कि वाक्य अधिक बड़े न हों, न जरूरत से ज्यादा शब्द ही प्रयोग किये जायें, इससे पाठकों को सुविधा होती है. आज भी मेरे मन में यह बात बराबर बनी रहती है.

उन दिनों तक मैंने तीस-चालीस के लगभग गीत लिख लिये थे, इलाहाबाद और उसके आस-पास जाना भी गया था, पर जोशीजी ने कभी मेरे इस रूप की तरफ़ ध्यान नहीं दिया था. एक दिन उन्होंने कुछ अस्फुट शब्दों में कार्यालय में ही कहा कि मैं जोशीजी को अपने से दो-चार गीत दूं. मैं संकोचवश कई दिनों तक उन्हें गीत देने से अपने भीतर कतराता रहा. इस बार उन्होंने कहा था—

"अवस्थी जी, मैंने आपसे दो-चार गीत मांगे थे मित्र, मुझे देने में तो कोई हर्ज नहीं है, आप मुझे कम-से-कम पढ़ने के लिए तो कृपा कर दें." मैं मन-ही-मन जाने कैसा हो गया था. दूसरे ही दिन मैंने बड़े आदर के साथ जोशीजी को अपने गीत दिये. जहां तक याद है उनमें से दो गीत उन्हें अच्छे लगे थे. मुझे बुलाकर उन्होंने कहा था कि ये गीत आप नीचे कंपोजिंग के लिए भिजवा दें, आगे कभी 'संगम' में दे दीजियेगा. मेरे लिए यह अवसर बड़ा उत्साहजनक था, क्योंकि मैं देखता था, 'संगम' से प्रायः हिंदी के बड़े-बड़े कवियों की रचनाएं भी साभार वापस लौटती थीं.

साधारण : असाधारण

एक दिन 'संगम' कार्यालय में दोपहर के कुछ ही पहले पंतजी (श्री सुमित्रानंदनजी) के साथ सेठ गोविंददासजी पधारे. जोशीजी, पंतजी का बहुत आदर करते थे, यह मुझे मालूम था. उन्हीं दिनों सेठजी का एक वृहत्काय उपन्यास 'इंदुमती' प्रकाशित हुआ था. सेठजी की हार्दिक इच्छा थी कि इस उपन्यास के संबंध में 'संगम' में जोशीजी ही कुछ लिखें. सेठजी उस समय पंतजी को जोशीजी के पास यही कहलाने लाये थे. पंतजी ने बड़े स्नेहपूर्वक जोशीजी से कहा था, "जोशीजी, आपको 'इंदुमती' के बारे में लिखना ही है, सेठजी की इच्छा है कि मैं भी आपसे निवेदन करूं." पंतजी की बात सुनकर जोशीजी एक बार तो पूरी तरह संकोच से भर गये, पर स्थिति ऐसी थी कि उन्हें कोई-न-कोई निर्णयात्मक उत्तर भी देना था. जोशीजी, पंतजी को अत्यंत विनम्रभाव से उत्तर देते हुए बोले थे, "पंतजी, आपको इसके लिए कष्ट करना पड़ा मैं बहुत लज्जित हूं, मैं इस उपन्यास को पढ़ूंगा, और अगर मुझे लगेगा कि लिखना चाहिए तो अवश्य लिखूंगा, अभी कुछ भी वचन न देने के लिए क्षमा चाहता हूं." पंतजी ने मुस्कराते हुए जोशीजी की बात स्वीकार की. बाद में जोशीजी ने 'इंदुमती' पर स्वयं कुछ नहीं लिखा था, पर 'संगम' में किसी और की लिखी टिप्पणी जरूर प्रकाशित हुई थी. इस घटना ने मेरे युवा-मानस पर जोशीजी के स्वाभिमान को अंकित किया था.

कभी किसी से सुना था कि बड़ा आदमी हमेशा बड़ा ही होता है, यह बात मैंने जोशीजी के बारे में पूरी तरह अनुभव की. एक दिन सायंकाल उन्हें किसी को तुरंत एक पत्र लिखना पड़ा, उसे पोस्ट करने के लिए उनके पास टिकट नहीं थे, मुझसे बोले कि आपके पास टिकट हों तो दें. कुछ रचनाकार अपनी रचनाओं के साथ टिकट रखकर भेजते थे, ताकि उन्हें संपादक का निर्णय सूचित किया जा सके. मैंने उन्हीं टिकटों से एक टिकट निकालकर जोशीजी को दिया. दूसरे दिन जब वे कार्यालय आये तो कुर्सी पर बैठने से पहले ही उन्होंने मुझे एक टिकट देते हुए कहा था, "लीजिए अवस्थीजी, धन्यवाद." मैं कुछ क्षण उन्हें देखकर देर तक सोचता रहा था कि उन्होंने एक साधारण घटना को मेरे लिए कितना असाधारण कर दिया था.

सन् 55 में मैं अपने मन के विरुद्ध जीवन की किसी विशेष स्थितिवश इलाहाबाद छोड़कर दिल्ली आ गया था. थोड़े समय बाद पता चला कि जोशीजी ने प्रोड्यूसर के रूप में आकाशवाणी के इंदौर केंद्र पर अपना कार्यभार संभाला है. मुझे लगा था कि आकाशवाणी के बहाने अब कभी-न-कभी जोशीजी के दर्शन मुझे दिल्ली में प्राप्त होंगे. हुआ भी वही, संभवतः दो-तीन वर्ष बाद जोशीजी आकाशवाणी इंदौर से स्थानांतरित होकर आकाशवाणी के दिल्ली केंद्र पर आ गये. दिल्ली में उन्हें रहने के लिए साउथ ऐवन्यू में फ्लैट मिला. मैं तब अकेला था, मुझे जोशीजी के साथ ही रहने का सौभाग्य मिला. उन दिनों दिल्ली रेडियो पर जोशीजी के अतिरिक्त कुछ-एक और साहित्यकार भी काम कर रहे थे. हिंदी कार्यक्रमों के लिए श्री रामचंद्र टंडन को इलाहाबाद बुलाकर महानिदेशालय में 'डिपुटी चीफ़ प्रोड्यूसर' के पद पर नियुक्त किया गया था.

एक व्यक्ति : दो रूप

पहले प्रतिवर्ष आकाशवाणी 'साहित्य समारोह' के नाम से एक वार्षिक आयोजन करती थी, जिसमें लेखन की किसी विशेष विधा को लक्ष्य बनाकर भारत की विभिन्न भाषाओं के आमंत्रित विद्वान अपने पांच मिनट के संक्षिप्त लिखित वक्तव्य में उस विधा का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते थे. जोशीजी के दिल्ली रहते-रहते एक साहित्य-समारोह हुआ, जिसका स्वीकृत विषय 'कहानी' था.

लगभग एक सप्ताह इंदौर में रहकर जोशीजी सपरिवार दिल्ली लौटे. आते ही मुझसे साहित्य-समारोह के बारे में बात करते हुए उन्होंने जानना चाहा था कि इस बार समारोह में हिंदी-कहानी के बारे में मूल वक्तव्य प्रस्तुत करने के लिए किसे निमंत्रित किया गया है. जिस साहित्यकार को इस काम के लिए चुना गया था, वे एक कवि और समालोचक के रूप में तो मान्य थे, पर कहानी के लेखन या इस विधा जैसी रचना से वे सीधे जुड़े हुए नहीं थे. जोशीजी ने एक गंभीर रचनाकार और एक ईमानदार रेडियो प्रोड्यूसर के रूप में दूसरे दिन श्री रामचंद्र टंडन से कहा था कि अमुक साहित्यकार तो वैसे मेरे अत्यंत आत्मीय हैं, पर कथा-साहित्य पर विषय प्रवर्तन के लिए यह नाम उचित नहीं लगता. टंडनजी ने जोशीजी को बताया था कि इस बारे में तो महानिदेशक द्वारा भी निर्णय ले लिया गया है, अब कुछ होना संभव नहीं. यह सुनकर जोशीजी ने टंडनजी से कहा था कि "यह तो ठीक है, पर हम लोग आकाशवाणी में किये जानेवाले साहित्यिक कार्यक्रमों के लिए विशेषज्ञ के रूप में हैं, आप उचित समझें तो मैं महानिदेशक महोदय को अपनी बात बता दूं, अभी भी समय है ताकि वे भी इस पर एक बार पुनः विचार कर लें". टंडनजी से बात करके जोशीजी ने आकाशवाणी के तत्कालीन महानिदेशक

और एक प्रख्यात नाटककार श्री जगदीश-चंद्र माथुर को टेलीफोन मिलाया. जोशीजी महानिदेशक के निजी सहायक से बोले कि "मैं माथुर साहब से कुछ आवश्यक बात करना चाहता हूं," थोड़ी ही देर में निजी सहायक ने उत्तर दिया, "माथुर जी ने कहा है कि अभी वे किन्हीं आगंतुकों के साथ व्यस्त हैं. आप एक घंटे बाद पुनः टेलीफोन कर लें." इस अवसर पर मैं जोशीजी के कमरे में ही बैठा था. जोशीजी के मुखमंडल पर हलकी-सी गंभीरता थी, मुझे कुछ पता नहीं था कि इसका कारण क्या है? मैंने पूछा तो जोशीजी ने मुझे कुछ न बताते हुए, केवल इतना ही कहा था कि "कोई बात नहीं. बहुत आनंद है अवस्थी-जी." उनके स्वर में मैंने कहीं कुछ चोट अनुभव की थी. थोड़ी देर बाद उनसे आज्ञा लेकर मैं उनके कमरे से उठकर बाहर आ गया.

'संगम' कार्यकाल में जोशीजी के पास श्री माथुर के बड़े सम्मानसूचक पत्र आते थे, कभी-कभी वे 'संगम' में प्रकाशित होने के लिए कुछ रचनाएं भी भेजते थे. यह सब जानते हुए मेरे मन में यह विचार तो आ ही नहीं सकता था कि माथुरजी से जोशीजी कभी रुष्ट होंगे, पर बात इसके ठीक उल्टी थी. रात को भोजन करके जोशीजी से अक्सर मैं कुछ पूछता और उनसे सुनकर बहुत कुछ सीखता भी था.

और दिनों की अपेक्षा उस दिन जोशी जी रात के भोजन के बाद हुक्का पीते हुए कुछ ज्यादा खामोश थे, मैंने कहा, "जोशी जी, आज तो साहित्य-समारोह के बारे में महानिदेशक से आपकी बात नहीं हो पायी." मेरा इतना कहना था कि जोशीजी मुझे अपनी पूरी नज़रों से देखते और हल्के अट्टहास की मुद्रा में बोले थे, "अवस्थीजी, आज तो आनंद आ गया, खैर छोड़िए, मैं तो कल ही मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से इस बार साहित्य-समारोह में शामिल होऊंगा."

मैं कुछ समझा तो, पर बात को और अधिक खोलने के लिए मैंने फिर कहा, "जोशीजी, क्षमा करें मैं समझा नहीं कल मुक्त होने की बात को." इस बार जोशीजी बड़े मर्माहत लेकिन पूरे स्वाभिमानी स्वर में बोले, "बंधु, अब रेडियो में रहकर क्या पाना है? आज तो वह मिला जो जीते जी मरण है. रेडियो में आने के पहले माथुरजी मुझे बड़े प्रेम-पूर्ण पत्रादि लिखते थे, मैं सोचता था, एक लेखक इतने महत्त्वपूर्ण पद पर हैं, शायद हम लोग आकाशवाणी जैसे सशक्त माध्यम से कुछ महत्त्वपूर्ण काम कर सकें, पर आज तो आनंद आ गया, जब टेलीफोन पर माथुरजी ने स्वयं बात न करके अपने निजी सहायक से कहला दिया कि वे व्यस्त हैं. अगर मैं रेडियो में न आता तो उनका यह रूप कैसे समझता. इससे बड़ा अपमान और क्या होगा? वह स्वयं ही फोन से अपनी व्यस्तता बता सकते थे, पर वह तो अब पूरे महानिदेशक हैं. मैं कल ही त्यागपत्र देकर तुरंत मुक्त हो जाऊंगा." यह सुनकर मैं स्वयं ही बहुत दुखी हो गया.

दूसरे दिन जोशीजी ने चुपचाप अपना त्यागपत्र भिजवा दिया. श्री टंडनजी भी साउथ ऐवन्यू में ही रहते थे. उन्हें दिन में जोशीजी के त्यागपत्र के बारे में पता चल गया था. शाम के लगभग सात बजे होंगे, जोशीजी के साथ बरामदे में बैठा मैं चाय पी रहा था, तभी कॉलबेल बजी. मैंने दरवाज़ा खोला, सामने लखनऊ वाला सफेद चुन्नटदार कुरता और ढीले पाजामे के साथ पावों में कामदार नागरा पहने श्री टंडनजी खड़े थे. मैंने उन्हें आदरपूर्वक भीतर आने का आग्रह किया. जोशीजी ने बड़ी प्रसन्नता के साथ टंडनजी का जोर-दार स्वागत किया. त्यागपत्र देकर जोशीजी पूरे दिन बेहद खुश थे. मैंने टंडनजी को चाय का प्याला दिया, टंडनजी ने थोड़े-थोड़े अधिकारी और दयालु स्वर में जोशीजी से कहा, "जोशीजी, आपने तो गजब कर दिया, आखिर आप त्यागपत्र देने से पहले हम लोगों को भी कुछ बताते. मैं तो परेशान हो गया, यह आपने ठीक नहीं किया." जोशीजी सिगरेट का लंबा कश खींचकर पहले कुछ क्षण मुस्कराये, फिर टंडनजी को उत्तर देते हुए बोले, "मित्र, आपकी बड़ी कृपा है. इलाचंद्र जोशी को तो लोग आजीवन आपकी ही तरह समझते रहे हैं, पर टंडनजी बात ऐसी नहीं है. आप क्या सोचते हैं, कि क्या जगदीशचंद्र माथुर को ऐसा ही महान होना चाहिए कि वह फोन पर मुझे स्वयं उत्तर न देकर निजी सहायक के माध्यम से अपनी व्यस्तता का आभास दें. टंडनजी, इससे बड़ा अपमान क्या होता है. अतः बंधु, मैं तो आपसे फिलहाल इतना आग्रह करूंगा, कि आप तो यहां डटे रहें, आप आकाशवाणी के चक्कर के लिए अत्यंत ही योग्य व्यक्ति हैं. मेरा क्या है? मैं तो आज भी वही हूं, जो कलकत्ते के फुटपाथों पर आवारा घूमता हुआ आनंद कर रहा था. आपकी बड़ी कृपा, आपने मेरे लिए इतनी चिंता की. अच्छा धन्यवाद."

टंडनजी कुछ ही क्षणों में चले गये, पर मैं जोशीजी के सहज व्यक्तित्व के भीतर वाले इस गरिमायुक्त स्वाभिमान के आगे समर्पित था. आज जब यह सब याद आता है, तो मन-ही-मन सोचता हूं, जाने अब कहां हैं ऐसे लोग!

कुमारी बनाम श्रीमती

आकाशवाणी के दिनों की एक और घटना, जिससे पता चलता है कि जोशी-जी के मन में नारी के प्रति कितना सम्मान है. दिल्ली आकाशवाणी के छात्रीय कार्यक्रम में स्वर्गीया रजनी पनिकर के साथ एक आधुनिकनुमा महिला काम करती थीं, लोगों से मिलने-जुलने में वे अत्यंत मधुर और मुक्त थीं. आकाशवाणी के अधिकारियों के अतिरिक्त उनकी पहुंच कुछ तत्कालीन नेताओं तक भी थी, इसलिए वे कार्यालय में जरूरत से कुछ अधिक ही निडर और काम न करने वाली थीं. उन्होंने एक दिन मुझसे बड़ी आत्मी-यता से कहा कि मैं उन्हें जोशीजी से मिलाऊं. उस दिन तो नहीं, पर दूसरे दिन मैं उन्हें जोशीजी के कमरे में ले गया और जोशीजी से उनका कार्यालयी परिचय देकर उन्हें मिला दिया. नमस्कार के पश्चात, उन्होंने जोशीजी से कहा कि उन्होंने उनके करीब-करीब सभी उपन्यास पढ़े हैं. जोशीजी ने उनसे सहज ही पूछा कि उन्हें उनका कौन-सा उपन्यास सबसे अधिक रुचिकर लगा. उत्तर में उन्होंने कहा था कि उन्हें 'संन्यासी' सबसे अच्छा लगा. जोशीजी ने एक बार उनसे फिर पूछा, "अच्छा तो उस उपन्यास में आपको किस चरित्र ने अधिक प्रभावित किया?"..

वे बेचारी अब बिल्कुल चुप थीं. जोशीजी ने उनके बात करने के हाव-भाव से शायद पहले ही समझ लिया था कि वे बिना कुछ पढ़े ही जोशीजी पर उनकी एक

पाठिका होने का रूपक रच रही हैं. एक गंभीर चिंतक होने के नाते जोशीजी ने बात को यहीं समाप्त कर दिया, पर वे फिर बोलीं, "आप मुझे पढ़ने के लिए अपनी कोई पुस्तक दें." उन्हीं दिनों जोशी जी का एक कहानी संग्रह प्रकाशित होकर आया था, जिसकी कुछ प्रतियां प्रकाशक ने उन्हें भेजी थीं. मेज़ के ड्रार में से एक पुस्तक निकालकर उन्होंने उन्हें दी.

उन्होंने आग्रह किया कि पुस्तक पर जोशीजी अपने हस्ताक्षर करें. आग्रह मानते हुए जोशीजी ने उनसे कहा, "क्षमा कीजियेगा, आप अपने नाम के साथ क्या लिखती हैं, कुमारी अथवा श्रीमती?" उन्होंने आधुनिक लगने वाली शैली में थोड़ी शहीदी मुस्कान के साथ उत्तर दिया, "जोशीजी, कोई हर्ज़ नहीं, आप चाहे कुमारी लिखें, चाहे श्रीमती, सब ठीक है." जोशीजी किताब पर कलम रखे बड़ी अनोखी शैली में मुस्कराये, बोले कुछ नहीं. लेकिन मेरी हालत बड़ी खराब थी. मैं सोच रहा था, इस महा-योगिनी के चक्कर में, पता नहीं जोशीजी मेरे बारे में क्या सोचें. पर अंत में जोशी जी ने पुस्तक में लिखा, 'बहन. . . . अमुक को'. जो महिला, कुमारी और श्रीमती जैसे दो अर्थों में भेदहीन थी, उसे आप सहज ही समझ सकते हैं, पर जोशीजी ने उसे भी बहन ही संबोधित किया था.

जो लिखते बना लिखा

बात 1968 की है. मुझे अपने निवास-स्थान पटौदी हाउस में एक रात तीन महारथियों के आतिथ्य का सौभाग्य मिला था. वर्माजी (भगवतीबाबू), नागरजी (अमृतलालजी) और जोशीजी. सामने वाले बहुत छोटे-से कमरे में किसी तरह तीन बिस्तर लग गये थे. रात्रि-भोजन के बाद कुछ बातें छिड़ीं. वर्माजी बात शुरू करते हुए बोले, "मैं तो जीविका के लिए लिखता हूं, इस बारे में मैं स्पष्ट हूं, और साहित्य का पता तो चलता है कि लोग उसे कितना पढ़ते हैं. पुस्तकों से जितनी रायल्टी प्राप्त होती है, उससे अंदाज़ होता है कि वे कितनी संख्या में बिकती हैं." वर्माजी सिद्धांत रूप में ज़ोर दे रहे थे कि अधिकाधिक पुस्तकें बिकना ही लेखक की सफलता है.

नागरजी, वर्माजी से सहमति प्रकट करते हुए बोले, "भगवती बाबू, औरों का पता नहीं, आप तो हमारे नेता हैं, आप बिल्कुल ठीक कहते हैं," वर्माजी ने अपनी बात को आगे बढ़ाया और बोले, "जोशीजी आपको याद होगा, लखनऊ में मैं आपसे बराबर कहता था कि कुछ कर-कराकर वहां ज़मीन लें और मकान बना लें, पर आपने ध्यान ही नहीं दिया."

इस समय तक जोशीजी निस्संग भाव से सिगरेट पी रहे थे, जब वर्माजी ने उन्हीं से कुछ कहा तो जोशीजी ने कहा, "मित्र बात तो आप ठीक ही कह रहे हैं, पर मैं तो हमेशा बस ऐसे ही रहा, जो करते बना किया, जो लिखते बना लिखा. अब मैं क्या कहूं कि क्या होगा, पुस्तकों का हाल भी जो है, ठीक ही है."

अब वर्माजी थोड़ा ऊंचे स्वर में बोले, "देखिए जोशीजी, यह तो कुछ पलायनवादी मनोवृत्ति है. ठीक है, पर पाठकों के लिए हमें मज़े में किस्सा-कहानी लिखनी चाहिए. मैं आपको कहता हूं कि मेरा अमुक उपन्यास इतना क्यों बिका, बाकी आदर्श-वादर्श भी ठीक ही है." इस बार जोशीजी अपने चश्मे को उतारते हुए वर्माजी की ओर देखकर बोले, "वर्माजी, क्षमा कीजियेगा, लेखक पुस्तकों से अधिक अपने पाठकों और समाज के भीतरी विकास के लिए कहीं अधिक उत्तरदायी है. आप तो एक जमे हुए लेखक हैं, आपसे ज़्यादा क्या कहूं, पर माफ़ कीजियेगा, आपके अनुसार अगर किताबें अधिक बिकना ही लेखक होने की सफलता है, तो फिर कुशवाहाकांत हम सबसे आगे है." वर्माजी यह सुनकर कुछ कहने को तैयार हुए, तब तक नागर जी अपनी रसभीनी शैली से बात के क्रम को कोई और मोड़ देकर हंसने लगे.

इन तीन महारथियों की इस रात्रि-वार्ता के मात्र दो श्रोता थे, एक मैं और दूसरी मेरी पत्नी. किसी तरह जब यह बात रुकी तो हम दोनों ने महसूस किया था कि आज तो इस छोटे घर में हमें कुछ बड़े और कुछ कड़े विचार सुनने को मिले. वह रात हमारे लिए एक बड़ी रात है.

एक दिन कार्यालय में एक मित्र से मेरी कुछ कड़ुवी बात हो गयी थी. मैं मन ही मन बहुत क्रोधित था. जोशीजी के साथ रात का खाना खाकर, बाद में बातों-बातों में मैंने उनको बताया कि आज अमुक के साथ यह हुआ, मेरे बात करने के ढंग में कुछ क्रोध भी था. उस रात जोशीजी ने मुझे बड़े प्यार से समझाकर एक सीख दी. जोशीजी ने कहा, "देखिए अवस्थीजी, अभी आपके सामने जीवन की बहुत बड़ी यात्रा है. मेरी एक बात आप कहीं मन के किसी कोने में डाल लें. वैसे तो लोग मुझे जाने कैसा सोचते हैं, हो सकता है, आप भी सोचते हों. यह जोशीजी भी विचित्र हैं, पर मित्र, मैंने अपने ढंग से जीवन भर केवल आदमी का ही आनंद लिया है, खैर छोड़िए इस बात को, मैं आपसे कहता हूं, कि आपको किस सीमा तक सहना चाहिए, वर्ना मनुष्य आपकी समझ में कभी आयेगा ही नहीं. अब सुनिए ध्यान से, मान लीजिए एक मनुष्य और एक कुत्ता दोनों में प्राणलेवा भूख है. एक अवसर पर उन दोनों के बीच भोजन आ जाता है. यही क्षण मनुष्य की पहचान का है. इस स्थिति में भी मनुष्य बने रहने का धर्म निभाना है, यानी मनुष्य को चाहिए कि वह पहले कुत्ते को अपना पेट भरने दे; तभी उसको श्वान-वृत्ति की पहचान होगी, वर्ना वह कुत्ते के संस्कारों से ऊपर नहीं जायेगा. इसलिए आपकी अपनी सहन-शक्ति उस सीमा तक होनी चाहिए, जहां पहुंचकर आप लोगों को बिना किसी खास परेशानी के पहचानें. पहचानकर उन्हें सहने का मज़ा ही कुछ और है." —जोशीजी की यह सीख अब तो शायद मेरे संस्कार से जुड़ चुकी है.

मेरी स्मृति और विचारों में जोशीजी के अनगिनत चित्र हैं. इलाहाबाद में एक रात मुझसे उन्होंने कुछ कहते हुए कहा था कि आपसे मन की बहुतेरी बातें करता हूं, पर इनमें से कुछ मेरे जीवन-काल में नहीं कहियेगा. मैं अपने को बहुत सौभाग्यवान मानता हूं कि मैं उनकी किसी इच्छा के योग्य हो सका. मैं तो पूरी तरह मानता हूं कि जोशीजी जैसा ऋषिमन लेखक और विचारक मुझे न मिलता तो मुझे अपने जीवन के अंधेरों से आंशिक मुक्ति भी नहीं मिलती. उनसे मुझे जो कुछ मिला, उसी ने मुझे जीवन के किसी दैन्य के आगे गिरने नहीं दिया. उनके चरणों में मैं अपनी पूरी निष्ठा के साथ समर्पित हो सकूं, अभी तो केवल इतना ही. □

इलाचंद्र जोशी का पत्र राजेंद्र यादव के नाम

'शरत् ने ग़लत मनोवैज्ञानिक रास्ता पकड़ा !'

▣ इलाचंद्र जोशी

प्रिय नंदन,

जैसा तुम चाहते थे, श्री इलाचंद्र जोशी का पत्र भेज रहा हूं. तुम इसे जरूर प्रकाशित करो. 8-7-48 को लिखे इस पत्र और आज के बीच तीस साल गुज़र गये हैं. तब मैं मुश्किल से 19-20 वर्ष का रहा होऊंगा. मैंने खुद इस पत्र को दसियों साल बाद पढ़ा होगा. बहुत प्रेरणाप्रद लगा. खुद क्या लिखा था, यह याद नहीं है. उन दिनों उनके सारे उपन्यास पढ़े थे और 'निर्वासित' को पढ़कर लगा कि उसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के संवेदनात्मक स्वरूप में बहुत अंतर है. जैसे दो अलग धरातलों पर लिखी गयी चीज़ें हैं. मुझे लगा, या तो समय का बहुत अंतराल है या फिर पूरे कथानक पर पुनर्विचार किया गया है. लगता है उसकी नायिका या अन्य पात्रों पर शरच्चंद्र के प्रभाव का भी मैंने आरोप लगाया था.

लेकिन इस पत्र से दो बातों की तरफ आज के लेखक-पाठक का ध्यान दिलाना चाहता हूं—एक तो यह कि जोशीजी उस समय 'संगम' साप्ताहिक के संपादक थे. मेरी 'धमकी' कहानी वहां विचारार्थ पड़ी थी और मैंने उनकी लेखकीय क्षमता या मौलिकता में शंका उठाते हुए पत्र लिखा था. है तुम्हारे आज के किसी लेखक-संपादक में यह दम-खम (इंटेग्रिटी) कि बिना उसे महान-श्रेष्ठतम, परम प्रतिभावान इत्यादि-इत्यादि माने कोई अपनी रचना उसकी पत्रिका में छपा ले? बल्कि आज तो हर लेखक को अपने पत्रों, लेखों, परिचर्चाओं में तरह-तरह से लेखक-संपादक महोदय की रचनाओं या व्यक्तिगत उपलब्धियों की चर्चा करके उसकी 'महानता' में उसे खुद विश्वास दिलाना पड़ता है—तब कहीं जाकर रचना प्रकाशित हो पाती है. सिर्फ चमचा बनने और बनाने वाले आज के लेखक-संपादकों की पीढ़ी से कितनी अलग थी वह पीढ़ी!

दूसरी बात : एक नये लेखक को जोशीजी ने किस धैर्य और झुंझलाहट भरी आत्मीयता के साथ (हालांकि आत्मश्लाघा की हद तक आत्मविश्वास पूर्वक) अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है. शायद हम लोग नहीं कर पाते.

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उन दिनों जोशीजी ने अपने प्रचंड विद्वत्तापूर्ण लेखों और गहन अध्ययनशील नये दृष्टिकोण से हिंदी में आतंकपूर्ण तहलका मचाया हुआ था. अगर मैं कहूं कि अध्ययन और लेखन के प्रति उनकी आस्था ने ही हम जैसों को प्रोत्साहित किया तो ग़लत नहीं होगा.

जोशीजी की सृजन सक्रिय दीर्घायु की कामना उन तक पहुंचा सकोगे?

सस्नेह,

राजेंद्र यादव.

355, कर्नलगंज,
इलाहाबाद
8-7-48

प्रियवर,

आपका पत्र मिला. इसके पहले भी आपका एक पत्र मिला था और संभवतः उसके भी पहले एक और. जहां तक मुझे याद है, मेरे 'निर्वासित' के संबंध में आपने पहले भी कुछ इसी तरह के प्रश्न किये थे, जो मुझे बड़े विचित्र लगे थे. मैंने उन्हें सर्वथा उपेक्षणीय समझकर टाल दिया था और मैं उन्हें भूल भी गया था. पर आपने फिर दो-एक बार उनकी याद भी दिलायी और अब कार्ड में उन्हें फिर दुहराया है. इसलिए न चाहने पर भी मैं उत्तर देने को बाध्य हूं. क्योंकि इस बार भी मैं टाल जाऊं तो संभवतः फिर एक और पत्र द्वारा आप उन्हीं प्रश्नों को दुहरायें.

मेरे पास अक्सर विभिन्न नवयुवक लेखकों के पत्र आते रहते हैं जिनमें आप ही की तरह मेरी विविध औपन्यासिक रचनाओं के संबंध में विचित्र-विचित्र प्रश्न पूछे जाते हैं. मैं उनका उत्तर इसलिए नहीं देता कि एक तो समय व्यर्थ नष्ट होता है, तिस पर यदि प्रश्नकर्त्ताओं की निपट अज्ञता की ओर उनका ध्यान दिखलाया जाये तो वे स्वभावतः असंतुष्ट हो उठते हैं. बात सीधी-सी यह है कि हमारे नवयुवकगण अनुभूतिशील तो अधिक होते हैं, पर अनुभवशील तथा अध्ययनशील नहीं होते. अपने अत्यंत स्वल्प ज्ञान से वे इस कदर फूल उठते हैं कि फिर किसी दूसरे के व्यापक तथा गहन ज्ञान को पचा सकने अथवा धारण कर सकने की शक्ति ही उनमें नहीं रह जाती. तिस पर तुर्रा यह कि यदि कोई उनकी अज्ञता की ओर निर्देश करे तो वे बुरी तरह तिलमिला उठते हैं. पर आपके पत्रों से मुझे यह आभास मिलता है कि आपने जो प्रश्न पूछे हैं, वे किसी भी दांभिकता-वश नहीं, बल्कि सरल जिज्ञासु भाव से. इसलिए आपके प्रश्नों का उत्तर देना मेरा कर्त्तव्य हो जाता है. मैं आशा करता हूं मेरे उत्तरों को भी (चाहे वे प्रकट में कैसे ही कड़े क्यों न हों) आप सरल भाव से, आत्मीयतापूर्वक ग्रहण करेंगे.

आपके पहले प्रश्न के उत्तर में मैं यह सूचित करना चाहता हूं कि 'निर्वासित', 'सरस्वती' में धारावाहिक रूप से दो वर्ष तक निकला था, पर बीच में मैं बीमार पड़ गया था, इसलिए 'सरस्वती' वालों ने उसे अधूरे में समाप्त कर दिया, शेषांश मैंने बाद में लिखकर पूरा किया. पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि बाद में लिखने के कारण मैंने प्लाट ही बदल दिया. पूरे उपन्यास का प्लाट मैंने आरंभ में ही तैयार कर लिया था. उपन्यास के 'निर्वासित' नाम से ही इस बात का पता लग जाना चाहिए, उपन्यास के नायक महीप के निर्वासन का प्रकरण उपन्यास के अंत में आता है. पर उसी अंतिम घटना के आधार पर उपन्यास का नामकरण पहले ही किया जा चुका था. यह ठीक है कि प्लाट की प्रारंभिक कल्पना तथा उपन्यास की समाप्ति के बीच समय का काफी व्यवधान रहा है, जिसके फलस्वरूप एक-आध टैक्नीकल विषय में कुछ परिवर्तन करना पड़ा है, पर मूल दृष्टिकोण में तथा प्रधान टैकनीक में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है.

शारदा देवी के संबंध में आपने जो प्रश्न किया है वह इतना अधिक अज्ञतापूर्ण है कि उतने ही से स्पष्ट हो जाता है कि आपने न तो विश्व-उपन्यास साहित्य का कोई विशेष अध्ययन किया है, न शरत् के उपन्यासों पर कोई गंभीर विवेचना कर सकने का अवकाश आपको प्राप्त हुआ है, न मेरे ही सब उपन्यास पढ़कर मेरे दृष्टिकोण तथा मेरी टैकनीक से आप परिचित हैं और न आधुनिकतम उपन्यास के नये संदेश के संबंध में प्रकाश डालने वाले मेरे दर्जनों निबंधों का ही अध्ययन करने की सुविधा आपको प्राप्त हुई है. जीवन और जगत के संबंध में शरत् के और मेरे दृष्टिकोणों में मूलगत अंतर है—ज़मीन और आसमान का. शरत् ने अपने दुर्बल पात्रों को भी महनीयता प्रदान करके ग़लत मनोवैज्ञानिक रास्ता पकड़ा है जबकि मेरे अपेक्षाकृत सबल पात्रों में भी तीव्र मनोविश्लेषण के प्रकाश में दुर्बलताएं उभर-उभर आती हैं. शरत् के मनोविज्ञान का स्तर इतना नीचा है कि वह आज के युग के योजनों आगे बढ़े हुए अत्यंत गहन, जटिल और व्यापक मनोविज्ञान के ककहरे की स्थिति को भी नहीं पहुंच पाता और वह प्रारंभिक शैशवीय मनोविज्ञान, साधारण से भाव-विज्ञान (साइंस ऑव इमोशंस) की श्रेणी से आगे नहीं बढ़ा हुआ है. अंतर तथा बाह्य जगतों की सघन अंधकारमय तथा ज्वलंत प्रकाशमय परिस्थितियों के जिन विराट भूकंपीय संघर्षणों का परिचय आधुनिकतम उपन्यासों के जटिलतम प्रकृति पात्रों के चरित्र-चित्रण में मिलता है, उसके एक कण का भी आभास शरत् के पात्र-पात्रियों में दुर्लभ है. इस तथ्य को भी मैं कई निबंधों द्वारा प्रमाणित कर चुका हूं. और उन तर्कों को इस पत्र में फिर से दुहराना अनावश्यक समझता हूं. आज के युग में हिंदी की औपन्यासिक दुनिया कैसे प्रचंड क्रांतिकारी कदमों द्वारा अपने पीछे की ज़मीन को तेज़ी से पीछे छोड़कर किस कल्पनातीत रूप से आगे बढ़ चुकी है, इसका अंदाज़ा केवल घिस-फुट रूप से कुछ अंग्रेज़ी, बंगला तथा हिंदी उपन्यासों को पढ़कर छिछली दृष्टि से उनकी तुलना करने से नहीं जगाया जा सकता.

आजकल के (हिंदी साहित्य के) नये आलोचकों का तुलनात्मक ज्ञान कितना हास्यास्पद है इसके प्रमाण में मैं अपने 'पर्दे की रानी' नामक उपन्यास पर लिखी गयी विभिन्न आलोचनाओं को पेश कर सकता हूं. एक आलोचक ने लिखा कि उपन्यास तो बहुत सुंदर है, पर वह बर्नार्ड शॉ के एक विशेष नाटक की नकल है, दूसरे ने लिखा कि स्कॉट के किसी एक विशेष उपन्यास से लेखक को (अर्थात मुझे) 'पर्दे की रानी' की प्रेरणा प्राप्त हुई है, तीसरे ने यह निर्देशित किया कि उक्त दोनों रचनाओं से नहीं, बल्कि दोस्तोयव्स्की के एक उपन्यास की नायिका में (उपन्यास का नाम भी बताया गया था) 'पर्दे की रानी' की नायिका के चरित्र का मेल मिलता है, चौथे महोदय ने बताया कि 'प्राइड एंड प्रेजुडिस' नामक विख्यात रचना से लेखक ने केंद्रीय भाव चुराया है, पांचवें ने रवींद्रनाथ के 'घरे बाहिरे' की नकल बतायी, छठे ने कालिदास की शकुंतला को 'पर्दे की रानी' की मूल प्रेरणा का सूत्र माना, सातवें ने हेवलॉक एलिस के मनोवैज्ञानिक दृष्टांतों को मेरी रचना का आधार घोषित किया, आठवें ने उसे फ्रायडीक मनोविज्ञान पर लिखा गया एक अच्छा भाष्य करार दिया, नवें ने ह्यूमा के 'कार्मेलिया' से उसका मेल पाया. इन भले आदमियों में से किसी ने भी यह नहीं सोचा कि यह भी संभव हो सकता है कि बिलकुल मौलिक आधार पर, सर्वथा नवीन दृष्टिकोण को अपनाकर, जीवन और जगत की एकदम नयी परिस्थितियों के अंतर्केंद्रीय भावों के मूलतः नये मानों के आधार पर वह उपन्यास लिखा हो. किसी भी हिंदी लेखक की प्रतिभा की मौलिकता पर हमारे दास-मनोवृत्ति-पीड़ित आलोचक जैसे विश्वास ही नहीं करना चाहते. एक अत्यंत प्रतिष्ठित तथा माननीय साहित्यिक बंधु से मैंने 'पर्दे की रानी' की पूर्वोक्त आलोचनाओं की चर्चा की तो उन्होंने अत्यंत गंभीर रूप से कहा कि किसी भी उपन्यास के लिए इससे अधिक गौरव की बात दूसरी नहीं हो सकती और उसकी श्रेष्ठता का इससे बड़ा प्रमाण दूसरा नहीं मिल सकता कि उसका प्रेरणासूत्र विभिन्न आलोचकगण विभिन्न रचनाओं को बतलावें.

'पर्दे की रानी' का दृष्टांत कुछ लंबा अवश्य हो गया है पर उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आज के युग के ज्ञान नव-दुर्विदग्ध आलोचकों का अध्ययन तथा अनुभव किस हद तक सीमित होते हैं, साथ ही तुलनात्मक आलोचना संबंधी उनका ज्ञान कितना हास्यास्पद होता है.

पर पूर्वोक्त दृष्टांतों में एक बात पर आपने गौर किया होगा, वह यह कि 'पर्दे की रानी' को नकल बताने का प्रयास करने पर भी, किसी भी आलोचक ने उस पर शरत् का कोई प्रभाव बताने का दुस्साहस नहीं किया. केवल 'पर्दे की रानी' के संबंध में ही नहीं, बल्कि मेरे किसी भी उपन्यास के संबंध में यह लांछन किसी भी आलोचक ने (चाहे वह समझदार हो या मूर्ख) नहीं लगाया कि उसमें शरत् का प्रभाव किसी भी रूप में है.

इसलिए 'निर्वासित' की शारदा देवी के संबंध में आपका यह प्रश्न कि शरत् के किस पात्र (पात्री?) का प्रभाव पड़ा है, मुझे (क्षमा कीजियेगा) 'मारूं घुटना फूटे आंख' की तरह लगता है. मैं आपकी

विद्वता की वास्तव में प्रशंसा करूंगा, यदि आप शरत् के किसी उपन्यास की अथवा देशी या विदेशी भाषाओं में रचे गये किसी भी अन्य औपन्यासिक कृति की, किसी भी पात्र में वही तूफानी मनोविज्ञान, वही जटिल जालमय सामाजिक तथा राजनीतिक ज्वालास्फोट, वही मनोविश्लेषिक आधार पा सकें जो कि शारदा देवी के चरित्र में और परिस्थितियों में वर्तमान है.

धीराज के संबंध में आपका प्रश्न और भी अधिक इस बात की पुष्टि करता है कि आप मेरे विचारों से, मेरी टैकनीक से, मेरी विश्लेषण-पद्धति से किस हद तक अनभिज्ञ हैं.

धीराज जिस टाइप का दुर्बल प्राण, आवश्यकता से अधिक भावुक, अहंवादी और पलायनशील प्राणी है उसकी तीव्र निंदा मैं अपने विविध उपन्यासों तथा विभिन्न निबंधों में करता आया हूं.

'निर्वासित' में मैंने उसके किसी कृत्य के प्रति न तो सहानुभूति ही प्रकट की है और न असहानुभूति, वह तो केवल एक औपन्यासिक चरित्र है, जो उपन्यास के दूसरे चरित्रों की जटिल गुत्थियों को सुलझाने में किसी हद तक सहायक सिद्ध हो सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं.

मैं 'निर्वासित' की प्रस्तावना में स्पष्ट कर चुका हूं कि उपन्यास के किसी भी पात्र के विचारों से मेरे व्यक्तिगत विचारों का मेल बिठाना भ्रामक सिद्ध होगा.

आप यह प्रश्न भी कर सकते हैं कि महीप के विचारों में जो परिवर्तन होता है क्या वे मेरे विचार हैं? अथवा प्रतिमा द्वारा उसके मूलगत विरोध में जो प्रचंड आवेगपूर्ण तर्क उपस्थित किये जाते हैं क्या वे भी मेरे विचार हैं? इसका अर्थ यह होगा कि मैं दोनों मूलतः विरोधी विचारों का पोषक हूं, जो कि असंभव है. उसी प्रकार उपन्यास के विविध पात्र-पात्रियों के चरित्र-चित्रण में उनके विविध मनोभावों, विचारों तथा सिद्धांतों पर प्रकाश डाला गया है, जो बहुधा एक-दूसरे के विरोधी सिद्ध होते हैं. तब क्या मैं उन सबके लिए उत्तरदायी हूं?

बात स्पष्ट यह है (जैसा कि मैं बता चुका हूं) कि मेरी विचारधारा, आदर्श, टैकनीक, दृष्टिकोण, शैली और मनोवैज्ञानिक पद्धति से आप अभी स्पष्ट ही बहुत अनभिज्ञ हैं.

आपसे मेरा नम्र निवेदन है कि यदि आप मेरी किसी भी रचना के संबंध में कुछ भी लिखने का विचार करें तो उसके पहले मेरी पूरी रचनाओं का अध्ययन खूब गहराई से कर लें और फिर मूलतः नये मानदंडों के आधार पर उन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें. ऐसा न करने से आपका सारा प्रयास निरर्थक और आपके लिए हास्यास्पद सिद्ध होगा.

क्या आपने मेरे 'प्रेत और छाया' की भूमिका पढ़ी है? इधर पंतजी के संबंध में जो मेरी लेखमाला 'संगम' में निकली थी, उस पर आपकी दृष्टि गयी है?

कुछ भी हो मैं आशा करता हूं कि आप मेरी स्पष्टोक्ति के लिए क्षमा करेंगे और उससे लाभ उठायेंगे. आपकी कहानी 'धमकी' शीर्षक से 'संगम' के इसी अंक में निकल रही है. आशा है आप स्वस्थ होंगे.

विनीत
(इलाचंद्र जोशी)

(पृष्ठ ५० का शेष)

कोई अनुभव कभी हुआ ही नहीं. प्रेम की यह 'हाय . . . हाय . . .' वाली अनुभूति से मेरा कभी वास्ता पड़ा ही नहीं. मैंने ऐसे वेदनायुक्त-प्रेम के पात्र से साक्षात्कार ही नहीं किया. समझदार आदमी उससे अलग ही रहा है.

केशव : प्रेम को आप क्या केवल 'हाय-हाय' का ही प्रतीक मानते हैं?

जोशीजी : प्रेम जहां शक्ति का पर्याय बन जाता है, वहां वह व्यक्ति को न तो गिराता है और न दीन बनाता है. वह मनुष्य को ऊपर उठाने में समर्थ होता है. उसके भीतर आत्मविश्वास जगा देता है. लेकिन यह तथाकथित आधुनिक प्रेम! यह केवल चरम मूर्ख और हास्यास्पद बनाकर छोड़ता है.

केशव : इन दिनों देश में जो राजनीतिक उलट-पलट हुई, आप उसमें कहीं कोई सार्थक संदर्भ देख पाते हैं?

जोशीजी : घोर निराशा है. अपनी राय सुनता कौन है? देश की राजनीति सत्ता और गद्दी में बंध गयी है. इस देश के जैसा तमाशा न कहीं देखा न सुना. यहां जनतंत्र—कभी भी सही अर्थों में आयेगा—ऐसा भरोसा उठ गया है. गांधी इस देश की राजनीति—या पूरे देश की धुरी था. आज भी वह उतना सार्थक है. उस पर से निगाह नहीं हटनी चाहिए.

केशव : जोशीजी, अब आपकी कौन-सी महत्त्वाकांक्षा शेष रह गयी है?

जोशीजी : एक बात कहूं?—मेरे जीवन की कोई भी साध—कोई भी महत्त्वाकांक्षा कभी पूरी ही नहीं हुई. जब भी मैं किसी यात्रा पर निकला तो मेरे साथ एक छाया भी चली. हमेशा ही ऐसा हुआ कि उस यात्रा का रस वह छाया ले गयी और मुझे उसका तलछट सौंप गयी. मेरे ही भीतर वह अजनबी था जो हमेशा सारा रस, सारतत्व खींच लेता था और मुझे भटकने के लिए छोड़ देता था. अभी मैं बाहर ही बाहर भटक रहा हूं. अभी मैं घर नहीं लौट पाया हूं. □

घूंघट

कुलवंत सिंह विरक
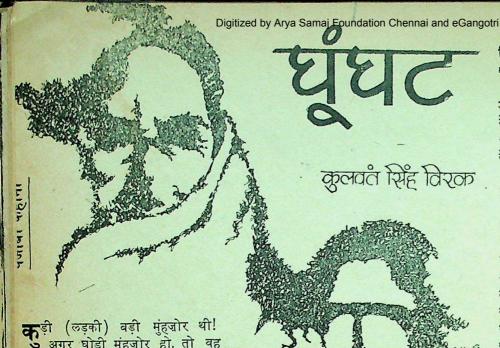
कुड़ी (लड़की) बड़ी मुंहज़ोर थी!

अगर घोड़ी मुंहज़ोर हो, तो वह कंडियाले (कंटीले रास्ते) और सवार की कोई परवाह नहीं करती. मुंह उठाये सरपट भागती, वह न रोके रुकती है और न मोड़े किसी तरफ़ मुड़ती है.

मगर कुड़ी के वास्ते न कोई कंडियाला था और न कोई सवार. बस, अकेली मां ही थी, बूढ़ी मां!

कुड़ी दफ़्तर में नौकरी करती थी. उसे सरकारी मकान मिला हुआ था. मकान क्या था, एक बड़ा कमरा था और उसके पीछे गुसल और पाखाना बने हुए थे. सामने बरामदा था और बाहर छोटा-सा आंगन.

मां-बेटी के लिए इतनी जगह पर्याप्त थी. इससे बड़े मकान का उन दोनों ने और करना भी क्या था.... फालतू में साफ़-सूफ़ रखने का झंझट!

वैसे उनका पुश्तैनी मकान तो गांव में था. कुड़ी के भाई-भाभी और बापू वहीं रहते थे. बहन-भाई तो उसके और भी पैदा हुए थे, पर उनमें से कोई नहीं बचा. सिरफ़ वे दोनों ही रह गये. लड़का उम्र में बड़ा था और कुड़ी उम्र में उससे तीन-चार जगह छोटी. पढ़ता तो लड़का भी रहा था, लेकिन वह दसवीं में फेल हो गया, तो बापू ने उसे स्कूल से उठा लिया. पर कुड़ी होशियार निकली. बापू की, अपने बच्चों को उच्च-शिक्षा देने की, साध उसने ही पूरी की. फिर उनके गांव की तरफ़ के एक सरदार ने, जो उसके बापू का परिचित था, उसे दिल्ली के एक दफ़्तर में नौकर करवा दिया.

कुड़ी ने अभी ब्याह नहीं करवाया था. जब भी घर वाले बात छेड़ते, वह कहती "खुद ही कर लूंगी!"

"खैर, खुद कर, पर करवा तो सही."

"करवा लूंगी. आप फ़िक्र न करें!"

वह तनख्वाह में से कुछ पैसे घर वालों को भेज देती. यह उन्हें बहुत अच्छा लगता और वे इससे उस पर और भी भरोसा कर लेते. मां-बाप इसीलिए तो औलाद को पढ़ाते-लिखाते हैं न... कि वह खट-कमाकर उनको भी सुख दे! बस, इसमें कुछ खेदजनक था, तो सिर्फ़ यह कि कंवारी होने की वज़ह से मां को कुड़ी के पास रहना पड़ता था.

"इस अकेली को यहां कैसे छोड़ूं... ऊपर से ज़माना भी कैसा है," मां लोगों से कहती, "कहीं अपना घर-बार बसा ले तो मैं भी जाकर सिर के मालिक (पति) के पास रहूं"

"हुण सुख-नाल एहदा व्याह कर दओ!" लोग कहते.

"देखो, कोई संयोग भी तो लिखा हो न!" वह आधा दोष भगवान के सिर थोप कर, अपने गले से बला उतार देती. मगर मन ही मन वह बहुत डरती कि अगर जल्दी ही इसका रिश्ता न हुआ तो उम्र बड़ी होने पर इससे कौन शादी करेगा. वह उसके पिता से कहती, पर उसकी भी कोई पेश न चलती. अगर कुड़ी पढ़ी-लिखी न होती तो वे किसी भी गांव में उसका रिश्ता कर देते. पर पढ़े-लिखे और नौकरी करते लड़के मेल-जोल में नहीं थे. इधर कुड़ी थी कि पढ़ाई करके और दिल्ली में रह कर कुछ और की और ही निकल आयी थी. वह अब भला गांव में कैसे रह सकती थी!

कोई छोटी-मोटी नौकरी वाला लड़का मिलता भी, तो लड़की बात ही आगे न बढ़ने देती. वह कहती "आप किसी तरह का उपक्रम न करें. ब्याह अपने आप हो जायेगा. जल्दी क्या है?"

वे मन मसोसकर लाचार हो जाते. जो जगह कुड़ी को पसंद नहीं, वहां वे उसका ब्याह कैसे कर सकते थे! क्योंकि वह भी बड़ी मुंहज़ोर थी.

▣

मगर अब मामला कुछ और ढंग से उल्टी तरफ़ चल पड़ा था. कभी-कभी कुड़ी के साथ एक मुंडा (लड़का) भी आने लगा था.

वे दोनों बातें करते हुए आते. मां बाहर बरामदे या आंगन में बैठी होती. मुंडा उसे बड़े आदर से "माताजी पैरीपैना" कहता और कुड़ी के साथ कमरे की तरफ़ चला जाता. कुड़ी चाय बनाती और फिर वे जो कुछ साथ लाये होते, खाते और बातें करते रहते.

किसी मरद से इतना मेल-जोल तो ठीक नहीं! मां सोचती—खास तौर से

मरद संग जिसका कोई आगा-पीछा ही मालूम न हो. . . . . कुड़ी को उसकी इस हरकत पर चेताया जाना चाहिए!

पर चेताये तो चेताये कैसे! कुड़ी बड़ी मुंहज़ोर थी. अगर उसकी यही नीयत है तो वह रोके कहां रुकने वाली है. अगर वह अपने पति या बेटे से कह दे तो कहीं वे कोई बखेड़ा न खड़ा कर दें. सारा घर ही न उजड़ जाये. मामला अगर कत्ल-खून तक न भी पहुंचे, तो भी कमीज़ उठाने पर अपना ही पेट नंगा होगा. . . . .कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि. . . .! सोचती वह असमंजस में पड़ी रही और आखिर उसने फ़ैसला किया कि इस बारे में वह उससे खुद ही बात करेगी.

शाम को कुड़ी आयी तो उसने पूछा, "वह जो मुंडा तेरे साथ आता है, उसका नाम क्या है?"

". . . .!" कुड़ी ने बता दिया.

"शादी-शुदा है या कंवारा?"

"पता नहीं!" उसने कोरा जवाब दिया.

"पीछे. . . . कहां का है?" मां ने लड़के को मूल से जानने की कोशिश की.

"पता नहीं!" उसने फिर उसी तरह जवाब दे दिया.

मां को अब उस पराये अजनबी से भय-सा होने लगा. कुड़ी बिल्कुल उसकी मुट्ठी में आयी प्रतीत होती थी. वह तो उसके साथ कुछ भी कर सकता था. कोख से पैदा करने वाली मां बेगानी हो गयी और वह बाहर का कोई लल्लू-पंजू सगा बन बैठा! उसका क्या भरोसा है? चाहे कुड़ी को कहीं उड़ा ले जाये. कहीं छोड़ आये . . . चाहे हर पहली तारीख को उसकी सारी तनख्वाह अपनी हथेली पर धरवा ले. . . . वह कुछ भी अनाप-शनाप कर सकता है उस के साथ. . . . !

पर मां बेचारी करे, तो क्या करे. लड़की को शहर में नौकरी करवा कर वह जैसे वक़्त की किसी गोह के शिकंजे में फंस गयी थी. फिर भी लोगों के सामने हर बात पर परदा डालने की कोशिश करती.

"यह मुंडा कौन है जो आता है कुड़ी के साथ . . . तुम्हारे घराने का ही होगा!" अड़ोस-पड़ोस में से कोई पूछता, तो वह कहती, "हां, हमारे गांव के खतरियों (क्षत्री) का है. कुड़ी ने दफ़्तर में कोई इम्तिहान देना है. मैंने ही तरला किया था कि कंबख्त, कभी बहिन को भी कुछ पढ़ा-समझा जाया कर. . . इसका भी झमेला खत्म हो. . . . बेचारी कुड़ियों को कहां आती हैं दफ़्तर की बातें. . .बड़ा नेक है बेचारा!" . . . कहने लगा, "यह कौन-सी बड़ी बात है. वे जी-मांजी), मैं समझा दूंगा इसे सब कुछ!"

मां को मालूम था कि लड़की ने दफ़्तर में कोई परीक्षा दी थी और उसमें पास हो गयी थी.

▣

जो कुछ वह खुद सोचती थी उस बारे में वह किसी से कोई बात न करती. मगर अंदर ही अंदर वह मारे चिंता और लज्जा के मुर-मुराती रहती. कुड़ी-मुंडे का आना-जाना, उठना-बैठना बढ़ता ही जा रहा था. उसे समझ न आता कि आखिर वे ऐसी कौन-सी गूढ़ी बातें करते हैं जो दिन-रात कभी खत्म नहीं होतीं. वह उन्हें रोकना चाहती पर सांप के मुंह में छिपकली . . . न उगलते बने, न निगलते! पर आखिर उसने उनकी गूढ़ी बातों में विघ्न डालने का ढंग खोज निकाला. जब-जब वे आकर कमरे में बैठते तब-तब वह कोई काम लेकर अपनी पीढ़ी भी कमरे में ही डालकर बैठ जाती. उस समय वे चाहे उससे कोई बात न करते किंतु आपस में भी कोई भली-मंदी बात न कर पाते. इससे मां का डर चाहे बढ़ जाता किंतु उसे कुछ तसल्ली भी मिलती. कभी वह उनके पास बैठी मटर छील रही होती, कभी मेथी तोड़ने लगती, कभी साग काटने बैठ जाती और कभी दाल चुगने. वे दोनों चोरी-चोरी उसे कहर की नज़रों से घूरते, पर असहाय से कुछ कर न पाते.

एक दिन मां नजदीक ही कहीं पड़ोस में गयी हुई थी. पीछे से कुड़ी-मुंडा आये और जाकर कमरे में बैठ गये. मां आयी तो उसने उत्सुकतावश पहले खिड़की में से झांककर देखा. . . . .देखा और कांपकर रह गयी. मुंडा सहज ही कुड़ी के दोनों गालों को अपनी दोनों हथेलियों में लेकर पलोस रहा था!

मां अपने-आप में लरज-सी गयी . . . वह अंदर भी जाये तो कैसे! मारे गुस्से के वह कुछ भी वाही-तबाही कर डालना चाहती थी किंतु अपनी ही बदनामी के भय से वह असमंजस में पड़ी बावलों की तरह बगलें झांकने लगी. कहीं कोई अड़ोसी-पड़ोसी आ गया तो? वाहे गुरु! यह किस परीक्षा की घड़ी में डाल दिया! पसीना-पसीना हुई वह बाहर आंगन में वहीं बैठ गयी, जहां से उठकर गयी थी.

कुछ पल वह अपने-आप में गुमसुम दिल थाम के बैठी रही. मगर उसकी घबराहट कम न होकर बढ़ती गयी. उसकी आंखों के सामने अनर्थ हो रहा था और वह असहाय-सी कुछ कर नहीं पा रही. गांव होता तो. . . . ! सोचते-सोचते उसे बड़े ज़ोर से पेशाब लग गया. वह झटके से उठ खड़ी हुई. पर अब वो पेशाब करे तो करे किस जगह? जगह तो कमरा पार करके परली तरफ़ थी और कमरे में उसकी अपनी बेटी किसी पराये मर्द के साथ बैठी खेह (तबाह होना) खा रही थी. . . . . कहीं आस-पड़ोस में कर आये? वे क्या सोचेंगे भई, अपने घर क्यों नहीं करती! हो सकता है उन्होंने भी उन दोनों को कमरे में जाते देख लिया हो! इस ख्याल से उसकी कंप-कंपी छूट गयी! . . . नहीं, मैं थोड़ी देर जैसे-तैसे बर्दाश्त कर लेती हूं . . . अभी यह कलमुंहा खुद ही चला जायेगा . . . यह शहर भी कितनी गंदी जगह है. . . .इस तरह की बात कहीं हुई हो, सुनी भी नहीं. . . . हे वाहेगुरु! भूल-चूक माफ कर!

पर अब वह पेशाब करे कहां? वह फिर परेशान हो उठी और उसे ख्याल आया कि गांव में जब वह पति के लिए भत्ता लेकर खेत की ओर जा रही होती थी, तो रास्ते में या बाहर कभी-कभी कई भौंड़े और असामाजिक दृश्यों के नजदीक से गुज़रना पड़ता था; रास्ते के समीप कहीं कोई जना जंगल को बैठा होता, कहीं कोई कुत्ता-कुतिया परस्पर बंधे-से होते. ऐसे मौकों पर वह अपने दुपट्टे से लंबा-सा घूंघट काढ़ कर नज़र नीची डालकर अपनी राह चली जाती थी.

अब भी उसने अपना दुपट्टा ठीक किया लंबा-सा घूंघट काढ़ा और निगाह झुकाये कुड़ी-मुंडे की बगल से कमरे में से गुज़रती परली तरफ चली गयी! □

▣ रूपांतर : रमेश बत्तरा
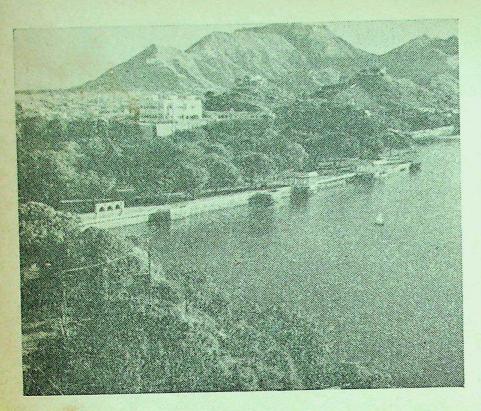
रिपोर्ताज

काला आसमान, पेट की राजनीति और मेरा शहर—अजमेर

■ ईश्वर चंदर

अजमेर पृथ्वीराज चौहान का शहर है, अजमेर ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का शहर है, लेकिन यह रघु का शहर भी है. रघु!...रघु कौन है? रघु एक जेबकतरा है! लेकिन नहीं, रघु एक पूरी परंपरा है. रघु एक पूरे युग का, एक पूरे काल-खंड का मानवीकृत रूप है, इतिहास की शताब्दियों में से छन-निथर कर आयी संस्कृति और परंपरा का मानवीकृत रूप.

वह मुझे नहीं पहचानता—पहचानता भी कैसे! . . . .एक अर्सा बीत गया है—उसने मुझे नहीं देखा है. लेकिन मैंने उसे पहचान लिया है. इतने लंबे अंतराल के बाद उसे देखा है. पहचानना तो वैसे मेरे लिए भी संभव नहीं था. इतने वर्षों के बीच कितनी गर्दिशें मैंने झेली होंगी—और कितनी ही बार वह जेल गया होगा. अपनी-अपनी तकलीफ़ों ने, दोनों के चेहरों पर अपने निशानों के पर्दे चढ़ा लिये थे. लेकिन मेरे पास अगर कोई पहचान थी, तो बस एक—और वह थी, उसके होंठों के पास, किसी एक चाकू के घाव का बहुत बड़ा निशान.

रेलवे स्टेशन वैसे मेरा आना होता नहीं. लेकिन कभी-कभी आ जाता हूं—[illegible] किसी को रिसीव करना हो—या [illegible] 'सी-ऑफ' करना हो. आज भी [illegible] ऐसा ही हुआ था. ठुमक-ठुमक क[illegible] झुनझुने की तरह बजते हुए एक तांगे [illegible] मेहमान को स्टेशन तक लाया हूं. [illegible] अब अजमेर में ऑटो-रिक्शा भी [illegible] टैक्सी भी हैं. लेकिन घर दूर पड़ता [illegible] और अगर कोई वाहन नहीं मिले [illegible] कड़-कड़, चड़-चड़ करते हुए तांगे [illegible] सवारी भी स्वीकार करनी होती [illegible]

फोटो के नीचे लिखा नाम

स्टेशन तो जैसे-तैसे पहुंच गये [illegible] लेकिन यहां आकर पता चला है [illegible] गाड़ी कुछ लेट है. गाड़ी की प्रतीक्ष[illegible] खड़े लोग शायद कुछ ऊब गये हैं [illegible] रह-रहकर वे उस दिशा की तरफ़ [illegible] रहे हैं जिधर से गाड़ी आनी है.

वह भी और लोगों की तरह [illegible] आने वाली दिशा की तरफ़ देख रह[illegible] लेकिन बार-बार चोर निगाहों से [illegible] खड़े लोगों के चेहरों और सामान की त[illegible] भी ताक रहा है. उसकी इस हरक[illegible] मेरी पहचान को और भी निश्चित [illegible] दिया है. सोचता हूं, गाड़ी आये—त[illegible] उससे बात ही कर लेता हूं—केवल [illegible] सुनिश्चित करने के लिए, कि कहीं मैं [illegible] पहचानने में ग़लती तो नहीं कर र[illegible]

आगे बढ़कर मैं उससे कहता हूं, "[illegible] देखा है कहीं. . .!"

अपनी बड़ी-बड़ी आंखों को [illegible] अधिक चौड़ा कर अपने मोटे-से [illegible] पर बिना कोई मुस्कान लाये, वह [illegible] बेबाकी से कह देता है, "देखा होगा! कई स्टेशनों पर मेरी फोटो ल[illegible] कि इनसे सावधान रहें."

उसके बोलने का लहज़ा मुझे [illegible] नहीं लगता. लेकिन मन ही मन [illegible] बेबाकी को सराहने लगता हूं.

फिर भी मैं पूछ ही लेता हूं, [illegible] पहचान रहे हो? मैं . . . हूं!"

वह फिर भी उसी लहज़े में उत्त[illegible] है, "तुम्हारे जैसे कितने ही चेहरे [illegible] मिलते हैं मुझे. . . मैं किस-कि[illegible] पहचानता फिरूं?. . . और फिर [illegible] में रखा भी क्या है. . . बाबू! यह प[illegible]

वहचान उनके लिए तो ज़रूरी हो सकती है, जो अपने गये-वक़्त की तरफ़ झांकते हों—या फिर जिन लोगों ने आने वाले समय के लिए कुछ सपने संजोए हों—लेकिन हमें तो इस पहचान-वहचान से कोई मतलब नहीं है. . .!"

अब मुझे उसका नाम भी याद आ गया है, "रघु हो ना तुम?"

"हां, यहां आस-पास के कई स्टेशनों पर मेरी फोटो के नीचे यही नाम लिखा हुआ है—'रघुनंदन प्रसाद'!" इतना कहकर वह फिर सिगनल की तरफ़ देखने लगता है.

फिर कितनी ही ऐसी पुरानी बातों की मैं उसे याद दिलाता हूं, जो वह लगभग भूल-सा गया है.

■

अजमेर रेलवे स्टेशन से बाहर निकलते ही एक घंटा-घर पड़ता है, जिस पर
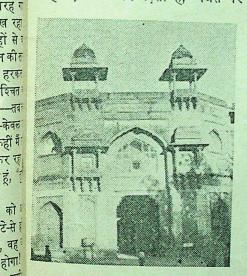
'मैगजीन'—जहां सर टामस रो जहांगीर से मिले थे, जहां की बंद खिड़कियां आज भी भारत की गुलामी की शुरुआत और घुटन की गवाह हैं.

मैंने आज तक कभी इसलिए विश्वास नहीं किया है, क्योंकि उसकी चारों दिशाएं अलग-अलग समय बताती रही हैं—उस पाखंडी नेता की तरह, जो एक ही नगर में, एक ही दिन चार आम-सभाओं में चार तरह के झूठ और चार तरह की भ्रामक बातें बोलता हो.

उसी घंटा-घर के साये में पला था रघु. एक उस्ताद था, जो अब शायद ज़िंदा नहीं होगा. छोटे-छोटे बच्चों को पकड़ लाता था, और उन्हें जेब काटने और चोरी करने की कला सिखाया करता था.

घंटा-घर से ही जैसे जुड़ा हुआ है, अजमेर का मुख्य बाज़ार—मदार गेट. लोग यहां तरह-तरह के इरादों से आते हैं—कोई केवल कुछ ख़रीदारी करने के लिए, कोई महज़ तफ़रीह के लिए, तो कोई आती-जाती ख़ूबसूरत लड़कियों को ताकने के लिए. लेकिन रघु को मैंने वहां एक ही इरादे से घूमते पाया था—जेब काटने के लिए.

तब शायद मैं छोटा था, या फिर इतना परिपक्व नहीं हुआ था कि मैं रघु को जेब काटता देखकर चुप रह जाता. मैं मदार गेट पर, मामा की दुकान पर अक्सर जाकर बैठता था. तब एक दिन रघु किसी की जेब काटने ही वाला था कि मैं चिल्ला पड़ा था. रघु तो भाग गया था लेकिन उसका उस्ताद एक बार मेरी सूरत खुद भी देख गया था और किसी एक मुच्छंदर को भी दिखा गया था. और कुछ हो न हो—यह तो मैं भांप गया था कि जेब तो काटने वाले की नहीं कटी लेकिन मेरी पिटाई ज़रूर हो जानी है.

सुविधा के क्षणों की तलाश

रघु को आज जब मैंने वह पुरानी घटना बतायी है तो वह मुझे पहचान गया है.

जब वह पहचान गया है, तो मुझसे खुलकर बात करने का थोड़ा साहस भी आ गया है. पूछ लेता हूं उससे, "रघु, जब तुम्हारी फोटो कुछ स्टेशनों पर लगी हुई है तो तुम्हें डर नहीं लगता, कि कोई तुम्हें पहचान लेगा?"

वह बड़ा ही अजीब-सा उत्तर देता है, "गुरु! जब गाड़ी आती है तब सीट-वीट हथियाने के चक्कर में लोग खुद की पहचान ही भूल जाते हैं. सो मुझे क्या पहचानेंगे...और फिर जिन क्षणों में आदमी अपनी पहचान तक भूल जाये—वे क्षण हमारे लिए सुविधा के क्षण होते हैं. अच्छी-ख़ासी जेब मिल जाती है तो ठीक . . . नहीं तो किसी का बैग ही ले उड़ते हैं."

"ऐसा करते हुए अगर तुम पकड़े गये—तो?" मैं आश्चर्य से पूछता हूं.

वह इस सवाल से जैसे पहले ही परिचित है—और जैसे उसके पास पहले से ही उसका जवाब तैयार है, "इस देश में जेब काटने या बैग उड़ाने से फांसी तो लगती नहीं और न ही हाथ काटे जाते हैं—मिलती है, तो बस, कुछ दिनों की जेल... सो जेल की उन दीवारों या उस पिंजड़े से अपनी अच्छी पहचान हो गयी है."

मैं फिर पूछ बैठता हूं, "यहीं अजमेर में ही रह रहे हो या कहीं और भी जाते हो?"

वह हंस पड़ता है मेरे इस सवाल पर, "हा...हा...हा...! अरे भई, दूसरे शहरों में जाता हूं—तभी तो कई स्टेशनों पर फोटो टंगे हैं...!"

फोटो का प्रसंग आते ही वह कुछ देर को गंभीर हो जाता है. फिर जैसे विगत में झांकता हुआ-सा कहता है, "ख़्वाजा साहब का उर्स भरता है ना, अजमेर में? उर्स में कई पैसे वाले मुसलमान भी आते हैं, भारत से ही नहीं, दुनिया भर से...मक्का-मदीना के बाद मुसलमान ख़्वाजा साहब की दरगाह की ज़ियारत को मुक़द्दस मानते हैं. . .लोग ख़्वाजा साहब से कई तरह की मिन्नतें मांगने आते हैं—और मैं यही दुआ मांगता हूं कि ऐ मेरे पीर साहब! कोई अच्छा-सा असामी दिलवा देना!" कुछ रुककर जैसे फिर से अतीत में झांकता हुआ वह कहता है, "एक बार एक अच्छी जेब मिल भी गयी थी. तब एक फोटोग्राफ़र के यहां फोटो खिंचवाने का मोह नहीं छोड़ पाया था. अच्छी जेब हाथ लगी थी... तभी फोटोग्राफ़र के यहां बाहर लगी फोटुओं को देख-देखकर मन लालायित हो उठा था. कोई मधुबाला के गले में बाहें डाले हुए था तो कोई नरगिस के गाल से गाल मिलाए हुए था. फोटो-ट्रिक थी. लेकिन हमें अच्छी लगी थी. हमने भी मीनाकुमारी की आंखों में आंखें डालकर फोटो खिंचवायी थी. लेकिन ज़िद

यह थी, कि फोटो शो-केस में लगनी चाहिए. दस रुपये आगे बढ़कर फोटोग्राफ़र को दिये थे इस बात के," फिर एक ठंडी सांस लेता हुआ रघु कहता है, "लेकिन अब तो पुलिस आगे बढ़कर ख़र्च करती है. हमारी फोटो खिंचवाती है. स्टेशनों पर लगाती है. हज़ारों लोग देखते हैं, 'दर्शन' करते हैं. फ़र्क है तो बस इतना, कि अब मीनाकुमारी के सामीप्य की बजाय, एक स्लेट गले में टंगी होती है, जिस पर चॉक से हमारा नाम लिखा होता है—रघुनंदन प्रसाद!"

बोलते-बोलते उसका गला जैसे कुछ रुंध आया है.

अब मैं बोलने लगता हूं, "ख़्वाजा साहब, तुम्हारी कैसे मदद कर सकते हैं? तुम कोई किसी अच्छे काम की मिन्नत मांगते, तो कोई बात भी थी. ख़्वाजा साहब किसी बुराई में थोड़े ही तुम्हारा साथ देंगे."

वह जैसे किसी बहस में पड़ना नहीं चाहता. इसलिए कहता है, "हो सकता है न दें—लेकिन मेरा अपना विश्वास है, कि वे मेरी सुनते हैं...!" फिर कुछ रुककर वह कहता है, "अरे भई! जेब काटने वाले कोई हम अकेले तो हैं नहीं...जमाख़ोर भी तुम्हारी जेब काटता है...रिश्वतख़ोर भी ऐसा ही करता है...वे बदनाम इसलिए नहीं होते कि सेठ कहलाते हैं. एकाध मंदिर, दो-एक मुसाफ़िरख़ाने बनवा देते हैं. वहां अपनी भी कोई तस्वीर टंगवा लेते हैं. बस, सिर्फ़ तस्वीर के टांगने का फ़र्क है—टंगे दोनों ही रहते हैं...!"

थोड़ी देर को हम दोनों चुप हो जाते हैं. इस बीच एक मोटा-सा आदमी हमारे पास से हांफता हुआ निकल जाता है. वह उसकी नकल करने के अंदाज़ में अपना पेट फुला लेता है.

मैं केवल मुस्करा देता हूं. वह कहने लगता है, "बाबू, सच-सच बताओ... दुनिया का यह सारा झमेला पेट की ख़ातिर है ना?... तुम लोग ऊपर वाले से मंदिर-मस्जिद, गिरजा-घर या गुरुद्वारे में क्या मांगने जाते हो?...बाबू, यह सब तरह की पूजा, सब तरह के सजदे केवल पेट की ख़ातिर होते हैं... और हम जेब भी पेट भरने की ख़ातिर काटते हैं...!"

उंगलियों और जेब का सौदा

मैं फिर सवाल करता हूं, "अगर दरगाह शरीफ़ के उर्स को तुम नहीं छोड़ते, तो पुष्कर के मेले को भी नहीं छोड़ते होगे?"

"कमाल है, बाबू!" वह फिर हंस देता है, "यह दीन-धर्म के झमेले आपके लिए हो सकते हैं! हमारा तो एक ही धर्म है कि जेब काटते हुए किसी के दीन-धर्म का ध्यान न रखें. हमारा दीन-धर्म तो करंसी-नोट्स हैं, बाबू! अब हमारे लिए पुष्कर दूर भी क्या पड़ता है? अपने अजमेर स्टेशन से केवल सात मील दूर... किराया भी एक रुपये से कम...और फिर तुम लोग ही तो कहते हो ना, कि दुनिया भर के तीर्थ कर लो—पुष्कर-स्नान के बिना सब अधूरा है... और हम... हम अपने ग्राहकों के स्नान का लाभ उठाते हैं... वो गाना सुना है ना, भैया! 'इधर आंख झपकायी और उधर माल यारों का'. सो अपना भी वही फ़ार्मूला है... यात्री ने उधर पानी में डुबकी मारी कि कपड़े पार... और
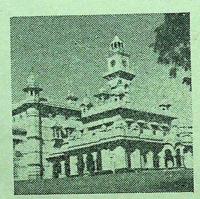
अजमेर का वह महंगा मेयो कॉलेज, जहां रघु कभी अपने बच्चों को नहीं पढ़ा सकता.

फिर यही एक ठिकाना थोड़े ही है... लंबा चौड़ा पुष्कर है, जहां ब्रह्म के मंदिर के अलावा और भी कितने ही मंदिर हैं. कहीं न कहीं तो हमारी उंगलियों और ग्राहक की जेब का सौदा पट ही जाता है..."

मुझे थोड़ा अजीब लगता है, कैसा आदमी है रघु? लोग बेचारे पृथ्वीराज चौहान की नगरी अजमेर इसलिए आते हैं कि वे इतिहासकार गौरीशंकर ओझा, शब्दकोषकार सुखसंपतिराय भंडारी (मन्नू भंडारी के पिता), शारदा एक्ट के लागू करवाने वाले समाज-सेवक हरबिलास शारदा और क्रांतिकारी अर्जुनलाल सेठी के नगर अजमेर का भ्रमण करेंगे. लोग यहां इसलिए आते हैं कि ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह देखेंगे, दरगाह में रखी ऐतिहासिक छोटी देग और बड़ी देग देखेंगे, अनेक मंदिरों को जो अपनी माला में पिरोए हुए हैं—वह पुष्कर देखेंगे, सेठ मूलचंदजी सोनी का बनवाया हुआ जैन मंदिर 'नसियां' देखेंगे, नगर के प्रहरी के रूप में बसा 'तारागढ़' देखेंगे, ऐतिहासिक स्थल 'ढाई-दिन-का-झोपड़ा' देखेंगे, पिकनिक स्थल फॉय सागर देखेंगे, संगमरमर की बारादरी के आंचल में लहराता आना सागर देखेंगे, सर टामस रो ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना के लिए जहां अनुमति लेने आया था, वह स्थल 'मैगज़ीन' देखेंगे—और देखेंगे आना सागर के उस तट पर स्थित उस भवन को, जो आर्य समाज के प्रवर्तक श्री दयानंद सरस्वती की याद को ताज़ा करता है, जिन्हें अजमेर में ही ज़हर देकर मारा गया था. लेकिन...लेकिन यह रघु और ऐसे कितने-कितने रघु—उन बेचारे सैलानियों का घूमना ज़हर कर देते होंगे.. बिना पैसे के बेचारे क्या घूमेंगे?

मैं पूछता हूं रघु से, "रघु! तुम्हें बुरा नहीं लगता, जब किसी ग़रीब की जेब काटते हो?... बेचारा सैलानी या तीर्थयात्री तो दुखी हो जाता होगा...?"

वह फिर अपनी बेहूदा हंसी हंसने लगता है, "गुरु! ग़रीब के पास पैसा कहां होता है..... अब यहीं देख लो... पुष्कर का मेला जब भरता है, तब यहां लाखों रुपयों के ढोर-डंगर बिकते हैं... ग़रीब बेचारा कहां तो ऊंट ख़रीद सकता है—और कहां बैलों की जोड़ी? पैसे वाले कई धनी किसान आते हैं—कभी हमारा भी हिस्सा उनकी जेब से निकल आता है...!" इतना कह कर वह कुछ देर को चुप हो गया है. जब मैं कुछ नहीं कहता तो वह फिर बोलने लगता
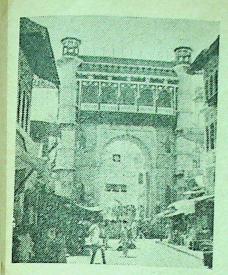
ख्वाजा साहब का उर्स समाप्त होने के बाद दरगाह शरीफ के आसपास छायी हुई खामोशी, जो रघु को अच्छी नहीं लगती

है, "हां! ग़रीबों की जेब काटना उसे कहते हैं जब हम कारखानों के मज़दूरों की जेब काटते हों . . . .अब देखिये, इस अजमेर जैसे छोटे-से नगर में रेलवे के दो बड़े-बड़े कारखाने हैं—कई दफ़्तर हैं—एक तरह से तुम इसे 'रेलवे का नगर' ही कह सकते हो . . . वैसे यहां एच. एम. टी. भी है . . . हर धर्म, हर जाति के लोग, यहां अलग-अलग कारखानों और दफ़्तरों में काम करते हैं . . . मतलब काफ़ी कुछ है." कुछ देर रुककर वह फिर कहता है, "सच मानो भैया, . . . कारखाने के मज़दूर की जेब काटते हुए, कभी-कभी दुख होता भी है, लेकिन फिर यह कहकर अपने रुंआसे मन को सांत्वना देनी होती है कि रघु, जेब तो उस ग़रीब की कटनी ही है, तू नहीं काटेगा, तो अभी थोड़ी दूरी पर खड़ा, कोई ब्याजखोर ही काट लेगा."

धंधा और इन्सानियत

रघु के तर्क मुझे अजीब लगते हैं. मेरी समझ में नहीं आता कि मैं उसे निर्दयी कहूं या आज के बेरहम समय को देखते हुए, एक व्यवहारिक आदमी!

मैं उसे कह भी देता हूं, "रघु! भई, जेब ही काटनी है तो बड़े-बड़े लोगों की काटो . . . इन ग़रीबों की जेब काटते हुए तुम्हें थोड़ी तो दया करनी ही चाहिए, भले यही सोचकर कि महीना भर उनके बिलखते बच्चे क्या खायेंगे . . . .?"

वह एक बार मेरी तरफ़ देखता है. अपने मोटे होंठों पर दांत गड़ाकर कुछ देर चुप खड़ा रहता है और फिर कहता है, "बाबू! यह साली पेट की राजनीति जो है ना, अंधी होती है. किस-किस को रोइये! . . . . और फिर कौन रोया था तब, जब मुझ अनाथ को लगातार चार दिन तक खाना नहीं मिला था . . .कौन रोया था तब, जब स्टेशन के बाहर वाले इसी घंटाघर के नीचे, मैं भूख के मारे बेहोश हो गया था—तब कोई नहीं रोया था, बाबू! कोई नहीं रोया था . .कोई नहीं रोया था . . . तब बस, मेरे उस्ताद ने मुझे संभाल लिया था . . . उस्ताद ही मुझे अपने यहां ले गया था. खाना खिलाया था भर पेट—और फिर धंधा सिखाया था . . .उंगलियों का खेल . . . बाबू! यह भी एक जादू है. जादूगर हाथ का कमाल दिखाता है और हम उंगलियों का खेल . . . !" इतना कहकर वह कुछ देर को फिर चुप हो गया है. अगले ही पल जैसे किसी सपने में से उठकर बोलना शुरू कर देता है, "उन्हीं दिनों—मुझे याद है— कि उस्ताद ने स्टेशन पर एक ऐसे आदमी की जेब काटी थी, जो पानी का लोटा भरने नल पर आया था. बाहर आकर हम लोगों ने देखा, तो पर्स में पैसों के साथ फ़र्स्ट-क्लास का एक टिकिट भी था. मैंने उस्ताद से कहा था, 'उस्ताद! पैसे अपन ने उसके मार लिये हैं. . .बेचारे के पास टिकिट भी नहीं रहा . . .अगर टी. टी. ई. ने उसे चार्ज कर लिया तो बेचारा पैसे कहां से देगा?' . . तब उस्ताद ने मुझे थप्पड़ मार दिया था और कहा था, 'तुम क्या यह चाहते हो, कि उसे टिकिट वापिस देने जाऊं? और फिर खुद को जेल भिजवाऊं? . . .देखो, बेटे! . . अपने धंधे में रहम नहीं होता है . . .जमाखोर क्या कभी सोचता है कि चीज़ें बाज़ार में न मिलेंगी तो लोग मर जायेंगे! रिश्वतखोर कभी सोचता है कि बेचारे गरीब से रिश्वत ले रहा हूं—कहां से देगा—या बेचारा कहां से भीख मांग कर लायेगा? नहीं सोचते, वे ऐसा नहीं सोचते, बेटे! . . . धंधे में कोई रहम नहीं होता, कोई रहम नहीं करता."

मैं देख रहा हूं, यह सब बताते हुए, रघु फिर अतीत में झांकने लग जाता है. उसके सामने जैसे किसी अतीत का भी कोई अतीत लौट आया है.

मैं फिर एक शब्द का सवाल उससे पूछता हूं, "फिर?"

रघु फिर जैसे वर्तमान में लौट आया है. कहता है, "हां! . . .फिर मैंने उस्ताद से कहा था, 'उस्ताद! . . . तो फिर तुमने मुझे बेहोश पाकर मुझ पर रहम क्यों किया था? . . . मरने देते मुझे!'—मेरी इस बात पर उस्ताद थोड़ी देर को चुप हो गया था. उसकी आंखें भर आयी थीं. वह बस इतना ही बोला था, 'आदमी तो मैं भी हूं, बेटे! इन्सानियत का अर्थ मुझे भी आता है, लेकिन, बेटे! धंधा करते हुए सब भूल जाता हूं . . . . .भूल जाना होता है . . . कभी-कभी—शैतान को भी खुश करना होता है, बेटे!' "

मैं देख रहा हूं, रघु की भी आंखें नम हो आयी हैं . . . शायद उसे अपने भगवान . . .अपने उस्ताद की याद हो आयी है.

तभी अचानक गाड़ी आती दिखाई दे जाती है . . . इंजन-ड्राईवर ने ढेर-सा काला धुआं स्टीम-पाईप से छोड़ दिया है . . . . आसमान काले धुएं से ढक गया है, काला पड़ गया है . . . . !

मैं इधर-उधर देखता हूं. रघु कहीं भीड़ में शामिल हो गया है. थोड़ी देर को आदमियत भूल जाने के लिए, या फिर शायद पेट की राजनीति से जूझने की खातिर . . . . . !

और मुझे लगता है, मैं पृथ्वीराज चौहान हूं . . .पहाड़ों की नाकाबंदी में, मैंने एक शहर पर राज किया—जिसे लोगों ने 'अजयमेरु' से 'अजमेर' बना दिया है, जहां पहुंचते ही हिंदू का प्रणाम में और मुसलमान का सजदे में सिर झुक जाता है. . . . .और तब लगने लगता है, हम सब अपनी-अपनी आस्थाओं के गुलाम हैं . . . किसी न किसी रूप में—गुलाम तो हम आज भी हैं . . . □

1402 बी, रेलवे कालोनी, श्रीनगर रोड अजमेर (राज.)

कहां

- कृष्ण गम्भीर

इस कमरे में उसकी मौजूदगी इस बात का निश्शंक-प्रमाण है कि इस वक़्त यहां उसके सिवाय और कोई नहीं है. वह यहां चुपचाप और गुमसुम-सा बैठा, बड़ी सतर्क-दृष्टि से कमरे का जायज़ा ले रहा है. लेकिन कोई भी राय कायम नहीं कर पाता. मसलन, वह इस कमरे की दीवारों को क्यों घूर रहा है? या इस घर की प्रत्येक वस्तु में ऐसी कौन-सी ग़ैरत है जो उसे यहां की किसी भी चीज़ के इस्तेमाल पर पाबंदी आयत कर रही है?

वह सोफ़े पर कुछ इस लिहाज़ से बैठा है कि उसका सारा वज़न उस पर न पड़े. उसके पांव भी कालीन पर इस ढंग से पड़े हैं कि जैसे पानी पर चलने का योग रचा रहे हों.

हुंह! ऐसा भी क्या है? वह निस्संग-भाव से सोचने की कोशिश करता है. पर वह खुद को खुद से इतनी दूर पाता है कि अपने भीतर झांक नहीं पाता. इस अंतराल में एक चिरंतन, अब एक ख़ामोश-उत्पीड़ना सी व्याप गयी है. उसे अपने होठों और हालात के बीच असमर्थता की लकीर खींची दिखती है, जो घुटन और घुटन के अतिरिक्त कुछ बयान नहीं करती. उसे अपने भीतर जड़ होने का अहसास तेज़ी से होने लगता है. वह चिहुंक उठता है. पर उसका आत्म-विद्रोह मुंह-ही-मुंह में घुटकर रह जाता है. वह बेदम-सा अपने को सोफ़े पर यकदम ही ढीला छोड़ देता है और उसकी सांसें धौंकनी की तरह चलने लगती हैं.

पूरी सदी की घुटन और ट्रेजडी उसके चेहरे पर छायी ज़र्दी में उतर आती है. अपने को भुलावे दे-देकर बची-खुची सांसों के चिथड़े कब तक संभाले वह? जिस आस से बंधकर वह भाई के पास चला आया था, वह ढुलमुल होती दिखती थी. वह सोच रहा था—यहां से भी चल दे कहीं! पर कहां? यही तो पता नहीं.

पिछले सप्ताह जब मां से झगड़ा हुआ था तो गुस्से में कह दिया था उसने, "कहीं भी चला जाऊंगा पर इस घर में नहीं रहूंगा."

"कहां जायेगा तू?"

"कहीं भी चला जाऊंगा! कुछ भी कर लूंगा! इतना गया-गुज़रा तो नहीं कि अपने वास्ते दो रोटियां भी न कमा सकूं!"

"जिसे आराम की खाने को मिल जाती हो, वह कहां जायेगा और क्या करेगा?"

"मैं आराम की खाता हूं? सारा दिन जो दुकान पर खटता हूं, उसकी कोई गिनती नहीं?" वह अपने ही सोच के शीशों से घायल होकर रह गया था. उसकी आवाज़ में अब वो शिद्दत नहीं थी अपितु एक सवाल उठ खड़ा हुआ था—उसके अहम् से टकराता! तब उसे लगा था—कि वह सचमुच बेकार है! अपने लेखे तो वह चाहे सुबह छः बजे से रात दस बजे तक बाऊजी के साथ खोखे पर चाय की जूठी प्यालियां धोता रहता था. बेकारी की यातना को भूलने का कोई तो बहाना था, अब तक! लेकिन आज मां की इस लताड़ ने उसके इस भ्रम को भी तोड़ दिया था और वह अपना बिस्तर गोल कर भाई के पास दिल्ली आ गया था. सोचा था, भाई को कहेगा—'कहीं भी एडजस्ट करवा दो, बस!'

▣

लेकिन जिस उत्साह और चाव से वह प्रतिवर्ष छुट्टियों में दिल्ली आया करता था—जाने वह कहां मर गया था? ज्यों-ज्यों घर निकट आता जा रहा था, उसकी चाल धीमी होती जा रही थी. वह सोचने लगा था—व्यर्थ ही चला आया है. क्या कहेगा वह? क्यों आया है? किसलिए आया है? एक बार तो उसने सोचा—

वह लौट जाये.

पर लौटकर भी कहां जाये? यह 'कहां' उसे जीवन के प्रत्येक चौराहे पर शाश्वत् प्रश्नचिन्ह की तरह प्रत्येक चेहरे पर चिपका दीखता. जिसे देखो अपने जैसा लगता है—सवालिया सलीब उठाये! वस्तुतः जीना समस्याओं के हल के लिए होता है लेकिन जब जीना ही समस्या बन जाये तो?

पर भाई के ख्याल ने उसके डूबते दिल को सहारा दिया जैसे! उसका विश्वास था, वह उसके लिए कुछ-न-कुछ जरूर करेंगे. कहीं न कहीं बात बन ही जायेगी. यही सोचते-सोचते वह भाई के घर पहुंच ही गया था.

▣

उसे देख किसी ने उत्साह नहीं दिखाया. वह 'ड्राइंग-रूम' में बैठा 'वीकली' देखने का उपक्रम कर रहा था. वह प्रतीक्षा कर रहा था, भाभी उसके लिए कोई सोने की जगह निश्चित करेगी. पर उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह स्वयंमेव इतना संकुचित और अंतर्मुखी क्यों होता जा रहा है? पहले वह आया करता था तो अपनी जगह स्वयं निश्चित कर लेता था. पर अब उसे अपनी सोच र बर्फ़-सी जमी लगी. जब लगभग र के सभी सदस्य सो गये तो उनींदी-सी ाभी आयी और पूछा, "तुम कहां ोओगे?"

"कहीं भी!"

"ऐसा करो, आज यहीं सो जाओ. र मेज़ हटाकर, कालीन पर चादर छा लो. देखो अल्मारी से कंबल भी काल लो. ले-लोगे या मैं ही निकाल ?"

"नहीं, मैं ले लूंगा."

"चादर भी वहीं से ले लेना."

"ले लूंगा."

भाभी जैसे गले में पड़ा ढोल बजाकर ो गयी थी. वह हैरानी से सोच रहा —पहले वह भाभी से कैसे छत्तीस तरह बातें कर लेता था. यों और वों जाने नी तरह से भाभी को घुमाया करता तब भाभी मुस्कराहट के फूल चेहरे खिलाकर कहा करती थी, "बहुत न हो गये हो तुम!" तो उसकी छाती भी दो इंच फालतू फूल जाया करती थी. लेकिन आज उसकी वो शरारतें, वो मुस्कराहटें कौन छीन कर ले गया है?

वह कालीन पर कंबल लेकर पड़ गया लेकिन इस बीच उसकी नींद कुछ उचट-सी गयी थी. वह सोच रहा था—अब क्या करे? एकाएक किसी का ख्याल आने से उसके हृदय का कोई अनबूझ कोना निर्झर-सा बहने लगा था. किसी के प्रेम की कसक उसे कतरा-कतरा पिघलाने लगी थी. उसने सोचा—वह सरोज को एक खत लिख दे. "एकाएक वहां से चला आया हूं. यहां तक कि तुमसे मिल भी न सका. किस्मत ने साथ दिया तो जल्दी-ही तुम्हारे और अपने बीच की दूरी तय कर डालूंगा. इंतज़ार करोगी?"

पर सहसा उसे लगा—उसके कमरे का जलता बल्ब 'भाई-भाभी' के बैडरूम को कुछ नंगा कर रहा है. उसने जल्दी से उठकर बत्ती बुझा दी और कंबल में लगभग सांस रोककर दुबक-सा गया. भाई और भाभी कुछ फुसफुसा रहे थे.

"सुख यहीं रहेगा?"

"यहीं रहेगा?"

"आपने कुछ पूछा नहीं उससे?"

"नहीं तो. कुछ कहा उसने?"

"मुझे सीधे तो नहीं कहा. पीलू से कह रहा था कि यहीं रहूंगा."

"अच्छा! उसके लिये कहीं ट्राई करनी पड़ेगी अब?"

"वो तो ठीक है. पर इतनी मेहरबानी करना कि दिल्ली से बाहर ही कहीं लगे! ..... ये न हो कि यहीं जमकर बैठ जायें और......?"

सुख को लग रहा था, दीवार और अंधेरे के पर्दे के बावजूद भाई-भाभी के चेहरे उसकी आंखों के सामने नंगे नाच रहे हैं. मन ही मन खोखले हो चुके संबंधों का भारीपन ढोए, वह खड़े-पानी में पड़े किसी पत्थर की तरह सुगबुगाता रहा.

▣

सुबह जब उसकी आंख खुली तो भाभी कुछ झल्ला-सी रही थी, "सात बज गये हैं. काला अभी तक दूध दे के नहीं गया. इधर पीलू की बस आने वाली है. उसे क्या नाश्ता करवा के स्कूल भेजूं? किसी को है फ़िकर? सूरज मुंह पर लानतें भेज रहा है और ...."

"मैं ले आता हूं दूध! वहीं पहले वाली जगह से आता है न?"

"हां ऽ!" और इस 'हां' ने उसके ज़हन में अनगिनत, अनसुलझे सवालों का जाला-सा बुन दिया था. वह दिन भर एक कमरे से दूसरे कमरे के बीच पैंडुलम की तरह लटकता रहता. लेकिन अपने लिए एक भी ऐसा कोना ईजाद नहीं कर पाता, जिसे अपना कह सकता! जहां मानसिक-तनाव से मुक्त होकर अपने ही बारे में कुछ सोच-विचार सकता. यहां आये आज उसे तीसरा दिन हो चला था पर भाई को अपने मुंह कुछ भी न कह सका था. पीलू को पढ़ाने के बहाने वह रात को भाई के कमरे में बैठा रहा. शायद भाई कुछ पूछें? भाई अपनी किसी 'केस फाइल' में उलझे थे. तभी भाभी दोनों हाथों में दूध के दो गिलास लेकर आयी. एक भाई को और दूसरा पीलू को थमा दिया.

"सुख को भी ला दो न?"

सुख का मन भी हो आया, दूध पीने को. याद ही नहीं पड़ता, कब दूध पिया था पिछली बार! लेकिन ऊपरी-मन से बोला, "नहीं-नहीं, मेरे लिए दूध नहीं."

"क्यों?"

"सुख रात को दूध नहीं पीता." जाने किस अतीत को कुरेदती हुई भाभी तीर की तरह बोली थी. सुख एकदम पथरा गया. कुछ नहीं बोल सका वह! बस पीलू की किताब में दृष्टि गड़ा दी—चुपचाप! काफ़ी देर तक वह गुमसुम-सा, निरर्थकता में अर्थ खोजता बैठा रहा, जैसे किसी ने उसे श्राप देकर पत्थर बना दिया हो!

▣

"सुख एक गिलास पानी तो ले आओ."

"पानी?" वह हड़बड़ाकर बोला और तेज़ी-से लपककर रसोई में से पानी ले आया. शायद पानी का गिलास लेते हुए भाई कुछ पूछें! किसी बात का सिलसिला जुड़ आये........

"क्या करते रहते हो सारा दिन घर में?" वह कुछ सहम-सा गया. 'एक बेकार आदमी कर ही क्या सकता है?'

उसने पूछना चाहा लेकिन बेहद शर्मिंदगी से बोला, "जी कुछ नहीं."

"तो जरा चेंबर ही आ जाया करो. कुछ लोगों से जान-पहचान हो जायेगी तो तुम्हारे ही काम आयेगी न? घर बैठे-बैठे तो कोई अप्वायंटमेंट नहीं दे जायेगा."

गूंगे के मुंह में जैसे गुड़ की डली आ गयी हो! यानि कि भाई को उसकी चिंता है. कहीं न कहीं उसके लिए उपयुक्त स्थान और अवसर खोज रहे हैं. नौकरियां कोई आगे तो पड़ी नहीं होतीं! वह सिर हिलाता बाहर चला आया था. उसके अंदर आत्महीनता का बढ़ता बौनापन कुछ देर के लिए कम हो गया था.

▣

परंतु भाई के दफ़्तर में भी अपने को व्यस्त रखने के उपक्रम के बावजूद बेकार होने के कयास को मस्तिष्क से निकाल न सका था. वह हर पल अपने खालीपन के भार को ढोए-ढोए स्वयं को गधा समझने लगा था. दफ़्तर में ऐसा कोई काम था भी नहीं, जो वह करता! भाई दोपहर बाद कोर्ट से लौटते. इस बीच कोई फोन वगैरह अटैंड करना होता था. पर यह काम भी क्लर्क अधिक तत्परता से कर सकता था. क्योंकि वह क्लाइंट्स आदि से परिचित था. वह ठीक-से बतला सकता था—उनके केस की अगली तारीख कौन सी पड़ी है? या भाई सुप्रीम-कोर्ट से केस निवटाकर हाई-कोर्ट जायेंगे या वे सीधे चेंबर लौटेंगे आदि-आदि.

जल्दी ही उसने इन कामों में रुचि लेनी शुरू की. और एक दिन उसने सोचा, भाई को कहेगा—मैं ही सारा काम देख लूंगा, ऑफ़िस का! यों ही क्लर्क को तीन सौ रुपये लुटाने का क्या फायदा? जबकि घर का आदमी ..... वह यह जिक्र भाभी के सामने ही करेगा. भाभी ज़रूर हामी भर देगी. पर एकाएक इस तरह क्लर्क के बेकार हो जाने के ख्याल ने उसे चौंका दिया.

▣

इधर क्या है कि चेहरे पर हर वक्त बारह बजे रहते हैं. वह प्रयत्न करने पर भी स्वयं को सहेज नहीं पाता. कोई भी पहली नज़र में यही पूछ बैठता है, "सुख, क्या बात है? बीमार हो?"
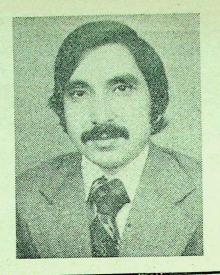
इससे सुख को अनजाने में ही दुःख पहुंचता. 'जो भी मिलता है, मुंह पे यही सवाल दे मारता है! क्या कसूर है मेरा? नहीं चाहिए मुझे किसी की सहानुभूति! कैसे बे-चेहरा हो, हमदर्दी का लवादा ओढ़ विवशता का शोषण करना जानते हैं लोग! और बदले में सारी आर्द्रता लूट लेना चाहते हैं. क्यों? .....

.....थोड़ा सामान्य होकर वह फ्रिज में से पानी की बोतल निकालने लगता है कि 'फ्रूट-बास्कट' में रखे डैलीशियस सेबों की खुशबू उसके नथुनों से टकराती है. वह सेब उठाने के लिए हाथ बढ़ाता ही है कि अचानक भाई साहब कमरे में आ जाते हैं.

"तुम यहां हो?"

वह कुछ घबरा-सा जाता है. शीघ्रता से 'फ्रूट बास्कट' से हाथ खींचकर पानी की बोतल निकाल लेता है और फ्रिज को बंद कर देता है.

"ठंड नहीं है. यहां?"

उसके चेहरे का रंग कांप जाता है. जैसे वह कोई चोरी करते रंगे हाथों पकड़ा गया हो! कोई जवाब देने की बजाय वह पानी की बोतल भाई के आगे ला-लाकर, प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है कि वह फ्रिज में से पानी ही ले रहा था, अन्य कुछ नहीं.

"सुनो, थोड़ी देर में बाहर लॉन में चाय ले आना और कुछ खाने को भी. रसोई में भाभी बुला रही हैं तुम्हें! अच्छा!"

कृष्ण गंभीर (जन्म 15 सितं[...] 1953) के अनुसार उन[...] लेखन विकास की उस प्रक्रिया [...] है जहां जीवनगत-संघर्ष, कर्म ए[...] विश्वास को आस्था के चिह्[...] दीखने लगे हैं और यह व्यक्तिग[...] तकलीफों तथा विसंगतियों क[...] सीमा तोड़कर सामाजिक-[...] के रूप में प्रतिबिंबित होने क[...] व्यग्र हैं.

वह घुग्गू की तरह गर्दन हिला दे[...] है. भाई के जाते ही वह पानी की पू[...] बोतल गटक जाता है. खुद को अप[...] दृष्टि में बेगुनाह साबित करने के लिए[...] पर उसका मन हल्का न हो सका था[...]

▣

वह भारी-भारी कदमों को घसीट[...] हुआ रसोई की ओर जाने लगा था[...] वह डर रहा था—भाभी कहीं पूछ [...] न ले? क्या कह रहा था अंदर? वह अप[...] चेहरे से ऐसी सभी लकीरें मिटा देने [...] कोशिश कर रहा था, जो किसी भी तर[...] की शंका से आवृत्त थीं.

"तबीयत ठीक हो न हो, रसोई में आ[...] मरो. किसी को है पीर? छोटे से बड़े त[...] सभी हुक्म दागते फिरते हैं. चाहे को[...] मरता मर जाये—इनकी बला से[...] कोई चिड़ी को चोंच भर नमक न[...] डालेगा! ...."

"आपकी तबीयत ठीक नहीं है[...]" सुख ने भाभी से संवेदना-स्तर पर जु[...] का प्रयत्न किया.

"तुम रहते हो घर में?" सुख का[...] जैसे सांस ही घुट गया. वह अपने स्व[...] के बोझ से लदा-फदा सोच रहा था[...] 'क्या मैं सचमुच रहता हूं घर में? [...] तो फिर, कहां रहता हूं? कहां—[...] उसने अपने चेहरे को अपने चेहरे[...] सामने खींच, अपना चेहरा खोजने[...] कोशिश की.

162/ 7, सीवन बाज़ार, कैथल 132[...]

अगला अंक
पाक्षिक
सारिका
फरवरी अंक : एक
आदमी आख़िर है क्या?
स्वयंभू या सर्वहारा? देवता या राक्षस? नेकी का पुतला या बदी का बुत्त?
भोला-भाला या शातिर? चोर या लाचार?
दर्शन, धर्म, राजनीति हमेशा इसे 'दूसरा सवाल' कहकर टाल जाते हैं, पर इतिहास गवाह है कि साहित्य ने इसे हर बार और ...और अधिक स्पष्ट किया है. इस बार पढ़िए इन्हीं मानव-मूल्यों का सर्वेक्षण करती—
शेखर जोशी, शिव शर्मा, रघुवीर सिन्हा, लोचन बख्शी, आलोक महता और रमेश बत्तरा की कहानियां.
मील का पत्थर
● निर्मल वर्मा द्वारा प्रस्तुत कारेल चापेक की कहानी—दूसरी ज़िंदगी
रोज़नामचा
● एक नया कथा-स्तंभ : कथाकार से. रा. यात्री का साहित्य चिंतन
साक्षात्कार
● श्री नरेश मेहता ने कमस्कम अपने और अपने साहित्य के बारे में कम से भी कम कहा है. उनके साहित्य और जीवन के विविध पहलुओं पर कमल किशोर गोयनका से लंबी अंतरंग बातचीत.
ताकि सनद रहे
● एक बाग़ी का आत्म-मंथन—दूसरी किस्त
● ज़रिया-नज़रिया, पखवारे की पुस्तक, लघुकथाएं, आज की संपूर्ण स्थिति और लेखन, तस्वीर बोलती है आदि सभी स्थायी स्तंभों सहित
सारिका : घर और पुस्तकालय का स्थायी महत्व!
न धूल, न धुआं, न आग, न विस्फोट . . . फिर भी कंपन!

मानव मूल्यों का गहरा विश्वास!

■ ममता कालिया

हिंदी साहित्य में 'लोग' सतत शोध का विषय रहा है. 'उखड़े हुए लोग', 'बीच के लोग', 'लोग', 'अपने लोग', 'लोग बिस्तरों पर' की श्रृंखला में शेखर जोशी के सद्य प्रकाशित कहानी-संग्रह का शीर्षक है 'साथ के लोग'. शेखर जोशी की नयी-पुरानी चौबीस कहानियों का यह संग्रह इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है कि एक तो इसमें उनकी सभी चर्चित कहानियां शामिल हैं. दूसरे उनका पहला कहानी-संग्रह 'कोसी का घटवार' बाज़ार में अब ढूंढे से भी नहीं मिलता है.

प्रस्तुत पुस्तक में शेखर की यादगार कहानी 'कोसी का घटवार' भी है. सन् छप्पन में, जब यह कहानी पहले-पहल छपी थी, पाठक एक साथ चौंके और प्रभावित हुए थे. आज, दो दशक बाद, भी यह रचना वही प्रभाव छोड़ती है. इसकी प्रामाणिकता ज़रा भी पीली नहीं पड़ी है. पूरी कहानी की करुण एकसूत्रता पाठक को गहन उदासी से भर जाती है. मेरी नज़र में यही शेखर जोशी की समस्त रचनाओं का स्थायी-भाव है. वे एक साथ जीवन के उदात्त व उदास क्षणों को बड़ी सरलता से अभिव्यक्ति प्रदान करते चलते हैं. वे जीवन की सामान्य स्थितियों के असामान्य व्याख्याता हैं. नागार्जुन, भीष्म साहनी, अमरकांत की भांति उनका रचना-संसार भी मनुष्य के नीरस संघर्षमय जीवन का चंद ज़रूरी सवालों से साक्षात्कार कराता है. इनसे कोई बहुत बड़ी क्रांति रातों-रात तो घटित नहीं होती लेकिन अन्यायी की कुर्सी अवश्य कुछ और कच्ची हो जाती है. 'सीढ़ियां', 'मेंटल', 'आखिरी टुकड़ा' में लेखक ने अपनी धारणा सीधे-सीधे व्यक्त की है कि एकांत क्षणों में आततायी का अपना चेहरा भयानक नहीं भयाक्रांत होता है, कि उसकी समस्त गतिविधियां इसी भयाक्रांतता से जन्म लेती हैं. इन कहानियों से मज़दूर एक मशाल है और मालिक एक अंधकार. संग्रह तीन खंडों में विभक्त है. बिचले खंड 'सीढ़ियां' की पांचों कहानियां लेखक की प्रगतिशील प्रतिबद्धता का प्रामाणिक दस्तावेज़ हैं.

रेन्च-हथौड़ी-पेचकस की दुनिया

इसी खंड में शेखर जोशी की एक और अविस्मरणीय कहानी है—'उस्ताद'. यदि हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों का कोई संकलन कभी निष्पक्षतापूर्वक निकाला जाये, तो निसंदेह 'उस्ताद' उसमें शीर्ष स्थान पाये. मज़दूर की हैसियत से लिखी यह कहानी अपनी प्रबुद्धता, प्रामाणिकता, प्रतिभा व प्रतिबद्धता में सचमुच बेजोड़ है. मानव-मूल्यों में गहरा विश्वास, मजदूरों के 'दारुण नीरस जीवन' की असली पहचान, समाज के सौतेले बेटों से गहरी हिस्सेदारी, सब इस कहानी में अपनी पराकाष्ठा पर है. एक नौसिखिया मिस्त्री अपने धंधे का पुर्जा-पुर्जा समझने के लिए फैक्टरी के फोरमैन 'उस्ताद' की शागिर्दी करता है. उस्ताद उसे रोज़ थोड़ा-थोड़ा काम सिखाते हैं लेकिन वह अभी कच्चा है. अन्य कारीगरों के भड़काने से उसे शक होने लगता है कि उस्ताद अपना पूरा हुनर उसे नहीं देना चाहते, तो हर बार 'वॉलटैमिंग' के समय उसे चाय लाने क्यों भेज देते हैं. एक दिन उसका शक, आक्रोश बनकर व्यक्त हो

शेखर जोशी

जाता है. बाकी घाघ कर्मचारियों [illegible] इस स्थिति से काफ़ी मनोरंजन होता [illegible] मिस्त्री और उस्ताद की बोलचाल [illegible] हो जाती है. फिर नौसिखिए मिस्त्री [illegible] शहर-ब्राहर सरकारी नौकरी मिल जा[illegible] है. रात का वक़्त है. गाड़ी चलने ही वा[illegible] है कि उसे एकाएक उस्ताद अपनी त[illegible] आते दिखायी देते हैं. वॉलटैमिंग वां[illegible] बताकर वे तुरंत मुड़ जाते हैं, सिख[illegible] नौजवान के भावातिरेक से अनजा[illegible] ग्रीज़, तेल, कालिख, रेन्च, हथौड़ी-पेचक[illegible] की दुनिया से निकाली गयी यह भाव[illegible] सच्चाई पाठक को झकझोर कर [illegible] देती है. नये मिस्त्री का अपने टूल-ब[illegible] पर बैठ जाना, मोटर के नीचे से कारी[illegible] का बिल्ली की तरह निकलना, [illegible] चीकट डांगरी पहन इंजन बांधना... और इस तरह के सारे चित्र इस कहानी[illegible] इतना गर्म, घनिष्ठ और गरिमामय ब[illegible] देते हैं कि मन होता है लेखक को [illegible] नया नाम दिया जाये—'शिखर जोशी'!

वैधव्य और विपन्नता

ठीक इससे अलग संवेदना की कहा[illegible] पहले खंड 'दाज्यू' में हैं. इस दृष्टि से [illegible] संग्रह वैविध्य बहुल है. जीवन के [illegible] विराग, रूप-विरूप, शुभ-अशुभ को [illegible] के लिए लेखक की अर्न्तदृष्टि प्रख[illegible] 'कोसी का घटवार' में जीवन की [illegible] का कारुणिक किन्तु यथार्थवादी [illegible] है. यों तो इसके मूल में एक नि[illegible] मामूली-सा प्रतिघात है, गुसाईं का [illegible] से ब्याह न हो पाना. ब्याह न हो पा[illegible] कारण है, लक्ष्मा के बाप नहीं चाह[illegible]

उनकी बेटी एक सिपाही से ब्याही जाकर हर समय वैधव्य की संभावना से अभिशप्त रहे. विवाह-संबंध में उनकी समस्त चौकसी के बावजूद लक्ष्मा विधवा हो जाती है. वैधव्य और विपन्नता का बोझ साथ-साथ ढोते उसका गुसाईं से आकस्मिक साक्षात्कार अभूतपूर्व करुणा की उत्पत्ति करता है. इस स्थल पर लेखक की सूझ-बूझ अद्भुत है. यद्यपि दोनों प्रेमी बाधा-हीन हैं, उनका संयोग अब भी नहीं हो पाता है क्योंकि अब बाधा है 'समय.' पनचक्की की-सी ही एकरसता में बंधे दोनों प्रेमी अब प्रेम की स्थिति से परे अपनी-अपनी गर्दिश के दिन जैसे-तैसे काट रहे हैं. प्रेम की यह अनिवार्य परिणति एक नियति की तरह गुसाईं और लक्ष्मा को ग्रस लेती है.

किशोरावस्था की करवटें

लेकिन तीसरे खंड 'मृत्यु' की कहानियां इस प्रकार की कोई अछूती अनुभूति नहीं दे पातीं, वरन् निराश ही करती हैं. वास्तव में ये कुछ एकांतिक किस्म की कहानियां हैं, जिनमें किशोरावस्था अभी करवटें लेती लगती है. इनमें मां, दीदी, प्रिया के अति भावुक शब्दचित्र हैं. मेरे ख़्याल से इन कहानियों का एक अलग संग्रह सन् अट्ठावन में ही प्रकाशित हो जाना चाहिए था. ज़िंदगी की जो जकड़बंदी 'दाज्यू' व 'सीढ़ियां' खंडों में व्यक्त हुई है, उसका अपेक्षाकृत तरल रूप इस अंतिम खंड में मिलता है.

पुस्तक की प्रस्तुति सुंदर, सुरुचिपूर्ण है. दाम भी वाजिब हैं. पता नहीं समीक्षा के अंत में प्रूफ़ की भूलों पर टिप्पणी क्यों दी जाती हैं. 'साथ के लोग' में मैंने तो कहानियां पढ़ी हैं, प्रूफ़ नहीं! □

चर्चित पुस्तक :

साथ के लोग

▣ शेखर जोशी

प्रकाशक : संभावना प्रकाशन, हापुड़.

मूल्य : सोलह रुपये

अगले अंक में

शेखर जोशी की ताज़ा कहानी

'हलवाहा'

कथा आलोचना: कहां शुरू, कहां ख़त्म!

▣ डॉ. हरदयाल

"पश्चिमी कथा-साहित्य में चेखव ने कथा-शिल्प को एक नया मोड़ दिया. यद्यपि चेखव और जैनेंद्र दोनों की कथा-भूमियां अलग-अलग हैं—एक की कथा-भूमि मूलतः सामाजिक है, दूसरे की मूलतः मनोवैज्ञानिक. किंतु हिंदी में पहली बार जैनेंद्र ने ही चेखव के कथा-शिल्प को अपने ढंग से अपनाकर उसे कथानक की आरोह-अवरोहमयी नाटकीयता से मुक्त किया. कहानी अपनी नवीन मूलवर्ती चेतना के साथ अपनी संरचनात्मकता में नवीन हो उठी. जैनेंद्र में कहानी आद्यंत जीवित रहती है. पाठक उसके किसी एक बिंदु पर सिमटने का इंतज़ार नहीं करता. पूरी कहानी हल्की-हल्की आंच में तपती रहती है."

उस माहौल में जबकि प्रगतिशीलता के नाम पर आलोचना एकांगी, संकीर्ण और मतवादी हो रही हो, जैनेंद्र के संबंध में उपर्युक्त बात कहना ईमानदारी, निष्पक्षता का प्रमाण है. जबकि और समकालीन साहित्य को लेकर लिखी जाने वाली संतुलित आलोचना आज दुर्लभ वस्तु है. प्रायः तो यह होता है कि समकालीन आलोचना लिखने वाले जो रचनाकार होते हैं वे अपनी ही रचनाओं को आधार मानकर मूल्यांकन के प्रतिमान गढ़ते हैं; और प्रक्रिया में उनके द्वारा लिखी जाने वाली आलोचना न केवल भ्रामक हो जाती है अपितु भ्रांत निष्कर्षों पर पहुंचती है. इनके अतिरिक्त समकालीन आलोचना में जो शुद्ध आलोचक होते हैं वे भी व्यक्तिगत संबंधों और राग-द्वेषों से बहुत कम बच पाते हैं. फलतः उनकी आलोचना भी अपना संतुलन खो बैठती है. कुछ समकालीन आलोचक यदि व्यक्तिगत द्वेष या राग से अपने को बचा लेते हैं तो किसी आंदोलन, विचारधारा या मतवाद से अंधे हो जाते हैं.

डॉ. रामदरश मिश्र समकालीन हिंदी आलोचकों में ऐसे आलोचक हैं जिनकी आलोचना बहुत बड़ी सीमा तक संतुलित आलोचना है. उनकी आलोचना पूर्णतः संतुलित है, यह तो मैं नहीं कहूंगा. शायद शत-प्रतिशत संतुलन व्यवहार में संभव भी नहीं है—वह एक प्रत्यय की स्थिति हो सकती है.

सबसे पहले इस पुस्तक की संरचना को समझ लेना उचित होगा. इस पुस्तक का प्रारंभ एक तो सामान्य कहानी के प्रारंभ पर विचार करता है; और दूसरे, हिंदी की पहली कहानी पर. हिंदी की पहली कहानी के रूप में चर्चित कहानियों पर किंचित् विस्तार के साथ विचार किया गया है और यह आग्रह स्थापित नहीं किया गया है कि यही हिंदी की पहली कहानी है. बल उन प्रवृत्तियों पर दिया गया है जो पहली-पहली कहानियों के माध्यम से सामने आती हैं.

प्रेमचंद और प्रसाद परंपरा

दूसरे अध्याय में प्रेमचंद और परंपरा की चर्चा की गयी है. लेखक ने माना है कि मनुष्य की मूल सदाशयता में प्रेमचंद की आस्था थी. प्रेमचंद मानते थे कि मनुष्य जो बुरा बनता है वह परिस्थितियों के कारण. अतः प्रेमचंद ने मनुष्य की सदाशयता और दुष्टता दोनों को यथार्थ परिस्थितियों के माध्यम से समझने का प्रयत्न किया. अपनी इस स्थापना को प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने प्रेमचंद की कई कहानियों का विवेचन किया है. किंतु सबसे अधिक विवेचन 'कफ़न' कहानी का किया है. इसी अध्याय में विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन, ज्वालादत्त शर्मा, वृंदावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री आदि उन कहानीकारों की या तो चर्चा की गयी है, या मात्र नामोल्लेख जो प्रेमचंद की शैली के कहानीकार माने जाते हैं.

तीसरे अध्याय का संबंध जयशंकर प्रसाद और उनकी परंपरा से है. मिश्रजी की स्थापना है कि प्रसादजी अयथार्थवादी कहानीकार थे. उनकी "कल्पना का प्रेम पृथ्वी से दूर ऐसा जल-राज्य है जहां कठोरता नहीं, केवल शीतल, कोमल तरल आलिंगन है; प्रवंचना नहीं, सीधा आत्म-

विश्वास है; वैभव नहीं सरल सौंदर्य है." उनकी अधिकांश कहानियों का संसार प्रेम-संसार है. उनका शिल्प काव्यात्मक और नाटकीय है. प्रसाद जी की 'आकाश-दीप' नामक कहानी की चर्चा उनकी प्रतिनिधि कहानी मानकर विस्तार के साथ की गयी है.

कहानी : नयी कहानी

परंतु प्रसादजी को आदर्शवादी कहानीकार तभी माना जा सकता है जबकि हम 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' नाम की कोई चीज़ न मानते हों. प्रसादजी की परंपरा में राय कृष्णदास, विनोदशंकर व्यास और चंडीप्रसाद हृदयेश का उल्लेख किया गया है. चौथे अध्याय का संबंध मनोवैज्ञानिक कहानी से है जिसमें जैनेंद्र और उनकी कहानी 'पाजेब', अज्ञेय और उनकी कहानी 'रोज़' की विस्तृत चर्चा है तथा भगवती प्रसाद वाजपेयी, इलाचंद्र जोशी और रामप्रसाद घिल्डियाल पहाड़ी की संक्षिप्त चर्चा है. पांचवें अध्याय में समाजवादी कहानी को लिया गया है. इस अध्याय में यशपाल और उनकी कहानी 'पराया सुख', उपेंद्रनाथ अश्क की विस्तृत चर्चा के उपरांत मन्मथनाथ गुप्त, रांगेय राघव, नागार्जुन, अमृतराय, भैरवप्रसाद गुप्त का नामोल्लेख किया गया है. पुरानी पीढ़ी के कुछ कहानीकारों का मिश्रजी ने एक नया वर्ग बनाया है 'स्वतंत्र कहानी धारा'. इसमें उन्होंने पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवतीचरण वर्मा, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर और राधाकृष्ण की चर्चा की है. इनमें कुछ कहानीकार ऐसे हैं जिनको किसी वर्ग विशेष में रखकर चर्चित किया जाता रहा है; जैसे 'उग्र' को प्रकृतवादी कहानीकार और प्रकृतवादी हिंदी कहानी का नेता माना जाता रहा है. हमारे विचार से यह गलत नहीं था.

'नयी कहानी' पर इस पुस्तक में दो अध्याय हैं—(1) नयी कहानी (2) नयी कहानी: यथार्थ के विविध आयाम. पूछा जा सकता है कि नयी कहानी पर दो अध्याय क्यों हैं, तो मिश्रजी के शब्दों में इसलिए कि—"नयी कहानी की मात्रा अपने आप में अत्यंत विशिष्ट है." नयी कहानी के साथ कहानीकार का कुछ
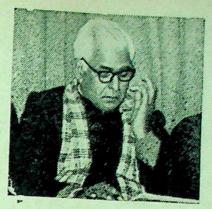
रामदरश मिश्र

पक्षपात है; शायद इसलिए कि स्वयं वह भी 'नयी कहानी' के अंतर्गत आते हैं. यह पक्षपात इस बात से भी पुष्ट होता है कि वह साठोत्तरी कहानी को 'नयी कहानी' का ही विकास मानते हैं. उन्होंने लिखा है कि "अलगाव की कुछ रेखाओं के बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि साठोत्तरी कहानी, नयी कहानी का ही नये संदर्भों में विस्तार या विकास है. साठोत्तरी कहानी, कहानी में उस तरह कोई बदलाव उपस्थित नहीं करती जिस तरह नयी कहानी ने अपनी पूर्ववर्ती कहानी के संदर्भ में किया था. साठोत्तरी कहानी, नयी कहानी की बुनियादी बातों को लेकर ही भिन्न-भिन्न तरह से अपना विशिष्ट स्वरूप निर्मित करने की चेष्टा करती है." मिश्रजी की इस स्थापना से बहुत-से लोग असहमत होंगे. नयी कहानी के बाद साठोत्तरी कहानी और उसके अंतर्गत 'अकहानी', 'सचेतन कहानी' तथा 'आम आदमी की कहानी' की चर्चा की गयी है. पुस्तक के अंत में कुछ कहानीकारों की चर्चा की गयी है. चर्चित कहानीकार हैं—फणीश्वरनाथ 'रेणु', मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, मन्नू भंडारी, महीप सिंह. चर्चा के लिए कहानीकारों को किस आधार पर चुना गया है या छोड़ा गया है, यह स्पष्ट नहीं है.

इस पूरी पुस्तक में आलोचक का बल यथार्थवाद पर है : यथार्थ के संबंध में उसका कहना है—"यथार्थ की पहचान, दो स्तरों पर होती है. एक तो समकालीन जीवन में लक्षित होने वाले संबंधों, प्रसंगों, समस्याओं, घटनाओं, हलचलों आदि की स्वीकृति के स्तर पर; दूसरे, इन समस्त संबंधों, प्रसंगों, समस्याओं, घटनाओं, हलचलों आदि के मूल में कार्य करने वाली केंद्रवर्ती चेतना की समझ के स्तर पर. वास्तव में असली यथार्थ दृष्टि इस दूसरे रूप में ही दिखायी पड़ती है." मिश्रजी मानते हैं कि "आज की समस्त जीवन-विषमताओं के मूल में आर्थिक विषमता है." समाज में जो परिवर्तन होते हैं उनका केंद्र परिवार है और "आज के समस्त परिवर्तन के मूल में प्रायः अर्थ ही है." अपनी इस जीवन-दृष्टि के आधार पर मिश्रजी ने अपनी पुस्तक में हिंदी कहानी का विवेचन किया है.

संतुलित कथा आलोचना

मिश्रजी दो कहानीकारों के पारस्परिक साम्य-वैषम्य को सूक्ष्मतापूर्वक पकड़ सकते हैं, इसके प्रमाण भी उनकी इस पुस्तक में विद्यमान हैं. एक स्थान पर जैनेंद्र और अज्ञेय की तुलना उन्होंने इस प्रकार की है—"जहां जैनेंद्र की कहानियां एक अत्यंत सावधान कहानीकार की आयासजन्य सहजता का आभास देती चलती हैं, वहां अज्ञेय की कहानियां एक सावधान कहानीकार की सावधानी और आयास की प्रतीति को भी आभासित करती चलती हैं. जहां जैनेंद्र अपनी बौद्धिकता को संवेदना में, आयास को सहजता में, सावधानी को लापरवाही में घुला-मिलाकर अपनी कहानियां अत्यधिक घरेलू बना देते हैं, वहां अज्ञेय की कहानियां एक बौद्धिक अभिजात व्यक्ति की तरह एक कसी हुई बौद्धिक दृष्टि, अनुभव वैशिष्ट्य, अध्ययन-संपन्नता और मित-भाषिता में सतत सावधान दिखायी पड़ती हैं."

पारिभाषिक शब्दावली का कम-से-कम प्रयोग करने वाली सहज, सरल और प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखित यह आलोचना-पुस्तक पठनीय होने के साथ-साथ महत्वपूर्ण भी है. □

चर्चित पुस्तक

हिंदी कहानी : अंतरंग पहचान

▣ डॉ. रामदरश मिश्र

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2

मूल्य : 20 रुपये

लिखित शब्द के प्रति आस्था

पिछले दिनों एक लेख के कुछ तथ्य पढ़कर चौंक गया. ऐसे तथ्यों को भारत के संदर्भ में सुनने का हम सबने अभ्यास 'भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है' जैसे जुमलों की तरह कर लिया है, लेकिन जब ऐसे तथ्य अमरीका के बारे में एक प्रख्यात अमरीकी लेखक द्वारा आवें, तो चौंकना पड़ता है. वहां के जाने-माने कथाकार जॉन अपडाइक के अनुसार निरक्षरता को अमरीका से आज तक दूर नहीं किया जा सका, वहां 25 वर्ष से ऊपर आयु की आधी से अधिक जनसंख्या व्यवहार के स्तर पर लगभग निरक्षर है. इतना ही नहीं उसने न्यूयार्क टाइम्स में प्रकाशित एक सर्वेक्षण का हवाला देते हुए लिखा है कि "समूची आदमजात का दो बटा पांच हिस्सा तो आज भी निरक्षर है."
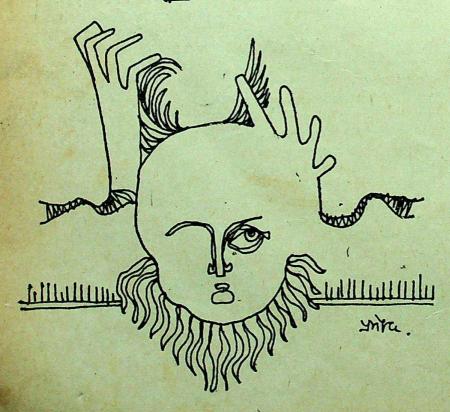
निरक्षरता का यह आलम देख कर 'हमारा प्यारा भारतवर्ष' थोड़ा और प्यारा लगने लगा है... कम से कम गया गुजरा तो नहीं ही लग रहा. इतना ही नहीं, अपडाइक के अनुसार अपने अंदर की बेचैनी को कागज़ पर उतारने के क्षणों तक पहुंचाने के लिए पहले लाखों-हजारों शब्द पढ़ने होते हैं, और जब इतने श्रम और इतनी आस्था के साथ लिखा हुआ पुस्तक के रूप में आता है तो पता चलता है कि वहां की 90 प्रतिशत से भी अधिक जनता कभी कोई किताब नहीं खरीदती. जो खरीदती है वह पढ़ने के काम को सबसे नीचे की श्रेणी में रखकर चलती है: "कल्पना कीजिए, किसी कमरे में कोई चुपचाप एक किताब पढ़ रहा है और उसी कमरे में दो व्यक्तियों में हाथापाई, मुक्का-लात शुरू हो जाये, तो लोग हाथापाई करने वालों में रुचि लेंगे या किताब पढ़ने वालों में? टेलीफोन की घंटी या किसी बच्चे का रोना तो ध्यान आकर्षित भले करेगा, पढ़ते हुए आदमी पर किसी का ध्यान जायेगा इसमें संदेह है."

इसके बाद भी लिखित शब्द के प्रति जॉन आपडाइक की आस्था देखकर आश्चर्य हो रहा है.

यह आश्चर्य तब और भी ब[illegible] जाता है जब देखते हैं कि वहां 9[illegible] प्रतिशत से अधिक जनता किता[illegible] नहीं खरीदती, फिर भी लिखि[illegible] शब्द के प्रति आस्था बरकरार [illegible] क्या यह एक अजीब और नाटकी[illegible] स्थिति नहीं लगती कि लाखों [illegible] संख्या में किताबों के संस्करण [illegible] रहे हैं, संस्करणों की आवृत्ति [illegible] रही है और जनता खरीद न[illegible] रही. लाखों-करोड़ों डालर रायल[illegible] जा रही है और लोग पढ़ने [illegible] प्राथमिकता नहीं दे रहे. कैसी

यह आस्था, जो लिखित शब्द से चिपक कर रह गयी है? क्या ऐसी आस्था को एक 'मिथ' नहीं कहा जा सकता? क्या यह मात्र रूढ़ि और अंधविश्वास बनकर नहीं रह गयी? क्या इस आस्था की नियति अंततः धार्मिक विश्वासों जैसी नहीं हो जायेगी? कहीं-न-कहीं ऐसे विश्वासों और आस्थाओं का संबंध भौतिक असुरक्षा की भावना से होता है.

जॉन अपडाइक की यह अवधारणा पश्चिमी देशों के लिए व्यवहार के स्तर पर बहुत कुछ सही हो सकती है लेकिन रोज़मर्रा की ज़रूरतों से जूझती हुई तीसरी दुनिया की जनता इस अवधारणा को इसी रूप में नहीं ले सकती. वह आज भी धार्मिक आस्थाओं में सुरक्षा ढूंढ़ती है. यह सुरक्षा की तलाश एक आदिम सत्य है.

'लिखित शब्द के प्रति आस्था' की स्थिति हमारे यहां अधिक चिंताजनक है. इसके कारण हैं 'शब्द' के द्वारा फैलाये हुए भ्रम. एक ओर शब्द को ब्रह्म कहकर उसे अगम्य और दुरूह बना दिया गया है अर्थात् उसे लोक जीवन से काटकर अलौकिकता की अदृश्य आलमारियों में बंद करने की कोशिश की गयी है. दूसरी ओर 'पुस्तकस्थातु या विद्या' के रूप में अव्यावहारिक घोषित कर दिया गया है और तीसरी ओर मायावादियों ने 'नहि, नहि रक्षति डुंकिकरणे' के रूप में मृत्यु के सामने उसे कमज़ोर और वाहियात साबित करने की कोशिश की है. इसी तरह की 'शब्द' के खिलाफ़ और भी बहुत-सी स्थितियां खड़ी की गयी हैं जो एक दूसरे की विरोधी होकर भ्रमों को जन्म देती हैं और आदमी को उसकी अपनी ज़िंदगी से काटकर अलग कर देती हैं. फिर भला 'लिखित शब्द' के प्रति आस्था कहां टिकेगी? यदि उसे हम पुरानी बात कह कर नज़रअंदाज़ भी कर जायें और आज के संदर्भों में तलाश करें तब भी हमारी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियां हमारे अंदर अनिर्णय, अनिश्चय और शंकाओं को लगातार भरती जा रही हैं. हम स्वभावतः शंकालु होते जा रहे हैं. और शंकाएं आस्था की हत्या करती हैं, उन्हें पैदा नहीं करतीं.

'शब्द' के प्रति पैदा हुई शंकाएं हमें सतर्क, सावधान और जागरूक भले ही करें, उसके प्रति आस्थावान नहीं बना सकतीं. आस्थावान होने के लिए उसके सही इस्तेमाल, निश्चित अर्थ की प्रतीति और उसके कारगर असर की ज़रूरत होती है और यही बातें हमारे 'लिखित शब्द' में काफ़ी हद तक ग़ैरहाज़िर हैं. हम बातें चाहे कितनी ही करें लेकिन 'शब्द' के भाववादी और रूपवादी इस्तेमाल से अपने आपको बचा नहीं पा रहे. मेरा मतलब यह नहीं कि हम ऐसा जानबूझकर कर रहे हैं बल्कि स्थितियां हमें ऐसा करने के लिए मजबूर कर रही हैं. ऐसा इसलिए भी हो रहा है क्योंकि हम अपनी रूढ़ियों, परंपराओं और मध्यवर्गीय संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके हैं.

हिंदुस्तान की ज़मीन से जुड़कर ऐसा कहना भी कम आश्चर्यजनक नहीं है, लेकिन यह एक सच्चाई है और किसी भी सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता. जहां कदम-कदम पर आस्था बैठी हो, जहां पैर से सिर तक, दिये से सूर्य तक, छोटे-से जलकुंड से सागर तक और पेड़-पौधों से पत्थर तक आस्था फैली हो यानी कि चारों ओर आस्थाओं की भीड़ जुड़ी हो, वहां अनास्था की बात कैसे की जा सकती है? लेकिन यह आस्थाओं की भीड़ ही अनास्था की सही पहचान है क्योंकि भीड़ किसी चीज़ का सही स्वरूप नहीं बताती, क्योंकि भीड़ का अपना कोई रूप नहीं होता, क्योंकि भीड़ एक भाववादी स्थिति है, इसलिए वह किसी निश्चित और सही आस्था

को जन्म नहीं दे सकती.

जॉन अपडाइक यदि हिंदुस्तान में 'लिखित शब्द के प्रति आस्था' का सर्वेक्षण करें तो शायद उन्हें अपनी और अपने यहां की यह 'आस्था' भी डगमगाती नज़र आने लगेगी. हो सकता है तब वे अपनी इस अवधारणा को ग़लत होता हुआ महसूस करें.

उनकी सुविधा के लिए उनके समकालीन कथाकार लेज़ली फीडलर के शब्द उद्धृत कर रहा हूं: "मैं अपडाइक की तरह समूचे लिखित शब्द संसार की बात नहीं करता, लेकिन इतना ज़रूर जानता हूं कि 'ओ के लिटरेचर' गर्वोन्नित, उच्चभ्रू साहित्य मर रहा है, मरता जा रहा है. क्योंकि वह सीधे सीधे जीवन से कटा हुआ है"

बैनेट, कोलमैन ऐंड कंपनी लिमिटेड, स्वत्वाधिकारी के लिए रमेशचन्द्र द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 से मुद्रित व प्रकाशित. जनरल मैनेजर : डॉ. राम तरनेजा. पंजीकृत कार्यालय : डा. दादाभाई नौरोजी रोड, बंबई-400001. शाखाएँ : 7, बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली-110002; 139, आश्रम रोड, अहमदाबाद-380009; 105/7ए, एस. एन. बनर्जी रोड, कलकत्ता-700014. कार्यालय : 13/1, गवर्नमेंट प्लेस ईस्ट, कलकत्ता-700069; 15, मोंटियथ रोड, इग्मोर, मद्रास-600008; 407-1, तीरथ भवन, क्वार्टर गेट, पुणे-411002; 26, स्टेशन एप्रोच, सडबरी, वेंबले, मिडिलसैक्स, लंदन, यू. के., लंदन टेलीफोन : 01-903-96

पंजीकृत सं. D-(C)-779
पूर्व शुल्क के बिना डाक में डालने
की अनुमति-लाइसेंस सं. U-89

पाक्षिक
सारिका
मार्च: अंक-२
अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह: एक साहित्यिक दृष्टि
1.50

हमारे व्यक्तित्व के दूसरी ओर भी देखिये

अधिकतर लोग बी एच ई एल के बारे में यही सोचते हैं कि भारत में केवल विद्युत शक्ति के पीछे ही इन लोगों का हाथ है। लेकिन यह सिक्के का मात्र एक पक्ष है। 'जनता के लिए शक्ति' उपलब्ध कराने का बी एच ई एल का वादा केवल बिजली की शक्ति तक ही सीमित नहीं है। बी एच ई एल एक अन्य प्रकार की शक्ति के निर्माण में मदद देने के लिए भी पूरी तरह संलग्न है। यह ऐसी शक्ति है जो एक सुदृढ़ औद्योगिक ढांचे से प्राप्त होती है। आज देश की आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यक बहुत से उद्योगों में बी एच ई एल के परिष्कृत उपकरण और सिस्टम्स प्रमुख निवेश बने हुए हैं। उद्योग जैसे सीमेंट, इस्पात, पेट्रोलियम, रसायन, परिवहन, खनन और उर्वरक।

भारतीय उद्योगों की बढ़ती हुई परिष्कृत आवश्यकताओं के साथ, ठीक समय पर बी एच ई एल ने प्रमुख उद्योगों की विशेष जरूरतों को पूरा करने के लिए विभिन्न किस्मों के विशिष्ट उपकरण और सिस्टम्स विकसित किए हैं। उद्योग जैसे इस्पात, धातु-कर्म, पेट्रोलियम, उर्वरक, रसायन, कागज, चीनी, रबड़, खनन, कपड़ा, परिवहन और कई अन्य। अकेले 1977-78 में ही बी एच ई एल ने इन्हें 100 करोड़ रुपये से अधिक मूल्य के उपकरण सप्लाई किए हैं।

इस समय यह 22 से भी अधिक प्रमुख परियोजनाओं में सम्मिलित है—और केवल उपकरण सप्लायर के रूप में ही नहीं। उद्योग के लिए बी एच ई एल के उपकरणों की विभिन्न किस्मों में शामिल हैं इलेक्ट्रिक मोटर, ट्रांसफ़ॉरमर, स्विचगियर, रेक्टिफ़ायर, कपेसिटर, इंडस्ट्रियल टरबाइन और टरबो सेट, सेंट्रीफ़्यूगल कम्प्रेसर, प्रोसेस बॉयलर, वेस्ट हीट रिकवरी इक्विपमेन्ट, हीट एक्सचेन्जर, इलेक्ट्रोस्टैटिक प्रेसिपिटेटर, इंडस्ट्रियल फ़ैन और वाल्व।

और इन क्षेत्रों में बी एच ई एल की भूमिका का निरन्तर विस्तार होता जा रहा है। आज यह कई प्रकार के विभिन्न उद्योगों की विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुरूप पूरे ड्राइव कंट्रोल और अन्य सिस्टम का निर्माण कर उसकी सप्लाई कर रहा है।

बी एच ई एल—समय पर उद्योगों की सेवा के लिए विस्तृत क्षमताओं के साथ

उद्योगों को बेहतर सेवा उपलब्ध कराने और ग्राहक की आवश्यकताओं को समन्वित करने की दिशा में अतिरिक्त कदम के रूप में बी एच ई एल ने एक इंडस्ट्रियल ड्राइव सिस्टम्स ग्रुप बनाया है। यह ग्रुप विद्युत उपकरणों के अनुबन्ध पूरे करता है जिनमें शामिल होते हैं सिस्टम इंजीनियरी, कंट्रोल स्किमैटिक के डिजाइन, इस्पात, धातु-कर्म, कागज, खनन और अन्य उद्योगों के लिए संस्थापन और संचालन। यह मार्केट का व्यापक अध्ययन भी करता है, ताकि ग्राहकों की बराबर बदलती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नए उत्पाद विकसित करने का उपक्रम किया जा सके।
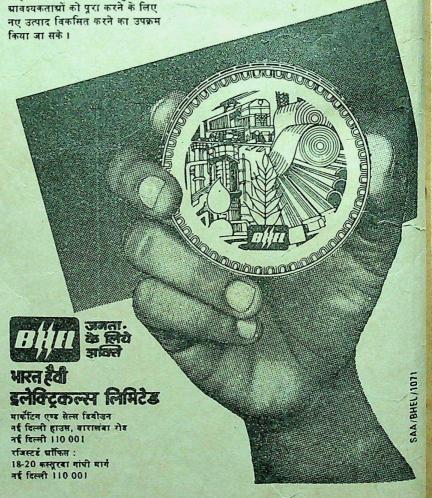
BHEL जनता के लिये शक्ति

भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लिमिटेड

मार्केटिंग एण्ड सेल्स डिवीज़न
नई दिल्ली हाउस, बाराखंबा रोड
नई दिल्ली 110 001

रजिस्टर्ड ऑफिस :
18-20 कस्तूरबा गांधी मार्ग
नई दिल्ली 110 001

SAA/BHEL/1071

रु.6650 में लंदन बस पर सैर का मज़ा.

रु. 5850 में मज़ेदार इटालियन खाने का लुत्फ़.
रु. 6590 में स्विट्ज़रलैंड के शीतल प्राकृतिक सौंदर्य का आनन्द.
रु. 6600 में मोनालिसा की मोहक मुस्कान का रहस्य.

रोम, जिनेवा, पेरिस, लंदन. साथही हमारे वापसी ट्रिप वाले एक्सकर्शन फ़ेयर पर और भी कई शहर.

मिलान–रु. 6099. ब्रुसेल्स या प्राग या वार्सा–रु. 6600. यूरोप के लिए सभी एक्सकर्शन फ़ेयर 14 से 90 दिनों तक के लिए मान्य हैं, तथा रास्ते में किसी एक जगह रुकने की सुविधा भी है. भारत–यू.के. फ़ेयर 21 से 90 दिनों के लिए मान्य हैं और रु. 7350 देने पर रास्ते में किसी एक जगह रुकने की सुविधा भी मिलती है. सभी एक्सकर्शन फ़ेयर बम्बई/दिल्ली से ही यात्रा प्रारंभ करने के लिए हैं. दूसरी जानकारी के लिए अपने ट्रैवेल एजेंट या एयर-इंडिया से संपर्क कीजिए.
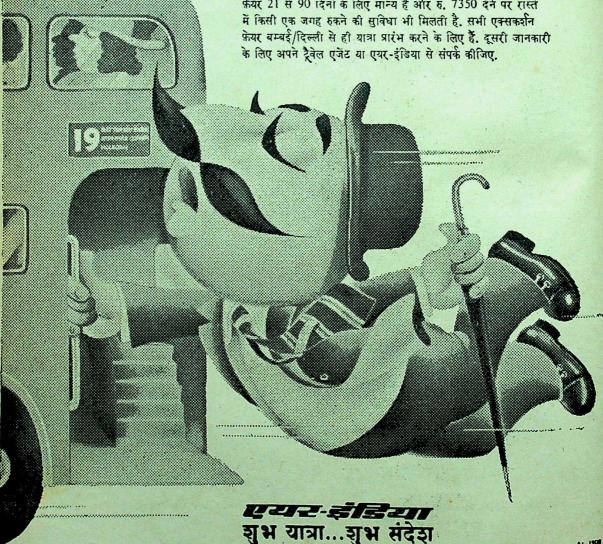
कहानियों और कथा - जगत की जीवंत पाक्षिकी

सारिका

वर्ष : १६; अंक : २३६
१६ से ३१ मार्च, १९७९

कहानियां

धारावाहिक

विशेष

अन्य आकर्षण

संपादक :
कन्हैयालाल नंदन
उप-संपादक :
अवधनारायण मुद्गल, रमेश बत्तरा, सुरेश उनियाल
सज्जा : रवि शर्मा

बड़के और लड़के

जनवरी 1979 की पहली सारिका मिली. नव वर्ष के उपहार मिले. राजस्थान के सूचना मंत्री श्री महबूब अली साइकिल पर चले तो उन्हें उछाला गया, केरल के मुख्यमंत्री पद पर जब श्री नंबूदरीपाद थे, साइकिल पर चलते थे. 'सारिका' क्या इस तथ्य को याद रख सकी? श्रीमती कृष्णासोबती का यह आत्मकथ्य एक सोच पैदा करता है—"शायद मेरे अंदर एक ठंडी औरत और एक गरमाहट भरा लेखक दोनों एक साथ मौजूद हैं." श्रीमती ईसाडोरा डंकन की **'पलायन-कथा'** शाश्वत सत्य का स्केच खींचती है. कलाकार सर्वत्र कलाकार होता है. श्री रोदां के द्वारा कला पूजन तब भी हुआ है जब उन्हें तिरस्कार मिला. ममता कालिया की कहानी **'लड़के'** में वर्तमान पर करारा प्रहार किया गया है. जब 'बड़के' दुरुस्त नहीं तब लड़के कैसे दुरुस्त होंगे?

■ **बदरीप्रसाद "सूर्य," भोजपुर (बिहार)**

धर्मक्षेत्र-लिखितक्षेत्रे

आपकी पत्रिका के जनवरी : 2 में प्रकाशित **'ज़रिया-नज़रिया'** के संबंध में दो शब्द कहना चाहूंगा. आपने लिखा है "लिखित शब्द के प्रति आस्था की स्थिति हमारे यहां अधिक चिंताजनक है . . . कहां टिकेगी?" मेरे विचार से भारतीय दृष्टिकोण को यह मत सही रूप में प्रस्तुत नहीं करता. न्याय दर्शन का यह मत कि "आप्तोपदेश: शब्दः " (न्या. सू. 1/1/6) भारतीय दर्शन के क्षेत्र में चार्वाक को छोड़ सभी को मान्य रहा है. मीमांसा दर्शन तो 'शब्द—नित्यतावाद' को स्वीकार करता है. भारतीय साहित्य और धर्म में शब्द की जो प्रतिष्ठा है वह सिक्ख धर्म के 'गुरु ग्रंथसाहब के रूप में उच्चतम शिखर तक पहुंचा' दी गयी है. लिखित शब्द का इतना महत्व है कि हमारे समाज में गीता और भागवत को प्रणाम किया जाता है.

■ **डॉ. रामनारायण व्यास, इंदौर (म.प्र.)**

श्लाघनीय कुठाराघात

सारिका फरवरी अंक दो में **'ज़रिया नज़रिया'** के अंतर्गत सत्य को उद्घाटित करते हुए आपके सारगर्भित विचार पढ़े. काली होती आदमीयता, आदमी के भीतर उठती भेद भाव की दीवार, गली-सड़ी व्यवस्था, ऊंच-नीच की भावना, मानसिक दास्ता एवं जातिवाद की जड़ों पर किया गया कुठाराघात श्लाघनीय है. लेख की यह पंक्तियां महत्वपूर्ण व दृष्टव्य हैं "खान हो जाने पर पड़ोसी धर्म पिट जाता है. आखिर हमारी मानसिकता, वैचारिकता कब तक आदमी आदमी में फर्क होने का भ्रम ढोती रहेगी. आखिर हमारे सोच की ज़मीन क्या है."

खान साहब का दर्द मेरा अपना दर्द है. स्वतंत्र भारत में आज भी (वह भी राजधानी में) शूद्रों-अछूतों (वर्तमान के हरिजन) को मकान नहीं मिलते. इसका मैं स्वयं भुक्तभोगी हूं क्योंकि हरिजन होने के नाते निकृष्टतम हिंदू हूं और एक मकान मालिक द्वारा भगाया जा चुका हूं.

इसी प्रकार **'दीवाने आम : दीवाने खास'** के अंतर्गत श्री दर्शन लाल ने भी **'स्वाधीन भारत का एक गांव'** की कहानी में सत्य का उद्घाटन कि[या] उनके ये शब्द कितने सटीक हैं कि "[चौ]... प्रतिशत आरक्षण तो हरिजनों को मिला था, लेकिन व्यवहार में कि[तना] प्रतिशत मिल पाया है उन्हें ? बड़ी मु[श्किल] से अब तक पांच प्रतिशत, दुसाध-... पहले भी अछूत थे, आज भी अछूत..."

■ **के. एस. तूफान, बिजनौर (उ...)**

तीखी अनुभूति से साक्षात्[कार]

'सारिका' जीवन का आईना... इधर सारिका में वास्तविकता की ... अनुभूति से साक्षात्कार भी प्राप्त हो र[हा]... सारिका से मुझे **'इंद्रधनुषी गर्भ...'** **'देश'** जैसी सशक्त कहानियों को ... भाषा में अनुवाद करने का सु[अवसर] मिला.

और फरवरी अंक-1 में प्रकाशि[त] से. रा. यात्री का 'रोजनामचा' मा... **एक रुष्ट अंतरात्मा'** से मैं प्रभावित हु[आ].

■ **डी. एन. श्रीनाथ, कर्नाटक**

मन को छू गये

हिंदी साहित्य के स्थापित उपन्यास[कार] श्री इलाचंद्र जोशी के साथ केदार वर्मा का साक्षात्कार तथा प्रख्यात ... रमानाथ अवस्थी के संस्मरण मन ... छू गये. दोनों के पठन से यह नि[ष्कर्ष] निकालकर गौरवान्वित हुआ कि ... जोशी सिद्धांतवादी लेखक हैं. ... स्वाभिमान है, आत्मश्लाघा नहीं.

■ **गौरीशंकर सिन्हा, इलाहाबाद**

डॉट-डैश की शैली में

भ्रमरजी का **'ताकि सनद रहे'** सारिका में पढ़ रहा हूं और संपादकजी मैं इस रोग से ग्रस्त हूं कि भ्रमर का कोई डाकू उपन्यास पढ़ते ही मेरे दिमाग में तीसरा पत्थर का फौजदार, पुतलीबाई की पुतलीबाई और सुलताना घूमने लगते हैं. और पात्रों की मनोवैज्ञानिक पकड़ की तारीफ करनी पड़ती है. भ्रमर एक सशक्त कथाकार हैं और चंबल क्षेत्र के निवासी होने के नाते बागी साहित्य के मास्टर भी. पर पता नहीं क्यों मुझे इनके उपन्यासों का हर बागी एक दूसरे का 'रिवाइज्ड एडीशन' लगता है. भ्रमर चंबल की आंचलिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं. और इस आंचलिकता के नाम पर पाठकों को हर बार सूत्रनुमा वाक्य 'डॉट—डैश' शैली में लिखे हुए संवाद, चबाचबा के लिखी गयी गालियां और उधार का वातावरण पढ़ने को मिलता है.

■ **आलोक तोमर, भिंड (म. प्र.)**

दृष्टि की सीमा

सारिका के फरवरी अंक-1 में शेखर जोशी की **'हलवाहा'** शीर्षक कहानी पढ़कर इस बात की खुशी हुई कि अब हमारा ग्रामीण यथार्थ फिर से कथा-साहित्य के केंद्र में प्रतिष्ठित होने लगा है. व्यापक सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में यह एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है. कुछ समय पहले मार्कंडेय की कहानी **'हल लिये मजूर'** को भी इस सार्थक प्रक्रिया की एक कड़ी माना जा सकता है.

पिछले दो दशकों की कहानी में प्रायः वे ही प्रश्न उभर कर आते थे जिनका संबंध शहरी मध्य वर्ग के जीवन से होता था. यद्यपि इस विषय की कोई अंतर्भूत सीमा नहीं है—ऐसा सोचना अनेक गंभीर समस्याओं को पैदा कर सकता है—फिर भी मध्यवर्गीय जीवन-स्थितियों से लगभग पूरी तरह घिरे हुए कहानी लेखन को देखकर लगता था कि हमारे शिक्षित समुदाय से जुड़े अधिकांश लेखकों का मुख्य सरोकार अपने आसपास के प्रश्नों तक ही सीमित है और यह भी कि धीरे-धीरे ये लेखक एक व्यक्तिवादी दृष्टि के दायरे में घिर कर अपनी साहित्यिक अर्थवत्ता को कम करते जा रहे हैं. दृष्टि की इस सीमा के कारण ये लेखक अपने मध्यवर्गीय परिवेश की अनेक समस्याओं और कठिनाइयों को भी समझ पाने में समर्थ नहीं थे. मसलन उन्हें यह अहसास नहीं था कि आपसी संबंधों के संकट की पृष्ठभूमि में किन सामाजिक शक्तियों का हाथ है.

शेखर जोशी की पिछले छह-सात वर्षों की कहानियों में वह महत्वपूर्ण वैचारिक संघर्ष दीखता है जिसके कारण वे निरंतर अधिकाधिक समाजोन्मुखी लेखन की दिशा में बढ़ते गये हैं.

▣ **आनंद प्रकाश, दिल्ली.**

सुपीरियर बीइंग

यथार्थ की भूमि पर श्री नरेशजी ने जिस रूप में अपने आपको संवारा, वाकई वह प्रशंसा के योग्य है. सबूत के तौर पर उनकी टिप्पणी —"एक सफल आदमी साहित्य का विषय हो ही नहीं सकता" तथा "व्यक्ति की सफलता-असफलता उसके मूल्यांकन का आधार नहीं हो सकती!" काफी है. स्त्री को सुपीरियर बीइंग मानकर उन्होंने अपने आदर्श के प्रारूप को पाठकों के लिए नया रूप दिया है.

▣ **शशिकुमार सिंह, सिन्दरी (धनबाद)**

डबल रोल

'सारिका फरवरी अंक-2 हाथ में आया. सबसे पहले उदयप्रकाश की कहानी **मौसाजी** पढ़ी. पूरी तरह पराजित होकर भी 'मौसाजी' एक दूसरा व्यक्तित्व ओढ़े हैं. यह 'डबल रोल' बड़ा मार्मिक लगा.

▣ **सुनीता भटनागर, विदिशा**

राजधानी में कजरौटे की तलाश

फिल्मों की नगरी बंबई में जन्म लेकर भी 'सारिका' कभी रूज़, लिपस्टिक, ब्रा का दर्शन नहीं कर सकी. लेकिन अब दिल्ली में आकर उसकी आंखों में अभिशप्त जीवन की यंत्रणा नहीं, बल्कि ह्विस्की की खुमारियां हैं. इस लिहाजे 'सारिका' का आवरण अब तो सटीक प्रस्तुत करो. भारत की स्त्री का यह रूप नहीं है जो कि सारिका में आ रहा है. बंबई में रहकर यह बात होती तो क्षम्य थी लेकिन वह राजधानी में आकर कजरौटा ही तलाश रही है.

▣ **राजेंद्र आहुति, झाझा (बिहार)**

आस्था और कोरी जुमलेबाजी

लिखित शब्द के प्रति आस्था (**जरिया-नजरिया**: जनवरी अंक : 2) का आलम यह रहा है कि अगर किसी ने धार्मिक साहित्य से लेकर संस्कृत का कोई श्लोक पढ़ लिया तो उसे अस्वीकारने का कोई कारण हो ही नहीं सकता. सामान्य-जन को, जो अधिकतर अपढ़ है, एक अखबार की खबर का हवाला देकर हम चुप रहने पर मजबूर करते आये हैं. लेकिन यही सामान्य जन सेंसर हुए समाचारों और सरकार के धुआंधार प्रचारित किये गये लिखित शब्दों के अंबार पर अनास्था की मोहर लगा चुका है. फिर भी हम सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति में कोई भी सुधार न पाकर लिखित शब्दों के प्रति आस्था या अनास्था के भंवर में फंसे हैं. पत्रकार व साहित्यकार पर एक दायित्व है कि वह स्थिति की गंभीरता को समझे. ज्यादातर लेखक शब्दों के व्यापारी बन बैठे हैं. बंद होना चाहिए यह व्यापार. वही लिखा जाना चाहिए जो अनास्था का निर्माण कर रही हजारों हजारों आस्थाओं को समाप्त कर सामान्यजन की सुरक्षा की गारंटी दे. भ्रम में डालने वाले लिखित शब्दों को सामान्य जन नकार देगा. कोरी जुमलेबाजी पर उसे आस्था नहीं हो पायेगी, यह तो तय है.

▣ **चंद्रसिंह दहिया, चंडीगढ़**

लिखते चले जाने का परिणाम

अपने साक्षात्कार में निर्मल वर्मा ने कहा था—"मैं अगर लिखता और लिखता चला जाऊं तो शायद अपनी शंकाओं के रेगिस्तान को पार कर सकता हूं." इस लिखते चले जाने का ही परिणाम है, कारेल चापेक की **'दूसरी जिंदगी'** का वह अंश—". . . तुम गरीबों को दान नहीं दोगे क्योंकि ऐसा करने में अन्याय से छुटकारा नहीं मिल सकता. उसकी जगह तुम खुद गरीब बन जाओगे. . . बल्कि बीमार, शराबी, भयग्रस्त, अपमानित." अंत में कारेल, मंत्री महोदय के पश्चाताप को भी उतनी ही शिद्दत से झेलता है याकि उस क्षण-भंगुर भयावह करोंच को दुबारा अपने अंडरग्राउंड के अंधेरे में दबा देता है—दोनों संभावनाएं हैं कहानी में.

▣ **कुमार अरुण, सारण, बिहार**

प्रकृति के बहाने अपने को देखता हूं

□ रघुराय

इस बार 'ज़रिया-नज़रिया' और 'तस्वीर बोलती है' के स्थान पर रघुराय के इन छायाचित्रों को देते हुए अपने पाठकों से क्षमायाचना तो मुझे करनी है लेकिन चित्रों के ज़रिये रघुराय के रचना संसार तक आपको जरूर ले चलना चाहता हूं. प्रारंभ से ही रघुराय के चित्रों का मैं प्रशंसक रहा हूं. चित्रों की तकनीकी उपलब्धि का नहीं, उनके पीछे के सोच का. असल में भारत में छायांकन को कला के दर्जे तक ले जाने वाले छायाकार बहुत कम हैं, जो हैं उनमें से कुछ डार्करूम तकनीकों में उलझ कर रह जाते हैं, कुछ मशीनी चकाचौंध में डूब जाते हैं, कुछ हैं जो कैमरे के आधुनिकीकरण या डार्करूम कीमियागिरी से सरोकारी कम रखते हैं. कैमरे में जो क्षण कैद कर रहे हैं उस क्षण के प्रति ज़्यादा ईमानदार रहना चाहते हैं. जब आदमी उस क्षण के प्रति ईमानदार होकर उसे संवेदनशीलता के साथ पकड़ता है तो वह आर.आर. भारद्वाज, टी. काशीनाथ, पी.एन. मेहरा, वामन ठाकरे, ओ.पी. शर्मा, मित्तर बेदी, किशोर पारेख अथवा एस. पाल में से कुछ बनता है. इसी कुछ को ढूंढ़ता हुआ मैं आज से करीब 15 साल पहले रघु से बंबई में टकराया था जब उसकी एक प्रदर्शनी

प्रकृति, जो रिश्ते बदलती है

चट्टानों का सुनियोजित परिवार

जहांगीर आर्ट गैलरी में लगी थी. और तब से आज तक उसकी फोटो कला के विकास को बड़े ध्यान से देखता आया हूं. उसकी नवीनतम प्रदर्शनी जब दिल्ली की त्रिवेणी कला संगम दीर्घा में लगायी गयी तो उसकी रचना-दृष्टि का एक बिल्कुल नया आयाम देखने को मिला. घुसते ही चट्टानों के चित्र मिले. पानी में आईना देखती हुई चट्टानें. पारदर्शी. रघु ने पूछा, "नहीं लगता कि ये चट्टानें पारदर्शी हो गयी हैं, अपने आपको झांकती हैं, खोजती हैं कुछ?" मैंने चारों तरफ नजर दौड़ायी तो सच मेरे तई भी चट्टानें जीवंत हो उठीं. मैंने पूछा "कहां से लाये ये बोलते शिला-खंड?" "जमशेदपुर से" उसका उत्तर था और उसने एक समूचे शिला-परिवार की तरफ इशारा किया. बिखरी हुई विशाल शिलाएं, "उसे देख नंदन, लगता है. . . . आज भी बहुत-सी अहिल्याएं बुत बनी खड़ी हैं और किसी राम का इंतजार कर रही हैं कि वह आयें और इनके पत्थर के जिस्म में नयी जान डाल दें. और वो देख, चट्टानों ने भी परिवार नियोजन कर लिया है." सच, चट्टानें कुछ इस तरह खड़ी थीं स्त्री-पुरुषों के बीच बच्चों का आभास दे रही थीं. कैमरे के माध्यम से चट्टानों की जीवित अभिव्यक्ति का वह कला-संसार सचमुच अद्भुत था.

इस बार के छायाचित्रों में रघु ने प्रकृति को ही अधिक पकड़ा था.. प्रकृति को अपनी समग्रता में. पत्तियों में समाया हुआ प्यार-मनुहार, उन्माद और समर्पण का समूचा संसार मेरे सामने था. जब आप प्रकृति के प्रति संवेदनशील होते हैं तो प्रकृति कितनी संवेदनशीलता से आपका साथ देती है इसका प्रमाण उसका वह चित्र है जिसमें उसने एक फ्रेम में कोने से बादलों को आते पकड़ा है. बीच में बादल का सघन टुकड़ा है और तीसरे बादलखंड को दीवार के पार से ऐसे पकड़ा गया है मानों वह झरने में बदल गया है. प्रकृति को ऐसी बारीकी से

देखना और धीरज के साथ उसके अगले आचरण का इंतज़ार करना ही इस चित्र का मूल बिंदु था जिस पर मैंने रघु को छेड़ दिया और वह छिड़ा तो ऐसे. "कैमरा पकड़ना और क्लिक दबाना कोई कला नहीं है, ऐसा तो सभी कर सकते हैं. कोई भी चीज़ सिर्फ़ वही नहीं होती जो वह दिखायी देती है. उसमें और भी बहुत कुछ होता है, वही महत्त्वपूर्ण होता है. उसे हम तभी देख सकते हैं जब हम उसे महसूस करें, उसे अपने अंदर जियें. यह जीना सबके वश का नहीं है."

रघु काफी गंभीर हो गया था. उसकी आंखें शून्य में कहीं टंगी हुई थीं और वह बोले जा रहा था––"कुछ भी मेरे लिए सही तभी होता है, जब अंदर से अपील करता है. . . वह अपील सिर्फ इमेजरी की अपील नहीं होनी चाहिए. . ."

"तू जितने भी फ्रेम बनाता है क्या वे सभी अच्छे होते हैं?" मैंने पूछा.

"अक्सर ऐसा नहीं होता और हो भी नहीं सकता, जो ऐसा कहते हैं वे अपने आपको तो धोखा देते ही हैं, आर्ट को भी धोखा देते हैं. मेरे साथ अक्सर 36 फ्रेम में से एक भी अच्छा नहीं होता और कभी हुए तो काफी हो गये––इसके लिए कोई शर्त नहीं होती––जीने की भी कोई शर्त होती है यार? जब मैं नेचर स्टडी करता हूं तो सही में मैं अपनी खुद की स्टडी करता हूं. नेचर की परवाह अगर आपको नहीं तो उसे भी आपकी परवाह नहीं. वह (नेचर) अपने फार्म, परिवेश, रिश्ते बदलती रहेगी."

तभी पास में ही मधुर खिलखिलाहटें गूंजीं. रघु की समाधि टूटी. हम लोग खिलखिलाहटों की ओर मुखातिब हुए. रंग, रोगन और आयरन से दुरुस्त युवतियां रेस्तरां की ओर जा रही थीं. रघु अचानक उदास हो गया. कुछ ठहर कर बोला, "यार, इनमें से कोई भी प्रदर्शनी देखने या पसंद करने नहीं आयी. सब अपने को ही दिखाने और पसंद करवाने आते हैं. दे टेक फुल केयर ऑफ देयर बोडीज एंड क्लाथ्स आनली. . . देख तुझे एक

21वीं सदी : आदमी के स्पेयर पार्ट्स→

बादलों का रस

गर्वोन्नत स्वाभिमान
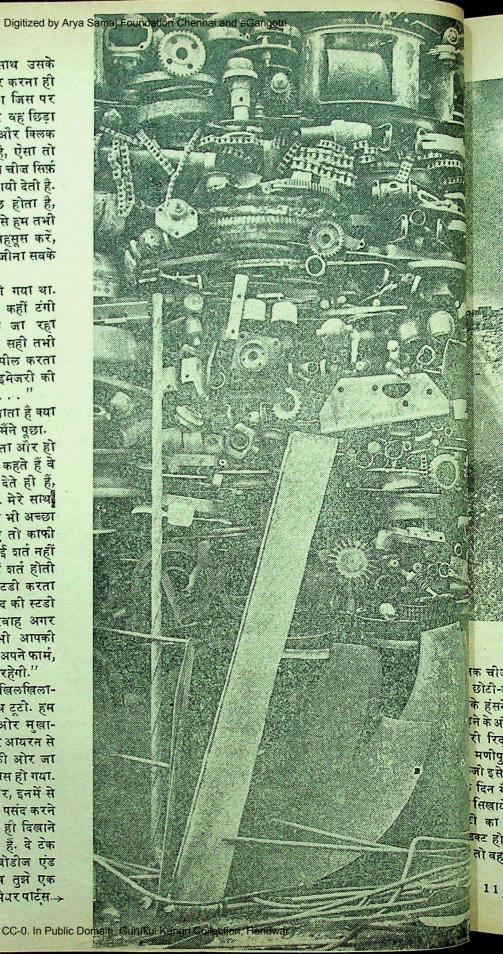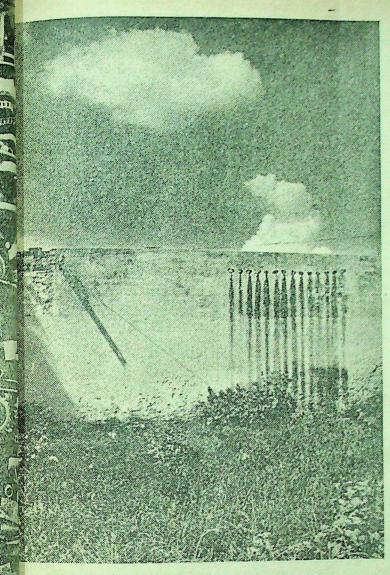
क चीज़ दिखाता हूं. वो देख...
छोटी-सी प्यारी-सी बच्ची. जरा
के हंसने, बात करने, चलने और
ने के अंदाज़ पर ध्यान दे——कितनी
री रिद्म है उसकी हर चीज़ में.
मणीपुरी के गुरूजी की बेटी है.
जी इसे भी मणीपुरी सिखा रहे हैं.
दिन मैंने उनसे कहा——यदि आप
सिखायेंगे तो यह आपकी आइडें-
ी का रिपीटेशन होगा——आपका
डक्ट होगा. और यदि इसे खुद करने
तो वह आपकी उपलब्धि होगी...
वह इसका खुद का क्रियेशन होगा..."

"किसी भी 'क्रियेशन्' के कुछ बुनियादी सिद्धांत होते हैं. रघु कला को इस कदर छुट्टा छोड़ने से तो अराजकता बढ़ जायेगी. नहीं?" रघु अपने हाथों, आंखों... यहां तक कि कभी-कभी पूरे शरीर से बोलता है. खीझ कर बोला, "तो तुम इसकी स्वच्छंदता के पर कुतर देना चाहते हो? कुतरो और बनाओ उसे पिछलग्गू अपने बाप-दादों का." "इसीलिए पारंपरिक कलाओं में प्रयोग नाम की चीज़ खारिज है. आप बंधी-बधायी लीक से हटना नहीं चाहते. जो हटता है उसे मान्य नहीं ठहराते. यही घपला है और यह सब जगह है. इसीलिए मोडियाकर पनप रहे हैं और जो सच्चे मौलिकता में आकंठ डूबे हुए रचनाकार हैं वे कोने-खोतरे में पड़े अपनी साधना में मस्त हैं." बोलते हुए रघु हिरन की तरह चौकन्ना हो-होकर अपनी प्रदर्शनी के दर्शकों पर निगाह फेरता जाता है और आखिर में लगे मुर्गे वाले चित्र पर आकर अटक जाता है. पूछता है, "जानता है कि यह कौन है?"
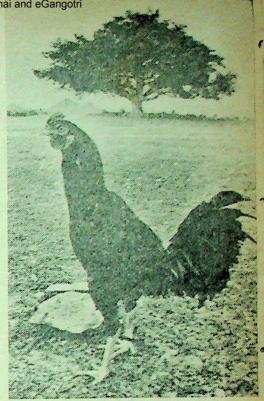
"मुर्गा," मैं अभिधा में बोला. "नहीं, मैं हूं, मैं!" और उसने मुर्गे की तरफ स्वाभिमान में उठी हुई गर्दन को उसी तरह मोड़ा और दर्शकों में खो गया.

एक दिन मि. टंडन जब पपलू का खेल निबटाकर घर लौटे तो उन्हें बंगले का फाटक खुला हुआ मिला. रोज़ के मुकाबले उन्हें आज डेढ़ घंटे देर हो गयी थी. इसलिए खुला फाटक देखकर उन्हें ताज्जुब हुआ. पर कुछ और अचंभे अभी सामने आने बाकी थे : उस वक्त पोर्टिको में तेज़ रोशनी हो रही थी, माली गाड़ी की हैडलाइट के ठीक आगे आकर खड़ा हो गया था, पत्नी यानी उषाजी अपने मोटापे और ढीली साड़ी को संभालती हुई बरामदे की सीढ़ियों पर खड़ी थीं और माली से कुछ कह रही थीं.

रोज़ के हिसाब से सब कुछ बदला हुआ था. ज़्यादातर होता यह था कि इतनी देर से लौटने पर वे बंद फाटक के पास गाड़ी रोककर आधा मिनट तक हार्न-रिंग दबाये रहते, फिर खीझते हुए खुद फाटक खोलते, खुद ही बंद करते. लड़की रचना उर्फ रुची आकर दरवाज़ा खोलती और उषाजी अपने कमरे में चार इंच डनलो-पिलो पर लुढ़की हुई शास्त्रीय संगीत का कोई टेप सुनती हुई मिलतीं.

पर आज उनके गाड़ी रोकते-रोकते उषाजी सीढ़ियों से नीचे उतर आयीं और बोलीं, "तुमने देखा?"

"क्या?"

"उसे."

मि. टंडन कमसुखन और नाज़ुकमिज़ाज आदमी थे और वास्तव में एक ऊंचे रिटायर्ड अफसर थे. पहेलियों में बोलना और बात करना उन्हें नापसंद था. आंखें सिकोड़कर उन्होंने पत्नी को गौर से देखा, पूछा "कहना क्या चाहती हो?"

"तुमने फाटक के उधर वाले खंभे के पास किसी को नहीं देखा? एक गुंडा है. . .रुची के पीछे लगा है."

वे जब कार से लौट रहे थे, ठंडी हवा चेहरे पर स्फूर्तिदायक लगी थी, सड़क चिकनी और वीरान थी, पेड़ सुगंधित फूलों से सुसज्जित थे और वे जानते थे कि ऊपर साफ-सुथरा और तारों भरा आसमान है. इस दशा में उन्हें उषाजी की बातचीत अनावश्यक रूप से नाटकीय जान पड़ी. बोले, "तुम भी न जाने क्या-क्या सोचती रहती हो! हुआ क्या है?"

तब कई तथ्य प्रकट हुए. बंगले के सामने साठ फीट चौड़ी सड़क पर बिजली के खंभे अंधेरे में हैं, सभी ट्यूबलाइटें बुझी हुई हैं, ऐसा कई दिन से हो रहा है और ताज्जुब है कि रोज़ रात को मोटर से लौटते हुए मि. टंडन को इसका कभी एहसास नहीं हुआ. बहरहाल, यह गुंडा कई रोज़ से इधर आकर खंभे के पास खड़ा हो जाता है, माली ने पहले भी देखा था, रुची ने भी, आज भी यह धुंधलका होते ही यहां आ गया है. दो घंटे पहले, यही आठ बजे, जब रचना उर्मिला के बंगले से सड़क पार करके आ रही थी तो गुंडे ने अचानक उसे छेड़ा, पूछा कि आपकी घड़ी में क्या टाइम हुआ है. इस पर रचना तेज़ी से बंगले की ओर मुड़ी. तब उसने कड़क कर कहा, "इस तरह भाग क्यों रही है? मैं सिर्फ टाइम जानना चाहता हूं, मेरी घड़ी बंद हो गयी है." रचना किसी तरह भागकर बंगले में आयी, बेहाल थी और हांफ रही थी. बाद में माली और नौकर सड़क पर देखने के लिए गये और बताने के लिए लौट आये कि गुंडा बंगले के नुक्कड़ पर अब भी खड़ा हुआ है. उषाजी ने उन्हें रोका कि अभी कुछ मत बोलो, क्या पता उसके पास छुरा हो या तमंचा हो, साहब को क्लब से लौटने...

"क्या कर रही हो रुची?" कुछ करने या सोच... मि. टंडन ने पूछा.

रुची कमरा बंद करके लेट गयी थी, कह चुकी थी मैं यहां नहीं रह सकती. कुछ-कुछ ऐसा ही आदमी— यही या कोई और—कई दिन से कालिज के फाटक... दिखायी पड़ता ... ममी, ये बातें यूं ही, बेकार का... करती हैं. मैं मामाजी के यहां चली जाऊंगी. ठीक है...

मि. टंडन का चेहरा खिंचकर गंभीर हो गया. वे ... ओर चल दिये. उषाजी ने कहा, "वह गया न हो तो कु... नहीं, पुलिस को फोन करना ठीक रहेगा. पीछे-पीछे ... एक नाबालिग़ नौकर के साथ वे फाटक की सुरक्षा... रेखा पार करके, एक अजीब से उलझाव का अनुभव... धुंधली सड़क पर आ गये. सब कुछ सहज था; वही ... हवा थी और बहुत ऊपर बसंती आसमान में चमकते... उन्होंने सतर्कता से इधर-उधर देखा और उन्हें बंगले... पर अंधेरे खंभे के नीचे सुलगती सिगरेट की चमक दि...

सुरक्षा...

• श्रीलाल शुक्...

अचानक उनके लिए सहजता का तिलिस्म टूट ... एक ख़ौफ़नाक बियाबान में तब्दील हो गयी.

मि. टंडन उलझाव और टकराव से बराबर दूर रहे... का सारा रास्ता शांतिमय और सपाट रहा था. उन्हें ... कचहरी नहीं जाना पड़ा, अपना राशन कभी खुद नहीं... पड़ा, रेल या बस का टिकट लेने या रिज़र्वेशन करा... वे कभी लाइन में नहीं खड़े हुए. रेडियो और रिवाल्वर... का नवीकरण, कार की रजिस्ट्रेशन फीस जमा करने की... बिजली और बंबे के कनेक्शन लेने की दौड़-धूप, इस सब... मुक्त रहे, हमेशा कोई दूसरा ही उन के लिए यह ... रहा; सिर्फ दो-चार बार हवाई जहाज़ की यात्रा के दौ... दरम्यानी शहरों में अगली फ्लाइट के लिए अपनी सीट... करानी पड़ी थी और ऐसे मौकों पर चुस्त कर्मचारियों... उन्हें उतनी चुस्त और हसीन लड़कियों की हसीन मु... उतनी हसीन नहीं लगी थी. बहरहाल. . .!

आज अचानक उनकी व्यवस्थित और सुचारु ज़िंद... को रौंदते हुए बाहरी दुनिया की अदृश्य पाशविक श... हमला बोल दिया था. उसने उन्हें थोड़ी देर के लि...

पृष्ठ :

दिया, पर बरसों के अभ्यास ने उन्हें धीरज के साथ परिस्थिति पर काबू पाने के लिए प्रोत्साहित किया. उन्होंने थाने पर फोन किया, जहां से किसी ऊंघे हुए सिपाही ने उन्हें पुलिस के उड़नदस्ते से संपर्क करने की सलाह दी. फिर कई नाराजगी-भरी टेलीफोन वार्ताओं के बाद, और कई बार वे जिस ओहदे से रिटायर हुए थे, उसका जिक्र हो चुकने पर उन्हें सांत्वना मिली कि पुलिस आ रही है. बाद में पुलिस के आने पर पता चला कि सड़क पर कोई नहीं है और उड़नदस्ता मि. टंडन के मन में एक खीझ पैदा करके वापस लौट गया. पुलिस वालों ने कुछ कहा नहीं पर मि. टंडन को शुबहा था, और इसलिए खीझ थी कि पुलिस मामले को बड़े हल्के ढंग से ले रही है, समझ रही है कि उसे यूं ही परेशान किया गया है.

▣

दूसरे दिन सवेरे का अखबार केंद्रीय मंत्रिमंडल के संकट, चीन-वियतनाम के तनाव और कुछ अफ्रीकी देशों के अंतर्युद्ध की खबरों से भरा हुआ था. अपने इकलौते लड़के के इंडियन-फारेन सर्विस में चले जाने के बाद कई साल से मि. टंडन विदेशी मामलों का और देश की फुनगी वाली राजनीति का अध्ययन करना अपना पारिवारिक दायित्व समझने लगे थे और इस क्रम में वे ऐसी खबरों को बड़े गौर और समझ से पढ़ा करते थे. पर उनकी अनमनी तबियत इन खबरों में आज रम नहीं पायी और अचानक उन्होंने अपने को अखबार के तीसरे पन्ने पर स्थानीय समाचार पढ़ते हुए पाया. उन्हें अचरज हुआ कि उन्हीं के शहर में, सरासर उन्हीं के उच्चवर्गीय मुहल्ले से तीन किलोमीटर पर, रात को दो हत्याएं हुई हैं, कई जगह राहजनी और डकैतियां पड़ी हैं और सारा शहर अराजकता के आतंक से कांप रहा है. वे तय नहीं कर पाये कि यह सब पिछली रात ही में हुआ है या पहले से बराबर होता आ रहा है. इसके लिए उन्होंने पिछले अखबारों को पलटना चाहा पर उन्हें अपने मन की गिरावट ग़ैरवाजिब जान पड़ी और वे अखबार के चौथे पन्ने पर अपना ध्यान केंद्रित करने लगे जहां इज़राइल और मिस्र के संबंधों पर किसी विदेशी पत्रकार का ज्ञानवर्द्धक लेख छपा हुआ था.

▣

रुची चुपचाप उनके पीछे आकर खड़ी हो गयी थी. उन्होंने उसकी ओर देखा और उत्साह से कहा, "हलो बेबी!"

रुची ने मुस्कराकर इस उत्साह को कबूल किया, कहा, "पा, मुझे क्या एक बजे तक आप ब्रिटिश काउंसिल लाइब्रेरी से ले लेंगे?"

"क्यों? तुम्हें खुद लौटने में कोई दिक्कत है?" कहते ही वे सकुचा गये, रुची के कुछ कहने के पहले ही बोले, "कोई बात नहीं, मैं उधर जाऊंगा ही, तुम्हें लेता आऊंगा."

पर रुची ने कहा, "आपको परेशानी होगी पा, छोड़िए, मैं कोई स्कूटर कर लूंगी."

उन्होंने उसे समझाने की कोशिश की, पर रुची खुद अपनी ही बात मज़बूती से काटते हुए इसी पर तुली रही कि उन्हें तकलीफ़ करने की ज़रूरत नहीं है.

उस शाम अचानक बादल घिर आये, हवा बहुत तेज बही और बिजली की तलवारें बराबर लपलपाती रहीं और मि. टंडन ने

सड़क पर वक्त के पहले से ही घिर आये अंधेरे को देखकर कार-पोरेशन वालों को फोन किया कि उनके उधर की स्ट्रीट-लाइट तुरंत जलनी चाहिये. पर उन्होंने सलाह दी कि उन्हें बिजली कंपनी के पथ-प्रकाश-विभाग से संपर्क करना चाहिये, और बिजली कंपनी के उपर्युक्त विभाग ने उन्हें बताया कि मामला पेचीदा है, कि किसी ठेकेदार के बिल का भुगतान नहीं हुआ है, कि ट्रांसमिशन लाइनों में कोई गड़बड़ी है जिसे ठीक होते-होते आठ-दस दिन लग जायेंगे.

सारी बात असहनीय थी और इस तर्क से समझौता करना कि शहर के इस हिस्से का भाग्य और भविष्य एक लद्धड़ नौकरशाही की मुट्ठी में है, उन्हें बड़ा अपमानजनक जान पड़ा. पर पी.ए. वगैरह की मदद के बिना अनजाने जूनियर अफसरों को फोन करना और बार-बार उनसे खुद अपनी भूतपूर्व सरकारी हैसियत का ज़िक्र करना कुछ कम अपमानजनक नहीं था. इसलिए मि. टंडन ने सीधे राज्य विद्युत परिषद के चेयरमैन को फोन करने का फैसला किया और दूसरा फैसला यह किया कि वे आज क्लब नहीं जायेंगे. जैसा कि डर था, राज्य विद्युत परिषद् के चेयरमैन उन्हें फोन पर नहीं मिले, वे इटली या जर्मनी गये हुए थे और उधर से जवाब देने वाली यह नहीं बता सकी कि इस वक्त चेयर-मैन का काम कौन देख रहा है. मि. टंडन के इसरार करने पर एक कन्वेंटी अंग्रेज़ी आवाज़ ने कहा, "यह बंगला है, बोर्ड का आफ़िस नहीं है!"

झल्लाकर उन्होंने रिसीवर पटक दिया और सड़क की दिशा में अपना ध्यान घुमाया. तब तक अंधेरा फैल चुका था. उन्होंने माली को पुकारा और उसके आ जाने पर कहना चाहा कि देख आओ, सड़क पर क्या आज भी कोई खड़ा हुआ है. पर यह कहते हुए उन्हें हिचक लगी. लगा, जैसे अपने घरेलू रहस्य में वे माली को यूं ही साझा देने जा रहे हैं. माली से उन्होंने कहा, "मेम साहब क्या कर रही हैं?"

"कमरे में हैं, बाजा सुन रही हैं."

उन्होंने ध्यान से सुना, सचमुच ही अंदर से वायलिन की आवाज़ आ रही थी. उषाजी मौसम के हिसाब से कोई चुना हुआ राग वायलिन के टेप पर सुन रही होंगी. संगीत ने मि. टंडन को सहलाया, उनकी तनी हुई नसें ढीली होने लगीं. उसी के साथ उनके मन में यह अंधविश्वास जागा कि इस हवा और बादल और वायलिन के माहौल में आज कुछ भी असहज नहीं होगा. माली को अगले हुक्म की इंतज़ार में खड़ा हुआ छोड़कर वे बरामदे में टहलने लगे, फिर धीरे-धीरे टहलते हुए फाटक के पास गये. सड़क सुनसान और अंधेरी थी, पर सामने के बंगले की रोशनी के वृत्त-वर्ग-त्रिकोण उस पर इधर-उधर छितरे पड़े थे. उन्होंने छुटकारे की सांस ली और तुरंत अनुभव किया कि मन को भुलावा भर देना है. जहां पहली नजर में उन्हें बंगले का नुक्कड़ वीरान दिखा था वहीं खंभे से टिककर उन्हें किसी के खड़े होने का आभास मिला, कुछ ही पलों बाद किसी ने वहां सिगरेट जलायी.

मि. टंडन ने अंदर आकर फाटक बंद कर लिया और उसी तरह धीमी चाल से बरामदे में आ गये. पत्नी के कमरे में पहुंचकर वे आराम कुर्सी पर बैठ गये और कुछ देर टेप पर वायलिन की धुन सुनते रहे. उषाजी ने कहा, "अच्छा हुआ आज तुम क्लब न गये."

"रुची कहां है?"

"अपने कमरे में. जैसे ही उसे मालूम हुआ कि वह गुंडा फि खंभे के पास आकर खड़ा हो गया है, वह मेरे पास आकर बिग लगी. ठीक ही तो कहती है, तुम किसी से कुछ कहते क्यों नहीं

कुछ कहे बिना वे कमरे से उठकर टेलीफोन की ओर चल दि

▣

ऊंची नौकरी का फ़ायदा सिर्फ़ बड़े फ़ैसले करने और भारी तनख़्व लेने ही में नहीं है,असली फ़ायदा यह है कि बराबरी और ऊ हैसियत के सैकड़ों लोगों से घरेलू रिश्ते बन जाते हैं और जिन मोटर के झंडे और चपरासी के झब्बे को छोटे स्कूलों के ब आंख फैलाकर देखते हैं. उन्हीं को ऊंची नौकरी वाले का बच्च 'अंकल' या 'ताऊजी' कहता हुआ आनंदपूर्वक ज़िंदगी की सिवि लाइंस में विहार करता है. जो भी हो, मि. टंडन को शायद सूझ भी नहीं, पर यह बात रुची ने उठायी और उससे सुनकर उषा ने कहा, "डा. मनचंदा से क्यों नहीं मिलते? रुची कह रही थी उसके मांटी अंकल आजकल यहीं है न."

मांटी अंकल उर्फ डा. मनचंदा का शोध-प्रबंध अपराध-शास्त्र पर था और उसके सहारे, जब वे एक छोटे ज़िले के पुलिस कप्तान थे, वे पी.एच.डी. हो चुके थे. वही अब इस शहर में खुफ़िया पुलिस के डी.आई.जी. थे. मि. टंडन को सुझाव पसंद आया, माथा ठोककर बोले, "मेरी अक्ल को भी क्या हो गया है कि मनचंदा की याद ही नहीं आयी!" और टेलीफोन का झंझट झेले बिना उसके बंगले पर पहुंच गये. वहां मनचंदा नहीं मिले, वे बाहर गये हुए थे (पता नहीं उषाजी, क्या हो गया है कि सारे अफ़सर अ बाहर ही बाहर रहा करते हैं). सांत्वना इससे मिली कि मिसेज़ मनचंदा पहले की तरह हंसकर मिलीं, उन्होंने चाय पिलायी रुची और उषाजी के हाल-चाल पूछे और जब मि. टंडन ने खंभे के पास खड़े होने वाले गुंडे का ज़िक्र किया तो उन्होंने हमे की तरह समझदारी से सलाह दी कि भाई साहब, आपके पेट बात पचती नहीं, इसलिए कहती हूं, क्लब में कहीं इसका ज़िक्र न कीजिएगा. नहीं तो हज़ार मुंह और हज़ार बातें. लोग रुची ही बारे में उल्टे-सीधे अटकल लगाने लगेंगे.

मि. टंडन ने मन ही मन इस सलाह की दाद दी क्योंकि एक बार उनके मन में भी आया था कि कहीं ऐसा तो नहीं कभी किसी कमज़ोरी के क्षण में रुची ने ही इस आदमी को बढ़ा दिया हो—आखिर वह उसके लिए कालिज के पास भी देखा गया था, यह दूसरी बात है कि रुची इस बात पर निश्च के साथ कुछ नहीं कहती. जो भी हो, रुची से इस बारे में खुल बात करने की उनमें हिम्मत नहीं थी.

इसी के साथ, उन्होंने मन ही मन अपने को कोसा भी, क्योंकि वे सचमुच ही क्लब के दो-एक साथियों से इसका ज़िक्र कर चु थे और उन्हें लगा कि वे अब तक न जाने कितने उल्टे-सीधे अटक लगा चुके होंगे. शायद इस वक्त भी वे अपनी बीवियों से क रहे होंगे, "क्या पता कौन है! रुची का ही कोई ठुकराया हु दोस्त होगा! देखती जाओ!"

उस दिन का अखबार कुछ शांत था. तीसरे पन्ने पर शहर में लड़कियों को छेड़ने या रिक्शे पर जाती हुई महिलाओं के कंठाभरण छीनने की घटनाएं नदारद थीं. छुरेबाज़ी और गुंडा गिरोहों के आपसी महायुद्धों का ज़िक्र न था. उनकी जगह छात्रों के आरक्षण विरोधी आंदोलन ने ले ली थी. सरकारी मोटरों पर पथराव और बसों के जलाने का ज़िक्र था. मि. टंडन ने कहा, "द कंट्री हैज़ गान टू डाग्स!" और अनायास ही अपने फ़ैसले की पुष्टि के लिए वे अखबार को पलट कर सातवें पन्ने पर पहुंच गये. वहां के अंचलीय समाचारों में डकैती, हत्या और महिलाओं के शीलभंग की घटनाएं थीं. उन्होंने अखबार पटक दिया. धार्मिक न होते हुए भी बोले, "ओह गाड!"

मौसम अजीब चिपचिपा-सा हो रहा था, आसमान पर बादल छाये थे और हवा बंद थी. सामने लॉन में चटकीले फूल सुस्त से दिख रहे थे. उनकी तबियत गिरने लगी. मौसम, अखबार, मनचंदा की ग़ैरहाज़िरी, आने वाली शाम का डर, रुची का निष्कलंक चेहरा—सबने मिलकर उन्हें बहुत बेचैन बना दिया. उनके ख़्यालात भटकने लगे. उनकी कल्पना में उन्हें अपना बंद फाटक भी खुला दीखने लगा, उससे कुछ गुंडे–सिनेमा के गुंडों की पोशाक में—तहमद और बनियान पहने, हाथों में छुरे चमकाते, अंदर घुसे. इस दिवास्वप्न से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने कसकर आंखें मूंद ली, सर के झटके के साथ उन्हें दुबारा खोला और फिर अपनी कमज़ोरी पर खीझ के साथ मुस्कराये. इस सबके बावजूद कहीं कुछ खोया हुआ लगा. पहले का दृश्य पहले जैसा नहीं लगा. सामने का लॉन, बरामदे में रंगीन गद्दों वाली बेंत की पेटेंट कुर्सियां, कमरों में करीने से लटके हुए पर्दे, शांत, सुस्निग्ध वातावरण, उन्हें सब अवास्तविक-सा लगा, उन्हें लगा कि वे किसी जहाज़ के सजे हुए दिलकश कैबिन में बैठे हुए हैं और वह जहाज़ डूब रहा है.

तभी माली ने आकर उषाजी से कुछ धीरे से कहा. मि. टंडन चिढ़कर बोले, "ज़ोर से क्यों नहीं बोलता?" तब उषाजी ने बताया कि उसकी जुरअत तो देखिए, अभी पूरा अंधेरा भी नहीं हुआ है और वह आज एक साइकिल लेकर आया है. हमारी चहारदीवारी से उसने साइकिल टिका दी है और खुद वहीं खंभे के पास खड़ा हुआ है."

उन्होंने माली की ओर सवालिया निगाह उठायी, माली ने कहा, "दुबला-पतला आदमी है. यही पच्चीस-छब्बीस साल का होगा. सरकार कहें तो अभी जाकर उसे ठीक कर दूं!" मि. टंडन ने उसे मना किया. थाने से फोन पर आज उन्होंने इतने तीखेपन से बात की कि इसका स्पष्ट असर हुआ. पुलिस का उड़नदस्ता सड़क पर तुरंत पहुंच गया. पर तब तक, जैसी कि आशा थी साइकिल और साइकिल-सवार वहां से ग़ायब हो चुके थे.

▣

"रुची बेटा, तुम्हें ग़लतफ़हमी नहीं होनी चाहिए, मैं अपनी ओर से कुछ भी नहीं कह रहा हूं. पर अब मैं पुलिस को बाज़ाब्ता इस मामले में लाना चाहता हूं. इसलिए यह पक्का होना चाहिए कि उनके सवाल-जवाब में कोई ऐसी बात न निकले जिससे कि..!"

"पा, आप यही पूछना चाहते हैं न कि मैं उसे जानती हूं या नहीं? इसके लिए घुमा-फिराकर क्यों बोल रहे हैं? कहिए न,
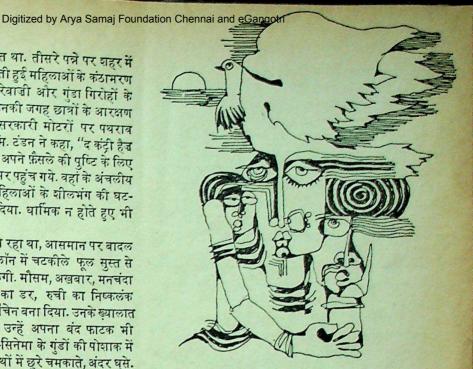
इसमें भी मेरा ही कसूर है. चारों ओर जो कुछ हो रहा है. वह सब मेरा ही क़सूर है."

"रुची प्लीज़. . . . "

"पा, मुझसे बात मत कीजिए. आप हमेशा ही मुझे . . !"

"रुची, रुची. . . प्ली ऽ ऽ ऽ ज़. . " उनकी बातचीत यहीं रुक गयी. फ़ोन की घंटी बजी. क्लब का एक साथी बोल रहा था. कह रहा था कि भई, यह कैसी नाराज़गी है, एक हफ़्ते से तुम इधर आये ही नहीं. और. . . वह ईवटीज़र वाला मामला ठीक हो गया न?

उन्होंने तीखेपन से कहा, "कैसा ईवटीज़र?"

"सॉरी, पर तुमने कहा था. . . "

"वह मामूली बात थी. दरअसल, इधर मुझे कुछ. . . . "

"क्या हुआ भई? अब कैसे हो. . . . ?"

पर ऐसी बातों से माहौल की असहजता बढ़ती ही जा रही थी. पुलिस आती थी और चली जाती थी और उसके आने के पहले ही वह सड़क से ग़ायब हो जाता था. पर अब इधर एक नयी बात यह हुई थी कि पुलिस के निकल जाने के बाद उसी शाम वह ढिठाई के साथ फिर कहीं से सड़क पर आ जाता था—इतना जरूर है कि अब वह खंभे से बराबर टिका नहीं रहता था, इधर उधर टहलने भी लगा था. मनचंदा अभी बाहर से वापस नहीं लौटे थे, इसलिए खुफ़िया पुलिस का कोई आदमी उसके पीछे लगाने की योजना अभी योजना ही बनी हुई थी. पुलिस की दिलचस्पी घटती जा रही थी और थाने के टेलीफोन का सिपाही भी रूखी आवाज़ में कहने लगा था कि ठीक है साहब, इंस्पेक्टर साहब से कहे देते हैं. एकाध बार पुलिस वाले कहने पर भी उधर नहीं आये थे और वह शख़्स रात के दस बजे तक सिगरेट फूंकता हुआ वहां घूमता रहा था.

उस शाम अचानक सड़क की बत्तियाँ जल उठीं व ट्यूबलाइट और बीच-बीच में मरकरी-वेपर के बल्बों ने जगमग दीवाली का समां बांध दिया. देखते ही मि. टंडनका मन हुलसित हो उठा. उन्हें यक़ीन हो गया कि अब सब ठीक हो जायेगा. उसी हुलास में वे गैरिज से गाड़ी निकालकर क्लब के लिए चले, सड़क पर धीमी रफ्तार से गाड़ी चलाते हुए उन्होंने नुक्कड़ के खंभे को वीरान पाया. उन्हें सांत्वना मिली, पर वे जानते थे कि यह सांत्वना झूठी है. उन्होंने रफ़्तार बढ़ाने के लिए ऐक्सिलेटर पर ज़ोर दिया और उसी वक़्त उनके पांव का दबाव ढीला हो गया. उन्होंने देख लिया था कि खंभे से पचास गज दूर पेड़ के नीचे एक साइकिल खड़ी है और उस पर बैठा हुआ कोई सिगरेट फूंक रहा है.

उन्हें बहुत गुस्सा आया, अन्याय और आनाचार के खिलाफ़ उन्हें इतना गुस्सा पहले कभी नहीं आया था. वे चौराहे से घूमकर बंगले पर लौट आये. ब्रेकों पर अभूतपूर्व दबाव डालते हुए तेजी से घुमाकर उन्होंने गाड़ी खड़ी की. दरवाजे को भड़ाम से बंद करते हुए वे अंदर पहुंचे और बोले, "हरामी के पिल्ले ! साले! शरीफ़ों का रहना मुश्किल कर दिया है!"

ऐसी गाली उन्होंने बरसों बाद मुंह से निकाली थी.

उषाजी अब बहुत धीमे वाल्यूम पर गाना सुनने लगी थीं, बात करने के लिए उसे घटाना नहीं पड़ा. बोलीं, "आज भी खड़ा हुआ है?"

"हां, पर अब इस मामले से निबट ही लिया जाये. तुम माली के घर वालों की बात कह रही थीं न?"

"माली खुद ही कह रहा था. उसके गांव के कई लोग यहां रिक्शा चलाते हैं, कुछ खोंचा लगाते हैं. वे सब माली ही के आदमी हैं. कहता था कि साहब का इशारा हो जाये तो इस गुंडे को एक दिन में ठीक कर दें. कहता था कि किसी को पता नहीं चलेगा. जब उसे मालूम होगा कि बंगले के साहब भी कोई चीज़ हैं, वह अपने आप भाग जायेगा. कहता था कि उसके एक साथी का नाम बड़े से बड़े बदमाश भी जानते हैं, गांव से खून करके यहां आया है, नाम बदलकर पान की दुकान चला रहा है, उसका नाम ही सुन ले तो उस आदमी के पैर उखड़ जायेंगे."

माली के अयाचित सहयोग की बात पहले भी हो चुकी थी. जब पहली बार यह तजवीज़ उनके सामने आयी तो उस रात वे ठीक से सो नहीं सके थे. उन्हें लगा था कि साफ-सुथरे राजपथ को छोड़कर वे टेढ़ी-मेढ़ी सुरंगों में भटकने जा रहे हैं. उन्हें डर था कि जो लोग माली के साथ इस गुंडे को ठीक करने के लिए आयेंगे, वे उनसे सारी उम्र मुआवज़ा खींचने की कोशिश करेंगे, अपराध-जगत में कहीं न कहीं उनका भी कोना रिज़र्व हो जायेगा, उनसे क़दम-क़दम पर मदद मांगी जायेगी, सिफारिशें करायी जायेंगी, उन्हें ज़मानतों का इंतज़ाम कराना होगा, उनसे नक़द रुपये की उम्मीद की जायेगी, मि. टंडन उनके ब्लेकमेल का निशाना बन जायेंगे. उस दिन माली की तजवीज़ उन्होंने घृणापूर्वक नामंज़ूर कर दी थी.

पर आज उन्होंने कहा, "ठीक है, माली को बुला लो, बात कर ली जाये, कल तक इस मामले को साफ हो जाना चाहिये."

पहले उन्हें यह भी हिचक थी कि उससे उनके और माली के बीच एक नये ढंग के गंदे समीकरण की शुरुआत होगी. इस सम[य] घुमड़ते हुए गुस्से के बवंडर में यह हिचक का तिनका न जा[ने] उड़कर किस आसमान में खो गया .

■

पर यह सब बेकार साबित हुआ; दूसरी शाम को वह आया [ही] नहीं, सड़क पर बिजली की निर्मल रोशनी में सुख और शां[ति] छलकती रही और साइकिल और उसके सवार की वहां छा[या] भी नहीं पड़ी. माली के छिपे हुए साथी तीन-चार घंटे की मुस्तै[दी] के बाद निराश होकर वापस चले गये, फिर तीसरी, चौथी औ[र] पांचवीं शाम को भी यही हुआ. सड़क पर किसी का इंतज़ा[र] करने वाला गुंडा, लगता था, मुहल्ला छोड़कर कहीं दूर च[ला] गया है.

पर टंडन-परिवार को अभी उससे छुट नहीं मिली थी. ज[ब] माली के गांव वाले शाम को उनके बंगले के इर्द-गिर्द रहते, उनकी अकुलाहट और आशंका अपनी हद का बांध तोड़ने लगती, कु[छ] होने और सुनने की व्यग्रता में बंगले की किताबें, संगीत के टे[प] और रिकार्ड, ताश की गड्डियां और आनंद के सभी साज-सामा[न] बेजान से पड़े रहते. टंडन-परिवार अब उस अजनबी आदमी [के] नहीं, खुद अपने आतंक की गिरफ़्त में छटपटा रहा था.

■

अचानक दूसरे दिन अखबार की एक खबर और फोटो ने सब कु[छ] सुलझा दिया. उनकी नयी संभ्रांत कालोनी की यह सड़क आ[गे] जाकर एक ऐसे रमणीक स्थान से निकलती थी, जहां नदी-नाले थे, नया जंगल उगाया गया था, लता-वितानों के मनोरम कुंज थे, हिरनों की वनस्थली थी, सुरम्य टीले थे, पिकनिक की एकां[त] और आकर्षक घाटियां थी, संक्षेप में, जहां पर्यटन और वन विभा[ग] ने मिलकर पर्यटकों के स्वर्ग का सृजन किया था. वहीं नाले में द[बी] हुई एक टूटी साइकिल पायी गयी थी और किनारे पर झाड़ी [में] एक आदमी की सड़ती हुई लाश भी मिली थी. अखबार में इ[न] दोनों के फोटो छपे थे और एक पैराग्राफ में हत्या का विवरण [भी] आया था. बताया गया था कि लाश किसी अजनबी की है, उस[के] कुल-गोत्र का पता लगाया जा रहा है. हत्या बड़े नृशंस ढंग से की गयी है, शरीर पर छुरे के पच्चीस-तीस घाव हैं, आदि-आदि.

■

तय नहीं था कि यह वही आदमी है या कोई और, पर अखबार [में] जिस दिन साइकिल और लाश की तस्वीरें छपीं उसी दिन [से] बंगले के पास से माली के साथियों की ड्यूटी हट गयी. उसी दि[न] मि. टंडन ने उषाजी से इस रहस्य की कुछ दूसरी संभावनाओं पर भी बातचीत की. उन्होंने कहा कि कहीं ऐसा तो नहीं कि इ[स] आदमी की दिलचस्पी हमारे घर में न होकर सड़क पार उ[स] इमारत में रही हो, जहां अभी हाल में उस बैंक की सायंकालीन शाखा खुली है. उषाजी ने भी जवानी में पढ़े हुए कुछ जासूसी उपन्यासों और कुछ अपराध-कथाओं की याद करके कहा [कि] हो सकता है, क्योंकि कई बार डाकुओं ने बैंक पर डाका डालने [से] पहले वहां के काम-काज के तरीकों और आसपास के माहौल का

राधाकृष्ण : एक श्रद्धांजलि

सामाजिक जीवन की विकृतियों पर करारा व्यंग्य करने वाले प्रेमचंद पीढ़ी के प्रतिभाशाली कथाकार श्री राधाकृष्ण छियासठ वर्ष एक मास इक्कीस दिन की आयु में गत 3 फरवरी को एक लंबी अस्वस्थता के बाद रांची में चल बसे. मातृ-पितृ विहीन बालक होने के कारण प्राइमरी स्कूल से आगे की शिक्षा नहीं पा सके थे. पर, वे बराबर जिंदगी की खुली किताब पढ़ते रहे. सन् 1945 में रांची से निकलने वाली बिहार सरकार की साप्ताहिक पत्रिका 'आदिवासी' के संपादक नियुक्त होने से पूर्व उनके भयानक गर्दिश के दिन बीते थे. उनकी बहुचर्चित कहानी 'रामलीला' भोगे हुए यथार्थ की उपज है. उनके अन्य उपन्यासों में भी, जैसे 'फुटपाथ' एवं 'बोगस' में, हास्य-व्यंग्य का मुख्य स्वर है. 'परिवर्तित', 'चंद्रगुप्त की तलवार', 'मास्टर टेलर', 'लैला की शादी', 'प्रोफेसर भीम भेटाराव' में उन्होंने समसामयिक जीवन की विसंगतियों का बड़े रोचक ढंग से पर्दाफाश किया. हास्य-व्यंग्य-विनोद के क्षेत्र में वे अपनी पीढ़ी के एक सशक्त कथाकार थे. कई हास्य-व्यंग्य वाली रचनाएं उन्होंने 'घोष-बोस-बनर्जी-चटर्जी' नाम से लिखीं हैं. वह मुश्किल से तेईस वर्ष के रहे होंगे जब 1935 में प्रेमचंद ने राधाकृष्ण की गिनती अपने समय के हिंदी के श्रेष्ठ पांच कथाकारों में की थी. राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित उनके 'सनसनाते सपने' उनकी एक महत्वपूर्ण व्यंग्यात्मक कृति है, जिसमें हमें हमारे सामाजिक-राजनीतिक जीवन पर एक कार्टूनिस्ट की पैनी दृष्टि मिलती है. भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' जैसी इनकी 'रूपांतर' एक महान औपन्यासिक कृति है. गत वर्ष 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्' द्वारा इनके कहानी-संग्रह 'गेंद और गोल' पर अढ़ाई हज़ार का नकद पुरस्कार प्रदान किया गया था.

अन्य विधाओं में भी उन्होंने लिखा था, जैसे 'भारत छोड़ो' नाम का एक नाटक. एक बिसार दिये गये सच्चे सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्त्ता की एक पुस्तक की समीक्षा 'नयी धारा' में करते हुए उन्होंने लिखा था—"हमारे राजनैतिक नेतागण नितांत अविश्वास के वातावरण में रहते हैं. वे सब जगह पहुंच तो पाते नहीं मगर सब जगह की बातें उनके पास तक पहुंचती हैं. बातें पहुंचती हैं तो इनमें नमक-मिर्च खट्टा-चर्परा भी मिला हुआ होता है. कार्यकर्त्ताओं की प्रशंसा तो उनके पास पहुंचती नहीं, निंदा करने वाले सहस्त्रमुख होकर निंदा करते हैं. बात को बतंगड़, हवा को बवंडर और पद को पदमसेन कह दिया जाता है." ऐसे उद्गार राधाकृष्ण ने मृत्यु से छह माह पूर्व प्रकट किये थे. सही व्यंग्यकार निर्मम और निष्पक्ष होकर व्यंग्य लिखता है. उसकी तलवार दुधारी होती है. आज तक हमारे कुछ व्यंग्य लेखक एक ही तरफ वार करते हैं, तो वे अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं. कुछ खास व्यक्तियों को ममतावश बचाते हुए कुछ खास व्यक्यिों पर ही, विशेषकर राजनेताओं पर, बार-बार प्रहार करना राधाकृष्ण जैसे श्रेष्ठ व्यंग्य-कथाकार को नहीं आता था. वे अपने पैने व्यंग्य, रोचक प्रसंगों एवं मनोरंजक मुहावरों के लिए सदा याद किये जायेंगे. □

महीनों गहराई से अध्ययन किया है. जो भी हो, वे अब निश्चिंत थे और बैंक की डकैती की संभावना उनके लिए अब एक रोमांचपूर्ण फिल्म जैसी लग रही थी.

दूसरे दिन से ही माली बगीचे और फूलों की पारंपरिक सेवा में तल्लीन हो गया. मि. टंडन क्लब जाने लगे. उपाजी ऊंचे वाल्यूम में मुनव्वर अली खां का शुद्ध कल्याण और बी.जी. जोग का वायलिन सुनने लगीं. रुची जगमग सड़क के उस पार उर्मिला के बंगले में स्वेच्छापूर्वक निवड़क आने-जाने लगी. फूलों और पेड़ों और सोफों और परदों की कांति लौट आयी. आतंक की आवाजें खत्म हुईं. उत्पात-उल्काएं शमित हुईं. दिवाकर सुप्रभ और आकाश निर्मल हो गया. मयंक-मरीचियां रुचिर हो गयीं. मि. टंडन के आई.एफ.एस. पुत्र की चिट्ठियां फिर से विदेशों की उत्कंठापूर्ण वार्ता का विषय बनने लग गयीं. रुची ने अपने चित्रों की एकल प्रदर्शनी की तैयारी शुरू कर दी.

मि. टंडन की अखबार के पहले पृष्ठ में फिर से तृष्णा जागी और तीसरे और सातवें पृष्ठ का भयानक संसार एक कुस्वप्न की भांति उन्हें भूलने लगा; यहां तक भूला कि जिस दिन अखबार के तीसरे पृष्ठ पर यह छपा था कि लाश संभवतः फलां नक्सलवादी की है और हत्या संभवतः आपसी मतभेद के कारण हुई है, उस दिन मि. टंडन अखबार के पहले पृष्ठ पर चीन और वियतनाम के संघर्ष में ही उलझे रहे, वे यह खबर नहीं पढ़ पाये; न यही जान पाये कि बिजली की जगमगाहट के बावजूद चहारदीवारी के उस पार कोई तब्दीली नहीं आयी है. □

● प्रशासक निवास, नगर महापालिका, इलाहाबाद (उ.प्र.)

कुर्सी

■ ठाकुरप्रसाद सिंह

शुरू में कुर्सी में केवल एक पैर था. कलियुग के धर्म की तरह उसी एक पैर पर वह कुर्सी तीन महीने तक खड़ी रही. उस पर बैठने वाले की घोषणा हो चुकी थी लेकिन उस समय उस पर बैठना संभव नहीं था. बड़ी तलाश के बाद कार्यालय के स्टोर में किसी कुर्सी का एक पैर और मिला. उसे उस कुर्सी में जोड़ दिया गया. अब कुर्सी विश्वास के साथ खड़ी हो गयी.

इस बीच जब उस पर बैठने वाले के लिए और जगहों पर रखी कुर्सियां गायब हो गयीं तब वह लाचार हालत में उस कुर्सी की तरफ आया. वह कुछ देर तक खड़ा उस कुर्सी को घूरता, हैरत करता रहा कि केवल दो पैरों पर वह कुर्सी खड़ी कैसे है! जब उसे कुछ समझ में नहीं आया तो उसने कमरे के दरवाज़े से लगी तिपाई पर बैठे-ऊंघते चपरासीनुमा आदमी से इसका भेद पूछा. ऊंघता हुआ आदमी नींद टूट जाने पर खीझ तो गया [illegible] सामने एक लहीम-शहीम आदमी [illegible] देखकर अदब से खड़ा हो गया. उस [illegible] को चपरासीनुमा उस आदमी की [illegible] अदा भा गयी. उसने उसके कंधे थप[illegible] फिर पूछा, "आखिर यह कुर्सी केवल [illegible] पैरों पर खड़ी कैसे है?"

चपरासीनुमा आदमी ने आश्चर्य[illegible] उसकी ओर देखा फिर उसकी बुद्धि[illegible] तरस खाते बोला, "मेरी पच्चीस [illegible] पुरानी नौकरी है, इस बीच मैंने ऐसे [illegible] ही दरवाज़ों पर हाज़िरी दी है [illegible] भीतर कुर्सियां होती थीं. मुझे [illegible] कुर्सियां बहुत कम दिखलाई पड़ीं [illegible] पूरे चार पैर थे. हां, ऐसी कई कु[illegible] देखने में ज़रूर आयीं जिनमें पाये [illegible] नहीं; फिर भी उन पर लोग वर्षों [illegible] रहे".

उसने हैरत से उसकी ओर देखा [illegible] कहा, "यह तो असंभव है. ऐसा कैसे [illegible] सकता है?"

"क्यों, क्या सोमनाथ की मूर्ति [illegible] सहारे पर खड़ी थी? उसे जब मह[illegible] गज़नवी ने पहली बार देखा तो वह [illegible] में झूलती हुई दमक रही थी." चपरा[illegible] बोला.

उसने इस बात पर विश्वास नहीं [illegible] किताबों में यह बात लिखी ज़रूर थी, [illegible] किताबों में तो बहुत कुछ लिखा होता [illegible] उसका मन नहीं माना. वह खड़ा सु[illegible] रहा.

"शतरंज के खेल में बादशाह की [illegible] के नीचे खड़ा एक अदना-सा प्यादा [illegible] कभी बादशाह की जान का ग्राहक [illegible] जाता है. बादशाह चाह कर भी उ[illegible] काट नहीं सकता. बस मौका नि[illegible] इधर-उधर हटकर अपनी जान ब[illegible] है." चपरासी ने बात नज़दीक लाते [illegible]

उसने कहा, "यह तो ज़ोर का [illegible] है." उसने फिर तर्क दिया, "प्यादा [illegible] मजबूत मोहरे के ज़ोर पर होगा. [illegible] हालत में कभी-कभी बादशाह को [illegible] भागने का मौका नहीं मिला करता. [illegible] मात हो जाती है."

चपरासी ने मुस्कराते हुए कहा, [illegible] कुर्सी भी ज़ोर पर खड़ी है. इस पर [illegible] दार ही बैठेगा." चपरासी को जैसे [illegible] याद हो आया. उसने बेचैनी से इधर-[illegible]

देखा जैसे किसी को खोज रहा हो.

"किसी की तलाश है?" उसने पूछा.

"उस ज़ोरदार आदमी की जो इस कुर्सी पर बैठेगा. सुना है वह आने वाला है." चपरासी ने कहा.

"वह ज़ोरदार आदमी अगर यहीं खड़ा हो तो?"

चपरासी ने उसकी ओर इम्तहान लेने वाली नज़र से देखा फिर कहा, "अगर हो तो उसे बैठ जाना चाहिए. डरना नहीं चाहिए. यह कुर्सी देखने भर के लिए दो पांव की है."

"बैठकर देखना है. उसके बैठ जाने के बाद ही आफिस के इंचार्ज को बुलाया जाये." उसने साहस करके कहा.

चपरासी ने सवालिया निगाह से उसकी ओर देखा. जैसे पूछ रहा हो, "ऐसा क्यों?"

स्थिति को स्पष्ट करते हुए उसने कहा, "अगर वह बैठते ही न गिरा तो लोगों को बुलाना ठीक होगा. अगर गिर पड़ा तो किसी को बुलाने की ज़रूरत नहीं."

"गिर जायेंगे तो कोई आयेगा ही नहीं. लोग तभी आते हैं जब आदमी गिरता नहीं." चपरासी ने कहा.

◘

उसने भीतर जाकर दरवाज़ा बंद कर लिया और साहस करके कुर्सी की पीठ पर हाथ रखा. कुर्सी ज़रा-सी हिली. उसका हिलना समझ में आ गया. वह गिरी नहीं, उसके ऊपर बैठा जा सकता है. साहस करके उसने कुर्सी अपनी ओर खींची. पूरा भुगतान लेकर आने वाली औरत की तरफ वह बिल्कुल उसकी बगल में सरक आयी. वह रोमांचित हो गया और बिना किसी हिचक के उस पर बैठ गया. कुर्सी ने एक हिचकोला लिया और बिल्कुल मेज़ के बीच में उसे खींच ले गयी, जहां दो बटन दिखाई पड़े. दोनों पैर टेबल के नीचे लगी आड़ी लकड़ी पर जमाकर उसने दोनों बटन एक साथ दबा दिये.

उसके बाद उसे कुछ नहीं करना पड़ा. कुर्सी के साथ उसकी भोग-यात्रा शुरू हो गयी.

बाहर खड़ा हुआ चपरासी कूदकर खिड़की के रास्ते कमरे में आ गया. बड़ी ही मुस्तैदी से उसने बंद दरवाजा खोल दिया. दरवाज़ा खुलते ही तरह-तरह के लोग कमरे में आकर तरह-तरह की हरकतें करने लगे. वह झेंप गया लेकिन कुर्सी मुस्कराती रही. इसके पहले यह खेल वह कई बार खेल चुकी थी, उसे इसमें मज़ा आ रहा था.

धीरे-धीरे उसकी भी हिचक दूर हो गयी, उसे अब यह महसूस होने लगा कि जब कुर्सी ज़ोर पर खड़ी है तो उसमें दो पाये हों या चार, क्या फर्क पड़ता है! दिखाने के लिए उसने मेज़ पर पड़े डेली-पेपर गोल मोड़ लिये और उन्हें पिछले पायों की जगह लगा दिया. उस बड़े दफ्तर में रहने वाला हर आदमी इससे सहमा हुआ लगा! जिन्हें किसी दिन कुर्सी के गिर जाने की आशा थी वे निराश हो गये. अपनी चालाकी पर वह मुस्कराया.

जब उसने कागज़ के पायों को निकालना चाहा, तो वे नाराज़ होने लगे. उसने घबराकर हाथ खींच लिया और यह मान कर निश्चिंत हो गया कि कुर्सी बिल्कुल ठीक हो गयी है. उसने बैठने का आसन बदल दिया. उसके चेहरे पर छायी घबराहट छंट गयी. वह मुस्कराकर बातें करने लगा. उसने अपनी प्राइवेट सेक्रेटरी की नयी साड़ी के बूटे पहली बार काफी ध्यान से देखे और उसे अपना जूड़ा और ढीला बांधने के लिए कहा.

दूसरे दिन वह तेज बच्चे की तरह अपना होम-वर्क ठीक से करके आयी. उसके नाखून पर नेल-पालिश भी दिखायी पड़ी.

वह उसे बैठे देखता रहा और वह शार्ट-हैंड की कापी पर तरह-तरह की रेखाएं बनाती रही. मौका देखकर उसने कार्यालय के एक कर्मचारी की हल्की-सी शिकायत भी जड़ दी.

तीसरे दिन उसने हाज़िरी रजिस्टर उसके सामने रखा, जिसमें जगह-जगह लाल निशान लगे थे. उसे मज़ा आने लगा. उसने सेक्रेटरी से पूछा, "क्या उसकी नेल-पालिश का रंग कच्चा है?"

वह झिझकी, फिर बोली, "आपको कैसे लगा?"

"रजिस्टर पर लगे लाल निशान देख कर...!" भेद खोलने वाली चतुराई से उसने कहा.

वह मुस्करायी, फिर बड़ी खूबसूरती से उसने अपनी दो अंगुलियां लो-कट ब्लाउज़ के भीतर डालीं और एक छोटी-सी सलाईनुमा बाल-पेन निकालकर दिखायी, फिर बोली, "यह निशान इस कलम के हैं."

उसे लगा सामने बैठी लड़की, लड़की नहीं है, शेरनी है. वह शिकार करना सीख रही है. उसके नाखूनों की खरोंचें जहां भी लगेंगी, खून चुह-चुहा आयेगा.

उसने प्रथा के अनुसार उस कार्यालय के अधिकारियों की बैठक बुलायी. वे एक-एक करके आये. सबसे पहले एक तेज चलने वाला अधिकारी, उसने घड़ी की ओर देखकर गुड-मार्निंग कहा—तब तीन बज रहे थे. दूसरे अधिकारी ने शेरवानी पहन रखी थी, वह स्वतंत्रता संग्राम-सेनानी लगता था. उसने कुछ नहीं कहा और 'क्या फर्क पड़ता है' की मुद्रा में खड़ा रहा. तीसरा अधिकारी सिगरेट पीता घुसा, थाह लेता हुआ कि कितना फ्री हुआ जा सकता है. चौथा घबराया हुआ, यह उसकी टेकनीक थी. पांचवा फिर छठा, फिर सातवां, फिर कई एक, किसी में कोई विशेष बात नहीं, सभी प्रमोटेड, घिसे हुए!

◘

"बैठ जायें!" उसने आवाज़ को गोल करते हुए कहा. सभी दौड़कर बैठ गये, चपरासी ने दरवाज़ों, खिड़कियों के खिंचे हुए पर्दे फिर झटके. छल्ले बजे, धूल बिखर गयी. फिर एक स्विच दबाया; बाहर लालबत्ती!

उसकी कुर्सी उसकी पीठ तथा जांघ से और चिपक गयी, एक उत्तेजना उठाती हुई. उसका ब्लड-प्रेशर चढ़ने लगा.

रस्सी में सांप, सीपी में मोती, शंकराचार्य को तो दुनिया ही भ्रम लगती है. फिर अगर उसे दो पैर की कुर्सी एक औरत लगे तो उसका क्या दोष!

मीटिंग खत्म हो गयी—अगली बार फिर मिलने के लिए.

एकांत होने पर प्राइवेट सेक्रेटरी आयी. आज उसकी दृष्टि में रहस्य था.

"क्या बात है?" उसने पूछा.

"कुछ नहीं सर!" कहकर वह एकदम पास चली आयी फिर देखते-देखते कुर्सी में विलीन हो गयी.

कमरे में केवल हैवेंक्-सेंट की तीखी गंध भर रह गयी! □

● 31, गुलिस्ता कालोनी, लखनऊ
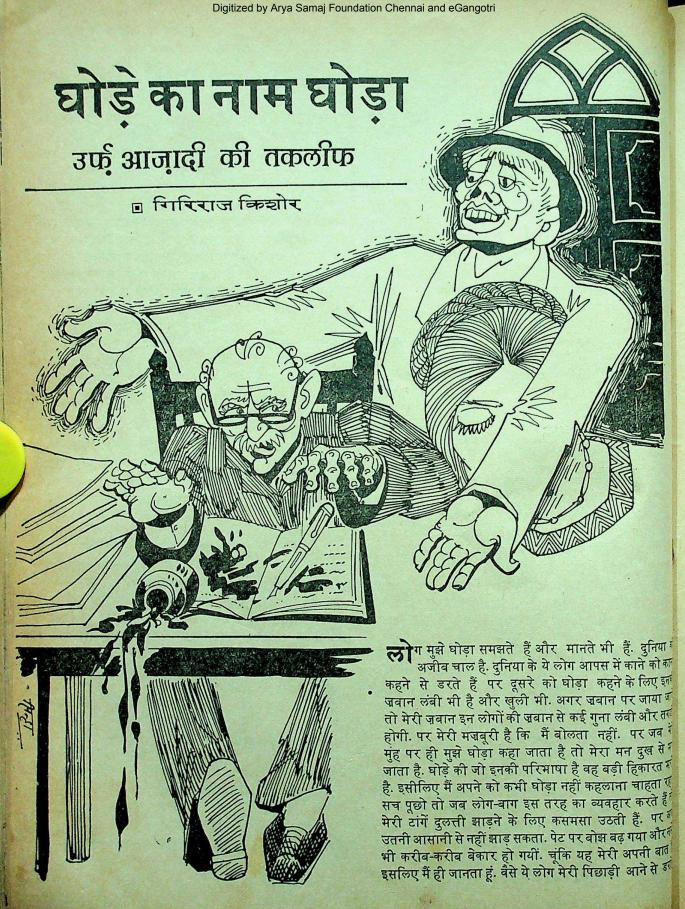
घोड़े का नाम घोड़ा

उर्फ़ आज़ादी की तकलीफ

▣ गिरिराज किशोर

लोग मुझे घोड़ा समझते हैं और मानते भी हैं. दुनिया अजीब चाल है. दुनिया के ये लोग आपस में काने को का कहने से डरते हैं पर दूसरे को घोड़ा कहने के लिए इन ज़बान लंबी भी है और खुली भी. अगर ज़बान पर जाया तो मेरी ज़बान इन लोगों की ज़बान से कई गुना लंबी और त होगी. पर मेरी मजबूरी है कि मैं बोलता नहीं. पर जब मुंह पर ही मुझे घोड़ा कहा जाता है तो मेरा मन दुख से जाता है. घोड़े की जो इनकी परिभाषा है वह बड़ी हिकारत है. इसीलिए मैं अपने को कभी घोड़ा नहीं कहलाना चाहता सच पूछो तो जब लोग-बाग इस तरह का व्यवहार करते हैं मेरी टांगें दुलत्ती झाड़ने के लिए कसमसा उठती हैं. पर उतनी आसानी से नहीं झाड़ सकता. पेट पर बोझ बढ़ गया और भी करीब-करीब बेकार हो गयीं. चूंकि यह मेरी अपनी बात इसलिए मैं ही जानता हूं. वैसे ये लोग मेरी पिछाड़ी आने से ड

हैं. ये लोग मेरी पिछाड़ी की समता अफसर की अगाड़ी से करते हैं. अफसर आदमी होता है, वह अगाड़ी मारता है. वैसे अब मैं दुलत्ती झाड़ने के पक्ष में नहीं. सोचता हूं अगर मैं भी वही करने लगूं जो ये लोग करते हैं, तो मुझमें और इनमें अंतर क्या रह जायेगा! मैं वही तो नहीं जो कुछ वे कहते या समझते हैं. वह भी तो हूं जिसे वे देख या समझ नहीं पाते. जो सामने देखा जाता है वही पूरापन नहीं होता. बस मैं बोलता नहीं, क्योंकि बोल पाता नहीं या सकता नहीं. वरना मैं भी अंदर से वही हूं जो ये सब घोड़ा कहने वाले हैं.

एक बात और है अगर मैं वह नहीं होता जो ये हैं, तो मैं वह सब कुछ कैसे सीख जाता जो इन लोगों ने मुझे मार-मारकर, मुर्गा बना-बनाकर सिखाया. अगर मैं संवेदनशील न हुआ होता और अपनी मजबूरी और इनकी ताक़त को समझता न होता तो इनमें से किसी को भी पास नहीं फटकने देता. मालिक ने तो मुझे अपने अस्तबल में भर्ती करके बड़े नत्थू पर छोड़ दिया था. और तब तक मेरी सुध नहीं ली जब तक उनकी परिभाषा के अनुसार मैं पूरी तरह घोड़ा नहीं हो गया. मेरा मालिक यद्यपि मुझसे बहुत खुश रहता है. कभी उसने अपने हाथ वाली चमड़े की कमची की नोंक तक मेरे शरीर से नहीं छुआयी. पर कभी-कभी ऐसा व्यवहार कर देता है कि दिल अंदर तक दुख जाता है. पर वह मालिक यानी 'नत्थुओं में सबसे बड़ा नत्थू' और मैं उसकी सवारी! कुछ कर नहीं पाता. वह समझता ही नहीं कि उसके व्यवहार से किसी दूसरे को दुख भी पहुंच सकता है.

मैं ज़रा-सी भी हुक्म-उदूली कर दूं या इधर मुड़ने के बजाय उधर मुड़ जाऊं तो शायद टुकड़े-टुकड़े करके फिंकवा दे. पर मैं इस सबके बावजूद अपनी पीठ उसकी सवारी के लिए सदा कसे रखता हूं. कभी कूद कर चढ़ता है, कभी रकाब पर पैर रखकर, जब जहां चाहे ले जाता है. जैसे चाहे हांकता है. लगाम उसके हाथ में है. लगाम भी ऐसी-वैसी नहीं दानेदार, मोटी! इसका भी मुझे कोई मलाल नहीं. भावना को तो समझे. अच्छे से अच्छा खाना और सजने के लिए साज़ दे देना ही तो सब कुछ नहीं. जब संकट-ग्रस्त होता है या जान के लाले पड़ जाते हैं, पानी या दलदल होती है, खाई आ जाती है तब उसे मेरी भावना का कुछ-कुछ ध्यान आता है. मेरी पीठ थपथपाता है. मेरे अयाल सहलाता है. मैं घुड़-घुड़ा देता हूं. वह 'शावा' कहकर मेरा मनोबल बढ़ा देता है. इस बात के प्रति आश्वस्त करता है कि उसके लिए मुझसे अधिक कोई और नहीं. और वह मेरे सिवाय किसी पर विश्वास ही नहीं करता. इन बातों में मैं तत्काल आ जाता हूं. पर जब घर पहुंचकर वह मेरी पीठ पर से उतरकर, मुझे खड़ा छोड़कर, अपनी ख्वाबगाह में चला जाता है तो समझ में आता है कि वास्तव में मैं क्या हूं. आप सच मानें, कई बार मालिक को अपनी पीठ पर संभाले हुए मैं घुटनों तक दलदल में उतर गया हूं. इस पर भी उसने कभी अपने हाथ से वह चमड़े की कमची नहीं गिरायी. उसे देखकर मैं अंदर ही अंदर रो उठा. पर मैं रो ही लिया, यह कभी नहीं सोचा कि उसे पीठ पर से फेंक दूं. इससे कौम की बदनामी होती. हमारी कौम की इसी साख पर तो रोज़ी-रोटी चलती है कि हम अपने मालिक को धोखा नहीं दे सकते. चाहे मालिकों के इशारे पर आपस में एक-दूसरे की जान ले लें!

पर सच यह है कि मेरा अपना एक नाम होने के बावजूद मालिक ने कभी मुझे उस नाम से नहीं पुकारा. भूलकर भी नहीं. कभी तो कहता है कि 'हरमना' तू घोड़ा नहीं 'हरमना' है. यह नाम मालिक ने स्वयं ही दिया था. वह भी इसलिए कि मैंने उसके लिए हर तरह का, हर काम किया. पर मालिक की याददाश्त बहुत कमज़ोर है. कुछ भी कर दो, झट भूल जाता है. इस सबके बावजूद कभी-कभी मैं पूरी तरह मौज में आ जाता हूं. वह मेरी पीठ पर सवार होकर, मुंह में पाइप लगाकर जमकर बैठ जाता है. मैं ठुमक-ठुमक कर दुलकी चलने लगता हूं. जहां कहता है वहीं उसे आनन-फानन में पहुंचा देता हूं. कभी-कभी वह थपल-थपल बोलने लगता है. ऐसी भाषा, जो मेरी दस पुश्तों की समझ में नहीं आ सकती. पर उसकी सवारी में रात दिन रहने के कारण मैं उसकी भाषा को, उसके हाव-भाव से यहां तक कि सवारी गांठने के ढंग तक से समझ लेता हूं. जब कभी वह किसी भिन्न मूड में होता है और अपनी उंगली भी मेरे पुट्ठे से छुआ देता है तो उसका स्पर्श मेरी हड्डियों में से होता हुआ पूंछ में से गुज़र जाता है. घोड़ा बना हूं, तो पूंछ भी है ही. किसी पिछली या अब की ग़लती के लिए वह अपनी उसी थपल-थपल भाषा में नाराज़गी से बोलता है तो मैं समझ जाता हूं कि वह कह रहा है कि तुम्हारे सौ बेंत लगाऊंगा और एक गिनूंगा. मेरा खून सूख जाता है. आज तक तो मारा नहीं पर मालिक किस्म का आदमी, क्या पता कब रुख बदल दे! सब कुछ भूलकर चाबुक लेकर पिल पड़े!

कभी-कभी वह हवा की बातें भी करता है. अगर मैं उन बातों को समझने और मानने वाला होता तो शायद मेरे पांव भी ज़मीन पर न पड़ते. क्योंकि मेरे अंदर स्वतः एक विशेष समझ विकसित हो गयी. इसलिए भाषा न समझते हुए भी उसका आशय समझ जाता हूं. वह अपने को शाह और मुझे शाही (सवारी) की संज्ञा देता है. जब कभी मैं उसे दलदल से निकालकर सूखी ज़मीन पर लाता हूं तो वह बिना मेरा नाम लिये ही कहता, "तू महान है. तुझमें वह ताकत है कि ज़मीन और आसमान के कुलाबे एक कर दे."

इस बात से मेरे अंदर थोड़ा अंतर आ जाता है यानी मेरा रक्त तेज़ी से बहने लगता है. मेरी कोखें पिचकी हुई न होने पर भी धौंकनी की तरह उठने-बैठने लगती हैं. कुल मिलाकर मेरे श्वास की गति बढ़ जाती है. एक तरह की तेज़ी पनप उठती है. किसी खुर्राट बाबू की कलम की तरह मैं फर-फर चलना शुरु कर देता हूं. लेकिन यह सब स्थायी नहीं होता. कुछ देर बाद फिर वैसा का वैसा! घिस-घिस, घिस-घिस! कभी-कभी मालिक गहरे मानसिक दबाव में होता है. वह यह बात मुझे बताता थोड़े ही है, मैं उसके तिकतिकाने के ढंग से समझ जाता हूं.

वह रकाब पर टिके दाहिने पैर की ऐड़ी से ऐड़ लगाकर मुझे तंग कर डालता है. वह ऐड़ मुझे अपमान से भर देती है. मैं चल ना रहा हूं या रास्ते में किसी तरह की कांट-छांट कर रहा हूं, तब तो बात दूसरी है. लेकिन अच्छे-खासे चलते-चलाते को ऐड़ने का मतलब उसके प्रति अविश्वास और अपमान! मेरी दुलकी सरपट चाल में बदल जाती है. ऐसा वह तभी करता जब वह चाहता कि मैं ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर बिना देखे-भाले दौड़ पड़ूं. मैं मन ही मन जानता रहता हूं, जल्दी काम, शैतान का!

पर जानने और मजबूरन काम करने में बहुत फ़र्क होता है. कई बार मैं गिरा. घुटने छिल गये. जब मैं उसके काम की वजह से चोट खाता हूं तो वह इलाज जरूर कराता है. जब वह समझता है कि दौड़ की जरूरत नहीं तो दौड़ाते-दौड़ाते एकाएक लगाम खींच देता है. सच कहता हूं कि वह दानेदार लगाम जो साधारण लगाम से कई गुना खतरनाक और ताकतवर होती है मेरी इस अनबोलती जबान को लहू-लुहान कर डालती है. उधर जबान से खून बहता है, इधर शरीर के अंदर का खून खौल उठता है. क्या करूं, झक मारकर रुकता हूं. मेरा दुर्भाग्य देखिये कि मैं अपनी जबान सहला तक नहीं पाता! बस उस जानलेवा लगाम को खुटुर-खुटुर दांतों से चबाता रहता हूं. कहां मेरे दांत और कहां वह दानेदार (कांटों वाली) लोहे की मोटी कड़ी. मेरा मन अलफ़ होने को करता है. मन क्या करता है, गुस्सा जोर मारता है पर. . . कुछ नहीं बेकार! साज़ खराब होने का डर, मालिक के गिर जाने का अंदेशा...और फिर अच्छा खाने की चाह!

थोड़ी देर बाद ये सब भाव रफूचक्कर हो जाते हैं. न खून की गर्मी, न अलफ़ हो जाने का औसान. फिर समझ में आता है कि वह सब छद्म था. अच्छा ही हुआ कुछ नहीं किया, नहीं तो अपने ही जोर में गिर पड़ता. वैसे भी जिसका खून लगातार गर्म रहना बंद हो जाता है वह फिर मुश्किल से गर्म होता है. होता है तो फटठंडा भी पड़ जाता है. हम जैसों का तो खास तौर से. इसी तरह से रहते चले जाने की आदत पड़ गयी है. पड़ी आदत बहुत बुरी होती है. इतनी बुरी कि उससे बुरा घोड़े से गधा हो जाना भी नहीं होता. लेकिन मुक्त दिनों की याद आती ही है. हालांकि आनी नहीं चाहिए. हम दोनों के बीच कोई रिश्ता नहीं बचा. फिर भी आती है. अपने पर बस आश्चर्य होता है. इतना जमाना हो गया लगाम लगे और पिछाली बांधे! यही बंधन अब घोड़ा होने का प्रमाण है. हालांकि कम से कम मैं अपने को घोड़ा मानना टाल सकता हूं क्योंकि मेरे पास मेरे मालिक का दिया एक दूसरा नाम है.

▣

जब आया था यानी लाया गया था तो मुझमें अजीब बछेरापन था. किसी बात की तमीज ही नहीं थी. हर बात पर चमकता था. कुछ हुआ नहीं कि दौड़ने लगा, दुलत्तियां झाड़ने लगा. दोनों पैरों पर अलफ़ खड़ा हो जाता. सब बेवकूफी भरी बातें. शायद परि-शिक्षित और पालतू हो जाने पर आजादी के दिनों में किये जाने वाले सब व्यवहार बेवकूफी भरे लगने लगते हैं. यहां तक कि मैं ठीक तरह से दुलकी चलना तक नहीं जानता था. शाबाशी देने के लिए बढ़ा हुआ हाथ भी मुझे स्वीकार्य नहीं था. अब तो मैं तत्काल धुरधुरा देता हूं. वह सब कुछ पूर्व-जन्म की तरह लगता है.

'बड़े नत्थू' से पहले 'छोटा नत्थू' मेरी टंडलवाल के लिए रखा गया था. तब मैं यही नहीं पहचानता था कि अपने को आदमी मानने वालों में भी वर्ग-दर-वर्ग होते हैं. बड़े से भी बड़ा नत्थू, बड़ा नत्थू, छोटा नत्थू और न जाने कितने नत्थू. तब दो ही बातें समझता था—नत्थू और मैं! दरअसल यही दो मोटी बातें समझ में आती थीं. वह बेचारा छोटा नत्थू एक साथ दस-दस बार मेरे पिछाली बांधने के लिए हिम्मत साधता था. पर जैसे ही नजदीक आता था मैं उछल पड़ता था और पूरे अस्तबल में हल्ला मचा देता था. वहां जो और सधे हुए घोड़े मौजूद होते थे उनकी गर्दन शर्म से झुक जाती थी. एक बार तो मैंने छोटे नत्थू को दालखाना तक झाड़ दिया था. दरअसल तब मुझे अपनी आजादी का वही अकेला दुश्मन नजर आता था. वह मेरे पिछले पैरों में हाथ डालता और जैसे ही मैं बिदकता वह तत्काल मेरे पुट्ठे सहलाने लगता. मेरी आंखों में खून उतर आता. आखिर यह मेरी जान के पीछे इस तरह हाथ धोकर क्यों पड़ा है? उस समय यह बात समझ में नहीं आती थी कि बंधक बनाने वालों में जितना धैर्य, सहनशक्ति और बेहयापन होता है, उससे अधिक अधैर्य और असहिष्णुता बनने वाले में होती है.

जहां मैं ठंडा पड़ता फिर पैरों में हाथ डालने और पुट्ठे सहलाने वाली क्रिया शुरू हो जाती. मेरी कनौती खड़ी हो जाती. दरअसल उसकी नजर कनौती पर रहती थी. कनौती खड़ी होते ही उसका हाथ जहां होता था वहीं रुक जाता था. सच पूछो तो वह पटाया करता था कि मैं आज़ादी का ख्याल छोड़ दूं. लेकिन उसकी बात मेरी समझ में नहीं आती थी. स्वभावतः मेरा रवैया उसके लिए एक चुनौती की तरह था, हारकर छोटे नत्थू को बड़े नत्थू की मदद लेनी पड़ी थी. उस समय तक मुझे बड़े वाले की और उसकी शक्ल में कोई खास अंतर नजर नहीं आया. बल्कि इस बात पर आश्चर्य ही हुआ कि नत्थू एक से दो कैसे हो गया! वह हो सकता है तो मैं क्यों नहीं हो सकता, मैं दो हो जाऊं तो इन दोनों नत्थुओं को ठिकाने लगा दूं!

बड़ा नत्थू ज़्यादा चालाक निकला. वह केवल मेरी पीठ ही सहलाता था. झुक कर पिछाली चढ़ाने का खतरा उसने कभी नहीं लिया. पीठ सहलवाने में मुझे बहुत मजा आता था. पीठ सहलाते-सहलाते वह नत्थू को इशारा कर देता था कि चालू हो जाओ. लेकिन मैं इतना बेहोश नहीं होता था कि उसका हाथ अपने पैरों की तरफ बढ़ता हुआ महसूस न करूं. मैं तत्काल कूद जाता. एक-दो बार तो उस बड़े नत्थू ने बर्दाश्त किया फिर मेरे गले का रस्सा कसकर हंटर फटकारने लगा. लेकिन बावजूद अंदर उमड़ते भय के मैं अपनी आज़ादी को इतनी आसानी से छोड़ देने के लिए तैयार नहीं था. वे ज़्यादा ज़ोर ज़बरदस्ती करते, मैं रस्सा तुड़ाकर सीधा खड़ा होने की तैयारी करने लगता. इससे वे डर तो जाते पर हिम्मत न हारते. एक दो बार जब ऐसा किया तो उनके लिए मुझे सीधा करना कठिन हो गया. खैर, किसी तरह से सीधा हुआ. मेरा मन इस बात से खुश हो गया कि मैंने इन नत्थुओं से अच्छी लड़ाई लड़ी.

बाद में पता चला कि 'बड़ा नत्थू' हम जैसों की आज़ादी को पालतूपन में बदलने के तरीकों का पक्का हकीम है. छोटे नत्थू के ऊपर उसकी सेवा का नियोजन इसीलिए किया गया है लेकिन वह चाहे जितना भी बड़ा हकीम रहा हो पर मेरे ज़िद्दी स्वभाव के कारण काफी क्षुब्ध था. उसके अहं को काफी चोट पहुंच रही थी. इस बात को वह ज़ोर-ज़ोर से कहता था कि उसने बड़े-बड़े शातिर घोड़ों को साध दिया पर इतना बदमाश कभी देखने में नहीं आया. मैं उसकी इन सब बातों को उतना तो नहीं समझता पर इतना ज़रूर समझ जाता था कि वह नाराज़ है

इसी ने मेरे मुंह पर वह कांटों वाली यानी दानेदार लगाम लगाई थी और आंखों पर कनटोपे की तरह का वह मुखौटा चढ़ाया था, जिससे मैं सीधा ही देखूं और इधर-उधर का बिल्कुल नज़र न आये. गले में ज़ेरबंद भी उसी ने डाला. ज़ेरबंद की वजह से अलफ़ होने में परेशानी होने लगी. हम लोग अपने को आज़ाद तभी तक महसूस करते हैं जब तक हमारे अंदर यह अहसास बना रहे कि हम दोनों पैरों पर खड़े होकर अपनी स्वतंत्रता का उपयोग कर सकते हैं. उस लगाम और ज़ेरबंद के बावजूद मैंने अलफ़ हो जाने की अपनी प्रवृत्ति को नहीं छोड़ा. हालांकि खतरे बढ़ गये.

मेरे इस व्यवहार से बड़ा नत्थू और भी नाराज़ हो गया. उसने अपना चाबुक फटकारते हुए धमकाया, 'अबे, अपनी नस्ल का और पंच-कल्याण होने का गुमान करता है! मां-बाप ने तो पैरों में नाले ठुकवाये और टांगें रगड़ते गुज़ार दीं. तू बादशाहत करने के लिए पैदा हुआ है. न तेरी एक-एक नस तोड़कर तुझे नामर्द बना डाला तो अपना नाम बदल डालूंगा. कसाइयों से कटवाकर तेरी एक-एक बोटी कुत्तों से नुचवाऊंगा.'

उसकी इस तरह की बातें मन को कचोटती थीं. अपमान से एक-एक रोआं फड़क उठता था. पर एक ऐसा प्राणी जिस पर चौपाये की योनी थोपी गयी हो, इससे अधिक कर ही क्या सकता है कि वह अपने चौपायेपन से विद्रोह करके दो पैरों पर खड़ा हो जाये और अपने आप को दो पाया समझने वालों को चुनौती दे. वही मैं करता था. शायद मेरा यह सब कुछ करना अपने लिए खाई खोदने की तरह था. पर था, सो था,

▣

बड़े और छोटे नत्थू ने मिलकर जब पहली बार पिछाली लगाई थी तो मैंने उसे तोड़ डाला था. तभी से इस भावना ने मेरे मन में घर कर लिया था कि मैं इस तरह के बंधनों को आनन-फानन में तोड़ सकता हूं. गुलाम बनाने के प्रयत्नों को निष्फल कर सकता हूं. एक दिन आयेगा जब मैं इन बंधनों को तोड़कर स्वतंत्र हो जाऊंगा. ये लोग देखते रह जायेंगे. उस समय तक मैंने वहां पर उपलब्ध सुविधाओं के बारे में सोचना शुरू नहीं किया था. सच कहूं तो मैं तब तक उनके प्रति आकर्षित भी नहीं था. मेरा आत्म-विश्वास मुझे कहने लगा था कि मैं अपने लिये इससे अधिक हरे चरागाह खोज सकता हूं. बस, आज़ाद होने भर की देर थी. पर इस आत्म-विश्वास के थोथेपन का मुझे तब पता चला जब एक बार मैं बड़े नत्थू के हाथ से छूटकर भाग निकला. वह मुझे टहलाने निकला था. तब तक मैं रस्सी से बंधकर टहलाये जाने की नियति को स्वीकार कर चुका था. वास्तव में टहलाने ले जाना साधने का ही एक आरंभिक हिस्सा था. इस बात का अहसास मुझे बाद में हुआ.

उसके हाथ से छूटकर भागा तो मेरा ख्याल था कि मेरी सीमा संपूर्ण धरती है. मैं कहीं भी जाकर लौट सकता हूं और मुक्त भाव से हिनहिना सकता हूं. लेकिन बात बिल्कुल वैसी ही नहीं थी जैसी मैं सोचता था. जिस तरह का बढ़िया दाना और मुलायम दूब खाने का मैं आदी हो गया था उससे किस कदर खराब घास मुझे खाने को मिली थी, मैं ही जानता हूं. जो बड़े-बड़े और हरे-हरे चरागाह थे वहां पहले से ही और घोड़े मालिकाना अंदाज़ में चर रहे थे. मैं उन चरागाहों के पास से गुज़रता भी था, घोड़े तो दौड़ते सो दौड़ते ही थे, उनके टंडैलिये भी दौड़ पड़ते थे. इधर-उधर नालियों के किनारे तथा गंदी जगहों पर जो घास मिल जाती थी, उसी के घाट उतरना पड़ता था. मेरी ज़बान बावजूद दानेदार लगाम से लड़ते रहने के, इतनी कोमल पड़ गयी थी कि उस मोटी और धारदार घास को खाने में जान पर बन आती थी. उस घास ने मेरी ज़बान को उस दानेदार कटीली लगाम से ज़्यादा ज़ख्मी किया. मैं उस खाने से ऊब गया. अच्छी घास और दाने की हुड़क से अधमरा-सा होता गया. मैं फिर वापस उसी शहर में आ गया जहां मेरा मालिक (यानी बड़े से भी बड़ा नत्थू) बड़ा नत्थू और छोटा नत्थू रहते थे. मेरी तलाश काफ़ी तेज़ी से तब तक भी जारी थी. दरअसल उन्होंने मेरे ऊपर अभी तक खर्च ही किया था. वे मुझे एक अच्छा फरमाबरदार, स्वामी-भक्त और आला-सवारी बना देखना चाहते थे. इसीलिए उन्होंने बड़े नत्थू जैसे उस्ताद की सेवाएं नियोजित की थीं. उनका ख्याल था कि एक बार अच्छी तरह साधा गया घोड़ा ज़िंदगी भर के लिए नियामत सिद्ध होगा.

▣

मैं पकड़ लिया गया. मैंने बहुत सोचा कि मैं इस पकड़-धकड़ से प्रसन्न हूं या दुखी? पर समझ में नहीं आया. खैर, फिर वापस उसी अस्तबल में पहुंचा दिया गया. सब नत्थू एक कतार में खड़े मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे. मेरे भाग जाने से हतप्रभ और दुखी भी थे. उस दिन बाद में उस 'बड़े नत्थू' ने मुझे चाबुक से खूब पीटा. उसके पीटने के ढंग से लगा कि सबसे बड़े नत्थू ने भी इन दोनों नत्थुओं को इसी तरह मारा होगा. नहीं तो इतना न पीटता. इतना तो तब भी नहीं पीटा जब मैंने दुलत्तियां झाड़कर इनके दाल-खाने तोड़ डाले थे. पिटते हुए मैं अपने को कोसता जा रहा था, 'ले बच्चा, खा हरी-हरी दूब और भीगा हुआ दाना! मोटी घास नहीं खायेगा, मार तो खायेगा. . . !'

खाना-पीना फिर चकाचक चलने लगा. एक दिन 'बड़े-से-बड़ा नत्थू' भी आकर उन दोनों नत्थुओं को डांट गया था कि खबरदार, अब घोड़े (हरमना) को कोई तकलीफ़ न हो. अगर अब भागा तो ऐसी सज़ा दूंगा कि याद रखोगे. दोनों नत्थू मेरी तरफ़ इस तरह देख रहे थे कि जैसे भांप रहे हों, मैंने सुना या नहीं. पर मेरे तो मुंह पर दाने का तोबरा चढ़ा था. मैं यकायक खाने में लगा था. तोबरा चढ़ा होने से उन्हें मेरी शक्ल से भी कुछ खास पता नहीं चल रहा था. पर मेरे कान उसी की बात पर थे.

उसके बाद बड़ा नत्थू बिरजिस और छोटा कोट पहने, हाथ में चाबुक लिए मेरे आस-पास बना रहने लगा. इस ड्रेस में वह मुझे बहुरूपिया ज़्यादा लगता था. क्योंकि वैसे वह फटा हुआ पायजामा पहनता था. जब तक यह वर्दी नहीं बनी थी उसी फटे पायजामे में ही आया करता था. जब वह मेरे सामने आता तो मेरी नज़र उसके चाबुक पर तब तक टिकी रहती थी जब तक वह या तो उसे कहीं रख नहीं देता था या वहां से हट नहीं जाता था. क्योंकि जब आदमी के हाथ में चाबुक हो तो उसे मरखना सांड ही मानना चाहिए. वैसे भी मुझे अपने अंदर आज़ादी

के लिए संघर्ष करने की शक्ति पहले से कम महसूस होने लगी थी. जब वह मुझे निकालता था, मैं हील-हुज्जत तो करता था पर मेरी उस हील-हुज्जत का असर उस पर कम पड़ने लगा था. जब कभी अलफ़ भी होता तो उसे तो क्या, छोटे नत्थू तक को कोई खास परेशानी नहीं होती थी. बल्कि भौंडी-सी गाली देकर मेरे पेट में ढोंके जड़ना शुरू कर देता था. पेट पर पड़ने वाली चोट कभी-कभी काफी तोड़ देती है. बाद में तो ये पेट पर पड़ने वाले ढोंके ही मालिक की ऐंड़ में बदल गये थे. तब मैं उन ढोंकों की चोट के कारण मजबूर रहता था, अब इन ऐंड़ों के कारण मजबूर रहता हूं. जब भी मालिक कोई ऐसा-वैसा काम कराना चाहता है या चाहता है कि तेज़ दौड़ूं तो रकाब में रखे उसके जूते की ऐंड़ी, ऐंड़ के नाम पर मेरे पेट में घुस जाती है. मुझे दौड़ते चले जाना पड़ता है; बिना कुंए-खंदक का ख्याल किये. 'सबसे बड़े नत्थू' को छोटी-छोटी पहाड़ी पगडंडियों पर तक तेज़ी के साथ चढ़ना पड़ता है. उस समय मेरी क्या हालत होती है मैं ही जानता हूं. स्वयं चलना और पीठ पर बैठे नत्थुओं में सबसे बड़े नत्थू को संभालना. राम भजो! जब उसका काम पूरा हो जाता है तो पीठ थपथपाकर पूरा शाबाश भी नहीं कहता. बस 'शाबा' कहकर धीरे से अंतर्ध्यान हो जाता है. अब गुस्सा नहीं आता, पहले आता था.

मसाले जो खिलाये जाते हैं. जिससे उसके चाहने पर मेरा ठंडा खून गर्मा जाये. इन तीनों के अलावा मुझे कोई छू भर दे, बस आगबबूला! इस बात को ये लोग बड़ी इज्ज़त की नज़र से देखते हैं और मेरी नस्ल की दाद देने लगते हैं. वैसे यह मेरी असहिष्णुता है. दूसरों के प्रति यही असहिष्णुता इन लोगों को पसंद आती है. जब कभी ठंडे दिमाग़ से सोचता हूं तो इन लोगों पर और अपने पर भी हंसी आने लगती है.

▣

अपनी इस दुर्दशा के लिए मैं बड़े नत्थू को दोषी मानता हूं. उसे मैं कभी माफ़ नहीं कर सकता. हालांकि मेरे माफ़ करने या न करने से उस पर क्या असर पड़ता है. पर कभी-कभी ग्लानि होती है कि इस दशा को पहुंच गया कि अपनी मर्ज़ी से आ-जा भी नहीं सकता. आने-जाने की बात तो दूर रही, नाक की सीध के अलावा इधर-उधर देख तक नहीं सकता. ऊपर से लगाम! कभी इधर-उधर मुड़ना भी चाहूं तो वह सबसे बड़ा नत्थू तत्काल लगाम खींचता है. कभी वक्त था जब ये सब नत्थू मुझे छूते हुए डरते थे. बड़े नत्थू ने ही मुझे अख़्ता किया. कमबख्त को मेरे नर बने रहने तक पर एतराज़ था. उसने सबको यही समझाया कि अगर ये लोग नर रहते हैं तो इनकी ताकत इधर-उधर ज़ाया हो जाती है. अख़्ता अंत तक सवारी के काम आता है. पहले अख़्ता किया, अब मसाले खिलाता है. शरीर में आग नहीं भरेगी तो क्या होगा? अख़्ता कराकर इसने मुझे सवारी में निकाला. सोचता हूं तो दिल दहल जाता है. अपनी आज़ादी के दिनों में जोत लगे अपने भाई-बिरादरों को बग्घियां खींचते देखकर मुझे हंसी आती थी. काहे नहीं ये इस गाड़ी को ले जाकर खड्ड में डाल देते या दुलत्तियां झाड़कर इन गाड़ियों का काम तमाम कर देते? क्यों ये ज़िंदगी भर दो बमों के बीच ही चलते रहना चाहते हैं? उन्हीं को देखकर मैंने यह निर्णय लिया था कि मैं कभी अपने लिये घोड़ों की नियति स्वीकार नहीं करूंगा. मैं इन सबसे ऊ
इनके जैसी ज़िंदगी बसर करने के लिए नहीं पैदा हुआ.
इस बड़े नत्थू ने मेरी एक नहीं चलने दी. एक बार जब मैं
गया था और इसके कब्ज़े में नहीं आ रहा था तो इसने अपने
हुए लोहे से मुझे दाग़ दिया था. तब पहली बार अहसास हु
आज़ादी की तकलीफ़ इतनी जानलेवा है.

उस दाग़ का घाव जो अब ऊपर से अंदर चला गया
कभी-कभी टीसता है. जब टीसता है तो गुलामी और आ
की दोनों तस्वीरें सामने उभरती हैं. जब तक सामने रहतीं
तो मैं आज़ादी को ललक के साथ देखा करता हूं. फिर आज़ादी
तस्वीर धीरे-धीरे विलीन होनी शुरु होती है. दोनों तरफ़
आंखें बंद होने के बावजूद गर्दन घुमा-घुमाकर मैं उसकी त
तब तक देखता रहता हूं जब तक दीख सकती हैं या पूरी
लोप नहीं हो जाती. उसके हटते ही गुलामी घर दबोचती
तीनों नत्थू अपने-अपने हथियारों के साथ एक कतार में मेरी
के सामने आकर डट जाते हैं. बड़ा नत्थू सबसे बड़े नत्थू से
ज़्यादा बड़ा और भयावह लगने लगता है. छोटा और भी
हो जाता है.

▣

बड़े नत्थू ने मुझे जिस तरह टुकड़े-टुकड़े करके तोड़ा
उसे मैं ही जानता हूं. मैं उस सबको भूल जाना चाहता हूं.
बड़े नत्थू की परछाईं भी दिख जाती है तो वह सब कुछ
आने लगता है जो उस मरदूद ने मेरे साथ किया है. वह
चक्कर के लिए मुझे निकाला करता था. एक बहुत बड़े घे
दुलकी चलाता था और चलाता चला जाता था. यदि खड़ा
जाता था तो वह लंबा रस्सा जो मेरे मुखौरे के नीचे लगे हु
बंधा रहता था, उसको फटकारने लगता था. छोटा नत्थू
पीछे-पीछे दौड़ा करता था. रुकने पर वह मुझे ठेलता था.
दौड़ता या हठ कर जाता तो 'बड़ा' मुंह भरकर गाली देता
उस लंबे रस्से के सहारे मुझे साधने की कोशिश करता.
भी जब उसकी चाही चाल पर नहीं आता तो वह पगला
जाता और छोटे नत्थू से ढोंके लगाने को कहता. मेरी चाल
बिगड़ जाती थी. क्योंकि बोलने की सामर्थ्य ईश्वर ने रहने
दी थी. हालांकि पहले बोलते थे, हवा तक में उड़ते थे. अब ये
सुनी-सुनायी बातें हैं. यही बचता था कि चाल को और बि
लो. जब बात नहीं बनती थी तो वह लोहे की पत्तियों व
गुर्ज़ फेंक कर मारता था. ज़्यादातर वह पेट पर ही लगता
इतना नाज़ुक स्थल और गुर्ज़ की मार. बिलबिला उठता
और कुछ देर ऐंडी-बेंडी चाल चलने के बाद फिर उसी चाल
आ जाता था जैसी वह चाहता था.

जिस दिन मैं बड़े नत्थू की बात मानकर काम करता
तो वह बहुत खुश होता. घी पड़ी रोटी, भीगा हुआ दाना
मुलायम-मुलायम तथा हरी-हरी दूब भर पेट खिलाता. ख
कराता. स्प्रिट की मालिश होती. हाथ-पैर चटकवाता. पूरी
ताज़ा कर देता था. उस दिन मैं भी बहुत अच्छा अनुभव करता
उस दिन मुझे अपनी पिछाली और मुखौरे से कुछ ज़्यादा अ
नहीं होती.

मेरा स्वभाव बहुत धीरे-धीरे स्थिर हुआ. आज़ादी के लिए लड़ने के कारण पैदा होने वाली तकलीफ़ें जब सामने आने लगीं तो आज़ादी के बारे में मेरे विचार बदलते गये. उन तकलीफ़ों के बहुत बढ़ जाने पर छोटे नत्थू के द्वारा कभी-कभी सहारा मिलता था. यह बात मेरे मन में उसके प्रति सद्भावना भर रही थी. मुझे लगा था उन दोनों नत्थुओं से छोटा नत्थू थोड़ा भिन्न है. मैं आश्वस्त होता जा रहा था कि आराम-देह ज़िंदगी आज़ादी की लड़ाई से ज़्यादा गुलामी की स्वीकृति के नज़दीक होती है. हालांकि इस बात के अहसास के साथ ही साथ मेरे दिमाग़ में बमों के बीच चलते अनेक घोड़े आ जाते थे. उनकी पीठें घायल थीं. घुटने वैजों के कारण फूले हुए थे. उसके बावजूद वे लंगड़ा-लंगड़ा कर चलते चले जाते थे. उनको यात्रा के बाद ही खड़े होने के लिए थान और
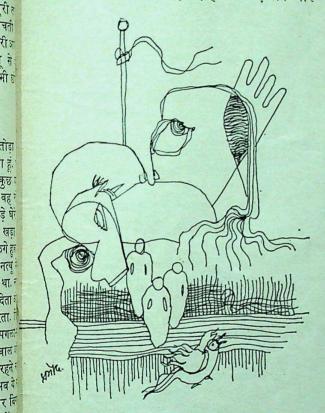
खाने के लिए घास मिल पाती थी. उनके पेट इतने कमज़ोर पड़ गये थे कि ज़रा-सी भी चोट उन्हें 'टें' कर सकती थी.

छोटा नत्थू बड़े नत्थू से बहुत छोटा था. कभी-कभी वह मुझे समझाया करता था, "अरे हरमना, क्यों जी छोटा करता है, सबको अपनी-अपनी जून का भोग भोगना पड़ता है. तू भी भोग रहा है, हम भी भोग रहे हैं."

मुझे अभी भी याद है कि जब मैं आया था तो मेरी ही दुलत्ती से उस बचारे का दाल-खाना झड़ गया था. उन दिनों वह मुझसे दूर-दूर रहने की कोशिश करता था. उसने मुझे अपनी सुपुर्दगी तक में लेने से आना-कानी की थी. ऐसे छूता था जैसे मैं जरायम-पेशा होऊं. लेकिन बाद में जब उसके छूने पर मैंने सिवाय अपनी खाल को झुर-झुरा देने के और कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की तो उसकी हिम्मत खुलती गयी और वह मेरे नज़दीक आता गया. यहां तक कि लंबी और थकान भरी यात्रा के बाद जब मुझे मालिक के हुक्म से घी पड़ी रोटी दी जाती तो वह उनमें से दो-चार पार कर देता था. मैं देखकर भी अनदेखा कर देता था. उसे नशे का भी शौक था. वह मालिश के लिए आयी स्प्रिट में से थोड़ी चुराकर पी भी जाता था. स्प्रिट की चोरी मेरे लिए परेशानी पैदा कर देती थी. क्योंकि सवारी के दौरान जो चोटें और खरोंचें आतीं या हड्डियों पर ज़ोर पड़ता, स्प्रिट की मालिश उसमें काफी आराम पहुंचाती थी. छोटा नत्थू मालिश करता-करता कभी-कभी आत्म-स्वीकृति की मुद्रा में आ जाता और कहता, "हरमना, तू समझता होगा कि नत्थू बहुत लालची और गंदा आदमी है. मैं खुद मानता हूं. पर तू मुझे अपने जैसा ही समझ! बस फरक इतना ही है, मैं तेरी सेवा करता हूं और तू मालिक की. मालिक का तेरे से सीधा काम पड़ता है इसलिए वह तेरी मालिश कराता है. मेरे से नहीं पड़ता तो मुझे. . . . तू देख ही रहा है! पर मेरी नसें तो मर चुकी हैं, तेरी अभी थोड़ी-थोड़ी फड़कती हैं. वैसे हम-तुम दोनों भाई-भाई. . .!" वह बहकी-बहकी बातें करता और हंसता. कभी मेरे गले में हाथ डालकर लटक जाता.

▣

मैं बोलता कुछ नहीं. बोल भी कैसे सकता था. पर एक बात अवश्य लगती है कि जब वह स्वयं कह रहा है तू अपने जैसा ही समझ तो वह मेरे जैसा ही है! कुछ देर के बाद छोटा नत्थू घोड़ों की तरह ही अनबोलता लगने लगता था. मैं धीरे-धीरे छोटे नत्थू का गहरा लिहाज़ करने लगा था. वह मेरे अयालों में उंगली डालकर घंटों सहलाया करता था. अव्वल तो गुलामी ने इस लायक नहीं छोड़ा था लेकिन फिर भी कभी जब मैं थोड़ा बहुत भी उखड़ता था तो छोटा नत्थू फौरन सामने आ जाता और मैं ठंडा पड़ जाता. उसकी शक्ल मुझे अपने से भी ज़्यादा दयनीय और बिखरी हुई लगती थी. कई बार तो उसके चेहरे की जगह मुझे अपना चेहरा नज़र आने लगता था.

मैं उसे बहुत समझाना चाहता था कि नत्थू तू तो इंसान है. मेरी छोड़, मैं तो घोड़े की जून भोग ही रहा हूं. सिवाय चलते रहने के कुछ नहीं कर सकता. पर तुझे तो आज़ादी के सवाल को समझकर उसके लिए लड़ना चाहिए! पर यह बात मैं उसे समझाता तो कैसे समझाता!

दरअसल जिस स्थिति में छोटा नत्थू था उसे ही अपनी आज़ादी मानकर खुश था. मेरी यह धारणा इसलिए और भी पक्की होती जा रही थी क्योंकि वह बड़े नत्थू तक का हंटर मुझसे ज़्यादा सहूलियत के साथ बर्दाश्त कर लेता था. आंखों में आंसू भरे रहने पर भी दांत निपोरता रहता था. बड़े से बड़ा या बड़ा, दोनों नत्थुओं में से कोई यदि चाबुक छुआ भी देता तो मैं कम से कम आगे-पीछे होकर ही अपनी नाराज़गी तो व्यक्त कर ही देता था. हालांकि अब अलफ़ होना करीब-करीब बंद हो चुका था. कभी-कभी वलवला उठता था कि दोनों हाथ उठाकर एक बार पैरों पर खड़ा हो जाऊं. मात्र यह अहसास ही क्षण भर के लिए आज़ादी के उस ख्याल को मेरे अंदर पुनर्जीवित कर देता था.

अपनी सब कमियों के बावजूद मैं सवारी के लायक एक आदर्श जानवर में परिवर्तित हो चुका था. मुझे पता तक नहीं चला था कि अपनी मर्ज़ी के खिलाफ़ मैं कैसे इस स्थिति को पहुंचा. साज़ से लकदक होकर चलना, रास्ते चलते लोगों का मुड़-मुड़कर, आंखों में प्रशंसा भरकर और मेरी चतुरंगी चाल देखना मुझे किसी कदर अच्छा लगने लगा था. बड़ा नत्थू बड़े से बड़े नत्थू की सवारी के लिए, मुझे फिट बनाये रखने के लिए रोज़ मेरी पीठ पर चढ़कर दुलकी चलाता था, सरपट दौड़ाता था और जब मैं यह रियाज़ उसकी संतुष्टी के हिसाब से पूरा कर लेता था तो थपथपाता था और छोटे नत्थू को कहता था, "देख बे, हरमना की मालिश जी-जान से किया कर. हरमना जैसा जानवर होना मुश्किल है. इसकी खातिर करेगा तो फल खायेगा. अनबोलते की आत्मा को कष्ट देने से बड़ा पाप दूसरा नहीं होता."

वह चुपचाप सुन लेता और मालिश करने पर पिल पड़ता. बिना बोले करता रहता. मैं मुड़-मुड़कर उसे देखता रहता. वह बिल्कुल न बोलता तो मैं हिनहिनाता. वह थपकता और कहता, "चुप रे, मैंने तेरी सेवा में कौन-सी कमी की? तूने उसे क्या कहा?" मैं उससे कह नहीं पाता कि भैया मैं किसी से क्या कह सकता हूं.

छोटे नत्थू का मुंह एक-दो दिन फूला रहता, फिर वह पहले जैसा ही हो जाता.

▣

मुझे याद है कि जब पहली बार मुझे बड़े से बड़े नत्थू यानी मालिक के सामने पेश किया गया था तो मेरी जो जांच-सवांर हुई थी वह दुलहन की भी नहीं होती होगी. बाल कटवाये गये थे. नयी नालें ठुकी थीं. साज़ नया पहनाया गया था. अगले घुटनों पर चमड़े के बाजू-बंद बांधे गये थे. रेशम का रंगीन ज़ेरबंद बंधा था. (ज़ेरबंद बंधने पर एक बार को खुंदक आयी थी) माथे पर सफेद चमचमाती कलगी लगायी गयी थी. सबसे मज़ेदार बात जो मुझे लगी थी—बड़े नत्थू ने तो वर्दी पहनी थी सो पहनी ही थी, छोटा नत्थू भी वर्दी पहनकर दूसरी तरफ से मेरी रास पकड़े खड़ा था. उस से खड़ा नहीं हुआ जा रहा था. वह बार-बार टांग बदल रहा था जैसे मैं बदला करता हूं.

मालिक ने भी कम तैयारी नहीं की थी. मोटे-मोटे जूतों पर घुटनों तक चमड़े के गार्ड बांधे हुए था. हाथ में हल्की-सी खूबसूरत छड़ी थी. उस छड़ी ने मुझे थोड़ी देर तक चौंकाये रखा था. जब बड़े से बड़ा यानी सबसे बड़ा नत्थू सवार होने लगा तो बड़े नत्थू ने ही मुझे इशारा कर दिया था कि मैं थोड़ी उछल-कूद मचाऊं, हलचल करूं. उस वक्त तक लगाम और रास दोनों उसी के हाथ में थीं. उसके इशारे को समझकर मुझे वैसा ही करना पड़ा. जब मैंने हलचल की तो वही मुझे घुड़कने भी लगा, "अबे, क्या करता है? अपने भाग सराह आज हुज़ूर तेरी सवारी कर रहे हैं. तेरा जीवन सफल हो गया." फिर उस सबसे बड़े नत्थू के सामने मेरी तारीफ करने लगा था, "हुज़ूर, ऐसा जानवर आस-पास नहीं मिलेगा. असील ऐसा कि पूछिए नहीं, वैसे आग का गोला. मैं इसके कान में फूंके देता हूं कि आज से सरकार ही तेरे मालिक हैं. कट जाना पर मालिक को धोखा न देना." उसने यह बात इस तरह कही कि मेरी पीठ पर सवार 'सबसे बड़ा नत्थू' सुन ले.

ग़ज़ल
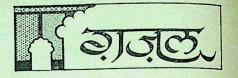
सब लोग पूछते हैं वे वादे कहां गये,
आकाश नापते-से इरादे कहां गये?

जिनकी हरेक चाल पर मुद्दत से नाज़ था,
घोड़े कहां गये, वे पियादे कहां गये?

कहते थे फेंक देंगे इन्हें भी उतारकर,
बूढ़ी सियासतों के लबादे कहां गये?

ले-दे-के एक आग थी जिस पर यकीन था,
वे रोशनी पसंद तगादे कहां गये?

जो लेके इंकलाब चले थे हवा के साथ,
कोई करीब आके बता दे, कहां गये?

▣ उमाशंकर तिवारी

जब से वह सवार हुआ आज तक मेरी पीठ भरी हु[ई] बड़े से बड़ा नत्थू सवारी गांठता है. जो भी सवार होता है, [...] नत्थू ही है. मैं निरंतर दौड़े जा रहा हूं. छोटा नत्थू मेरी पूंछ [...] पीछे-पीछे दौड़ता रहता है. जब सबसे बड़ा नत्थू ऐड़ लगा दे[ता है] तो छोटा नत्थू कहीं बहुत पीछे छूट जाता है. तब मुझे तक[लीफ़] होती है. मालिक की खुशी के सामने मेरी या उस छोटे नत्[थू की] तकलीफ़ का मतलब ही क्या! बड़ा नत्थू कभी-कभी नज़र आ[ता है] मेरे किसी दूसरे भाई-बंधु को साधता हुआ. उस समय मेरा मन [...] बार अलफ़ करने को हो आता है. पर लगता है मेरी टांगें [...] रूप से मेरा वज़न संभालने के काबिल नहीं रहीं. इसलिए मैं [...] कुछ किये चलता चला जाता हूं. छोटा नत्थू मेरे पीछे दौ[ड़ता] रहता है. और वह बड़ा नत्थू सड़क पर कभी भी नज़र आ[...] है. . . . !

● आई. आई. टी, रजिस्ट्रार, कानपुर.

सिफ़ारिश

■ सुरेंद्र मंथन

"सुना है यार, आजकल तुम्हारी खूब चलती है. हमारा भी एक काम करा दो न."

"देख लो. बार-बार जाना अच्छा नहीं लगता. अभी अपना तबादला रद्द करवा कर आ रहा हूं. अब दुबारा जाना कुछ ठीक नहीं लगेगा.

"छोड़ यार! ये लोग तो उल्टा खुश होते हैं. एम.ए. पास आदमी इनके इर्द-गिर्द चक्कर लगाये. इन्हें और क्या चाहिए इसके सिवा?"

"मक्खन न लगा यार! लेकिन एक बात है. आदमी जानदार है. हेर-फेर कुछ भी करके काम करवा देता है. मैं तो हमेशा के लिए बिक गया."

"तुम्हारा तबादला हुआ कैसे था?"

"मेरी जगह एक अध्यापिका आ गयी थी."

"किसके ज़ोर पर. . . ?"

"सिफारिश तो यार उसकी भी इसी ने की थी. . . !" □

स्पानी लोक कथा पर आधारित

दो प्रतिशत कर

■ सुरेश धींगड़ा

पूरी रात आंखों में गुज़ारने के बाद किसान ने सोचा—कृषि-यंत्र खरीदने के लिए फसल पर दो प्रतिशत ब्याज देने की शर्त मंजूर होनी ही चाहिए.

इसके बाद वह नगर-समिति के सदस्य के पास भागा-भागा गया और नमस्कार के बाद बोला, "कृषि-यंत्र खरीदने के लिए फसल पर दो प्रतिशत ब्याज की शर्त मंजूर होनी ही चाहिए."

नगर-समिति के प्रतिनिधि तुरंत प्रांतीय-समिति के सदस्य के पास गये और उनसे कहा, "जाहिल किसान अपनी फसल के दो प्रतिशत के एवज में कृषि-यंत्र खरीदना चाहते हैं."

प्रांतीय-समिति के सदस्य ने अपने प्रतिनिधित्व को महत्वपूर्ण समझते हुए राजधानी के लिए तुरंत हवाई जहाज में सीट आरक्षित करवायी. वहां पहुंच कर उन्होंने डिप्टी डायरेक्टर जनरल से मुलाकात की और कहा, "नगर-समिति के सदस्य ने मुझे बताया है कि दो प्रतिशत किसान अपनी फसल के एवज में कृषि-यंत्र खरीदना चाहते हैं."

"मैं डायरेक्टर जनरल से बात करता हूं."

कुछ क्षणों में ही उन्होंने डायरेक्टर जनरल से बात करते हुए कहा, "प्रांतीय प्रतिनिधि ने मुझे सूचना दी है कि किसानों में असंतोष फैल रहा है. उनका कहना है कि अनाज ढोने के लिए जो कृषि-यंत्र वे इस्तेमाल करते हैं, उनका दो प्रतिशत बिल्कुल बेकार है."

"हम इसे तुरंत देखेंगे" डायरेक्टर जनरल ने कहा और टेलीफोन पर मंत्री से बात की, "साहब, किसान अनाज ढोने के लिए कृषि-यंत्रों की सुविधा चाहते हैं."

"हो जायेगा." मंत्री ने जवाब दिया.

अगले दिन एक महत्वपूर्ण सरकारी सूचना प्रकाशित हुई—कृषि-यंत्रों का इस्तेमाल करने वाले किसानों की त्वचा पर जो चकत्ते हो गये हैं, उनसे उन्हें बचाने के लिए और उनका इलाज करने के लिए देश भर में एक सौ दो औषधालय खोल दिये गये हैं!" □
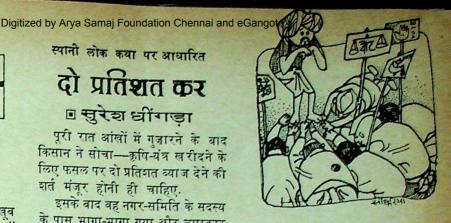
इज्ज़त

■ सत्य शुचि

"कुछ प्रबंध हुआ?" पत्नी ने पूछा था.

"नहीं, सेठ बाहर गया है, परसों-तरसों में आयेगा." उसने डूबा-सा जवाब दिया.

"लेकिन राशन तो कल तक भी मुश्किल. . . और घर में मेहमान भी आये हुए हैं." पत्नी कुनमुनायी.

"ऐसी की तैसी मेहमानों की, स्साले भुखमरे, हफ्ते भर से जमे बैठे हैं . . . क्या पता खाने को भी है या नहीं इनके घर पर!" वह ज़रा ऊंची आवाज़ में बोला था.

"क्या कहते हो, कोई सुनेगा. साथ वाले कमरे में ही तो. . . ."

"अरे, सुन लेगा तो क्या करेगा. मैंने ठेका लिया है उम्र भर खिलाने का. शर्मदार होते तो इत्ती देर ठहरते ही नहीं. . ." और वह और भी तेज़ स्वर में अपनी भड़ास निकाल कर बाहर निकल आया.

रात को जब घर लौटा तो पत्नी ने बताया कि मेहमान जा चुके हैं, उसके बहुत इसरार पर भी रुके नहीं. बोलते थे. . . ज़रूरी काम है, आपसे नहीं मिल पाने के लिए माफी भी मांगी थी.

"मुझे पता था कि चले जायेंगे."

"शायद दोपहर की बातें उन्होंने भी सुनी होंगी."

"ज़रूर सुनी होंगी. मुझे मालूम था कि आंटी बाहर दालान में ही खड़ी थीं."

"लेकिन इससे तो बेइज्ज़ती होगी न."

"काहे की बेइज्ज़ती ? किसी से कहेंगे तो वह भी सोचेगा कि बिना वजह हफ्ते भर जमे रहने की क्या तुक थी? फिर हो भी तो क्या फर्क पड़ता है. बाज़ार में बेइज्ज़त होने से बेहतर घर में हो लेना. . .तुम खाना लाओ!" उसने पत्नी से कहा. □

वह सातमासू ही पैदा हुआ था. बच्चा देखते ही हर्ष-विभोर होकर, कुबड़ी शकुन'दी थाली टुनटुनाने लगी थी. नवजात शिशु को कें-कें करते देखकर उसने उसका नामकरण कर दिया था—दुक्खी. सचमुच ही दुक्खी दुखों का अवतार था. धरती पर आने के पहले उसने मां को बहुत दुख दिया था. गर्भ में ही बाप को खा चुका था और करमिया के पेट का गर्भ अंध बच्चा अब शकुन'दी का पोसपूत बन गया था.

कुबड़ी शकुन का दूसरा था भी कौन! शादी करके ससुराल गयी थी. वर्षभर के अंदर वापस लौट आयी. पति कलकत्ता जूट मिल में काम करता था. कुबड़ी को छोड़कर वहीं उसने किसी दूसरी औरत को रख लिया. शकुन'दी अपने फूटे कपाल पर दो हथिया मारती हुई हमेशा के लिए लद गयी भाई के सिर पर.

शकुन'दी को याद है, वह रात जब करमिया दुक्खी को जनकर दर्द से ज़मीन-आसमान एक कर रही थी. पिछले तीन दिन

एक थी शकुन'दी

▣ सच्चिदानंद धूमके[तु]

से रात-दिन वर्षा हो रही थी. चारों ओर पानी जमा हो गया [था.] झोंपड़ी के कोने में रखी ढिबरी का तेल करीब-करीब खत्म [हो] चुका था. भीगे हुए बदबूदार फर्श पर अधभीगे पुआल का बिछौ[ना] बिछा था, जहां नवजात दुक्खी किकियाता हुआ हाथ-पैर [मार] रहा था. कमरे को गर्म रखना ज़रूरी था. कोई उपाय न देख[कर] शकुन'दी टटोलती हुई घुप्प अंधेरे ओसारे तक गयी औ[र टूटे] हुए हल का एक टुकड़ा उठा लायी थी.

करमिया निस्तेज आंखों से देखती हुई बोली, "दीदी, [हल] मत झोंको. मरे हुए सुआमी की यह निशानी हैं. भला किसा[न] हल जलाता है? उसके साथ मनुस की तकदीर भी जल जाती [है]."

मुंह बिचकाती हुई शकुन'दी ने कहा था, "हाय रे देवा! [...] का संसार नहीं है. खसम को खा गयी और अब अपने बच्[चे को] खा जाना चाहती है. आग नहीं जलाने पर यह तो बतास में [...] रह जायेगा. तिरिया चरित्तर बंद रख!"... और उसने लक[ड़ी] पर पुआल रखकर ढिबरी की लौ दिखा दी थी.

शकुन' दी ने फूंक-फूंककर किसी तरह आग को तेज किया और बच्चे के शरीर के साथ-साथ अपनी भीगी हुई साड़ी सेंकने लगी. बच्चा गर्म-गर्म सेंक पाकर चुप हो गया था और साथ-साथ करमिया भी.

अचानक करमिया की देह ऐंठने लगी. दांत पर दांत बैठ गये. शकुन'दी सारी रात रोती, कलपती रही और कभी दुक्खी तो कभी करमिया की देह मलती-चालती रही. सुबह होते ही करमिया अपने शरीर के निछड़े बच्चे को छोड़कर हमेशा के लिए चल बसी. उस मूसलाधार वर्षा में ही टोले के लोगों ने करमिया की अर्थी उठा ली थी और उसे आधा छीहा फूंक-फूंक कर गुरगुराती हुई बाढ़ के पानी में डाल दिया था. तिरने, डूबने चील-कौओं के लिए.

▣

उस दिन भी इसी तरह वर्षा हो रही थी. चारों ओर हुहुआती हवा और ठंड से सिकुड़ी झोंपड़ी में गर्म राख को तापता हुआ उसका भाई रामबीन. अचानक अपनी छड़ी घुमाते हुए मुंशीजी आ पहुंचे.

मुंशीजी का परिवार मुद्दतों से गांव में साधारण घराना गिना जाता था. ज़मींदारी के जमाने में यद्यपि इनके पुरखे 'राज' में पटवारी थे, लेकिन इनकी आर्थिक स्थिति सामान्य थी. ज़मींदारी खत्म हुई. मुंशीजी का परिवार अब नया ज़मींदार बन गया. आज़ादी के बाद जब गांव की मानसिकता में एक नया मोड़ आया तो सभी जल्दी से जल्दी धनी हो जाने की फ़िराक में जुट गये. उनका भोला-भोला निश्छल भाव धीरे-धीरे कमीना, दबंग और चालबाज़ बनता चला गया. पुराने मूल्यों के मलबे पर सभी अपनी इच्छाओं के बेतुके महल बनाने के स्वप्न देखने लगे.

मुंशीजी ने भी ऐसा स्वप्न देखा था. उन्हें कामयाबी मिली, जबकि अधिकांश परिवार मुकद्दमेबाज़ी, जाल-फ़रेब, कर्ज और बनिये-महाजन के शिकंजे में जकड़ गये. सफल व्यक्तित्व के पर्याय बने हुए अकेले मुंशीजी ने अपने को सरकारी तंत्र के साथ जोड़ लिया था. वे मुखिया में चुन लिये गये. विकास के नाम पर मुहैया किये गये सारे कार्य उनके आसपास ही घूम-घाम कर रह गये.

अब मुंशीजी के दरवाज़े पर बड़ा-सा पक्का कुंआ बन गया था. मकान छतदार बन चुका था. बहुतों की जमीन इनके कब्जे में आ गयी थी. इतना ही नहीं, सरकारीतंत्र की ऊंची-ऊंची कुर्सियों पर इनके परिवार के लोग अधिकार जमाने लगे. एक लड़का इंजीनियर था और एक डिप्टी कलक्टर. इस वर्ष सबसे छोटा बेटा आई.पी.एस. में कामयाब होकर एस.पी. बन चुका था.

जब तक मुंशीजी को अपनी शक्ति का अहसास नहीं हुआ था, तब तक इनकी दृष्टि काफी हद तक समानधर्मी बनी हुई थी. छोटे-बड़े, छूत-अछूत सभी उनके दरवाज़े पर जाते. उनसे बातें करते. उनके दुख-दर्द में बराबरी का हिस्सा बंटाते. यही कारण था कि गांव में जहां अधिकांश परिवार टूटे हुए थे, नये ज़मींदार के रूप में उगे हुए मुंशीजी ही जनप्रतिनिधि चुने जाते रहे. —और उनका प्रतिद्वंद्वी कालेसर जो निम्न मध्यमवर्ग से भी गिरी हुई जमात से ताल्लुक रखता था, हमेशा मुंशीजी के सामने शिकस्त ही खाता रहा.

... लेकिन जबसे शक्ति का सफेद खून उनके जबड़े से लग गया था, उनकी मनःस्थिति में अभूतपूर्व परिवर्तन आ चुका था. जिस तरह आदमखोर जानवर के दांत से एक बार खून छू जाता है तो वह पिशाच की तरह खून का प्यासा बना रहता है. ठीक वही हालत मुंशीजी की हुई.

दो बेटे इंजीनियर और डिप्टी कलक्टर बन चुके थे. अफसरों के बीच उनकी कद्र होने लगी थी. बी.डी.ओ. के कार्यालय में जब भी वे जाते तो वहां उन्हें काफी इज़्ज़त दी जाती. किसी भी सरकारी महकमे में उनका काम आनन-फानन हो जाया करता.

जबसे उनका कनिष्ठ पुत्र एस.पी. बना था, तबसे तो उनका रौब और उनकी प्रतिष्ठा काफी बढ़ गयी थी. थाने के दारोगा, इंस्पेक्टर सप्ताह में एक दफा अवश्य ही बिलावजह मुंशीजी के दरवाज़े पर आकर जान-माल की सुरक्षा के बारे में पूछ जाया करते थे. गांव का चौकीदार रात में नियमित उनके घर के चारों ओर चक्कर काटता हुआ रखवाली करने लगा था. उनके खेतों में पक्के चैनल बना दिये गये थे. तीन मील दूर से गुज़रने वाली बिजली की लाइन इस ओर मुड़ गयी थी और घर-आंगन को जगमगाने लगी थी. देखते-ही-देखते कितना बदल गया था. वही मुंशीजी जो कल तक ग़रीबों के प्रतिनिधि कहलाते थे, अब उनके मालिक कहलाने में भी नहीं हिचकिचाते थे. उनकी मानसिकता और मानवीयता में परिवर्तन हो गया था. बात-बात में लोगों पर रौब झाड़ना, उन्हें जेल भिजवाने की धमकी देना अब उनकी बोली का आम मुहावरा बन गया था.

वे सिर्फ बोलते ही नहीं थे, ज़रूरत पड़ने पर थाना-अदालत दौड़कर किसी को भी परेशान कर देते थे. बहुत से परिवार मुंशीजी की कोप-दृष्टि के शिकार बनकर उजड़ चुके थे. बहुत से लोग गांव की सोंधी महक छोड़कर नौकरी-पेशे के लिए कलकत्ता, बंबई जैसे बड़े नगरों में जा चुके थे. कितनों की डीह नीलाम हो चुकी थी और कितने ही कमाऊ सुखी-परिवार मुंशीजी के जाल में फंसकर रेत पर पड़ी मछलियों की तरह छटपटा रहे थे. गांव के लोग उनसे भयभीत रहने लगे थे. पुराने ज़मींदार के भग्नावशेष पर एक नये ज़मींदार वर्ग का उदय हो चुका था. गांव की गलियां वही थीं. खेत वही थे. लोग-बाग वही थे. सिर्फ स्वरूप में परिवर्तन हुआ था. शोषण और दोहन की परिभाषाओं में परिवर्तन हुआ था. अत्याचार के हथकंडे बदल गये थे. जुल्म की तासीर बदल गयी थी. तेवर बदल गये थे.

▣

मुंशीजी ने चूती हुई छतरी ओलती से लटका दी और चेहरे पर फैले पानी की नन्हीं बूंदों को तौलिये से पोंछते हुए पुकारा, "रामबीना! अरे तुम चुपचाप बैठे हुए आग ताप रहे हो? मेरे दरवाज़े पर इतने कुटुंब आये हुए हैं और तुम्हें कुछ लगता ही नहीं है! दस दिन पहले ही कह दिया था कि चौपहरा सत्यदेव की पूजा के दिन मौजूद रहना!"

"काहे की पूजा मालिक?"

"छोटू एस. पी. बन गया है. उसी खुशी में पूजा दे रहा हूं... नहीं तो क्या तुम्हारे श्राद्ध के लिए इतने कुटुंब-कबीले आये हैं! आयी बात समझ में?"

"माथा बहुत पिरा रहा है बाबू. बुखार भी है. इस हालत में काम कैसे होगा?" रामधीन घिघिआता हुआ बोला.

"कामचोर, तुम लोगों के पेट में अनाज जाते ही रईसी घुस जाती है. कमीना...सुअर, चल उठ! नहीं गया तो अभी बाप को भेजूंगा, हाथों में हथकड़ियां पहनाकर ले जायेगा." मुंशीजी की आवाज़ में काफी दृढ़ता थी.

शकुन'दी भाई की दशा देखकर टोकती हुई बोली, "जब ज्वर-बुखार से देह छिद रही है तो कमाने कैसे जायेगा! शरीर लेकर ही सब कुछ होता है. किसी दूसरे आदमी का बंदोबस्त कर लीजिए. देह ठीक रहने पर रात-बेरात चौका-बर्तन कर ही दिया करता है."

"तू चुप रह कुबड़ी. रमधीना के साथ-साथ तुम्हें भी जेल की चक्की पीसनी पड़ेगी."

शकुन'दी भी चुप रहने वाली नहीं थी. दहाड़ती हुई बोली, "जाइये जाइये बाबू, बहुत जेहल मैंने देखे हैं. छोटी जाति में पैदा होने का मतलब यह नहीं है कि हम पुश्त-दर-पुश्त आपके जूठे पत्तलों को उठाते रहेंगे. नहीं जायेगा." मुंशीजी चोट खाये सांप की तरह फुफकारते हुए चले गये.

आधा घंटा भी नहीं बीता था कि दारोगा सहित दो सिपाही पहुंच गये. साथ में मुंशीजी भी थे.

रामधीन उन्हें देखते ही कांप उठा. साहस बटोरकर उसने कहा, "आप हुजूर, न्यायी पुरुष हैं. विश्वास नहीं होता है तो मेरा शरीर छूकर देख लीजिए. किस कदर बुखार चढ़ा हुआ है."

मुंशी दांत मसमसाने लगे. दारोगा ने एस.पी. साहब के इज्ज़तदार पिता की मन:स्थिति को देखकर किटकिटाकर कहा, "स्साले, अपने बाप को भूल गया था क्या? कुटुंबों के जूठे पत्तल क्या हम उठायेंगे? बी.एल. केस में कुबड़ी सहित तुम्हारा अभी तुरत चालान करता हूं. एक इज्ज़तदार व्यक्ति के साथ मुंह भिड़ाने का मज़ा तुम्हें मिल जायेगा. लहनासिंह, इस सुअर की औलाद की कमर में रस्सा लगाओ!"

करमिया चालान होने की बातें सुनते ही रोने लगी. लेकिन शकुन'दी चुपचाप आग्नेय नेत्रों से उन्हें देखे जा रही थी. रामधीन चुप था. शकुन'दी की लाल आंखें देखकर मुंशीजी तड़क उठे. वे गरजे, "किस कदर देख रही है! लगता है कि चबा जायेगी."

"मैं क्या चबाऊंगी! मेरे घर को चबाने पर तो आप तुले हुए हैं."

"और फट-फट बोलती रहेगी. मुंशी बिहारीलाल का गुस्सा अभी तुमने नहीं देखा है. अभी दिखाता हूं." कहकर वे झोंपड़ी के अंदर घुस गये और कपड़े-लत्ते जो कुछ भी मिले उसे बाहर कीचड़ भरे रास्ते पर फेंक दिया. भात की भरी हुई तसली को ज़मीन पर पटक दिया. भात चारों ओर बिखर गया.

मुंशीजी सामान फेंकते हुए गालियां बके जा रहे थे. एक इज्ज़तदार आदमी का गुस्सा देखकर दारोगाजी की भी हिम्मत कुछ बोलने की नहीं हो रही थी.

करमिया घर की दुर्दशा देखकर रोने लगी. शकुन'दी जो अभी तक गुस्से में थी, अब वह भी विचलित हो उठी. उसका सारा आक्रोश नपुंसक काल-खंड के फैलाव में विलीन हो गया और वहां फैल गयी लाचारगी, शिकस्त और पराजय की स्पंदनहीन अनुभूतियां!

वह भी रोने लगी थी. रामधीन हक्का-बक्का होकर सांघातिक दृश्य को देखने लगा. अनायास वह बोला, ...कीजिए मालिक. चलिए मैं चलता हूं, पेट में लात मत... बाबू." वह उठ खड़ा हुआ.

शरीर का पोर-पोर टूट रहा था लेकिन वर्षा में भीगता... वह चल रहा था.

करमिया और शकुन'दी बहुत देर तक सिसकती... आंगन में बिखरा भात कीचड़ में मिलकर खाने लायक नहीं... गया था. घर में लकड़ी का एक टुकड़ा भी नहीं था. लगातार... के कारण करमिया जंगल-झाड़ी से लकड़ियां तोड़कर नहीं ला... थी. सुबह पुआल झोंक-झोंक कर उसने किसी तरह मांड़... बनाया था.

कांपता हुआ शरीर लेकर शकुन'दी का भाई रामधीन... रहा था. करमिया तृषित नेत्रों से कीचड़ में सने भात को... रही थी. बादल गरज़ते हुए बरस रहे थे. ठंड से हवा खुद... रही थी.

◘

रामधीन रात भर मुंशीजी की ड्योढ़ी पर लगा रहा. ... छोटा होकर भी छोटू ने खानदान की मर्यादा को सातवें आस... पर पहुंचा दिया था. इलाके के संभ्रांत व्यक्तियों के अति... बहुत सारे हाकिम-हुक्काम आ डटे थे. चारों ओर मुंशीजी... खुशामद की जा रही थी. आतिशबाज़ी और पटाखे छूट रहे...

मुंशीजी को अपने आप पर गर्व हो रहा था. छोटू की... अपनी कोख पर घमंड कर रही थी. लेकिन रामधीन को ... आप पर घृणा हो रही थी, अपनी बेचारगी पर तरस आ रहा...

सुबह रामधीन घर वापस लौटा. घर आते ही वह अ... मूंज की बुनी खाट पर गिर पड़ा और फिर कभी नहीं उठ... उसी खाट को लोगों ने श्मशान तक पहुंचाया.

पति की आंखें मुंदते ही करमिया पछाड़ खाकर ला... गिर पड़ी. शकुन'दी अपने कलेजे को पीटने लगी. करमिया... पेट में गर्भ अंध बच्चा दुक्खी पल रहा था.

दोपहर होते ही उत्सव समाप्त हुआ. सभी आगंतुक मुं... के दरवाज़े से विदा हुए और साथ-साथ रामधीन की खा... चल पड़ी. टोले के लोगों को उस अनुपेक्षणीय प्रश्न की ओर... की न तो जुर्रत थी और न हिम्मत ही. समय के चक्कर पर... चिटे अनेकों दस्तावेजों की तरह मौत की साज़िश का एक... हथचिटठा जुड़ गया था. अनाम. अरक्षित!

◘

रामधीन भाई नहीं रहा. आज करमिया भी शकु... को छोड़कर चली गयी. ऊपर से सिर पर लादती गयी... मां-बाप का दुक्खी. शकुन'दी ने हिम्मत से काम लिया. ... भौजाई के मरने के बाद उस टूअर बच्चे को पोसने का ... उसने ले लिया. दिन भर बकरी-गाय के दूध के लिए मारी... फिरती. खेत-पथार से लेकर लकड़ी-झूरी तक का इंतजाम... ही करना पड़ता. दुक्खी हमेशा उसकी कूबड़वाली पीठ से...

रहता.

जमीन का निहायत ही एक छोटा-सा टुकड़ा विरासत में उसके पास था. सुबह से शाम तक शकुन'दी उस छोटे से खेत में लगी रहतीं. एक-एक पौद पर निगरानी रखती. क्या मजाल कि एक भी पौधा पीला पड़ जाये या कोई कीट-पतंग किसी पत्ते को काट दे.

जिस साल बारिश नहीं होती, वह वर्ष उसके लिए बहुत ही मुश्किल से गुज़रता. खेत में अनाज पैदा नहीं होता और शकुन'दी को कई छोटे-मोटे काम करने पड़ते. गोबर जमा कर कंडियां बनाना और उन्हें सुखाकर बेच आना, उसका एक प्रमुख काम था. इससे उसे इतने पैसे मिल जाते कि अपना तथा दुक्खी का पेट वह किसी तरह भर लेती थी.

धीरे-धीरे दुक्खी बड़ा होता चला गया. शकुन'दी अपनी सारी ममता उस पर लुटा रही थी. उसे आंचल से ढंककर रखती. अगर दुक्खी मवेशी-डांगर लेकर दूर निकल जाता तो शकुन'दी बावरी की तरह उसे पुकारती हुई नदी-नहर एक करने लगती.

प्रत्येक वर्ष कातिक पूर्णिमा के मेले में दुक्खी को लेकर जाती. नरसिंह थान के चबूतरे पर दोना भर बतासा चढ़ाती और सिर नवाकर मन्नत मांगती.

पिछले वर्ष जब वह मेले में गयी थी तो एक अलमस्त फकीर ने दुक्खी को देखकर कहा था, "यह लड़का पढ़-लिखकर कमाऊ पूत बनेगा."

शकुन'दी ने उत्सुकता भरी आंखों से उसे देखकर पूछा था, "यह बताइये कि यह अपने बाप का हिसाब चुकायेगा या नहीं?"

फकीर उसकी बातें नहीं समझ सका था. शकुन'दी उसे नीम-फकीर समझकर फटकारती हुई वहां से चल पड़ी थी.

दुक्खी के साथ आत्मिक लगाव देखकर बस्ती की औरतें कुबड़ी शकुन'दी की खिल्लियां उड़ाती हुई कहतीं, "मालूम होता है कि यह इसी के पेट से जन्मा है!"

वह उनके ऊपर बरस पड़ती. गालियां बकती हुई कहती, "पूत और पोसपूत में क्या अंतर होता है कलमुंही! दूसरे की संतान को सिनेह देकर देख कि कितना सुख मिलता है. तुम्हारा खसम अगर मेरी तरह छोड़ गया होता तो आज तक तुम लोग कस्बीखाने में बैठ गयी रहतीं. मुझे देख, सब कुछ भूलकर पोसपूत की औनी-मौनी में खो गयी हूं."

उसे सबसे अधिक दुख उस समय होता जब मुंशीजी के मुहावरे को दुहराती हुई गांव की कुछ औरतें उसे डायन कहतीं. उसकी देह की अकड़ देखकर मुंशीजी उसका मानसिक शोषण करने पर तुले हुए थे. नटखट लड़कों के साथ मुंशीजी के पक्षधर उसे कहते, "शकुन डायन है. यह अपने भाई-भौजाई को चबा चुकी है." सुनते ही शकुन'दी का सारा तेवर कर्पूर वर्तिका की तरह उड़ जाता. उस दिन उसका काम करने में ज़रा भी मन नहीं लगता. रात भर अंधेरे कोने में बैठी मर्द का नाम लेकर विलाप करती तो कभी अपने भाई-भौजाई को याद कर रोती. मुंशीजी का यह अमोघ-अस्त्र हमेशा कारगर सिद्ध होता रहा था. इसे काट फेंकने की क्षमता शकुन'दी में नहीं थी. सचमुच ही जवान भाई-भौजाई की लाशें उसके सामने ही उठ गयी थीं. वह विस्मयभरा प्रश्न आज भी उसके सामने चुनौती दे रहा था, उसका प्रतिवाद वह कभी नहीं कर सकी. इसका नतीजा यह हुआ कि शकुन'दी धीरे-धीरे खोखली, जर्जर और क्षीण होती चली गयी. किसी अपरिचित सत्य की खोज में उसकी सेहत दिन-प्रति-दिन गिरती चली गयी.

▣

बावजूद इसके, उसकी मनःस्थिति उतनी ही तल्ख और तुर्श बनी हुई थी. धानुक टोला का तुलसी जिस दिन बिलावजह गिरफ्तार हो गया था, उस दिन गांव में काफी खलबली मची हुई थी. मुंशीजी ने तुलसी को एस. पी. साहब की कोठी पर चौका-बर्तन करने भेजा था. पंद्रह दिन भी नहीं बीते थे कि वह वापस गांव आ गया. पूछने पर कहा था कि मैं चौका-बर्तन नहीं करूंगा. बात-बात में गालियां कौन सुनता. नौकरी नहीं करनी है.

उसे तो चौका-बर्तन नहीं करना था लेकिन एस. पी. साहब

और मुंशीजी को जबर्दस्ती कराना था. आनन-फानन में स्थानीय पुलिस को सूचना दे दी गयी और एक दिन दारोगा सहित कुछ कांस्टेबल गांव पहुंच गये. तुलसी के ऊपर आरोप लगाया गया कि एस. पी. साहब की कोठी से कुछ कीमती जेवरात चोरी कर वह भाग आया है. तुलसी के मां-बाप रोते गिड़गिड़ाते रहे लेकिन पुलिस उसे पकड़ कर ले ही गयी.

उसी दिन टोले के कुछ लड़कों ने राउत संघ निर्माण कर लिया. उन्होंने निश्चय कर लिया था कि धानुकों के ऊपर होने वाले किसी भी ज़ुल्म के खिलाफ़ वे एकजुट होकर आवाज़ उठायेंगे. इसके लिए संचित कोष भी बनाया जाने लगा. घर-घर मुठिया वसूला जाने लगा.

जब मुठिया तसील करने वाला दल शकुन'दी के पास पहुंचा तो वह अपढ़ औरत अजीबो-गरीब बात करने लगी. वह बोली, "जाति संघ बनाकर तुम लोगों ने अपने हक में बहुत नुकसान पहुंचाया है. टुकड़े-टुकड़े में बंटी तुम्हारी आवाज़ किसी वर्ग विशेष की आवाज़ नहीं बन सकती. धानुक-कुम्हार आदि जातियों के नाम पर टुकड़ों में मत बंटो . . . ."

उस दिन टोले के छोकड़ों को यह महसूस हुआ था कि शकुन'दी गंवार होकर भी समय से बहुत आगे की बातें करती है. सचमुच ही वे हृदय से शकुन'दी का आदर करने लगे थे.

▣

रोपनी खत्म होते ही आसमान के मेघ खत्म हो गये थे. फसल सूख रही थी. पिछले डेढ़-दो महीने से एक बूंद भी वर्षा नहीं हुई थी. जो साधन-संपन्न थे, वे मीलों दूर से नदी के सोत चीर कर खेतों में पानी ले आ रहे थे.

शकुन'दी के छोटे-से खेत की फसल पानी के बिना सूख रही थी. उसके ऊपर दूर-दूर तक मुंशीजी के खेत पड़ते थे. अपने मजदूरों को लगाकर वे बहुत दूर से पानी ले आये थे. लेकिन शकुन'दी की खड़ी फसल पानी के अभाव में झुलसती ही रही. दुक्खी से अपने खेत की दुर्दशा नहीं देखी जा रही थी. एक रात चुपके से उसने मुंशीजी के खेत का पानी अपनी ओर खींच लिया. अभी दस गज ज़मीन भी नहीं भीगी थी कि मुंशीजी के सिपाही ने दुक्खी को दबोच लिया, "पानी क्या तेरा बाप यहां तक लाया था? स्साले, चोरी से खेत पटाता है. जूठन उठाने में शर्म आती है. उस समय तो धानुक लोग बहुत इज़्ज़तदार बन जाते हो. भाग यहां से, नहीं तो पैर काट दूंगा!"

दुक्खी बुरी तरह पिटकर रोता हुआ घर वापस लौट आया.

शकुन'दी उसके शरीर पर लगे तमाचे को सहलाती रही और दुक्खी आकाश में फैले जलविहीन मेघ को देखता हुआ अर्र-दर्र बकता रहा.

उसकी पागलों जैसी हरकत देखकर शकुन'दी डर गयी थी. दुक्खी अर्र-दर्र बके जा रहा था. जब उससे देखा नहीं गया तो उसे प्रलाप करता छोड़कर मुंशीजी के घर की ओर चल पड़ी.

रामधीन भाई के मरने के बाद आज पहला अवसर था जब शकुन'दी उनकी ड्योढ़ी की ओर जा रही थी.

दरवाज़े पर पहुंचते ही शकुन'दी चिल्ला पड़ी, "मुंशीजी! दुक्खी पगला गया है. हमारी रोटी की रक्षा करो. खेत में थोड़ा-सा पानी जाने दो. इससे आपका कुछ नुकसान नहीं होगा. अगर दुक्खिया पागल हो गया तो मुझ कुबड़ी का दुनिया में सहारा नहीं बचेगा."

उसे देखकर मुंशीजी ने व्यंग्य कसा, "भगवान ने तुम्हारी पीठ पर कूबड़ रख दिया है. उस पर इतना ग़रूर है, अगर भली-चंगी होती तो क्या करती! मैं वह दिन भूलता नहीं जब तुमने मेरे खिलाफ़ सभी छोटे लोगों को एकजुट होकर विरोध करने के लिए उकसाया था. आज किस मुंह से पानी मांगने आयी हो? कहां गयी देह की अकड़? मैं अपने खेतों का पानी तुम्हारी ओर उसी हालत में जाने दूंगा जब दुक्खी एस. पी. साहब की कोठी में चौका-बर्तन करने लगेगा. मेरी मानो शकुन, वह दस धुर ज़मीन रखकर क्या करोगी? बेच दो मेरे हाथ और आराम से दोनों हमारे यहां काम करते रहो . . . ."

"ज़मीन नहीं बेचूंगी मुंशीजी."

"उस छोटे-से टुकड़े को रखकर क्या करोगी?"

"ज़मीन का वह छोटा टुकड़ा मुझ गरीब की रोशनी है बाबू. जब आप हमें आदमी नहीं समझते तो धरती का वह अपना टुकड़ा हमें आदमी कहकर पुकारता है. वह हम गरीबों की चेतना है . . . ."

मुंशीजी ने अपना तेवर बदलते हुए कहा, "अगर सीधी तरह से ज़मीन नहीं दोगी तो कल से हमारे मवेशी तुम्हारे खेत से होकर ही गुज़रेंगे . . . ."

शकुन'दी बिफरती हुई बोली, "शकुन के शरीर में अभी इतना खून बचा है कि अपने रक्त से ज़मीन को पाट देगी. पानी नहीं चाहिए. महीनों तक एक जून खाकर गुज़ारा कर सकती हूं. पानी बरसने का दुख भी बर्दाश्त कर लेगी शकुन. अगर आकाश के दिल में दया-माया उपजेगी तो पानी बरसायेगा, नहीं तो मिट्टी खाकर वर्ष गुज़ार लूंगी."

वह उनके दरवाज़े से लौट पड़ी. मुंशीजी के ठहाके की अनुगूंज वह बहुत दूर तक सुनती रही थी.

▣

सावन-भादों का आसमान खाली-खाली धरती को निहारता रहा. शकुन'दी का खेत फसल से भर नहीं सका लेकिन उसका शरीर व्याधियों से भर गया. एक से छूटती तो दूसरे रोग द्वारा जकड़ ली जाती. कमज़ोर काठी. ऊपर से फुफकारते मौसम के विषैले छींटों को सहती-सहती वह जर्जर बन चुकी थी.

पिछले पंद्रह दिन से मियादी बुखार से पीड़ित होकर वह खाट पकड़ चुकी थी. गांव के वैद्य का इलाज बेकार सिद्ध हो रहा था. टोले वालों ने दुक्खी को कस्बे के डॉक्टर के पास शकुन'दी को ले जाने की सलाह दी थी. दुक्खी उसकी बीमारी देखकर काफी उदास था. घर में पैसे नहीं थे. उसे कोई उपाय नहीं सूझ रहा था. रात-दिन शकुन'दी के पास बैठा हुआ वह उसका हाथ और सिर सहलाता रहता. घर में जो थोड़ा-सा अनाज था, उसी से एक जून खाकर वह किसी तरह अपना पेट भर रहा था. और उधर से शकुन'दी की बीमारी.

सुबह से शकुन'दी की हालत चिंताजनक थी. आज उसने कराहना तक बंद कर दिया था. सिर्फ थोड़ी-सी सांसें चल रही थीं

हड्डियों में हरकत पैदा कर रही थी. उसकी हालत देखकर दुक्खी का कलेजा फटा जा रहा था. वह जल्दी-से-जल्दी उसे कस्बे के डॉक्टर के पास पहुंचाना चाहता था.

लगातार सोचने के बाद जब उसे कोई चारा नजर नहीं आया तो वह उठकर मुंशीजी के घर की ओर दौड़ पड़ा.

◘

दुक्खी रुपये लेकर भागता हुआ अपनी झोंपड़ी में घुसा और शकुन'दी के सिरहाने बैठकर बोला, "आंखें खोलो दीदी. देखो, मैं रुपये लाया हूं. मुंशीजी ने दिये हैं. मैं डॉक्टर को लाने शहर जा रहा हूं. तुझे मैं मरते नहीं देख सकता."

शकुन'दी ने अचानक ही अपनी आंखें खोल दी थीं. शायद मुंशीजी का नाम सुनकर ही उसकी लाल-लाल आंखें अपने आप खुल गयी थीं. न जाने उसके शरीर में इतनी ताकत कहां से आ गयी! गरजती हुई बोली, "निकल जाओ इस आंगन से. वर्षों का मेरा विश्वास तूने माटी में मिला दिया. शकुन को नहीं चाहिए ऐसी दवाइयां. इस इलाज से मैं मर जाना पसंद करूंगी."

उसकी फटकार सुनकर दुक्खी रो पड़ा. रोता हुआ वह उसकी देह पर ही लुढ़क गया. शकुन'दी उसका सिर थपथपाने लगी. उसकी आंखें भी बहने लगी थीं. अपने को काबू में रखकर वह बोली, "दुक्खी बेटा! मुंशीजी को ये रुपये लौटा दे. इसने तेरे खानदान को उजाड़ दिया है बेटा. तुम्हारी तरह हजारों लोग हैं जिनकी देह से ये जोंक चिपके हुए हैं. अपने शरीर का खून पीये जाने का तुम्हें अहसास भी नहीं होगा. मैं तो बूढ़ी हो चली हूं. मेरा क्या भरोसा. लेकिन तुम्हें ज़िंदा रहना है...."

"नहीं दीदी, मैं तुझे मरने नहीं दूंगा." रोता हुआ दुक्खी बोला.

"मैं मरूंगी नहीं रे. शकुन अगर मर भी गयी तो बार-बार इसी धरती पर जन्म लेगी. अपनी पीढ़ियों द्वारा चुकाये जाने वाले हिसाब-किताब देखती रहेगी. जा रुपये लौटा दे. ये रुपये मुंशीजी के मुंह पर फेंक देना.

अचानक शकुन'दी की आवाज लड़खड़ाने लगी. वह टूटती हुई आवाज़ में बोलती रही, "रुपये ... जरूर ... लौ ... टा ... दे ... ना ... दुक्खी .. .बेटा .. .दुक्खी!" उसकी आवाज हमेशा के लिए शायद बंद हो चुकी थी. सिर एक ओर लुढ़क गया था.

शकुन'दी को मृत देखकर दुक्खी न तो रोया और न चिल्लाया ही. वह एकटक उसकी अधखुली आंखों को ही देखता रहा. उसे लग रहा था कि खाट पर कोई प्रकाशपुंज लेटा है जिसकी आंखों से रोशनी की धारा अजस्र प्रवाहित हो रही है, जो गांव के अंधेरे को धोती हुई आगे बहती चली जा रही है.

दुक्खी ने अपनी हथेली में मुड़े नोटों को देखा नोटों की बेतरतीब सिलवटों के बीच मुंशीजी के अनगिनत चेहरे उसे घूरते हुए लगे.

दुक्खी ने जल्दी से अपनी हथेली मींच ली और मुंशीजी की ड्योढ़ी की ओर दौड़ पड़ा. उस समय आसमान बिल्कुल स्वच्छ था. दोपहर की छनी साफ धूप धरती पर गिर रही थी. ☐

विशेष भूअर्जन अधिकारी, टेनूघाट योजना
गुरु गोविंदसिंह मार्ग, हजारी बाग, बिहार.

एक
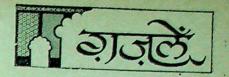
कुछ दूर मेरे साथ चला, और खो गया,
मेरा नसीब फूल नहीं, आग बो गया.

मंज़िल समझ के रुक गया, रस्ते के दरमियां,
मेरा वजूद एक तमाशा-सा हो गया.

घर से चला था सोच के, पा जाऊंगा हयात,
मुझमें जो होश था, वो मुझे ही डुबो गया.

कैसा अजीब शख़्स था, जो दरमियाने जंग,
मुझको जगाके दोस्तो, वो खुद ही सो गया.

'जाफ़र' नयी ग़ज़ल के भी, सूरज उगाओ तुम,
अगला जो वक़्त गुज़रा वो लफ़्ज़ों को धो गया.

◘ रफ़ीक़ जाफ़र

दो

गम के साये क्यों फैले हैं दायें बायें, तुम ही बोलो,
जीवन को क्या लौ देंगी धुंधली आशाएं, तुम ही बोलो?

गये पुराने, नये मसीहा भी वैसी बातें करते हैं,
हम फिर से इतिहास दुखों का क्या दुहरायें, तुम ही बोलो?

अपनी-अपनी पीड़ाओं से चीख रहे हैं बस्ती वाले,
किसके घर की दीवारों से सिर टकरायें, तुम ही बोलो?

भीड़ भरे बाजार छोड़कर खामोशी को अपनाया था,
खामोशी के डसे हुए किसको अपनायें, तुम ही बोलो?

तब भी समता की बातें थीं, अब भी समता की चर्चा है,
समता के आश्वासन कब तक गले लगायें, तुम ही बोलो?

हम समझे थे हाथ तुम्हारे बिककर तुम संग रह पायेंगे,
गली-गली बिकने की गाथा किसे सुनायें, तुम ही बोलो?

◘ सुदर्शन पानीपती
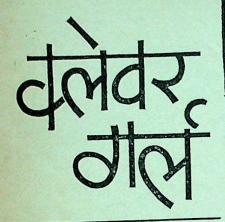
दफ्तर के लंबे बरामदे को पार करता हुआ वह अपने कमरे की ओर बढ़ था. फ़र्शी सलामी की एक लंबी शृंखला उसके साथ-साथ चल रही थी. दफ्तर के बाबू उसे देखकर रुक जाते. चपरासी सावधानी से खड़े हो सलाम बजा लाते. वह मुस्कराकर उनकी ओर देखता, हल्का-सा सिर हिला सलाम कबूल करता और लापरवाही से आगे बढ़ जाता.

अपने कमरे के पास जाकर वह रुक गया. कमरे के बाहर उसके नाम की लगी हुई थी जिसके नीचे मोटे शब्दों में लिखा हुआ था 'इन'—'आउट'. उंगली से स्प्रिंग को हिलाया और 'आउट' शब्द को ढांप कर अंदर चला गया. कमरे में उसकी मौजूदगी इसी 'इन'—'आउट' पर आधारित थी.

कमरे में प्रवेश करते ही उसे एक परिचित-सी महक महसूस हुई. मुस्करा उसने अपना ब्रीफकेस रख दिया और फोन का बटन दबाया. उसके फो आवाज़ गूंजी :

"गुड मॉनिंग सर!"

"मॉनिंग! गेट मी मिस नीलोफर!"

"यस सर!"

थोड़ी देर में मिस नीलोफर अपनी अधकटी घुंघराली जुल्फें झटकती कमरे में दाखिल हुई.

"नीलोफर! तुम आज सवेरे मेरे कमरे में आयी थीं क्या?"

"जी!" उसने आंखें झपक कर उसकी ओर देखा.

"कमरे में बसी हुई सुगंध तुम्हारी चुगली खा रही थी."
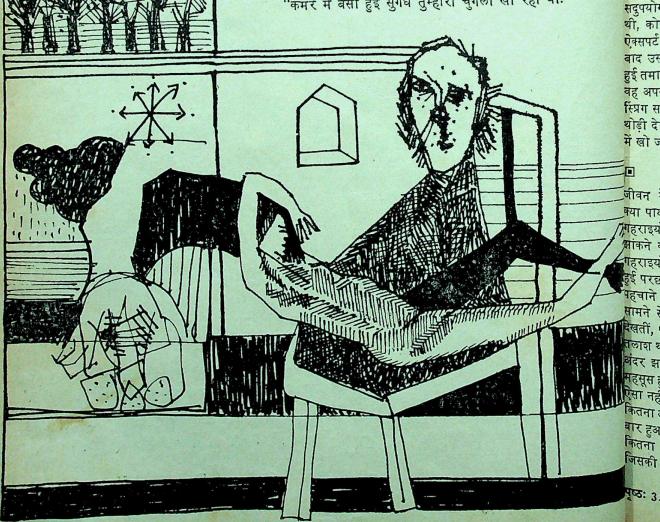
"लैवेंडर मेरा फेवरिट सेंट है."

"मेरा भी."

"हाऊ स्वीट!"

थोड़ी देर बाद जब मिस नीलोफर अपने कमरे की ओर लौट रही थी तो उसने अपनी साड़ी का पल्लू इस अंदाज़ से झटका कि लैवेंडर की महक सारे बरामदे में बिखर गयी. बनवारी लाल चपरासी ने रिज़कराम दफ्तरी से कहा, "यार! जी चाहता है, किसी दिन इससे कहूं, मेम साहिबा, तुम्हें क्या फायदा है इतनी खुशबू लगाने का, आधी से ज़्यादा तो हम चपरासी लोग ही लूट लेते हैं." मगर मिस नीलोफर को कौन समझाये. उसे तो वह लड़कियां भी नहीं समझा सकतीं जो उसके साथ एक ही मेज़ पर बैठ कर काम करती हैं. कई बार वह साहब की पेशी भुगताने के लिए तैयार होती तो वह खिलखिला कर हंस देती. किसी-किसी को मज़ाक सूझता.

"मैंने कहा, क्या बात है. आज लिपाई-पुताई बहुत हो रही है. डू यू हैव ए डेट?" और उसकी अनुपस्थिति में कहती, "बुद्धू है. यह नहीं समझती, बास तो इसे एक स्प्रेगन की तरह 'यूज़' करता है. केवल मात्र अपने कमरे को महकाने के लिए."

"स्प्रेगन और बिगगन!" वह ठहाका मार कर हंसती.

इधर बिगगन कितना चतुर था. वह जानता था कि किसका सदुपयोग कहां किया जा सकता है. उनमें से कोई उसका कांटैक्ट थी, कोई पब्लिक रिलेशंस के लिए सुरक्षित, कोई डेकोरेशन ऐक्सपर्ट थी और कोई डेकोरेशन पीस! नीलोफर के चले जाने के बाद उसने एक गहरा सांस लिया. लगता था, कमरे में बिखरी हुई तमाम खुशबू वह अपने अंदर समा लेना चाहता है. इसके बाद वह अपनी आंखें बंद करके अपनी कुर्सी में धंस गया जिसका स्प्रिंग सहसा चरमरा उठा और गद्दे का फोम भीतर पिचक गया. थोड़ी देर तक वह मौन-सा बैठा रहा, यूं जैसे कोई योगी समाधि में खो जाता है.

◘

जीवन में कितने उतार-चढ़ाव हैं. आज तक क्या खोया है क्या पाया है. यह सब उसका मन ही जानता था, पर मन की गहराइयों में कौन पैठ सकता है. फिर भी उसने अपने अंदर झांकने की कोशिश की. भीतर घोर अंधियारा था. दूर तक गहराइयों में उतरती परतें थीं. तह-दर-तह बनती और मिटती हुई परछाइयां! कुछ देर वह इस दृश्य में खो-सा गया. कई जाने-पहचाने चेहरे उसके सामने उभरने लगे. अनगिनत दृश्य उसके सामने से गुज़रने लगे. उसकी आंखें कैमरे के फोकस की तरह देखतीं, परखतीं और आगे बढ़ जातीं. जाने उसे किस चीज की तलाश थी. शायद यह वह स्वयं भी न जानता था. फिर भी अपने अंदर झांकने की कोशिश उसे बेहद सुखद प्रतीत हुई. उसे यूं महसूस हुआ जैसे हर शै ऊपरी और फालतू है. इसमें कुछ भी तो ऐसा नहीं जिसे वह अपना कह सके. भीड़ में घिरा हुआ व्यक्ति कितना अकेला हो सकता है, इस बात का अनुभव उसे आज पहली बार हुआ. देखने में वह एक संपूर्ण व्यक्ति था. पर वास्तव में वह कितना अपूर्ण था, यह वही जानता था. उदासी और वीरानी, जिसकी झलक उसने आज पहली बार देखी, इसका उसकी ज़िंदगी से दूर-दूर का भी वास्ता न था. फिर भी वास्तविकता यही थी और उसकी अपनी ज़िंदगी जिसमें वह जी रहा था, उसकी तुलना में नाटक दिखाई दी. सहसा घबरा कर उसने आंखें खोल दीं. वही दफ्तर का कमरा था, सजी-सजायी मेज थी और घूमने वाली कुर्सी जो उसके बोझ तले दबी, चिल्ला कर रोष व्यक्त कर रही थी. दूसरे क्षण, वह सारा दृश्य ओझल हो गया. अपने अंदर झांकने का उसका अंदाज़ कुछ इस तरह था जैसे कभी-कभी वह अपने दफ्तर का इंस्पैक्शन किया करता था, "यह मेज यहां से हटा दो. यह कुर्सी वहां रख दो, इस रैक को उधर खिसका दो." पर अपने मन की भीतरी परतों को कोई कैसे खिसकाये!

वह अपने दफ्तर का प्रमुख अधिकारी था. सफलता की सीढ़ियां चढ़ता हुआ वह इस पद तक पहुंचा था. अपने दफ्तर के हर छोटे-बड़े कर्मचारी को वह केवल पहचानता ही न था बल्कि उनका आधा नाम लेकर पुकारता था. वह उनकी ज़िंदगी के छोटे-बड़े मोड़ों से भली-भांति परिचित था और हमेशा उनकी जरूरतों का ख्याल रखता था.

"हमारा साहब तो देवता है." उसके दफ्तर के कर्मचारी उस पर जान छिड़कते थे और वह खुश था.

"हूं, देवता!" उसके अंदर की परतों में कोई हलचल होती, कोई काली छाया उसे कहते हुए प्रतीत होती, 'देवता स्वरूप..' वह जानता था कि वह क्या कहने जा रही है. सहसा वह उस छाया का गला घोंट देता.

'ओह, शट अप!' और वह उसकी उभरती हुई आवाज़ को दबाकर अंदर-ही-अंदर किसी गहरी खाई में दफ़्न कर देता.

बाहर से वह बड़ा आकर्षक व्यक्ति था. जब वह हंस-हंस कर लोगों से मीठी-मीठी बातें कहता तो वह उस पर कुर्बान हो जाते. अधेड़ उम्र में जाकर आदमी ढलना शुरू हो जाता है. मगर वह तो और भी निखरता था. मित्र पूछते, "तेरी सदाबहार जवानी का राज़ क्या है?" वह हंसता और कहता, "त्याग!"

'फ्रॉड' उसकी अंतरात्मा कहती. परतों में फिर हलचल होती और उसके अंदर कोई आवाज़ गूंजती, 'हमें सब मालूम है त्यागी महोदय, तुम्हारा नाम तो त्यागी की अपेक्षा भोगी अधिक अच्छा है.' अंदर की आवाज़ अंदर ही रह जाती.

उधर उसके दफ्तर की लड़कियां एक-दूसरी को छेड़तीं, "भई, आज तो बहुत चमक रही हो. क्या बात है? आज कोई मीटिंग तो नहीं?"

"मीटिंग!" वह इस अदा से बोलती जैसे सारे वाक्य में केवल मात्र एक यही भावपूर्ण शब्द हो. मगर उनका अंदाज़ इतना सरल होता जैसे कोई युवती अनजाने में अपनी साड़ी की फॉल ठीक करती है.

"बॉस ने कुछ लोगों को आज एडवाइज़री कमेटी के लिए बुलाया है लंच पर."

"ओह! ए डेट विद द बॉस."

चोर नज़रें एक-दूसरी से टकरातीं और फिर पलक झपक कर झुक जातीं. उन दिनों उसने अपने दफ्तर में एक आंदोलन शुरू किया था 'मिस मील डे'.

"तो आज दोपहर का खाना बचाया जा रहा है मिस!" शरारत उनकी आंखों में चमकती. हां, ठीक ही तो है, "मील ए

मिस; ए डे" फिर एक हंसी का फव्वारा फूटता. हर एक अपनी हंसी को रोकने का प्रबल यत्न करती. वेनिटी बैग में से रूमाल को निकाला जाता और फिर वातावरण में यूडिकोलोन की सुगंध बिखर जाती.

"बॉस!" उसकी सेक्रेटरी ने उसे संबोधित किया.

"हूं!" उसने बिना ध्यान दिए हुए कहा और झुक कर मेज़ पर पड़ी फाइल को देखता रहा.

'बॉस' शब्द में जैसे उसका सारा-का-सारा आकार सिमट गया था. फिर भी उसकी अंतरात्मा ने इस संबोधन को स्वीकार नहीं किया.

▣

बाहर और भीतर का यह संघर्ष भी अजीब है. वह कई बार सोचता; यह लड़की जो मेरे सामने बैठी है, उम्र में भले ही मुझ से कितनी छोटी है तब भी मेरे मन ने इसको कभी छोटी नहीं माना. मैं हमेशा इससे समानता का व्यवहार करता हूं. 'बॉस' कहने से तो यूं लगता है जैसे बाप और संतान का संबंध होता है. उसका बस चलता तो जनरेशन-गैप को दफ्तरी फाइल पर लिखित फजूल टिप्पणी की तरह फाड़ कर रद्दी की टोकरी में फेंक देता.

"भई, तुम मुझे अपना दोस्त समझा करो. मैंने कभी तुम्हें इस बात का अहसास होने दिया कि तुम मुझसे छोटी हो?"

'ओह शट अप यू फ्रॉड!' उसकी अंतरात्मा बोलती 'तेरा बस चलता तो तू यह असमानता की खाई कब से पाट जाता. मगर तू तो कुर्सी पर बैठा है, शाबाश मेरे शेर! यह अलग बात है कि उर्फ़-आम की भाषा में लड़कियां तुम्हें पेपर-टाइगर, डार्लिंग-डियर और हार्मलेस-डॉल कहती हैं.'

कभी-कभी वह अपने अंदर झांकता. बिल्कुल इस तरह जैसे कोई अपने घर के चोर तहखाने में झांक लेता है. पर उसे हर बात का ध्यान होता है कि 'नंबर दो का माल' किस नुक्कड़ के गुप्प अंधेरे में छुपा है. कालूंच की कोठरी से निकलकर वह फिर से चौकस होकर बैठ जाता.

"बॉस!" उसकी सेक्रेटरी उसे पुकार रही थी. उसे अनुभव था, कुछ दिनों से उसकी सेक्रेटरी कुछ ज़्यादा ही चुस्त बनती जा रही थी. उसकी अदाओं में निखार आ गया था. वह अल्हड़ छोकरी ज़रूरत से ज़्यादा बन-संवर कर दफ्तर आने लगी थी और जब कोई लड़की पहनने-संवरने की अदा सीख लेती है तो उसके लिए प्रशंसक नज़रें भी अपने आप उत्पन्न हो जाती हैं. पहली बार जब वह आयी थी उसने मैक्सी पहन रखी थी. फिर उसकी मैक्सी मिडि में बदल गयी, फिर मिडि मिनी में. ज्यों-ज्यों प्रशंसक नज़रें उसकी ओर बढ़ती जातीं, उसकी स्कर्ट की लंबाई घटती जाती.

'क्या ख्याल है?' उसने अपने मन से पूछा.

'छोकरी के इरादे नेक नहीं हैं.'

अगले क्षण उसने उसको अपने पास बुला भेजा और कहा, "बीबी, यह बात तो तुम जानती हो कि इस दफ्तर का आउटपुट बढ़ाना मेरा कर्त्तव्य है. दिल की धड़कनें बढ़ाना नहीं. मगर जिस बात का तुम्हें पता नहीं है वह यह है कि मेरा दिल बहुत कमज़ोर है." और अगले दिन उस बीबी की बदली किसी दूसरे अफसर के पास हो गयी. सारे दफ्तर में साहब की नफ़ासत पसंदगी की [illegible] जम गयी.

"नया साहब तो एक-एक करके सारे कमरों में गुलदस्ते [illegible] देगा." ऐसी छोकरियां, जो दफ्तरी काम-काज की अपेक्षा '[illegible] शन पीस' अधिक थीं, 'गुलदस्ता' कहलाती थीं. उसे [illegible] था कि गुलदस्ते का भी अपना एक मुकाम है.

उसने दफ्तर की ब्रांचों में एक-एक करके गुलदस्ते सजाने [illegible] कर दिये और दिल-ही-दिल में अपनी कुशलता पर मुस्क[illegible] रहा. पर उसका मन जानता था कि हर गुलदस्ते की [illegible] विशेषता है. इन गुलदस्तों के माध्यम से उसने हर एक ब्रां[illegible] एक सीधी हॉटलाइन स्थापित कर ली थी.

"सर, आप भी कमाल करते हैं. आप यह नहीं जानते कि [illegible] लोग अपनी पोजीशन का अनुचित लाभ उठाते हैं. और आप हैं [illegible] हर ऐरे-गैरे को मुंह लगा लेते हैं."

"नीलोफर, तुम किसकी बात कर रही हो?"

"नसरीन की." और उसके अंदर का दरिंदा बोला, 'क्[illegible] मुह लगाऊं? क्या कमी है उसमें. उस जैसी तो तू भी नहीं [illegible]' पर वह केवल इतना ही कह पाया, "नसरीन! क्या हुआ नस[illegible] को? नसरीन कोई ऐरी-गैरी नहीं है."

"हां, आजकल उसी के चर्चे हैं. कल छोकरियां कह [illegible] थीं. . . ."

"क्या कह रही थीं?"

"बस यही कि बॉस ने ज़्यादा सिर चढ़ा रखा है."

"ओह नो, शी इज ए स्वीट गर्ल. क्लेवर गर्ल, आई [illegible] हर."

मगर उसके अंदर की परतें हिल रही थीं, 'तुम्हें क्या [illegible] है? नसरीन जैसी एक भी लड़की तुम सबमें नहीं.'

मैं लोगों जैसा नहीं तो क्यों? क्या मैं इंसान नहीं हूं [illegible] नहीं हूं? और उसके अंदर का इंसान कहता, 'अजी मर्द [illegible] आप तो मर्दे-मैदान हैं,' मगर उसकी जुबान कहती, "हां नीलो[illegible] शायद तुम ठीक ही कहती हो. आई शुड बी डिसक्रीट."

"मर्दों का क्या दोष है. वह मरी है ही ऐसी. होंठों पर मुस्[illegible] यूं लिये फिरती है जैसे इनविटेशन का साइनबोर्ड हो. बस [illegible] सी फ्लैट्री, थोड़ी-सी कोकिट्री और अगला हुआ चित्त!"

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता."

"आपके साथ नहीं हो सकता, यह आप समझते हैं."

"अरे भाई, मैं तो अपने दफ्तर में काम करने वाली लड़कि[illegible] को कभी लड़कियां समझता ही नहीं."

"यह बात अलग है. मर्द तो फिर मर्द होता है."

"हम तो अभी तक. . . ." अभी वह इतना ही कह पाया कि उसके अंदर का मानव बोल उठा : 'फ्रॉड, तुम तो आंखें [illegible] कर इस दलदल में फंसना चाहते थे. तुम्हारा बस चलता तो कब से इस आग में कूद पड़ते. यह तो मैं ही हूं.' और उसके [illegible] पर एक मुस्कराहट खिल उठी.

"तुम क्या जानो, सब लड़कियां एक जैसी होती हैं."

"जी नहीं, अगर मैं भी उन जैसी होती तो आज आप [illegible] अंदाज़ कायम न रख सकते. पर मैं अपनी बात नहीं कर[illegible] नसरीन की बात कर रही हूं. शी इज़ ए डर्टी गर्ल. कहती [illegible]

बॉस से हर बात मनवा सकती हूं. किसी को नौकरी दिलवानी हो, किसी कुलीग को डांट पिलवानी हो, कौन है, जिसकी सिफारिश मैं करूं और बॉस एडजस्ट न करे."

"ओह, वाट ए बैड गर्ल!"

"नॉट बैड सर! शी इज ए बी... बी ... बिच!" वह मुस्करायी.

"नीलोफर, तुम्हें अपनी भाषा सुधारनी चाहिए. आई लाइक हर."

"इज़ दिस व्हॉट यू लाइक?"

"हां, और फिर तू भी क्यों बैड गर्ल नहीं बन जाती!"

"अगर मैं तुल जाऊं तो आपकी मात अवश्य है."

"नहीं, इंसान को कुछ अपने ऊपर भी कंट्रोल होता है."

"कंट्रोल! माई फुट! अगर औरत तुल जाये तो उसके सामने कोई मर्द नहीं टिक सकता."

"मजबूरी!"

"आप तो मजाक उड़ा रहे हैं. अगर मैं सीरियस हो जाऊं तो. . . . ."

"तो होती क्यों नहीं?"

"हुं!"

"लगाओ शर्त."

"आर यू सीरियस?"

"ऑफ कोर्स!"

"आई लाइक इट!"

"आई लव इट!"

"ओ.के. ट्राई योर बैस्ट."

"ट्राई योर वर्स्ट!"

और चोर तहखाने की कालूंच बिखरने लगी. उसकी आंखें खुली थीं मगर कमरे में गुप्प अंधेरा था. उसने हाथ पसारकर बिजली का बटन टटोलने का भरसक प्रयत्न किया. पर अंधेरे की नर्म रेशमी पकड़ ने उसे जकड़ लिया. लैवेंडर की सुगंध थी जो उसकी नाक, मुंह और सांस के रास्ते उसकी नस-नस में बंसती जा रही थी.

▣

काफी देर बाद जब वह अपने कमरे के बाहर निकला तो शाम का अंधेरा गहरा हो चुका था. बाहर बरामदे में सांय-सांय करती हुई खामोशी उसका स्वागत कर रही थी. बरामदा सुनसान और वीरान था. दफ्तर के सभी कर्मचारी जा चुके थे. वह उन अफसरों में से था जो कर्मचारियों का दफ्तर में देर तक बैठे रहना अयोग्यता का चिह्न मानते थे. उसका चपरासी बाहर बैठा ऊंघ रहा था. उसे देखकर बेदिली से उठ खड़ा हुआ. दिन भर की बोरियत और उकताहट से कहीं अधिक उसके चेहरे पर हैरानी बिखरी हुई थी. जैसे कह रहा हो 'अच्छा तो आप भी. . . ' उसे यूं अनुभव हुआ जैसे चोर तहखाने में नंबर दो के माल को खुर्द-बुर्द करते हुए रंगे हाथों पकड़ा गया था. एक दोषी की तरह उसने अपनी निगाहें गिरा लीं और चुपचाप आगे बढ़ गया.

अगले दिन हर कारिंदे की जुबान पर एक ही बात की चर्चा थी. बिगगन के ट्रांसफर ऑर्डर टेलीफोन से आये थे. दूर किसी जंगल में नये बनने वाले कारखाने का चार्ज उसे मिल रहा था.

ग़ज़ल
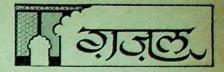
सबकी बिगड़ी को बनाने निकले,
यार हम तुम भी दिवाने निकले.

धूल है, रेत है, सेहरा है यहां,
हम कहां प्यास बुझाने निकले.

इतनी रौनक़ है कि दिल डूबता है,
शहर में खाक उड़ाने निकले.

हर तरफ शोर-ए-कयामत है बपा,
और हम गीत सुनाने निकले.

इन अंधेरों में किरन जब ढूंढी,
सबके हंसने के बहाने निकले.

चांद को रात में मौत आयी थी,
लाश हम दिन को उठाने निकले.

उम्र बरबाद यूंही कर दी 'हसन'
ख्वाब भी कितने सुहाने निकले.

▣ हसन कमाल

"तो अब जंगल में मंगल होगा!"

"हां साहब, नयी फसल, नये शगूफे, नया बौर, नयी सुगंध!"

"अगर रह जाता तो एक-एक से निपट लेता."

इतनी देर में लंबे बरामदे के दूसरे सिरे पर मिस नीलोफर आती हुई दिखाई दी. उसने नयी साड़ी का पल्लू बड़े नखरे से झटका और टिप-टिप करती हुई आगे बढ़ गयी.

बनवारी लाल चपरासी ने रिज़कराम दफ्तरी से कहा, "यार, आज तो खुशबू भी बदल गयी."

और इस बदली हुई सुगंध पर छोकरियों की टिप्पणी थी, "इसका अपना क्या है, स्प्रेगन तो स्प्रे ही करती है. सुगंध चाहे कैसी भी हो. पसंद मालिकों की."

"इस छोकरी ने तो कमाल ही कर दिया. बैठती हमारे पास थी मगर हॉटलाइन कहां जोड़ कर रखती थी."

"क्लेवर गर्ल!"

"माई फुट!" ☐

● देशांतर प्रसारण प्रभाग, आकाशवाणी, नयी दिल्ली

सीमेंट की बोरी

▣ *योशिकी हयामा*

योशिकी हयामा (१८९४-१९४५) जापानी कथा-साहित्य में एक महत्वपूर्ण नाम है. मज़दूर जीवन पर लेखनी चलाने और उनके लिए काम करने के कारण इन्हें जेल की सजा भी भुगतनी पड़ी. मज़दूर जीवन के महत्वपूर्ण व विविध अनुभवों ने इनके विषयों को नये आयाम दिये, जो जापानी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ हैं. प्रस्तुत कहानी एक मज़दूर के जीवन की त्रासदियों का चित्र भर ही नहीं है, उन्हें संवेदनाओं के स्तर पर जीती भी है.

योज़ो मत्सदो सीमेंट की बोरियां खाली कर रहा था. अपने जिस्म के बहुत सारे अंगों को जैसे-तैसे सीमेंट की धूल से बचा रहा था, पर उसके बालों और मूछों पर सीमेंट की एक मोटी पपड़ी जम गयी थी. वह अपनी नाक सुनक कर सीमेंट की उस पपड़ी को निकालने के लिए कुनमुना रहा था जिसके कारण नाक के भीतर के बाल तीरों जैसे तीखे, तुर्श व अकड़े पड़े थे. पर सीमेंट घोलने वाली मशीन, हर मिनट बाद दस रुवाड़े तैयार करके बाहर फेंक रही थी और उसको भरते रहने में किसी तरह की ढील की कोई गुंजाइश नहीं थी.

योज़ो एक दिन में ग्यारह घंटे काम करता था. इन ग्यारह घंटों के दौरान उसको एक बार भी ढंग से नाक साफ करने का समय न मिलता. जब दोपहर को थोड़ी देर की छुट्टी होती तब तक उसकी भूख चमकी होती और वह रोटी को, बेगार के काम की तरह, जल्दी-जल्दी निगल जाता. उसको आशा थी कि तीसरे पहर की छुट्टी के समय उसको मौका मिलेगा, पर जब तीसरा पहर आया तो उसे ख्याल आया कि उसे तो सीमेंट घोलने वाली मशीन के पुर्जे साफ करने हैं. तीसरे पहर तक उसको महसूस होने लगा कि उसकी नाक सीमेंट की बनी हुई है. दिन जैसे-तैसे पूरा हो रहा था. थकावट से उसकी बाहें शिथिल हो चुकी थीं और बोरियां ढोने के लिए उसको अपना पूरा ज़ोर लगाना पड़ रहा था. जल्दी-जल्दी बोरी उठाते हुए उसने देखा कि सीमेंट में, लकड़ी की एक छोटी-सी डिब्बी पड़ी है.

इस डिब्बी में क्या हो सकता है? उसको सीमेंट में डिब्बी देखकर अचंभा हुआ. पर इस अचंभे के बारे में सोचते समय मशीन की गति मंद नहीं की जा सकती थी. हड़बड़ा कर उसने सीमेंट उठाया और मिलाने वाले हौज में फेंक दिया. बेलचा उठाकर वह फिर सीमेंट ढोने लगा. मन ही मन वह बुदबुदाया, 'समझ नहीं आया भई, यह डिब्बी सीमेंट की बोरी में कैसे आ गयी?' उसने डिब्बी उठायी व कमीज़ की निचली जेब में डाल ली, 'साली का भार तो है ही नहीं. इसमें और कुछ हो न हो, पैसे नहीं होने के.' इस ज़रा-सी देर में ही वह अपने काम से पिछड़ गया था और अब उसको दुगनी फुर्ती से सीमेंट ढोकर मशीन में लाना पड़ रहा था. अपने आप चलने वाली, अंधाधुंध मशीन की तरह उसने एक बोरी और उलटायी और हौज़ में नया सीमेंट भरने लगा.

आखिर मशीन की गति कुछ घटी और फिर रुक गयी. योज़ो की दिन की छुट्टी का वक्त हो गया था. उसने मशीन के साथ लगे रबड़ के पाइप को उठाया और मुंह धोने लगा. फिर उसने रोटी वाला डिब्बा उठाया, गले में टांगा और अपने क्वार्टर की तरफ चलने लगा. एक ही ख्याल उसके दिमाग़ पर छाया हुआ था कि पहले रोटी पेट में पड़नी चाहिए . . . और इससे पहले कहीं शराब का गिलास मिल जाये तो बस . . . !

वह अब बिजलीघर की इमारत के सामने से गुज़रा. बनवायी का काम तकरीबन पूरा हो चुका था और जल्द ही बिजली मिलने वाली थी. सांझ के धुंधलके में उसके जिस्म में एक कंपकपी-सी दौड़ गयी. जिस किनारे से वह जा रहा था, उसके किनारे-किनारे नदी बह रही थी—दूधिया झाग के नीचे से आती आवाज़ उसकी रफ्तार का संकेत दे रही थी.

'ऐसी की तैसी' योज़ो के मुंह में जैसे कुनीन घुल गयी, "हद ही हो गयी. . . कमाल है. . .उसको फिर बच्चा होने वाला है. . .!" उसका ध्यान क्वार्टर में कुलबुलाते छः बच्चों की तरफ गया और फिर अपनी बीवी की तरफ, जिसे सातवां बच्चा होने वाला था. अपनी बीवी के बारे में सोचकर उसका मन कच्चा-सा हो गया, जो एक के बाद एक धड़ाधड़ बच्चे जने जा रही थी. यह सोचकर वह जैसे उदासी से घिर आया, 'अब तो सोच कुछ' वह मन ही मन बोला, 'रोज़ की एक येन 60 सेन मज़दूरी मिलती है जिसमें 5 सेन की पड़ी (तोल का पैमाना) के हिसाब से दो पड़ी चावल लेने होते हैं. रहने-सहने का खर्चा भी 60 सेन हो जाता है. एक साठ तो इसी में चले गये, अब दारू का घूंट कहां से मिलना है!'

एकदम उसको जेब में पड़ी डिब्बी का ख्याल आया. जेब में से डिब्बी निकालकर उसने अपनी पतलून की पीठ से रगड़कर उसका सीमेंट साफ किया. डिब्बी के ऊपर कुछ लिखा नहीं था पर एक कतरन से बंधा खत था.

"मैं नमूरा सीमेंट कंपनी में नौकरी करती हूं. मेरा काम सीमेंट की बोरियां सीना है. जिस नौजवान से मेरी सगाई हुई थी वह भी इसी कंपनी में काम करता था. उसका काम था पिसाई की मशीन में पत्थर फेंकना. 7 अक्तूबर की सुबह की बात है, जब वह एक भारी पत्थर मशीन में फेंकने की कोशिश कर रहा था उसका पैर कीचड़ में फिसल गया और वह पत्थर समेत मशीन में जा पड़ा. उसके साथियों ने उसे मशीन से खींचने की कोशिश की पर व्यर्थ . . . डूबते आदमी जैसा वह पत्थर के साथ नीचे ही जाता गया. पत्थरों के साथ उसका शरीर भी मशीन ने पीस दिया और जो चूरा निकला, वह गुलाबी चूरा था. यह चूरा भी ढलाई वाली पेटी के सहारे मशीन पीसने वाली चक्की पर जा पहुंचा और वहां से इस्पात की चक्की में चला गया. वहां से चूरा भट्टी पर पहुंचा और पक कर सीमेंट के रूप में तैयार हो कर बाहर निकल आया. उसकी हड्डियां उसका मांस, उसका दिल. . .और बाकी सब कुछ पिस कर चूरा हो गया था. हां. . .और मेरा होने वाला पति मुट्ठी भर सीमेंट बनकर रह गया था. बची थी सिर्फ उसकी कमीज़ की एक कतरन. आज सारा दिन मैं बोरियां सिलती रही हूं जिसमें उसका बना सीमेंट भरा जायेगा. . .

कल ही यह सीमेंट बना था और आज मैं चिट्ठी लिख रही हूं. इसको पूरा करके मैं इस बोरी में डाल दूंगी. तू, जो इसको देखेगा, क्या मज़दूर है? अगर है तो मेहरबानी करके जवाब जरूर देना. इस बोरी का सीमेंट कहां काम आ रहा है? मैं जानना चाहती हूं. कुल कितना सीमेंट उससे बना, व सारा का सारा एक ही जगह काम आया या अलग-अलग जगहों पर? तू मज़दूर है या राज मिस्त्री? मैं नहीं चाहती कि वह किसी की गैलरी या किसी बड़ी हवेली की दीवार का हिस्सा बने.

पर फिर सोचती हूं, क्या फर्क पड़ता है, जहां जी करे, सीमेंट लगा देना. जहां भी यह सीमेंट लगाया जायेगा, यह अपना काम पूरी ईमानदारी से करेगा, पूरी लगन से करेगा ऐसा मेरा यकीन है. उसका दिल बहुत नरम था, पर वह बहुत तगड़ा और जुर्रत वाला मर्द था. अभी तो बिल्कुल जवान था. पच्चीसवां लगा था. मुझे यह भी जानने का मौका नहीं मिला था कि वह मुझे कितनी
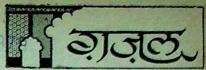
मुश्किल है कि अब शहर में निकले कोई घर से,
दस्तार पे बात आ गयी होती हुई सर से.

इस बार जो ईंधन के लिए कट के गिरा है,
चिड़ियों को बड़ा प्यार था उस बूढ़े शजर से.

खुद अपने से मिलने का तो याराना था मुझमें,
मैं भीड़ में गुम हो गयी तनहाई के डर से.

निकले हैं तो रस्ते में कहीं शाम भी होगी,
सूरज भी मगर आयेगा उस राह गुज़र से.

▣ परवीन शाकिर

प्रस्तुति : अहद 'प्रकाश'

मुहब्बत करता था. और अब मैं उसके लिए कफ़न सी रही हूं. कफ़न क्या. . .सीमेंट की एक बोरी सी रही हूं. कब्रिस्तान की बजाय वह भट्टी में झोंका जायेगा पर उससे विदा लेने के लिए मैं उसकी कब्र तक कैसे पहुंच पाऊंगी! क्योंकि मैं कैसे जान सकती हूं कि उसको कहां दफ़नाया जायेगा. पूर्व या पश्चिम, दूर या यहीं . . . इसलिए मैं चाहती हूं कि तू इस चिट्ठी का जवाब जरूर देना. और उसके बदले मैं तुझे उसकी कमीज़ का यह टुकड़ा देती हूं, हां . . ., यही टुकड़ा है, जिसमें यह चिट्ठी लपेटी हुई है. उसके पत्थर का चूरा, उसके शरीर का पसीना, सब कुछ इसी में है. जो कमीज़ पहन कर वह मुझे बाहों में भर लेता था. आह . . .! उसका सिर्फ एक टुकड़ा बचा है. मैं जानती हूं, मैं तुझ पर कितना भार डाल रही हूं. पर मेरी इल्तज़ा है कि मुझे यह जरूर बता देना कि यह सीमेंट किस दिन काम आया . . .किस तरह की जगह पर लगाया गया. . .और उसका ठीक पता क्या है? और साथ ही, अपना पता भी लिख भेजना. और आप भी ध्यान से रहना . . .अपना ख्याल रखना . . .रखेगा न . . .अच्छा, भगवान भला करे."

▣

बच्चों का झुंड एक बार फिर योज़ो के आसपास खड़ा हो गया. एक बार फिर उसने चिट्ठी के अंत में नाम-पता पढ़ा और फिर एक ही घूंट में प्याली खाली कर दी जिसमें उसने अभी-अभी साका शराब भरी थी.

"मैं नशे में धुत्त हो जाऊंगा!" वह पूरे जोर से चीखा.

"अच्छा . . . यह बात है." उसकी बीवी ने कहा, "तो आपके पास नशे के लिए पैसे हैं मगर बच्चों के लिए . . ."

उसकी बात मुंह में ही थी. योज़ो ने अपनी बीवी के बढ़े हुए पेट की तरफ देखा. . .उसको सातवें बच्चे की आमद बड़ी शिद्दत से याद आ गयी. □

अनुवाद : गगन गिल

प्रभु तुम कैसे किस्सागो

▣ मनोहरश्याम जोशी
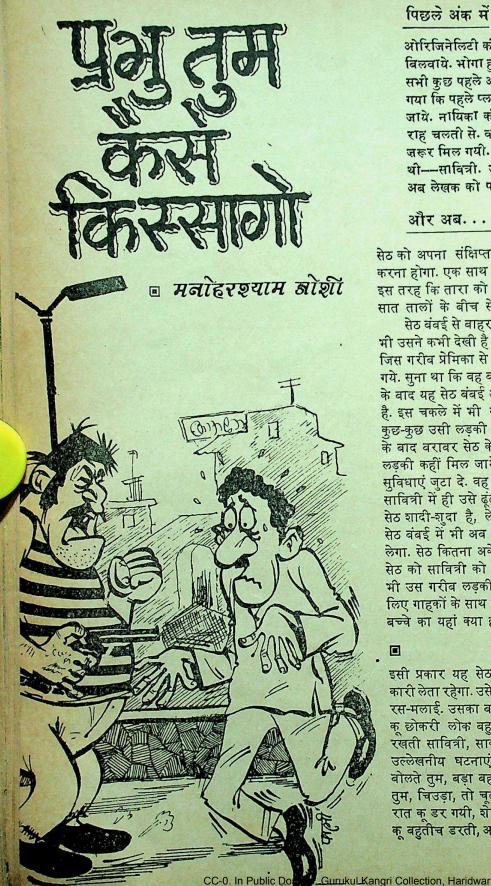
पिछले अंक में

ओरिजिनेलिटी की दरकार ने क्या-क्या पापड़ नहीं बिलवाये. भोगा हुआ यथार्थ हो या फंतासी का फन—सभी कुछ पहले आजमाया जा चुका है. लिहाजा सोचा गया कि पहले प्लॉट सोचा जाये और फिर उसे भोगा जाये. नायिका की तलाश में पहले टकराव हुआ एक राह चलती से. वहां तो घपला हो गया पर ताराबाई जरूर मिल गयी. ताराबाई की रिश्ते में एक भतीजी थी—सावित्री. उसमें नायिका होने की संभावनाएं थीं. अब लेखक को पहले तो बनना पड़ेगा सेठ...

और अब....

सेठ को अपना संक्षिप्त जीवन-चरित तारा के सामने प्रस्तु[त] करना होगा. एक साथ नहीं, धारावाहिक किस्तों में. और सो[भी] इस तरह कि तारा को लगे कि सेठ ने खुद नहीं बताया, उसी[ने] सात तालों के बीच से खोलकर निकाल लिया.

सेठ बंबई से बाहर का है. वह आज अमीर है. लेकिन गरी[बी] भी उसने कभी देखी है और बहुत घनघोर. गरीबी के दौर में व[ह] जिस गरीब प्रेमिका से शादी करना चाहता था उसे गुंडे भगा[ले] गये. सुना था कि वह बंबई में वेश्या बना दी गयी है. अमीर हो[ने] के बाद यह सेठ बंबई आकर उस लड़की को बराबर ढूंढ़ता र[हा] है. इस चकले में भी वह उसी की खोज में आया था. सावि[त्री] कुछ-कुछ उसी लड़की जैसी दीखती है सेठ को. अमीर हो जा[ने] के बाद बराबर सेठ के मन में यह इच्छा रही है कि अगर व[ह] लड़की कहीं मिल जाये तो उसके लिए संसार की तमाम सु[ख-] सुविधाएं जुटा दे. वह लड़की तो अब नहीं मिलेगी. क्यों न [वह] सावित्री में ही उसे ढूंढ़ ले? सेठ अब दौड़-धूप से थक गया [है]. सेठ शादी-शुदा है, लेकिन वह शादी पैसे की है, प्यार की न[हीं]. सेठ बंबई में भी अब दफ्तर खोलेगा. यहां अपने लिए फ्लैट [भी] लेगा. सेठ कितना अकेला महसूस करेगा अपने को उस फ्लैट में. सेठ को सावित्री को देखकर बहुत दुख होता है, यह बिच[ारी] भी उस गरीब लड़की की तरह आखिरकार पांच-पांच रुपए [के] लिए गाहकों के साथ बैठेगी. कहीं बीमारी न हो जाये इसे. इ[स] बच्चे का यहां क्या होगा?

▣

इसी प्रकार यह सेठ तारा से सावित्री के बारे में सारी ज[ान]कारी लेता रहेगा. उसे किस रंग की साड़ी पसंद है? धानी. मिठ[ाई?] रस-मलाई. उसका बचपन का नाम? साको, साकम्मा, वह [...] कू छोकरी लोक बहुत हो जाती, छोटा वाला छोकरी का [...] रखती सावित्री, साको, बहुत हुआ एइसा बोल के. बचपन [की] उल्लेखनीय घटनाएं? एक बारी इसका मां और अक्का, [...] बोलते तुम, बड़ा बहन; दोन जनी अक्लक्कि बनाते, क्या [...] तुम, चिउड़ा, तो चूल्हा में ये अपना हाथ जला ली. एक [...] रात कू डर गयी, शेर वाला मुंह का आदमी देखा बोल के. [...] कू बहुतीच डरती, अलग नहीं सोती कब्भी. और हां, जब इ[...]

बड़ी बहन अपना नवरा के लिए मंगल-गौरी पूजती, चावल का आटा में हल्दी-गुड़ मिलाकर घी का नौ, सोलह एड़सा दिया जलाती, तब यह सावित्री बोलती, मेरे कू भी एड़सा बनाने का. सावित्री का विवाह? इसका शादी तो भुआ का लड़का से होनी थी. बच्चा था, जभी से दोन जन साथ ही रहता-खेलता खूब, लेकिन वह मादरास गिया नौकरी का वास्ते, उदर कहीं दरिया में डूब गया. लहास भी नहीं मिला. फिर इस कू बैंगलूर साइड का कोई आयेला था, हमारा गाम में, सो परसंद किया. मैं इसका उससे शादी बनाई, पन ओ हरामी निकला. सावित्री का पसंदीदा फिल्मी हीरो? देव आनंद. उसकी दिली तमन्ना? एक अच्छा बैंगलूर का सिल्क का धानी साड़ी होने का और अडिक्की, क्या बोलते तुम, गले में पहनता चांद-सोना का पट्टी जो.

जैसा कि आप देख रहे होंगे, इस तरीके से मुझे अपनी कहानी की नायिका के चरित्र की रूपरेखाएं प्राप्त हो सकती थीं, और हुईं. नक्शे के मुताबिक मुझे तारा की मझौली अक्लमंदी से अपनी आला अक्लमंदी और सावित्री की बेढ़व कुढ़मगजी के बीच दुभाषिये का काम लेना था. तारा की मझौली अक्लमंदी रूमानियत समझ सकती थी और इशारों से सावित्री को भी समझा सकती थी, लेकिन रूमानियत का वह फरेब उसकी पकड़ में नहीं आ सकता था जो मेरी आला अक्लमंदी रच रही थी. एक अतिरिक्त सुविधा यों थी कि तारा, सावित्री को बेटी-जैसा मानती थी इसलिए उनमें वह खुलापन नहीं था जो सहेलियों में हुआ करता है. इसके चलते तारा, सावित्री को कभी भी यह नहीं बता सकती थी कि मैंने उससे सावित्री के बारे में क्या जानकारी ली? वह केवल इस उत्सुकता की रूमानी बुनियाद को, और सो भी मानवीयता से ओत-प्रोत संरक्षण-भावना के रूप में सावित्री तक प्रेषित करती रह सकती थी.

इस प्रकार नायिका को चकित करने की संभावनाएं नायक के लिए बन सकती थीं, और बनीं. मैं कहता, 'सावित्री, तेरे गांव में तो पानी की बहुत तकलीफ है री?' वह अपनी आंखें फैला कर पूछती, 'तुम मेरे गाम कब्भी गये?' मैं कहता, 'साको, सावित्री, अक्लक्कि बनाते उस दिन हाथ क्यों जलाया?' वह भवों में बल डालकर पूछती, 'कब्भी?' मैं कहता, 'छोटी थी जब, अक्का ने भी मना किया था, चूल्हे के पास मत खेल;' सोच भरी मुस्कान के साथ वह एक सवाल पेश करती, 'तुमको कौन बोली यह बात?'

▣

नक्शे के मुताबिक मैंने एक मित्र की सहायता से कन्नड़ के कुछ जुमले रट डाले, इस लायक बना कि तारा और सावित्री, दोनों से साधारण शिष्टाचार की बातें कभी-कभी कन्नड़ में कर डालूं—'हैंग री?' (कैसी हो), 'बर री' (आओ) 'कुड री' (बैठो), 'होगवर्त्तीनी' (जाकर आता हूं). और सावित्री से सहसा हिंदी और बंबइया हिंदी की बातचीत के मध्य कन्नड़ में कोई प्यार भरा जुमला कह सकूं—'निन्ना कंड्रे नांगे तुंबा इष्टा!' (मुझे तुमसे प्यार है), 'निम्मि कण्णु बहाड़ा चन्नागिदे' (तुम्हारी आंखें बहुत प्यारी हैं), 'नीनू रम्भेयिते इद्दिया (तुम रम्भा जैसी हो) वगैरह. नायिका की बुनियादी भाषा में बुनियादी प्यार की बातें प्रीतिकर विस्मय जगा सकती थीं और जगाकर रहीं. 'तुम को कौन बोली यह बात?' वाला अचरज 'तुम क्या हमेरे तरफ का?' के सवाल का रूप लेने लगा.

धारवाड़ की संस्कृति के बारे में भी मैंने जानकारी बटोरी—नववर्ष का त्योहार उगादि, दशहरे के दो विशिष्ट पक्ष (बोंबे हव्वा—गुड़ियों का त्योहार और गजे पूजा—नर्तकी वेश्या का पहली बार मंच पर उतारा जाना), स्वर्ण-गौरी पूजन (हरितालिका). दीवाली में भाऊ-बीज (जंवाई भोज—जंवाई का आना, उपहार देना और लेना) और प्रणय के कुछ खटके—'हूं मुडिस उदु' (बालों में फूल खोंसना), 'जड़े एलिया उदु' (प्यार से चोटी खींचना), ताली कट्टु उदु (मंगलसूत्र पहनाना) वगैरह. इन मुद्दों का उपयोग भावुकता भड़काने के लिए किया जा सकता था, और आपके आशीर्वाद से, किया भी गया.

मिसाल के लिए, स्वर्ण-गौरी पूजन को ही ले लीजिए. मैं सावित्री से अनुरोध कर सकता था कि मेरी खातिर स्वर्ण-गौरी पूजे. ऐसा संकेत दे सकता था कि इधर मेरा पित्त-वित्त-चित्त सभी थोड़ा गड़बड़ चल रहा है और वह अगर पार्वती से प्रार्थना करेगी तो मुझे यानी उसके 'उसको' सुख-शांति-समृद्धि मिलेगी. इस प्रकार संरक्षण-भावना के व्यापार को भी इकतरफा होने से बचाया जा सकता था.

और भी: मैं दीवाली के दिन उपहार लेकर पहुंच सकता था और तारा को बहुत श्रद्धा से अत्ते (सास) का संबोधन देते हुए 'भाऊ-बीज' की मांग कर सकता था. तारा की आंखों में जो नमी छलकती और उसके चेहरे पर आशीर्वचन से आंकी गयी जो मुस्कान खेलती वह निश्चय ही सावित्री के मन को छूने में हज़ारों प्रेम-गीतों से अधिक प्रभावप्रद सिद्ध होती.

ये तमाम लटके, न सिर्फ सोचे गये, बल्कि, आपकी कृपा से, सफलतापूर्वक आजमाये भी गये.

उसके एक अदद सुखद-दुखद पुत्र भीमू को भी मैं नहीं भूला. उसके पिता की भूमिका अपनाकर मैं सावित्री के पति-परमेश्वर की भूमिका सहज ही पा जाऊंगा—इस तथ्य को मैंने पहचाना. अपने बजट की दृष्टि से भी इस बालक के पिता की भूमिका मुझ सावित्री के प्रेमी की भूमिका से अधिक आकर्षक मालूम हुई. साड़ी-जेवर जैसा कोई उपहार देकर सावित्री का मन जीतना, कहानी को बजट-बाहर कर सकता था. बच्चे के लिए खिलौना लाना सस्ता नुस्खा था.

यह भी स्पष्ट था कि तारा को—जो सावित्री का हित चाहती है लेकिन उस हित की खातिर अपने हितकारी सेठ को नहीं खोना चाहती—मुझे सह-षडयंत्रकारी की भूमिका देनी होगी. उसे आश्वस्त करना होगा कि हम दोनों मिलकर सावित्री को तारा के सेठ से बचाने और सुखद भविष्य दिलाने का षड्यंत्र रच रहे हैं.

गोया नक्शा पूरा सोचा हुआ था. भूल-चूक की कोई गुंजाइश न थी, न हुई. मानव का मस्तिष्क संगणक से भी करोड़ों गुना अधिक पेचीदा है, यह बात अपनी जगह पर ठीक हो सकती है, मगर चंद चिंदियों को बतौर जीवन-सार सहेज कर रखने वाले पागल, मुट्ठी भर शब्दों में सृष्टि का सत्य कैद करने का हौसला रखने वाले कवि,

महज दस आदेशों से जमाने को अपने पीछे हांक ले जाने वाले मसीहा, महज चार कीलों से बड़े-बड़े मसीहाओं से चीं बुलवाने का विश्वास रखने वाले यंत्रणादाता, सभी जानते हैं कि संगणक की ही तरह यह पेचीदा मानव-मानस भी चलता गिने-चुने खटकों से है.

मेहरबान, आपने इस नाचीज़ को जो क्लासिकी आधुनिक चेतना बख्शी है, उसके सहारे वह पहचान सका है कि गौर-तलब, राग की पेचीदगी नहीं, साज की सादगी है. और सावित्री—वह तो खपच्ची और कागज़-मढ़े दीये पर खींचे हुए एक तार की सारंगी भर थी. चुनौती कुछ थी तो यही कि इस देहाती साज से शुद्ध शास्त्रीय धुन निकालकर दिखायी जाये. एक तकनीकी मसला.

▣

कहानी उसी तरह आगे बढ़ी जिस तरह मैंने उसे सोच रखा था. आरंभ में मैं एक सिर-फिरे सेठ के रूप में प्रतिष्ठित हुआ, जो दिन के टैम आ जाता है. चा-पानी पिलाता है. चकले की औरतों से अलसाये-से अंदाज़ में अनुभवी-सी छेड़छाड़ करता है. चकला-मालकिन तारा से एकांत में बतियाता है. सावित्री के बच्चे को खिलाता है. और सावित्री को जो देखता है तो अपलक देखता रहता है. कूढ़मगज सावित्री कहती है, 'एइसा कायकू देखता है?' कूढ़मगज सावित्री कभी-कभी पूछती है, 'बैठने का है क्या?' लेकिन नहीं, इस सेठ कू बैठने का नहीं मांगता. बैठने का क्या, इस सेठ कू तो एक मुत्तू (चुंबन) तक नहीं मंगता. और यह सेठ पैसा पूरा देकर जाता, बच्चा के लिए जो चीज-बीज लाता सो अलग. चा-पानी पिलाता सो अलग. यह सेठ पागल है क्या री? पागल कइसा हुआ? इसकू एक लड़की से मौबत था, वह लड़की किदर गुम गयी, अभी सावित्री में इसकू वही लड़की दिखती एइसा.

फिर दूसरा चरण. सेठ अब अन्य चकलेवालियों से हंसता-बोलता नहीं. सावित्री से ही कुछ-कुछ कहता, धीमी आवाज़ में. नहीं वइसा कुछ नहीं. दरवाजा का पाट खुला रखता. सेठ सावित्री कू रसमलाई खिलायी. सेठ सावित्री कू देवआनंद का दस्तखत किएला फोटो लाकर दिया. सावित्री कू बैंगलूर सिल्क का धानी साड़ी देगा, ऐसा बोला सेठ, अभी हाफवायल का लाया. मैं देखी, सेठ सावित्री का चोटी खींचता था री, उसको चोटी में फूल पन लगाया. मैं सुनी, सेठ उसकू हमेरे साइड का बात बोलता था री—'निन्ना यावदलु प्रेमिस तीनी मणजै काय? मणजै', मेरा तुमसे, भौत जास्ती मौबत. जोरदार ठहाके और फिर एक गंभीर खामोशी जो पूछती, 'अपन को क्यों नहीं मिला रे ऐसा सेठ, जो प्यार से पास बिठाता है, मगर 'बैठता' नहीं.' नपुंसकता की हद तक पहुंचे हुए अनुराग की दार्शनिक विवेचना वे भले ही न कर सकती हों, उसके महत्व को पहचान सकती थीं और पहचानवा सकती थीं. अब सावित्री भी 'बैठने' की बात न कहती और न ही यह पूछती कि 'ऐसा काय कू देखता?' अब उसका सवाल यही होता, 'तुम को कौन बोली यह बात? और 'क्या तुम हमेरे तरफ का?' सेठ को पैला जिससे मौबत हुएला वह साइत अपना घार-वाड़-साइड का कोई छोकरी. एइसा तारा बोली मेरे कू. सेठ को अब्भी ओ मिलेगी नहीं जब्भी सावित्रीच को ही ओ छोकरी मा[न] लेगा.

तीसरे चरण में सेठ लंबे-लंबे अर्से तक गायब रहने लगा. इ[स] उसकी वह परेशानी प्रमाणित हुई जो सावित्री से प्यार [औ]र ढारस की मांग कर रही थी. और इसके चलते सेठ के पैसों [की] बचत भी हुई. सेठ अब तारा कू 'अत्ते' कहता है—मणजै सा[स]. सेठ सावित्री को सिदूर का डिब्बी लाकर दिया. सोने का मं[गल]सूत्र देगा, बोल के गिया. सेठ इदर अपना धंधा में भौतीच फंसे[ला] उस कू निपटा कर इदर मुंबईच में रहेगा बोला. सेठ अब्भी क[भी] नहीं पन सावित्री को अलग करेगा एइसा मालूम होती मुझको. [जु]हू में फिलैट लेता बोले. इसी तीसरे चरण में सेठ का अंदाज़े-ब[यां] कुछ ऐसा रहा कि सावित्री 'तुम को कौन बोली यह बात?', 'तु[म] क्या हमेरे तरफ का?' पूछना भी भूल गयी. सेठ को सब प[र]... सेठ अपने ही घर का—ऐसा आदर-भाव उसके चेहरे पर ... डाल गया. अब वह मेरी रखैल या पत्नी की भूमिका तक ... चुकी थी. लेकिन मेहरबान, मुझे अभीष्ट था उसे प्रेमिका [की] भूमिका में उतारना.

इसीलिए चौथा और अंतिम चरण. वेश्या वाले हथिय[ार] कूढ़मगज सावित्री के पास अधिक थे नहीं और जितने थे ... तीसरे चरण के समाप्त होते वह उन्हें डाल चुकी थी. इस निह[त्थी] साकम्मा को अब इस सेठ ने लेखक के सोचे हुए आखिरी हथियार ... कोंचना शुरू किया. या तो वह आता ही नहीं. आता तो पलंग प[र] चुपचाप लेटा हुआ छत को ताकता रहता. और अगर कभी बोल[ता] तो बात न जाने कैसे बुआ के उस लड़के तक पहुंच जाती ... सावित्री से शादी होने से ऐन पहले मर गया था. मैं तारा से ... लड़के के बारे में विशेष कुछ जान नहीं सका था लेकिन कल्प[ना] भी तो कोई चीज़ होती है कद्रदान. मेरे सवाल अन्य पुरुष ... होते—'तुझे उसने एक फैंसी रूमाल दिया था, सो क्या हुआ' लेकिन सहसा अप्रत्याशित रूप से उनमें प्रथम पुरुष आ घुस[ता] 'दिया था न वहां देवल के सामने अश्वत्थ के पेड़ के नी[चे] मुझे सब याद है, तू कैसे भूल गयी री? तू रो रही थी न ... वह शहर जा रहा है और उसने रूमाल निकाल कर तेरे ... पोंछे और फिर बोला, इसे रख ले. मेरा वह रूमाल क्या हुआ'

अन्य से प्रथम फिर प्रथम से अन्य पुरुष में जाने वाली ... बातचीत की रीत सावित्री को हिला देती. मेरे गढ़े हुए ... किस्से कई बार थोड़े-बहुत सही निकलते, सावित्री को स्वयं ... होते, इसलिए जो याद नहीं होते वे भी धीरे-धीरे उसे विश्वस[नीय] मालूम होने लगे. किसी भी किस्से पर अब उसने 'एइसा क[ब] हुआ? एइसा तो हुआ नहीं?' कहना छोड़ दिया. उसके चे[हरे] से वह मुस्कराहट भी गायब होने लगी जो आत्मरक्षा की अं[तिम] कड़ी थी.

'उसका बात कायकू बोलता है? ओ तो खत्म हो [गया] बिचारा.' सावित्री के स्वर में अब एक भयभीत विनती हो[ती] और यह प्रयोगधर्मी लेखक कहता, 'किसने कहा कि वह मर ... किसने देखी उसकी लाश?'

फिर एक दिन जब मेरा गढ़ा हुआ एक किस्सा आंशिक ... सही सिद्ध हुआ—'मल्लिगे का झाड़ था न वहां तू बैठी फूल ... रही थी, उसने आकर पीछे से तेरी कमर पर हाथों का फंदा ...

दिया था. भूल गयी री, मैंने कहा था, जैसा मेरा हाथ कसा है कमर पर वैसी ही सोने की करधनी कसवा दूंगा—चिंद डाबू?' तब उसने टोक कर कहा, 'मैं क्यों भूलूंगी, तू भूल गया है, तूने तो हाथ . . . .' और एक लजीली मुस्कान के साथ उसने जुमला अधूरा छोड़ दिया. फिर लज्जा की जगह आतंक ने ली और वह बुदबुदायी—'नीन यारू?' (तू कौन है). उत्तर में मैं उसकी आंखों को अपनी दृष्टि से बांधे-बांधे हुए बस मुस्कराता चला गया.

यह हुई न बात—नायिका भी अन्य पुरुष और प्रथम पुरुष में गड़बड़ाने लगी. इस गड़बड़ से आतंकित होने लगी. अपन आधुनिक लोग जानते हैं कि जिसे प्यार कहा जाता है वह अस्तित्व के इसी आतंक से पैदा होता है. जिसके बारे में यह सवाल पेश हो कि 'तू कौन है?' उसके बारे में ही यह सवाल उठने की गुंजाइश बनती है कि 'तू कौन है मेरा?'

मेरा लेखकीय अहंकार का अमीन सयानी चहक उठा—तो भाइयो और बहनो, अब हम आन पहुंचे हैं अपने आखिरी और अहम सीक्वेंस पर, जी हां—सिसकते हुए वह समर्पण करती है. कैमरा उसकी बिचारी-बिछुड़ी-बच्ची आंखों को और नायक के संरक्षक-वक्ष पर फड़फड़ाती गदोलियों को इंगित करता है. नायक हाथ बढ़ा कर उसकी चिबुक ऊपर उठाता है—आंखों ही आंखों में आश्वासन और कृतज्ञता का आदान-प्रदान होता है और हम 'शाट को यहीं फ्रीज' कर देते हैं. ग्रें ऽऽड क्लाइ ऽऽ मेक्स!

इस क्लाइमेक्स की ओर बढ़ने के लिए मैंने भ्रांति और आतंक की मिकदार रोज-ब-रोज बढ़ायी. उसी निर्मम धैर्य से सावित्री से मृत प्रेमी के बारे में बातें कीं जिससे खुफिया पुलिस वाले स्वीकारोक्तियां लिखवाते हैं. फिर पहली बार मैं रात के समय चकले में गया. तारा को मैंने एकांत में समझाया कि जुहू में वह फ्लैट कल तक तैयार हो जायेगा. मुझे अगर बाहर नहीं जाना हुआ तो शाम तक आकर सावित्री को वहां बसा दूंगा. फ्लैट में फर्नीचर, बिस्तर, नये वस्त्र, जेवर, प्रसाधन-सामग्री, बर्तन-भांडे सब मिलेंगे. यहां से कुछ ले जाने की जरूरत नहीं है. चाहे तो वे चीजें ले जा सकती हैं जो मैंने इस बीच उसे दी हैं. अगर मैं खुद न आ सका तो मेरा एक विश्वस्त कारिंदा गहने का बक्सा और वस्त्रों का ट्रंक लेकर आयेगा. सावित्री को सजा-धजा कर भेजे. जब तक मैं लौट न आऊं सावित्री और भीमू के साथ तारा भी उसी फ्लैट में रहे. फिर मैंने तारा को चालीस प्रतिशत छूटवाली सेल में खरीदी हुई, इसलिए थोड़ी मैली, केला-सिल्क की एक धानी साड़ी दी और कुछ सस्ते पुराने नकली जेवर. बताया कि ये कभी मैंने उस गरीब प्रेमिका के लिए खरीदे थे जो मेरी न हो सकी. भावुक इच्छा व्यक्त की कि आज रात सावित्री इन्हें ही पहने.

▣

रेडी फॉर टेक—नायक ने केला-सिल्क की साड़ी और नकली जेवर पहनी नायिका को बिस्तर पर बैठाया. उसके बालों में एक फूल खोंसा. उस फूल को सूंघते-सूंघते वह उसकी ग्रीवा चूमने लगा. उसने बत्ती बुझा दी. नायिका को लिटा दिया. नायिका ने उसकी ओर देखा. उसकी आंखों में वह परंपरागत आमंत्रण खोजा. नायक उस पर झुका. शायद आज सब कुछ सामान्य हो. लेकिन झुक कर नायक ठिठका. फिर सहसा उठा और नपी-तुली चहलकदमी करने लगा अंधेरे में. वह कुछ-कुछ कहने लगा, कभी अन्य पुरुष में, कभी प्रथम पुरुष में. वह उस प्रेमी की बात कर रहा था जो मर गया है. वह उस प्रेम की बात कर रहा था जो मरता नहीं.

नायिका उठ कर बैठ गयी. भयभीत उसने पूछा, 'तू कौन है रे?' नायक उसके नजदीक आया. नायक ने शेर के मुंह वाला कागजी डैराना पहन रखा है. 'अय्यो-अम्मा!' नायिका चीखी. नायक ने अपनी अंगुलियों से उसकी चीख दबायी. अंगुलियों पर नकली बाघ-नख झमके. नायक ने बाघ-नख वाली तर्जनी को अपने होंठों पर रखते हुए मंद स्वर में कहा, 'ए कत्ते बाय मुच्चु' (ए गधी, मुंह बंद रख). और वह फिर अंधेरे में चहलकदमी करने लगा.

कैमरा अब नायिका की भयभीत आंखों को थामे हुए है. साउंड ट्रैक पर नायक के नपे-तुले कदमों और नायिका की बदहवास सांसों की आवाज.

नायक बोला, "तुझसे कितनी बार उसने कहा जब तक मैं साथ हूं, डरने की कोई बात नहीं. मसान वाली पगडंडी से उस शाम मेरे साथ गयी तो कोई डर लगा बोल? और मैंने तुझे बताया था कि वह शेर के मुंह वाला आदमी-फादमी कुछ नहीं होता. गंदे सपने देखती है तू. मैंने तुझसे कहा था न कि अच्छे सपने देखा कर साको." नायक नायिका के पास पहुंचा. डरौना और बाघ-नख अब नहीं हैं. नायिका ने रोते-कांपते कहा, 'वह तो मर गया था, वह तो मर गया था.'

नायक ने अपनी जेब से एक पुराना-सा रूमाल निकाला. उसके आंसू पोंछे और कहा, 'मैं मरा नहीं. देखती नहीं, यह रूमाल जिससे उस दिन देवल के पास तेरे आंसू पोंछे थे? तुझे

दिया था. फिर देता हूं. इसे अब मत खोना और मैं कल न आऊं, परसों न आऊं, बरसों-बरसों न आऊं और तुझसे कोई कहे कि वह मर गया तो कभी सच मत मानना री. वह मरता नहीं, वह जो तुझसे प्यार करता है, साकम्मा.'

'होग वत्तंनी,'—नायक ने बत्ती जलायी और विदा मांगी. अब सिसकते हुए समर्पण. लेकिन नहीं, वह पहले काठ मारी-सी बैठी रही और फिर उसने दो हाथ पसारते हुए कहा, "होग बेडा" (मत जाओ). क्लाइमेक्स के लिए यह भी ठीक था, बल्कि बेहतर. थोड़े टाप एंगल से देखे गये, दो पसरे हुए हाथ और उनके मध्य चितातुर चिरौरी से भरा चेहरा और अनुगूंज. कक्ष में भटकता एक जुमला, 'मत जाओ.' नायक के कदम दरवाज़े की ओर, घूमा हुआ चेहरा नायिका की ओर. सादा, प्रभावप्रद, दोचित्तता, आधुनिक. इसे मैंने पटकथा में परवरदिगार के किये गये सुधार के रूप में सहर्ष ग्रहण किया.

▣

वापस लौटते हुए मैं सोच रहा था कि इस कहानी को लिखते समय 'रोमां नूवेल' के अनुयायियों की तरह पटकथा की शैली अपनायी जा सकती है. अलबत्ता 'सच्चाई जो है सो सतह पर है' वाले उनके नारे से पूरा परहेज बरतते हुए. यहां 'रोमां नूवेल' की शुष्कता अपेक्षित न होगी, यहां ममता और निर्ममता के बीच का तनाव अभीष्ट होगा. बहरहाल, वह तो शिल्प का सवाल भर था.

ऐन इसी वक्त परवरदिगार छींके—मेरे पीछे आते हुए एक नर के भेस में. मैंने पलट कर देखा तो मुझे ख्याल आया कि यही दादा टाइप शख़्स उस समय भी मेरे पीछे था जब मैं बदनाम बस्ती से बाहर आ रहा था. अपनी दिशा बदल कर मैं सहसा सड़क के पार चला गया. वह भी पीछे आया. मैंने चर्नी रोड ओवर ब्रिज से पटरी के पार चले जाने का फैसला किया. वह तेज़ी से मेरे पीछे आया और पुल के ऊपर उसने मेरा कालर पकड़ लिया.

आगे के दुखद और हिंसक ब्यौरे में न जाकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उसने तारा के सेठ द्वारा पाले हुए गुंडे के रूप में अपना परिचय दिया और अपने मालिक की ओर से मेरा यथोचित अभिनंदन किया. लेखक की आला अक्ल रिरियाने लगी. पुल के नीचे लोकल गाड़ियां घड़घड़ा रही थीं. ओवर ब्रिज पर लोग आ-जा रहे थे, मार-पीट के इस रोजमर्रा छाप नाटक को नजरअंदाज करते हुए. ओवर ब्रिज पर लगे रोशन विज्ञापन बुझ-चमक रहे थे. सब कुछ निरा हॉलीवुड, शुद्ध हिचकॉक. मगर यह लेखक पिट-पिटा कर फिर उठने वाला मर्दाना हीरो हरगिज नहीं था जो कटे हुए होंठ से निकले खून को नमकीनी चटखारे लेकर चखता है और बूट की ठोकरें खाते हुए भी आंखें पिस्तौल पर गढ़ाए रहता है कि किस दांव से उसे झपट लूं. मेहरबान, हिंसा के पांव बूट समेत पकड़ लेने के अलावा कोई रास्ता न था. लेकिन पांव पकड़ने पर भी वह नहीं पसीजा. उसका कहना था कि उस सेठ ने तो इस सेठ को खत्म करने के पैसे दिये हैं, अगर अब यह सेठ कुछ दे-दिलाये और आइंदा उस गली में अपना थोबड़ा न दिखाने की कसम खाये तो छोड़ देने की बात सोची जा सकती है.

तो इस सेठ ने रो-रो कर कहा कि मैं सेठ नहीं. मैंने तो एक किस्सा गढ़ा था. दादा ने चरणों पर बिछे इस बिसूरते बुद्धिजीवी को कालर से पकड़ कर उठाया, सीधा खड़ा किया, झापड़ मारा और फिर उसकी जेबें तलाशीं. एक अठन्नी, एक शिनाख़्ती कार्ड जो मय फोटो घोषित कर रहा था कि यह चौ[illegible] आंग्लभाषा का राष्ट्र-भाषा में अनुवाद करने वाले एक सरकारी पत्रकार का है, एक थर्ड क्लास का लोकल-रेल पास, दो मुड़ी-तुड़ी सिगरेटें और बस. उसने शिनाख़्ती कार्ड देखा, फिर [illegible] देखा और फिर अठन्नी को चित्तपट करने के अंदाज़ में उछालते हुए हंसा, "तो तुम नकली सेठ हो. तुमसे मिलकर बहुत खुशी हुई. मैं नकली दादा हूं. यह जिसे तमंचा समझ रहे हो बच्चों का खिलौना है."

मैं और कुछ नहीं सुनना चाहता था लेकिन वह सुनाये बिना नहीं माना. वह रंगमंच और फिल्म का एक विफल अभिनेता है. कड़की के इस आलम में वह कोई न कोई भूमिका ओढ़कर शहर के इस खुले रंगमंच में निकल आता है, सहानुभूति या आतंक अपने तईं कुछ पैदा करने के लिए. वही चौपाटी में भूखों मरने का अभिनय करता है. वही के. ई. एम. अस्पताल के सामने सीने पर तमाम तरह के ट्यूब-टेप से चिपकाए हुए बाहरगामी लाइलाज मरीज के रूप में मिलता है जिसे घर पहुंचकर चैन से मरने के लिए पैसा चाहिए. वही है जिसे चलती सड़क के बीच मिर्गी का या न जाने किसका दौरा पड़ जाता है और लोग उसकी मदद को आते हैं. वही है जो सार्वजनिक मूत्रालयों में पहले सम-लैंगिकों को आकर्षित करता है और फिर पुलिस अफसर बनकर पैसे वसूलता है.

और हां, वही है जो अपने अपेक्षाकृत अच्छे जमाने में कभी सावित्री के साथ 'बैठता' था. सावित्री और नये मजनू सेठ का किस्सा उसे अभी मुरली से मालूम हुआ और एक प्रेरित क्षण में उसने अपनी आज की दिहाड़ी, देर से सही, खड़ी करने [illegible] यह योजना बना डाली.

▣

मेहरबान, बुजुर्गों ने कहा है कि अगर अखाद्य-विशेष खाना ही हो तो हाथी का खाओ. आधुनिक साहित्य में इसका रूपांतर अपन लोगों ने कुछ इस तरह कर छोड़ा है कि अखाद्य-विशेष खाना ही है तो अल्बेयर कामू का खाओ. और यह परवरदिगार था कि मुझे ओ. हेनरी और एच. एच. मनरो 'साकी' जैसे टुच्चे किस्सा-गोओं का खाने को मजबूर किया चाहता था.

यह सही है कि थोड़ा सांस और आत्म-सम्मान लौटने पर मैंने इस संभावना को भी जांचा-परखा कि कहानी अब यों लिखी जाये कि कैसे एक लेखक ने गढ़े हुए किस्से से पतुरिया के मानस को चूर-चूर किया और कैसे उस गढ़े हुए किस्से से उपजे एक अन्य गढ़े हुए किस्से ने उसके मानस को चूर-चूर किया. गोया सभी अपने ढंग से ठगे गये. लेकिन उस हालत में संरचना ज़रूरत से ज़्यादा सलीकेदार होती और नीयत ज़रूरत से ज़्यादा पारदर्शी. [illegible] आधुनिक-आधुनिकों को उस हाथ की सफाई से उबकाई आती है अब.

● 53 नेशनल पार्क, नयी दिल्ली-24.

आज की संपूर्ण स्थिति और लेखन

कहानी और भाषा का इस्तेमाल

▣ मृणाल पांडे

अगर हम शब्दों को भाषा में प्रयुक्त संप्रेषण चिह्नों के रूप में देखें तो उनके दो रुख सामने आते हैं, पहला उनकी शुद्ध भौतिकी उपस्थिति यानी उनका **बाह्य स्वरूप, उनकी ध्वन्यात्मकता** और दूसरा उनकी **अर्थात्मकता.**

हमारे यहां प्रायः लोग यह मानकर चलते रहे हैं कि भाषा का पहला रुख सिर्फ कवियों या बहुत करके वैयाकरणों से ही तआल्लुक रखता है और उसका मात्र दूसरा यानी अर्थात्मक रूप गद्यकारों के लिए प्रयोजनीय है. यह एक नितांत भ्रामक धारणा है. इसी धारणा में बंधे हमारे ज्यादातर मान्य आलोचकगण कहानियों व उपन्यासों में सबसे पहले (प्रायः केवल) नैतिक सूक्तियां व सामाजिक पक्षधरता के सूत्र तलाशते हैं. यह नजरिया किसी भी अच्छी कहानी या उपन्यास के साथ घोर अन्याय है, क्योंकि यह मानकर चलता है कि कोई भी कहानी या उपन्यास एक कविता की तरह अपने में पूर्ण एक कलात्मक प्रयास नहीं हो सकता, उसका मानव-निर्मित वादों व चालू स्थापनाओं के पक्ष में 'कमिटेड' होना उसके 'भलेपन' की बुनियादी शर्त है! इस नजरिये के पनपते अचरज नहीं कि हिंदी साहित्य में समाज सुधारकों और राजनयिक पक्षधरता के उत्कट हामियों की संख्या दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ रही है.

इसी भ्रांतिपूर्ण अवधारणा की एक उपशाखा कहानी में भाषा की 'स्वाभाविकता' पर भी अनावश्यक बल देती रहती है. स्वाभाविकता से मतलब क्या है? कि यह वही भाषा हो जो 'आम आदमी' प्रयोग करता है? या जो कि सुनते ही लगे कि हां यह बिल्कुल हू-ब-हू वैसी ही है जैसी कि हम घर में सुनते आये हैं? तो साहब कहानी न हुई सड़क पर घूमता माइक्रोफोन हो गयी!! हर अच्छा लेखक तहे-दिल से स्वीकार करता है कि जब वह अनुभव विशेष या स्मृति विशेष के बारे में लिखता है तो भाषा को कहानी के अपने अंदरूनी व कलात्मक अनुशासन के अनुरूप नियोजित करके ही उसे अच्छी प्रकार लिख पाता है. अतः हर अच्छी कहानी की भाषा एक बहुत यत्न और संवेदनशीलता से बनायी हुई, संयोजित की हुई चीज होती है और जो इसके बावजूद इसमें एक गजब की रवानगी आ पाती है,वह लेखक के जीनियस की देन है. अच्छी कहानी या उपन्यास को सराहते वक्त उसके भाषायी गठन की इस प्रच्छन्न ताकत व शब्दों के कलात्मक अनुशासन को हम कतई नजर-अंदाज नहीं कर सकते. हर अच्छी कहानी इसीलिए अलसा-अलसा कर पढ़ने की हल्की-फुल्की आदत को एक गंभीर चैलेंज देती है—उसका पूरा रस आप तभी ले पाते हैं जब आप उसे अपेक्षित ध्यान और जागरूकता से पढ़ते हैं.

हमारे यहां एक त्रासदी यह रही है कि स्कूलों-कॉलेजों में साहित्य पढ़ाते समय भाषा के व्याकरण-सम्मत और मात्र शब्दकोषी रूपों पर ही बल दिया जाता है, साहित्य में भाषायी प्रयोगों की संपूर्णता पर नहीं! इसी से हमारा सामान्य पाठक एक तरह की मानसिक संकीर्णता का शिकार होता चला जाता है—कम-से-कम गद्य को पढ़ाते समय. बच्चे काफी हद तक इस हठधर्मिता से मुक्त होते हैं, इसी से अक्सर उनकी कही बातें बात की ऐन नस पकड़ती हैं. भाषा के प्रति एक कौतुक भरा व निडर खिलवाड़ का रुख शब्दों की ध्वन्यात्मकता और भाषा की रिद्म के प्रति एक सचेत लगाव जो खेल-खेल ही में प्रदर्शित करते हैं, एक वयस्क के लिए भी साहित्य का आस्वादन लेने के लिए बहुत जरूरी है. जब हम जाड़े की अलसायी दुपहर में धूप में लंबी तान कर पड़ होते हैं तो हम क्या महसूस करते हैं, एक पुलक भरी ऐंद्रिक सुखानुभूति? या कि सूर्य की 'क्ष' किरणों से हड्डियों में विटामिन 'ए' और 'डी' का भरा जाना? (हालांकि वह भी होता है) हमारा बेचारा शोधकर्ता

साहित्य पढ़ते वक्त इतने से ऐंद्रिक सुखबोध से भी रीता है.

हर कहानी, हर कला-रचना का केंद्र अंततः मनुष्य है. पर उसकी महानता इसी में है कि मनुष्य से शुरू होकर वह हमें एक मनुष्येत्तर विराटता के बोध से जोड़ती है, जो समय, काल की गुंजलकों और मानवनिर्मित संकीर्ण नैतिक मानदंडों से परे एक विराट आदि स्रोत है हर चीज का. कोई भी अच्छा लेखक वस्तुओं की, मानवीय संबंधों की गोचर सचाई को नकारता नहीं, पर वह यह कमी मान कर नहीं चलेगा कि वस्तुओं की गोचर उपस्थिति ही संपूर्ण सत्य है. अगर वह वस्तुओं के दृश्य रूप के परे जाने की सामर्थ्य नहीं रखता तो फिर वह स्फुट रिपोर्ताज भर दे पायेगा, जो 'सत्य-कथाओं' की तरह रोचक व पठनीय भले ही हों पर गंभीर कलात्मकता की सरहदों तक नहीं पहुंचते. अपनी दिमागी गुंजलकों के खुलने की कष्ट-साध्य प्रक्रिया से बचने को लेखक से सिर्फ इन्हीं थोथे दैनंदिन सचाइयों भरे सपाट घरेलू ब्योरों की मांग करना और उसके द्वारा स्थिति के हू-ब-हू (किसके? किसके? किसके?) चित्रण न किये जाने पर 'बूर्जुवा इयीस्ट' कहे जाने की धमकी कोई भी सत्यप्रिय, स्वाभिमानी कहानी लेखक या लेखिका के गले के नीचे नहीं उतरेगी. और यही बात है जो साहित्य के भविष्य के प्रति जागरूक साहित्य प्रेमियों को हर बार आश्वस्त करती है ☐

सातवां अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह : एक साहित्यिक दृष्टि से
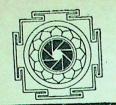
□ कुंवर नारायण

हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि, कहानीकार श्री कुंवर नारायण यह समारोह देखने के लिए विशेष रूप से दिल्ली आये. हमारे निवेदन पर उन्होंने 'सारिका' के लिए इस समारोह का एक लेखक की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया है जो इन फिल्मों के कुछ अछूते पक्षों को भी उजागर करता है. साथ ही समारोह की कुछ झांकियां भी यहां प्रस्तुत की जा रही हैं.

↑ इस समारोह में स्वर्णमयूर प्राप्त क[रने] वाली फिल्म 'हंगेरियन्स' का [एक] तनावपूर्ण दृश्य

←'हंगेरियन्स' के निर्देशक श्री ज़ोल[तान] फ़ाबरी

सातवें अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में (दिल्ली: 3-17 जनवरी 1979) जो फिल्में दिखायी गयीं, उन पर कुछ बातचीत 'कहानी' तथा अन्य साहित्यिक विधाओं को केंद्र में रखकर यहां करना चाहूंगा. इसीलिए ज़्यादा से ज़्यादा फिल्मों पर कुछ न कुछ कहने के बजाय, कुछ खास फिल्मों पर कुछ ज़्यादा कहना बेहतर होगा. बात को इस तरह शुरू किया जा सकता है कि अधिकांश फिल्मों का विषय कहानी कहना नहीं था—उन अर्थों में कहानी नहीं था जिन अर्थों में कविता, नाटक, ललित निबंध, यात्रा विवरण, इतिहास, मनोविज्ञान, नृशास्त्र, विचार-लेख आदि मुख्यत: कहानी नहीं होते यद्यपि उन सभी में कहानी के कुछ गुण या तत्त्व मौजूद हो सकते हैं. अधिकांश अच्छी फिल्में सब-

से पहले इस मिथ को तोड़ती लगती थी[ं कि] बिना मज़बूत प्लाट के एक सशक्त [और] महत्वपूर्ण फिल्म नहीं बन सकती. [थोड़ी] देर के लिए यदि हम फिल्म माध्यम [को] एक साहित्यिक 'विधा' की तरह सोचें [तो] हम महसूस करेंगे कि नयी कहानी की [तरह] तरह शायद नयी फिल्में भी सुगठित [प्लाट] के अधीन न रह कर अपनी संभावनाओं [का] विस्तार साहित्य की अन्य विधाओं

नज़दीक जाकर करती हैं. शायद इसीलिए अगाथा क्रिस्टी से लिये गये कथानक पर आधारित **'डेथ ऑन द नाइल'** जैसी फिल्मों की अपेक्षा या तो ओल्मी की **'द ट्री ऑव वुडेन क्लाग्स'** और फ़ाबरी की **'हंगेरियन्स'** जैसी फिल्मों का बिल्कुल यथार्थवादी स्तर का अनगढ शिल्प हमारी आधुनिक संवेदना से अधिक नज़दीक पड़ता है, या फिर उस प्रकार की फिल्में हैं जिन्हें हम विचारशील, मनोवैज्ञानिक, काव्यात्मक या फंतासी जैसे विषयों की कोटि में रखेंगे—यानी फिल्में जो जीवन को केवल एक खास तरह देखती और सुनती ही नहीं बल्कि सोचती और रचती भी हैं : मेरा मतलब उन फिल्मों से है जो केवल दिलचस्प चित्रों का संग्रह मात्र नहीं, चित्रों की ऐसी संरचना प्रस्तुत करती हैं जिसे हम भाषा की तरह पढ़ और विचारों की तरह सोच सकते हैं. तार्कोव्स्की की **'सोलारिस'** और **'आंद्रे रुबलेव'**, यानुसी की **'स्पाइरल'** मिकलोश यांचो की **'आंगुस देई'**, स्कोलीमोव्स्की की **'शाउट'** आदि मुझे इसी प्रकार की फिल्में लगीं.

▣

आंद्रे तार्कोव्स्की (1932-   ) की तीनों फिल्में **'इवान्स 'चाइल्डहुड'** (1962) जो कि तार्कोव्स्की की पहली लंबी फिल्म है, **'आंद्रे रुबलेव'** जो 1966 में बनी लेकिन रूस में 1971 में दिखायी गयी और **'सोलारिस'** (1971), इस बार दिल्ली में दिखायी गयी थीं. तार्कोव्स्की संसार के अत्यंत प्रतिष्ठित फिल्म निर्देशकों में से हैं लेकिन रूस के बाहर उन्हें जितनी मान्यता प्राप्त है उतनी रूस में नहीं. उनकी फिल्में सहज बोधगम्य नहीं और एक ऐसे समाज में जहां सामान्यीकरण और लोकप्रियता को सबसे पहले ज़रूरी माना जाता हो वहां उन फिल्मों की अत्यंत जटिल शैली सहसा कठिनाई उत्पन्न कर सकती है. 'रुबलेव' में अगर आत्मकथात्मक तत्त्व भी पढ़े जायें तो रूस

←सातवां फिल्म समारोह : ज्यूरी के सदस्य. ज्यूरी के अध्यक्ष हैं श्री ओस्मान संबेन (सबसे नीचे, बायीं ओर) तथा सचिव श्री एम. वी. कृष्णस्वामी (नीचे से दूसरी पंक्ति, दायीं ओर)

में एक दूसरे स्तर पर भी कठिनाई उत्पन्न हुई होगी—मध्ययुगीन कलाकार रुबलेव (1370-1430) की जीवनी को माध्यम बनाकर तार्कोव्स्की ने उस समय की बर्बरता को चित्रित किया है जिससे परेशान होकर रुबलेव ने कला छोड़ कर अंत में संन्यास ले लिया था. फिल्म बहुत ही कुशलता से अनुभूति के दो भिन्न स्तरों पर चलती है—एक ओर तो रुबलेव के अत्यंत संवेदनशील मानसिकता के स्तर पर और दूसरी ओर उतने ही नृशंस ऐतिहासिक तथ्यों के स्तर पर. **'सोलारिस'** में हम तार्कोव्स्की की इस अत्यंत आत्मान्वेषी और प्रयोगशील कला को मानव मन के एक बिल्कुल दूसरे आयाम को खोजते देखते हैं—इस खोज में उनकी कला साइंस-फिक्शन और रहस्यात्मक चिंतन की उस संधि पर विचरती है जहां समय लौकिक समय नहीं है, जहां कुछ अंतरिक्ष यात्री अपने पिछले जीवन को फिर से जीते और अपनी ग़लतियों को महसूस करने के लिए विवश होते हैं.

तार्कोव्स्की की फिल्मों की गंभीर और विचारशील शैली हमारे उस संस्कार को भी तोड़ती है जो सिनेमा से केवल मनोरंजन, यानी एक दिलचस्प कहानी की ही मांग करते हैं. साइंस फिक्शन-सी लगते हुए भी **'सोलारिस'** साइंस फिक्शन नहीं है—उस विधा का एक बहुत ही गंभीर और कलापूर्ण इस्तेमाल है. इसी तरह **'रुबलेव'** में तार्कोव्स्की ने एक जीवनी को लिया ज़रूर है लेकिन फिल्म में जीवनी की क्रमबद्धता न रख कर एक प्रभाववादी चित्र की सी असंबद्धता रखी है, और अगर हम 'असंबद्धता' को असंगत मान लेने की जल्दी न करें तो तार्कोव्स्की निश्चय ही एक अनूठी शैली में अपनी बात कह सके हैं. रुबलेव की जीवनी, उसकी कला और उसका समय, इनकी तीन गतियां एक दूसरे को काटती हुई-सी एक ही कैनवस पर चलती हैं, लेकिन फिर भी तीनों की स्वतंत्र पहचान अंत तक सुरक्षित रहती है.

▣

एक कला अपने आपमें जितनी बड़ी होगी उसे एक सीमित व्याख्या में बांधना उतना ही मुश्किल होगा—और यह मुझे मिक-

लोश यांचो (1921-)की **'आग्नूस देई'** फिल्म देखते हुए बराबर लगा. ऊपर से जरूर यांचो ने अगस्त 1919 में क्रांति-पुनर्क्रांति की जिल्द रखी है लेकिन उतने ही को फिल्म का पूरा विषय मान लेना उस गहरे आशय से अछूते रह जाना है जिसे यांचो की अत्यंत सतर्क और मार्मिक फिल्म भाषा में पढ़ा जा सकता है—वह अनवरत चलता उबाऊ इतिहास-चक्र जिसमें राजनीति, धर्म, फौजें, हत्याएं, मनुष्य के भाग्य के साथ क्रूर खेल खेलते हैं लेकिन उसके अस्तित्व को मिटा नहीं पाते. 1969-71 के बीच यांचो ने अपनी तीनों फिल्मों में—**'द कन्फ्रंटेशन'**, **'आंगुस देई'** तथा **'रेड साम'** में एक ही शैली अपनायी थी—खुले मैदान, पानी, आकाश, सिपाही, घुड़सवार, नग्न देह, सामूहिक राष्ट्रीय गान और नृत्य. . . मानो ये स्थायी भाव हैं और पूरा इतिहास एक तरह की नृत्य-नाटिका है जिसके द्वारा हम अपने भीतर कहीं छिपे सत्यों को टटोलते हैं. इस अर्थ में मैं यांचो की फिल्मों को उतना वस्तुपरक नहीं मानता जितना आत्मपरक—और इसका पर्याप्त संकेत उनकी फिल्मों की उस सात्विक सादगी में व्याप्त रहता है जहां प्रभाव उत्पन्न करने के लिए चीज़ों का इस्तेमाल न्यूनतम है.

इस सादगी का एक बिल्कुल दूसरा पक्ष ज़ोल्तान फ़ाबरी (1917-) की फिल्मों में उद्घाटित होता है. फ़ाबरी की फिल्मों का कथन जितना सशक्त होता है उनका शिल्प या क्राफ्ट उतना ही सादा और आडंबरहीन. फ़ाबरी की **'फ़िफ्थ फ़िसील'** (जो पिछले वर्ष मद्रास उत्सव में दिखायी गयी थी) की अपेक्षा यद्यपि **'हंगेरियन्स'** (जिसे इस वर्ष पुरस्कृत किया गया) मुझे कम पसंद आयी, लेकिन इस फिल्म में भी अपने विषय की सूक्ष्म और निश्चित पकड़ में फ़ाबरी कहीं नहीं चूकते. फ़ाबरी ने हंगरी के कुछ किसानों के जर्मनी में बारह महीनों के प्रवास को केंद्र में रखकर द्वितीय महायुद्ध की कुछ ऐसी विभीषिकाओं को सरल किसानी समझ द्वारा उद्घाटित किया है जो आमतौर पर बहुत बड़े फ़लक की मांग करती हैं. फ़ाबरी एक कथानक का ताना-बाना नहीं बुनते, एक खास तरह की समझ द्वारा अनुभव किये जा रहे कटु यथार्थ को चटक उभारते हैं. वे कहीं भी फिल्म को नाटकीय नहीं बनाते, फिल्म को ज़िंदगी की नाटकीयता पर टिप्पणी की तरह प्रस्तुत करते हैं.

▣

जीवन अपने आप में अति सरल भी है और अति नाटकीय भी. नाटकीय को सरल के नज़दीक लाना अगर एक तरह की कला है तो अतिनाटकीयता दूसरे तरह की कला जिसके अनेक आयाम आधुनिक कलाओं में भी उद्घाटित हुए हैं. कभी-कभी हम एक जीवन को नहीं, एक नाटक को जीते हैं इतने गहरे यकीन के साथ कि दर्शक और प्रदर्शक, नकली और असली, काल्पनिक और अकाल्पनिक, मिथकीय और वर्तमान के बीच भेद ही मिट-सा जाता है. ग्रीक पुराकथा मीडिया के कथानक के समानांतर आधुनिक वैवाहिक जीवन की विषमताओं को रखकर जूल्स दासें (1911-) ने ऐसे ही एक प्रसंग को **'ड्रीम ऑव पैशन'** का विषय बनाया है. कथानक तीन (कभी समानांतर—कभी एक दूसरे को काटती) धाराओं में चलता है: मीडिया की प्राचीन कथा को अगर फिल्म की आधार-लय मानें तो उसके एक ओर एक समकालीन अमरीकी पत्नी की वास्तविक घटना है जो अपने पति के तरीकों से खिन्न आकर अपने बच्चों की हत्या के अपराध में जेल काट रही है. और दूसरी ओर एक नाटक निर्देशक और उसकी प्रसिद्ध अभिनेत्री पत्नी है जो मीडिया नाटक खेलते समय अपने पारिवारिक जीवन की विसंगतियों और उस अमेरिकी स्त्री के करुण जीवन से उलझ जाते हैं.

वर्तमान जीवन की विसंगतियों और विषमताओं को मिथकों के जरिये चित्रित करना आधुनिक साहित्य का भी एक प्रमुख पक्ष रहा है—और यह फिल्म इस माने में निश्चय ही एक साहित्यिक स्वाद देती है. विशेष रूप से अभिनय के स्तर पर वह हमें उसी तरह झकझोरती है जिस तरह एक उच्च कोटि का नाट्य प्रदर्शन—अभिनय चाहे बिल्कुल शास्त्रीय ढांचे में बड़ी सतर्कता से ढाला गया मेलीना मरकूरी का अभिनय हो, चाहे उतना ही कुशल एलेन बस्टीन का यथार्थवादी अभिनय.

पूर्वी योरुप, खासतौर पर पोलिश फि
में, इधर हम एक खास तरह का आत्म
न्वेषण पाते हैं जो कभी-कभी हमें अस्ति
वाद की याद दिलाता है. विसंगतियों
अर्थहीनता से उपजने वाली वह चि
चिंता जो केवल भौतिक स्तर पर
नहीं होती, कहीं न कहीं भौतिक से
कुछ चाहती, या कुछ जानना चाहती
मनःस्थितियां जो कविता के निकट
खोज जो तर्क की भाषा से ज़्यादा अनु
की भाषा को प्रामाणिक मानती
("मैंने हमेशा अपने जीवन में एक अनु
के बाद उसकी भाषा को पाया है. मैं
एक अनुभव से गुज़र रहा हूं. उसकी भा
मेरे पास नहीं है." प्रसिद्ध नाटक
ग्रोतोव्स्की ने अभी हाल ही में कहा था
तीसरी दुनिया और पूर्वी योरुपीय दे
के सिनेमा में अब एक नयी आत्मस
प्रखरता, अपने समय और समाज में
रहे आदमी की भीतरी और बाह
ज़िंदगी को सही-सही समझने और चित्रि
करने की गंभीर और ईमानदार कोशि
को साफ पहचाना जा सकता है.

▣

एक बार पूछे जाने पर कि आपको रा
फ्रास्ट की **'शाउट'** कहानी ने क्यों आक
किया? इंग्लैंड में काम कर रहे पोलि
फिल्म निर्देशक स्कोलिमोव्स्की ने कहा
"उसमें छिपी विसंगतियों और अविश्व
नीयता ने. मुझे लगता है कि हम हर स
द्विविधाओं और दुहरे-दुहरे अर्थों से घि
आप जानते हों शायद कि मैंने कविता
शुरू किया था—मेरे तीन कविता-सं
छप चुके हैं. मेरा दिमाग़ चलता ही
तरह है जैसे कविता में. सीधे वर्णन
विवरण का रास्ता छोड़कर भटक जा
मुझे कोई परेशानी नहीं होती—और
तरह की कहानियां मुझे आश्वस्त करतीं
जिसमें यकीन ही नहीं बेयकीनी के
भी पूरी गुंजाइश हो. अर्थहीनता से
हर समय घिरे हैं—मैं उसे केवल अनु
करता हूं जो मुझे छूता है, मेरी पहुं
आता है. . . मेरी **'शाउट'** फिल्म में
ज़्यादा ऊलजलूल है, नायक बेटे
वह दुनिया जो उसके चारों तरफ है
वह इसीलिए बीमार है क्योंकि वह

तरह नहीं है? आप कैसे कहेंगे कि एक पेड़ नार्मल होता है या नहीं?"

'शाउट' कहानी का पूरा ढांचा कविता का-सा है जो विश्वसनीय और अविश्वसनीय की संधि रेखा पर चलता है. ग्रेव्स स्वयं एक प्रख्यात कवि हैं जिनकी कहानी लगभग एक कविता का अनुभव कराती है और यह संयोगमात्र नहीं कि स्कोलीमोव्स्की की अपनी काव्यात्मक संवेदनाएं भी इसे एक फिल्मी अनुभव बनाते समय कहानी की अपेक्षा उसके काव्यात्मक अनुभव को ही विस्तार देती हैं. बिंबों, ध्वनियों और कल्पना का संयोजन इतना एक कहानी नहीं कहता जितना एक खास तरह के रोमांच की प्रतीति कराता है. ध्वनि को लेकर (जो कहानी की अपेक्षा कविता में कहीं ज़्यादा महत्व रखती है) स्कोलीमोव्स्की विशेष प्रयोगशील रहे हैं, "चिल्लाहट के जिस घातक असर को मैंने फिल्म में दिखाना चाहा उसका ताल्लुक सिर्फ आवाज़ की तेज़ी या भराव से नहीं था, उसे अचानक और कई तरह से भरपूर बनाना था—तो मैंने उसमें तमाम तरह की दूसरी आवाज़ों को भी भरा, कई ट्रैक्स पर एक साथ, नियागरा प्रपात... राकेट के छूटने की आवाज़.... जो भी सूझा... लेकिन आदमी के जी-तोड़ चिल्लाने की आवाज़ को फिर भी इन सबसे ऊपर रखा."

▣

यानुसी अपनी 'स्पाइरल' फिल्म में काव्यात्मक से हटकर लगभग विचार के स्तर पर एक ऐसे अकेले व्यक्ति की स्थिति को सोचते हैं जो जीवन की निरर्थकता से ऊब कर अंत में आत्महत्या कर लेता है—लेकिन उसकी आत्महत्या के अंतिम भौतिक तथ्य से ज़्यादा ट्रैज़िक हैं वे तमाम आत्महत्याएं जिन्हें वह मरने से पहले ही मानसिक स्तर पर कई बार कर चुका होता है. वह बार-बार घूम-फिर कर एक ऐसे नतीजे पर पहुंचता है जिस नतीजे में और मृत्यु में कोई फर्क नहीं. नायक कई तरह के लोगों की जीवन दृष्टि में हस्तक्षेप करता है अपनी जीवन-दृष्टिहीनता से, मानो यह साबित करने के लिए कि कोई भी जीवनदृष्टि उसके भीतर के खालीपन को भर सकने में सक्षम नहीं. एक अधिक समर्थ जीवनदृष्टि की खोज—शायद यही 'स्पाइरल' का एक बहुत ही छिपा हुआ आशय है.

▣

मैंने यहां कुछ ऐसी फिल्मों को लिया है जो मुझे लगा कि एक ऐसे बिंदु से देखी जा सकती हैं जिस बिंदु से हम साहित्य की अनेक विधाओं को देखते हैं—और इसी बिंदु से देखते हुए एक बिल्कुल अनूठे और अलग किस्म की फिल्म **'द मेमोरेबिल पिलग्रिमेज ऑव एंपेरेर कांगा मुस्सा फ्रॉम माली टु मक्का'** (शाह कांगा मुस्सा की स्मरणीय यात्रा) की चर्चा न करना 'यात्रा-विवरण' जैसी साहित्यिक विधा के सर्वथा एक नये और रचनात्मक इस्तेमाल की अवहेलना करना होगा. 'कांगा मुस्सा' को 'यात्रा-विवरण' न कहकर 'यात्रा-कथा' कहना ज़्यादा ठीक होगा. एक अफ्रीकी नवयुवक माली से मक्का तक आज के अफ्रीका में वही यात्रा करता है जो 700 साल पहले उसके पूर्वज कांगा मुस्सा ने की थी. और यह यात्रा केवल भौगोलिक नहीं, इतिहास में भी यात्रा है, बल्कि यों कहें कि भूगोल के द्वारा इतिहास में यात्रा है. यह फिल्म बड़े ही कलापूर्ण ढंग से आज के अफ्रीकी जीवन और इतिहास के बीच सूक्ष्म कड़ियां जोड़ती और मार्मिक काव्यात्मक क्षणों को रचती है.

▣

एक फिल्म हमारे लिए किस प्रकार का अनुभव रच पाती है यह बहुत कुछ एक निर्देशक की अपनी दृष्टि पर निर्भर है साथ ही उस व्यवस्था पर भी जिसमें फिल्म जैसे महंगे माध्यम को, अपनी कलात्मक पहचान को स्पष्ट रखना है. फिल्म भी भाषा की तरह, एक माध्यम है जिसका इस्तेमाल महज़ सूचना के लिए, प्रचार के लिए या मनोरंजन के लिए भी हो सकता है—और हर हालत में वह एक तरह के रचनात्मक और समाज के लिए उपयोगी भी हो सकती है—लेकिन एक समर्पित कलाकार के लिए इस माध्यम की कलात्मक संभावनाओं को गहराई से खोजने के मतलब हैं इसमें एक शिक्षित और गंभीर आत्म-सजगता का रचनात्मक हस्तक्षेप. फिल्म जैसे तकनीक-प्रधान, महंगे और जनप्रिय माध्यम के साथ यह खतरा सबसे अधिक है कि आज की टेक्नोलोजी और जनरुचि के बीच इस तरह के व्यावहारिक और व्यावसायिक रिश्ते बन जायें जिसमें कला के लिए जगह ही न बचे, या बचे भी तो बिल्कुल हाशिए में. इस जगह की रक्षा, और उसे अधिक से अधिक विस्तृत करने की कोशिश, मुझे इन फिल्मों का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष लगा. अंधेरे में बैठकर चमकीले चित्रपट पर फिल्में देखते हुए कभी-कभी एक अजीब-सा विचार मेरे मन में आया—रोशनी का अनुभव हमारे मन के अंधेरे कोनों में कहीं आज भी एक आदिम चमत्कार के रूप में जीवित है : रोशनी की चकाचौंध को इस तरह भी इस्तेमाल किया जा सकता है कि वह एक खास तरह का अंधापन हो, लेकिन इससे बिल्कुल विपरीत तरह रोशनी को इस्तेमाल करना अंधेरे के खिलाफ़ एक कला भी है और एक क्रांति भी! ☐

● **विष्णु कुटी, महानगर, लखनऊ**

सवाल यूनिवर्सल एप्रोच का

मैक्स मूलर भवन में जर्मनी के 'न्यू वेव सिनेमा' पर एक गोष्ठी हुई. इस गोष्ठी में कई महत्वपूर्ण सवाल उठाये गये. एक सवाल सिनेमा की 'यूनिवर्सल एप्रोच' के बारे में था कि जैसे हॉफ ने एक फिल्म में जर्मनी के गरीब किसान के पास 'मर्सडीज़ ट्रक' दिखाया है, लेकिन अफ्रीका के दर्शक तक यह बात नहीं पहुंचती क्योंकि वह सोचता है, इस के पास मर्सडीज़ ट्रक है, फिर यह कैसे गरीब है!

एक अन्य समीक्षक का कहना था कि सामाजिक व्यंग्य भी विदेशी दर्शक तक पहुंचना मुश्किल है. जैसे जर्मन 'स्लाटर हाउस' के दृश्य को अगर अफ्रीकी दर्शक देखेंगे तो उनमें उसे व्यंग्य नहीं टैक्नोलॉजी का विकास नज़र आयेगा.
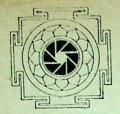
फिल्म समारोह: कुछ झलकियां

- चयन समिति ने लगभग 50 फिल्मों में से प्रतियोगिता के लिए कुल 24 फीचर फिल्में चुनीं. इनके अतिरिक्त लघु-फिल्मों को भी चुना गया. इन फिल्मों से 21 देशों का प्रतिनिधित्व हुआ.
- अफ्रीका के देशों में से केवल मिस्र की ओर से समारोह में फिल्म शामिल हुई, जबकि दो अफ्रीकन देशों, सेनेगल और मोरक्को से दो फिल्मकार निर्णायक मंडल में शामिल होने आये.
- भारत के पड़ोसी देश पाकिस्तान और बांगला देश ने प्रतियोगिता में भाग नहीं लिया. चीन, नेपाल और श्रीलंका ने अपनी फिल्में भेजीं.
- सूचना-वर्ग में कुल 98 फिल्में प्रदर्शनार्थ चुनी गयीं थीं. समारोह में 400 से अधिक प्रतिनिधियों के शरीक होने की बात कही गयी थी, जबकि उतने शामिल नहीं हुए. विदेशी प्रतिनिधि 100 होना बतलाया गया था, वे भी पूरे नहीं थे.
- चयन समिति को संभवतः निर्देश थे कि सेक्स व हिंसा वाली फिल्मों के चुनाव में सावधानी रखी जाये. परिणामतः दर्शक बहुत कम रहे.
- यह पहला अवसर था, जबकि लोकसभा सदस्यों को मुफ्तिया पास नहीं देकर एक नयी परंपरा स्थापित हुई.

हर चीज़ की एक कहानी होती है—उसकी ज़मीन से लेकर रूप और प्रभाव तक की कहानी. पर 3 जनवरी से 17 जनवरी तक दिल्ली में हुए सातवें अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह की कोई एक कहानी नहीं है, बल्कि ये समारोह समूचा कहानी-संग्रह ही है. ये कहानियां हैं—फिल्मों की, सरकार की, आमंत्रित अतिथियों की, अनामंत्रित अनातिथियों की, देश की, विदेश की, शराब की बंदगी की और शराबबंदी की. सारी कहानियां 'एक दिल के टुकड़े हजार हुए' की तर्ज़ में अशोका होटल, मौर्य होटल और विज्ञान भवन के बीच बिखर गयी हैं. और जब किसी चीज़ के टुकड़े हज़ार हो जायें तो कोई हिस्सा ज़्यादा चमकता है, कोई कम चमकता है. कोई असल होता है और कोई असल के धोखे में उठा लिया जाता है. . .इस समारोह का माहौल भी कुछ ऐसा ही है. . .

पहली फिल्म 'गमन' से ही बहुचर्चि[त] मुज़फ़्फ़र अली

कहानी: फ़िल्मों और फ़िल्मकारों [की]

▣ हरिश्चंद्र [...]

'जुनून' के प्रदर्शन पर समारोह शुरू होना है. विज्ञानभवन के दायें-बायें पुलिस का इंतज़ाम. शशिकपूर ने एक क्लासिक फिल्म बना दी है. यों भी घोर व्यावसायिकता के बीच शशि अपनी क्लासिकता के लिए प्रसिद्ध हैं. संस्था का नाम 'फिल्मवाला' रख रखा है बड़े नाटक किये हैं अब तक. कभी 'काबुलीवाला' कभी 'शेक्सपियरवाला' अब 'जुनून' बना डाली है. निर्देशक क्लासिक हैं—श्याम बेनेगल. चूंकि हर क्लासिक फिल्म छोटे बजट की होती है, इसलिए शशि साहब ने श्याम बेनेगल के साथ एक-स्वर होकर बतलाया है कि 'जुनून' छोटे बजट की फिल्म है. वह सिर्फ यानी कि मात्र लगभग 60 लाख में बनी है.

▣

बहरहाल 'जुनून' से फिल्म फेस्टिवल शुरू होता है और जुनून की तरह 3 जनवरी से 17 जनवरी तक [...] चला जाता है.

फिल्मोत्सव निदेशालय ने [...] दी थी कि अनुमानित आय 38[...] लाख रहेगी, जबकि व्यय 42 लाख [...] 3.25 लाख होने वाले घाटे को पूरा [...] जाने कि उम्मीद थी. सुना गया [...] 46 लाख से अधिक आय हुई है, पर[...] 50 लाख के करीब चला गया. [...] आंकड़े निदेशालय न दे तब तक [...] को पता नहीं चलेगा कि क्या [...] कैसे हुआ?

सरकारी ग़ैर-सरकारी हर सेमि[नार] में सामान्यतः कई-कई लोग, [...] घोषित किया जाता था, गायब [...] अगर 'अदर सिनेमा' वालों द्वारा [...] जित 6,7 और 8 जनवरी के सेमि[नार] में घोषित-प्रचारित वक्ताओं में से [...] कुछेक गायब होते थे, तो 9 जनव[री] [...] आयोजित हुए सरकारी सेमि[नार] 'विकासशील देशों में सिनेमा' [...] अक्सर महत्वपूर्ण नाम गायब र[हे]

सेमि[नार] ...

सेमिना[र] ... देखा ग[या] ... पर कम ... फिल्में ... ज़्यादा ... को 'इं[...] मेकर्स' ... हुए ही ... श्याम [...] कि सेंस[र] ... अनुसार ... सेंसर के ... सेंसर ह[...] के फिल[्म] ... नहीं मि[...] दार से[...] वाली [...]

▣

ज़्यादात[र] ... पर अप[...] गया. ज[...] असफल[...] अक्ल न[...] हुई!'

यह ... फिल्म ... विशेष ... समारोह ... सेमिनार ...

पृष्ठ: 5[...]

सेमिनारों से स्पर्श तक : सई परांजपे

सेमिनार के पहले, बाद, और बीच में देखा गया कि लोग सिनेमा के विकास पर कम विचार कर रहे हैं, अपनी-अपनी फिल्में आयात-निर्यात करने के बारे में ज़्यादा चख-चख कर रहे हैं. वासु भट्टाचार्य को 'इंटरनेशनल फोरम ऑफ फिल्म मेकर्स' के निर्माण की भूमिका बनाते हुए ही सारे समारोह में देखा गया. श्याम बेनेगल निरंतर यह तर्क देते रहे कि सेंसर बोर्ड ही ग़ैर-ज़रूरी है. उनके अनुसार उनका विश्वास है कि सरकारी सेंसर के नियंत्रण के बजाय जनमत का सेंसर हो. वह भूल गये कि इस बार के फिल्मोत्सव को दर्शक केवल इसलिए नहीं मिल पा रहा है, चूंकि उसे चटखारेदार सेक्स और अपराधोत्तेजक हिंसा वाली फिल्में नहीं मिल पायी हैं.

◘

ज़्यादातर लोगों को दिल्ली टेलीविजन पर अपने इंटरव्यू के लिए चिंतित देखा गया. जो सफल हुए, वे गद्गद् थे जो असफल हुए उनके अनुसार 'सरकार को अक्ल नहीं है और व्यवस्था ठीक नहीं हुई!'

यह पहला अवसर था जब किसी फिल्म समारोह में हिंदी लेखकों—विशेष कर दो उपन्यासकारों—को समारोह की ज़्यादातर गतिविधियों, सेमिनारों और गप-गोष्ठियों में सक्रिय

पाया गया. एक हिमांशु जोशी और दूसरे रामकुमार भ्रमर. हिमांशु के बारे में मालूम हुआ कि वे 'स्क्रीनिंग कमेटी' के सदस्य थे, पर यह मज़ेदार बात थी कि वे पूरे समारोह में ही स्क्रीनिंग करते रहे. रामकुमार भ्रमर, बासु भट्टाचार्य, मुज़फ्फर अली, सई परांजपे या 'कादंबरी' के निर्माता मधुसूदन कुमार को साथ-साथ देखा जाता रहा.

नेशनल स्कूल ऑव ड्रामा के कुछ छात्र-छात्राएं गेटकीपरी कर रहे थे. एक ओर यह अच्छी बात थी कि दो ही सही पर लेखकों ने समारोह में भाग लिया तो दूसरी ओर 'कॉमर्शियल' और 'क्लासिकल' सिनेमा को लेकर एक पत्रकार से भ्रमर को जोरों से उलझते पाया गया.

पत्रकार ने पूछा था, "सुहागदान जैसी कॉमर्शियल फिल्म कौन लिख रहा है—आप या मैं?"

"आप फिल्म क्या लिखेंगे, फिल्मी अखबार लिखिए!"

बात बढ़ती, पर इसी बीच कोई और सज्जन आये और भ्रमर उनके साथ खिसक लिये.

▣

कला फिल्मों को लेकर ज़बानी चख्-चख् ही हुई हो, ऐसा ही नहीं है. टेलीविजन पर भी यह चख्-चख् समारोहियों के द्वारा पहुंची. बच्चन श्रीवास्तव द्वारा लिये जा रहे एक टी. वी. इंटरव्यू में शिवेंद्र सिन्हा ने फरमाया कि आप यानी बच्चन श्रीवास्तव कला फिल्मों के लिए अपनी पत्रिका में क्यों नहीं लिखते? इस पर सिन्हा के साथ दूसरे भेंट-दाता बासु भट्टाचार्य ने कहा, "अगर ये अपनी मैगज़ीन में कला फिल्म के लिए लिखेगा तो इनका पत्रिका कौन खरीदेगा?"

समारोह की सबसे तकलीफ़देह कहानी है—भारत गौरव निर्देशक सत्यजीत राय का लगभग अंतिम दिनों समारोह में दीखना. वह भी काफी उदास और विरक्त . . .समारोह ने अपने पीछे कई प्रश्नचिह्न छोड़े हैं, पर यह प्रश्नचिह्न बहुत बड़ा है! □

● मकान नंबर—6293, ब्लाक—6 गली नं-3, देवनगर, नयी दिल्ली—110005.

7iffi फिल्म समारोह : स्याह हाशिये

▣ ब्रजेश्वर मदान

फिल्म समारोह में दैनिक व मासिक और पाक्षिक पत्रों के प्रतिनिधियों के साथ जो भेदभाव किया गया, उसके बारे में जब संबंधित अधिकारी से पूछा गया तो उसका जवाब लाजवाब था, "दैनिक पत्र, मासिक और पाक्षिक पत्रों से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि वे 'ब्रेकफास्ट' से पहले पढ़े जाते हैं और लोगों पर उनका असर ज्यादा देर तक रहता है."

▣

जिन सिनेमाघरों में फेस्टिवल की फिल्में दिखायी जा रही थीं, वहां भीड़ को अनुशासन में रखने के लिए पुलिस तैनात की गयी थी. इस बार भीड़ चूंकि थी ही नहीं, इसलिए पुलिस को अपने आपको ही अनुशासन में रखना पड़ा.

▣

विकासशील देशों के सिनेमा की गोष्ठी में बासु भट्टाचार्य ने डिस्ट्रीब्यूटर्स की व्यावसायिक मनोवृत्ति का एक खूबसूरत उदाहरण पेश किया. उन्होंने कहा कि ताशकंद में उनकी एक फिल्म डिस्ट्रीब्यूटर से मुलाकात हुई, जिसने उन्हें बताया कि उन्होंने एक फिल्म के वितरण अधिकार लिये. फिल्म में दो ट्रैक थे, इसलिए उन्होंने उसे 'एडिट' करके दो फिल्में बना दीं. यानी डिस्ट्रीब्यूटर ने एक फिल्म खरीदी और दो बेच दीं! बासु ने कहा, मैंने उनसे पूछा, आप पिकासो की पेंटिंग खरीदें और मान लीजिए कि वह पेंटिंग इतनी बड़ी है जो तीन दीवारों पर लग सकती है, तो क्या आप उसकी एक से तीन पेंटिंग बना देंगे?

▣

तीसरी दुनिया के क्रांतिकारी फिल्मकार बेन बार्का की नयी फिल्म, 'नाइट इन जाहनेसबर्ग' एक ह्वाइट साउथ अफ्रीकन के बारे में है. जो काले लोगों की लाशें मैडिकल चीर-फाड़ के लिए वैस्ट जर्मनी को एक्सपोर्ट करता है. कुछ अर्से के बाद वह इतना गिल्टी महसूस करता है कि उसकी अपनी चमड़ी काली होनी शुरू हो जाती है. बेन बार्का ने स्वीकार किया कि इसके लिए उसने काफ्का के 'मैटामोरफोसिस' से प्रेरणा ली, लेकिन स्क्रिप्ट पूरा होने के बाद उन्हें पता चला कि यह घटना साउथ अफ्रीका में सचमुच घट चुकी है.

बेन बार्का ने तीन और फिल्में बनायी हैं. पहली फिल्म '1001 हैन्ड्स' कालीन बुनने वाली लड़कियों की दयनीय स्थिति को उभारती थी, जिसका ख्याल बेन बार्का को तब आया जब वह कालीन खरीदने के लिए गये और वहां महिला श्रमिकों की शोचनीय स्थिति देखी. दूसरी फिल्म थी 'देयर विल बी नो आंधी वार' जिसका प्रदर्शन छटे फेस्टिवल में समस्या बन गया था, क्योंकि फिल्म मोरक्को में बैन थी.

तीसरी फिल्म स्पेनिश नाटककार लोर्का की 'ब्लड वैडिंग' पर आधारित थी जिसका ख्याल बेन बार्का को तब आया जब वह स्पेन के खिलाफ़ एक मार्च में मोरक्को के बारे में बार्डर तक गये. वहां उन्होंने एक ऐसा गांव देखा जहां एक भी लड़की नहीं थी. पूछने पर इसका कारण पता चला कि कल ही गांव की एक दुलहन एक विदेशी युवक के साथ भाग गयी. बेन बार्का ने इस फिल्म को वास्तविक गांव में वास्तविक पात्रों के साथ निभाया.

इत्तफ़ाक

▣ रमेशलाल आनंद

अमन एक बार बाज़ार से गुज़र रहा था. उसने देखा कि कोई नोट तहों में लिपटा पड़ा है. वह उसे उठाने की सोच ही रहा था कि दो बच्चों ने लपक कर उठा लिया. पचास रुपये का नोट था.

बच्चे तेज़ी से चल पड़े. अमन भी उन के पीछे-पीछे हो लिया. बच्चों ने रेहड़ी पर जाकर अपने बाप के हाथों में सहर्ष नोट संभलवा दिया और भाग गये.

"देखिये, मेरा पचास का नोट गिर गया था. आपके बच्चे उठा कर लाये हैं. कृपा करके मुझे दे दीजिए." अमन ने रेहड़ी वाले से जाकर कहा.

"वास्तव में नोट आपका है?"

"तो मैं क्या झूठ बोल रहा हूं?"

रेहड़ी वाले ने नोट उसे थमा दिया.

. . . नोट मेरा नहीं है. मैंने झूठ बोला है. . . मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था. . . . आखिर पचास से मेरा बन भी क्या जायेगा. . . फिर रेहड़ी वाला बेचारा. . . . वृद्ध. . . फटे कपड़ों में. . . गरीब! . . .अमन के अंदर संघर्ष शुरू हो गया.

घर जाकर उसने सारी बात अपनी पत्नी से कह दी.

पत्नी ने कहा, "ठीक है, न रुपये आप के हैं, न रेहड़ी वाले के. आप जाकर रेहड़ी वाले के साथ आधे-आधे बांट लीजिए."

अमन को सुझाव पसंद आया. वह उसी क्षण रेहड़ी वाले की तरफ चला.

"देखो बुज़ुर्ग, ये रुपये वास्तव में न मेरे हैं और न आपके. मैंने जो झूठ बोला उसके लिए मुझे पश्चाताप है. आप आधे रख लीजिए और आधे मुझे दे दीजिए." अमन ने कहा.

"बाबूजी, मैं भी आपकी तलाश में था. ये रुपये वास्तव में इस मार्कीट की जमादारनी के हैं. अभी वह रोती-रोती सबसे पूछती जा रही थी. सो, मेरा ख्याल है रुपये जमादारनी को ही लौटा देने चाहिए."

"पैसों का मिलना या गुम होना इत्तफ़ाक होता है. . . सो ये तो इत्तफ़ाक से ही मिल गये. हमें बांट लेने चाहिए." अमन ने तर्क दिया और अंततः पैसे आधे-आधे बंट कर ही रहे. □

उत्तराधिकारी

▣ उदयसिंह तोमर

अच्छे-खासे दिन गुज़ारते हुए मलखान को अचानक मौत डस गयी, तो परिवार पर आफ़त आ बरसी. उसकी दो पत्नियां थीं. संतान किसी को नहीं थी. छोटी पत्नी आधुनिकता के रंग में रंगी थी. उस पर यौवन सवार था.

बड़ी कहती कि पति की ज़मीन-जायदाद मेरी है. मैं ही इसकी वारिस हूं. छोटी कहती कि सब कुछ मेरा है.

गांव के प्रमुख लोगों ने पंचायत करके उनका फैसला कर दिया और मलखान का आधा-आधा हिस्सा उसकी दोनों पत्नियों में बराबर बांट दिया. पर वे फिर भी नहीं मानीं. औरत अकेली रंजणी होती है. अपना-अपना चाहती है.

उनकी बात हाई कोर्ट तक पहुंच गयी. मुकदमा चला. दोनों को अलग-अलग कटघरे में खड़ा किया गया. उनसे मामला पूछा गया तो छोटी ने कहा, "सरकार मैं भूखी हूं. मैं मांगती हूं इस पेट के लिए!" और उसने अपना पेट उघाड़ कर दिखा दिया. सभी एकत्रित लोगों के दिल खिसक गये. उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा.
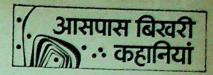
बड़ी से पूछा गया कि तुम्हें क्या तकलीफ है, तो वह बोली, "सरकार, जो खर्च मेरे पास है, वही इसके पास है. सवाल है पेट पालने का. हक भी यह है कि मालिक के बाद जो बड़ा हो वही चल-अचल संपत्ति का उत्तराधिकारी होता है. इसके बावजूद भी मैं अपना पेट उघाड़ कर न दिखा सकूंगी. यह तो अपना पेट दिखा कर मांग सकती है, कमा सकती है. माफ कीजिए, भूखों मरना मंज़ूर, पर मुझसे ऐसा नहीं होगा!"

एन. के. सरीन

जज साहब के दिमाग पर दलील का असर हुआ. फैसला सुनने को सबके कान उत्सुक हुए. जज साहब ने कलम उठाई और कहा, "दोनों के बयान सुनकर हम इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि मलखान की छोटी बीवी भूखी नहीं रह सकती. उसके पास पेट दिखाकर मांगने की विद्या है. भूखी तो बड़ी मरेगी. यह ऐसा नहीं कर सकती. यह स्वाभिमानी पतिव्रता है. नारी के कायदे जानती है. इसलिए मलखान की संपत्ति इसी को दी जाती है."

मलखान की बड़ी पत्नी ने फिर भी घर आकर छोटी के लिए उसका हिस्सा निश्चित कर दिया. □

अब तक आप पढ़ चुके हैं...

डाकू मलखानसिंह की बेटी की सगाई बिरज के बेटे से तय हो चुकी थी. शादी होने वाली थी पर बिरादरी के डर से बिरज ने यह रिश्ता तोड़ दिया. इस पर अपमान की ज्वाला में धधकता मलखान बिरज की हत्या करने जा पहुंचा किंतु बालसखा बिरज की बेटी की दुहाई ने उसका अंतस झकझोर डाला और वह विवश-सा बैरंग लौट आया. परंतु मन में रह गयी इस कसक ने उसे चैन से नहीं बैठने दिया. यहां तक कि वह अपने विश्वस्त सहयोगी बिंदा पर भी शक करने लगा और कुमुक तथा रसद मुहैया करने वाले व्यापारी कासीराम के कहने पर किये जाने वाले कामों से भी उसे नफ़रत होती रही. अपने प्रति धिक्कार और कुकृत्यों के प्रति अनिच्छा में मार-काट करते चले जाने के बावजूद एक दिन हुई पुलिस भिड़ंत में उसने बिंदा को खुद ही गोली मार दी. उसने अच्छा किया या बुरा... सोचते हुए उसे एक सिपाही रामलहरी की याद आयी और उसके मन में सवाल उठा--क्या सिर्फ गोली किसी को मार सकती है?...और वह बिंदा के परिवार की खोज-खबर लेने उसके घर जा पहुंचा, जहां बिंदा की मां थी और थी नयी- नकोर घरवाली!.. अब आगे पढ़िए--

एक बाग़ी का आत्म-मंथन : चौथी किस्त

...ताकि सनद रहे...

• रामकुमार भ्रमर

हतप्रभ देखता ही रह गया हूं मैं! घर, अरगनी, बुझा हुआ चूल्हा, कांसे और अल्यूमिनियम के बर्तन, बिंदा की मां और कच्चे टापरे की धरती. . .लगता है सब तरफ बिंदा का चेहरा चिपका हुआ है और मैं इस सच को अपने भीतर बहुत ताकत से दबा लेने के बावजूद कि मैं बिंदा का हत्यारा हूं, दबा नहीं पा रहा हूं.

बिंदा की घरवाली किसी इमारत के ढह जाने वाले शोर की तरह रोये जा रही है. . .सहसा मैं देखता हूं कि वह खुद भी ढह पड़ी है. उसी तरह दरवाज़े की चौखट से सटी-सटी धरती पर आ गयी है. बदहवास!

ये बुढ़िया चुप क्यों है? मैंने घबराकर बिंदा की मां को देखा है. उस पर न तो रुलाई का कोई असर है और न ही मेरी उपस्थिति का. रिक्त, ठहरी निगाहों से कोने में देखती रह गयी है. . .

कोने में जूते हैं. धूल खाये हुए चमरौधे जूते! . . .मैं पूछना चाहता हूं--'क्या ये बिंदा के जूते हैं?'

पर उसके पहले बुढ़िया बोल पड़ी है, "हरदेवा नाम है न तेरा?. . .क्यों?"

"हां." सिटपिटा कर मैंने उत्तर दे दिया है.

"तो हरदेवा, देख!. . .वो रहे बिंदा के जूते. जब फरार हुआ था तो भागते में यहीं छोड़ गया था." बुढ़िया ने इस तरह कहा है, जैसे रिकार्ड पर एक घिसी हुई सुई चली हो--खरखराहट भरी आवाज़.

क्या कहूं, मैं तय नहीं कर पाता.

रुलाई हिचकियों में बदल गयी है. और हिचकियां भी ऐसी, जो रुंधती लगती हैं. मुझे घबराहट होती है. लगता है, मेरा दम घुट रहा है. इस सबको बदलना चाहिए. ऐसा चलता रहा तो मैं सुस्ताने के बजाय ज़्यादा थक जाऊंगा. मैं बात के लिए बात शुरू कर देता हूं, "बिंदा ठाकुर ने मुझे बुलाया था. . .तुम लोगों के हालचाल पूछने. मुझे कुछ मालूम था नहीं. सो बोले, तुम्हारी खबर-कुसल ले आऊं और तुम्हें ये रुपया भी दे आऊं." मैंने कांपते हाथों से पेंट की जेब में हाथ डालकर सौ-सौ के नोटों की एक गड्डी निकालकर बुढ़िया की ओर बढ़ा दी है.

बुढ़िया कभी मुझे, कभी उन नोटों और कभी चमरौधे जूतों की ओर देखती है. सहसा उसकी सूखी आंखों से

गढ़े चमचमा उठते हैं. लगता है, दर्द का पहला सोता फट आया है. मुझे खुशी है कि अब बुढ़िया रोयेगी. उसके रोने का मतलब होगा, उसके चेहरे पर उमर आये पथरीलेपन का खात्मा!

पर वह रोती नहीं. बस, आंखों में पनीलापन आकर रह जाता है. नोट हाथ में ले लेती है, फिर उठकर उन्हें कोने में रखी एक पुरानी, टूटी संदूकची में बंद कर आती है. अपनी जगह आ बैठती है. बिंदा की घरवाली उसी तरह रोये जा रही है. बुढ़िया अचानक सख्त आवाज़ में कहती है, "पुनिया, चाय बना दे."

"रहने दो. . .!" मैं औपचारिक हो जाता हूं. हालांकि मैं खुश हूं. . .आज चार दिनों से चाय नहीं पी सका हूं.

वह कहती है, "नहीं-नहीं, दूर से आये हो. बिंदा नहीं रहा. तुम्हारी जगह कोई और होता तो ये पैसे डकार जाता. हम भला क्या कर सकते थे उसका? . . . पुनिया चाय बना दे!"

उसी तरह हौले-हौले सिसकती हुई पुनिया, यानी बिंदा की घरवाली उठती है और भीतर वाले टापरे में गुम हो जाती है.

"तुम्हें रात के वखत कोई मोटर-गाड़ी नहीं मिलेगी." वृद्धा कह रही है.

"हां."

"सुबेरे जाओगे?" उसने सवालिया निगाह से मेरी ओर देखा है.

"हां. . .यहीं कहीं टिक रहूंगा."

"यहीं कहीं की क्या जरूरत है? तुम चाहो तो यहीं टिक सकते हो" वृद्धा प्रस्ताव करती है, "बिंदा के तो दोस्त हो तुम."

"हां. . ." मुझे किसी ने भीतर से चिऊंटी काट ली है– . . . दोस्त. . . .?

"मलखान ठाकुर अब बहुत दिन नहीं चलेगा." वृद्धा बोली है.

मैं चौंक जाता हूं. आंखों में प्रश्न भरके उसे देखता हूं, जैसे पूछा हो,—क्यों?

"मलखान उस पर बहुत विश्वास करता था. . ." वृद्धा बड़बड़ाये जा रही है, "और बिंदा भी जान छिड़कता था उस पर. एक बार आया तो बोला था, 'जिधर ठाकुर जायेगा, उधर ही मैं जाऊंगा और उससे चार कदम आगे जाऊंगा!' अब वैसा आदमी कहां मिलेगा मलखान को?"

मैं कुछ नहीं कह पाता. लगता है कि मेरे भीतर से मुझ पर ही तमाचे बरसने लगे हैं. बिंदा का एक ही पहलू देखा मैंने और एक बेहूदा निर्णय कर डाला. . .काश, मैं उस पल उतावली में फैसला न कर बैठता! एक बिंदा मेरे सामने वाला बिंदा था और एक यह था, जिसके बारे में मुझे उसकी मां बतला रही है. . .यह था असली बिंदा! मैं उसकी परछाई से भयभीत हो गया था शायद.

अब यहां नहीं रुक सकूंगा. पुनिया चाय ले आयी है, गिलासों में. मैं अपने कांपते हाथ जैसे-तैसे संयत करते हुए एक गिलास थाम लेता हूं. दो चुस्कियां लेता हूं. . .

"मरते तो सब एक ही बेर हैं. . ." बुढ़िया फिर से बोलने लगी है, "पर बिंदा अभागा था. बिना जिये ही मर गया! . . .अब ये चमक-चांदनी घर में बैठी है—इसका मैं क्या करूंगी. . .यही समझ में नहीं आता."

अनचाहे ही मैं पुनिया की ओर देखने लगा हूं. उसने माथे तक ओढ़नी खींच रखी है, इसके बावजूद मुझे पुनिया का चेहरा दीख जाता है. सचमुच चमक-चांदनी! . . . गोरी, भूरी, भरे बदन वाली. बेहद खूबसूरत औरत! . . . बुढ़िया के शब्द फिर से दिमाग़ में उतर आते हैं— '. . .बिंदा अभागा था, बिना जिये ही मर गया! . . .'

▣

पुनिया की आंखों में ललामी है. मुझसे दृष्टि मिली है और उसने नज़र झुका ली है. जाने क्यों मुझे बरखा याद हो आयी है. किसी दिन मैं भी इसी तरह बिना जिये मर जाऊंगा और वह भी ललछोई आंखें लिये इसी तरह भरी बदली जैसी, आकाश पर ही टंगी जायेगी. उमर की सारी बरसात आंसू बनकर झरती रहेगी और एक दिन रीत जायेगी. मेरा दिल डूबने लगा है. इस औरत और बरखा में कोई अंतर नहीं है. शायद किसी भी बाग़ी की औरत और इस औरत में कोई अंतर नहीं रह पाता होगा.

बुढ़िया उठ पड़ती है. कराह भरी या एक निःश्वास खींचकर. वह रसोई की ओर देखती है, "पुनिया, मैं मट्ठा ले आती हूं. कढ़ी-रोटी बना दे, हरदेवा के लिए."

मैं चुप हूं. बुढ़िया बाहर चली जाती है. दरवाज़ा उसी तरह उढ़का दिया है. मैं बेचैनी से हथेलियां रगड़ने लगा हूं. बिंदा ने एक बार कहा था, "बड़ा मन होता है ठाकुर, घरवाली से मिल आऊं, पर बेबस हो गया हूं!" फिर एक बार उसने बतलाया था कि वह पुनिया की खातिर ही बाग़ी हुआ है. पुनिया और उसमें 'प्रीत' लग गयी थी, पर पुनिया के घर वालों को गांव के पटेल ने दबा रखा था. चाहता था कि पुनिया उसके छोटे भाई से ब्याह कर ले. पर पुनिया ने बिंदा को सब कुछ बतला दिया था. यह भी कि पटेल और उसका भाई तनिक भी पसंद नहीं हैं उसे. . .बिंदा ने पुनिया को विश्वास दिलाया था कि वह उसकी रक्षा करेगा. उसकी खातिर जान दे देगा. . . इसी कोशिश में बिंदा पुनिया को उसके गांव से भगा लाया था. चार हेती-नातेदारों से मिल-जुलकर इस गांव में पहले ही मंडप सजा रखा था. बिंदा ने पुनिया को यहां लाकर धर्म से विवाह कर लिया. थोड़ी देर बाद पटेल और उसका भाई पुलिस दल-बल के साथ आ पहुंचे. उनके पास पैसे का भी ज़ोर था, जान-पहचान का भी. ज़बरदस्ती पुनिया को ले जाने लगे थे. बिंदा और पुनिया बहुत रोये-गिड़गिड़ाये, पर सुनवायी नहीं हुई. लाचार बिंदा ने एक पुलिस वाले की राईफल छीनकर दनादन पटेल और उसके भाई को गोलियों से भून डाला और भाग खड़ा हुआ बीहड़ों में! पुनिया उसकी हो गयी थी और वह खुद हो गया था बीहड़ों का! दो बार आया भी था, छिपता-बचता, पर किसी भी बार घंटे-दो घंटे से ज़्यादा नहीं टिक पाया था घर में . . .पुलिस-गार्ड गांव में लगा रहता था. . . .

और पुनिया रहती थी घर में! . . . बिंदा के नाम पर जागती थी, बिंदा के नाम पर जलती हुई. कितनी ही बार सोचती रही होगी, कि वह ग़लत थी या बिंदा या दोनों ही ग़लत थे. . . निष्कर्ष नहीं निकाल पायी होगी और आज निष्कर्ष निकल गया है—बिंदा बिना जिये ही मर गया! . . .

इसका मतलब है, पुनिया जीते-जी मर गयी!

पुनिया ने पल्लू से आंसू पोंछ लिये हैं. सपाट स्वर में कहती है, "तुम उसके दोस्त हो ना?"

"हूंऽ. . .हां" मैं अपने आपमें इतना उलझा हुआ हूं कि हर शब्द मुझे चौंका देता है. क्या कहना चाहती है वह? . . . यह एकांत, जीते-जी मरती पुनिया, न लड़की, न औरत! . . . मुझे घबराहट होती है. उसकी आंखों में देखता हूं—वे फ़ीकी और अर्थहीन हैं. ऐसे, जैसे एक मुर्दे की आंखें हों या फिर आंख का धोखा देने वाले पत्थर जड़ दिये गये हों. . . !

"एक काम करोगे?" वह पूछती है.

"क्या?"

"अम्मा को समझाओगे?"

"किस बात के लिए? . . . कोई कारण?"

"मुझे किसी के घर बैठायें नहीं" पुनिया का स्वर भर्रा आता है. चेहरा झुकाकर बेबसी और बेचैनी से कच्ची मिट्टी नाखूनों से कुरेदने लगती है.

मैं हड़बड़ा गया हूं. यह क्या कह दिया इस औरत ने! किसी के घर बैठने या बिठाने का मतलब है, दूसरे मर्द के हाथ जा पहुंचना. फिर मुझे इस बात से भी बहुत धक्का लगा है कि पुनिया को उसकी सास, यानी बिंदा की मां ही किसी घर में 'बिठाना' चाहती है! क्या उसे लोक-लाज, जात-बिरादरी, मान-मर्यादा किसी का भी ख्याल नहीं, जिस पुनिया के लिए बिंदा बिना जिये ही मर गया, उ

बिंदा की मां किसी और मर्द की बांहों में सौंप देना चाहती है! . . . यह बुढ़िया पागल तो नहीं है?

जरूर पागल है! . . . मैं निश्चय पर पहुंच गया हूं. पागल न होती तो अपने इकलौते जवान बेटे की मौत पर ऐसी उखड़ी-उखड़ी बातें करती! आंख में एक आंसू नहीं! . . . भयंकर पागल!

और इस पागल बुढ़िया के घर में मैं ठहरने वाला हूं! . . . अजब उलझन में फंस गया हूं मैं. मैं पुनिया को देखता हूं. वह उसी तरह सिर झुकाये चुपचाप बैठी है. सहसा मुझे याद हो आया है कि मैं बिंदा का हत्यारा हूं . . . अपने से ही भयभीत हो उठा हूं मैं.

पर नहीं, मैं सिर्फ बिंदा का हत्यारा नहीं. मैं पुनिया का भी हत्यारा हूं . . . और ये एक घिनौनी हत्या है!

"अम्मा मुझे 'ऐसी-वैसी' समझती है." पुनिया बड़बड़ाती है, "पर सोचो तो, अगर बिंदा मेरी खातिर मर गया तो क्या मैं उसकी खातिर नहीं मर सकती?" वह मेरी ओर देखने लगी है. जाने क्यों मुझे लगता है कि उसका चेहरा इनसानी चेहरा नहीं रहा है, बल्कि एक चट्टान में बदल गया है! . . . फौलादी चट्टान!

काश, मैं बिंदा को न मारता. किसी न किसी दिन वह पुलिस की गोली से ज़रूर मर जाता. मैंने बेकार अपने को उलझा लिया. मैंने बेकार ही एक राउंड खराब किया! कितनी मूर्खता की है मैंने?

थोड़ी देर न तो वह कुछ कह पाती है और न मुझे इस अहसास के सिवा कुछ समझ आता है कि मैंने भूल की . . . अजीब स्थिति होती है घटनाओं की. किसी पल सही और किसी पल गलत! बिंदा वाला मामला ऐसा ही हुआ है . . . बल्कि मेरे साथ अक्सर ऐसा हुआ है.

एक ओर रखी लालटेन की लौ एकाएक ही तेज़ हो गयी है. इसके बावजूद पुनिया और वह टापरा अंधेरे से मुक्त नहीं हो पाता. पुनिया ने लौ धीमी कर दी है फिर एकटक उसे देखती रहती है. . . .

"एक बात पूछूं?" मैं कहता हूं.

वह मुझे देखती है.

"बिंदा की मां . . ." मैं बोलते-बोलते सहम जाता हूं, "बुरा मत मानना पुनिया, तुम्हारी सास पागल है क्या?"

"क्यों?" वह हैरान हो जाती है.

"तीन दिन हुए बिंदा मरा है और उसकी आंख में एक भी आंसू नहीं है?" मैं देर से अपने भीतर मड़कता सवाल उगल देता हूं.

वह गंभीर हो जाती है, "नहीं, वह पागल नहीं है, पत्थर जरूर है. सब कहते हैं कि पहले वह ऐसी नहीं थी."

"फिर क्या हुआ?"

"तुम्हें मालूम है ना, बिंदा का बाप डोंगरसिंह भी डाकू था. . . . ?"

"हां."

"जब अम्मा ब्याह के इस घर में आयीं तो साल भर ही घरवाले के साथ रह पायीं. दुश्मनी में डोंगरसिंह बागी हो गया." पुनिया बतला रही है, "बिंदा गरभ में था तब. कहते हैं, जब बिंदा का जन्म हुआ तो डोंगरसिंह को पुलिस ने मार दिया. भर जवानी से अम्मा ने रंडापा सहा है. . . गांव वाले बताते हैं, उन दिनों सिरफ रोती ही रहती थी. अब सोचो तो हरदेवा भइया, जो औरत सब उमर रोयी हो, उसे कब तक रोना आयेगा? रोते-रोते ऐसी थमी है कि पत्थर हो गयी है बिल्कुल!"

ओह! . . . मेरे भीतर कुछ रिसने लगा है—ये घर, बिंदा की मां और बिंदा . . . सब! इस रिसन में सब कुछ गल-बह जाता है. बुढ़िया पागल नहीं है, बहुत ज़हर पी चुकी है. बहुत कुछ सह चुकी है.

पर ऐसी औरत और पुनिया को ज़बरदस्ती अधर्म के रास्ते डालना चाहे—मेरे लिए आश्चर्य से ज़्यादा दुख की बात है. अगर बात चली तो ज़रूर कहूंगा . . . मैं निश्चय करता हूं.

किवाड़ी चरमराती है. मैं चौंककर उधर देखता हूं . . . बुढ़िया आ पहुंची है. हाथ में थामा हुआ लोटा उसने पुनिया की ओर बढ़ा दिया है, "ले, जल्दी से बना डाल!" पुनिया चुपचाप लोटा लेकर भीतर चली जाती है और बुढ़िया मेरे ठीक सामने आ बैठती है, ""हाथ-मुंह धो ले!"

"हां." मैं उठ पड़ता हूं. नहीं उठना चाहता था, फिर भी उठ पड़ता हूं . . . मुझे महसूस हो रहा है जैसे बिंदा की मां असामान्य स्त्री है. उसके स्वर में सम्मोहन शक्ति है. . . आदेश का भाव है और मुझमें ऐसा कुछ भी नहीं है कि उसे अवहेलित कर सकूं.

▣

इतने दिनों की भूख के बाद ये रोटियां. . . लगा था जैसे मुझे सब कुछ मिल गया है! एक-दो बार इस याद से मैं थोड़ा परेशान हुआ था कि मैं, जो इस घर के कर्त्ता-धर्त्ता का हत्यारा हूं, इसी घर से जीवन पा रहा हूं. . .पर बड़ी निर्ममता से ऐसी हर याद को कुचलकर मैंने पेट भर भोजन किया.

पत्थर से एक सुपारी तोड़कर बुढ़िया ने कुछ दाने मेरी ओर बढ़ाये और कहा, "अब कोई मरद नहीं रहा इस घर में. कभी-कभार आते-जाते देखभाल लिया करना बेटा! समझूंगी कि बिंदा मरा नहीं है!"

दाने थामती अंगुलियां कांप उठीं. . . मुझे झुंझलाहट हुई. बार-बार बिंदा की याद क्यों दिला दी जाती है मुझे? पर तुरंत ही मुझे लगा कि बेवकूफी भरी बात सोच रहा हूं. यह कैसे संभव है कि बिंदा के घर में बिंदा की याद ही न हो ? इस घर के रेशे-रेशे पर वही तो चस्पां है!

लालटेन की बत्ती मंद कर दी है. मेरे लिए बिछौने के नाम पर एक ओर दरी बिछा दी गयी है. वृद्धा एक ओर लेट रही है. मैं लेटूं, इसके पहले एक तौलिया तकिये की तरह लपेटकर पुनिया मेरे सिरहाने ला रखती है. एक ओर

पानी का लोटा भर रखा है.

मैं हौले से लेट जाता हूं. कितनी रातों के बाद ये नींद मयस्सर हो रही है मुझे? और वह भी उस घर में, जिसे मैंने सारी ज़िंदगी के लिए झुलसा डाला है! दसियों बार इस ख्याल को अपने भीतर से उछालकर बाहर फेंक चुका हूं, किंतु लगता है कि हर बार धोखा देता रहा हूं स्वयं को. ख्याल अपनी जगह कायम है. इसलिए कि अपराध अपनी जगह कायम है और उसे धो पाना किसी तरह संभव नहीं, अतः यह आत्मग्लानि बिसरा पाना भी असंभव!

"कित्ते बाल-बच्चे हैं तेरे?" वृद्धा ने हौले से बुदबुदा कर सवाल किया है.

"अभी कोई नहीं है." मैंने उत्तर दिया है और मुझे तुरंत ही लगा है जैसे मैंने अपने भीतर कोई चीज़ बहुत गहरे, आत्मा तक चुभते महसूस की है.

"अरे? ... अब तक तेरे कोई बाल-बच्चा नहीं है?" आश्चर्य से वृद्धा ने मेरी ओर करवट ले ली है, "कित्ती उमर है तेरी?"

मैं थूक का घूंट निगल लेता हूं, "यही कोई तैंतीस-चौंतीस."

"क्या बात है?"

अब मैं क्या कहूं!... अच्छा यही है कि मैं चुप रहूं. चुप हूं.

"किसी दाई-माई को दिखाया...?" वृद्धा पूछती है.

"सब कर लिया." मैं बड़ी सफाई से गोलमोल झूठ बोल गया हूं. चाहूं तो कह सकता हूं कि मैं मलखानसिंह हूं और मलखानसिंह भी जबसे बाग़ी हुआ है, अपने घर रुक नहीं पाया. पर यह कहा नहीं जा सकता. इसमें अकुशल है.

"मरजी भगवान की!" वृद्धा एक गहरी सांस लेकर चुप हो जाती है, "कहौती है, होंय तो मोंड़ा-ई-मोंड़ा, नईं तो कानी मौड़ी कों-ई तरस जाएं...!"

(यानी—'पैदा हों तो बेटे ही बेटे, नहीं तो कानी बेटी के लिए भी तरस जायें!')

▣

थोड़ी देर के लिए सन्नाटा फैल गया है टापरे में. अनायास ही दूसरे टापरे में मेरी नज़र जा ठहरी है. चादरे के भीतर से लेटी हुई पुनिया की नंगी कलाई चमक रही है, गोरी, सुडौल कलाई. पर चूड़ियों से खाली ये कलाई कैसी लगती है, जैसे हरी धरती के बीच सूखी नदी लेटी हुई हो. नदी-कहलाकर भी नदी नहीं.

"कौन बिरादरी है तू?" वृद्धा पूछती है.

"मैं?"

"हां."

"गूजर ठाकुर." झल्ला पड़ता हूं मैं. अजब बुढ़िया है ...पानी पिलाकर जात पूछती है?

"तो हमारी ही बिरादरी है." बुढ़िया के स्वर में संतोष और निश्चितता झलक आती है. कुछ पल चुप रहकर कहती है, "बिंदा नहीं रहा, मैं भी बहुत नहीं चलूंगी. यही कोई साल-छै महीने का खेल है... सोचती हूं, आंख मुंदने से पहले धरम का एक काम कर जाऊं."

"सो क्या?" कौन-सा धर्म कार्य करने वाली है वह? मैं नींद को थाम लेता हूं.

"पुनिया किसी अच्छे घर बैठ जाये तो इसकी जिंदगी भी ठिकाने लग जायेगी, मैं भी निश्चित होकर मरूंगी."

मेरी नींद एकदम उड़ गयी है. कुछ कहूं, तभी बुढ़िया का अगला प्रश्न आ गिरा है मुझ पर, "उधर पोहरी, पवा, सिगनवास... सीपरी कहीं कोई अच्छा आदमी है इसके लायक?"

"पर अम्मा, आदमी न रहे तो भले घर की औरतें धरम से बैठी रहती हैं!" मैं कहता हूं. मेरी खुद की भी संस्कारित मान्यता यही है, "कोई जरूरी है कि पुनिया कहीं जा बैठे?"

वृद्धा ने पुनः मेरी तरफ करवट ले ली है. उधर दूसरे टापरे में कुछ सुरसुराहट हुई है. शायद पुनिया लेटे से उठ बैठी है.

"पुनिया तो खुद नहीं चाहती, पर मेरे ख्याल में ये धरम की बात है. बिंदा जीते जी इसे जलाता रहा और अब मरने के बाद भी सारी जिंदगी जलाये—इसमें कहां का न्याव है? पुनिया की खेलने-खाने, पहनने-ओढ़ने की उमर है. मैंने जवानी का रंडापा भोगा है, खूब जानती हूं कि क्या होता है!"

"पर....?"

वृद्धा बात काट देती है, "फिर एक बात और है हरदेवा, साल-छै महीने में मेरी आंख मुंद जायेगी और ये बेचारी बिना छत्तरछाया के किस सहारे अपना धरम निभायेगी? तू तो जानता ही है, गरीब की लुगाई सब गांव की भौजाई होती है. बिंदा को मरे चार दिन नहीं हुए हैं और बगल के गांव का जहारसिंह इस घर आकर क्या-क्या कह गया है हम दोनों से... किसी से क्या कहें!"

मुझे लगा है कि वृद्धा की आवाज़ अब भर्रा गयी है. आश्चर्य! बिंदा की मौत ने वृद्धा का न तो गला थर्राया और न ही आंसू आने दिये थे, पर इस आवाज़ से ऐसा लगता है जैसे असुरक्षा की स्थिति ने भयभीत और निराश कर दिया है उसे... इस सीमा तक कि वह रोने को हो आयी है.

इसका मतलब है कि वृद्धा के इस तरह सोचने और निर्णय ले डालने का कारण कोई घटना है... असुरक्षित हो जाने की घटना! मैं निरुत्तर हो गया हूं. वृद्धा बड़बड़ाये जाती है, "बेटा, तू बिंदा की दोस्ती निबाहना चाहे तो यही एक काम कर दे.... पुनिया को किसी अच्छे घर में, अच्छे आदमी के पास पहुंचा दे. इसकी लाज-आबरू तो एक की होकर रहेगी? गुंडे-बदमास इसे गली-गैल की चीज़ तो नहीं बनायेंगे? उस दिन बिंदा की बेइज्जती ज्यादा होगी!"

टोरिया के पास कौन-कौन से गांव हैं...? और उनमें से किस गांव में जहारसिंह नाम का आदमी है? मैं सोचने लगा हूं.

वृद्धा चुप हो गयी है. टापरे में फिर से सन्नाटा बिखर

गया है. देर तक यही सन्नाटा बिखरा रहता है और मुझे किसी जहारसिंह की याद नहीं आती.

"बिंदा होता तो जहारसिंह की ये हिम्मत हो सकती थी?" वृद्धा बड़बड़ाने लगी है, "... अरे, वह था तो बतलाने से पहले दरोगा भी दस तरह सोच लेता था कि किसकी मईया से बोल रहा है, किसकी घरवाली के सामने पड़ गया है... पर सब करमलेख! बिंदा नहीं मरा, जड़ें सूख गयीं हमारी!"

"कौन है ये जहारसिंह?" अचानक मैं जबड़े भींचकर पूछ बैठा हूं. मुझे याद है, राईफल मैंने किस जगह छिपायी है... जी होता है, कह दूं—'चिंता मत कर अम्मा, बिंदा नहीं रहा तो क्या हुआ, मलखान ठाकुर जिंदा है अभी!... तेरी जड़ें अब भी दसगुनी गहरी हैं.' पर यह नहीं कहूंगा—मूर्खता हो जायेगी.

"कल बृहस्पतवार है ना?"

"हां." मेरा उत्तर.

"तो कल ही देख लेना उसे...." वृद्धा बतलाती है, "कल सुबेरे ही आने को कह गया था. कह गया था कि

हौले से, पर सतर्कता के साथ चारों ओर निगाहें दौड़ाते हुए, किवाड़ खोला. वह उढ़का हुआ था. अनुमान था कि वृद्धा उस समय भी सोयी पड़ी होगी, किंतु उसकी जगह बैठी थी—पुनिया. मुझे देखते ही परेशान होकर उसने सवाल जड़ दिया था, "अरे, मैं और अम्मा तो परेसान हो रहे थे कि तुम कहां चले गये?" तभी उसकी दृष्टि मेरी राईफल और कारतूस के पट्टे पर जा ठहरी थी. सहसा वह भयभीत हो उठी थी. उसकी आंखें अविश्वास और आतंक से पूर्वापेक्षा ज्यादा फैल गयी थीं, "तुम...?"

मैंने चौंककर आसपास देखा था, फिर अंगुली हौले से होंठों पर लगाकर कहा था, "शि.. शि! मैं हरदेवा नहीं हूं, मलखानसिंह हूं. ठाकुर मलखान!"

"ठाकुर?... " वह ज्यादा हड़बड़ा गयी.

"हां, पर याद रख. मैं तेरी अम्मा के सामने हरदेवा ही रहूंगा... मैंने राईफल हौले से उस कथरी के नीचे छिपा ली थी, जिस पर मैं सोया हुआ था, "इसे उठाना नहीं है. और तू बिसवास कर सकती है, किसी को किसी तरह का नुकसान नहीं पहुंचाऊंगा."

राजी-खुशी मैं और पुनिया मान जायें नहीं तो सब गांव के सामने पुनिया को उठा के ले जायेगा. पुलिस, दरोगा, चौकी-थाने सब उसके हैं. सौ बीघे का मालिक ठहरा. कहौती है—जिसकी जेब में जर हो, उसके सौ खून माफ!

हुंह!... झूठ है यह कहावत. मैं कहने वाला हूं, पर कहते-कहते रुक गया हूं. सिर्फ गुर्राकर, "हुंह!..." ही कहा है मैंने. इस समय इतना ही काफी है. बस, कुछ शब्द मैंने दाढ़ के नीचे दबाकर चकनाचूर कर दिये हैं—ज-हा-र सिं-ह!...

सुबह आयेगा वह!

पर मुझे सुबह से पहले ही जाग जाना होगा... धुंधलके में. एक नया निश्चय लेकर मैंने पलकें मूंद ली हैं...

लालटेन की लौ मंदी जरूर है, पर लगता है कि अपने आप बढ़ती जा रही है... जहारसिंह... !

▣

उस समय भी धुंधलका था, जब राईफल लिये हुए मैंने

पुनिया बुरी तरह भयभीत हो गयी थी. मलखानसिंह का नाम कितने भय का कारण है, मैं जानता हूं और उससे भी ज्यादा मेरी किसी पल, इस तरह उपस्थिति किसी का क्या हाल कर सकती है, यह भी बखूबी जानता हूं.

"डर मत!..." मैंने उसे दम-दिलासा दिया था.. असल में मैं इस तरह खुद को दम-दिलासा दे रहा था. ऐसी स्थितियों में मैं खुद बहुत डरा हुआ होता हूं. सामने वाले से कहीं ज्यादा.

उसने थूक का घूंट निगल लिया, पर उसके गोरे चेहरे पर सफेदी की हल्की-सी परत दीखने लगी थी. सकपकाहट आंखों में.

मैंने कहा, "मैं उस जहारसिंह को देखना चाहता हूं, जो तुझे गांव भर के सामने उठा के ले जाने वाला है. आल्हा-ऊदल के किस्से तो बहुत सुने-गुने थे, पर ये जहारसिंह कौन-सा ऊदल पैदा हुआ है, जरा देखूं तो!" मेरे स्वर में दंभ और उससे भी कहीं ज्यादा कड़वाहट पैदा हो गयी थी.

वह डरती हुई उठी, भीतर टापरे में जाने लगी.

"अम्मा कहां हैं?" मैंने सवाल किया.

"दूध लेने गयी हैं." उसने डरते-डरते उत्तर दिया, फिर दूसरे टापरे के दरवाज़े में घुसते-घुसते रुक गयी. विनीत स्वर में बोली, "ठाकुर, तुम बड़े हो. तुम्हारे हाथ जोड़ती हूं, ऐसा कुछ मत कर बैठना कि हम जनानियां परेसानी में पड़ जायें!"

"तू बेफिकर रह!" मैंने उसे वरदहस्त दिया, "पर मेरे रहते अधरम नहीं हो सकता!" मुझे अपने आप पर आश्चर्य होने लगा था. . .एकाएक मेरे भीतर का मलखान सिंह किस तरह उफनकर बाहर आ गया है. असल में हम जैसे लोग बहुत देर अपने से ही अपने आपको छुपा पाने में असमर्थ हो जाते हैं.

वह टापरे में समा गयी. मैं आराम से उसी जगह बैठ रहा था, जिस जगह सोया हुआ था. मेरे ठीक पीछे मेरी राईफल छिपी हुई थी. थोड़ी देर बाद बुढ़िया आ पहुंची. उसने भी मेरे सुबह-सवेरे गायब हो जाने पर आश्चर्य व्यक्त किया था, पर जब मैंने उसे यह बताया कि मैं सुबह घूमने का आदी हूं, तब वह निश्चिंत हो गयी. हम सबने मुंह-हाथ धोकर चाय पी थी, फिर वृद्धा ने पूछा था कि मैं कितने बजे की मोटर से जाऊंगा?

पुनिया सामने खड़ी थी. उसने मुझे चौंककर देखा था और मैंने उसे, फिर बात संभाल ली थी मैंने. कहा था, "मैं उस जहारसिंह को देखना चाहता हूं. अपना परिचय देकर समझा दूंगा कि कोई ऐसी-वैसी बात न करे."

बुढ़िया की नज़रों में मेरे प्रति व्यंग्य उभर आया था. एक पल की खामोशी के बाद उसने कहा था, "जहारसिंह को तुम जानते नहीं हो, इलाके का असरदार आदमी है. सब उसे जानते हैं. तुम बेकार ही उससे कहा-सुनी करोगे. वह नहीं मानने वाला. चार जगह की उठ्ठक-बैठक वाला है. ऐसे दबने वाला नहीं है. वह तो उसी की मानेगा, जिसकी जेब भारी हो या धौंस-दबका हो."

"पर कोसिस करने में क्या हरज है अम्मा?" मैंने उत्तर दिया था, फिर अजाने ही पुनिया की ओर मेरी नज़र चली गयी थी. वह उस पल मुझे काफी कुछ निश्चिंत लग रही थी.

मैंने देर तक सोचने के बाद निर्णय लिया था कि पुनिया की रक्षा करके मैं अपने माथे से बिंदा की हत्या का बोझ हल्का कर लूंगा. प्रायश्चित का एक अवसर दे दिया है ईश्वर ने. एक तरह से मैं पुनिया या बिंदा की मां के लिए कुछ नहीं करूंगा, बल्कि अपने लिए करूंगा. बिंदा की हत्या को लेकर जिस ग्लानि और तड़प के अहसास ने मुझे अपने भीतर आहत कर रखा है, इस तरकीब से कुछ हद तक वह कम हो जायेगा.

मैं उस तथाकथित जहारसिंह को जानता नहीं हूं. . . यह अच्छा है!

पर ज़रूरी तो नहीं है कि जहारसिंह भी मुझे न जानता हो?

मैं कुछ परेशान हो गया हूं. अगर जहारसिंह मुझे जानता होगा तो मेरे लिए ही खतरा बन जायेगा. शायद मैंने इस फटे में पैर डालकर समझदारी नहीं, मूर्खता कर दी है.

मगर अब कुछ नहीं किया जा सकता. अब अपने वचन के लिए मुझे यह खतरा मोल लेना ही पड़ेगा. मेरा स्वभाव है, जब मैं कोई ज़िद भरा फैसला कर बैठूं, फिर ज़्यादा आगा-पीछा सोचने की आवश्यकता को अंदर ही अंदर मसल-कुचल डालता हूं. मैंने ऐसा ही किया.

जहारसिंह की प्रतीक्षा ज़्यादा देर नहीं करनी पड़ी थी. लगभग आधे घंटे बाद ही मोटर-साइकिल की आवाज़ सुनी थी मैंने. कुछ घबरा उठा था. आजकल इलाकों के ज़्यादातर थानेदार मोटर-साइकिलें इस्तेमाल करते हैं. पर इस घबराहट को बुढ़िया ने थाम लिया. उठी, बोली, "शायद वह आ गया. . .!"

"कौन?"

"वही, जहार. . .!" बुढ़िया की आवाज़ में कुढ़न और चिढ़ थी. मोटर-साइकिल की आवाज़ तेज़ होती जा रही थी. और मैं उसके बारे में सोचने लगा था. जहारसिंह के पास मोटर-साइकिल होना, उसकी समृद्धता का प्रमाण है. अब मुझे अपने कार्यक्रम में कुछ फेर-बदल करनी होगी. मैं चाहूं तो जहारसिंह का बहुविधि उपयोग कर सकता हूं.

▣

भड़भड़ाती हुई मोटर-साइकिल एकदम टापरे के सामने ही आ रुकी. मैं सतर्क हो गया. पुनिया भयभीत-सी कभी मेरी ओर और कभी उस दरवाज़े की ओर देख रही थी, जिसे इस समय बुढ़िया खोल रही थी और जिससे जहारसिंह टापरे में आने वाला था. अचानक वह भीतर चली गयी थी.

मोटर-साइकिल की आवाज़ खत्म हो गयी. ज़ाहिर था कि जहारसिंह ने उसे बंद कर दिया है और स्टैंड पर रखकर भीतर आने वाला है. तभी मुझे एक भारी, दबंग आवाज़ सुनायी दी, "राम-राम मौसी!"

"राम-राम!" वृद्धा का उत्तर था. इस तरह के पुराना, कमज़ोर दरवाज़ा हौले से चरमराकर चीख पड़ा हो. वृद्धा दरवाज़े से हटकर भीतर आ गयी, "आओ. . ."

जहारसिंह भीतर आ गया. वह लंबा-चौड़ा आदमी था. उसने सफेद कुरता-पाजामा पहन रखा था. एक छोटा, महंगा ट्रांज़िस्टर उसके हाथ में था. वह मुस्कराता हुआ भीतर घुसा था, किंतु मुझे आराम से बीड़ी पीते देखकर कुछ सकपका गया था. दृष्टि में प्रश्न उगाकर उसने बुढ़िया की ओर देखा.

"यह हरदेवा हैं. पोहरीवाले. बिंदा के दोस्त. कुशल पूछने आ पहुंचे." बुढ़िया ने मेरा परिचय दिया.

"हुं-अं. . .!" उसने मुझे घूरा, फिर मेरे करीब ही आ बैठा. लग रहा था जैसे जहारसिंह का मन मुझे इस तरह पाकर अचानक खराब हो गया है. सच भी था. . . चमचमाते कपड़े और इत्र नहाया बदन, बालों से बरस

चमेली की खुशबू. . . जहारसिंह जिस स्वप्न-संसार को जीने यहां चला आया था, वह अचानक ही मेरी उपस्थिति के कारण छार-छार होकर बिखर गया था. मैंने अपने भीतर गुदगुदी महसूस की. किसी के सपने रौंदने में भी कितना क्रूर सुख उठाता है आदमी!

"पुनिया! चाय बना . . . !" बुढ़िया कह रही थी. उसके स्वर में असुरक्षा भी थी, जहारसिंह के प्रति आतंक भी और उससे कहीं ज्यादा रिरियाहट भी.

जहार ने मेरी ओर गरदन टेढ़ी की, फिर दीवार से टिक गया. पूछा, "तू पोहरी में क्या करता है रे?"

"पोहरी का रहने वाला हूं." मैंने बहुत ताकत से अपने आपको दबाये हुए उत्तर दिया. मैं उसे खतरनाक ढंग से चौंकाने वाला हूं—यही सोचा है मैंने. उस समय तक मैं उसे इतना अवसर दूंगा कि वह मुझे जितना अपमानित करना चाहे, कर ले. . . उसके बाद मैं आनंद लूंगा, उस स्थिति का, जब जहारसिंह मुझे असली नाम से जानेगा! ये सफेदी पसीने से पीली पड़ जायेगी और इस चमेली के तेल की जगह पसीने की लड़ियां बालों से झरने लगेंगी. मैंने सोचा और आनंद अनुभव किया. कहा, "बरसों हुए, पोहरी छोड़ दिया. बहुत छोटा था, तभी!"

"हूं-अूं. . .!" वह रोबदार ढंग से बोला, फिर उसने बड़ी लापरवाही से जेब में हाथ डालकर कैवेंडर सिगरेट की एक डिब्बी निकाली और सिगरेट सुलगायी, "तो अब कहां रहता है तू . . . ?"

"ल्हसकर."

"ल्हसकर में कौन-सी जगह?"

"गुड़ी-गुड़ा के नाके पर." मुझे ग्वालियर, आगरा, शिवपुरी, झांसी. . . कई शहरों के बारे में काफी कुछ जानकारी है. इन्हीं शहरों के जरिए अक्सर हम लोगों को मदद आती है. इसके साथ ही मुझे लगा जैसे कुछ ज्यादा ही कुरेद रहा है जहारसिंह. अगर बात बढ़ाता गया तो हो सकता है कि मैं किसी जगह निरुत्तर हो रहूं. . . और तब मैं लाचार हो जाऊंगा कि मैं बतलाऊं कि मैं कौन हूं!

बुढ़िया मुझे कुछ इस नजर से देख रही थी जैसे मैं एक बकरी का बच्चा हूं, जो शेर के पड़ोस में जा बैठा है. और जहारसिंह कुछ इसी भाव से मुझे सवाल में सूंघ रहा है. . . सूंघ नहीं रहा, एक हिंस्र मनोरंजन कर रहा है.

कमीना!. . . अभी बतलाऊंगा इसे!

मैंने बुझी हुई बीड़ी धरती पर मसल दी और उसी तरह चेहरे पर मासूमियत उगाये हुए बैठा रहा. सिगरेट का धुआं उगलता हुआ जहारसिंह बड़ी कुरेदती नजरों से भीतर वाले टापरे में देख रहा था. . . पुनिया उसी में तो है. सहसा वह मेरी ओर मुड़ा, "ल्हसकर में क्या करता है तू?"

"पुलिस में हूं."

"क्या?"

"चपड़ासी."

"हुंअ . . .!" वह गुर्राया, "यहां किसलिए आया था?"

उसने अपनी छोटी-छोटी आंखें मेरे भीतर खुपा दीं.

"बिंदा की खबर पढ़ी थी अखबार में. मन नहीं माना, सो चला आया."

जहारसिंह 'हो-हो-हो' करके हंसा. बुढ़िया चौंक गयी. दूसरे टापरे से चाय की भगौनी भरकर लाती हुई पुनिया सहम उठी—ठिठक गयी. मैंने जबड़े भींच लिये. जहारसिंह कह रहा था, "कमाल है!. . . बिंदा था बदमास. एक बदमास की खबर लेने दूसरा बदमास आ पहुंचा?" वह पुनः उसी तरह बेहूदगी से हंसने लगा.

मुझे बहुत बुरा लगा. नसों में तनाव आ गया, इसके बावजूद मैंने अपने आपको संयत रखा. 'ठहर जा बेटा. . .!' मैंने होंठों में गाली भींच डाली.

पुनिया और बूढ़ी अम्मा कुछ घबरा उठी थीं. जहारसिंह उसी तरह कहे जा रहा था, "अब कब जायेगा यहां से?"

"आज."

"हूं."

पुनिया ने चाय ला रखी. चार गिलास भी. आंचल के छोरों से भगौनी थामकर हर गिलास में चाय उंडेली, फिर गिलास मेरी और जहारसिंह की तरफ बढ़ा दिये. स्वयं भीतर जाने लगी.

जहारसिंह ने गिलास उठाया और कहा, "तू कहां चली?. . . यहीं बैठ. पंचों में. उसने मुड़कर मुझे देखा, "सहरी आदमी आये हैं कोई गांव के लौआ-पौआ नहीं हैं. ये ल्हसकर सहर का रहने वाला है. मैंने भी बहुत से सहर देखे हैं. डिल्ली, बंबे, लखनौ. . . कई. . वहां जब चाय पिलाते हैं तो मग नहीं जाते. हंस-हंसके बातें करी जाती हैं, मेहमान का जी बहलाया जाता है. क्यों हरदेवा?"

"हां-हां. . ." मैंने कहा. पर मैं बहुत कुछ झेलने लगा था. लग रहा था कि मेरे भीतर लावा खौलने लगा है और अब इस लावे को ज्यादा देर काबू नहीं किये रख पाऊंगा.

पुनिया दरवाजे पर ही ठिठक गयी थी, किंतु जहारसिंह के बकवास करने पर भी ठहरी नहीं, भीतर चली गयी. बुढ़िया ने कहा, "संकोची बहुत है. . . बिंदा के सामने ही कभी नहीं आती थी. . ." वह एक घिघियायी हुई हंसी में हंसी.

जहारसिंह ने चाय के सिप लिये. कहा, "सक्कर बहुत हो गयी."

"दूध डलवा दूं?" बुढ़िया ने पूछा.

"डालेगी तो पुनिया ही. . ." जहारसिंह बोला, फिर शैतानी मुस्कान में मुस्काया, "उसके तो हाथ में ही सक्कर है. . . दूध भी मीठा हो जायेगा और बात बरोब्बर ही रहेगी!" वह पुनः अकारण हंसने लगा.

अगले अंक में

पुनिया क्यों डरती थी? बिंदा की मां पर मलखान को सामने देखकर क्या गुजरी? और क्या जहारसिंह पुनिया को ले जा सका?

हालांकि तुम्हारा नाम कंचनकुमार श्रीवास्तव है लेकिन इससे कोई खास फर्क नहीं पड़ता. तुम्हारा नाम अशोक, विनय, राकेश, क, ख, या ग भी हो सकता था. दरअसल, तुम्हारा अगर कोई नाम न भी होता तो भी तुम्हारी ज़िंदगी पर इसका कोई अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ने वाला नहीं था.

अपनी पढ़ाई के दौरान तुम्हारे भीतर कुछ तमन्नाएं पलती रहीं. कुछ सपने आकार ग्रहण करते रहे, कुछ अरमान जन्म लेते रहे. कॉलेज में छात्रों की हड़ताल, तोड़-फोड़ और घेराव से अलग तुम्हारी तमन्नाओं का संसार खुशनुमा खुशबू से गमकता रहा. तुम पूरी मेहनत और लगन से अपनी पढ़ाई पर ध्यान देते रहे और अपने साथियों की ईर्ष्या का शिकार हुए. तुम परीक्षाओं में अव्वल आते रहे और अपने प्राध्यापकों की प्रशंसाएं बटोरते रहे. तुम अपने कॉलेज की नाक थे. तुम अपनी प्रेमिका के नायक थे. तुम्हारे ऊपर तुम्हारे पिता की उम्मीदें थीं, तुम्हारे ऊपर तुम्हारी मां की हसरतें थीं. तुम्हारे ही दम पर तुम्हारे परिवार के लोग अपनी-अपनी कल्पनाओं में सपनों का एक महल निर्मित कर रहे थे. तुम अपने घर की आशाओं का केंद्र थे.

तुम्हारे छोटे-से परिवार में मां-बाप के अलावा दो छोटे भाई और एक प्यारी-सी नन्हीं बहन थी और तुम अपने इस परिवार की तमन्नाओं का संसार थे. तुम अपने परिवार की तकलीफों को महसूस करते थे. तुम्हें इसका सख़्त अफसो[स था] कि तुम अपने परिवार की तकलीफों में हिस्सा नहीं ले पा [रहे]... बावजूद इसके, तुम आश्वस्त थे कि अभी तुम्हारी पढ़ाई [समाप्त] नहीं हुई है और पढ़ाई समाप्त करते ही तुम तमाम तकलीफें समाप्त कर दोगे. तुम बहुत लगन से पढ़ते रहे और अपने [दिमाग] में आने वाले दिनों का सुखद खाका खींचते रहे.

जब तुम घर के काम-काज में सारे-सारे दिन अपनी [मां] को खटते हुए देखते तो तुम अपनी मां से वायदा करते [कि] अपनी मां की इच्छा सबसे पहले पूरी करोगे और उनके [लिए] एक बहू ले आओगे. तुम्हें अपनी अच्छी-सी प्रेमिका की याद [आती] और एक खुशनुमा हकीकत का सपना तुम्हारी आंखों में तैर [जाता]. जब तुम अपने पिता को मकान मालिक के हाथों बेइज़्ज़त [होते] देखते तो तुम सोचते कि एक निजी मकान तुम ज़रूर बनवा[ओगे]. जब तुम अपने छोटे भाई-बहनों को छोटी-छोटी चीज़ों [के लिए] तरसते हुए पाते तो तुम अपने मन में ये संकल्प दोहराते [कि] उनकी ज़रूरत के तमाम सामान तुम मुहैया करवा कर [रहोगे]. आखिर तुम्हारे भाईयों को भी हक है कि उन्हें अच्छी [शिक्षा], अच्छी खुराक और अच्छा मनोरंजन मिले, ठीक वैसा, [जैसा] तुम्हारे साथ पढ़ने वाले गैरिज़न इंजीनियर के लड़के प्रदीप [...] के भाई-बहनों को मिलता है.
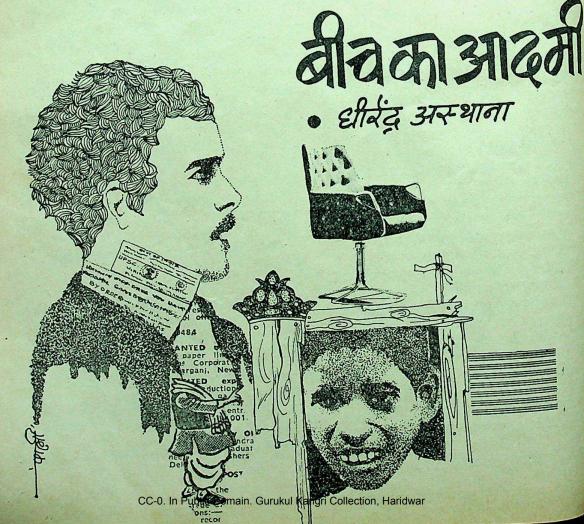
बीच का आदमी

• धीरेंद्र अस्थाना

तुम अपने सामने के तकलीफदेह दिनों को जी-जीकर पीछे फेंकते गये और आरामदेह ज़िंदगी को अपने एकदम करीब धड़कता महसूस करते रहे. इस बीच तुम्हारे पिता का रिटायर-मेंट करीब आता गया और उनके ऊपर ग्यारह-बारह सौ रुपये का कर्ज चढ़ गया. इस बीच तुम्हारी बूढ़ी मां के हाथ भी कांपने लगे, हालांकि उनकी उमर अभी इतनी नहीं हुई थी कि उनके गालों पर झुर्रियां पड़ जातीं और उनके हाथ कांपने लगते. यह सब उन तकलीफों की देन था जिनके बीच तुम्हारा परिवार छटपटा रहा था.

इस बीच तुम्हारे भाई को इंटर के बाद पढ़ाई बंद करनी पड़ी और दूसरे भाई को हाई स्कूल के बाद. इस बीच तुम्हारी बहन आठवीं में आ गयी और उसकी बचपन वाली चॉकलेट और खिलौनों की मांग अपूर्ण ही रह गयी. अब तुम्हारे पिता की चिंताओं में एक चिंता तुम्हारी बहन की शादी कर देने की भी जुड़ गयी. जिसने तुम्हारे दिल्लगीपसंद पिता को निराशा और झुंझलाहट के समंदर में फेंक दिया.

तकलीफों के अहसास और खुशियों की कल्पना के बीच चलते हुए तुम एक दिन पाते हो कि तुम्हारे हाथ में एक प्रमाणपत्र पकड़ा दिया गया है. तुम उत्तेजना से कांपने लगते हो. खुशी की लहर तुम्हारे अंदर रेंगने लगती है. तुम चमकते हुए चेहरे और दमकते हुए विश्वास के साथ घर पहुंचते हो. तुम मां को वह प्रमाणपत्र दिखाते हो, तुम पिता को वह प्रमाणपत्र दिखाते हो, तुम अपने कॉलेज में दूसरे नंबर पर हो. प्रमाणपत्र को अल्मारी में रख कर तुम अपनी बहन को गोदी में उठा लेते हो. तुम खुशी के आधिक्य में यह भी भूल जाते हो कि तुम्हारी बहन अब बच्ची नहीं रही और तुम्हारी इस हरकत से उसे झुंझलाहट और शर्म दोनों महसूस हो रहे हैं. तुम अपने भाईयों के कंधे थपथपाते हो. तुम ज़ोर-ज़ोर से चीखना चाहते हो. तुम सारी दुनिया को ये बता देना चाहते हो कि अब तुम्हारा परिवार तकलीफों की सांसें नहीं जियेगा.

▣

अचानक तुम्हें लगता है कि तुम अपनी खुशी में अकेले हो. तुम्हारी इस खुशी के प्रति तुम्हारा परिवार तटस्थ है. तुम अपने परिवार की आंखों में झांकते हो तो तुम्हें पता चलता है कि तुम्हारे परिवार की आंखों में एक अजीब-सी बेचैनी है. तुम्हें उन आंखों में एक लंबा इंतज़ार सिर पटकता नज़र आता है. तुम भाग कर अपनी प्रेमिका के पास अपनी खुशी का इज़हार करने जाते हो लेकिन तुम्हें यह देख कर सख्त अफसोस होता है कि प्रेमिका की आंखों में भी एक इंतज़ार बैचेनी भरी गश्त लगा रहा है. बहुत सारी आंखें तुम्हारा इंतज़ार कर रही हैं.

तुम आइने में अपना चेहरा देखते हो और भौंचक रह जाते हो. तुम्हें अपनी खुद की आंखों में साफ नज़र आता है कि वहां कुछ तमन्नाएं तुम्हारे इंतज़ार में हैं.

तुम वांटेड कॉलम को ग़ौर से पढ़ते हो और चार-पांच पते उतार कर ले आते हो. तुम पिता से दस रुपए मांगते हो और तीन-चार जगहों पर आवेदनपत्र भेज कर इंतज़ार करने लगते हो. इंतज़ार लंबा होता चला जाता है और तुम्हारे पिता
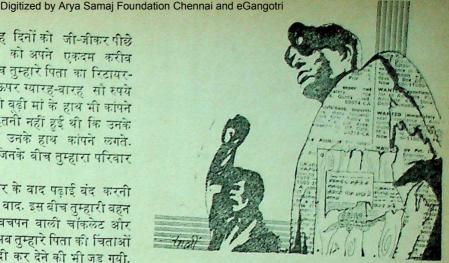
तुम्हें और पैसे देने से इंकार करने लगते हैं. तुम प्रमाणपत्र को बगल में दबाये, रोज़ सुबह घर से निकलते हो और थके चेहरे के साथ दोपहर को खाने के वक्त लौट आते हो. तुम रोज़ दोपहर के बाद घर से निकलते हो और सुस्त कदमों के साथ रात को खाने के वक्त लौट आते हो. तुम्हें पता चलता है कि तुम्हारे परिवार और तुम्हारी प्रेमिका के अलावा किसी की भी आंखों में तुम्हारा इंतज़ार नहीं है.

फाइल में रखे-रखे तुम्हारा प्रमाणपत्र मैला होने लगा है. दफ्तरों के चक्कर काटते-काटते तुम्हें अपने पैरों के लंज होने का अंदेशा होने लगता है. कॉल लैटर का इंतज़ार करते-करते तुम्हारी आंखें दर्द से तड़पने लगती हैं. तुम अपना प्रमाणपत्र उलट-पुलट कर ग़ौर से देखते हो—कहीं तुम्हें बेवकूफ तो नहीं बनाया गया है. तुम अपने भीतर ज़ोर से चीखते हो—अगर इस कागज़ के टुकड़े से कुछ भी नहीं हो सकता था तो तुम लगातार चौदह बरस तक इसे हासिल करने के लिए अपना पैसा और समय क्यों बर्बाद करते रहे? तुम्हें इस सवाल का कोई माकूल जवाब नहीं मिलता और तुम्हारा इंटर पास भाई गहरी उपेक्षा और गुस्से के साथ तुम्हें देखता हुआ एक प्रैस में कंपोज़िंग सीखने लगता है.

तुम्हारा इंतज़ार करने वालों की लिस्ट में से तुम्हारी प्रेमिका का नाम साफ हो जाता है और तुम अपनी हैरान और परेशान आंखों से प्रेमिका की शादी उस शहर में होते हुए देखते हो जहां शाहजहां ने अपनी प्रेमिका की स्मृति में ताजमहल खड़ा किया है.

तुम्हारे पिता रिटायर हो जाते हैं और तुम्हारा दसवीं पास भाई एक साबुन की फैक्ट्री में सौ रुपया माहवार पर अपना श्रम बेचने लगता है. तुमसे कम पढ़े होने के बावजूद तुम्हारे दोनों भाई कुल मिला कर सवा दो सौ रुपया महीना घर लाते हैं और तुम्हें देख कर उनके होंठ व्यंग्य से तिरछे हो जाते हैं. तुम्हें अपराध-बोध होता है. तुम्हारे भीतर कुंठाएं पनपने लगती हैं. तुम्हारे सपनों के रंग उड़ने लगते हैं और मां की आंखों का इंत-ज़ार धूमिल पड़ जाता है. तुम्हें अपने भीतर एक सुस्त अंधेरा उतरता महसूस होता है और आत्महत्या कर लेने की तुम्हारी इच्छा बलवती होने लगती है.

एक दिन तुम पाते हो कि तुम्हारे पिता की आंखों का इंतज़ार मर गया है. तुम ज़ोर से चीखना चाहते हो. पूरी तड़प

के साथ. पूरी तकलीफ के साथ. ठीक उसी तरह जैसे तुम अपना प्रमाणपत्र मिलनेवाले दिन चीखना चाहते थे समूची खुशियों के साथ! लेकिन तुम्हारी आवाज़ तुम्हारा साथ छोड़ देती है. तुम एक के बजाय तीन-तीन, चार-चार अख़बारों के वांटेड कॉलम्स में सिर खपाते हो और दिन के तीन-चार घंटे नष्ट करते हो.

तुम्हें अख़बार चाटता देख तुम्हारे पिता को क्रोध आ जाता है. तुम्हारी मां तुम्हारी तुलना उन छोटे भाइयों से करती है जो तुमसे कम पढ़े होने के बावजूद कमा कर लाते हैं और तुम्हारे भाई तुम्हें हिकारत की नज़रों से घूरते हैं.

और इसके बाद तुम अपने परिवार के लिए अजनबी हो जाते हो. घर की रोटियां तुम्हारे दिमाग़ पर हथौड़े की-सी चोट कर-के तुम्हारी चेतना को लहूलुहान कर देती हैं. तुम पाते हो कि अब कोई भी शख़्स तुम्हारा इंतज़ार नहीं कर रहा है, तुम अपने संसार में बिल्कुल अकेले हो, अपनी तकलीफों, अपनी कुंठाओं और अपने गुस्से के साथ, तुम्हारे अंदर एक बियाबान फैलने लगा है. और तुम्हें महसूस होता है कि शीघ्र ही तुम विक्षिप्त हो जाओगे.

▣

तुम सुबह मुंह-अंधेरे उठते हो, अपने परिवार के जागने से पहले. सुबह की चाय तुमने छोड़ दी है. सुबह-ही-सुबह तुम घर से निकल पड़ते हो. सूनी सड़कें, खामोश चौराहे और उदास पेड़ तुम्हें अच्छे लगते हैं. आठ बजे तुम लायब्रेरी चले जाते हो. लायब्रेरी दोपहर एक बजे बंद होती है, तुम तब तक सारे अख़बार पढ़ डालते हो. लायब्रेरी तीन बजे फिर खुलती है. तुम तब तक का समय टैगोर पार्क में व्यतीत करते हो, जहां आवारा छोकरे ताश खेलते हैं और बीड़ियां फूंकते हैं.

अब तुम्हें दोपहर को भूख नहीं लगती. घर जाने को तुम्हारा मन नहीं करता. तुम्हें समझ नहीं आता कि तुम्हारे सपनों का क्या हुआ? तीन बजे तुम फिर लायब्रेरी चले जाते हो और शाम के छः बजे तक तरह-तरह की किताबें पढ़ते हो! उपन्यास, कविताएं, राजनीति, दर्शन और मनोविज्ञान की. तुम अधिकतर चुप रहते हो. तुम्हारे चेहरे की दाढ़ी बेतहाशा बढ़ती चली जाती है और शरीर कमज़ोर होने लगता है. छः बजे के बाद से रात गये तक तुम इधर-उधर भटकते फिरते हो.

तुम छोटी-छोटी और ग़ैरमतलब बातों में दिलचस्पी लेने लगते हो. सार्वजनिक मूत्रालय में दीवार पर लिखी मौलिक गालियों को पढ़ते हो, न्यूज़ एजेंसी के शो-केश में लगी किताबों के कवर को पढ़ते हो. तुम्हें अल्मारी में करीने से सजी सारी किताबों के और उनके लेखकों के नाम याद हैं. तुम आंख मींच कर बता सकते हो कि दायीं या बायीं तरफ से पहली, पांचवीं या नौवीं किताब किस लेखक की है! तुम रिक्शा चलाते लोगों के माथे से गिरता पसीना देखते हो, तुम सड़क पर भीख मांगते मासूम बच्चों को अपलक देखते हो, तुम पब्लिक स्कूलों और प्राइमरी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों में फ़र्क महसूस करते हो.

धीरे-धीरे तुम्हें यह अनुभव होता है कि यह दुनिया रहने के काबिल नहीं है. तुम फुटपाथ पर पड़े, गटर में रेंगते आदमी को देखते हो और आदमी की तकलीफों से तिलमिलाहट महसूस करते हो. रात को जब तुम लौटते हो तो तुम्हारा परिवार सो चुका होता है. खाट के पास मेज़ पर रखा ठंडा खाना तुम [illegible] आवाज़ किये चुपचाप खाते हो और जल्दी से पानी पीकर [illegible] खाट पर निःशब्द लेट जाते हो.

तुम्हारे भीतर पनपती आत्महत्या की प्रवृति बहुत [illegible] हो जाती है. तुम्हें अफसोस होता है कि तुम अपने परिवार के [illegible] नाकारा हो, तुमने अपने लोगों से ग़लत वायदे किये. तुम रेल [illegible] पटरियों के पास पहुंचते हो और अख़बार में प्रकाशित [illegible] हत्याओं के आंकड़ों पर ग़ौर करते हो. दूर से धड़धड़ाती हुई [illegible] आती है और तुम्हारे सामने से गुज़र जाती है.

अचानक तुम सोचते हो कि तुम्हारा अपराध क्या है? [illegible] तो अपनी तरफ से सारे प्रयत्न किये, फिर तुम क्यों आत्मह[illegible] करो? ग़लती तुम्हारी तो नहीं है. तेज़ गुस्से के साथ तुम्[illegible] चेतना में एक लंबा चाकू चमकने लगता है. तुम आत्महत्या [illegible] हत्या करोगे!

तुम सोचते हो. तुम उन तमाम लोगों को कत्ल कर [illegible] चाहते हो जिनके कारण आदमी को गटर में रहना पड़ता [illegible] जिनके कारण तुम अपने घर से अजनबी कर दिये गये हो, जि[illegible] वजह से सिर्फ सौ रुपए पर तुम्हारे भाइयों को अपने दस [illegible] रोज़ बेचने पड़ते हैं. तुम ऐसी व्यवस्था को बरबाद कर [illegible] चाहते हो जो आदमी से उसके सपनों को छीनती है, जो आदमी [illegible] तमन्नाओं को उजाड़ कर रख देती है, जो सिर्फ कुछ लोगों [illegible] दौलतमंद बनाती है. तुम ऐसी व्यवस्था को उखाड़ कर फेंक [illegible] चाहते हो! तुम समझने लगते हो कि यह सारा दोष उस व्यव[illegible] का है जो मुनाफे पर टिकी हुई है.

लायब्रेरी की किताबें तुम पर अपने अर्थ खोलने लगती [illegible] तुम्हें रूस और चीन की याद आती है. तुम्हें चे ग्वेवारा का व्यक्ति[illegible] रोमांचित करने लगता है. तुम क्रांति की ज़रूरत को महसूस [illegible] हो. तुम्हारी हमदर्दी उन मजदूरों से हो जाती है जो एक आ[illegible] के मुनाफे के लिए दिन-रात कारखानों में अपना खून जलाते [illegible] तुम चाहते हो कि सिर्फ एक बार मज़दूर ये सोचे कि ज़रूरत [illegible] सारा सामान उसके गट्टों के दम पर बाज़ार में आता है और [illegible] भूखा-नंगा है. तुम्हें बहुत गुस्सा आता है कि इतने दिनों से आ[illegible] किस बात का इंतज़ार किया जा रहा है? ये लुटने और पिटने [illegible] लोग आखिर लड़ते क्यों नहीं? तुम चाहते हो कि क्रांति हो [illegible] ताकि आदमी मुक्ति की सांस ले सके. क्रांति हो जाये, तुम [illegible] हो. तुम बहुत-बहुत चाहते हो कि क्रांति हो जाये लेकिन [illegible] लाख चाहने के बावजूद कुछ नहीं होता. तुम उदास हो जाते [illegible]

'इस मुल्क में कुछ नहीं हो सकता, यहां के लोगों को [illegible] और भुखमरी की आदत है'—तुम सोचते हो और निरा[illegible] जाते हो. ये कायरों का देश है . . . तुम्हारी उदासी बढ़ती [illegible] जाती है और तुम अपनी उदासी में अकेले रह जाते हो.

दरअसल, तुम मध्यवर्ग के आदमी हो. तुम बड़ा [illegible] बनना चाहते हो लेकिन तुम्हारी आर्थिक स्थिति तुम्हें निचले [illegible] में फेंकती है. तुम्हें सपने देखने की आदत है, तुम स्वप्नजी[illegible] असल बात ये है कि तुम बीच के आदमी हो. तुम्हारा ना[illegible] कंचन हो या क, ख, या ग.

● 2172 नेताजी नगर, नयी दिल्ली–23

अगला अंक

पाक्षिक सारिका

अप्रैल अंक : एक

रेणु स्मृति विशेषांक

संपूर्ण क्रांति रेणु में थी या रेणु संपूर्ण क्रांति में?
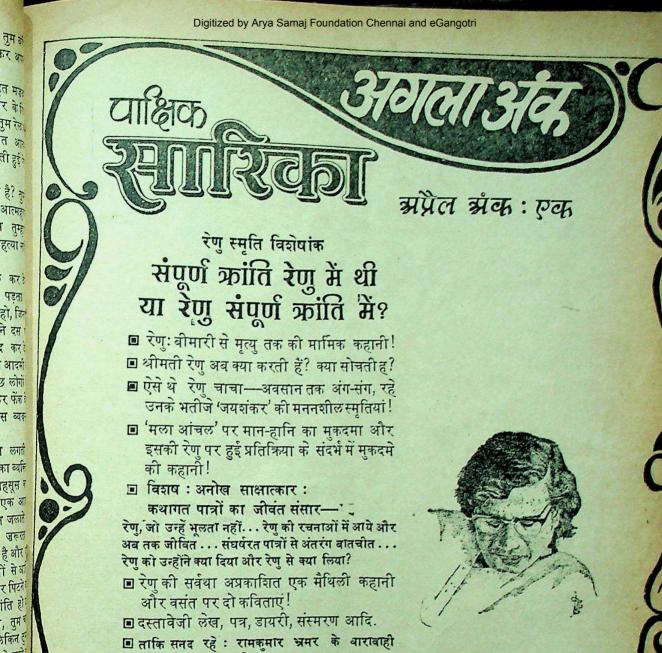
- रेणु : बीमारी से मृत्यु तक की मार्मिक कहानी!
- श्रीमती रेणु अब क्या करती हैं? क्या सोचती है?
- ऐसे थे रेणु चाचा—अवसान तक अंग-संग, रहे उनके भतीजे 'जयशंकर' की मननशील स्मृतियां!
- 'मैला आंचल' पर मान-हानि का मुकदमा और इसकी रेणु पर हुई प्रतिक्रिया के संदर्भ में मुकदमे की कहानी!
- **विशेष : अनोखा साक्षात्कार : कथागत पात्रों का जीवंत संसार—**
  रेणु, जो उन्हें भूलता नहीं... रेणु की रचनाओं में आये और अब तक जीवित... संघर्षरत पात्रों से अंतरंग बातचीत... रेणु को उन्होंने क्या दिया और रेणु से क्या लिया?
- रेणु की सर्वथा अप्रकाशित एक मैथिली कहानी और वसंत पर दो कविताएं!
- दस्तावेजी लेख, पत्र, डायरी, संस्मरण आदि.
- **ताकि सनद रहे : रामकुमार भ्रमर के धारावाही उपन्यास की पांचवीं किस्त**
- पाठकों का पन्ना, ज़रिया-नज़रिया, रोज़नामचा, पखवारे की पुस्तक, लघुकथाएं, ग़ज़लें आदि सभी स्थायी स्तंभों सहित

पाठकों, विद्यार्थियों, शोध-छात्रों एवं साहित्यकारों के लिए एक संग्रहणीय अंक!

वक्त की पहचान यानी जिंदगी की पहचान यानी—सारिका!

संवाद : जुनूं में एक शाम

कुछ न समझे खुदा करे कोई!

लोठार लुत्से, राजेंद्र यादव और शानी : एक अंतरंग बातचीत

यह औपचारिक भेंट नहीं थी. लोठार लुत्से के गोल्फ-लिंक स्थित निवास पर हम खाने पर और गपशप के लिए आमंत्रित थे. अगर बातचीत का कोई पूर्व-निर्धारित मुद्दा था तो सिर्फ यही कि किसी साहित्यिक उपन्यास को जब सेल्यूलाइड पर उतारा जाता है तो क्या होता है—उस साहित्यिक कृति का या अंततः उस फिल्म का. राजेंद्र यादव, इसलिए कि 'सारा आकाश' पहली ऐसी साहित्यिक कृति है जिस पर फिल्म बनी. मन्नू भंडारी इसलिए कि उनकी कहानियों पर एकाधिक लोकप्रिय और सफल फिल्में बन चुकी हैं और मैं इसलिए कि मेरे उपन्यास 'सांप और सीढ़ी' पर सोनार फिल्म्स वाले शीघ्र ही एक फिल्म बना रहे हैं. मन्नूजी किसी कारणवश नहीं आ सकीं—लिहाज़ा उनकी कहानी 'यही सच है' की मूल प्रति और फिल्म 'रजनीगंधा' की स्क्रिप्ट ने उनकी उपस्थिति लगा दी.

उपन्यास से फिल्म, फिल्म से रचना-दृष्टि और रचना-दृष्टि से रचनाकार तक बातों का निकल जाना स्वाभाविक था. यह भी स्वाभाविक ही था कि रचना-दृष्टि की समयगत प्रासंगिकता की पड़ताल होने लगे और यह बहस छिड़ जाये कि साहित्य में कौन-सी विधा आज सार्थक रह गयी है और क्यों! हमने हिंदी कविता पर भी बात की और कहानी पर भी, लेकिन बातचीत को दिलचस्प मोड़ मिला खासकर केदारनाथ सिंह की कविताओं से. क्या उनकी 'रोटी' या 'बैल' जैसी कविता किसी भी भारतीय गांव के अपढ़ देहाती तक अपनी मूल संवेदना के साथ ज्यों की त्यों पहुंच सकती है? बहस खिंच कर 'इलीट' और 'नॉन इलीट' तक पहुंच गयी : यों—

रा. या. : अच्छा लुत्से, थोड़ा शिफ्ट करते हुए क्या मैं एक व्यक्तिगत सवाल पूछूं? बेहद अनौपचारिक भाव से जवाब देना.

लो. लु. : हां हां पूछिए. यहां कौन-सी औपचारिकता है.

रा. या. : तुम भारतीयता की या भारतीयता के संघर्ष में हिंदी लेखक पर बात करते हुए एक तरफ तो निर्मल के प्रशंसक हो और दूसरी तरफ रेणु के. यह बात मुझे हैरान करती है. बताना कि क्या यह परस्पर विरोधी बात नहीं है?

लो. लु. : मैं तो आपका, कमलेश्वर का या मन्नूजी का भी प्रशंसक हूं.

रा. या. : नहीं, हम लोग तो बीच में आते हैं.

लो. लु. : आपको यह बात परस्पर विरोधी क्यों लगती है? क्या यह नहीं हो सकता कि मेरी व्यक्तिगत रुचि भी हो और तटस्थ आलोचनापूरक दृष्टि भी और दोनों के चलते मैं दो परस्पर विरोधी धाराओं या दृष्टि के लेखकों को पसंद करूं—यह सोचते हुए कि भारतीयता की पूरी तस्वीर शायद दोनों को मिलाकर बनती हो.

बहुत से लोग कविता को भी इलीट के लिए मानते हैं या यह मानकर चलते हैं कि विश्वविद्यालयीय औपचारिक शिक्षा के अभाव वाले या देहाती लोग आज की कविता का रस नहीं ले सकते. मुझे शक है कि आपकी शिक्षा कविता या कल्पना के संस्कार भी दे सकती है अथवा नहीं! मैं एक उदाहरण देना चाहूंगा : केलिफोर्निया के एक प्रसिद्ध जेल के भयंकर अपराधों वाले संस्कारहीन कैदियों ने सेमुएल बैकेट के एब्सर्ड नाटक 'एंड गेम' से अपने को आइडेंटिफाई किया और यही नहीं उसका सफल मंचन भी किया जो मैंने देखा है और हैरान हुआ हूं. दरअसल मैं समझता हूं कि हमें रचना के संदर्भ में बात करते हुए इलीट या नॉन इलीट जैसे खाने बना कर नहीं देखना चाहिए या यह भ्रम निकाल देना चाहिए कि गांव के एक संस्कारहीन आदमी तक आपकी सोफिस्टिकेटेड कविता नहीं पहुंच सकती.

■ शानी

शानी : मेरे पास एक दूसरा उदाहरण है. बस्तर के एक निपट जंगली क्षेत्र अबूझमाड़ में वहां के आदिवासी लोगों के बीच रहते हुए मैंने उनका एक गीत सुना था जिसमें प्रेमी अपनी प्रेमिका के गालों की सुंदरता का बखान करता हुआ उसकी उपमा एक ऐसे नर्म और गुलाबी जंगली पत्ते से करता है जो सूरज की रोशनी में आग की तरह दहकता है. अब आप ग़ालिब के इस मिसरे को सामने रखिये :

"इक निगारे आतिशे-रुख सर खुला"

(अग्नि की तरह दमकते चेहरे वाली प्रेमिका जिसके केश खुले हुए हैं)

रा. या. : राजस्थान में आज भी एक लोककथा है जिसे दस-दस, पंद्रह-पंद्रह हज़ार की भीड़ तन्मय होकर सुनती और विभोर होती है. आपको आश्चर्य होगा कि वह लोककथा हू-बहू आल्बेयर कामू के नाटक 'क्रास परपज़' से मिलती-जुलती है. वरबेटम. अब यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कामू का इस राजस्थानी लोककथा से या इस लोककथा के जनक का कामू से कोई संबंध हो सकता है.

लो. लु : फिर?

रा. या. : तुमने बात थोड़ी-सी उलझा दी. शायद मैं ऑब्जेक्टिव दृष्टि की बात कर रहा था. कहना मैं यह चाहता हूं कि एक ओर रेणु है जो गांव की अकृत्रिम ज़िंदगी को उसकी भाषा, मिट्टी और उसकी गंध के साथ उठाता है और आपको लगता है कि हां, यह आपकी जानी-पहचानी, देखी-भाली और परिचित दुनिया है यानी भारतीय है. लेकिन इसके विपरीत जब आप इलीटिस्ट निर्मल का लेखन. . .

लो. लु. : (बात काटकर हंसते हुए) इस लिहाज से, राजेंद्र, मन्नू के मुकाबले तुम भी क्या इलीटिस्ट नहीं हो और जैसा कि मैंने कहा, क्या मैं दोनों को पसंद नहीं करता?

रा. या. : (हंसी) नहीं, इसे इस तरह समझिए. दस बरस पहले मेरी जो बहस तुमसे हुई थी—उसमें जहां तक मुझे याद है तुमने राजाराव या मुल्कराज आनंद की तीखी आलोचना की थी कि उनकी भारतीयता व्यवसाय की है.

लो. लु. : मैं अब भी करता हूं और मानता हूं कि वे हैं तो कमरे में लेकिन खिड़की के बाहर पोंगा लगाकर वे किसी और को संबोधित कर रहे हैं. वे जानते हैं कि जिसे वे संबोधित कर रहे हैं वे भारतीय नहीं हैं. मुझे बताइए, क्या आप राजाराव का 'सर पेंट एंड द रोप' पढ़ सकते हैं? क्या आप यह बरदाश्त कर सकते हैं कि राजाराव आपको पृष्ठों लंबी तफसील में यह बताएं कि हनुमान कौन था और उसने क्या-क्या कारनामे अंजाम दिये?

रा. या. : मैं यही तो जानना चाहता हूं कि भाषा के भेद को हटा दें तो क्या अंतर हुआ? क्या यह हिंदी भाषा का महज 'इस्तेमाल' करते हुए पश्चिमी दृष्टि या वैसी मानसिकता का आयात करना नहीं हुआ? चाहे वे वात्स्यायन हों या निर्मल!

लो. लु. : मैं आपसे सहमत नहीं हूं. वात्स्यायन आपकी ही इस परिभाषा के अनुसार ज़्यादा भारतीय हैं.

रा. या. : शायद आप ठीक कहते हैं लेकिन मेरा मूल प्रश्न तो अभी भी अनुत्तरित है.

लो. लु. : राजेंद्र, तुमने राजाराव का जो उदाहरण दिया वह बात को दूसरी दिशा की ओर ले जाता है. निर्मल और रेणु जिस अलग-अलग भाषा में अपना संसार रचते हैं, वह भाषा स्वयं मेरी दिलचस्पी और पड़ताल का विषय है क्योंकि भाषा एक माध्यम है. लिहाजा मेरी वास्तविक दिलचस्पी का लक्ष्य है वह दुनिया जो उसके सहारे खड़ी होती है. . . . .

शानी : मेरा ख्याल है कि राजेंद्र का आग्रह भारतीयता और प्रासंगिक लेखन पर है. भारतीयता की वह जातीय गंध जो सख्ती से देखने पर शायद निर्मल के यहां नहीं है लेकिन क्या सिर्फ इसी से आप निर्मल-जैसे महत्वपूर्ण रचनाकार को खारिज कर सकते हैं? सवाल शायद यह है कि प्रासंगिक लेखन आज वास्तव में कौन कर रहा है और आज के संदर्भ में प्रासंगिक आप किसे मानते हैं? लुत्से बताएं कि क्या ऐसा नहीं होता? हमारे सेल्फ का एक हिस्सा कई बार अनरियलिस्टिक और अप्रासंगिक होते हुए भी हमें प्रिय लगता है और हम उससे मुक्त नहीं हो पाते. क्या यहां सावधानी से चुनाव करने की ज़रूरत नहीं पड़ती? ठीक उसी तरह जैसे सारी बौद्धिकता के बावजूद हमें कई बार रूमानियत अच्छी लगती है और अकसर हम दोनों को गड्ड-मड्ड करते रहते हैं? देखिए, सम-सामयिक आधुनिक भारतीयता जो आज प्रासंगिक और महत्वपूर्ण हो सकती है वह मेरी दृष्टि में इस तरह है : आप कल्पना कीजिए एक ऐसे छोटे और धूल भरे कस्बे के ऐरोड्रम की जिससे एक तरफ तो कोलतार की सड़क आकर मिलती है लेकिन उसी के साथ जंगल, बैलगाड़ी का रास्ता और पगडंडी तीनों मिले हुए हैं और सभी सच हैं. शायद यह मुकम्मल तस्वीर ही प्रतीक रूप में सम-सामयिक आधुनिकता या आज की प्रासंगिक भारतीयता हो सकती है. अगर भारतीयता का इतना ही आग्रह है तो कृष्णा सोबती को छोड़कर हिंदी से बाहर ऐसा भारतीय लेखक जिससे मुझे व्यक्तिगत रूप से ईर्ष्या होती है वह हैं, कन्नड़ के के. आर. अनंतमूर्ति.

खाना लग चुका था. अबकी बार दूसरी चेतावनी मिली. लिहाजा हम अपने-अपने गिलास लेकर मेज़-पर आ गये वैसे भी 'जुनूं' खत्म हो रहा था चुनांचे मैंने सबको समेटते हुए ग़ालिब के सहारे माफी मांग ली —उनसे जो मौजूद थे और उनसे भी जो मौजूद नहीं थे : कहा :

बक रहा हूं जुनूं में क्या-क्या कुछ,
कुछ न समझे खुदा करे कोई!

□

किस्तों में बंटी महानताएं

■ से. रा. यात्री

दलीपसिंह मेरा सहपाठी रहा है. बी.ए. में अन्य विषयों के साथ उसने दर्शनशास्त्र जैसा शुष्क विषय भी लिया था लेकिन देखिए भाग्य का खेल उसे जाना पड़ा पुलिस विभाग में! अक्खड़ टाइप का आदमी है. शुरू में सिर्फ़ एक वक्त खाना खाता था—कहता था कि सरकार इतनी ही तनख़ा देती है. शहर का राउंड लेते समय उसकी बगल में एक डंडा रहता था जिसे उसने राष्ट्रप्रेम के रंग में सराबोर होने की वजह से 'जै हिंद' नाम दे रखा था. उस 'जै हिंद' की करामात कुछ ऐसी थी कि छः महीने से ज्यादा उसे किसी थाने में टिकने नहीं दिया जाता था. थाने में वह महज़ अपने लिए एक मेज़-कुर्सी रखता था. मिलने आने वाले किसी सज्जन को कुर्सी नहीं मिल पाती थी. जिसका सीधा असर यह होता था कि जन नेता उससे नाखुश होकर उसका ट्रांसफर कराकर दम लेते थे. मैं कई शहरों में उसके पास जाता रहा हूं और मैंने उसे 'डेरा उठाऊ' अफसर की ख्याति अर्जित करते हुए पाया है.

लेकिन इस बार सहारनपुर के थाने में उससे मिला तो मेरी तबीयत खुश हो गयी. कोतवाली में मेज़-कुर्सियों की कमी बिल्कुल नहीं अखरी बल्कि एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह देखने में आया कि कोतवाली की लंबी-चौड़ी दीवारों पर आदर्श वाक्य और सूक्तियां अंकित थीं. मुझे वातावरण अत्यंत स्वच्छ लगा. पहले उसके पास जाता था तो मन में हमेशा एक अपराधी-भाव रहता था कि कोई मुझे वहां बैठा देखेगा तो क्या सोचेगा! पर श्रेष्ठ सिद्धांतों की छाया में बैठकर मुझे पहली बार अनुभूति हुई कि कोतवाली भी धार्मिक स्थान का दर्जा ग्रहण कर सकती है बशर्ते कि दीवारों पर सात्विक भाव जगाने वाले वाक्य लिखे हों.

मुझे दीवार पर टकटकी लगाये देखकर दलीपसिंह मुस्करा कर बोला, "यार, सरकार को लोग बेकार बदनाम करते हैं. अब तुम्हीं देखो, पुलिस विभाग में कितनी तब्दीली आ गयी है. पहले हम लोगों के यहां दरोगा-दीवान और कांस्टेबिल साधारण बोलचाल तक में फूहड़ गालियां दिया करते थे लेकिन जबसे वर्ष में 'शिष्टाचार सप्ताह' शुरू हुआ है पुलिस के लोग मामूली से मामूली आदमी को भी 'श्रीमानजी' कहकर बुलाते हैं. और यही क्यों, पुलिस मंत्रीजी की हिदायतों के मुताबिक हर कोतवाली, थाना और चौकी में जनता तथा पुलिस का 'मोराल' ऊंचा उठाने के लिए वेद वाक्य लिखे गये हैं. सरकार महसूस करती है कि जनता पुलिस से डरती है—शरीफ़ आदमी थाने के सामने से निकलते हुए घबराहट में पड़ जाता है. उसे लगता है कि यहां चोर, गुंडे, हत्यारे और सितम तोड़ने वाले रहते हैं," दलीपसिंह की नज़र दीवार पर गयी और वह आश्वस्त होकर कहने लगा, "लेकिन जबसे यह नया सरक्युलर आया है, पुलिस का मनोबल बहुत ऊंचा उठ गया है."

दलीपसिंह ने मेज़ पर पड़े पैकेट से सिगरेट निकाली और एक लंबा कश खींचकर बोला, "लेकिन मैं तुमको बतलाता हूं, तुम मान न जाओ तो मुझे दलीपसिंह न कहना." दलीप ने एक कांस्टेबिल को सरकारी आदेश खाता लाने का हुक्म दिया. कांस्टेबिल रजिस्टर लाया तो दलीपसिंह ने रजिस्टर खोलकर एक 'साइक्लोस्टाइल' पत्र निकालकर मुझे दिखलाया जिसमें विभाग के उच्चाधिकारियों की ओर से आदेश था कि जनता की सही सहायता करने के लिए सौजन्यता का वातावरण बनाने की आवश्यकता है. इसके लिए यह किया जाये कि प्रत्येक थाने में निम्न वाक्य 'कार्ड-बोर्ड' या दीवारों पर पेंट कराकर प्रदर्शित किये जायें. मैंने कुछ आदर्श वाक्यों की बानगी देखी जिनमें से कुछ ये हैं :

'जो सच्चाई के रास्ते पर हैं ईश्वर उनकी सहायता करता है.'

'आप उदारता का व्यवहार करके दूसरों का हृदय जीत सकते हैं.'

'राष्ट्र का उत्थान आपके हाथों में है.'

'सद्भावना के द्वारा आप अपने शत्रुओं को भी मित्र बना सकते हैं.'

उपर्युक्त वाक्यों के अतिरिक्त और भी बहुत-सी अच्छी-अच्छी बातें सरकारी आदेशपत्र में दर्ज थीं. लेकिन दलीपसिंह ने मुझे सारे वाक्य नहीं पढ़ने दिये. वह बोला, "आओ मैं तुम्हें दिखलाता हूं कि मैंने इन्हें किस-किस तरह लिखवाया है." हालांकि अब तक मैं अनेक सूक्तियां पढ़ चुका था पर दलीपसिंह की मौलिक सूझ-बूझ का जायज़ा लेने के लिए उसके साथ उठकर खड़ा हो गया.

दलीपसिंह मुझे कोतवाली के सदर दरवाज़े पर ले गया. गेट में घुसते ही ऊपर दीवारों पर दो-दो गज़ की पटरियां उभरी हुई थीं. कोतवाली किसी पुराने किले से काफी मिलती-जुलती दिखलाई पड़ रही थी. पहली पटरी पर लाल रंग से एक वाक्य अंकित था 'जो सच्चाई पर चलते हैं' इस वाक्य का पूरक अंश, 'ईश्वर उनकी सहायता करता है' देखने के लिए कुछ गज आगे की तरफ बढ़ना ज़रूरी था. चार-छह कदम आगे चलकर दूसरी पटरी पर लिखा था 'ईश्वर उनकी सहायता करता है.' इसी तरह अन्य छोटे और बड़े आदर्श वाक्य दीवारों, खंभों और

पटरियों पर लाल, नीले, हिरमजी रंगों में शोभायमान थे.

सारा कुछ पढ़ने के बाद मैंने दलीपसिंह के सामने शंका व्यक्त की, "लेकिन दलीप, इस तरह की पेंटिंग पर तो सरकार का बहुत खर्चा आया होगा? देश भर के थानों, कोतवालियों और चौकियों पर ये सब लिखने में तो सारा खजाना ही खाली हो जायेगा!

दलीप मेरी मूर्खता पर समझदारी से हंसा और मेरे कंधे पर हथेली पटककर बोला, "यार! तुम भी रहे अहमक के अहमक! सरकार इस काम पर पैसा खर्च करती है? अच्छी बातें बोलकर तो सरकार पैसा वसूल करती है." दलीप ने नयी सिगरेट जलायी और बोलने लगा, "खैर! मेरे साथ जो हुआ वह तुम्हें बतलाता हूं. जिस दिन यह सरक्यूलर आया, मैंने अपने मातहत सारे इंस्पैक्टरों से कहा कि वह 'कार्ड-बोर्ड' पर महान बातें रंगवायें."

नथुनों से सिगरेट का ढेर-सा धुंआ छोड़कर दलीप ने इतिहास सामने कर दिया, "अशोक के जमाने में तो यह महान बातें पत्थरों पर खुदवायी जाती थीं. अब तो मामला बहुत आसान है. घंटे-दो घंटे में कागज़ों और गत्तों पर सैकड़ों 'मोटो' लिखे जा सकते हैं. हां, तो अभी यह किस्सा चल ही रहा था कि दो सिपाही और चार-छह आदमी एक जेबकतरे को लेकर आ गये. मैं 'मोटो' वगैरह की बात ही भूल गया. पता चला जेबकतरे ने कोतवाली से ज़रा हटकर एक आदमी की जेब काट ली थी और रंगे हाथों पकड़ा गया था. जेबकतरे की रपट लिखा दी गयी और उसे उठाकर बंद कर दिया गया. टुआ जमा करके लोगों को मैंने रफा-दफा कर दिया. उस मामले की तरफ से दिमाग़ हटाकर जैसे ही 'मोटो' लिखवाने की बातें शुरू कीं कि एक परेशान हाल आदमी ने आकर मेरे पांव पकड़ लिये. पूछने पर मालूम हुआ कि वह शख़्स अजीज़ पेंटर है. उसका भाई जेब काटते हुए पकड़ा गया है. वह उसी को छुड़ाने आया है. उसी वक्त मुझे 'ब्रेन वेव' आयी और मैंने अजीज़ से कहा, "अगर तुम अपने जेबकतरे भाई को छुड़ाना चाहते हो तो तुम्हें एक काम फौरन करना पड़ेगा."

और कहने के साथ ही मैंने वह 'मोटो' वाला कागज़ अजीज़ के हाथ में दे दिया. अजीज़ ने अपनी जेब से ऐनक निकालकर आंखों पर चढ़ायी और वह हर वाक्य ध्यान से देखने लगा. उसकी कुछ समझ में नहीं आया तो मैंने बतलाया कि यह फिकरे कोतवाली की दीवारों पर लिखे जायेंगे.

अजीज गिड़गिड़ाया, "सरकार, यह तो सवाब का काम है. इसमें क्या मुश्किल है बल्कि यह तो हम खुशी से कर देंगे और वह हरामी (अजीज़ का जेबकतरा भाई) आखिर किस मर्ज़ की दवा है. हिंदी का इलम उसे मुझसे कहीं जियादा है. आठवीं जमात तक मैंने उसे स्कूल में पढ़ाया है. . . की औलाद बुरी सोहबत में पड़कर जेबकतरा बन गया है. उसी को यह काम सौंपिये. साले पर चार 'जै हिंद' रसीद कीजिए. मिंटों में अल्फाज़ लिखता नज़र आयेगा."

दलीप ने अपनी बात आगे बढ़ायी, "और देखिये जनाब, उसी जेबकतरे ने ये तत्व की बातें पेंट की हैं. हालांकि पेशे से वह साला अब भी जेबकतरा है." दलीपसिंह बी. ए. में पढ़ी फिलासफी को शायद अभी तक पूरी तरह नहीं भूला था सो बोला, "बुरे आदमी से अच्छा काम कराया जाये, यही उसके सुधार का सही रास्ता है."

मेरे चेहरे पर खोजी नज़र डालते हुए वह निष्कर्ष देने की तर्ज़ पर बोला, "अब बताओ, इसमें किसी का क्या गया? इसमें सरकार ने कुछ नहीं दिया, डिपार्टमेंट ने धेला नहीं खर्चा. हमने भी कुछ नहीं दिया और अच्छी कद्रें (मूल्य) लोगों की नज़रों में आने लगीं. हो सकता है, जेबकतरा भी किसी रोज़ जेब काटना छोड़ दे और मुझे तो यकीन है इसी तरह अच्छी बातें धीरे-धीरे समाजी ज़िंदगी में जड़ें जमाती चली जायेंगी. देर-सवेर अच्छाई का ही बोलबाला होगा."

दलीप की बातें सुनते हुए मेरे हृदय में गहरी पवित्रता का संचार होने लगा और सहसा मेरी नज़र कोतवाली के गेट पर चली गयी—दो कांस्टेबिल एक फटेहाल आदमी को धकियाते हुए ला रहे थे. शायद इस बार सात्विक भावना का कोई और भी ज़ोरदार नमूना दलीपसिंह के सामने पेश किया जाने वाला था. □

घटना कथा

दारोगा और दर्जी

▣ दिनेश त्यागी

शहर में एक दर्जी की दूकान में चोरी हुई. चोरों ने दूकान का एक ताला खोलने में कामयाबी पाकर दूसरा ताला खोले बिना ही कुंडा टेढ़ा करके दूकान के दरवाज़े खोल लिये और दूकान के अंदर जितने भी सिले-अनसिले कपड़े थे, लेकर चंपत हो गये.

सुबह जब पड़ोसी दूकानदार ने अपनी दूकान खोलते हुए दर्जी की दूकान का ताला टूटा देखा तो उसने दूकान में चोरी हो जाने की खबर दर्जी के घर भिजवायी. खबर पाते ही दर्जी भागा-भागा आया और दुखी होकर चोरी की सूचना देने पुलिस स्टेशन चला गया.

पुलिस ने सादे कागज़ पर उसकी रिपोर्ट लिखी और उससे कहा—"तुम चलो, हम अभी आते हैं. तुम दूकान के बाहर खड़े रहना. अंदर नहीं घुसना, नहीं तो निशान वगैरा मिट जायेंगे और हमें दिक्कत होगी". दर्जी बेचारा दूकान के बाहर शाम छह बजे तक खड़ा रहा. जब कोई नहीं आया तो वह दोबारा पुलिस स्टेशन गया और एस. एच. ओ. साहब को सारी स्थिति बतायी. एस. एच. ओ. ने दो सिपाहियों को बुलाकर उन्हें डांटा और तुरंत कार्यवाही करने को कहा. पुलिस वालों ने एक घंटे बाद दूकान का मुआयना करने के बाद रपट लिखी और उस पर दर्जी के हस्ताक्षर भी करवा लिये. रपट की प्रतिलिपी मांगने पर उन्होंने कहा, "कल थाने आकर ले लेना."

अगले दिन दर्जी महोदय थाने से उर्दू में लिखी हुई प्रतिलिपि लेकर आये और उसे एक उर्दू जानने वाले से पढ़वाया. उसमें लिखा था—मेरी ग़लती से कल मेरी दूकान का ताला खुला रह गया था. चोरी हो गयी. मैं नहीं चाहता कि इसकी तहकीकात के लिए किसी और को परेशान किया जाये. □

तेज़ी से हाथ में बंदूक थामें सीढ़ियां चढ़कर आने से मैं हांफने लगा था. ठांय! ठांय!! ठांय!!! समय का निश्चित-सा अंतराल हर गोली की आवाज़ के बाद. एक साथ कई प्रश्न उस बदहवास स्थिति में पहले से ही वहीं खड़े चाचा और ताऊ से पूछ बैठा, "कैसे? क्या? किसके यहां? कितनी देर से?" वे सांस रोके खड़े थे, ऊपर के कमरे में दरवाज़ों को बंद किये. मैं अभी तक मुक्त नहीं हो पाया था अचानक सुनकर लगे उस झटके से. पत्नी के साथ कमरे में सोया था, निश्चिंत, गहरी नींद. मां मेरा नाम ले-लेकर दरवाज़ा पीटे जा रही थी, "जल्दी उठ बेटा, डकैती पड़ गयी." मैं घबरा गया था. जानता हूं अब गांव में चोरी या डकैती चौंकाने वाली असंभव घटनाएं नहीं रहीं. पर हां, डराने-होश उड़ा देने वाली घटनाएं तो अवश्य हैं ही और तब मैं तुरंत कपड़े लटकाकर बंदूक उठाये ऊपर भागा चला आया था.

"बाहर निकलकर देखो तो किधर से आवाज़ आ रही है?"

"अभी रुक, गांव से कोई आवाज़ नहीं है." चाचा ने कहा था.

"बाहर मत निकलना, कोई गोली इधर ही आ लगे तो?" ताऊ ने बड़े धीमे स्वर में आशंका व्यक्त की थी.

दोमुंहे सांप

▣ प्रेम कुमार

इतनी देर में मैंने बंदूक 'लोड' कर ली थी. जंगले के ऊपर के छोटे से हिस्से को खोलकर बाहर झांका था—सामने गहराता भयावह अंधेरा. सभी मकानों का अस्तित्व जैसे मिट गया है.

"लगता है यह तो बीच गांव में किसी के घर पड़ रही है".

"पर कमाल है, किधर से भी कोई आवाज़ तो आयी नहीं अब तक!"

"बहुत देर हो गयी गोलियों की आवाज़ों को, अब तो जग ही गये होंगे सब लोग."

मैं मौन उन दोनों की बातों को सुनता रहता हूं. अंदर का भय अब काबू में आ गया है. दरवाज़ा खोलकर बाहर से देखने को मन करता है. डकैती—संभवतः मेरे जीवन की सामने पड़ने वाली प्रथम डकैती. इसलिए देखने की वांछा, जवान कहे जाने वाले खून का उफ़ान, बंदूक से फायर करने का शौक—सब एक साथ जैसे मुझे बाहर निकल आने को उकसा रहे हैं. ऐसी ठंड में बंद कमरों व रजाइयों में दुबके होंगे लोग. यदि ऐसे में घर पर डकैत चढ़ आयें तो? इस तो के साथ ही बगल में रखी बंदूक पर मेरा हाथ पहुंच जाता है. उस समय तनिक-सी आहट सुनकर लगता जैसे सचमुच डकैत चढ़ रहे हैं घर पर. स्वयं को उनसे मुकाबला करने को तैयार करने लगता.

बाबा सुनाया करते थे, करीब तीस साल पहले पड़ी थी इस गांव में डकैती, केवल एक बार. वह भी आसानी से नहीं, गांव वालों ने घिराव कर लिया था डकैतों का. डकैत रातभर गोलियां चलाते रहे थे और गांव वाले अपनी लाठियां संभाले शोर मचाते खड़े रहे थे. अंततः खाली हाथ ही जैसे-तैसे जान बचाकर भाग पाये थे डकैत. इतना बड़ा गांव! डकैती डालना कोई आसान बात थी! अरे, आज तो तब भी तीस-पैंतीस लाइसेंसी बंदूकें हैं. . . चोरी-छिपे चालीस-पचास कट्टे भी . . .

मेरे सामने एक चित्र उभरता है—बाहर गांव की घेराबंदी किये, शोर मचाते, गालियां बकते, ईंट फेंकते, ग्रामीणों के झुंड हज़ारों की तादाद में. पर आज . . . ? कितनी देर से गोलियां चलते?. . कहीं कोई उत्तर नहीं. आखिर क्या . . . बाबा की तीस साल पहले की सुनायी बातें झूठी लगती . . .

इसी उधेड़बुन में चाचा-ताऊ के मना करते-करते दरवाज़ा खोलकर बाहर छजली पर आ खड़ा होता हूं. मेरे आने पर वे भी विवश होकर मेरे पास ही आकर खड़े हो जाते हैं.

दूर कहीं कोई चीख—'बचाओ. . . . ' फिर किसी के भागकर इधर ही आते व्यक्ति की उत्तरोत्तर तेज़ होती आवाज़ "अरे भैया बचाओ, तेजा-प्यारे के डकैती पड़ रई है रे. . . . . . ब . . . च . . . इ . . . यो . . . भै . . या . . . रे. . . बार भैया कहने पर उसकी आवाज़ भीग जाती है . . . मंद हो जाती है. आवाज़ हमारे घर की ओर ही बढ़ती आ रही है—करीब . . . और करीब. चाचा मेरा हाथ खींच . . .

दुबक जाने का इशारा करते हैं. दुबक जाता हूं मैं और वे दोनों भी. बहुत देर चीख-पुकार के बाद वह आवाज़ जिधर से आयी थी उधर ही जाकर निराश गुम हो जाती है. उसके बाद भी कहीं कोई स्वर नहीं, केवल ठांय! ठांय!!

"कितनी गोलियां लाये हैं कंबख्त! इतनी देर से यूं ही छोड़े जा रहे हैं."

"बिना इंतज़ाम के थोड़े ही इतने बड़े गांव में आयेंगे भला—वह भी बीच गांव में. तेजा-प्यारे का घर तो वैसे भी सब तरफ से घिरा है. तीन मंजिला—बिल्कुल संदूक की तरह, सुरक्षित. आख़िर पहुंच कैसे गये वहां ....!"

मैं उनकी बातें अनसुनी कर बंदूक की नाल ऊपर कर ट्रेगर दबाने को होता ही हूं कि ताऊ मेरा हाथ झटक देते हैं, "पागल हुआ है क्या? कोई और भी बंदूक वाला छोड़ रहा है गोली या तू ही ....? मुफ्त में डकैतों की दुश्मनी ...."

मैं रुक तो जाता हूं पर खीज से भरकर कहता हूं, "कमाल है, सब चुप हैं. डकैत बड़े आराम से लूटे ले जा रहे हैं वैसे ही डराकर. अरे, हम तीनों ही शोर मचाते उधर चलें! और लोग भी निकल आयेंगे घरों से तब!"

"वाह बहुत ठीक, अपना घर छोड़कर वहां मौत के मुंह में चलें!" चाचा का कहना था.

"तब यहीं से खड़े होकर एक बार आवाज़ लगा देखो न!" मैंने ज़ोर दिया था.

....

मुश्किल से राजी होते हैं मेरे यह कहने पर कि मैं अकेला ही आवाज़ देता हूं तो.

"ओये सम्हारियो.. हम आये रे...." तीनों ही एक साथ मिलकर चिल्लाते हैं.

"बड़े वीर बली बने हो भैया!" कल्ला फुसफुसाता है.

"चों, दिमाक सड़रोए का?" गनेशी बाबा हैं शायद.

"बिरानी अलाई में पन्नो ठीक ना होत लल्ला!" परसुराम बनिये की आवाज़ थी.

"जंगल कौ घरू ऐ. चों दुश्मनी लेतो फिजूल में. अपने घर रहो चुपचाप!" नेता लोधा कहता है.

"मौत बढ़िया हैरौए. जो जादा भागमान हैं ऐं जेई होनों चइयै उनके संग. सारे राजी ते देत कौन कू ऐं. हम चों अपनी जान गमाएं!" घीसू धोबी है शायद.
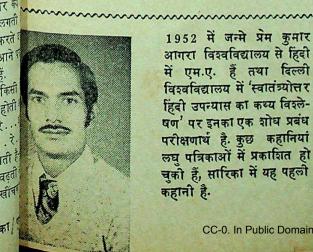
1952 में जन्मे प्रेम कुमार आगरा विश्वविद्यालय से हिंदी में एम.ए. हैं तथा दिल्ली विश्वविद्यालय में 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास का कथ्य विश्लेषण' पर इनका एक शोध प्रबंध परीक्षणार्थ है. कुछ कहानियां लघु पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं, सारिका में यह पहली कहानी है.

मैं चकित रह जाता हूं एक-एक की धीरे-धीरे आती आवाजें सुनकर.

आखिर क्यों? पूरे गांव के दर्द-मुसीबत को एक कहने वाले, इस डकैती को दूसरे की अलाई कह कर टाल रहे हैं. अधियानों पर तापते मुखों से न जाने कितनी बार सुन चुका हूं अपनी-अपनी बहादुरी के लंबे-लंबे किस्से—'मैंने एक साथ दस को मार भगाया'... 'वो लाठी चलायी कि बंदूकें टांय-टांय फिस्स कर गयीं'... 'फलां के घर से मैंने अकेले ही चोर भगा दिये.'... और न जाने क्या-क्या! अगाध श्रद्धा और विश्वास के साथ सुनकर मेरा मन रोमांचित हो उठता. पर अब लगता है कि वह सब झूठ था. सच तो केवल यह है जो मैं देख रहा हूं.

▣

चाय का प्याला हाथ में थमाते ही पत्नी सूचना देती है, "चुनुआ को मार गये."

"एं....!" प्याला हाथ से गिरते-गिरते बचता है. एक अजीब-सी खिन्नता घेर लेती है. अनमना, बिना चाय पिये ही बिस्तर छोड़ देता हूं. रात का पूरा दृश्य आंखों के आगे घूम जाता है. जाने क्या आता है मन में कि मृत चुनुआ को देखने चल पड़ता हूं.

हद हो गयी. उसका इकलौता जवान लड़का मर गया!.. अरे धन ले जाते, पर उस जीवाक को तो अनाथ न कर जाते. खाली गोली मार कर भी मन न भरा कसाइयों का; तीसरी मंजिल से नीचे आंगन में पटक दिया बेचारे को. ... अभी ढाई साल तो हुए थे शादी को. कितना सीधा तंदुरुस्त-खूबसूरत पट्ठा था.... थोड़ी हेकड़ी न करता तो क्यों मरता? उफ! कितना रोका उसकी बीवी ने. उसकी मौत जो आ गयी थी, रुकता कैसे? टूट पड़ा खाली हाथ ही डकैतों पर. कैसा रो रहा है प्यारे, विधवा बहू और साल भर के नाती के सामने लाश पर गिर-गिर कर. देखा नहीं जाता. मुझे लगता है कि उसके घर तक पहुंचते-पहुंचते यदि चार-छह और लोगों के कथन सुनने पड़ गये तो अवश्य ही मेरे कानों के पर्दे फट जायेंगे.

सामने कुर्सियों पर दारोगाजी, चार-पांच सिपाही, प्रधानजी, सरपंच साहिब और गांव के कई मान्य व्यक्ति बैठे हैं. अपनी-अपनी बहादुरियां बखानते, बंदूकें चैक कराते—'साहब, मैंने आठ फायर किये, 'साहब मैंने दस..' 'मैं तो साहब पांच ही कर पाया था..' कहते बंदूकधारी.

अपने सामने की भीड़ को चीरकर आगे बढ़ने की कोशिश करता हूं. दरवाज़े पर खड़े प्यारे पर नज़र पड़ती है. वह चीख-चीख कर कुछ कह रहा है. मुश्किल से करीब पहुंचकर काफी कोशिश के बाद सुन पाता हूं—"तुम सब कमीने हो. चले जाओ यहां से, भाग जाओ. कोई ज़रूरत नहीं है अब तुम्हारे देखने की. रात क्या तुम मर गये थे? अब तमाशा देखने आये हो? जब तुम्हारे यहां डकैती पड़ेगी न—ज़रूर पड़ेगी, सबके यहां एक-एक करके... ईश्वर करे पड़े—तब मैं भी नहीं आऊंगा तुम्हें बचाने; कोई भी नहीं आयेगा. तुम एक-एक कर लुटोगे ... मरोगे सब, याद रखना! भाग जाओ कमीनो, कायरो.. "

मेरा जी घबरा गया है. मतली-सी आने लगी है. □

● **अशोकभवन, मानसिंह गेट, अलीगढ़**

ढर्रेवादी महिला लेखन का विकल्प : क्या और कैसा?

■ मधुरेश

अपने संग्रह की भूमिका में नमिता सिंह ने लिखा है... 'अब महिला कथाकारों से एक खास तरह की रचना की अपेक्षा की जाती है. व्यापक जन-जीवन से उन्हें उदासीन करने का शायद यह अच्छा तरीका है..' सो इस संदर्भ में सबसे पहली बात यह है कि पिछले तीन दशकों में घटित सारे सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद व्यापक जन-जीवन से भारतीय स्त्री के संपर्क की संभावनाओं पर कोई बहुत बड़ा असर नहीं पड़ा है. कुछ प्रतिशत स्त्रियां उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाने लगी हैं, काफी बड़ी संख्या में वे नौकरियां करने लगी हैं और इसे बेशक उनकी आर्थिक आत्म-निर्भरता मालूम होते हैं. भारतीय समाज में व्यापक जन-संपर्क की संभावनाओं की स्थितियां पैदा करने से पहले किसी व्यापक जन-संपर्क की अपेक्षा से उनके और उनके लेखन के साथ किसी हद तक ज़्यादती भी हो सकती है, लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं कि अंततः रास्ता वही है और उस रास्ते की एक बेचैन तलाश कहीं न कहीं इन लेखिकाओं और उनके कृतित्व को लेकर आश्वस्त भी करती है.

राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं से निकट संपर्क और स्वयं भी एक राजनीतिक कार्यकर्त्ता होने के नाते नमिता सिंह को सहज ही वे सुविधाएं प्राप्त हैं जो आमतौर पर हमारे यहां दूसरी युवा लेखिकाओं को नहीं मिल पाती हैं. यही कारण है कि रचना-वस्तु की दृष्टि से उनकी कहानियों के इस पहले संग्रह में ऐसी कहानियां काफी बड़ी संख्या में हैं जिन्हें आमतौर पर महिला लेखन के दायरे से बाहर की चीज़ समझा जाता की तलाश के रूप में भी लिया जा सकता है. विवाह और दूसरे पारिवारिक संबंधों को लेकर बहुत-सी वर्जनाएं टूटी हैं और कुल मिलाकर यह सहज खुलापन आया है. आज हिंदी में जो महिला-लेखन हो रहा है वह अधिकांश में इन सारी स्थितियों के आस-पास ही केंद्रित है और उसमें अगर किसी प्रकार की जीवंतता और ऊर्जा दिखायी देती है तो उसका एक मात्र कारण यह है कि वह सारा लेखन अपने अनुभवों और सोच के प्रति खुला एवं सच्चा रह सका है. लेकिन इस लेखन के बारे में यह भी उतना ही सच है कि वह भयंकर एक-रसता की शिकार है और इस स्थिति से सबसे अधिक क्षुब्ध वे महिला कथाकार ही हैं और वे भरसक इस सीमा से बाहर निकलने की बेचैनी का इज़हार कर रही हैं. लेकिन सारी परेशानी तब पैदा होती हैं जब इस बेचैनी और इसके परिणाम-स्वरूप की गयी कोशिशों के नतीजे भी जब बहुत बेहतर निकलते नहीं रहा है. लेकिन नमिता सिंह के इस संग्रह में कई कहानियां ऐसी भी ज़रूर हैं और सफल भी बन पड़ी हैं, जो अब तक महिला लेखन के लेबल के ज़रिये ही पहचानी जाती रही हैं. 'चेहरे', 'ममी', 'जमी हुई बर्फ' और 'लहरों के बीच' आदि कहानियां बेशक ऐसी ही कहानियां हैं. 'चेहरे' में एक ऐसी युवती को अंकित किया गया है जो हॉस्टल में रहकर बड़ी हुई है, जहां प्रायः सब लड़कियों के फ्रेंड्स आते थे और उन्हें लेकर शाम को वे बाहर निकल जाती थीं. अब अतुल से शादी के बाद भी, उसकी प्रतीक्षा का अकेलापन उसे उतना ही निरीह बना जाता है जैसा कभी हॉस्टल के दिनों में होता था और तब उसे लगता है जैसे हॉस्टल का वह कमरा अभी भी कहीं न कहीं उसके साथ ज़िंदा है. अतुल की ऐसे ही प्रतीक्षा भरे क्षणों में जब उसका कैसा ही भाई विनय वहां आ जाता है तो उसकी उपस्थिति उसके लिए खासी परेशानी का कारण बन जाती है. रह-रह कर उसे लगता
विनय के चेहरे पर जैसे अतुल का
चढ़ गया है और विनय, विनय
अतुल ही है. 'उसका दिल चाह
कि ये विनय इस समय अतुल
जाये और वह अपनी आंखों में
की नज़र भर देख रही है उसे
वह चाहती है, अतुल इस समय उसे
बाहों में भर ले, उसके साथ मिल
एक हो जाये. वह नज़र हटाती है
विनय उसकी इस इच्छा को भांप
हो, और वह बेतरह लापरवा
घड़ी की ओर देखती है...' (पृ.

घर, बच्चे, समाज और

'ममी' में एक महिला
की उस वेदना को अभिव्यक्ति
है जो घर और बच्चे के नाम पर
कला की दुनिया से निर्वासित हो
है और बहुत बाद में उसे इस
अनुभूति होती है कि वह अपने
पति अक्षय से बहुत पीछे छूट
और उसकी उपलब्धियों पर अब
ताली बजाने वाली भीड़ का एक
बनकर रह गयी है. 'जमी हुई
में उन सामाजिक स्थितियों की
संकेत किया गया है जो स्त्री को
पूरे परिवार में एक बहू की है
एकदम ठंडा और निर्जीव बना
देती है और फिर धीरे-धीरे व
भी इस स्थिति से समझौता क
है. 'लहरों के बीच' में लहरें नि
वर्जना की हैं जिन्हें विदेश में, प
बच्चे से दूर रहकर सविता
पार कर ही लेती है. अपने
लेने को भारत में जो तर्क क
देता था, आज डैनियल भी
दे रहा है और उसे वह कोरे
अधिक कुछ लगता है. मन्नू भं
'ऊंचाई' में जैसे होता है. यहां
को भी लगता है कि इस सब
और सुबोध के संबंधों में कहीं
नहीं पड़ने वाला है... 'अब सोच
डैनी उसकी आवश्यकता भर
और यह कुछ समय की आ
कैसे उसके और उसके पति के
बीच आ सकती है! वर्तमान
वर्तमान है, उसका सुख क्यों

की कल्पना के कांटों से बांधा जाये. जो अभी मिल रहा है उसे, जो कल न था, उस पर न्योछावर करना क्या मूर्खता नहीं.

नमिता सिंह के इस संग्रह में उन कहानियों की संख्या अनुपातत: कहीं ज्यादा हैं जिन्हें वह 'महिला-लेखन' के बल से व्यापक जनसंपर्क के परिणामस्वरूप लिखी हुई कहानियां कहती हैं. ऐसी कहानियों में चमरटोली के लोगों के लिए समाजवाद की पाठशाला है, पूर्ण और वर्ग संघर्ष है, जेल और दल के टकराव की चर्चा है. इनमें ऐसी युवतियां भी हैं जो सामंती जड़ता से निकलकर अपने को सामाजिक और राजनीतिक कार्य के लिए तैयार करती हैं. इनके अलावा और भी कई कहानियां हैं जो लेखिका के सामाजिक पर्यवेक्षण की गवाही देती हैं और महिला-लेखन के ढर्रे को पर्याप्त सार्थक ढंग से तोड़ने की कोशिश करती हैं. इन कहानियों में अच्छी-बुरी दोनों ही तरह की कहानियां हैं और उन्हें आमने-सामने रखकर कुछ ऐसे निष्कर्षों तक पहुंचाया जा सकता है जहां ढर्रेवादी महिला-लेखन के अतिक्रमण और सार्थक विकल्प की संभावनाएं देखी जा सकती हैं. 'काले अंधेरे की मौत', 'सन्नाटे से आगे', 'मुक्ति' और 'नाले पार का आदमी' आदि कहानियों की सब से बड़ी कमज़ोरी यह है कि ये कहानियां होते हुए भी सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष को अंकित न करके उसके होने की सतही और सपाट सूचनाएं मात्र देती हैं— 'काले अंधेरे की मौत' में चमारों के लिए किये गये समाजवादी कार्य और सवर्णों से उनके संघर्ष की सूचना—या फिर अतिरंजित एवं अतिनाटकीय परिस्थितियों की कल्पना से वे स्खलित रचनाधर्मिता का उदाहरण बन गयी हैं. 'सन्नाटे से आगे' विद्यानिवास द्वारा अपने बीस वर्ष पुराने मित्र के लिए, जिससे बाद में उनका कोई खास संपर्क नहीं रह जाता है, अपना घर और परिवार छोड़ने का निर्णय एक ऐसी ही अतिनाटकीय स्थिति का उदाहरण है. 'नाले पार का आदमी' में वर्ग चेतना के सवाल को उठाकर यह दिखाने की कोशिश की गयी है कि पूंजीवादी वर्ग अपनी सारी कथित प्रगतिशीलता और वामपंथी चेतना के बावजूद सर्वहारा से संबंध न जोड़कर अपने ही वर्ग से जोड़ता है, थोड़े समय के इश्क और रोमांस की बात अलग है, और कभी यदि यह संबंध जुड़ता भी है, तो उसका नतीजा हमेशा ही सर्वहारा की चेतना और सोच के कुंठित होने में निकलता है. लेकिन कहानी में जिन फिल्मी नुस्खों का इस्तेमाल किया गया है वे फिर उसकी सारी विश्वसनीयता को क्षति पहुंचाते हैं. 'मुक्ति' सोच के सरलीकरण की उपज है जो लेखिका के इस भोले विश्वास को सामने लाती है कि एक पूंजीपति निर्ममता की किसी भी सीमा तक जा सकता है—जबकि वह बच्चे को यमुना में न फेंककर कोई भी कम जोखम का रास्ता अपना सकता था.

राजनीति बनाम कहानियां

ढर्रेवादी महिला लेखन का विकल्प सपाट राजनीति और सरलीकृत निष्कर्षों की कहानियां लिखना ही नहीं है. राजनीतिक चेतना बेशक हमारे लेखन पर धार रखती है लेकिन उसके सही उपयोग के लिए गहरे कलात्मक विवेक और रचना-क्षमता की अपेक्षा होती है. 'खुले आकाश के नीचे' भी एक राजनीतिक कहानी है. इसमें सर्वहारा की मध्यवर्गीय वामपंथी नेतागीरी का विरोध किया गया है. कहानी में ऐसी नेतागीरी के प्रतिनिधि क़ैफी साहब हैं. कलकत्ता में बीना को देखकर कुछ भी महसूस न होना इस बात का सबूत है कि वह अपने पुराने मध्यवर्गीय संस्कारों से पूरी तरह मुक्त हो चुका है. खुले आकाश के नीचे उसके लेट सकने से इसी परिवर्तित स्थिति की सूचना मिलती है, जो बीना और राजेश जैसे फैशनेबल वामपंथियों से काटकर सर्वहारा के वास्तविक हितों से उसे जोड़ती है. 'टूट जाने के बाद' में, बड़े कलात्मक ढंग से, एक प्रौढ़ व्यक्ति—रमन बाबू—के अकेले होते जाने की नि:संगता को अंकित किया जा सका है. संतान के नाम पर उनके केवल लड़कियां ही हैं और वे भी एक-एक करके अपना घर बसा चुकी हैं. सुमिता बची है, सो चार-पांच साल की नौकरी भी अभी

नमिता सिंह

बाकी है... उससे निबटकर फिर किसी से नये सिरे से जुड़ने को वह तैयार नहीं. 'परतें' में एक ऐसी युवती के मनोद्वंद्व को अंकित किया गया है जो रूढ़ियों की जड़ता से उबरकर अपने पति के सामाजिक-राजनीतिक कार्य के लिए अपने को तैयार करती है. 'ठहरा हुआ सवेरा' में जनतंत्र और राजनीतिक स्वतंत्रता के उस नाटक का पर्दाफ़ाश हुआ है जहां बदलने की सारी घोषणाओं के बावजूद कहीं कुछ नहीं बदला है—सिवाय इसके कि कुछ अंग्रेज़ों के ढंग की नयी इमारतें बन गयी हैं और कुछ इमारतों और सड़कों के नाम बदल दिये गये हैं. सत्ता पाकर चमार नेता भी अपने लोगों के पसीने की बदबू से मुंह बिसूरने लगा है. सूखा से परेशान हाल लोगों की भीड़ देखकर अगर रात में उसकी नींद टूट जाती है, तो इस बात से उसे राहत भी मिलती है कि रात अभी काफी बाकी है. राहत इसलिए कि सवेरे की आमद स्वयं उस जैसे लोगों के अस्तित्व के लिए खतरा साबित होगी. लेखिका की सोच ही नहीं, स्वयं कहानी भी इस तथ्य को बड़े सहज ढंग से रेखांकित कर सकी है. □

चर्चित पुस्तक

खुले आकाश के नीचे

■ नमिता सिंह

भाषा प्रकाशन, पश्चिमपुरी, नयी दिल्ली.

मूल्य : 12 रुपये

हलचल

व्यंग्य : विधा या प्रवृत्ति?

पिछले दिनों राजधानी की साहित्यिक संस्था 'दिशाबोध' की ओर से सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार रवींद्रनाथ त्यागी की अध्यक्षता में प्रेम जनमेजय की सद्यः प्रकाशित व्यंग्य पुस्तक 'राजधानी में गंवार' पर एक गोष्ठी आयोजित की गयी. संयोजन दिविक रमेश ने किया. इस गोष्ठी में चर्चा केवल प्रेम की पुस्तक तक ही सीमित न रह कर 'व्यंग्य विधा है या प्रवृत्ति' तथा 'आज की घटिया समीक्षक-मनोवृत्ति' आदि प्रश्नों तक विस्तृत हुई. सुधीश पचौरी ने आज के उन समीक्षकों पर प्रहार किया जो गुटों की मानसिकता से संचालित होकर उठा-पटक करते रहते हैं, उन्होंने व्यंग्य को स्वतंत्र विधा न मान कर प्रवृत्ति मात्र माना जो किसी भी साहित्यिक विधा में उभर सकती है. प्रेम की रचनाओं को उन्होंने समाजोन्मुखी माना हालांकि उनके अनुसार इन रचनाओं में आयी 'साइड कमेंट्स' देने की पद्धति दोषों के अंतर्गत ही आती है. शेरजंग गर्ग ने प्रेम में सामाजिक विसंगतियों को उकेरने की शक्ति स्वीकार की. हरीश नवल को यह संग्रह आशाओं से भरा-पूरा लगा. डॉ. हरदयाल को इस संग्रह की बहुत सी रचनाएं अस्वाभाविक लगीं, तो भी 'मनुष्य और ठग' उन्हें एक 'परफेक्ट' रचना प्रतीत हुई. डॉ. विनय के अनुसार व्यंग्य फिलहाल पद्धति ही है. 'विधा' का दर्जा अभी उसे दिलाना होगा. प्रेम के भीतर उन्हें एक अच्छे कहानीकार का आभास हुआ. अवधनारायण मुद्गल को इन रचनाओं में 'पुनरावृत्ति' दोष नज़र आया. डॉ. राजकुमार शर्मा ने 'हास्य' और व्यंग्य के अंतर को विस्तार से समझाया तथा अब तक के व्यंग्य-लेखन पर एक दृष्टि दी. प्रेम के व्यंग्य उन्हें सही समझ से परिपूर्ण लगे. सुरेश कांत ने भी 'हास्य' और 'व्यंग्य' में अंतर माना. उनके अनुसार प्रेम ने इस अंतर को समझा है. रमेश बत्तरा को ये व्यंग्य प्रभावशाली नहीं लगे चाहे किसी हद तक वे हंसा भले ही दें. व्यंग्य का वस्तुगत चरित्र भी उनके अनुसार स्पष्ट नहीं है. नरेंद्र निर्मोही ने 'व्यंग्य' का काम केवल हंसाना नहीं माना. 'मनुष्य और ठग' को उन्होंने अच्छी कृति माना. इनके अतिरिक्त सुरेश उनियाल, जगदीश चंद्रिकेश ने भी टिप्पणी की.

अध्यक्षीय वक्तव्य में श्री रवींद्रनाथ त्यागी ने व्यंग्य के विरुद्ध व्यक्त किये गये विचारों पर अपनी असहमति व्यक्त की. उन्होंने कहा कि प्रेम जनमेजय की यह पहली पुस्तक है और इसी परिप्रेक्ष्य में इस पर विचार किया जाना चाहिए था. इसमें अभिव्यक्ति की कमज़ोरियां हो सकती हैं. लेकिन लेखक ने ईमानदारी से लिखा है. उनके अनुसार प्रेम में हास्य की अपेक्षा व्यंग्य अधिक है. □

प्रस्तुति : दिविक रमेश

बायें से: विनय, हरीश नवल, सुधीश पचौरी, नरेंद्र कोहली, प्रेमजनमेजय, रवींद्रनाथ त्यागी, दिविक रमेश, अवधनारायण मुद्गल, शेर जंग, विनोद शर्मा, श्रीकृष्ण, रमेश बत्तरा

नागार्जुनः कविता का स्वर उद्घाटन

एक कविता या[...]

शाहजहांपुर की सार्थक नवले[...] साहित्यिक संस्था 'अनामिका' [...] दिनांक 30 दिसंबर, '78 से 1 ज[...] '79 तक स्थानीय गांधी भवन [...] कविता यात्रा' शीर्षक से कविता[...] प्रदर्शनी प्रस्तुत की गयी, जिसके [...] आधुनिक चित्रकला तथा लघु [...] प्रदर्शनी का भी आयोजन किया[...] कविता-पोस्टरों का चित्रांकन युवा [...] कार श्री चंद्रमोहन दिनेश तथा [...] रस्तोगी ने किया.

उक्त अवसर पर श्री नागार्जुन [...] कि "यह कविता-पोस्टर-प्रदर्शनी [...] में 'अनामिका' का पहला तथा एक [...] प्रयास है. इन पोस्टरों पर अंकित [...] आम कवि-सम्मेलनी कविताओं [...] अलग हैं तथा आम आदमी [...] जुड़कर उसकी बात उसकी ही [...] कहती हैं." पटना से आये हुए ज[...] के प्रखर कवि कुमारेंद्र पारसनाथ [...] इस आयोजन को अत्यंत स[...] सार्थक बताते हुए जन-सामान्य त[...] का एक सही माध्यम बताया.

इस प्रदर्शनी में 'निराला' [...] आज तक के कवियों की प्रमुख[...] रचनाओं को सचित्र अंकित [...] था. प्रदर्शनी में हिंदी के सम[...] कारों सर्वश्री निराला, भवानीप्र[...] अज्ञेय, धर्मवीर भारती, रघुवी[...] सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, गजान[...] मुक्तिबोध, धूमिल, दुष्यंत [...] रचनाएं प्रदर्शित की गयी थीं.

प्रस्तुति : चंद्रमो[...]

पाक्षिक सारिका

मई : अंक-१

क्या आप हररोज़ का कामकाज
फिरसे करने को उत्सुक हैं?
ग्लैक्सोज़-डी® आपको तुरन्त शक्ति
देकर थकान मिटाता है।
ग्लैक्सोज़-डी से आप घर के काम-काज के लिए तैयार हो जाती हैं। क्योंकि ग्लैक्सोज़-डी आप को वह भरपूर शक्ति देता है, जो आप को थकान के बाद फिर से चुस्ती-फुर्ती के लिए चाहिए। डॉक्टरों की सिफारिश पाने वाला ग्लैक्सोज़-डी बहुत उच्च कोटि का ग्लूकोज़ है जो विटामिन-डी, कैल्शियम और फॉस्फरस से युक्त है।
ग्लैक्सोज़-डी आप की थकान मिटाता है और आप को ऐसी शक्ति देता है कि आप मज़े से घर का काम-काज करती रहती हैं।
ग्लैक्सोज़-डी®
सारे परिवार के लिए
तुरन्त शक्ति का साधन
dCA/GL/54/HN/Rev

आवरण : बी. प्रभा

कहानियों और कथा-जगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष १९; अंक : २४२;
१ से १५ मई, १९७९

साक्षात्कार

कहानियां

मील का पत्थर

धारावाही उपन्यास

विशेष

अन्य आकर्षण

संपादक :
कन्हैयालाल नंदन

मुख्य उप-संपादक :
अवधनारायण मुद्गल

उप-संपादक :
रमेश बत्तरा, सुरेश उनियाल

सज्जा : रवि शर्मा

नरेश मेहता: खच्चर और प्रतिबद्धता

सारिका के माध्यम से श्री नरेश मेहता से साक्षात्कार हुआ. उनके व्यक्तित्व को लेकर अभी तक जो थोड़ा बहुत भ्रम था, वह भी पूरी तरह दूर हो गया. अनेक अंतर्विरोधों से ग्रस्त नरेश जी के वक्तव्य उनकी समझ और सोच पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं.

नरेश जी की नज़र में, 'कम्युनिस्ट आदमी को पसंद नहीं करते, उन्हें बोझ ढोने वाले खच्चर चाहिए.' बिल्कुल ठीक समझा है उन्होंने, कम्युनिस्ट आखिर उन 'खच्चरों' का समर्थन तो करेंगे ही जो नरेश जी के तथाकथित 'आदमी' की शोषकीय प्रवृत्ति का शिकार हैं.

नरेश जी के अनुसार 'प्रतिबद्धता हाईली पोलिटिकल वर्ड है'. अच्छा होता, यदि वे यह भी बतला देते कि अनपोलिटिकल क्या है? क्या 99 प्रतिशत हिंदी लेखकों को लेखक मानने से इनकार करना अनपोलिटिकल है? 'राम' को जनता से छीनने की बात करना और उनके लिये अनाम रूप से गीत लिखने की इच्छा रखना, क्या एक तरह की पालिटिक्स ही नहीं है? 'खच्चरों' की प्रतिबद्धता को नकार कर मनुष्यता और मिट्टी से जुड़ने की इच्छा रखना भी पालिटिक्स का ही तो हिस्सा है.

▣ **अनिल जनविजय, दिल्ली**

भारतीय व्यंग्यकार अच्छा लिख रहे हैं

इस वर्ष सारिका द्वारा 'व्यंग्य विशेषांक' की अचानक घोषणा/योजना और अंक देख/पढ़कर सुखद आश्चर्य हुआ. यों तो सभी पत्रिकाओं के व्यंग्य विशेषांक होली के अवसर पर निकलते हैं लेकिन उनकी सीमाएं प्राय: फलां जगह की होली/जैसे लेख, कैसे कैसे खेली हमने होली/जैसी परिचर्चाओं तक ही हैं गोया ये ही व्यंग्य की पराकाष्ठा हो. लेकिन 'व्यंग्य विशेषांक' के माध्यम से 'सारिका' द्वारा समकालीन गंभीर-सटीक व्यंग्य साहित्य को प्रकाशित करने का प्रयास नि:संदेह एक मिसाल है.

प्रस्तुत अंक की उल्लेखनीय रचनाएं रवींद्रनाथ त्यागी, शरद जोशी, अशोक शुक्ल, और नरेंद्र कोहली की हैं जो रोज़मर्रा के जीवन से संबंधित छोटी-छोटी घटनाओं पर भी चाशनी से सराबोर व्यंग्य के छींटे देने से नहीं चूकती. अंजनी चौहान के कुत्तों के प्रसंग के लिए अंजनी भाई को साधुवाद कि उन्होंने उस प्रसंग को छेड़कर कई तरह के कुत्तों का पर्दाफाश किया है.

अंक की उर्दू और विदेशी रचनाओं के अनुवादों ने निराश किया है और इन्हें पढ़कर यह निश्चित लगा कि भारतीय व्यंग्यकार कहीं अधिक अच्छा लिख रहे हैं अत: और भारतीय व्यंग्य रचनाओं का समावेश क्यों नहीं? उम्मीद की जानी चाहिए कि कम से कम सारिका व्यंग्य साहित्य के साथ अन्य पत्रिकाओं की भांति सौतेला व्यवहार नहीं करेगी और अपने प्रत्येक अंक में 2 या 3 व्यंग्य रचनाओं का समावेश करेगी.

▣ **श्रीराम आयंगार, शहडौल, म. प्र.**

दस सेकंड के लिए भी नहीं

'संवाद : **'जूनूं में एक शाम'** आपने नामों का उपयोग किया, संवाद का नहीं. आप क्या करें...! ...श्री श्रीलाल शुक्ल, श्री लोचन बख्शी की कहानियां बहुत अच्छी हैं..... **घोड़े का नाम घोड़ा** में दो भूलें रह गयी हैं. घोड़ा...अपनी नस्ल के बारे में कुछ नहीं कहता! ... घोड़े को घोड़ियों का 10 सेकेंड के लिए भी ख्याल नहीं आता...ताज्जुब है, इतनी बारीक बुनावट में ये दो छिद्र कैसे रह गये? मार्च : अंक-दो बधाई देने लायक है. पिछले किसी अंक में श्री रमानाथ अवस्थी का जोशीजी पर स्केच पढ़ा था, अति उत्तम था.

▣ **ललित, औराई, वाराणसी**

जब से घूमी है ज़मीं...

सारिका के व्यंग्य विशेषांक में अंतिम पुस्तक (आखिरी किताब) भूगोल के पाठ को पढ़ा. गैलीलियो ने पृथ्वी के चारों तरफ सूर्य चंद्रादि के घूमने की मान्यता निर्मूल प्रमाणित किये... पर एक शेर याद आ गया.

आसमां गर्दिश में था जो पुरसुकूं...

जबसे घूमी है जमीं, हर ... चक्कर में

▣ **सुरेश चतुर्वेदी, लखनऊ**

मुखपृष्ठ और मर्दुमशुमारी

हिंदुस्तान की जनसंख्या में, जितने पुरुष हैं उतनी महिलाएं भी. यदि आपकी मंशा मात्र पुरुषोचित आकांक्षाओं को तृप्त करना है, तो ठीक है. आकर्षण विपरीत लिंगों में होता है. इस नाते ... पाठकों का भी ध्यान रखें. उनके लिए पुरुषों को भी मुखपृष्ठ पर स्थान ...

▣ **बी. एल. साहू, सिवनी (म. प्र.)**

मखमल के पैबंद

'सारिका' का कलेवर जितना ... आप ढाल रहे हैं उसकी आत्मा को भी उतना ही महत्त्व दें तो क्या ही ... लेकिन यह तब होगा जब आप ... देखेंगे 'बनिया' नहीं. उतनी फूहड़ ... नियों पर उतना सुंदर चित्रांकन ... मखमल के पैबंद जैसा है.

▣ **संजीव, कुलटी**

एक निवेदन और

'सारिका' को अपने ... विज्ञापित करने के बारे में ... पूर्वक विचार करना चाहिए. जनसाधारण अपने जीवन की तस्वीरें 'सारिका' ... आईने में देखना चाहता है.

एक निवेदन और... हास्य ... प्रसंग सिर्फ बुद्धिजीवियों की ... है. जनसाधारण की अभिव्यक्ति ... करने वाली पत्रिका को ऐसे ... सामान्य जन जीवन से भी ... चाहिए.

▣ **मोहम्मद आदिल, म. प्र.**

सरा आयाम

ारिका का मार्च अंक–2 देखा! काफी तराल के बाद आवरण पृष्ठ अच्छा गा! शृंगार-सौंदर्य के विपरीत नारी एक दूसरे आयाम को प्रतिबिंबित रता है. धीरेंद्र अस्थाना की कहानी **ोच का आदमी**' एक सांस में पढ़ गया कथानक की गति भी यही है! कहानी ीं वरन् विचार-यात्रा है, जो आज का क्षित युवा हर रोज पूरी करता दिखता मध्यवर्गीय युवा-चेतना से यह खुली तचीत कहीं गहरे मन को छूती है.

▣ विजी रावल, कानपुर

बुनियाद शिकायत

वरी अंक–2 की 'सारिका' में त दिनों बाद कुछ अच्छी कहानियां े को मिलीं. सबसे महत्त्वपूर्ण तो ुम सिद्धार्थ की **ब्लेक आउट** ही . पिछले कुछ सालों से इनकी जो ानी दिमाग में अटकी हुई है वह है **पुरुषों की वापसी.** बहरहाल, होटल सारी घटना, सोल्जेनित्सिन के किसी ट-मेयर जैसी अयथार्थ होते हुए भी वशाली है जिसमें नेता को कम्मिसार भूमिका दे दी गयी है. यह कहानी वातावरण के लिए इस शीर्षक को करती है. दूसरी बंगलाक्रांत नरेश ता की **आबार एशो.** बहुत दिनों बाद जी की यह रचना मुझे अच्छी लगी. नरी घपलों को छोड़कर मैं उनकी ता का प्रेमी हूं. मगर इसी काव्य- नी के कारण कहानियां गले नहीं र पाता. तीसरी कहानी आशीष की है. इसलिए इन तीनों को मेरी से बधाई पहुंचा देना.

ाशा है स्वस्थ और सानंद हो.

: इधर दो और महत्त्वपूर्ण कहानियां को मिलीं. मार्च 'सारिका' में राज किशोर की **घोड़े का नाम घोड़ा** संचेतना में मुंजुल भगत की 'मृत्यु ओर' मेरा ख्याल है कि अगर तीन- महीनों में तीन-चार कहानियां भी तर की मिल जायें तो यह शिकायत बेबुनियाद हो जाती है कि आजकल कहानियां नहीं लिखी जा रहीं.

प्र. राजेंद्र यादव, दिल्ली

मिट्टी की गंध

बाल्यकाल में मईया के मैले आंचल से आती हुई ममतासिक्त गंध युवावस्था में 'हीराबाई' की चुनरी से आती हुई इत्र की मादक खुशबू और अंतकाल में चेतना को लुप्तप्राय-से करते, अस्पताल में 'एनास्थेटिक' के तेज भभके. कितनी-कितनी गंधों को 'रेणु' ने महसूस किया था, भोगा था. जब उसकी साहित्यिक यात्रा शुरू हुई तो वह जीवंत पात्रों का एक काफिला लेकर, धूल उड़ाता, नग्मे गाता चल पड़ा. कामयाबी के कई मकाम उसने तय किये परंतु अंत तक वह अपनी मिट्टी से जुड़ा रहा. उसकी रचनाओं में उसी मिट्टी से सने शब्दों की गंध है. कुछ लोग पूछते हैं कि उन्होंने ऐसे शब्द इस्तेमाल किये जो 'डिक्शनरी' में नहीं हैं. मां रोते हुए बच्चे को प्यार से चुमकारती है और बच्चा चुप हो जाता है.—मां के मुंह से निकले वे शब्द किस 'डिक्शनरी' में हैं? क्या लिखा है उसका अर्थ? परंतु बच्चा चुप हो गया, क्योंकि मां के शब्दों को समझने से ज्यादा उसने उन्हें महसूस किया. अंग्रेजियत से रंगे हुए ये लोग जो बोतल का दूध पीकर बड़े हुए हैं—मां के दूध का स्वाद क्या जानें? आयाओं की गोद में खेलकर बड़े हुए लोग—मां का चुमकार क्या समझें? यहां तो—

> किस शान से जगमग कपड़ों में
> आसीन विदेशी छैला है.
> 'बेदी' की चादर मैली सी 'रेणू'
> का आंचल मैला है.

'सारिका' को आखिर 'हिरामन' की याद आ ही गयी. शत-शत बधाई.

▣ देव नारायण सिंह, अलीगढ़

जीवन की फिल्म

और आखिरकार 'सारिका' का 'रेणु-स्मृति अंक' आ ही गया. जिसका मैं महीनों से इंतजार कर रहा था. यह आपके कुशल संपादन का कमाल है कि पढ़ते हुए ऐसा महसूस हो रहा था मानो रेणु के जीवन पर बनायी गयी कोई फिल्म हो. 'रचनाकार की विरासत' (?) में समाज की जिन दुर्बलताओं पर आपने प्रकाश डाला है, वह हमारी अस्वस्थ मानसिकता को सोचने को विवश कर देती है. 'प्रण' ही रेणुजी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि हो सकती है. इस संग्रहणीय अंक के लिए आपको इस विद्यार्थी का हार्दिक धन्यवाद!

▣ राकेश शर्मा, म. प्र.

गुलफ़ाम ज़िंदा है

'सारिका' रेणु-स्मृति अंक में प्रकाशित हर एक रचना काफी अच्छी है. इस पत्र के माध्यम से अनेकानेक धन्यवाद!

'रेणु' के संबंध में दी गयी जानकारी रुचिकर है, किंतु उनकी बीमारी के बारे में पढ़कर बहुत दुख हुआ. रचनाकार की विरासत "अब सोचती हूं तो लगता है. . . से लेकर 'एक गुलफाम जो हिंदी कथा-साहित्य में आज भी ज़िंदा है." तक पढ़ने में हृदय छलनी होता चला गया. तब की वह गर्जना, "मैं फणीश्वरनाथ रेणु हूं. पहचाना या नहीं?" मैंने तो सुनी नहीं, केवल 'सारिका' में पढ़ी है लेकिन बावजूद इसके अभी तक मेरे कानों में गूंज रही है.

▣ शरद नारायण नीमें, मंदसौर, म.प्र.

भावी शोध के लिए

'रेणु-स्मृति अंक' आज ही आया है यहां. कुछ चीजें पढ़ी हैं. इतनी मेहनत, इतनी लगन और इतना क्षमतावान संपादन: संपादकीय टिप्पणी की साफ और सुनिश्चित बातें. . . बधाई! अंक भावी शोध के लिए बेहद उपयोगी रहेगा.

▣ ओम प्रभाकर, भिंड

रेणु-स्मृति अंक पर देश के हर कोने से अपने सुधी पाठकों के इतने अधिक प्रशंसा पत्र मिले हैं और प्रतिदिन मिलते जा रहे हैं कि यदि हम पत्र लिखने वाले पाठकों के सिर्फ नाम ही प्रकाशित करें तो इस स्तंभ की समूची पृष्ठ सीमा भी इस काम के लिए छोटी पड़ जायेगी. हम अपने उन सभी पाठकों के प्रति कृतज्ञ हैं. अगले अंक में हम उनमें से अधिक से अधिक पत्र प्रकाशित करने की कोशिश करेंगे.–(सं.).

ये खूनी रात के मंजर

मुझे लगने लगा है कि यह वर्ष अंतर्राष्ट्रीय फांसियों का वर्ष है. पिछले कुछ महीनों के अखबार किसी-न-किसी देश के किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को फांसी पर लटकाने या गोली मारकर खत्म कर दिये जाने की खबरों से रंगे पड़े हैं. ऐसा नहीं कि यह कोई नयी बात हो. आदिम काल से अस्तित्व, सत्ता और व्यवस्था के नाम पर ऐसा होता आया है. मुझे 'सरवाइवल आफ द फिटेस्ट' वाले सिद्धांत से कुछ ऐसी ही स्थितियों का आभास मिलता रहा है, जिसे शायद कुछ स्वार्थी 'शक्ति समूहों' से जोड़ कर 'सार्वभौम और शाश्वत सत्य' के रूप में प्रतिष्ठित मान लिया गया. समूचा मानव इतिहास आदिकाल से लेकर आज तक मात्र 'सत्ता और शक्ति समूहों' के गिर्द घूम रहा है. यह सही है कि 'दंड' और 'पुरस्कार' किसी भी व्यवस्था के लिए निहायत जरूरी चीजें हैं लेकिन उनसे भी जरूरी चीज है इंसानी ज़िंदगी. किसी को जिंदगी देना बहुत बड़ी बात है और उससे भी बड़ी बात है इंसान में उस जिंदगी के सही इस्तेमाल का माद्दा पैदा करना. सही इस्तेमाल और सुधार का अवसर दिये बगैर किसी से ज़िंदगी छीन लेना आज के सभ्य और विकसित कहे जाने वाले समाज के लिए किसी भी नजरिये से फख्र की बात नहीं हो सकती. मात्र "दंड

और पुरस्कार' के सहारे चलने वाले समाज और गले में चारे की बाल्टी लटकाकर डंडे के सहारे हांके जाने वाले बैल में कोई फर्क नहीं होता. यह फर्क तब तक नहीं हो सकता जब तक उनमें दुख-दर्द के एहसास और मानवीय संवेदनाएं न जुड़ जायें.

व्यक्ति, समूह या देश की मानसिकता से मानवीय संवेदनाएं जितनी कम होती जायेंगी, 'फांसियों' और 'हत्याओं' की स्थितियां उतनी ही ज्यादा पैदा होती जायेंगी. सवाल यह नहीं है कि फांसी किसे दी गयी या किसकी हत्या की गयी, सवाल यह भी नहीं है कि फाँसी या हत्या क्यों हुई? सवाल यह है कि क्या इंसानी अक्ल इतनी बोदी और कुंद हो गयी है कि अमन और चैन अथवा सुधार के लिए कोई और तरीका, कोई और रास्ता तलाश नहीं सकती? यह इंसानी अक्ल का ही

कमाल है कि सजाये-मौत नये तरीके बड़ी आसानी होते रहे. पत्थरों से तीर-तलवार या कटार जमीन में आधा गड़वाकर कुत्ते छोड़ना, हाथी के पांव डालना, दीवार में चिनवा शूली चढ़ाना (भालों या किसी चिकनी, नुकीली बैठा देना), पहाड़ से खौलते तेल या आग में तोपदम करना, गोली गैस चेंबर में बंद कर देना के फंदे में लटका देना या कुर्सी पर कस देना... भी कितनी यातना प्रक्रिया जिनका हमें और आपको तक नहीं हो सकता. लेकिन इंसानी अक्ल कोई ऐसा रास्ता ईजाद नहीं कर सकी सहारे आदमी को इस और शर्मनाक सजाये-मौत इंसानी हादसे से बचाया

यह सही है कि आज दुनिया के इंसानियतपसंद सजा के खिलाफ आवाज हैं. कुछ सत्ताकेंद्रों और रा हदों से भी ऐसी आवाजें हैं. लेकिन लगता है कि नक्कारखाने में तूती की से ज़्यादा अहमियत नहीं

'सुख-शांति के लिए के हिमायती जब यह कहते सजा तो नहीं हटायी लेकिन 'मरने की तकलीफ कम करके मौत को और बनाया जा सकता है सजाये-मौत भोगने साइनाइट की सुई चुभो आदि—तब उनकी अक्ल भी आती है और रोना यह नहीं है कि आपने आसान मौत दी या मौत दी, सवाल यह है इंसान से उसका ज़िंदा बुनियादी हक छीना गया को बरकरार रखते हुए सजा दी जा सकती है!

कानून की नज़र में कोई छोटा-
ड़ा हो या न हो लेकिन मौत की
ज़र में निश्चित रूप से कोई छोटा-
ड़ा नहीं होता. मौत कुत्ता घसीटी
ी हो या शहादत की, बुनियादी
ौर पर उसका सीधा संबंध ज़िंदगी
टूट जाने का होता है और अक्सर
किसी एक ही ज़िंदगी से नहीं होता
ई ज़िंदगियों से होता है—वे
ज़िंदगियां चाहे परिवार की हों या
ाष्ट्र की. और किसी भी कानून
पास किसी खास ज़िंदगी का हल
हो सकता है लेकिन उससे जुड़ी
ई कई ज़िंदगियों का कोई हल नहीं
ोता. यही वजह है कि कभी-कभी
िसी एक व्यक्ति की हत्या या
ानूनी मौत कई मौतों का कारण
न जाती है. जैसा कि अभी हाल में
पने एक पड़ोसी देश में हुआ या
ये दिन तीसरी दुनिया के कई
ों में होता रहता है.

बात फिर वहीं—'अंतर्राष्ट्रीय
सियों' पर आ गयी. ये फांसियां-
हे पाकिस्तान में हुई हों, चाहे
ान में, चाहे फिलिस्तीन में या
ंडा में अथवा किसी अन्य देश में,
के अंतर्राष्ट्रीय प्रभावों को नज़र-
ाज़ नहीं किया जा सकता और
प्रभावों का सीधा संबंध इंसानी
ंदगियों से होता है.

मौत की दहशत और उस दहशत
दर्द एक भुक्तभोगी ही जान
ता है लेकिन वह उसे पूरी तरह
न नहीं कर सकता. सारिका ने
ने इसी अंक में पृष्ठ 52 पर एक
खों देखी फांसी' का दस्तावेज
त किया है. उस दस्तावेज से
बात तो स्पष्ट है कि जुनून में
ों की ज़िंदगियां छीनने वाला
भी जब अपनी ज़िंदगी को छिनते
महसूस करता है तब वह अपने
जुड़ी ज़िंदगियों के लिए तड़प
ा है. यही ज़िंदगियों के प्रति
मानवीय संवेदना पैदा करती
जितनी ज्यादा ज़िंदगियों के प्रति
होगी, उतनी ही मानवीय
इना अधिक व्यापक, विस्तृत
प्रभावकारी होगी. उसी व्यापक
और विस्तृत प्रभाव की संवेदना के
तहत हम आज भी ईसा, सुकरात
और गांधी के साथ जुड़े हुए हैं क्योंकि
उनकी तड़प दुनियाभर की ज़िंद-
गियों के लिए थी. मैं नहीं समझता
कि आज भी 'खून की सजा खून'
वाला जहांगीरी इंसाफ अपनी कोई
अहमियत रखता है.

▣

मौत की सजा के सिलसिले में ही
कुछ बातें और भी हैं जो मन को
कचोट रही हैं. जब भी वक्त आया
है सारिका ने उन बातों को उठाया
है. पिछले दिनों हमने जलते हुए
ईरान और सुलगते हुए अलीगढ़
की तस्वीरें पेश की थीं. मजहब
के नाम पर इंसानी नफरत की
पैदावार से सुलगती और हहराती
लपटें हिंदुस्तान में अक्सर नजर आ
जाती हैं. अलीगढ़, लखनऊ, संभल,
भिवंडी या जमशेदपुर, कहीं भी ये
लपक कर इंसानी ज़िंदगी पर टूट
पड़ती हैं और जब ये चिटक-चिटक
कर टूटती हैं तो हिंदू या मुसलमान,
सिख या ईसाई, अमीर या गरीब,
किसी में भेद नहीं रखतीं. इनमें
झुलसने वाला या जल मरने वाला
न हिंदू होता है, न मुसलमान, वह
सिर्फ इंसान होता है. इंसान जलता है
और इंसानियत के खूबसूरत चेहरे
पर फफोले फूटते हैं और वर्षों तक
इंसानी खून के जलने की बू, चमड़ी
की चिरांध पूरे माहौल पर छायी
रहती है और वह आग ठंडी भी नहीं
हो पाती कि एक रात फिर हमें
दिखाई देता है कि किसी गांव,
किसी कस्बे या किसी शहर के दामन
से फिर वही लपटें उठ रही हैं.
आखिर ये जहरीला धुआं उगलती
लपटें कब तक बेकसूर ज़िंदगियों
को 'सजाये-मौत' देती रहेंगी?
कोई राजनीतिक षड्यंत्र जब मौत
का यह घिनौना और शर्मनाक
खेल खेलता है तो सोचना लाजिमी
हो जाता है कि आखिर कब तक हम
ऐसी हत्यारी राजनीति के शिकार
होते रहेंगे?

बच्चे—जो मुल्क की अमानत
होते हैं, औरतें—जो देश की इज्जत
होती हैं, युवक—जो देश की हिफाजत
होते हैं और बूढ़े—जो गुजरे जमाने
का इतिहास होते हैं—सांस्कृतिक
दस्तावेज के चश्मदीद गवाह होते
हैं, कब तक इन सामूहिक हत्याओं
का शिकार बनते रहेंगे? हम नहीं
जानते कि यह सब करते हुए हम
किस सभ्यता, किस संस्कृति और
किस वैचारिकता का वहन करते हैं.
पता नहीं हम क्यों भूल जाते हैं कि
पहले हम इंसान हैं, बाद में कुछ और.

यह सब लिखते हुए मुझे मजाज
की याद आ रही है. एक बार मजाज
साहब किसी मुशायरे में गये थे.
मुशायरे के स्वागतद्वार पर लिखा
था—"मजहब के नाम पर लड़ना
हिमाकत है" इस इबारत को
पढ़ते ही मजाज साहब गमजदा
होकर बोले थे—"और हिमाकत
के नाम पर लड़ना मजहब है!"
सच, क्या ये दंगे किसी हिमाकत के
नाम पर नहीं हैं? क्या ये खूनी
रात के मंजर इंसानियत के चेहरे
पर खुद बदनुमा दाग नहीं हैं?
मैं बार बार सोचने पर मजबूर हो
रहा हूं—क्या कभी हम आदिम
इतिहास की आदमखोर काली
गुफाओं से बाहर निकल सकेंगे?
पता नहीं इंसानी ज़िंदगियों के लिए
ये 'सजाये-मौत' का लंबा सिलसिला
कब खत्म होगा? मैं सोचता हूं,
दिल से चाहता हूं और दुआ भी
करता हूं (अगर दुआओं का कुछ
असर होता हो तो) कि यह जल्दी
खत्म हो. . . . इसी आशा के साथ
सारिका का यह अंक सजाये
मौत के खौफनाक असर को झेलती
हुई इंसानी ज़िंदगियों के नाम
समर्पित है. (जमशेदपुर के खूनी
माहौल की आंखों देखी दंश-कथा
सारिका के जनः अंक एक में
प्रस्तुत की जायेगी.)

सब पाठक एक ही तरह के नहीं होते

साक्षात्कारों के क्रम में आशापूर्णा देवी, निर्मल वर्मा, अज्ञेय, मन्नू भंडारी, गाडगील, भगवती चरण वर्मा, भीष्म साहनी, राही मासूम रज़ा, कृष्णा नरेश मेहता तथा श्रीलाल शुक्ल के बाद इस बार साक्षात्कार कुंवर ना कवि-कथाकार कुंवर नारायण से यह बातचीत लखनऊ में उनके घर पर पहले 90 मिनट के कैसेट पर इसे रेकार्ड किया गया, फिर बाद में लगभग तक इसे संपादित-संशोधित किया गया. यानी हर सवाल-जवाब के पीछे सवाल-जवाब छिपे हैं. कुंवर नारायण अपने बचपन और युवावस्था के बहुत कम बात करते हैं. बहुत कोशिश करके ही उनसे इस बारे में कुछ सकता है. 'मीडिया-शाई' होने की वज़ह से वे टेपरेकार्डर या टेलीविज़न भी कोई बातचीत करने के लिए उत्सुक नहीं रहते. यहां प्रस्तुत बातचीत मेहनत करके आगे बढ़ायी जा सकी. पर कुंवर नारायण से किसी भी का सबसे बड़ा 'आनंद' इसी में है कि वे अपने काम में एक बार लग जाते उसमें पूरी तरह व्यस्त हो जाते हैं. उनके काम करने की जगह का वर्णन निक की प्रयोगशाला के ही शायद सबसे नज़दीक बैठता है. और यह भी इसी प्रयोगशाला की काटछांट के बाद पाठकों तक पहुंचायी जा रही है.

'कमान-कमर नवाब के झुके हुए
शरीफ़ आदाब-सा लखनऊ'
और उस लखनऊ में कुंवर नारायण
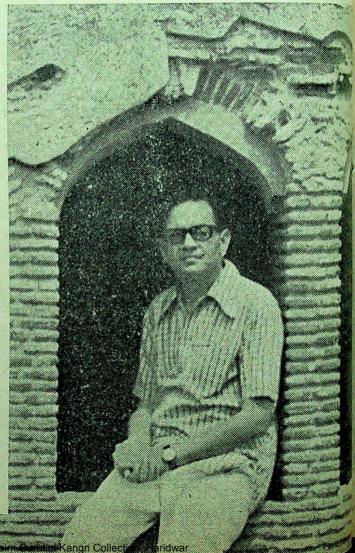
कुंवर नारायण से विनोद भारद्वाज की लंबी बातचीत

आपके बचपन के बारे में जानना चाहता था—बहुत शुरू की स्मृतियों के बारे में.

पारिवारिक जीवन के प्रति एक खास तरह कृतज्ञ महसूस करता हूं, आज भी. आरंभ में, साल भर के अंदर ही, सबसे पहले मां और फिर बड़ी बहन—जिनसे मुझे मां के न रहने पर बहुत सहारा मिला था—की असमय मृत्यु ने जिस तरह का भयानक आतंक और अकेलापन मेरे जीवन में भर दिया था उसे अगर एक सम्मिलित परिवार का सगापन न मिलता तो जीवन मानसिक स्तर पर बिखर भी जा सकता था. हम सब चचेरे भाई-बहन अपने बड़े चाचा के साथ लखनऊ में एक साथ रहे. इस साथ रहने ने मेरे अंतर्मन में साथ रहने के मूल्य को गहरे स्थापित किया. आज जो हम अपने सामाजिक जीवन में एक खास तरह का बेगानापन (एलियनेशन) अनुभव करते हैं उसके पीछे कहीं-कहीं पारिवारिक जीवन का टूटना भी एक कारण है. परिवार एक ऐसा परिवेश है जिसमें हम सबसे पहले परायी उपस्थिति को आत्मीय करके ग्रहण करना सीखते हैं.

बचपन में आपका व्यक्तित्व (मोटे तौर पर) बहिर्मुखी था अथवा अंतर्मुखी?

अंतर्मुखी और संकोची स्वभाव का था. इसीलिए स्कूली जीवन को लेकर कभी भी सहज नहीं हो पाया. आज भी, अक्सर चाहते हुए भी, आगे बढ़कर बहुतों के साथ आसानी से घनिष्ठ नहीं हो पाता. . .

बहुत शुरू में जो आपने किताबें पढ़ी हों—जो याद रह गयी हों, उन्होंने कैसा असर डाला था?

साहित्य में रुचि के साथ किताबों से अधिक कुछ व्यक्तित्वों की याद मन में ज्यादा है. पढ़ने-लिखने का शौक शुरू से ही था लेकिन घर में ऐसा वातावरण नहीं था कि इसको अधिक प्रोत्साहन मिलता—बल्कि कुछ विरोध-सा ही रहता था. मुझे सहारा मिला तो आचार्य नरेंद्रदेव और आचार्य कृपलानी की ओर से जिनका हमारे घर पर काफी आना जाना था. उन दिनों नरेंद्रदेव जी ने अप्टन सिंक्लेअर के 'वर्ल्ड्स एंड' सीरीज के उपन्यास पढ़ने को कहा था जो मुझे बहुत पसंद आये थे. इंटर के बाद बीमारी के कारण पढ़ाई छोड़कर एक वर्ष नरेंद्रदेव जी के साथ जुड़ा रहा. उनसे बौद्ध-दर्शन से लेकर मार्क्सवाद पर बात सुनना अपने आप में एक अनुभव भी था और शिक्षा भी.

इस बीच आपको ऐसा भी लगता था कि आपको कुछ लिखना है?

एम.ए. मैंने अंग्रेजी में किया था, पर उस समय तक मैंने यह नहीं सोचा था कि कभी साहित्य लिखूंगा. रघुवीर सहाय एम.ए. में मेरे साथ पढ़ते थे. उन दिनों अज्ञेय का 'हरी घास पर क्षण भर' निकला था—शायद रघुवीर ने उसकी कुछ कवितायें मुझे पढ़कर सुनायी थीं. तब लगा था कि मेरी रुचि इस दिशा में हो सकती है. वैसे अंग्रेजी में कुछ कविताएं मैंने यूनिवर्सिटी के दिनों में लिखी थीं.

आलोचना-लेखन का काम आपने कब शुरू किया. 'युगचेतना' के दिनों में आपने कई संपादकीय अपने नाम से दिये ही थे.

जहां तक याद पड़ता है 1954 में छायावाद के प्रमुख चार कवियों के चार अध्ययन अंग्रेजी में लिखे थे जो उस समय छपे भी थे. उसके बाद 'युगचेतना' में संपादकीय तथा अन्य प्रकार के समीक्षात्मक निबंध भी लिखता रहा. यह जरूरत पत्रिका निकालने के साथ जुड़ी थी. लेकिन उसके बाद भी समीक्षा में रुचि बनी रही और जब भी मन लायक विषय, या पुस्तक, मिल जाती तो समीक्षा लिखना सार्थक लगता था.

'युगचेतना' के दिनों में साहित्यिक-राजनीतिक वातावरण के बारे में कुछ बतायें. वह आपको आज के वातावरण से किस तरह से भिन्न लगता है?

तब और आज की राजनीति को दो तरह से सोचा जा सकता है : एक तो, राजनीतिक विचारों को केंद्र में रख कर, और दूसरा व्यावहारिक राजनीति की नैतिकता को. समाजवाद के विचार-पक्ष पर उस समय गहरा चिंतन होता था, उसके अनेक महत्वपूर्ण पहलू थे जिन पर वाद-विवाद होते थे. यशपाल जी के घर पर संघ की बैठकें हुआ करती थीं जिनमें मार्क्सवादी, अर्ध-मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी सभी तरह के लेखक शामिल होते थे और खुलकर बातचीत होती थी. . . आज हम साहित्य पर जिस किस्म की राजनीति का दबाव महसूस कर रहे हैं, या यों कहें कि राजनीति के मार्फत जिस प्रकार की मानसिकता का दबाव महसूस कर रहे हैं वह मुझे आश्वस्त नहीं करता. राजनीति साहित्य के लिए खतरा हो इससे ज्यादा खतरनाक यह बात है कि साहित्य उसके लिए प्रासंगिक ही न रह जाये. साहित्य के लिए यह एक तरह की सांस्कृतिक बर्बरता से सामना है कि एक देश की राजनीति में उसके लिए किसी प्रकार की वैचारिक चुनौती न बचे. गांधी, नेहरू, नरेंद्रदेव, लोहिया आदि का चिंतन अगर एक स्तर पर राजनीति के लिए महत्व रखता था तो दूसरे स्तर पर साहित्य के लिए भी.

उन दिनों मार्क्सवाद के प्रति आपका आकर्षण था. उस आकर्षण के पीछे क्या कारण थे?

एक विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद के कई पक्षों ने मुझे आकर्षित किया है—अब भी करते हैं और उन पर बराबर सोचता रहता हूं. लेकिन मार्क्सवाद की राजनीति
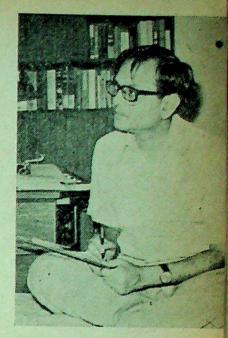
लेखकीय प्रयोगशाला और लेखक

बहुत आश्वस्त नहीं करती. मार्क्सवादी दर्शन को देश की राजनीति से अलग करके सोचना जरूरी है. रूस या चीन या कोई भी देश जिन तरीकों से मार्क्सवाद को अपने यहां लाता है उन तरीकों का अध्ययन मार्क्सवाद के अध्ययन से अलग बात है. एक विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद ने लगभग सभी देशों के सामाजिक-आर्थिक चिंतन पर गहरा असर डाला है, लेकिन रूसी या चीनी राजनीति ने बिल्कुल भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं को भी जन्म दिया है.

उन्हीं दिनों आप सोवियत संघ भी गये थे और जिन लोगों के साथ गये थे उनमें से अधिकांश साम्यवाद से प्रभावित लेखक थे. उस विदेश-यात्रा ने आप पर किस तरह का असर डाला था?

लेखक के लिए वहां लोगों के मन में विशेष आदर और आशा का भाव था—यह आश्वस्त भी करता था और उत्साहित भी—लेखक होना वहां मुझे पहली बार एक जिम्मेदारी और आकर्षण दोनों लगा. पोलैंड में कई लेखकों से मिलना हुआ. इस बात पर काफी बहस होती थी कि मास्को द्वारा तालस्तोय, दोस्तो-

व्स्की, काफ्का जैसे लेखकों को न छापना कहां तक उचित है! इनका लेखन अपने समय का, मानव-स्वभाव का मूल्यवान दस्तावेज़ है—इस सबूत को रोशनी में ही न आने देना कहां तक जायज़ है! साहित्य अपने समय का गवाह और समीक्षक होता है. उसका काम राज्य की तरफदारी करना नहीं, अपने समय को सही-सही प्रतिबिंबित करना है. साहित्य की सुरक्षा और स्वतंत्रता दोनों ज़रूरी है. उस गवाह को तोड़ने या भ्रष्ट करने की कोशिश, या उसे डराने-धमकाने की कोशिश एक व्यवस्था के इरादों और नेकनीयती में शक पैदा करता है. अगर एक व्यवस्था साहित्य या विचारों की स्वतंत्रता से डरती है तो यह डर ज़रूर कहीं न कहीं उसकी अपनी कमज़ोरी या खोट, या दोनों, को प्रकट करता है.

आपने एक बार बताया था कि पोलैंड में नाजिम हिकमत से आप मिले थे.

पोलैंड में सबसे अधिक समय रहा और वह कई मानों में मेरे लिए सुखद और महत्वपूर्ण रहा. वहां मुझे लगा कि लोग मुझसे अधिक घनिष्ट और खुले रूप से मिले. उन्हीं दिनों वहां नाजिम हिकमत वार्सा आये हुए थे. कुछ समय पहले ही जेल से छूटे थे. उनके व्यक्तित्व की और कविताओं की बहुत चर्चा थी. मेरे वहीं के एक मित्र श्री त्रेपका ने नाजिम हिकमत से मेरी मुलाकात करायी. वहीं पाब्लो नेरूदा से भी एक उड़ती-सी मुलाकात हुई थी, लेकिन हिकमत के साथ काफी समय बिताने का मौका मिला—जो मेरे लिए उस उम्र में माने रखता था. कॉफी हाउस में, बाहर भी, उनसे अक्सर बात होती रहती थी, दुभाषिये द्वारा. लेकिन उनका बात करने का ढंग, उत्साह और आशावादिता मुझे बहुत आकर्षित करती थी. अब भी याद हैं उनके भारी मज़बूत किसानी हाथ और बात करते समय दूसरे के हाथों को थपथपाना.

किसी रचना के बौद्धिक होने के बारे में—खास तौर से इस टिप्पणी को ध्यान में रखते हुए कि 'बौद्धिक कवि, कवि नहीं होता'—आप किस तरह से सोचते हैं? आम तौर पर किसी कविता को लिखते वक्त क्या आप एक विचार या विचारों को भी ध्यान में रखते हैं?

कविता में बौद्धिकता को मैं इतनी अलग चीज़ नहीं मानता. बौद्धिकता अगर एक कवि के व्यक्तित्व का स्वाभाविक हिस्सा है तो वह कविता के व्यक्तित्व का भी स्वाभाविक हिस्सा हो सकती है. बौद्धिकता को एक खोल की तरह कविता पर चढ़ाना दूसरी बात है. मैं विचार को प्रमुख रख कर कविता नहीं लिखता, पर कविता विचार-प्रमुख हो भी सकती है क्योंकि एक शब्द, या एक बिंब, या एक शि[illegible] या एक मन:स्थिति, शुरुआत हो [illegible] कविता में रूपबद्ध होने की प्रक्रिया [illegible] किसी एक विचार तक पहुंचे उसी [illegible] जैसे वह अगर एक भावना तक पहुं[illegible] है तो आप उसे कविता मानते हैं [illegible] भी हो सकता है कि वह कहीं त[illegible] पहुंचे, कविता में केवल एक आ[illegible] रास्ता बनाकर ही रह जाये—तो [illegible] इस रास्ते को भी एक तरह की कवि[illegible] ही मानूंगा. इसी लिए मैं बौद्धिकता [illegible] भावुकता में कोई कठिन विभाजन [illegible] करता—उन्हें एक दूसरे में [illegible] मानता हूं. जैसा टी.एस. एलिअट ने [illegible] 'फेल्ट थॉट' की बात कही है, या [illegible] ही सी बात रॉबर्ट लॉवेल ने भावना [illegible] प्रमुख रखकर कही थी कि—'भा[illegible] भी (बौद्धिकता की ही तरह) [illegible] छोटा-मोटा विषय नहीं है, बशर्ते कि [illegible] जानें कि उसे हम एक कविता की संर[illegible] में कहां और कैसे रख रहे हैं... जैसे [illegible] पत्ती होती है, उसकी रीढ़ मज़बूत [illegible] चाहिए लेकिन उसके किनारे नरम [illegible] चाहिए. अगर हम रीढ़ को नरम [illegible] दें और उसके किनारों को पक्का [illegible] मज़बूत तो उस पत्ती का पत्तीपन [illegible] समाप्त हो जायेगा.' इसी तरह एक कवि[illegible] में, मुझे लगता है, बौद्धिकता और [illegible] कता का आपेक्षिक महत्व खास [illegible] रखता है, न कि उनमें से किसी एक [illegible]

किसी शौकीन और हाय किसी बेनियाज का लखनऊ/यही है किब्ल:/हमारा और आपका लखनऊ...
कुंवर नारायण : दो विचार मुद्राएं
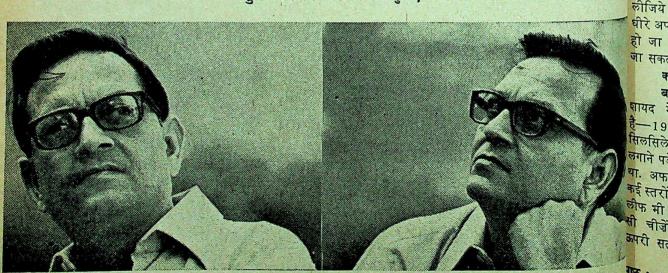
होना. यह कि दोनों को एक कविता के पूरे व्यक्तित्व में किस तरह संगठित किया गया है . . . .

कहानी लिखने की जरूरत आप क्यों महसूस करते हैं—कवि रूप में प्रतिष्ठित होने के बाद. . .

हर साहित्यिक विधा दूसरी से भिन्न होती है. उसका जन्म ही दूसरी तरह की ज़रूरत को पूरी करने के लिए होता है. कविता से भिन्न कहानी एक खास तरह की ज़रूरत को पूरा करती है. उस तरह की ज़रूरतें मैंने महसूस की हैं, उस समय भी जब मैं कविता छोड़कर कहानी लिखता हूं या कहानी छोड़कर समीक्षा लिखता हूं. या उपन्यास लिखता हूं—तब मेरे मन में यह नहीं होता है कि ये सारी चीजें जो मैं कविता से भिन्न विधाओं द्वारा प्रकट कर सकता हूं उन्हें कविता में भी प्रकट कर सकता हूं, अगर ऐसा होता तो ज़रूरत नहीं महसूस होती. कभी-कभी मुझे ऐसा भी लगता है इस अर्थ में बहुत-सी कहानियां, हो सकता है, मेरी कविताओं का विस्तार हों. उस दिशा में जिस दिशा में स्वयं कविता को मैं विस्तृत नहीं कर पाता—ऐसी कई कहानियां मेरे कहानी संग्रह 'आकारों के आसपास' में हैं. एक विधा से दूसरी में प्रवेश के पीछे कहीं यह विचार भी रहता है कि साहित्य की एक विधा की संवेदनाओं और तकनीक का दूसरी विधाओं में भी प्रवेश हो. इससे दूसरी विधाएं समृद्ध ही होंगी—नष्ट या दूषित नहीं. एक तरह का 'क्रॉस पॉलीनेशन' कह लीजिये इसे : अन्यथा एक विधा धीरे-धीरे अपने आप में ही सिमट कर बेजान हो जा सकती है, उसका विकास रुक जा सकता है.

कहानी लिखना तो आपने कुछ बाद में शुरू किया था.

शायद मेरी पहली कहानी 'अफसर' है—1957 में लिखी थी. पासपोर्ट के सिलसिले में सरकारी दफ्तरों के चक्कर लगाने पड़े थे, लेकिन काम नहीं हो सका था. अफसरों से बातचीत हुई उसने कई स्तरों पर झकझोरा, मुझे उससे तकलीफ भी हुई और ऐसा लगा कि बहुत-सी चीजें, जैसा आदमी समझता है ऊपरी सतह पर, वैसी नहीं होती हैं. उसके नीचे कई सतहें होती हैं मानसिकता की. मसलन, एक अफसर से जब मैं दफ्तर में मिलता था तब वह एक तरह से बात करता था, बाहर दूसरी तरह से, शायद वह आदमी जब अपने घरवालों से मिलता होगा तब एक तीसरी तरह उसका मस्तिष्क काम करता होगा—और इस तरह के कई स्तर मेरे व्यक्तित्व में भी होंगे. मुझे इसने बहुत आकर्षित किया कि आदमी कितने स्तरों पर जीता है, लेकिन जब हम ईमानदारी जैसे गुणों को ढूंढने निकलते हैं और यह मान लेते हैं कि वह अगर एक जगह है तो हर जगह उसी तरह होगी तो यह मुझे कहीं पूरी मानव-स्थिति को झुठलाना-सा दीखता था. क्योंकि हो सकता है जब हम दूसरे या तीसरे स्तर पर बातचीत करते हों, मिलते हों तो वह भी एक ईमानदार स्थिति हो लेकिन उस परिस्थिति में ही कहीं कोई कठिनाई हो या खोट हो. यह जो विभिन्न स्थितियों में सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की प्रक्रियाएं हैं उन्होंने मुझे उस कहानी—और उसके बाद भी—कई बार परेशान किया. हम सब एक नहीं अस्तित्व के अनेक स्तरों पर जीते हैं और उनमें से किसी का भी एक अपना अलग, लेकिन पूर्णतः प्रामाणिक यथार्थ होता है. हर सामाजिक मूल्य इसीलिए, अस्तित्व के हर स्तर पर एक ही तरह मूल्यवान नहीं ठहरता.

कुंवरनारायण : फुरसत के क्षणों में परिवार के साथ 'शतरंज के खिलाड़ी' का रिहर्सल

इसका मतलब है कि रोज़मर्रा की ज़िंदगी में जिन लोगों से आपकी मुलाकात होती है वे आपकी कहानियों के पात्रों के आधार के रूप में सीधे-सीधे काम करते हैं ?

हां, ज़रूर करते हैं. जिस स्तर पर उनसे मिलता हूं और जिन स्तरों पर उनको समझता हूं—उनकी मानसिकता को समझता हूं—या उनके दूसरे पारिवारिक, सामाजिक संबंधों को समझता हूं उसके कई विभिन्न बिंदु रहते हैं. किसी भी एक बिंदु को पकड़ कर एक पूरी कहानी की रचना हो सकती है. इस तरह के डाइमेंशन्स (विस्तारों) को कहानी में एक्सप्लोर (खोज) करना अच्छा लगता है—शायद इसी के आधार पर कहानी में एक नयी बात पैदा करने की कोशिश करता हूं. हर कहानी का यथार्थ से कोई-न-कोई रिश्ता अवश्य होता है, लेकिन जरूरी नहीं कि यह रिश्ता साफ-साफ दिखाई दे और मेरी एक कोशिश यह भी रहती है कि उन कारणों, परिस्थितियों, अंतर्संबंधों आदि की वास्तविकता को भी उभार सकूं जो बाहर से दिखाई नहीं देते . . . .

आपके अनेक समकालीन बुनियादी

रूप में कवि होते हुए भी कहानियां लिखते रहे हैं. भारती, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा आदि. आपको लगता है कि आप सब की कहानियां उन कहानीकारों से अलग किस्म का स्वाद देंगी ही जो प्रमुख रूप से कहानीकार हैं?

काव्यात्मक स्वभाव कहानी या साहित्य की किसी भी अन्य विधा के लिए एक तरह की अतिरिक्त पूंजी या सरमाया हो सकता है. लेकिन कविता के आग्रह के अपने खतरे भी हो सकते हैं और ऐसी कहानियां भी हमारे सामने हैं जिनमें हमें लगता है कि कविता कहानी को बहा ले गयी है. यहां कविता के बारे में भी हमारी समझ बहुत कुछ माने रखती है— खास कर, जब हम उस समझ का इस्तेमाल कहानी के क्षेत्र में करते हैं. अगर कविता के मतलब हमारे लिए सिर्फ भावुकता की उड़ान नहीं हैं—उसमें अनुभव और चिंतन मनन की गरिमा का ठहराव भी है, तो वह एक खास तरह कहानी में भी अतिरिक्त कुछ जोड़ सकती है. ऐसा नहीं तो वह कहानी के अपने यथार्थ और क्राफ्ट को भी गड़बड़ा दे सकती है. तो जहां कहानी भारती, सर्वेश्वर, रघुवीर या श्रीकांत जैसे कवियों के हाथ में रही है वहां मुझे लगता है कि कहानी की अपनी विधा में नया और मूल्यवान कुछ ज़रूर जुड़ा है. साथ ही यह भी कहना चाहूंगा कि मेरी पसंद के ऐसे अनेक कहानीकार हैं जो कविता नहीं लिखते, लेकिन उनकी कहानियों का बुनियादी स्वभाव काव्यात्मक है और ऐसे भी हैं जिन्हें मैं बिल्कुल भिन्न कारणों से अच्छा कहानीकार मानता हूं. खास बात है कि जीवन के किस पक्ष को लेकर एक कलाकार किस तरह संवेदनशील है और किस तरह की भाषाई संरचना में उसे व्यक्त करता है. कहानीकार और कवि-कहानीकार के बीच कोई अनिवार्य विरोध या टकराहट नहीं देखता

अच्छा, आप एक अच्छे कहानीकार के लिए 'शारीरिक स्तर' पर सक्रिय होने को कितना महत्त्व देते हैं? यानी कि अनुभव के बहुत व्यापक होने...

एक कहानीकार के लिए अनुभ ज्यादा अनुभव पर सोच सकने की यो को ज़रूरी मानता हूं—वह संवेदनशी जो अपने ही नहीं दूसरों के अनुभवों भी महसूस कर सके, उन पर विचार कर सके. शारीरिक स्तर जीवन जी सकने की एक सीमा है, मानसिक स्तर पर ऐसी कोई सीमा है. इस मानसिकता के विस्तार परिष्कार को इसलिए भी महत्व हूं कि बिना इसके हमारे अनुभव में व्यापकता और गहराई नहीं आ सक सहानुभूति (सिंपैथी) या समा नुभूति (एंपैथी) द्वारा एक कहानीका दूसरों के अनुभवों को तब बेहतर आ सात कर पाता है जब उसके पास भव, जानकारी चिंतन का एक पूरा हो—इनमें से कोई एक या दो ही

आपके लिए कला बड़ी है ज़िंदगी? ज़िंदगी के बारे जानकारी पाने की बात को कैसे देखते हैं?

जैसा कि मैंने अभी कहा कि अगर आग्रह हो कि हम साहित्य में उतनी जानकारी को प्रामाणिक मानें, यथार्थ जिसे हमने स्वयं जी कर देखा हो तो साहित्य द्वारा जिंदगी के बारे में बहुत ही सीमित अनुभव दे सकेंगे. तो यह आशा करना भी गलत होगा हमारे 'लिखे' को दूसरे 'पढ़' कर ज के बारे में कोई अनुभव प्राप्त कर सकें यह तो एक तरह से पढ़ने लिखने के को ही अस्वीकार करना होगा. कम यथार्थ, या कम 'एडवेंचर' मानता कि जीवन के बारे में जान को हम अनुभव और अध्ययन दोनों से ग्रहण करते हैं—और दोनों ही प्रा णिक हो सकते हैं. दोनों ही का में इस्तेमाल हो सकता है. एक ऊपरी किस्म की सतही जानकारी इतिवृत्तात्मक ढंग से भी इस्तेमाल सकता है तथा जीवन और कला दोनों एक बिल्कुल सतही स्तर पर भी जिया सकता है... अंततः यह हमारी मान सामर्थ्य पर निर्भर करता है कि ज़िंदगी को कितनी बड़ी कला मानते या उसे कला नहीं मानते हैं, किसी तरह परिभाषित करते हैं.

अभी शेष है
एक अन्तिम साँझ
उन दिनों की साक्षी, जिन्हें उसने
इस तरह जीवित रखा
सींच कर आत्मा के रक्त से !

समिधा में किरणों की चमचमाती बर्छियां
उसे सैकड़ों निरीह टुकड़ों में काट कर
स्वाहा कर देती हैं ...
किन्तु वह मरता नहीं,
गृहीत हो कर
अतल जल के धधकते हुए, दीर्घ सायंकाल में
असंख्य मछलियां बन जाता है --
और वध किया हुआ सूर्य
डूब कर
पुनः उसकी ही दुनिया में उदय होता है।

कुंवर नारायण द्वारा 'आत्मजयी' की टंकित प्रति पर किये गये संशोधन.
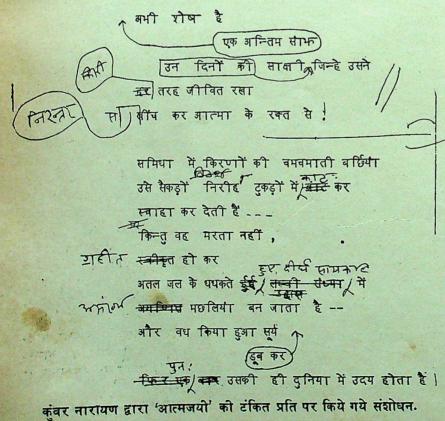
कहानी की पठनीयता को आप किस सीमा तक महत्व देते हैं?

इसे यों भी सोचें कि अगर पाठक को ही केंद्र में रख कर सारी कहानियां लिखी जायें तो भी पठनीय का सबके लिए एक ही अर्थ नहीं होगा क्योंकि सब पाठक एक ही तरह के नहीं होते. रुचियों में भेद मानते हुए ही हमें पठनीय अ-पठनीय के बीच भी भेद करना होगा. पठनीयता एक ज़रूरत है इसलिए एक गुण भी है, लेकिन अच्छे लेखन के लिए गुणी पाठक भी एक ज़रूरत है. पठनीयता को महत्व देता हूं लेकिन पाठक को ज्यादा महत्व देता हूं . . . . उसकी रुचि के स्तर को.

अच्छा, क्या आप अपनी किसी रचना के साथ किसी तरह का समझौता करना पसंद करेंगे जिससे कि उसे अधिक पाठक पढ़ सकें. मैं इस बात को तर्क के रूप में कह रहा हूं, फार्मूले के रूप में नहीं.

एक सीमा तक ही, लेकिन रचनात्मकता की कीमत पर नहीं. मैं समझता हूं किसी हद तक एक रचना की प्रकृति में ही यह तर्क निहित होता है कि उसकी आंतरिक या रचनात्मक ज़रूरतों के हिसाब से बहुत ज्यादा नहीं तोड़-मरोड़ा जा सकता. एसा करने से फिर एक कला, एक सीमा के बाद, उन शर्तों के बाहर निकल जाती है जो उस कला को एक कलाकार विशेष की कला बनाती हैं. मैं ऐसा समझौता न करके यह ख़तरा उठाना ज्यादा पसंद करूंगा कि मैं सही-सही अपनी संवेदना में जैसा महसूस कर रहा हूं उसको वैसा ही रख दूं—और इंतज़ार करूं उस पाठक का जो इसे पसंद करे. बहुत-से लेखकों ने यह ख़तरा उठाया है कि जिस तरह की कला उन्हें ठीक लगी उसी पर काम किया, इसकी बहुत चिंता नहीं की कि वह बड़े-से-बड़े पाठक-वर्ग तक पहुंचे ही, क्योंकि वहां समझौता करने के दूसरे ज्यादा गंभीर ख़तरे हो सकते हैं—लेखक पाठक दोनों के लिए.

फिल्म और थियेटर में शायद इस प्रकार का समझौता नैतिक संकट की स्थिति बहुत अधिक नहीं बनाता. मिसाल के लिए एक फिल्मकार का यह तर्क कि वह रचना के स्तर पर अगर थोड़ा समझौता करता है तो उसे अधिक दर्शक मिलते हैं जो कि व्यावसायिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है.

कुछ कलाओं का स्वरूप ही ऐसा होता है जहां दर्शक अपेक्षाकृत ज्यादा महत्व रखते हैं. उनके साथ एक तात्कालिक संबंध बनाना बहुत ज़रूरी होता है वरना वह कला फिर अपनी संपूर्णता में दर्शक तक किसी तरह नहीं पहुंच पाती. किताब के पन्नों की तरह हम एक फिल्म या नाटक के प्रदर्शन को पीछे लौटा कर नहीं देख सकते. लेकिन कला के विभिन्न स्तर तो फिल्म या नाटक में भी होते ही हैं. . . फर्क जो हम साधारण फिल्मों और एक सत्यजित राय, त्रुफो, शाब्रोल. . की फिल्मों में पाते हैं.

त्रुफो, शाब्रोल, सत्यजित राय वगैरह तो अपने माध्यम में कथानक को काफी महत्वपूर्ण स्थान देते हैं. लेकिन फिल्म जैसे महंगे माध्यम में निजी अभिव्यक्ति के अत्यधिक निजी संसार की आप व्याख्या कैसे करेंगे?

. . . केवल कथानक की बात नहीं सोच रहा था. उन समझौतों की बात सोच रहा था जो इन कलाकारों ने अपनी कला की ज़रूरतों और दर्शक की ज़रूरतों के बीच नहीं किये, कथानक के भी स्तर पर नहीं. फिल्म के कलापक्ष, या प्रयोगपक्ष को दूसरे नंबर की ज़रूरत मानते हुए भी ऐसी फिल्में बन सकती हैं और बनी हैं, जो कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कही जायेंगी और आर्थिक दृष्टि से भी सफल. यह फिल्म ही नहीं अनेक कलाओं के लिए सच ठहरता है. लेकिन इस दृष्टिकोण के अपने खतरे हैं—कला के लिए. वह दूसरे नंबर की ज़रूरत भी नहीं बचती जल्दी ही क्लीशों या फारमूलों में बदल जाती है क्योंकि दर्शक उन्हें पसंद करता है और व्यावसायिक ज़रूरतें दर्शक की पसंद को सबसे ऊपर रखने के लिए मजबूर हैं. आज ऐसी अनेक सफल कला-फिल्में हैं जिनके लिए पर्याप्त दर्शक नहीं मिलते. यही सोच कर मैंने 'न्यू वेव' के फिल्म निर्माताओं का नाम लिया कि उन्होंने जब कला को पहले नंबर की ज़रूरत माना तो सब से पहले फिल्म को व्यावसायिक तंत्र से किसी हद तक मुक्त करके कम खर्च में फिल्में बनाने की बात सोची. कला और दर्शक, या कला और व्यवसाय के बीच आदर्श समझौता दे सकने वाले कलाकार की संभावना को 'रूल आउट' नहीं करता, लेकिन मैंने अपने में कला की रचनात्मक ज़रूरतों के दबाव को ज्यादा महसूस किया है. जानबूझकर पाठक की उपेक्षा नहीं की, लेकिन उपेक्षा-सी अगर हो गयी लगती है कहीं, तो तभी जब मैं रचनात्मकता से जूझने
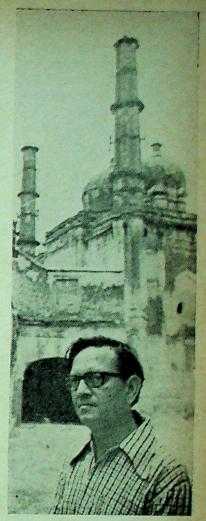
'खंडहरों में सिसकते
किसी बेगम के शबाब-सा लखनऊ. . .
किसी मरीज की तरह
नयी जिंदगी के लिए तरसता
सरशार और मजाज़ का लखनऊ.'

की मज़बूरी की उपेक्षा नहीं कर सका.

एक उपन्यास पढ़ते वक्त आपके दिमाग में क्या बातें रहती हैं? आप एक उपन्यास से क्या उम्मीद करते हैं.

कि वह आदमी—ज़िंदगी—भाषा को लेकर किस स्तर का अनुभव है. कि वह केवल मनोरंजन के लिए लिखा गया है या इससे बड़े किसी उद्देश्य से लिखा गया है. कि इस से ज्यादा बड़े उद्देश्य की तलाश के लिए वह पाठक के मन में कितनी बड़ी उत्सुकता पैदा कर पाता है. इस माने में उपन्यास मेरे लिए अगर एक खास तरह की चुनौती भी नहीं है तो मैं उसके साथ पूरी तरह 'इन्वॉल्व' नहीं हो पाता—लगता है एक अधूरी किस्म की कला के साथ 'फ्लर्ट' कर रहा हूं. मेरे लिए उपन्यास अस्तित्व के अर्ध-प्रकाशित या अप्रकाशित कोनों, तहों में पैठ कर छिपे जीवनस्रोतों को उद्घाटित करने की भी कला है—प्रकाशित या प्रत्यक्ष के विवरण मात्र की कला नहीं.

उपन्यास में भाषा का एक बिल्कुल नये तरह का इस्तेमाल और प्रयोजन मुझे आकर्षित करता है, जैसे प्रूस्त, जायस, काफ्का, बोर्खेस आदि में मिलता है. ये सब भाषा को अपने आप में एक नये तरह का अनुभव-वर्णन नहीं, खोज का माध्यम-बनाते हैं. भाषा का यह बहुत ही रचनात्मक इस्तेमाल मुझे लगता है. व्यावहारिक, इतिवृत्तात्मक या वृत्तात्मक ढंग की भाषा यह एहसास नहीं करा पाती. भाषा जो कुछ बयान कर रही है उन चीजों पर उपन्यासकार की दृष्टि ज्यादा रहती है—लेकिन भाषा तथा भाषा द्वारा कही जा रही चीजों, दोनों पर बराबर दृष्टि रखते हुए दोनों के बीच गहरी क्रिया-प्रतिक्रिया को उपजा सकना एक उपन्यास में मुझे महत्वपूर्ण लगता है.

उपन्यास विधा के विकास के मूल यूरोपीय संदर्भ को ध्यान में रख कर और आज विकसित यंत्र-विधि के उस पर पड़ने वाले दबाव को देखते हुए हमारे यहां उपन्यास की हालत आप को कैसी दीखती हैं?

यांत्रिकता के बढ़ते हुए प्रभावों ने मनुष्य के जीवन और उसकी कलाओं दोनों को बदला है. इस दबाव का सीधा और गहरा असर उपन्यास के जीवन-पक्ष और कला-पक्षों पर भी पड़ता है. उन्नीसवीं सदी तक सामाजिक उपन्यास का जो ढाँचा योरुप में विकसित हुआ उसके पीछे कहीं हम औद्योगिक क्रांति के साथ उभरती मध्यवर्गीय जीवनदृष्टि को प्रमुख पाते हैं. उसकी संरचना में एक तरह की दृढ़ता, विश्वास और व्यवस्था है. बीसवीं सदी का उपन्यास एक स्वप्नभंग की अवस्था का बोध कराता है जो उसके पूरे शरीर और आत्मा में व्याप्त दिखता है. भारतीय जीवन पर यांत्रिकता का दबाव योरुप की अपेक्षा धीमा और कम रहा और समाज के सभी वर्गों पर एक-सा नहीं होता. मैं समझता हूं कि यांत्रिकता की अपेक्षा भारतीय साहित्य पर अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति का प्रभाव ज्यादा गहरा पड़ा और इस माने में गलत पड़ा कि उसने हमारी चेतना में एक खास तरह का विभाजन उत्पन्न किया. समझ और संवेदना के स्तर पर उसने कुछ को बहुतों से अलग किया. आज के हिंदी उपन्यास पर हम इस विभाजन का सीधा असर पाते हैं. एक ओर तो ऐसे सामाजिक, आंचलिक उपन्यास हैं जिनमें हमें 19वीं सदी की योरोपीय जीवनदृष्टि और उपन्यास-कला की झलक मिलती है; दू
ओर 20वीं सदी की उपन्यास-
की अनेक बारीकियों की
अधिक सचेत आदमी के स्वभाव
ज़िंदगी के गुणात्मक अध्ययन
ज्यादा महत्व देने वाले उपन्यास
अगर ज्यादा हिंदी उपन्यास नहीं भी
कुछ उपन्यासकार ज़रूर आश्वस्त करते

**पर आप इस बात पर गौर
कि हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों
चुनाव तो आसानी से हो सक
हैं, उपन्यासों का नहीं. क्या
हमारी मानसिकता की ही
सीमा पर बनावट पता चलती है**

उपन्यास मुख्य रूप से योरुप में विक
हुआ. उसका विकास योरुप की छापे
जैसी यांत्रिक, औद्योगिक और व्य
वसायिक प्रगति के साथ घनिष्ठ
से जुड़ा है. उपन्यास योरुप से बाहर
देशों में गया; जबकि कहानी यो
के बाहर भी और शायद योरुप
बेहतर भी, अनेक देशों में भी जन्मी
पनपी—तथा उसके बीज और प्रौढ़
रूप दोनों हम प्राचीन भारत, मि
अरब आदि देशों के साहित्यों में पाते
तो भारत में कहानी की एक निश्चि
परंपरा है. उसकी यादें हमारे सामू
अंतर्मन में व्याप्त हैं और कहानी

टाइपराइटर के साथ रचनात्मक क्षण : दरअसल टाइपराइटर ही उनकी कलम

बाज़ार : जहां ज़रूरतों का दम घुटता है
बाज़ार : जहां भीड़ का एक युग चलता है
सड़कें : जिन पर जगह नहीं
कुंवर नारायण : एक रचना मुद्रा

की स्वाभाविक कला के रूप में आज भी आसानी से प्रकट होती रहती हैं. उपन्यास किसी हद तक हमारे लिए एक विदेशी कला है—एक तरह से अभ्यास द्वारा प्राप्त की हुई कला. यद्यपि उसे हम एक सीमित अर्थ में कहानी का विस्तार भी मान सकते हैं—लेकिन, फिर वह परिभाषा भी कहानी की परिभाषा का ही विस्तार होगा, उपन्यास की अपनी परिभाषा नहीं. दूसरी बात है, पाश्चात्य देशों में परिवर्तनों की रफ्तार जितनी तेज है उतनी भारत में नहीं. वहां का आदमी एक जीवन-काल में जितने परिवर्तनों को देख डालाता है, जितनी विभिन्न परिस्थितियों को झेल डालता है, उतना हिंदुस्तान का आदमी नहीं. अनुभव की इस विविधता के लिए उपन्यास का बड़ा कैनवस ज्यादा उपयुक्त ठहरता है. जीवन के छोटे-छोटे अनुभवों को तीव्रता से उभारने के लिए कहानी विधा बेहतर है—और शायद इसीलिए वह भारतीय जीवन के ज्यादा नजदीक पड़ती है.

क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि अत्यधिक लोकप्रियता रचना पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है बल्कि पाठकों पर भी बोझ बन जाती हैं? एक बार कॉलिन विल्सन ने अपने लेख में सांस्कृतिक तानाशाही फ्रेज़ का इस्तेमाल करते हुए डिकेंस, बर्नाड शॉ, एलियट आदि के उदाहरण दिये थे. . .

लोकप्रियता एक हद के बाद बोझ भी बन जा सकती है. साहित्यकार के लिए भी और उसके साहित्य के लिए भी. एक साहित्यकार जिस तरह के साहित्य को लेकर लोकप्रिय होता है उसके दबाव से आसानी से मुक्त नहीं हो पाता और अपने आपको दोहराने लग सकता है. साहित्य में नयी शक्ति लाने की एक शर्त यह भी हो सकती है कि पुराना बहुत कुछ रद्द या अस्वीकार करना पड़े. दूसरा खतरा जिसे विल्सन ने सांस्कृतिक तानाशाही कहा है कि एक खास तरह की कला-रुचि को पहले बनाने और फिर बनाये रखने की कोशिशों के साथ जुड़ा है. (प्रकाशन का व्यावसायिक पक्ष भी इससे अलग नहीं और इसे मैं जरूरी समझता हूं कि लोकप्रियता व्यावसायिकता के रूप में सक्रिय न हो, साहित्य के बारे में सही समझ के साथ जुड़े) रुचियों का यह आरोपण साहित्य के विकास को भी रोकता है और पाठक की रुचियों के विकास को भी. बहुत बड़ा लेखक बहुत बड़ा प्रभाव होता है अपने समय के लेखकों पर और कभी-कभी उस समय की दूसरी साहित्यक प्रतिमाएं अपनी तरह नहीं पनपने पातीं. तब साहित्य का एक रूप तो स्थिर होता है लेकिन उसका स्वतंत्र विकास अवरुद्ध भी : वह तभी रुक सकता है जब नये साहित्यकारों में इतनी समझ और 'वाइटैलिटी' हो कि वे लेखन की वास्तविकता की ओर जायें, लोकप्रियता के जादू की ओर नहीं.

आप अपने लिखे हुए को अपने पास अक्सर बहुत देर तक क्यों रखे रहते हैं? मुझे यह बात आश्चर्यजनक लगती है कि इतिहास सीरीज़ की अपनी कविताओं को आपने इतने लंबे समय से रोका हुआ है जब कि उनमें से अनेक कविताएं आपकी 'भाषा' में महत्वपूर्ण परिवर्तन के संकेत देती हैं.

कविता लिखते समय की आत्मीयता और फिर उसे तटस्थ होकर देख सकने की स्थितियों के बीच काफी अंतराल देता रहा हूं—इसे जरूरी भी मानता हूं. लेकिन कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि कुछ कविताओं को जल्दी ही छपाता तो बेहतर होता. एक समय में एक खास तरह का चिंतन साहित्यिक वातावरण में व्याप्त होता है जो अपनी तरह कविताओं में भी प्रतिध्वनित होता है और अगर एक कविता सही वक्त में छप जाती है तो वह पाठक के लिए ज्यादा माने रखती है. मैंने अपने आप को खुला रखने की कोशिश की है, साथ ही इस ओर भी सतर्क रहा हूं कि राजनीति या पत्रकारिता के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण जो एक खास तरह की भाषा बन रही थी वह कविता पर जरूरत से ज्यादा न छा जाये. निराला का आदेश मेरे सामने रहा कि मैं भाषा की किसी एक शैली में न बंध जाऊं : कविता की जरूरतों के हिसाब से ही उसको उसकी भाषा दे सकूं. इतिहास-संबंधी कविताओं में मैंने इतिहास की घटनाओं और व्यक्तित्वों को केंद्र में न रख कर इतिहास के उन अनुभवों को केंद्र में रखा है जो आज भी प्रासंगिक हैं—इसे मैं एक तरह की विस्तारित प्रासंगिकता (एक्सपैंडेड कंटेक्सचुएलिटी) कहना चाहूंगा. मानो 'हो रहे' और 'हो चुके' के बीच हम उन शाब्दिक चिन्हों को खोज रहे हों जिनके द्वारा हम आदमी के सही व्यक्तित्व तक पहुंचेंगे. □

वह और मैं

कृष्ण बलदेव वैद

एक

उसका दावा है कि वह मुझे उस दौर में भी बखूबी जानता-पहचानता था जब मैं उसकी हस्ती से मुनकिर अगर नहीं तो बेखबर जरूर था. मैं यही कहता हूं कि मैं उसे तब से जानता हूं जब से मैं बाहोश हुआ हूं. उसका दावा है कि वह शुरू से ही बाहोश है. मैं इस बड़ में उसकी बराबरी नहीं करना चाहता.

▣

कई बार कराह उठता हूं, काश उसे न जानता होता! कई बार महसूस होता है कि उसे जानता हूं इसीलिए दूसरों से इतना दूर रहता हूं, क्योंकि जब से बाहोश हुआ हूं तब से इस वहम का शिकार हूं कि अगर उसे अंदर तक जान लूंगा तो शायद किसी और को करीब से जानने की ज़रूरत रहेगी, न ख़्वाहिश, न मजबूरी, तो शायद यह जतलाने की मजबूरी भी न रहे कि मैं उसे जानता हूं, तो यक़ीनन यह कराहने की ज़रूरत भी नहीं रहेगी. काश उसे न जानता होता, तो शायद अपने आपको जानने का जुनून भी जाता रहे. ज़ाहिर है यह जुनून अभी गया नहीं, वर्ना आज फिर इस तरह उसे न ले बैठा होता. वैसे वह यहां ज़िद किये जा रहा है कि आज फिर वह मुझे ले उड़ा है.

▣

आजकल अक्सर कोरे काग़ज़ पर झुका-झुका एकदम रुक जाता हूं और उसके बारे में सोचना शुरू कर देता हूं. सिर नहीं उठाता. डरता हूं कि वह नज़र नहीं आयेगा, कि वह नज़र आ जायेगा. जब से उसका सहबोध स्वीकार किया है, उसे साफ़-साफ़ देखा एक बार भी नहीं. उसके सहबोध से पहले उसे साफ़-साफ़ देखने की ख़ास ख़्वाहिश ही नहीं उठी. अब उठते ही इस ख़ौफ़ में बदल जाती है कि सिर उठा कर देखूंगा तो वह नज़र आ जायेगा और मैं फ़ना हो जाऊंगा, कि सिर उठा कर देखने पर भी वह नज़र नहीं आयेगा और मैं किसी और उठान के क़ाबिल नहीं रहूंगा. उसे मेरी इस उलझन का इल्म है. उसका दावा है कि उसे मेरी हर उलझन का इल्म हर वक़्त रहता है. मैं इस बड़ में उसकी बराबरी नहीं कर सकता.

▣

सिर नहीं उठाता लेकिन यह पूछ लेता हूं, "क्यों, वही लिख रहा हूं न जो तुम बोल रहे हो?" वह हमेशा एक ही जवाब देता है, "मैं वही बोल रहा हूं जो तुम लिखना चाहते हो."

आजकल वह इसी ज़िद पर अड़ा हुआ है. किसी ज़माने में वह कहा करता था कि मैं जो लिखता हूं उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ लिखता हूं, इसीलिए वह खोखला होता है. मैं अक्सर उस से कहा करता था—तो साफ़-साफ़ बताते क्यों नहीं कि क्या लिखूं? वह हमेशा एक ही जवाब दिया करता था—मैं तो बार-बार बताता हूं, तुम सुनो तो!

▣

आजकल उसने यही ज़िद पकड़ रखी है. कहता है, "तुम मेरी मर्ज़ी की परवाह मत करो, कि मैं हमेशा वही बोलूंगा जो तुम लिखना चाहते हो. मैं कहता हूं कि मैं नहीं जानता कि मैं क्या लिखना चाहता हूं, कि मैं एक अर्से से वही ऊल-जुलूल लिखता चला आ रहा हूं जो वह मुझ से लिखवाता चला आ रहा है. वह इस बात पर यों मुस्कराता हुआ महसूस होता है जैसे कोई बाप अपने बिगड़े हुए बच्चे...

हैरान हूं कि वह मान क्यों नहीं... कि मैं वही लिखता हूं जो वह बोल... चाहता हूं कि यह सच हो या न हो... इसे मान ले, ताकि इन काले-गोरे... की सारी ज़िम्मेदारी उसी के सिर... कहता हूं कि उसे कोई एतराज़ नहीं... चाहिये, कि उसे कोई नुक़सान नहीं... क्योंकि उसे मेरे सिवा न कोई जान... न मानता है. वह कहता है कि कोई... जाने न जाने, वह मेरे काम का इल्ज़ा... इनाम कभी नहीं लेगा.

▣

किसी तीसरे को उसके, या... चली आ रही इस तक़रार के,... नहीं बताता. डरता हूं कि वह... समझेगा कि मेरा सिर फिर गया है... किसी मरे-पिटे प्रतीक से ही खेल... इसलिए भी बार-बार उसी से... करता रहता हूं कि वह मेरी ज़िद... इसीलिए वह अपनी ज़िद छोड़... तैयार नहीं होता. कई-कई दिन... खिंचाव में खराब हो जाते हैं,...

भूल जाता हूं कि मेरी रुकावट का कारण क्या था. आंखों के नीचे बिछा कोरा कागज़ किसी काले आईने-सा दिखायी देता है. मैं कुछ भी लिख डालने के लिए उतावला हो ही रहा होता हूं कि सुनता हूं उसने फिर बोलना शुरू कर दिया है. जी चाहता है कि उसकी इबारत को कागज़ पर उतारने से इनकार कर दूं. वह फ़ौरन भांप जाता है और खामोश हो जाता है. जी चाहता है कि उसकी इस खामोशी का फ़ायदा उठा लूं और अपनी मर्ज़ी के मुताबिक कुछ लिख लें जाऊं. लेकिन ज्योंही झुकता हूं, सुनायी देता है कि उसने फिर सुरसुराना शुरू कर दिया है.

▣

बस आजकल अक्सर यही होता है. अचानक रुक जाता हूं और कई-कई दिनों तक रुका रहता हूं. जो लिखता हूं, उसे न वह अपनाता है न मैं, इसीलिए उसमें रवानी नहीं होती, इसीलिए वह न उसे पसंद आता है न मुझे. सोचता हूं कि अगर किसी रोज़ सिर उठा कर उसके रू-ब-रू खड़ा हो जाऊं, और इस तकरार को आखिरी कड़वे नुक्ते तक ले जाऊं, तो शायद हम दोनों में कोई ऐसा समझौता हो जाये, जिसकी बदौलत मेरी तहरीर में फिर वैसी ही हरकत और हरारत आ जाये जो उसकी दखल-अंदाज़ियों से पहले शायद हुआ करती थी.

▣

लेकिन उसके रू-ब-रू होने के ख़याल से ही मेरे रहे-सहे रौंगटे खड़े हो जाते हैं. मेरी इस हालत से उसकी ज़िद और मज़बूत हो जाती है, और हमारी तकरार और तल्ख. सवाल किया जा सकता है कि ऐसे उल्टे साथी का सहयोग मैंने स्वीकार ही क्यों किया? मैं उस शैतान को साथी का दर्जा देकर अपना निरादर नहीं करूंगा, न ही यह मान कर दूंगा कि मैंने अपनी रज़ा से उसका सहबोध स्वीकार किया था, न ही यह कि वह वही बोलता है जो मैं लिखना चाहता हूं, न ही यह कि वह जानता है कि मैं क्या लिखना चाहता हूं, न ही यह कि मैं जानता हूं कि मैं क्या लिखना चाहता हूं, न ही यह कि मैं लिखना चाहता हूं.

मेरे इस सरासर इनकार का भी उस पर कभी कोई असर नहीं होगा. मैं जानता हूं. वह भी जानता है. इसीलिए शायद मुझे महसूस हो रहा है कि इस वक्त मेरे सिर पर सवार सियाही में उसकी मुस्कराहट किसी सफ़ेद फूल की तरह खिली हुई है. लेकिन मैं सिर नहीं उठाऊंगा. डरता हूं कि वह नज़र आ जायेगा, कि वह नज़र नहीं आयेगा.

दो

मैं समझता हूं कि मैं उसका निगहबान हूं, वह समझता है कि वह मेरा. मैं उसे

समझाता हूं कि अगर मैं खबरदार न रहूं तो वह बिखर जायेगा, वह मुझे समझाता है कि उसी की खबरदारी की बदौलत मैं अभी तक पूरी तरह बिखरा नहीं. मैं कहता हूं कि अगर मैं बिखर गया तो उसका वजूद भी नहीं रहेगा, वह जवाब देता है कि वह तो अब भी बेवजूद है. मैं उसके जवाब को झटक कर कहता हूं कि उसका वजूद बनाये रखने की खातिर ही मैं इस दोज़ख को झेल रहा हूं, वह एहसान चढ़ाता है कि मेरा वजूद कायम रखने के लिए ही वह अपने बहिश्त से बाहर आता है.

▣

मैं समझता हूं कि यह दोज़ख हम दोनों के लिए ज़रूरी है, वह ज़िद करता है कि उसके लिए ज़रूरी कुछ भी नहीं. कभी-कभी इस तकरार से तंग आकर सोचता हूं कि वह महज़ मेरा वहम है, वह मुझे और तंग करने के लिए कहता है कि वह वहम तो है लेकिन मेरा नहीं. मैं चाहता हूं कि या तो हम दोनों एक हो जायें, या वह मुझे मेरे हुजरे में छोड़ कर खुद कहीं और जा छिपे; वह चिल्लाता है कि मैं नहीं जानता कि मैं क्या चाहता हूं. मैं समझता हूं कि वह मेरा मज़ाक उड़ा रहा है, वह समझाता है कि वह मुझे मज़ाक के काबिल ही नहीं समझता. मैं जानता हूं कि वह जान-बूझ कर बेवकूफ़ बनता है, वह कहता है कि मैं कुछ भी नहीं जानता. मैं सोचता हूं कि अगर उसके बारे में सोचना बंद कर दूं तो शायद उस से मुक्त हो जाऊं, वह कहता है कि मैं उसके बारे में सोच ही नहीं सकता. मैं पूछता हूं कि वह मेरी आवाज़ में क्यों बोलता है, वह जवाब देता है क्योंकि उसकी अपनी कोई आवाज़ नहीं. मैं चुप हो जाता हूं, वह चीखता रहता है, और तब उसकी कोई बात मेरी समझ में नहीं समाती.

▣

वह पूछता है, मैं हर वक्त परेशान क्यों रहता हूं? मैं पूछता हूं, वह हर वक्त प्रसन्न क्यों रहता है? वह उपदेश देता है, परेशानी बेकार है. मैं चिल्लाना चाहता हूं, बेकार क्या नहीं, लेकिन चुप रहता हूं. वह कहता है कि मेरा बोध अधूरा है. मैं पूछना चाहता हूं कि मेरा क्या अधूरा नहीं, लेकिन चुप रहता हूं. वह समझाता है, अगर मैं सच्चे दिल से स्वीकार कर लूं कि मेरा सब कुछ अधूरा है तो मेरी परेशानी दूर हो जायेगी, मैं चिल्लाना चाहता हूं कि मैं सच्चे दिल से कुछ भी स्वीकार नहीं कर सकता, लेकिन चुप रहता हूं. वह पूछता है, मैं आजकल

इतना चुप क्यों रहता हूं? मैं कहना ही चाहता हूं कि अगर वह वचन दे कि वह चुप हो जायेगा तो मैं बोलना शुरू कर दूंगा, लेकिन चुप रहता हूं. आजकल वह अक्सर इतना ज़्यादा और फ़ज़ूल बोलता है और मैं इतना कम और काम का कि कभी-कभी मुझे वहम हो जाता है कि वह मुझमें बदल गया है और मैं उसमें. मेरा यह वहम विश्वास में बदल ही रहा होता है कि वह फिर यूं गुम और गूंगा हो जाता है जैसे मेरा गुरू हो, और मैं यूं घिघियाने लगता हूं जैसे कोई घायल.

मैं समझता हूं कि संसार ने मुझे जकड़ रखा है. वह समझाता है कि मैं ससार में जकड़ा हुआ हूं. मैं पूछता हूं उपाय क्या है? वह कहता है उपाय की उमंग नहीं होनी चाहिए. मैं कहता हूं, मैं मानता हूं नहीं होनी चाहिए लेकिन है, इसका क्या करूं? वह हंसता हुआ महसूस होता है. मैं चुप हो जाता, वह मुझे हूं यूं पुचकारता है जैसे कोई बाप अपने बिगड़े हुए बच्चे को. मैं तड़प कर पूछता हूं, वह कोई आसान-सा उपाय बता क्यों नहीं देता वह कड़क कर कहता है, मैं निरुपाय हूं.

▣

कभी-कभी मैं उसकी दखलअंदाज़ी से इतना दिक् हो जाता हूं कि हाथ जोड़-जोड़ कर इल्तिजा करता हूं कि वह मुझे मेरे हाल पर छोड़ कर कहीं और जा बसे. कभी-कभी वह मेरी मिनमिनाहट से इतना तंग नज़र आता है कि मुझे उम्मीद होती है, वह मुझे मार डालेगा; लेकिन फिर वह सहसा मुस्कराना शुरू कर देता है, और मैं मरना. मैं दोहराता हूं कि जब तक वह मेरे सिर से टलेगा नहीं, मैं मिनमिनाता रहूंगा. वह सहसा हंसना शुरू कर देता है. मैं चिल्लाता हूं—चुप हो जाओ. वह अचानक यों चुप हो जाता है जैसे मुझे इसी दोज़ख में छोड़ कर खुद किसी बहिश्त में जा बसा हो. मैं उसकी हंसी और वापसी के लिए अकुलाना शुरू कर देता हूं.

▣

किसी-किसी रूखे और रौशन लम्हे में मैं इतना बेलिहाज़ हो जाता हूं कि मुझे

अपना किया-जिया सब निस्सार नज़र आता है. किसी-किसी रौशन और रूखे लम्हे में वह इतना बेलिहाज़ हो जाता है कि उसे न सिर्फ़ मेरा बल्कि हर एक का किया-जिया सदा निस्सार नज़र आता है. तब हम कुछ लपलपाते हुए लम्हों के लिए एक दूसरे के इतने करीब आ जाते हैं जैसे दो देरीना और जानी दुश्मन. लेकिन तब भी हम इतने बेलिहाज़ नहीं हो पाते कि एक दूसरे का अंत कर सकें. हर बार हमारे हाथ एक दूसरे की गर्दन के ऐन ऊपर पहुंच कर पथरा जाते हैं और मुझे महसूस होता है मानो किसी तीसरे ने हमें गले मिलते पकड़ लिया हो.

तीन

कई दिनों से वह यह घिसा-फटा उपदेश दोहरा रहा है कि मैं अहम् से ऊपर उठ कर उड़ूं. मैं उसे टालता चला आ रहा हूं कि जब तक वह है, मैं अहम् से ऊपर उठ ही नहीं सकता, उड़ना तो एक तरफ़ रहा. वह पूछता है, वह कौन है. मैं पीछा छुड़ाने के लिए कह देता हूं, वही मेरा अहम् है. वह पूछता है, तो मैं उसे [illegible] क्यों नहीं डालता. मैं कराह उठता [illegible] काश मैं उसे मार सकता! मेरे इस [illegible] वार के जवाब में कोई वार करने की [illegible] वह मुस्कराना शुरू कर देता है, और [illegible] मरना. वह याद दिलाता है कि मैं उस[illegible] मौत से पहले मर नहीं सकता. मैं ज[illegible] देता हूं—मैं जानता हूं, मैं दरअसल [illegible] नहीं रहा, सिर्फ़ कोशिश कर रहा [illegible] वह चिढ़ाता है—कोशिश बेकार है. [illegible] चिल्लाता हूं—मुझे मालूम है. वह पू[illegible] है—तो कोशिश क्यों करते हो? [illegible] जवाब देता हूं—काश मुझे मालूम हो[illegible] आजकल हमारी तकरार इसी तरह [illegible] रुक कर चल रही है. इसीलिए सोचता हूं [illegible] इसका अंत तब तक नहीं होगा जब त[illegible] उसके घिसे-फटे उपदेश पर अमल क[illegible] करता अहम् से ऊपर नहीं उठ जा[illegible] इसीलिए शायद वह आश्वस्त नज़र आ[illegible] है कि हमारी तकरार का अंत हमारे [illegible] से पहले नहीं होगा.

▣

आजकल अक्सर अनायास बिलबि[illegible] उठता हूं—अब और सहा नहीं जा[illegible] वह पूछता है—क्या? मैं जवाब दे[illegible] हूं—यह सारा संसार. वह पूछता है—तो क्यों सहते हो? मैं पूछता हूं—तो [illegible] क्या करूं? वह जवाब देता है—[illegible] अभी तक तुम्हें यही पता नहीं चला तो [illegible] तुम्हें कुछ भी नहीं बता सकता. [illegible] पुकार उठता हूं—अब और कहा [illegible] जाता! वह फुंकार उठता है—[illegible] कि तुम सच बोल रहे होते! मैं पूछता हूं—तो क्या होता? वह जवाब देता है—हम दोनों खामोश हो गये होते. मैं पू[illegible] हूं—तो तुम मान रहे हो कि तुम खा[illegible] नहीं? वह पूछता है—अगर मैं खा[illegible] होता तो तुम बोल रहे होते? मैं खा[illegible] हो जाता हूं, वह देर तक बिलबि[illegible] रहता है.

▣

वह कहता है, मैं बहुत कमज़ोर [illegible] मैं मान लेता हूं, मैं बहुत कमज़ोर [illegible] वह पूछता है—अपनी कमज़ोरी का [illegible] कारण जानते हो? मैं खबरदार हो [illegible] हूं. सोचता हूं वह कोई जाल बिछा रहा [illegible]

वह सवाल दोहराता है. मैं और खबरदार हो जाता हूं. उसकी तरफ यों देखता हूं जैसे कोई कमज़ोर अपनी कमज़ोरी की तरफ. वह इस संकेत पर हैरान होने का अभिनय करता है, मैं उसकी हैरानी पर हंसने का. मैं अपनी स्वाभाविक भयभीत मुद्रा में लौट ही रहा होता हूं कि वह चिल्लाता है—तुम्हारी कमजोरी का मूल कारण मैं हो ही नहीं सकता क्योंकि तुम्हारे बग़ैर मैं हो ही नहीं सकता. मैं ठिठक जाता हूं. अक्सर उसका तर्क यह होता है कि मैं उसके बगैर हो ही नहीं सकता. डरते-डरते पूछता हूं—तो क्या तुमने मान लिया कि मैं ही तुम्हारा खालिक हूं? वह हंसते-हंसते जवाब देता है—हां. मैं कहता हूं—अगर मैं तुम्हारा खालिक हूं तो मैं इतना कमज़ोर क्यों हूं? वह जवाब देता है—क्योंकि तुम मेरे खालिक हो और खाकी हो. मैं उसकी तरफ यों देखता हूं जैसे कोई कुम्हार अपनी मिट्टी की तरफ, या शायद कोई मिट्टी अपने कुम्हार की तरफ.

▣

किसी-किसी लड़खड़ाहट के दौरान इतना दीन हो जाता हूं कि उसका सहारा ले लेने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता. ऐसे अवसरों पर वह न सिर्फ निस्संकोच मुझे थाम लेता है बल्कि तब तक थामे रहता है जब तक मैं स्थिर नहीं हो जाता. मैं अपनी ताज़ा-तरीन लड़खड़ाहट को भूल ही रहा होता हूं कि वह हमला करता है—अगर मैं न होता तो तुम क्या करते? मैं फैसला नहीं कर पाता कि वह मेरा हमदर्द और हमसफ़र है या कोई ऐसा मूज़ी जिसे मेरी हर मुसीबत से मजा मिलता है. वह अपना सवाल दोहराता है. मैं जवाब देने की बजाय फिर रोज़मर्रा की रेत में रत हो जाता हूं. अगली लड़खड़ाहट तलक.

कभी चाहता हूं कि उस से आज़ाद और अलग रहकर ही इस दोजख़ के सारे अज़ान सहूं, सारे आनंद आजमाऊं. कभी चाहता हूं कि इस हद तक उसका हो जाऊं कि कह सकूं, किसी भी अज़ान को सहने की मजबूरी नहीं रही, किसी भी आनंद को आजमाने की आरज़ू नहीं रही. कभी सोचता हूं कि अगर वह या उसका आभास मेरी हर स्थिति और सोच पर हावी न होता तो ये सारे अज़ान और आनंद और ज़्यादा ग़ैरज़रूरी नजर आते. कभी सोचता हूं कि कभी तो उसे भूल कर भी अपने भय या अपनी सोच के समंदर में छलांग लगा सकूंगा. कभी सोचता हूं कि उसे भूल पाना अब नामुमकिन है. ज़ाहिर है मैंने मान लिया है कि उसके या उसके आभास के बगैर मेरी कोई हस्ती नहीं. नहीं, अभी मैंने कुछ भी नहीं माना. ज़ाहिर शायद यही है कि मैं अधीर हो रहा हूं. कभी सोचता हूं कि उसके बग़ैर मेरी हस्ती या नेस्ती का कोई मतलब नहीं, कोई मक़सद नहीं. ज़ाहिर है कि मैंने फिर उसके हुज़ूर में घुटने टेक दिये हैं. वह शायद इस वक्त किसी महान मसखरे की तरह मुस्करा रहा है. नहीं, ज़ाहिर सिर्फ यही है कि मैं इस समय अपने क्रंदन-कक्ष में सहमा बैठा उसका जाप कर रहा हूं, या शायद उसका मातम, या शायद उसके न होने की शिकायत, या शायद उसके न होने का मातम, या शायद अपने होने की शिकायत, या शायद अपने न होने का मातम. ज़ाहिर है कि अभी कुछ भी नहीं हुआ.

चार

किसी-किसी शून्यग्रस्त शाम के खामोश झुटपुटे में उसके पीछे-पीछे चलता हुआ एक गुप्त गुफ़ा के दहाने पर जा खड़ा होता हूं. इंतज़ार करता हूं कि शायद अब वह कोई आदेश या उपदेश देगा. वह मुड़कर मेरी तरफ यों देखता है जैसे ललकार भी रहा हो और दुत्कार भी. मैं मुंह उठाकर उसकी तरफ यों देखता हूं जैसे कोई पाल्तू जानवर अपने जाबर मालिक की तरफ. वह निर्मम नज़र आता है, मैं निहत्था. मुझे इसी कैफ़ियत की कुछ पुरानी शामें याद हो आती हैं. सोचता हूं, हो सकता है, इस शाम का अंत किसी ऐसे दृश्य पर हो जिसके बाद किसी और दृश्य की आशा और इच्छा न रहे. डरता हूं कि वह इस सोच को अपनी मुस्कराहट से डस लेगा. आंखें झुका लेता हूं. डरता हूं कि वह डरावनी आवाज़ बनाकर पूछेगा—कहां झांक रहे हो? चाहता हूं कि वह मेरा कांपता हुआ
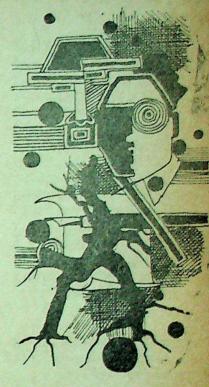
हाथ पकड़ कर मुझे उस गुफ़ा के अंदर घसीट ले जाये. डरता हूं कि वह मुझे अंदर छोड़कर खुद बाहर भाग जायेगा. सोचता हूं, वह सब जानता है कि मैं क्या सोच रहा हूं! जानता हूं कि सिर उठाकर देखूंगा तो वह मुस्कराता हुआ नज़र आयेगा. आंखें बंद कर लेता हूं. उसका हाथ अपनी तरफ बढ़ता हुआ दिखायी देता है. बिदककर पीछे हट जाता हूं. वह गरजता है—तुम आखिर चाहते क्या हो? मेरी आंखें खुल जाती हैं लेकिन सिर झुका रहता है. मैं चाहता हूं कि वह मेरे संकोच की परवाह न करे और मुझे उस गुफ़ा में धकेलकर उसके दहाने पर एक ऐसी चट्टान रख दे, जिसे हटा पाने का खयाल ही उस खयाल को खत्म कर देने के लिए काफ़ी हो. उसी वक्त वह मुझे गुफ़ा में गुम होता हुआ नज़र आता है. लेकिन मुझे मालूम है कि ज्योंही मुझे यह भ्रम होगा कि मैं उस से मुक्त हो गया हूं, वह मेरी तरफ मुड़ कर कहेगा—तो चलें वापस? और फिर वह मेरे पीछे-पीछे चलता हुआ मेरे क्रंदन-कक्ष में लौट आयेगा. मैं यह सोच ही रहा होता हूं कि उसकी आवाज़

सुनायी देती है—तो चलें वापस?

▣

किसी–किसी शाम वह मान लेता है कि आत्महत्या के सिवा मेरे अज़ाब का कोई इलाज नहीं. मैं उसकी आवाज़ में तंज़ की तलाश करता हूं. वह विश्वास दिलाता है, आज सीधा सच बोल रहा हूं. मैं उसकी तरफ़ यों देखता हूं जैसे कोई कैदी जल्लाद की तरफ़. उसी वक्त मुझे महसूस होता है जैसे उसने चेहरे पर नकाब चढ़ा ली हो. मैं सिर झुका लेता हूं. सोचता हूं अब किसी भी तरह वह मेरा सिर कलम कर देगा. काफ़ी देर तक कुछ नहीं होता. सिर उठा कर देखता हूं कि उसकी नकाब में से उसकी आंखें मुझ पर जमी हुई हैं. मैं फैसला नहीं कर पाता कि उनकी झिलमिलाहट मेरे आंसुओं के कारण है या उसके आंसुओं के कारण.

▣

यह बात नहीं कि हमारी तकरार का एकमात्र मजमून हमारी तकरार ही हो, कि हमारे बीच दूसरों और दुनिया के बारे में कोई बहस या विपता ही नहीं उठती हो, कि हमारी अपनी दुनिया पर कभी किसी बेगानी दुनिया का कोई बादल ही न गरजता-बरसता हो. यह बात हरगिज़ नहीं. लेकिन हम बहाना यही करते हैं कि जब हम अपनी दुनिया में होते हैं तो किसी बड़ी और बेगानी दुनिया का कोई खौफ़ या खुदा हम तक नहीं पहुंच पाता. यह बात नहीं कि इस बहाने से हमारा यह शक मिट जाता है कि शायद हमारी अपनी अलग कोई दुनिया नहीं, कि शायद हमारा अलग कोई खौफ़ या खुदा नहीं, कि शायद किसी रोज़ हम अपनी दुनिया से भी इस कदर बेज़ार हो जायेंगे कि हमें महसूस होगा, हम कहीं के नहीं रहे. यह बात भी हरगिज़ नहीं. लेकिन यह निश्चित नज़र आता है कि अब हमारा अधिकतर वक्त अपनी ही दुनिया की पैदाइश और पैमाइश में कटता है और हम इसी में मस्त रहते हैं. यह बात नहीं कि इस मस्ती में कोई मैल नहीं, लेकिन मैल किस मस्ती में नहीं होती! यह बात नहीं कि इस स्वीकार्य से हमें कोई कष्ट नहीं होता, लेकिन कष्ट किस स्वीकार्य से नहीं होता!

और किसी पर ज़ाहिर हुआ या न हुआ हो, मुझ पर हो चुका है कि वह और मैं अभिन्न हैं, कि न वह एक है न मैं, कि कभी वह मुझ में बदल जाता है और कभी मैं उसमें, कि कभी वह मुझे मेरा भ्रम महसूस होता है और कभी मैं उसे उसका. और किसी पर अभी कुछ ज़ाहिर हुआ हो या न हुआ हो, मुझ पर अभी ज़ाहिर कुछ भी नहीं हुआ. इसीलिए मैं आखिर तक अपनी और उसकी खाक छानने पर मज़बूर हूं. कभी इसे अपनी नियति मान लेता हूं, कभी महज़ एक अज़ाब. यह बात नहीं कि इस अज़ाब से मुझे कोई आनंद न मिलता हो, लेकिन आनंद किस अज़ाब से नहीं मिलता! और किसी पर यह ज़ाहिर हुआ हो या न हुआ हो, उस पर साफ़ ज़ाहिर हो चुका है कि मुझ पर कभी कुछ भी नहीं ज़ाहिर होगा. इसीलिए शायद वह मुस्करा रहा है. इसीलिए शायद मैं भी मुस्करा रहा हूं—सारी मितलाहटों के बावजूद, सारी असंगतियों के बावजूद.

पांच

अभी-अभी उसके मुखारबिंद से यह बरखा हुई है—

तुम हर समय अपनी ही हीन-क्षीण असंगतियों में या मेरे साथ इस सारहीन तकरार में ही क्यों इतने रुपे रहते हो कि इर्द-गिर्द उड़ती हुई धूप और धूल से आक्रांत और अलमस्त दूसरे इंसानों की तरफ़ तुम्हारी नज़र तक नहीं उठती? वह ज़माना भूल गये जब हर समय उन्हीं इंसानों के साथ, उनकी महक और मेहनत में घुले-मिले, उन्हींकी तरह तुम भी इर्द-गिर्द उड़ती हुई धूल और धूप में हारे-मारे उड़ा-फिरा करते थे? वह ज़माना तुम्हारे ज़ेहन से उतरा नहीं, मैं जानता हूं. वह ज़माना अभी तक किसी-किसी रात तुम्हारे दुःस्वप्नों को दहका देता है, मैं जानता हूं. तुम शायद यह दावा करना चाहो कि उस ज़माने में भी, सारी ऊपरी शिरकतों के बावजूद तुम अंदर से अपनी ही हीन-क्षीण असंगतियों और मेरे साथ इस सारहीन बहस में ही रुपे रहते थे. अगर तुम्हारे इस दावे को मान लूं तो भी तुम्हारी मौजूदा किनाराक[illegible] मुझे मंजूर नहीं, क्योंकि यह किसी औ[illegible] ही क़िस्म की है, क्योंकि यह तुम्हें इत[illegible] उजाड़-उखाड़ देगी कि तुम बाहर [illegible] रहोगे न भीतर के. तुम शायद यह जवा[illegible] देना चाहो कि तुम यही चाहते हो. अगर [illegible] तुम्हारी यह बात मान लूं तो भी पूछ[illegible] चाहूंगा कि अगर यह सच है तो हर वक्[illegible] इतने अकुलाये हुए क्यों रहते हो? तु[illegible] शायद यह कहना चाहो कि तुम्हारी [illegible] अकुलाहट इस सत्य का सबूत है कि तु[illegible] तेज़ी से उस नुक्ते की तरफ़ बढ़ रहे [illegible] जहां से बाहर और भीतर का फ़र्क सिफ़[illegible] हो जायेगा. लेकिन जिस दलदल में तु[illegible] धंसे हुए हो वह कभी तुम्हें किसी नुक्[illegible] तक पहुंचने नहीं देगी. वह तेज़ी तुम्हा[illegible] आंखों की धुंध का ही नतीजा है. मे[illegible] मानो और अपने बाकी बचे दिन अप[illegible] इर्द-गिर्द उड़ती हुई धूप और धूल [illegible] बिखरी पड़ी खूबसूरती और बदसूर[illegible] का आनंद लूटने और अज़ाब सहने में [illegible] गुज़ार दो. दूसरे गये–गुज़रे इंसान[illegible] की तरह. तुम शायद यह शोर मचान[illegible] चाहो कि उस आनंद और अज़ाब में अ[illegible] तुम्हारी कोई रुचि नहीं रही, कि वह धू[illegible] और धूल अब तुम्हें बेहूदा नज़र आती [illegible] कि तुम दूसरे गये–गुज़रे इंसानों से आ[illegible] निकल गये हो या पीछे छूट गये हो. लेकिन तुम नहीं जानते जिस नुक्ते [illegible] तलाश में तुम आजकल जिस अज़ाब में [illegible] गुज़र रहे हो, वे दोनों कम बेहूदा नहीं, [illegible] जीते–जी बेहूदगी से बचाव तुम जैसों [illegible] लिए नामुमकिन है, कि तुम्हारी निय[illegible] यही है कि इस जैसे-तैसे जहान को कि[illegible] जैसे-तैसे जन्नत में बदल डालने [illegible] जैसी-तैसी कोशिशों में आखिर तक कट[illegible] रहो, जैसे-तैसे. तुम शायद हैरान हो र[illegible] हो कि यह मैं बोल रहा हूं या तुम, [illegible] अगर यह मैं बोल रहा हूं तो वह शैता[illegible] या जो अब तक तुम्हें इस जहान से औ[illegible] उस जन्नत से बदज़न करता रहा, [illegible] खुश या खामोश रखने के लिए ही तुम ह[illegible] बात और हरकत और धूप और धूल [illegible] बेहूदा ठहराते रहे? मैं जवाब दूंगा [illegible] यह सब मैं ही बोल रहा हूं और वह [illegible] भी मैं ही बोलता रहा, कि मैं कभी कि[illegible] संकीर्ण संगति के मातहत नहीं. रहा, [illegible] मैं शुरू से वही बोलता चला आया [illegible]

अंतरात्मा

▣ बालकवि बैरागी

रोज का सिलसिला है.

बड़ी फज़र पौने छः बजे मुसलमानों की मस्जिद का सायरन बजता है. रामलाल पंजाबी जागता है. दिन शुरू करता है.

सुबह के छः बजते-बजते बोहरों की मस्जिद का सायरन चीखता है. कामरेड जेम्स हड़बड़ा कर उठते हैं. अखबारों की तलाश में मीटर स्टेंड का रास्ता नापते हैं.

सवा छः बजते-बजते बद्रीविशाल मंदिर के घंटे-घड़ियाल घनघना उठते हैं. हुसैन की बीवी जागती है और सभी बच्चों को झंझोड़ कर जगा देती है. साढ़े छः बजे स्कूल की पहली घंटी लगती है और उसके रामलाल, जेम्स और हुसैन के बच्चे स्कूल पहुंच जाते हैं.

दोनों मस्जिदों के आमील साहबान को शिकायत है, "सायरन सुनने के बाद अक्सर मस्जिद में कोई नहीं पहुंचता". बद्रीविशाल के पुजारी कहते हैं, "मैं अकेला आरती गाया करता हूं. किसी को जागने की फुरसत ही नहीं."

स्कूल का अध्यापक कहता है, "साहब! लड़के न तो पढ़ते हैं, न स्कूल में टिकते हैं. चिड़ियों की तरह आते हैं और फुर्र से उड़ जाते हैं."

मैं अखबारों में अलीगढ़ और संभल के हिंदू-मुस्लिम दंगों और लखनऊ में शिया-सुन्नी फसादों के समाचार ज़ोर-ज़ोर से पढ़ने की कोशिश करता हूं.

चाय के लिए पास ही जुम्मा पागल हाथ फैलाये खड़ा चिल्लाता है, "भैया साहब! या तो यह अखबार झूठा है या फिर ये सायरन-शंख सही समय पर नहीं बजते हैं."

मैं अपनी अंतरात्मा की आवाज़ सुनने की कोशिश में कभी पूरब को देखता हूं, कभी पश्चिम को! □

जो तुम सुनना चाहते हो, कि मैं आखिर तक वही बोलता चला जाऊंगा. तुम शायद कहना चाहो कि मैं तुम्हें लताड़ने के लिए ही इस लंपट भाषा में बोल रहा हूं, कि तुम पर इसका कोई असर नहीं होगा, कि मैं थक कर खुद-ब-खुद खामोश हो जाऊंगा. तुम्हारा यह कहना बजा होगा, लेकिन यह मत भूलो कि मेरी खामोशी मेरी तकरीर से कहीं ज्यादा ताकतवर है, कि तुम पर मेरी हर अदा और आवाज़ का असर होता है, कि मैं अनथक हूं, कि मैं किसी भी वक्त तुम से मनवा सकता हूं कि तुम अपनी और दुनिया की आंखों में एक ऐसे मुजरिम हो जिसे मुआफ़ करने वाला खुदा मर चुका है. तुम शायद खुदा को इस झमेले में नहीं झोंकना चाहते, इसीलिए मैं उसे झोंक रहा हूं, क्योंकि मुझे मालूम है कि उसकी हस्ती पर तुम्हें विश्वास हो या न हो, उसका नाम सुनते ही तुम इस तरह सनसना उठते हो जैसे वह तुम्हारे सामने खड़ा खिलखिला रहा हो. शायद तुम्हें शक हो कि मैं इस तकरीर के बहाने तुम्हें फिर किसी इम्तिहान में डाल रहा हूं. तुम्हारा शक बजा होगा, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि तुम इस शक को शांत न कर सको, या न करो, या नहीं करोगे. हमारी तकरार का इतिहास बताता है कि तुम्हारा हर शक शांत किया जा सकता है—जैसे-तैसे, कमोबेश—कि मेरा कोई भी आदेश या इशारा नज़र-अंदाज नहीं किया जा सकता, कि तुम किसी हकीकत का सामना नहीं कर सकते, कि मेरा हर मज़ाक किसी न किसी मारू हकीकत की तरफ़ संकेत करता है. लेकिन इस तकरार को मैं न किसी मज़ाक पर जोड़ना चाहता हूं न किसी मस्ती पर. आज मैं तुम्हें यह सीधी-सी सीख देने के लिए ही सीधा हुआ हूं: अपने भीतर से बाहर की बहुरूपता को भी कभी-कभी सीधी आंख देख लिया करो, कि उसका आतंक तुम्हारे अहम्केंद्रित आतंक से अलग होगा—दूसरों के दुख-सुख से बना हुआ, एक साथ खूबसूरत और बदसूरत, धूप और धूल में लिपटा हुआ. तुम शायद कहना चाहो कि तुम अपने भीतर बैठे-बैठे ही उस आतंक की कल्पना क्यों नहीं कर सकते? कर सकते हो, एक अरसे से कर ही रहे हो, लेकिन अब तुम्हारी कल्पना में भी वह ताज़गी नहीं रही, अब उसे भी धूप और धूल की खुराक चाहिए, इसीलिए सुझा रहा हूं, मेरे सुस्त-समझ साथी, कि. . . लेकिन अचानक अपने इस ऊंचे अंदाज़ से उबकाई-सी आने लगी है. मैं देख रहा हूं कि इस पर तुम्हें हल्की-सी हैरानी भी हो रही है और खफ़ीफ़-सी खुशी भी. इतनी पुरानी अनन्यता के बावजूद या शायद अकारण जब कभी तुम्हें मुझ में कोई नन्हीं-सी कमज़ोरी नज़र आ जाती है तो तुम यों हैरान और खुश हो उठते हो जैसे तुम्हें अपना ही कोई शर्मनाक दोष मुझ में दिखायी दे गया हो. इतनी पुरानी अनबन के बावजूद तुम्हें यह मालूम नहीं हुआ कि अपनी तमाम इतराहटों के बावजूद मैं तुमसे न कद में बड़ा हूं न हद में, कि अपने तमाम नखरों के बावजूद मैं तुम से न नज़ाकत में बेहतर हूं न हिमाकत में, कि अपनी तमाम कलाबाजियों के बावजूद मैं तुम्हारी तरह मामूली मसखरा नहीं. इसलिए शायद एक आंख से तुम मुझे यों देख रहे हो जैसे कोई जाहिल बेटा अपने मदहोश बाप को, और दूसरी आंख से यों जैसे कोई गरीब बाज़ीगर किसी दूसरे गरीब बाज़ीगर को. वैसे मैं खुश हूं कि तुम मुझे अपना दोस्त भी समझते हो और दुश्मन भी, अपना बाप भी और बाज़ीगर भी, अपना शैतान भी और भगवान भी, अपनी आवाज़ भी और. . . अब मुझ पर रहम करो और मुझे यहीं रोक दो. लेकिन मैं इस तकरीर का अंत इस आवाज़ पर नहीं करना चाहता. मैं यह सोचने जा रहा हूं कि किस आवाज़ पर करूं. तब तक तुम यहीं बैठे रहो, गुम-सुम और गूंगे, किसी बुझे हुए बैरागी या जगमगाते हुए उल्लू की तरह. तब तक के लिए खुदा हाफ़िज़!

▣

मैं उसकी बताई हुई मुद्रा में बैठा उसकी वापसी का इंतज़ार कर रहा हूं. □

● **अंग्रेज़ी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क, पाट्स्डम, न्यूयार्क-13676.**

अंधेरे का एक समंदर था जिसमें सब कुछ डूब गया था. चारों तरफ सुनसान. ऐसा महसूस होता, जैसे कभी इस जगह कोई गांव था, पर अब तो यहां कुछ भी नहीं था. किसी कुत्ते के भौंकने की आवाज़ भी नहीं आती. हवा डर से सहमी हुई और दरख्तों व पत्तों ने अपनी सांस रोक ली थी.

अचानक ही हवा जैसे किसी चीज़ की आहट लेने को रुक गयी. अंधेरे भी कुछ कुलबुलाने से लगे. हल्की सी आवाज़ है—दूर से आती हुई. पत्थरों पर किसी छड़ी के बजने की आवाज़. कोई आहिस्ता-आहिस्ता चलता हुआ आ रहा था शायद.

छड़ी की आवाज़ करीब आयी. इस एक आवाज़ से ऐसा लगा जैसे दरख्तों के पत्ते सांस लेने लगे हैं. गलियों में खड़े घर भी आने वाले को देखने के लिए मुस्तैद हो गये.

पैरों से नंगी, छड़ी से रास्ता टटोलती बुढ़िया घरों के पास आ गयी थी. इतनी ठंड में भी उसके कुर्ते के ऊपर सिर्फ एक चादर थी. वह सांस ऐसे ले रही थी जैसे दो सांप फुफकार रहे हों.

वह गली में जाकर एक मकान के सामने आकर खड़ी हो गयी. अचानक उसकी आवाज़ ने अंधेरे को चीरकर रख दिया.

"अरी धन्नो, तू आ पहुंची." यह कहते ही उसने दरवाज़े को छड़ी के साथ ज़ोर से ठोका, "अरी रांड, मैं तो तेरी कुशल-क्षेम पूछने आयी थी, तुझसे कुछ छीनने तो नहीं आयी. दो कच्ची-पक्की रोटियां मैंने आज खुद ही पका ली थीं. वही निगल आयी हूं. यह मत समझना, मौसी कुछ मांगने आयी है. मैं तो तुम्हारा हाल जानने आयी हूं. पर लगता है तू सो गयी है. अच्छा, ठीक है, सो मर! सुबह आऊंगी तुम्हारा मातम करने."

छड़ी से रास्ता ढूंढ़ती हुई वह आगे बढ़ी. आश्चर्य की बात कि वह बुढ़िया कौन-सी धन्नो को आवाज़ें दे रही थी? किससे बातें कर रही थी? गांव में उसकी बातें सुनने वाला कौन था? सब घर खाली थे, सब दरवाज़े बंद थे.

एक जगह उसके पांव कीचड़ में सन गये. वह उत्तेजित हो उठी, "बारिश भी कमज़ात आज ही होनी थी? इस कुतिया को भी कोई और दिन नहीं मिला. . ." फिर कुछ नरम होकर बोली, "चलो बरसी तो सही, अच्छा ही हुआ. इतने दिनों से खेत सूखे पड़े थे. सिरसड़ों की कुछ तो प्यास बुझी होगी."

"अरे ओ भीमू," वह फिर एक दरवाज़े के आगे जाकर खड़ी हो गयी, और ज़ोर से दरवाज़े को ठोकर मारी, "तुमने अपने खेत देख लिये हैं ना? तुम्हारी मकई का क्या हाल है?" और एक हाथ उसने दरवाज़े पर रख दिया, "तुम्हरा बेड़ा पार हो. तुम शहर से वापस आ गये हो, मगर मेरे पास आकर मुझ हतभागिनी का हाल तक नहीं पूछा गया तुमसे. अरे, मैं तो हाथ जोड़-जोड़ कर तुम्हारे खेतों की खैर मांगती रही हूं. मैं इतनी गयी-गुज़री तो नहीं कि तुम्हारे एहसान भूल जाऊं. हमेशा ही तुम्हारा दिया हुआ खाया है. अब तक तुम्हारे ही खेतों के दाने खा-खाकर खत्म किये हैं. पर मन से यह कचोट कभी न जायेगी कि तुम भी जाते हुए मुझे भूल गये. अरे पाकिस्तानी तुम्हारे सिर पर तो नहीं आ गये थे .वे तो अब तक भी यहां नहीं आ सके. पर तुम ऐसे कायर निकले कि भागते हुए तुम्हें मेरा ज़रा भी ध्यान नहीं आया. मुझे मालूम है अगर मेरी बेटी लाजो आज ज़िंदा होती तो तुम मुझे पीठ पर लाद कर ले जाते—मेरी बेटी लाजो!" आंखों में भर आये आंसू उसने दुपट्टे के पल्लू से पोंछ लिये.' "कोई बात नहीं. तुम ज़िंदा रहो. तुम्हारी बड़ी उमर हो. मुझे यहां रहकर कौन-सा तोप का गोला आ लगा. वैसे ही पूरी-की-पूरी हूं. आराम से बैठी खा रही हूं. मेरी गालियों का तुम बुरा नहीं मनाना. मैं तो पागल हूं. मेरी मानो, अपनी शादी जल्दी रचा डालो. मैं इंतज़ार कर रही हूं कब ढोलक पर थाप पड़े, गाने वालियों के सुर गूंजें, बाजे वाले बाजे बजें. कुछ शोर हो. पाकिस्तानियों का काफी स्यापा कर लिया. अब तो जी घबराने लगा है." यह कहते-कहते सचमुच वह घबरा गयी. उसके लिए वहां खड़ा रहना मुश्किल हो गया. वह आगे चल दी. उसे यह कहने वाला वहां कोई न था कि वह क्यों इतना हल्ला कर रही है.
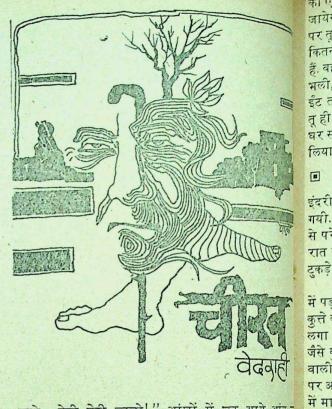
अंधेरे में छड़ी से रास्ता टटोलती वह आगे बढ़ी. आंखें चाहे वह नहीं देख पायी, परंतु छड़ी के सहारे उसे कहीं भी ठोकर नहीं लगती. उसके पैरों की और सांसों की आवाज़ सुनाई दे रही थी. सामने कुआं था, वह जान गयी. वह दाहिनी तरफ एक दरवाज़े की ओर मुड़ गयी. वह दरवाज़ा भी दूसरे दरवाज़ों की तरह का बंद था. छड़ी के साथ उसने दरवाज़े को पीटा, "तुमने भी दरवाज़ा बंद करना सीख लिया—इंदरीए! तुम्हारा दरवाज़ा तो हमेशा आधी-आधी रात तक मुस्टंडों के लिए खुला रहता था. डायन, तुमने तो शहर में जाकर भी अच्छा नाम कमाया है. भला यहां से भागने की क्या ज़रूरत थी! भागते हुए तुम्हें मैं देख लेती तो पूछती, तू कहां जा रही है? फौजियों के डर से तू भाग रही है? तेरा कलेजा तो वे ठंडा कर ही देंगे. तेरी जन्मों की भूख-प्यास मिटा देंगे वे. पर तेरी भूख-प्यास तो धमाकों से ही खत्म हो गयी. चार खसमों को खाकर भी तुम्हें

का ऐसा मोह था कुलच्छनी? मैंने सोचा था, तू मुझे जरूर साथ ले जायेगी. कहेगी, 'चल मौसी मैं तेरा हाथ पकड़कर ले चलती हूं.' पर तू भी ऐसी भागी कि पीछे मुड़कर नहीं देखा. तू भूल गयी, मैंने कितनी बार तेरे सुहाग गाये थे. ठीक कहते हैं, सभी सुख के साथी हैं. वहां जाकर तुझे क्या मिला. दर-बदर ही हुई होगी. मैं ही तुझसे भली, अपनी जगह बैठी रही. क्या हुआ यहां? किसी के घर की एक ईंट तक नहीं हिली. मैं तो रोज ही दरवाजे खटखटाती रही हूं. तू ही बता तेरे घर पर कोई बिजली गिरी क्या? चल, अब अपना घर संभाल.बदचलन कहीं की! अच्छा किया जो दरवाजा बंद कर लिया. बेशर्म, अब तुझे कोई पांचवां खसम नहीं मिलेगा."

▣

इंदरी की दहलीज को जोर से ठोकर मारकर वह एक तरफ हो गयी. पर फिर अचानक ही चौंक पड़ी,"तू भी आ पहुंचा! मेरे आगे से परे हट, कलमुहां कहीं का. जो हुआ सो हुआ. अगर अब मैंने रात को तेरे रोने की आवाज सुनी तो मैं छड़ी से तेरे सिर के दो टुकड़े कर दूंगी."

कोई कुत्ता भी आस-पास नहीं. मालूम नहीं कौन से भरमों में पड़ी थी बुढ़िया! बिना किसी को देखे आवाजें लगा रही थी. कुत्ते को भी डांट रही थी. अब वह कुएं की मेड़ पर बैठ गयी. उसे लगा जैसे कोई डोरी से पानी निकाल रहा है. वह कान लगाकर जैसे कुछ सुनने की कोशिश करने लगी. जैसे उसने पानी भरने वाली को पहचान लिया, "रानी है क्या? आजकल बहू,तू ने कुएं पर आना शुरू कर दिया क्या?" रानी को बुलाते समय उसके मुंह में मानो मिसरी-सी घुल गयी, "तेरा घरवाला भी तो कसाई ही निकला. आठ दिन भी घर नहीं रहा और नौकरी पर चला गया. ये फौजी सिपाही बड़े कठोर होते हैं. बड़ा सख्त कलेजा होता है इनका. मोहनू ने यह भी नहीं सोचा कि जो अपना घर छोड़कर आयी है, वह कैसे रहेगी अकेली! अभी तो तेरे मन की पूरी गांठें भी नहीं खुली होंगी. तेरी सास तो डायन है! डायन, कलेजा निकालकर खा लेती है. और जो तेरी दो ननदें हैं, वे पक्की शैतान हैं. मैं तो हर समय तेरे बारे में सोचती रहती हूं. कैसे कटते होंगे तेरे दिन-रात? तू मेरे पास आकर बैठा कर. मन का गुबार मेरे पास निकाल लिया कर, मैं तेरे आंसू पोंछ दिया करूंगी!"

कुछ समय तक फिर उसकी आवाज नहीं आयी. लगता था वह थक गयी है. उसकी सांस फूलने लगी और गला भी रुक गया था. हाथ-पांव ठंडे हो गये थे. उसने दोहरा पल्लू डाल लिया और कांपते पांव से आगे की ओर चल दी. गली की आखिरी दीवार का सहारा लेकर वह अंधेरे में इधर-उधर देखने लगी. जैसे रास्ता भूल रही हो. वहां से आगे दो रास्ते जाते थे. वह सामने वाली गली में घुस गयी और आहिस्ता-आहिस्ता अपने-आप से ही बोलने लगी, 'सभी थक गये हैं आते ही खोलियों में घुस गये. मालूम नहीं शहर जाकर इन्होंने क्या-क्या कष्ट भोगे हैं. क्या मालूम वहां खाने को भी कुछ मिला या नहीं? बताओ भला, इन कमजातों को भाग जाने को किसने कहा था? अब आ गये अच्छा ही किया. कितने आराम से अपने-अपने घरों में सो रहे हैं. मैं बेकार ही इनको इस समय तंग करने आयी हूं. कल भी तो मिल सकती थी. लगता है नंबरदार का घर आ गया है. इसको तो अभी सीधा करना पड़ेगा.

"ओ नंबरदार!" दरवाजे पर उसने जोर से छड़ी मारी और सारा जोर लगाकर चिल्लायी, "ओ अपनी मां के खसम, किसकी गोद में छिपा हुआ है. जरा बाहर तो आ बेगैरत! कहां का नंबरदार है तू? वोट लेने थे तो हाथ जोड़-जोड़कर, दोहरा हो-होकर नहीं थकता था और जब हमला हुआ तो सबसे पहले भागा. लानत है तेरी नंबरदारी पर. सौ जूते मारती हूं तेरे नाम पर. कौन-सा मुंह लेकर वापस आया है तू! बेहया, तुझे जरा भी शर्म नहीं आयी? कहां है तेरा बाप? जो बात-बात में अपने वंश की बड़ाई करता था. आज वह होता तो बताती उसकी जात क्या है? मैं गरीब लाचार बुढ़िया तुम लोगों पर इतनी भारी हो गयी, जो मुझ अकेली को छोड़कर भाग खड़े हुए. यह भी नहीं सोचा कि मैं पीछे डर से मर जाऊंगी. मुझे किसी ने यह भी नहीं बताया कि हमला हो गया है और पाकिस्तानी आगे बढ़ आये हैं. मुझे तो तब मालूम हुआ जब गांव में कोई भी नहीं रह गया था. गोलों की आवाज से जानवर भी भाग गये थे."

उसकी देह कांपने लगी. उसकी आंखें आंसुओं से भर गयी थीं, "अकेली रहकर मैं अभागिन क्या-क्या सहती रही, यह तो तुझे तभी मालूम हो सकता है जब तुझे अकेले को तोपों के गोलों के आगे छोड़ दिया जाये. मौत की जकड़ में तू भी फंसे, तो पता चले. मैं तो जी रही हूं तेरे मुंह पर कालिख पोतने के लिए. अब क्यों चुप हो रहा है? मरे, बाहर आ. तुझे जूते लगाऊं. सुबह तुझे गरदन से पकड़कर बाहर ले आऊंगी और सबसे कहूंगी, इसके मुंह पर थूको!"

बुढ़िया के मुंह से झाग बहने लगी थी. उसकी सारी देह कांप रही थी. अब वह गली से बाहर निकल आयी थी. .. आहिस्ता-आहिस्ता कदम उठाती हुई वह अपने घर की तरफ चल दी.

अपने घर के आगे आकर वह खड़ी हो गयी है. आंगन के चारों ओर कांटों की बाड़ थी. बबूल का एक पेड़ भी था. अंधेरे में वह भुतहा-सा लग रहा था. बुढ़िया के पांव के नीचे कांटे ही कांटे थे, पर उसे उनकी चुभन महसूस नहीं हो रही थी.

उसने पीछे मुड़कर देखा गांव अंधेरे के समंदर में डूबा हुआ था, लेकिन लगता था बुढ़िया एक-एक घर को देख पा रही है. सुनसान गलियां, बंद दरवाजे, चुपचाप दीवारें, मरे हुए घर, सभी कुछ तो अंधेरे में उसे दिखाई दे रहा था. खाली गांव की सारी लाचारी उसके आस-पास इकट्ठी होने लगी थी. अचानक ही वह डर से कांपने लगी. एक जोर की चीख उसके मुंह से निकलने लगी, पर दब गयी. दरवाजे बंद करके वह पागलों की तरह अंदर आकर इधर-उधर दौड़ने लगी. दीवारों से उसका सिर टकरा-टकराकर फटने लगा.

उसके मुंह से चीखें निकलने लगीं. वह जोर-जोर से चिल्लाने लगी. उसके गले से खून बहने लगा. बाल नोंच-नोंचकर कपड़े फाड़-फाड़ कर वह निढाल हो गयी और आखिर में एक कोने में गिर गयी. उसकी चीखें बंद हो गयी थीं और होंठ बड़-बड़ा रहे थे, "गांव के लोग कब वापस आयेंगे? कहां गये गांव के लोग? वे क्यों नहीं आते? वे क्यों नहीं आते!" ☐

—बी-35, सर्वोत्तम हाउसिंग सोसायटी, इरला ब्रिज, अंधेरी, बंबई-400058.

सांप: भक्षक और भक्ष्य के संबंधों की कथा

▣ विष्णु प्रभाकर

कोई रचना किसी को क्यों अच्छी लगती है, यह ठीक-ठीक बता पाना असंभव जैसा है, कम-से-कम मेरे लिए तो है ही. फिर भी यह प्रश्न मेरे सामने आया तो तुरंत एक नाम मेरे मस्तिष्क में उभर आया. वह था—'सांप'. बहुत-से दिग्गजों की महान रचनाएं मुझे लगभग कंठस्थ हैं, लेकिन 'सांप' कहानी के स्मरण मात्र से ही वह अपनी समस्त समग्रता में मुझे जकड़ लेती है. न कथानक, न नायक-नायिका, वातावरण ही वहां सब कुछ है और वह भी एक निर्मम, ठंडी तटस्थता से परिव्याप्त है.

कहानी का जीवशास्त्री जैविक अध्ययन के लिए जिस निसंगता से एक बिल्ली को मारने वाले डिब्बे में डालता है, उसी निसंगता से शेष बिल्लियों के लिए दुग्ध तैयार करता है और एक बिल्ली को प्यार भी करता है. वह उसी तरह अपना खाना भी खाता रहता है. कहानी में दूसरा मानव पात्र है, एक घुसपैठिया लंबी महिला, जिसमें आंखों को छोड़कर सब कुछ बेजान है. उसकी बातें भी आवेग-संवेग से रहित, शुष्कता की सीमा तक व्यवहारिक हैं. यह स्थिति जीवशास्त्री में तनाव पैदा करती है. उसी आवेग में वह एक बार लंबा भाषण दे डालता है, पर स्त्री उसी धीमे उतार-चढ़ावहीन लहजे में इतना ही पूछती है, "आप मुझे चूहे बेचेंगे?" एक बार तो डॉक्टर इतना उत्तेजित होता है कि चूहे के स्थान पर बिल्ली रखने का प्रस्ताव करता है, लेकिन तब भी स्त्री निसंगभाव से कहती है, "मैं तो इसे खाना खिलाना चाहती हूं."

अमेरिकन नर-सांप खरीदकर उस स्त्री का यह कहना 'यह मेरा है', अर्थ रखता है. वह उस सांप को खाते देखना चाहती है. सांप का चूहे को खाना सांडों की लड़ाई से अधिक मजेदार दृश्य होता है. वही दृश्य उस तथाकथित बेजान नारी में गति पैदा कर देता है. बदलते मूड्स के उस आरोह-अवरोह को कहानीकार ने लहरों की गति से रेखांकित किया है. प्रारंभ में उसमें भरती लहरें खंभों को सहलाती हैं. जब नारी की उपस्थिति जीवशास्त्री में तनाव पैदा करती है तो लहरें हल्के-हल्के थपेड़े मारने लगती हैं. जिस समय वह नारी एक दूसरे में गुथे सांपों के गुट्ठल के पास आती है तो खंभों के बीच पानी की 'छपक-छपक' सुनाई देने लगती है.

चूहा सांप के पिंजरे में निहायत तटस्थ भाव से दौड़ रहा है, पानी उसांसें लेने लगता है और बेजान नारी की सांसें गहरी-गहरी चलने लगती हैं, उसका शरीर ऐंठकर तन जाता है. सांप आक्रमण के लिए तैयार हो रहा है तो नारी झूमने लगती है और जब चूहा सांप के आक्रमण के बाद उछलकर गिर पड़ता है, छटपटाता है और प्राण तज देता है तो स्त्री मुक्ति की सांस लेकर बदन ढीला छोड़ देती है जैसे नींद में शरीर ढीला छोड़ दिया हो. लेकिन जब वह सांप को खाते देखने की इच्छा प्रगट करती है तो उसके मुंह के सिरों पर फिर हल्की-सी ऐंठन आ जाती है और जब यह नाटकीय दृश्य समाप्त हो जाता है तो लहरें कम हो जाती हैं. फर्श के पार से सीला-सीला भभका ही आ पाता है.

स्त्री चली जाती है, फिर आने का वायदा करके, "मैं इसे जी भरकर खिलाना चाहती हूं. फिर किसी समय साथ ले जाऊंगी." तब एक क्षण को अपने धू... धूमिल सपनों से उसकी आंखें पार नि... जाती हैं, "याद रखिये यह मेरा ... इसका ज़हर मत निकालिये. मेरी इ... है ज़हर इसमें ही रहे. अच्छा नमस्कार."

जैसे उसकी आंखें सपनों के ... देखती हैं, उसी तरह इस कहानी ... वास्तविक अर्थ के लिए शब्दों के ... देखना होगा. यह यौन-प्रतीकों की कह... है. यौन पिपासा या पर-पीड़न कामु... कुछ भी कह सकते हैं. अपने सूक्ष्माति... अंकन, निर्मम तटस्थता के कारण ... अत्यंत सार्थक और प्रभावशाली हो ... है. निश्चय ही कथ्य महत्वपूर्ण होता ... लेकिन उतने ही महत्वपूर्ण हैं कहानी के ... तत्व जो उसे कहानी बनाते हैं. उस... संप्रेषणीयता, उसकी भाषा. क्या कह... में प्रयुक्त भाषा पाठक तक वह कुछ ... षित करने में समर्थ है, जो लेखक कह... चाहता है. कुछ भी व्यर्थ नहीं, पात्र ... व्यर्थ नहीं. एक परेशान जीवशास्त्री, ... लंबी बेजान नारी, एक नर सांप और ... चूहा, ये ही तो रूपायित करते हैं कहा... को, पर बेचारा जीवशास्त्री...

लेकिन यह अत्यंत सशक्त कहा... क्या केवल इतना कुछ ही कहती है ... भक्षक और भक्ष्य के सूक्ष्माति... संबंधों, जीवशास्त्री और बेजान महिला ... संवेगों-आवेगों के उतार-चढ़ाव को उके... में लेखक को अद्‌भुत सफलता मिली ... भक्षक, भक्ष्य को इस तरह मोहाविष्ट ...

जॉन स्टीनबैक

देता है कि वह भयमुक्त होकर मृत्यु का वरण करता है. ऐसे, जैसे स्वर्ग के द्वार में प्रवेश कर रहा हो. दर्शक को दुख इसीलिए होता है कि वह उससे तादात्म्य कर लेता है. भक्षक और भक्ष्य को क्या शोषक और शोषित की संज्ञा नहीं दी जा सकती? चूहे की प्रतिक्रिया क्या मोहांध शोषित की प्रतिक्रिया नहीं हो सकती? बंधुआ मजदूर मोहांध ही तो होते हैं. धर्म-संस्कार, विधि-विधान सब मोहाविष्ट करते हैं और हम शहीद बन जाते हैं.

जीवशास्त्री कहता है, "ज्ञान के लिए वह हजारों जीवों की हत्या कर सकता है, लेकिन आनंद के लिए एक कीड़ा मारना भी उसके लिए मुश्किल है." लेकिन आनंद की परिभाषा क्या है? क्या यौन-तृप्ति मात्र आनंद है? राजनेता अपने नेतृत्व के लिए प्रदर्शन कराके हत्याएं करवा देता है, तो उसे क्या कहेंगे? युद्ध में वीरगति पाना तो आनंद से भी बढ़ कर पुण्य माना जाता है. धनी व्यक्ति दानी बनने की लालसा में भूख को शाश्वत बनाये रखना चाहता है. . . तर्क से न जाने कितने महत् आदर्शों की सृष्टि की जा सकती है.

पहली बार जब यह कहानी पढ़ी थी तो प्रभाव की सघनता ने तो मुझे जकड़ ही लिया था, अनेक प्रश्न भी मस्तिष्क में उभर उठे थे. सांप क्या मात्र ज्ञान का या यौन-पिपासा का प्रतीक है? शोषण और अंधी सत्ता का प्रतीक नहीं है? मरने वाला कब शहीद बन जाता है, कब साधन या भक्ष्य पात्र होकर रह जाता है? कब शोषित-शापित हो रहता है? वह लंबी बेजान नारी ऐसे ही अनेक प्रश्नों को जन्म देकर लोप हो जाती है और जीवशास्त्री उसकी तलाश में भटकता रहता है, अनुत्तरित प्रश्न की तरह.

प्रश्नानुकूलता, आवेग-संवेगों के सूक्ष्म अंकन, चित्रमयता, तटस्थता, निर्मम सघन प्रभावान्विति, अपनी इसी समग्रता में यह कहानी आज भी मुझे आवेष्ठित किये है. बहुत-सी कहानियों ने बहुत से कारणों से मुझे अभीभूत किया है, लेकिन इसके जैसी समग्र अनुभूति कहीं नहीं संभव हुई. निश्चय ही जितना कुछ मैं पढ़ गया उतने में ही. □

सांप

□ जॉन स्टीनबैक
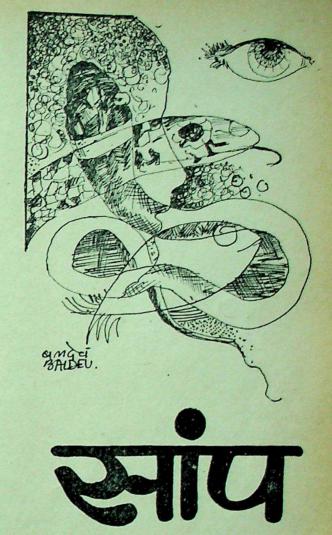
झुटपुटे का-सा समय था. डॉक्टर फिलिप्स ने झटके से घुमाकर झोला कंधे पर लादा और बाढ़ के पानी से भर जाने वाली पोखर जैसी जगह से चल पड़ा. पहले पत्थर के ढोके पर चढ़कर कुछ रास्ता पार किया और फिर रबर के बूटों से छप-छप करता सड़क पर निकल आया. मोंटेरी की मछलियों और दूसरी खाद्य-सामग्री को टिन के डिब्बों में भरने वाली सड़क पर उसकी अपनी छोटी-सी पेशेवर प्रयोगशाला थी. वहां तक आते-आते सड़क की बत्तियां जल चुकी थीं. दबा-भिंचा-सा छोटा-सा मकान था—इसका कुछ हिस्सा खाड़ी के पानी के ऊपर लट्ठों के खंभे और पुल लगाकर बना था और कुछ जमीन पर था. बड़े-बड़े लहरदार-लोहे की चादरों के बने मछली वाले, गंधाते गोदामों ने इसे दोनों ओर से बुरी तरह घेर और भींच रखा था.

काठ की सीढ़ियां चढ़कर डॉ. फिलिप्स ने दरवाजा खोला. सफेद चूहे अपने पिंजरे में तार के ऊपर-नीचे जोर-जोर से उछल-

कूद मचाने लगे और छोटे-छोटे बाड़ों में बंद क़ैदी बिल्लियां दूध के लिए म्याऊं-म्याऊं करने लगीं. डॉक्टर फिलिप्स ने अपनी चीर-फाड़ की मेज़ पर तेज़ चौंधा डालने वाली रोशनी जला दी और उस लिसलिसे झोले को धम्म से धरती पर पटक दिया. फिर वह खिड़की के पास रखे शीशे के पिंजरों के पास आया और झुककर भीतर देखने लगा. इनमें अमेरिकन सांप बंद थे.

सांप एक दूसरे में गुंथे हुए कोनों में आराम कर रहे थे, लेकिन सबके सिर अलग-अलग साफ दिखायी देते थे. धूमिल आंखें किसी ओर भी देखती नहीं लगती थीं, लेकिन जैसे ही नौजवान डॉक्टर पिंजरे पर झुका कि सिरे पर काली और पीछे से सुर्ख दुहरी जीभें बाहर लपलपा उठीं और धीरे-धीरे ऊपर-नीचे हिलने लगीं. जब सांपों ने उस व्यक्ति को पहचान लिया तो जीभें भीतर कर लीं.

डॉ. फिलिप्स ने चमड़े का कोट एक तरफ फेंका और टीन की अंगीठी पर पानी की केतली चढ़ायी, फिर गिलास-भर मटर उसमें छोड़ दी. अब वह फ़र्श पर पड़े उस झोले को खड़ा-खड़ा घूरता रहा. डॉक्टर दुबला-पतला-नौजवान था. उसकी आंखें चुंधियायी, छोटी और खोयी-खोयी थीं जैसी अक्सर अण्वीक्षण-यंत्र के द्वारा बहुत अधिक देखते रहने वालों की हो जाती हैं. उसके छोटी ख़ूबसूरत-सी दाढ़ी थी. गहरी-गहरी सांसों-सी सिसकारी भरती हुई भाप की धारी चिमनी में जा रही थी और अंगीठी से गरमाहट का भभका आ रहा था. मकान के नीचे छोटी-छोटी लहरें हौले-हौले खंभों को सहला रही थीं. कमरे में चारों ओर लकड़ी के खानों में एक के ऊपर एक अजीबोगरीब इमर्तबान सजे थे. इनमें समुद्री वस्तुओं और जीवों के नमूने ढंके रखे थे. यह प्रयोगशाला भी थी इन्हीं सबके लिए.

डॉ. फिलिप्स ने बगल का दरवाज़ा खोलकर सोने वाले कमरे में प्रवेश किया. इसमें चारों ओर किताबों की लाइनें लगी थीं. एक फौजी खाट पड़ी थी. पढ़ने के लिए रोशनी और एक ग़ैर-आरामदेह क़िस्म की लकड़ी की कुर्सी रखी थी. उसने अपने रबर के बूट खींच-खींचकर उतारे और भेड़ की खालों के स्लीपर पहन लिये. जब वह बगल वाले कमरे में वापस लौटा तो केतली का पानी सनसनाने लगा था.

उसने झोला उठाकर मेज़ पर सफेद रोशनी के नीचे रखा और उसमें से दो दर्जन साधारण तारक-मछलियां उलटकर बाहर निकलीं. इन्हें उसने मेज़ पर फैला दिया. फिर उसकी खोयी-खोयी आंखें पिंजरों में बंद उछल-कूद मचाते चूहों की ओर मुड़ीं. काग़ज़ के एक थैले से अनाज के दाने निकालकर उसने खाने वाले तसलों में डाले. चूहे फ़ौरन ही एक दूसरे को खूंदते तारों से नीचे की ओर दौड़े और खाने पर टूट पड़े. कांच की एक अलमारी पर केकड़े और जेली मछली के बीच दूध की बोतल रखी थी. डॉक्टर फिलिप्स ने झुककर दूध उठाया और बिल्लियों के पिंजरे की ओर बढ़ा. लेकिन डिब्बों को दूध से भरने से पहले ही उसने हाथ बढ़ाकर आहिस्ता से एक बड़ी, लंबे-लंबे हाथ-पांवों वाली मरगिल्ली-सी, चितकबरी बिल्ली को पकड़कर बाहर निकाल लिया. पल-भर उसे हाथ से थपथपाया और फिर उसे काले पुते हुए बक्से में डाल दिया. ढक्कन बंद करके कुंडी चढ़ा दी. इसके बाद एक हैंडिल घुमा दिया. अब उस मारने वाले डिब्बे में गैस भरने लगी. काले डिब्बे में हल्की-हल्की उछल-कूद हो[illegible] रही और वह तसलों को दूध से भरता रहा. एक बिल्ली उसके [illegible] से सटकर कमान जैसी दुहरी हो गयी तो वह मुस्करा पड़ा. उ[illegible] उसकी गर्दन प्यार से सहला दी.

डिब्बे में अब शांति हो गयी थी. उसने हैंडिल [illegible] उलटा घुमा दिया. ज़रूर उस रंध्रहीन डिब्बे में डटकर गैस [illegible] होगी.

अंगीठी पर मटर भरे गिलास के चारों ओर पानी बुरी त[illegible] खौल रहा था. डॉ. फिलिप्स ने एक संडासी से पकड़कर गिला[illegible] बाहर निकाला और उसे खोलकर मटर कांच की एक त[illegible] में उलट लिये. खाते-खाते वह मेज़ पर रखी उन तारक मछलि[illegible] को देखता रहा. किरणों के बीच में दूधिया द्रव की छोटी-छो[illegible] बूंदे पसीज-पसीजकर निगल आयी थीं. उसने फटकने की त[illegible] बची हुई मटर एक तरफ फेंक दी और जब सब फैल गयीं [illegible] तश्तरी धोने वाले नांद में रखकर अपनी औज़ारों वाली अलमा[illegible] की ओर बढ़ा. यहां से उसने एक अण्वीक्षण-यंत्र और कांच [illegible] तश्तरियों की एक गड्डी निकाली. नल द्वारा एक-एक करके [illegible] सारी तश्तरियों को समुद्री पानी से भरा और तारक-मछलियों [illegible] पास एक लाइन में उन्हें सजा दिया. अपनी घड़ी निकाली [illegible] घनी उमड़ती सफेद रोशनी के नीचे मेज़ पर रख दिया. [illegible] के नीचे लहरें उसमें भरती हुई-सी खंभों को सहला रही [illegible] उसने एक दराज़ से आंख में दवा डालने वाली कांच की [illegible] पिचकारी निकाली और एक तारक-मछली के ऊपर झुक गया.

ठीक उसी समय लकड़ी की सीढ़ियों पर लपकती, दबे कद[illegible] की आवाज़ के साथ-साथ दरवाज़े पर एक तेज़ दस्तक सुनायी [illegible] दरवाज़ा खोलने जाते हुए नौजवान के चेहरे पर झुंझलाह[illegible] की हल्की तल्ख़ी झलक उठी. दरवाज़े में एक पतली-दुब[illegible] लंबी-सी स्त्री खड़ी थी. वह भंवर-काला सूट पहने थी. [illegible] उसके सीधे-सीधे बाल काले चपटे माथे पर नीचे तक उग आ[illegible] थे. अब इस तरह अस्त-व्यस्त थे मानो आंधी में उड़ते रहे [illegible] तेज़ रोशनी में उसकी काली-काली आंखें चमक रही थीं.

उसने मुलायम, रुंधी-सी आवाज़ में पूछा, "मैं भीतर [illegible] जाऊं न? आपसे कुछ बातें करना चाहती हूं."

"इस समय तो मैं बहुत व्यस्त हूं." उसने बेमन से कह[illegible] "मुझे तो सारे काम वक्त पर ही करने पड़ते हैं." लेकिन वह दरवा[illegible] से हटकर खड़ा हो गया था. लंबी स्त्री तिरछी होकर भीतर [illegible] गयी.

"आपको जब तक मुझसे बात करने की फुरसत न[illegible] मिलेगी, मैं चुपचाप बैठी रहूंगी."

उसने दरवाज़ा बंद कर लिया और सोने के कमरे से उ[illegible] गैर-आरामदेह कुर्सी को उठा लाया, "देखिए", "उसने मा[illegible] मांगते हुए कहा, "कार्य की प्रक्रिया शुरू हो गयी है और मु[illegible] उसमें लगना है." जाने कितने आदमी यों ही चले आते हैं [illegible] दुनिया भर के सवाल पूछते हैं. साधारण नासमझ लोगों को सा[illegible] कार्य-प्रणाली समझाने के लिए उसके पास अलग से कोई साध[illegible] या सुविधा नहीं है. उनसे तो वह बिना सोचे बोल देता है [illegible] "आप यहां बैठिए, दो मिनट बाद मैं आपकी बातें सुनूंगा[illegible]

वह लंबी स्त्री मेज़ के ऊपर झुक आयी. आंख में दवा डाल[illegible]

की पिचकारी से डॉक्टर ने तारक-मछलियों की किरणों के बीचों-बीच से द्रव इकट्ठा किया और पिच्च से पानी के एक प्याले में छोड़ दिया. इसके बाद उसने कुछ दूधिया द्रव सूंता और फिर पिचकारी से पानी को धीरे-धीरे हिलाया. अब उसने अपना वही व्याख्यान-भाषण जल्दी-जल्दी बोलना शुरू किया:

"जब ये तारक-मछलियां अपने पूर्ण विकसित यौवन पर आ चुकती हैं तो हल्के ज्वार का खुला विस्तार पाकर इनके शरीर से वीर्य-कीटाणु और डिंब निकलने लगते हैं. कुछ पूर्ण यौवन वाली तारक-मछलियों के नमूने चुन कर और उन्हें पानी से बाहर निकाल कर मैं उन्हें हलके ज्वार की सारी अवस्था और वातावरण में यहां रखता हूं. अब मैंने वीर्य और डिंबों को मिला दिया है. इस घोल में से थोड़ा-थोड़ा लेकर अब मैं इन सब परीक्षण-गिलासों में रखूंगा. दस मिनट बाद पहले गिलास वालों को सफेद कपूर डालकर मार डालूंगा, फिर बीस मिनट बाद दूसरे वर्ग को मारूंगा. और फिर इसी तरह हर बीस मिनट बाद नये वर्ग को मारता जाऊंगा. इससे मैं सारी प्रक्रिया को अलग-अलग अवस्थाओं में पकड़ सकूंगा और इस सारी प्रक्रिया-माला को माइक्रोस्कोप की कांच की स्लाइडों पर जमाकर जैविक अध्ययन के लिए तैयार कर लूंगा," वह रुक गया, "आप इस पहले वर्ग को अण्वीक्षण-यंत्र से देखेंगी?"

"नहीं, शुक्रिया."

तेजी से वह उसकी ओर घूमा. लोग तो हमेशा गिलासों में देखने को उधार खाये रहते हैं. वह मेज की तरफ बिल्कुल न देखकर—देख रही थी, खुद उसकी तरफ. उसकी काली-काली आंखें थीं तो उसकी दिशा में; लेकिन लगता था उसे देख नहीं रहीं. उसने महसूस किया, अरे! इस स्त्री की आंखों के तारे तो शेष पुतलियों की तरह ही काले-काले हैं—पुतलियों और तारों के बीच में किसी भी रंग की कोई लाइन नहीं है. डॉ. फिलिप्स उसके इस जवाब से झल्ला उठा. यों उसे सवालों का जवाब देने से बड़ी ऊब होती थी—क्योंकि इससे हाथ के काम में दिलचस्पी कम हो जाती थी और इसी से उसे हमेशा बड़ी कोफ्त होती. अब उसके मन में हुआ कि किसी तरह इस स्त्री को उकसाया जाये.

"पहले दस मिनट राह देखने के दौरान ही मुझे एक काम और भी करना है. कुछ लोग इसे देखना पसंद नहीं करते. अच्छा हो जब तक मैं इसे खत्म करूं, आप कुछ देर के लिए उस कमरे में चली जायें."

"नहीं," उसने अपने उसी मुलायम और सपाट लहजे में कहा, "आपकी जो इच्छा हो सो कीजिए. मैंने कहा न, आपको मुझसे बात करने की फुरसत होने तक मैं राह देखूंगी." उसके हाथ पास-पास उसकी गोद में रखे थे. वह बड़े आराम और इत्मीनान से बैठी थी. उसकी आंखें जरूर चमकीली थीं, लेकिन बाकी सब कुछ ऐसा था मानो बेजान हो. डॉक्टर ने मन ही मन कहा, 'देखने से लगता है कि बहुत ही धीमी रफ्तार से मांस-पेशियां परिवर्तन की स्थिति में हैं—इतनी धीमी जितनी मेंढक की होती हैं.' स्त्री को उसकी इस मुर्दनी से झंझोड़ने की प्रबल इच्छा ने उसे फिर आविष्ट कर लिया.

उसने लकड़ी का एक पालना-जैसा लाकर मेज पर रखा, चीर-फाड़ करने का चाकू और कैंची पिचकने वाली नली में लगी पोली-सुई संवार कर रखी, फिर मारने वाले डिब्बे से उसने उस बेजान मुर्दा बिल्ली को निकाला और पालने पर रखकर उसकी टांगों को इधर-उधर लगे हुकों से बांध दिया. कनखियों से उसने स्त्री को देखा. उसमें कतई कोई हरकत नहीं थी. वह उसी तरह अब भी आराम से बैठी थी.

रोशनी में बिल्ली मानो दांत निकाल कर चिढ़ा रही थी. उसकी सुर्ख जीभ नुकीले दांतों के बीच दबी थी. सधे हुए कुशल हाथों से डॉ. फिलिप्स ने गले के पास से उसकी खाल काट डाली. चाकू से चीरा-फाड़ी करते हुए उसने हृदय से और भागों तक रक्त ले जाने वाली नली को बाहर निकाल लिया. अपने अचूक और बेझिझक हाथों से फुफ्फुस में सुई रखकर आंतों से उसे कसकर बांध दिया. "यह मसालेदार है," उसने समझाया, "बाद में मैं इंजेक्शन की सहायता से इसके सारे स्नायु-मंडल में पीला द्रव पहुंचाऊंगा, लाल द्रव हृदय की धमनियों में दूंगा. इससे रक्त-प्रवाह का विश्लेषण किया जा सकेगा, जैसा कि प्राणिशास्त्र की कक्षाओं में. . . . "

उसने फिर उस स्त्री की तरफ घूमकर देखा. उसकी आंखों पर जैसे धूल की एक परत फैली थी. वह भावना-हीन निगाहों से बिल्ली के कटे हुए गले की तरफ देखे जा रही थी. खून एक बूंद भी नहीं गिरा, कटाई बहुत ही साफ हुई थी. डॉक्टर फिलिप्स ने घड़ी देखी: 'पहले वर्ग का समय पूरा हो गया.' उसने सफेद कपूर के कुछ चौकोर चिकने टुकड़े पहले वाले परीक्षण-गिलास में डालकर हिलाये.

स्त्री की उपस्थिति उसके मन में तनाव पैदा कर रही थी. अपने पिंजरे में चूहे फिर तार पर जा चढ़े थे और धीरे-धीरे चूं-चूं कर रहे थे. मकान के नीचे की लहरें खंभों पर हल्के-हल्के थपेड़े मार रही थीं.

नौजवान डॉक्टर के शरीर में शीत की एक झुरझुरी-सी आयी. उसने अंगीठी में कुछ कोयले डाले और आकर बैठ गया. उसने कहा, "अब बीस मिनट तक मुझे कुछ नहीं करना." उसने देखा, स्त्री के निचले होंठ और चिबुक के सिरे के बीच की ठोड़ी कितनी जरा-सी है. लगा जैसे वह धीरे-धीरे जागी हो—मानो चेतना के किसी गहरे कुएं से निकल कर बाहर आ रही हो. सिर ऊंचा उठा, काली-काली धूसर आंखें एक बार कमरे में चारों ओर घूमीं फिर डॉक्टर पर आकर टिक गयीं.

"मैं तो राह देख रही थी," वह बोली. हाथ यों ही गोद में पास-पास रखे रहे, "आपके पास सांप होंगे?"

"किसलिए? जी हां, हैं तो." उसने अपेक्षाकृत ऊंचे स्वर से कहा, "मेरे पास करीब दो दर्जन अमेरिकन सांप हैं. उनका जहर सूंतकर मैं विषनाशक प्रयोगशालाओं में भेज देता हूं."

वह लगातार उसे देखे जा रही थी; लेकिन उसकी आंखें जैसे उस पर केंद्रित नहीं हो पा रही थीं. लगता था जैसे वे उसके चारों ओर एक बड़े दायरे में देख रही हैं—इस तरह उसे चारों ओर से घेरे हुए हैं, "आपके पास नर-सांप होगा? मेरा मतलब अमेरिकन नर-सांप?"

"देखिए, इत्तफाक ही है. मेरा खयाल है मेरे पास होगा. एक दिन सुबह-सुबह आया तो देखा कि एक बड़ा-सा सांप एक छोटी नागिन के साथ ऊं-ऊं...के साथ सहवास कर रहा था. देखिए, मुझे

ठीक पता है कि मेरे पास नर-सांप है."

"है कहां वह?"

"देखिए, उस खिड़की के पास कांच के पिंजरे के ठीक नीचे."

उसका सिर धीमे-से उधर घूम गया, लेकिन उसके दोनों शांत हाथ यों ही निश्चल पड़े रहे. वह फिर उसकी ओर घूमी, "देख सकती हूं न?"

उठकर वह खिड़की के पास रखे कांच के केस के पास आ गया. रेतीले तले पर एक दूसरे में गुंथा सांपों का गुट्ठल पड़ा था, लेकिन उनके सिर अलग-अलग साफ दीखते थे. जीभें बाहर निकल आयीं और एक क्षण तक लपलपाती रहीं. फिर कंपन के लिए हवा को टटोलती हुई-सी ऊपर-नीचे लहराती रहीं. डॉक्टर फिलिप्स ने घबराकर सिर घुमाया. स्त्री उसके पास ही खड़ी थी. वह कुर्सी से कब उठ आयी, डॉक्टर को पता ही नहीं लगा. उसे तो सिर्फ खंभों के बीच में पानी की छपक्-छपक् सुनाई दी थी या तारों की जाली पर चूहों का दौड़ना सुनाई दिया था.

स्त्री ने धीरे से पूछा, "जिस नर-सांप के बारे में आप बता रहे थे, वह कौन-सा है?"

उसने एक पिंजरे के एक कोने में अकेले पड़े मोटे-से भूरे-भूरे नाग की ओर इशारा किया, "वो वाला. होगा करीब पांच फीट लंबा. टैक्सास प्रांत का है. हमारे प्रशांत सागर के किनारों वाले सांप अक्सर छोटे होते हैं. यह सारे के सारे चूहे हड़प जाते हैं. जब मुझे दूसरे सांपों को खिलाना होता है तो बाहर निकाल लेता हूं."

स्त्री झुककर उस भोंडे सूखे-सूखे भोंथरे सिर को घूरती रही. दुहरी जीभ निकल आयी और काफी देर तक थरथराती हुई झूलती रही, "अच्छा, आपको यकीन है कि यह सांप ही है. सांपिन नहीं?"

"ये अमेरिकन सांप होते बड़े मज़ेदार हैं," वह स्निग्ध स्वर में बोला, "इसके बारे में जो भी सामान्य सिद्धांत निकालिए गलत निकलता है. अमेरिकन सांपों के बारे में निश्चयपूर्वक तो मैं भी नहीं बता पाऊंगा, लेकिन, जी हां, यह विश्वास दिलाता हूं कि है यह नर-सांप ही."

उसकी निगाहें उस चपटे-से सिर से नहीं हिलीं, "आप इसे मेरे हाथ बेचेंगे?"

"बेचूंगा?" वह चीख-सा पड़ा, "आपके हाथों बेचूंगा?"

"आप तो नमूने की चीजें बेचते हैं. क्यों, बेचते हैं न?"

"ओह हां, जी हां, बेचता तो हूं, बेचता तो हूं."

"कितने का है? पांच डालर का? दस?"

"अरे, पांच से ज्यादा का नहीं है. लेकिन——आपको क्या इन अमेरिकन सांपों के बारे में जानकारी है? कहीं आपको काट-वाट न ले."

पल भर वह उसे देखती रही, "मैं इसे साथ नहीं ले जाना चाहती, मैं तो इसे यहीं रहने दूंगी. लेकिन——चाहती हूं, यह मेरा होकर रहे. चाहती हूं कि मैं यहां आकर इसे देखूं, खिलाऊं और मानूं कि यह मेरा है." उसने एक छोटा-सा बटुआ खोलकर पांच डालर का नोट निकाल लिया, "लीजिए यह, अब यह मेरा हुआ."

डॉक्टर फिलिप्स को अब डर लगने लगा, "उसे देखने तो आप बिना इसे खरीदे भी आ सकती हैं!"

"मैं चाहती हूं यह मेरा हो."

"ओह गॉड!" डॉक्टर चिल्ला उठा, "बातों में मुझे तो समय का भी खयाल नहीं रहा," वह मेज़ की ओर लपका, "तीन मिनट पूरे हो चुके. खैर, कोई खास नुकसान नहीं हुआ होगा." उसने सफेद कपूर के टुकड़े दूसरे परीक्षण-गिलास में घोले और फिर जैसे वह खुद-ब-खुद वापस सांपों के पिंजरे के पास खिंच गया. स्त्री अभी भी उसी सांप को घूरे जा रही थी.

स्त्री ने पूछा, "खाता क्या है यह?"

"मैं तो इसे सफेद चूहे खिलाता हूं. उस तरफ वाले पिंजरे के चूहे."

"इसे आप दूसरे पिंजरे में रखेंगे? मैं इसे खिलाना चाहती हूं."

"लेकिन इस समय इसे खाने की जरूरत ही नहीं है. अपने इस हफ्ते का चूहा यह हजरत पहले ही खा चुके हैं. कभी-कभी तो ये लोग तीन-तीन चार-चार महीनों तक कुछ नहीं खाते. मेरे पास एक सांप था, उसने एक साल से ऊपर तक कुछ भी नहीं खाया."

अपने उसी धीमे उतार-चढ़ाव-हीन लहज़े में स्त्री ने पूछा, "आप मुझे चूहा बेचेंगे?"

डॉक्टर ने कंधे झटके, "आप अपने सांप को खाते देखना चाहती हैं? अच्छी बात है. मैं दिखाता हूं आपको. एक चूहे का दाम पच्चीस सेंट होगा. एक तरफ से देखें तो सांप का चूहे को खाना सांडों की लड़ाई से भी ज्यादा मज़ेदार दृश्य है और दूसरी तरफ से देखें तो यह सिर्फ सांप के भोजन करने का एक तरीका है." उसके लहज़े में कड़वाहट आ गयी थी. प्राकृतिक कार्य-कलाप को जो लोग खेल और क्रीड़ा बना डालते हैं——उनसे उसे नफ़रत थी. वह खिलाड़ी नहीं, जीव-शास्त्री था. ज्ञान के लिए वह हजारों जीवों की हत्या कर सकता है, लेकिन आनंद के लिए एक कीड़ा मारना भी उसके लिए मुश्किल है——यह उसके दिमाग में पहले से ही एकदम साफ था.

स्त्री ने धीरे-धीरे अपना सिर उसकी ओर घुमाया और उसके पतले-पतले होठों पर मुस्कराहट झलक उठी, "मैं अपने सांप को खिलाना चाहती हूं," वह बोली, "मैं इसे दूसरे पिंजरे में रखूंगी." उसने पिंजरे का ऊपर का ढक्कन खोल लिया था और इससे पहले कि डॉक्टर जाने कि वह क्या कर रही है, उसने अपना हाथ भीतर डाल दिया. डॉक्टर एकदम छलांग लगाकर उसके पास पहुंचा और झट उसे पीछे खींच लिया. ढक्कन धड़ से गिर कर बंद हो गया.

"आपको अक्ल है या नहीं?" उसने गुस्से से पूछा, "हो सकता है वह आपको जान से न मारता; आपकी तबीयत ज़रूर अच्छी तरह दुरुस्त कर देता. फिर मेरी लाख कोशिशों के बाद भी आपको तारे नज़र आते रहते."

वह निरुद्विग्न शांत-भाव से बोली, "तो फिर आप ही इसे दूसरे पिंजरे में रख दीजिए."

डॉ. फिलिप्स को जैसे किसी ने झकझोर डाला. उसे महसूस हुआ कि जो आंखें किसी को भी देखतीं नहीं लग रही हैं——वह उन्हें सीधे देखने से कतरा रहा है. उसे लगा कि पिंजरे में चूहा डालना निहायत ही गलत है——जैसे इसमें कोई घोर पाप है. लेकिन ऐसा सब उसे क्यों लगा, वह खुद नहीं जान पाया. जब

किसी ऐरे-गैरे ने चाहा है, उसने पिंजरे में चूहे डाले हैं; लेकिन आज रात, इस विशेष इच्छा ने उसे इतना अस्वस्थ और असंतुलित बना डाला है कि मन खराब हो गया है. वह खुद अपने लिए इस सारी बात को समझने की कोशिश करता रहा.

"यों इसे देखना है तो बड़ा अच्छा," वह बोला, "इससे आपको पता चलेगा कि सांप कैसे अपना काम करता है? इससे यह भी लगता है कि आपके दिल में अमेरिकन सांपों के लिए इज्जत है. लेकिन एक बात और भी है, सांप किस तरह अपने शिकार को मारता है, इसे लेकर हजारों लोगों को अजब-अजब खौफनाक खयालात होते हैं. मुझे लगता है इसका कारण चूहे के साथ अपना तादात्म्य कर लेना है. उस समय चूहा व्यक्ति का अपना प्रतिबिंब हो जाता है. लेकिन एक बार आप इसे अपनी आंखों से देख लें, तो सारी चीज बड़ी ही निरपेक्ष और तटस्थ लगे. चूहा केवल शुद्ध चूहा रह जाता है और सारा खौफ़ हवा हो जाता है."

उसने दीवार पर लगी एक लंबी-सी छड़ी उठा ली, इसमें एक सरकने वाला चमड़े का फंदा लगा था. जाल खोलकर उसने फंदा बड़े सांप के सिर पर डालकर खींचा और गांठ को कस दिया. एक कर्णभेदी खड़खड़ाहट सारे कमरे में भर गयी. जब उसने सांप को उठाकर खाने वाले पिंजरे में डाला तो छड़ी की मूठ पर सांप का मोटा-सा शरीर बुरी तरह लिपट गया था. कुछ देर तो उस पिंजरे में वह हमला करने को तैयार तना खड़ा रहा, लेकिन फिर धीरे-धीरे उसकी फुंकारें बंद हो गयीं. सांप रेंगता हुआ कोने में सरक गया और अपने शरीर को हिंदी अंक चार की शक्ल में डालकर चुपचाप लेट गया.

"देखा आपने," नौजवान डॉक्टर ने समझाया, "ये सांप काफी पालतू हैं. मेरे पास तो ये काफी दिनों से हैं. मेरा ख्याल है कि अगर मैं चाहूं तो इन्हें ही अपना कार्य-क्षेत्र बना सकता हूं, लेकिन जो भी इन अमेरिकन सांपों को अपना कार्य-क्षेत्र बनाता है, देर-सबेर इनके दांतों का शिकार हो जाता है और इस तरह तकदीर के साथ खिलवाड़ करने का मेरा कतई इरादा नहीं है." उसने स्त्री को नजर भरकर देखा. पिंजरे में चूहा डालना उसे अच्छा नहीं लग रहा था—जैसे बड़ी वितृष्णा हो रही हो. स्त्री अब नये पिंजरे के सामने जा पहुंची थी. उसकी काली-काली आंखें फिर से सांप के पथरीले सिर को टकटकी लगाये देखे जा रही थीं.

बोली, "चूहा डालिए न भीतर!"

बड़े बेमन से वह चूहों के पिंजरे की ओर बढ़ा. जाने क्यों, उसे चूहे पर बड़ा तरस आ रहा था. इस तरह तो उसने पहले कभी भी महसूस नहीं किया. तार की जाली के पीछे अपनी ओर उछलते सफेद-सफेद शरीरों वाले चूहों के खचपच-खचपच करते ढेर को उसकी आंखें टटोलती-सी देखती रहीं. 'कौन-सा हो?' उसने मन ही मन कहा, 'इनमें से कौन-सा चूहा हो?' अचानक गुस्से से वह स्त्री की तरफ घूम पड़ा, "आप कहें तो चूहे की बजाय एक बिल्ली न रख दूं भीतर? तब आप देखेंगी कि सचमुच की लड़ाई क्या होती है? बिल्ली, हो सकता है जीत भी जाये, लेकिन अगर वह जीत गयी तो हो सकता है सांप का काम तमाम कर डाले. आप चाहें तो मैं आपके हाथ एक बिल्ली बेच सकता हूं."

स्त्री ने उसकी ओर मुड़कर देखा तक नहीं, "एक चूहा रख दीजिए भीतर", वह बोली, "मैं तो इसे खाना खिलाना चाहती हूं."

डॉक्टर ने चूहों का पिंजरा खोला और अपना हाथ भीतर ठूंस दिया. उंगलियों की पकड़ में एक पूंछ आ गयी तो उसने एक लाल-लाल आंखों वाले गोल-मटोल चूहे को खींचकर ऊपर उठा लिया. पहले तो वह उसकी उंगलियों को काटने की कोशिश में छटपटाया, पर फिर हारकर चारों हाथ-पांव फैला कर चुपचाप बेजान की तरह पूंछ से लटका रहा. डॉक्टर तेजी से कमरा पार करके आया, खाने वाले पिंजरे का ढक्कन खोला और चूहे को फर्श पर सांप के ऊपर फेंक दिया.

"लीजिए, देखिए अब," उसने लगभग चीख कर कहा.

चूहा पांवों के बल गिरा, चारों तरफ घूमा और अपनी सुर्ख नंगी पूंछ की तरफ सूं-सूं करता रहा. फिर नथुने फलाकर संघते हुए से निहायत तटस्थ भाव से रेत पर दौड़ लगाने लगा. कमरे में एकदम स्तब्धता छायी थी. डॉ. फिलिप्स की समझ में नहीं आया कि नीचे के खंभों में पानी ही उसांसें ले रहा है या स्त्री की सांसें गहरी-गहरी चलने लगी हैं. एक कनखी से उसने देखा, स्त्री का शरीर ऐंठ और तन-सा गया है.

बहुत ही आहिस्ते और धीरे-धीरे सांप आगे सरका. जीभ बाहर और भीतर लपलपाने लगी. सारी हरकत इतनी नामालूम, आहिस्ता और धीरे-धीरे हो रही थी कि लगता ही नहीं था कि सांप के भीतर कोई हरकत हो भी रही है. पिंजरे के दूसरे सिरे पर चूहा आत्माभिमान से तना हुआ-सा बैठ गया था और सिर झुकाकर अपनी छाती के मुलायम, महीन-महीन बालों को चाटने लगा था. अपनी गर्दन को दृढ़तापूर्वक रोमन अक्षर 'एस' की शक्ल में रखे हुए सांप आगे सरक रहा था.

चुप्पी नौजवान के सिर पर मानो धक-धक बज रही थी. उसे लगा जैसे खून उसके शरीर में सन्नाने लगा है. उसने ऊंचे स्वर में कहा, "देखिए,सांप हमला करने के लिए सिर के मरोड़ को हमेशा तैयार रखता है. ये अमेरिकन सांप बड़े ही चौकन्ने होते हैं. कहना चाहिए बड़े ही डरपोक जीव होते हैं. यह सारी कार्यवाही बेहद नाजुक होती है. जैसी कुशलता और चतुराई से सर्जन अपना काम करता है, ठीक उसी तरह सांप का भोजन भी बड़ी कुशलता और सावधानी से होता है. सर्जन जानता है कि किस जगह कौन औजार काम आयेगा—वहां वह इस या उस औजार को प्रयोग करने का जोखिम नहीं उठा सकता."

अब तक सांप पिंजरे के बीचों-बीच सरक आया था. चूहे ने सिर उठाया, सांप को देखा और फिर उसी तटस्थता और इत्मीनान से अपनी छाती को चाटने लगा.

"दुनिया की यह सबसे खूबसूरत और आकर्षक चीज है," नौजवान ने बताया. खून उसकी नसों में बजने लगा था, "साथ ही यह दुनिया की सबसे खौफनाक चीज भी है."

सांप अब पास आ गया था. अब उसका सिर रेत से कुछ इंच ऊंचा उठ आया था. दूरी का अंदाज़ लगाता हुआ सिर घात लगाये हुए आगे-पीछे झूम रहा था. डॉ. फिलिप्स ने फिर स्त्री की ओर निगाहें घुमायीं. उत्तेजना और भय से यह सिहर उठा. वह भी झूम रही थी . . . ज्यादा नहीं, लेकिन बहुत ही हल्के-हल्के बेमालूम-सी, सिर्फ लगती थी.

चूहे ने फिर सिर उठाया और सांप को देखा. वह चारों पांवों

के बल गिरा और यों ही सिर सांप की तरफ किये-किये पीछे सरका—कि तभी खट. . . .एक बिजली-सी कौंधी. कुछ भी देख पाना असंभव था. जैसे किसी अदृश्य झपाटे के नीचे आ गया हो, चूहा इस तरह चिचिया उठा. सांप तेज़ी से फिर अपने उसी पहले वाले कोने में लौट आया और फिर वहीं लेट गया—हां, उसकी जीभ अभी भी लगातार लपलपा रही थी.

"कमाल है!" डॉ. फिलिप्स चिल्ला उठा, "ठीक कंधों की हड्डियों के बीचों-बीच चोट की है. दांत करीब-करीब दिल तक पहुंच गये होंगे."

छोटी-सफेद धौंकनी की तरह चूहा अभी भी खड़ा-खड़ा हांफ रहा था. सहसा वह एकदम ऊपर उछला और एक करवट के बल गिर पड़ा. एक सेकेंड उसके पांव ऐंठन से हवा में छटपटाते रहे और फिर प्राण पखेरू उड़ गये.

स्त्री ने मुक्ति की सांस छोड़कर बदन ढीला किया, जैसे नींद में शरीर ढीला छोड़ दिया हो.

"क्यों?" इस बार नौजवान ने पूछा, "यह मानसिक उद्वेग के सागर में गहरे स्नान करने जैसा ही लगता है न?"

स्त्री ने अपनी धुंधली-धुंधली आंखें उसकी ओर घुमायीं, "अब क्या यह इसे खा जायेगा?" उसने सवाल किया.

"बिल्कुल खायेगा. केवल खिलवाड़ के लिए तो इसने इसे नहीं मारा. मारा इसलिए है कि भूखा था." स्त्री के मुंह के सिरों पर फिर हल्की-सी ऐंठन आयी. वह फिर सांप को देखने लगी, "मैं इसे खाते हुए देखना चाहती हूं."

▣

सांप फिर अपना कोना छोड़कर बाहर निकल आया. अब उसकी गर्दन में वह हमला करने वाली मरोड़न नहीं थी. लेकिन वह जैसे फूंक-फूंक कर उधर सरक रहा था—मान लो अगर चूहा हमला कर भी दे तो वह उछल कर पीछे आ जाये. अपनी भोंथरी नाक से उसने चूहे को कोंचा और फिर पीछे सिमट आया. उसे संतोष हो गया कि चूहा मर गया है. फिर सिर से लेकर पूंछ तक सांप ने उसके शरीर को अपनी ठोड़ी से सहलाया. लगा जैसे वह शरीर का जायज़ा लेता हुआ प्यार से उसे चूम रहा हो. आखिरकार उसने अपना मुंह खोला और अपने जबड़ों के सिरों पर जीभ फिरायी.

डॉ. फिलिप्स अपनी सारी इच्छा-शक्ति लगा कर उस स्त्री की ओर जाने से अपने ध्यान को रोके था. उसने मन ही मन कहा: 'अगर यह भी अपना मुंह खोले होगी तो मेरा भी दिमाग खराब हो जायेगा. मुझे डर लगने लगेगा.' अपनी निगाहें उधर से हटाये रखने में उसे कैसे सफलता मिली, यह वही जानता था.

सांप ने अपना जबड़ा चूहे के सिर पर अड़ाया और रुक-रुककर धीरे-धीरे लकवे के झटकों की तरह चूहे को निगलने लगा. जबड़े फंसे तो सारा गला आगे सिमट आया. जबड़ों ने फिर दुबारा अपनी पकड़ ठीक की.

घूमकर डॉक्टर फिलिप्स अपनी काम करने की मेज पर लौट आया. तलखी से बोला, "आपके कारण मेरी प्रक्रिया-माला की एक कड़ी यों ही निकल गयी न? अब यह सारा सैट कभी पूरा नहीं होगा." एक परीक्षण गिलास को उसने कम-शक्ति वाले अण्वीक्षण-यंत्र के नीचे रख कर उसे देखा. फिर झल्ला कर सारी तश्तरियों के पदार्थ को बर्तन धोने की नांद में उलट लहरें अब कम हो गयी थीं, इसलिए अब फर्श के पार से सीला भभका ही आ पा रहा था. नौजवान डॉक्टर ने अपने के पास ही एक कमानी वाले दरवाज़े का पल्ला उठाया और तारक-मछलियां नीचे समुद्र के काले-काले पानी में उलट पालने की सूली पर बढ़ी रोशनी में उपहास से मुंह बिराती चमकाती हुई बिल्ली के पास आकर वह कुछ देर रुका. नली प्रविष्ट होने वाले द्रव के कारण उसका शरीर फूलकर कुप्पा गया था. उसने नलकी बंद की, सुई निकाली और नस को बांध दिया.

"आप थोड़ी-सी कॉफी पियेंगी क्या?" उसने पूछा.

"नहीं धन्यवाद! मुझे अभी जल्दी ही चले जाना है."

सांप के पिंजरे के पास वह खड़ी थी. डॉक्टर उसके पास गया. चूहा निगला जा चुका था—बस, सांप के मुंह के बाहर एक इंच लाल-लाल पूंछ इस तरह निकली हुई थी किसी को चिढ़ाने को जीभ निकाल रखी हो. गले ने फिर की तरफ सांस खींची और पूंछ भी गायब हो गयी. जबड़े अपने खानों में सटकर बैठ गये और वह बड़ा सांप अलसाया रेंग कर कोने में आ गया. बड़ा-सा चार का अंक बनाया और पर अपना सिर डालकर सो गया.

"इसे तो अब नींद आ गयी," स्त्री ने कहा, "अब मैं जा हूं. लेकिन मैं थोड़े-थोड़े समय बाद आकर अपने सांप को खिलाया करूंगी. चूहों के पैसे दे दूंगी, लेकिन इसे जी-भर खिलाना चाहती हूं और फिर किसी समय अपने साथ ले जाऊंगी. एक क्षण को अपने धूसर-धूमिल सपनों से उसकी आंखें पार आयीं, "याद रखिये, यह मेरा है. इसका ज़हर मत मेरी इच्छा है. ज़हर इसमें ही रहे. अच्छा नमस्कार." तेज़ी से दरवाज़े की तरफ बढ़ी और बाहर चली गयी. डॉक्टर ने जाते कदमों की आवाज़ को सीढ़ियों पर सुना, लेकिन फिर के फर्श पर उसके चलने की आवाज़ सुनाई नहीं दी.

डॉ. फिलिप्स ने घुमाकर एक कुर्सी अपनी ओर की और के पिंजरे के सामने ही बैठ गया. उस निश्चल सांप की निगाहें टिकाये हुए वह अपने विचारों की गुत्थी सुलझाने कोशिश करता रहा. मन ही मन बोला—'मनोवैज्ञानिक प्रतीकों के बारे में मैंने इतना कुछ पढ़ा है; लेकिन वह सब समझने में मदद करता नहीं लगता. शायद मैं सबसे बहुत अलग पड गया हूं. हो सकता है मैं इस सांप को मार डालूं. मैं जान पाता! लेकिन इस सबको जानने के लिए मैं प्रार्थना किसी भगवान के पास नहीं जाऊंगा.'

हफ्तों वह उसके लौटने की राह देखता रहा. उसने किया, "इस बार जब वह आयेगी तो मैं उसे अकेला छोड़ चला जाऊंगा. उस कंबख्त को दुबारा देखूंगा ही नहीं."

मगर वह फिर कभी वापस नहीं आयी. वह अब भी बाहर घूमने जाता तो महीनों उसे तलाश करता. कई बार किसी भी लंबी-सी स्त्री को वही समझकर उसके पीछे हो लेकिन वह स्त्री उसे फिर कभी दिखाई नहीं दी.

(अनुवाद : राजेंद्र

शिकार

▣ अंजुम अब्बासी

जहाज बंदरगाह से लग चुका था. उसने बड़े ध्यान से देखा, परंतु कस्टम का वह जाना-पहचाना पहरेदार कहीं दिखायी नहीं दिया. वह चिंतित था कि अब विदेशी शराब की उन बोतलों का क्या करे? कस्टम के सिपाहियों को 'दक्षिणा' देना तो एक दस्तूर बन गया है और वह भी उस दस्तूर का पालन करता रहा है, परंतु जब वह परिचित सिपाही नहीं दिखा तो उसकी परेशानी बढ़ गयी. वह ड्यूटी देने वाले उस अजनबी के समीप पहुंचा तो झट से कहा, "देखिये! मैं कल ठीक इसी समय शराब की कुछ बोतलें बाहर ले जाऊंगा. कल आप ड्यूटी पर रहेंगे तो मुझे कोई कठिनाई नहीं होगी. आपका हक आपको मिल जायेगा, आप निश्चिंत रहें."

उस पहरेदार को यह बात पसंद नहीं आयी. वह क्रोध से दहाड़ा, "मैं हर्गिज इसकी अनुमति नहीं दूंगा बल्कि तुम्हें गिरफ्तार. . . . . !" पहरेदार अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि सी-मैन वहां से चलता बना.

दूसरे दिन वह पहरेदार उस आदमी की ताक में रहा. जैसे ही वह गेट के पास पहुंचा, पहरेदार बिना देर किये उसकी तलाशी लेने लगा. जब कुछ न मिला तो पहरेदार क्रोध से भर गया.

"कहां हैं वह बोतलें?"

"कौन-सी बोतलें?"

"जिनके बारे में कल तुमने कहा था."

"बोतलें ? . . . . . वे बोतलें तो मैं कल ही ले गया था." उस आदमी ने बड़ी गंभीरता से कहा.

पहरेदार मुंह ताकता रह गया. ☐

अनु.: तनवीर अख्तर 'रूमानी'

सन्नाटा

▣ बलबीर त्यागी

"कौन?"

"मैं हूं."

"घोर अंधेरे में क्या कर रही हो?"

"खड़ी हूं."

"सो तो मैं भी देख रहा हूं."

चुप्पी.

मैं जेब से डिब्बी और माचिस निकालता हूं. उसकी आतंकित-सी आवाज सन्नाटा चीरती है, "ठहरो. माचिस न जलाना."

"क्यों?"

"मुझे उजाले से भय लगता है."

"हो-हो. उजाले से भय!" मेरे हंसने से सन्नाटा थर्रा जाता है.

"हां, उजाले मुझे छलते जो हैं."

"और अंधेरे?"

"रास आ गये हैं."

"अजीब बात है!"

"उजाले में रहने वालों को अंधेरे में पलते लोग अजीब ही लगा करते हैं."

"क्या मतलब?"

"मतलब! तुम उजाले वाले सिर्फ ठगना जानते हो."

"और अंधेरे वाले?"

"बीमार मां की दवाओं के लिए पैसे देते हैं. मेरी कॉलेज की फीस जुटाते हैं. मेरे छोटे भाई-बहनों का पेट भरते हैं."

"शाबाश! साहसी जान पड़ती हो."

"धन्यवाद! ठोकरें खा-खाकर आदमी में साहस आ ही जाता है."

"मैंने तुम्हारी आवाज पहचान ली है."

"सिगरेट जला सकते हो."

"आवश्यकता नहीं."

"फिर किस चीज की आवश्यकता है?"

"तुम्हारी."

"क्या करोगे?"

"खरीदार से यह नहीं पूछा जाता."

"तो तुम भी. . . . ."

"गलत, बिल्कुल गलत."

"सही क्या है ?"

"सिर्फ तुम्हारी आवश्यकता है."

"मैं दिन में कॉलेज जाती हूं और घर संभालती हूं."

"तो फिर रात सही."

"मंजूर है."

"क्या लोगी?"

"जो दोगे."

"जानती हो, मैं तुम्हारा क्या करूंगा?"

"बिकने वाली चीज से यह नहीं पूछा जाता!" उसने विद्रूपता से हंसकर मेरे पहले के शब्द मुझे लौटाये. मैं झेंप गया.

फिर चुप्पी. इस बार मेरी.

"क्या सोच रहे हो?"

"कुछ नहीं."

"सफेद झूठ. मैं मूड पहचानती हूं."

मैं सिटपिटा गया. वह मुस्करा पड़ी.

"सोचता हूं कि. . . . ."

"न ले जाऊं. बदनामी होगी." उसने पूरा किया. उसका कंठ भर आया. "आज तुम्हारे सिवा कोई नहीं मिला. घर में मां की दवा के लिए पैसे नहीं. . . ."

"मैं दे सकता हूं."

"भीख नहीं चाहिए."

"मेरे पास फालतू पैसे नहीं. काम लूंगा."

"कर लो न अपना काम."

"फिर तुमने गलत समझा."

"गलत समझते-समझते आदत जो पड़ गयी है. अब तुम ही बताओ सही क्या है?"

"मैं तुम्हारी तस्वीर बनाऊंगा. मुझे अपनी पेंटिंग के लिए तुम जैसी लड़की की जरूरत है. आओ."

और वह मेरे साथ चल दी. पीछे अंधकार में डूबा पार्क निर्जीव पड़ा था. सिर्फ सन्नाटा घुप्प रहा था. ▣

बदबू

▣ सुरेश के. अंजुम

गौतम ने आंखें खोलीं.

सुजाता ने पात्र आगे सरकाया, "प्रभु ग्रहण करें!"

गौतम ने कटोरा मुंह तक लाकर झटके से दूर कर दिया, "बदबू आ रही है सुजाता."

"क्या करूं, प्रभु," सुजाता कातर स्वर में बोली, "राशन के चावल हैं!" ▣

मंत्रिमंडल के बर्खास्त किये जाने की खबर सारे राज्य में फैल रही थी. मंत्रिमंडल भंग चाहे न होता, लेकिन यह खबर अपने आप में सनसनीखेज़ तो थी ही. पत्रकारों का कहना था कि मंत्रिमंडल भंग न भी हो, पर छटनी अवश्य हो रहेगी. सरकारी खर्चा मंत्रियों की संख्या कम करने से ही कम होगा. इस बात पर ज़ोर दिया जा रहा था कि एस्टेट का खर्च कम होना चाहिए, ताकि अर्थ-व्यवस्था एक जगह स्थिर रह सके.

मंत्री लोगों के भाषणों में यही बात सब जगह सुनने में आती कि जनता ही अपनी ज़रूरतों को बढावा देकर देश की अर्थ-व्यवस्था को अस्थिर किये दे रही है, इसलिए जनता को चाहिए कि वह फिज़ूल-खर्ची को कम करे. इसी में सब का कल्याण है. लेकिन जनता की आवाज़ थी कि हमें मिलता ही क्या है! सरकारी कर्मचारियों को वेतन मंहगाई-भत्ता कुल मिलाकर जो मिलता है, उसमें गुज़ारा नहीं होता. इन सब बातों को देखते हुए फिलहाल यही ठीक माना गया कि अब जहां यह अर्थतंत्र टिक गया है , वहीं टिका रहे, बाद में देखा जायेगा.

लेकिन छटनी तो होकर रहेगी. इतने बड़े मंत्रिमंडल को बनाये रखने की आवश्यकता नहीं है. इसे कम करना होगा. सुना है मुख्यमंत्री कुछ मंत्रियों को स्वतंत्र कर देंगे. उन्हें मंत्रि-मंडल से हटाना होगा, तभी स्थिति पर काबू पाया जा सकता है.

इसी विषय को लेकर कई दिनों से चर्चा चल रही थी. आदमी अपने समय से हटे तो बात समझ में आती है. जबर्दस्ती हटा देने का नाम तो स्वतंत्र करना नहीं होता. ऐसी स्वतंत्रता जब मिल रही हो तो आदमी का सुख-चैन डूब जाता है, सोचकर मंत्री लोगों की भूख-प्यास जाती रही. न जाने कहां यह बिजली गिरे! छटनी होने का समाचार सबको मार गया है. समझ में नहीं आता कि एकाएक क्या होने जा रहा है!

कुछ दिनों तक यह समाचार यथावत् बना रहा. न किसी पत्रकार ने इस समाचार का खंडन किया, न मुख्यमंत्री ने ही
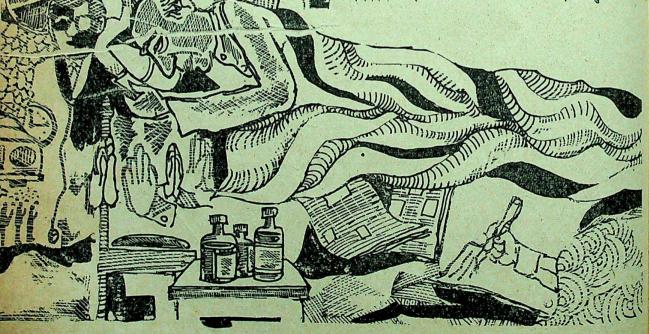
इस संबंध में कोई बयान जारी किया. सब जानते हैं कि राजनीतिक घटनाओं और वक्तव्य आदि के प्रभावहीन और असत्य हो जाने में ज्यादा समय नहीं लगता. ईंट के ऊपर ईंट को जमाने वाली बात है. एक बयान के बाद तुरंत दूसरा बयान जारी कर दिया तो पिछले बयानी कागज़ों पर बाबू लोग अपना लंच बांट लेते हैं. कुर्सी, मेज़ अथवा फर्श पर गिरी हुई सब्ज़ी को इन्हीं बयानी कागज़ों से साफ किया जाता है. एक क्षण जिस चीज़ की कीमत है, दूसरे ही क्षण वह कितनी बेकार साबित हो जाती है. मंत्री लोगों को लगता है कि उनका जीवन भी उस बयानी कागज़ की तरह है जिससे किसी भी वक्त धब्बों को पोंछने का काम लिया जा सकता है. मन को कुंद कर देने वाली ये बातें हैं. इसी मनःस्थिति में समय निकला जा रहा है. मुख्यमंत्री द्वारा इस विषय में कुछ भी स्पष्ट नहीं किया गया. संदेह में डूबे मन की स्थिति को कौन जानता है! कौन कह सकता है कि मुख्यमंत्री के भीतर क्या भरा है! किसी की हिम्मत नहीं कि खुलकर पूछ ले. ऐसी स्थिति में बातों द्वारा कुरेदते रहने की इच्छा होती है. शायद बातों-बातों में कोई बात सामने आ जाये. बातों के ज़रिये दूसरों को तसल्ली देना आसान है. लेकिन स्वयं को संतुष्ट रख पाना सहज नहीं. इस मामले में मुख्यमंत्री ही स्पष्ट करें तो बात समझ में आये.

▣

सभी को मालूम है कि मुख्यमंत्री उन लोगों से असंतुष्ट हैं जो राज्य में अपनी मनमानी चलाते हैं और ऊपर से आये फैसलों की उपेक्षा करते हैं. नाराज़गी की बात मुख्यमंत्री के चेहरे पर स्पष्ट है कि वे आजकल कितने सख्त बने हैं. बात-बात में सख़्ती . . . न जाने यह सख़्ती क्या कर बैठे!

मंत्रियों की आंखें इन दिनों बुझे बल्ब कि तरह लगती हैं. चेहरों पर हल्कापन दिखाई देता है. जैसे ये चेहरे किसी को दिखाने के काबिल नहीं हैं. बुने हुए चेहरों के बीच से जब आदमी का असली चेहरा झांकता है, तो उसे कहीं छिपाने के अलावा कोई चारा नहीं. इन दिनों राजधानी में न रहकर मंत्रीगण अपने चुनाव-क्षेत्रों के दौरे पर निकल गये हैं. उद्घाटन-भाषण और ज़लज़लों का जायज़ा लेने की खबर अख़बारों में छपवाकर ये लोग राजधानी से लुप्तप्रायः हो गये हैं. सुना है कि मुख्यमंत्री का दौरा अपने क्षेत्र में करवाकर वे दिखा देंगे कि उनके क्षेत्र में कैसी खुशहाली है!

मंदिरों के बाहर, तीर्थयात्रा जाने वाली सड़कों, ज्योतिषी और दैवज्ञों के आसपास किसी न किसी मंत्री की कार खड़ी दिखाई देती है. ज्योतिषियों का फलादेश बताता है कि मार्केश टल गया है लेकिन अरिष्ट अभी खंडित नहीं हुआ. मित्र स्थान पर शनि की वक्रदृष्टि है जिसके कारण संत्रास बना रहेगा. भक्त-जनों की राय है कि प्रभुस्मरण सब तरह के संत्रासों से मुक्ति दिलाने वाला है. वही दुख-द्वंद्व का टालनहार है.

यही सत्य है. उस प्रभु की कृपा जिस पर होती है, वही समर्थ बनता है. उसकी कृपा से अब तक कई पंगु गिरियों को लांघ चुके हैं और कई ऊंची चोटियों पर विराजमान बैठे हैं. धन्य है उस प्रभु की शक्ति . . . उसका विधान . . कहते हैं कि विधि का विधान ही प्रबल है. उसका विधान अपने विधान की तरह बदलने वाला नहीं कि आज जो आदमी चोटी पर बैठा है, उसे अकारण पंगु बनाकर चोटी से नीचे लुढ़का दे.

कहते हैं कि दुविधा में पड़े मन और सर्प वाले घर में वास करने वाले प्राणी की अकाल-मृत्यु में शंका नहीं करनी चाहिए. कौन जानता है कब क्या हो! लेकिन कभी-कभी इन लोगों की बातें भी पीछे रह जाती हैं. एक बार इन लोगों ने अष्टग्रही योग बताकर समूची जनता को भयाक्रांत कर दिया था. तब अष्टग्रही योग जनता के ऊपर बनता था. लेकिन यह जनता का योग नहीं. मुख्यमंत्री महोदय ने अष्टग्रही से भी ज्यादा कुछ सोच लिया है. अब की बार जब मंत्रिमंडल पर अष्टग्रही योग आया तो जाने कितनों का मार्केश बनता है!

▣

पत्रकार लोग चुप साधे हैं. ये लोग भी हवा का रुख देखते हैं. हवा बांधने वाले लोग . . . ! मंत्री, नेता या कोई बड़ा अधिकारी बीमार पड़ जाये तो इनके लिए मैटर तैयार हो जाता है. उसके मरने की सूचना पहले से कंपोज करवाकर रख लेते हैं, ताकि मौके से सुर्खी देकर उसे पेश किया जाये. आदमी मौत से लड़ रहा है और ये लोग मौके की तलाश में रहते हैं. अगर इतना भी चूक गये तो पत्रकारिता का क्या अर्थ रह जाता है! मंत्रिमंडल के टूटने की अफवाह के कारण सारा कुछ अस्त-व्यस्त है. अगले दिन ख़बर मिली कि एक मंत्री को हार्ट-अटैक हो गया है. तुरंत एक सरकारी अस्पताल में उनके भर्ती किये जाने की ख़बर भी निकल आयी. अख़बारों में ख़बर छपी तो प्रदेश के लोगों की भीड़ अस्पताल में जमा होने लगी. छोटे-बड़े सभी तरह के चेहरों पर चिंता के भाव उमड़ आये. हमारे मंत्रीजी . . . हमारे क्षेत्र के . . हमारे गांव-कस्बे के . . . हमारी बिरादरी के . . पास-पड़ोस के घर के . . ! नाते-रिश्तों के साथ जनता की सहानुभूति, लोकप्रियता और आदर-भाव को देखते हुए काफी कुछ पता चलता है. इस सामाजिक संपत्ति की कोई सीमा नहीं. देखने की बात यह कि उनकी बीमारी से जनता में क्या प्रतिक्रिया बनी है! जितना अधिक कष्ट जनगण में जागृत हो, वह जगना चाहिए. कष्ट ही आदमी को कुछ देता है. वही पंगु बनने से रोकता है. फिर मिलन की सबसे पवित्र कसौटी वही है. इस कसौटी पर एक अपंग-अपाहिज भी मंत्रीजी से अपनी बात कह जाता है. अब तक भाषण-मीटिंग में दूर से ही मंत्रीजी को देखा जाता रहा है. पास आने का अवसर नहीं मिला. आम आदमी को पास आने का अवसर तभी मिलता है, जब इस तरह की कोई घटना घट जाये. कोढ़-खाज या कुंद कर देने वाली कोई बीमारी तन को जकड़ ले.

▣

दो दिन तक मंत्रीजी की हालत गंभीर रही. अस्पताल के स्पेशल वार्ड में रिहायशी आवास उन्हें सुलभ था. तीमारदारों की सुविधा के साथ ऐसी जगह मिली थी जहां जनता-जनार्दन के दर्शन सहज प्राप्त न हों. बड़े आदमी का बड़ा दुख! आदमी अपने दुख से पस्त है और यह जनता स्साली . . दर्शन पाना चाहती है. जब-तब लोगों को अपने करीब पाकर मंत्रीजी की

घबराहट बढ़ जाती है. पुराने चेहरे बार-बार सामने आते हैं. लेकिन देर के बाद ही कोई चेहरा पकड़ में आता है और तब मंत्रीजी मन ही मन सोचते हैं, 'हां, यही वह आदमी है जो लगातार ढाई वर्ष तक उनके पीछे फिरता रहा है. लेकिन इसे लाइसेंस नहीं दिलाया जा सका. अमुक आदमी ने राज्य के शिक्षा-संस्थानों में कितने ही कार्यक्रम दिये, लेकिन सरकार से उसकी कोई सहायता मैं न करवा सका. अपने राज्य में लघु-उद्योग चलाने के लिए फलां आदमी ने अपना सब कुछ दांव पर लगा दिया. उसे विश्वास था कि मैं राज्य-सरकार से उसकी सिफारिश कर दूंगा, लेकिन ......! 'कितने लोगों को बेकार और निराश होते मंत्रीजी ने अपनी आंखों से देखा है. मंत्रीजी को लगता है कि यह सब कुछ उन्हीं के कारण हुआ है. उनके आश्वासन लोगों को मार गये हैं. आज भी जब उन चेहरों को वे आस-पास मंडराते हुए देखते हैं तो अपने आप आंखें मुंद जाती हैं. मंत्रीजी इन चेहरों को देखना नहीं चाहते. ये लोग सामने से हट जायें तो अच्छा हो. उनके सामने होते हुए दिल ठिकाने नहीं रहता. दर्द से मन टीस उठता है. मंत्रीजी की दर्द भरी आह कमरे में गूंजती है तो लोगों को वहां से हटाकर डॉक्टरों की भीड़ जमा हो जाती है. अगले दिन अखबार की सुर्खी और गाढ़ी दिखाई देती है. अखबारी भाषा में 'कॉमा' लग जाने की खबर से मंत्रीजी के विभाग में हलचल मच आयी है. कॉमा के बाद दूसरी स्टेज फुलस्टॉप की है. विभाग के कर्मचारियों को शंका है, कहीं मंत्री महोदय को फुलस्टॉप न लग जाये.

बीमार को जब कभी राहत मिलती है तो वह गंभीर दृष्टि से सिरहाने पर रखी छोटी आलमारी और मेज़ की ओर देखता है. दवा की शीशियों के पीछे दीवार से सटा मुख्यमंत्री का एक बड़ा-सा चित्र देखकर मन को राहत पहुंचती है. मंत्रीजी इस चित्र को अपने साथ ले आये थे. मुख्यमंत्री अपनी स्वाभाविक मुद्रा में भले लगते हैं. तस्वीर के आगे पीतल की एक मूर्ति चमकती दिखाई देती है. किसी पहाड़ी देवता की मूर्ति है. आंखें जब-जब इस मूर्ति को देखती हैं. जब कभी मायूसी का दौर पड़ता है तो मंत्रीजी समूचे उस ओर केंद्रित हो जाते हैं. नज़रें मानो निवेदन करती हुई कह रही हों, 'हे कृपानिधान! तू अनादि है, तेरा कोई अंत भी नहीं. तू चाहे तो विष को अमृत में बदल दे. हे महाप्रभु! तू देख ही रहा है कि किस हीन मनःस्थिति के गर्त में यह मन डूबता चला जा रहा है. मेरा तुझसे कुछ भी छिपा नहीं है भगवन्. इस अवस्था में अब कहीं आ-जा भी नहीं सकता. सुना है दूसरे साथी लोग अपने प्रयत्नों में लगे हैं. जोड़-तोड़ की दुनिया है. लेकिन अपने पास ऐसा कोई ज़रिया नहीं. मेरे लिए अब यही एक जगह है जहां आसानी से आना-जाना हो सकता है.' कहते हुए कभी मन की घबराहट तेज़ हो जाती है और मंत्रीजी बेहोशी की हालत में डूबते लगते हैं. डॉक्टर लोग यों मौत को ज़िंदगी में बदलने की कोशिश करते हैं, पर सच्चाई से वे भी अपरिचित नहीं कि ज़िंदगी और मौत पर किसी का दावा नहीं. ऐसे मौके पर ये लोग भी हाथ बांधकर खड़े रह जाते हैं. भगवान पर भरोसा करने की सलाह देते हैं. सब कुछ भरोसा रखने से ही होगा. ज़िंदगी और मौत जिसके हाथ है, उस पर भरोसा रखना ज़रूरी है. मंत्रीजी को भरोसा है. उनका विश्वास है कि इस समय मुख्यमंत्री ही उन्हें जीवन दे सकते हैं. इस भरोसे में जब-जब कमी आती है, तब उनकी हालत ज्यादा बिगड़ जाती है. वे मारे दर्द के चिल्ला उठते हैं.

डॉक्टरों की समझ में नहीं आता कि दर्द कहां से शुरू होता है. कई एक्सरे खिंच गये हैं. सारे शरीर का मुआइना हो चुका है. लेकिन दर्द है कि पकड़ में नहीं आता. मंत्रीजी के कॉमा लगने की सुर्खी अखबारों से हटती नहीं. इस बार विभाग के अधिकारियों द्वारा मुख्यमंत्री को संदेश पहुंचाया गया. अगले दिन तड़के पुलिस की कतार अस्पताल के बाहर खड़ी दिखाई दी. आसपास गुजरने वाली सड़कों पर पानी का छिड़काव दिखाई दिया. अस्पताल के बरामदों में पड़ी फालतू आलमारियों को वहां से हटा दिया गया. डॉक्टर, नर्स और दूसरे सुस्ती छोड़ चुस्त हो गये.

मुस्कराते चुस्त चेहरों के बीच मुख्यमंत्री की कार आ पहुंची. सीनियर डॉक्टर और मेडिकल सुपरिंटेंडेंट ने दरवाज़ा खोला.

"पेशेंट कैसा है?" उतरते ही मुख्यमंत्री ने प्रश्न किया. प्रश्न का कोई उत्तर न देकर लोग मौन रह गये. मुख्यमंत्री को उनका मौन खटका. शायद फुलस्टॉप लग गया है. अपने आस-पास खड़ी जनता की ओर एक सरकारी मुस्कराहट छोड़ते हुए मुख्यमंत्री दो कदम बढ़े कि डॉक्टरों ने आगे बढ़कर उन्हें स्पेशल वार्ड तक पहुंचा दिया. कमरे में इन लोगों के आने की आहट पा मंत्रीजी ने बोझिल पलकों को धीरे-धीरे उठाया. वे एकाएक चारपाई से उठने को हुए कि डॉक्टर ने उन्हें रोक लिया. मुख्यमंत्री को अपने पास खड़ा देखकर मंत्रीजी की आंखों में आंसू छलक आये. मुख्यमंत्री कुछ पूछने वाले थे कि एकाएक रोगी के सिरहाने अपनी तस्वीर स्पष्ट दिखाई दी. देखकर कुछ कहते न बना. हृदय से निकली एक गंभीर मुस्कान होंठों को छूती हुई आंखों में जा बसी. अगले दिन यही मुस्कान उनकी वाणी से अमृत बनकर टपक पड़ी. मंत्रीजी की ओर मुखातिब हो बोले, "चिंता करने की बात नहीं, मुझ पर भरोसा रखिये, सब ठीक हो जायेगा."

मंत्रीजी ने मूर्ति की ओर दोनों हाथ उठा लिये. बोले, "प्रभु की इच्छा बलवान है, उसे जो मंजूर होगा वही...."

रोगी के साथ इतनी ही बातचीत बहुत है. अगले ही क्षण वापस लौट गये. लेकिन डॉक्टरों को मुख्यमंत्री की अनाधिकृत वाणी अखरने लगी. जिस आदमी को अगले कुछ घंटों में मृतक घोषित किये जाने का इंतज़ार था, उसके बारे में ठीक हो जाने की घोषणा उन्हें बेहूदी लगने लगी. बेचारे डॉक्टरों को क्या मालूम की राजनीति के कीटाणु कितने प्रकार से रोगों को जन्म दे रहे हैं. जिन रोगों का इलाज ये लोग अब तक करते आये हैं, वे आज कितने पुराने पड़ गये हैं. पलटकर डॉक्टर जब मंत्रीजी के कमरे में पहुंचे तो देखा कि उनकी आंखों से रोग-मुक्ति छलक रही है. जीवन-जल उन बड़ी-बड़ी आंखों में भरपूर लौट आया है. देखकर डॉक्टरों ने 'रोगमुक्ति' का प्रमाण-पत्र तैयार किया और मंत्रीजी के आगे रख दिया. □

● 636, अलीगंज, लोदी कालोनी, नयी दिल्ली-3

छप कहीं होती पर छपने की ... रघु ... ाई.ई.ए ... वन, ... फी माग ... यी दिल

छत कहीं होती सर छुपाने को,
तो कभी हम भी घर गये होते !

—अवधनारायण मुद्गल

रघु राय
...ई-ई-एन-एस.
...वन,
...फी मार्ग,
...यी दिल्ली-1

K.E.Md ABOOBACKER
சங்கு
REGD TRADE MARK
शंख मार्का
हैंडलूम
लुंगी व रुमाल
निर्माता व विक्रेता
मोहम्मद अबूबकर एंड कं.
२३८, थम्बु चेट्टी स्ट्रीट, मद्रास-६००००१
शाखा : कलकत्ता • मदुरै • कोब्रम • बम्बई

वक्त कटे रिश्ते

▣ सूर्यकुमार जोशी

शव-यात्रा एक गली से श्मशान-घाट की ओर बढ़ रही थी. सहसा एक दुमंजिले मकान की ऊपरी खिड़की खुली. एक युवा स्त्री ने झांका. उसके काले, लंबे केश खुले थे, गीले थे. शायद वह तभी नहाकर आयी थी. स्त्री ने श्रद्धा-पूर्वक सिर झुका शव को प्रणाम किया.

लड़का खड़ा एकटक उसे देखता रहा. शव-यात्रा कुछ आगे बढ़ गयी. स्त्री ने उस आठ-नौ बरस के लड़के को अकेला खड़ा देखा. एक क्षण के लिए दोनों की निगाहें मिलीं. स्त्री ने मुस्कराते हुए खिड़की बंद कर ली.

श्मशान के एक कोने में कुछ शव-यात्री बैठे थे. लड़का भी उनमें था. अपने पिता की जलती चिता को देख उसने पूछा, "वह औरत कौन थी जिसने बाबूजी को हाथ जोड़े थे?"

आसपास के लोग एक दूसरे को देखते हुए मुस्काये.

"उसने हाथ क्यों जोड़े थे?"

वे लोग सामने गंगा के चौड़े पाट को देखने लगे. दूर एक स्टीमर जा रहा था.

लड़का उस स्त्री की मुस्कान को नहीं भूल सका.

बहुत वर्ष बाद जाकर उसने जाना कि वह स्त्री एक वेश्या थी.

और भी बहुत वर्ष बाद उसने जाना कि एक अनजान आदमी की लाश को देख जब लोग हाथ जोड़ते हैं तो वे ईश्वर का आभार मानते हैं, वे स्वयं जीवित हैं.

लड़का पूरा मर्द होने पर भी उस स्त्री की मुस्कान को नहीं भुला सका. वह उसे सपनों में दिखायी देती थी.

▣

कई वर्षों बाद एक शाम वह उस गली में पहुंचा, ठीक उसी मकान के सामने. खुली खिड़की से हारमोनियम और तबले के स्वर के साथ एक स्त्री का गाना सुनाई दे रहा था.

वह ऊपर चला आया. उसे देख गाना बंद हो गया. गाने वाली तेरह-चौदह वर्ष की एक लड़की थी, तबलची अधेड़, हारमोनियम-मास्टर बूढ़ा. एक साथ तीन पीढ़ियां!

अब वह कहां होगी, कैसी होगी, किस पीढ़ी की होगी? नवागंतुक सोच रहा था.

"यहां मालकिन कौन है?" उसने सख्त आवाज़ में पूछा.

लड़की लड़खड़ाती उठी, गिरती-पड़ती दूसरे कमरे में चली गयी. तबलची खरामां-खरामां जूतियां पहन बाहर चला गया. बूढ़ा हारमोनियम-मास्टर मुस्कराया.

कमरे की एक-एक चीज़ वह देख रहा था. क्या बाइस साल पहले भी यह कमरा ऐसा ही होगा?

▣

वह आयी. सिर के सफेद बालों में लापरवाही से लगाया गया खिजाब, बुझी-बुझी-सी आंखों के कोरों पर फैला हुआ काजल, पान से रंगे होंठ.

"बाइस साल पहले तुम्हारे घर के सामने से एक मुर्दा निकला था. तुमने खिड़की खोलकर उसे प्रणाम किया था. याद है?"

"इस गली से हर रोज़ मुर्दे निकलते हैं. नीमतल्ला घाट जाने का यह भी एक रास्ता है न!"

"नीमतल्ला घाट जाने के रास्ते तो और भी बहुत से हैं," पुरुष ने एक अर्थ-पूर्ण मुस्कराहट के साथ कहा, "शायद यह सबसे छोटे रास्तों में हो . . .! लेकिन उस सुबह एक खास बात थी. मुर्दे को मरघट ले जाने वालों में आठ-नौ बरस का एक लड़का भी था. वह तुम्हें देखता रहा था. तुमने भी उसे देखा था और मुस्कराकर खिड़की बंद कर ली थी. याद आता है कुछ?"

स्त्री की बुझी आंखों में धीरे-धीरे एक चमक आ गयी. उसके होंठों के कोनों पर एक मुस्कान खिल उठी, ठीक वैसी ही.

"हां, याद है," वह बोली.

"याद है?" पुरुष ने आश्चर्य से पूछा.

"हां, उस लड़के को कभी न भूलूंगी. उसे सपनों में भी देखा है! कितना निश्छल सुंदर, बिल्कुल एक देवदूत सा-लगा था वह मुझे."

"हां! वह लड़का भी तुम्हारी उस मुस्कान को कभी नहीं भूल पाया," पुरुष बोला, "उसे भी तुम तब बड़ी सुंदर लगी थीं, सती-साध्वी-सी, साक्षात सरस्वती-सी!"

पुरुष उठ खड़ा हुआ. वह अपनी जेब से रुपये निकालने लगा.

"नहीं नहीं," वह बोली, "सती-साध्वी को इस तरह रुपया नहीं देते." वह मुस्करा रही थी. उसकी आंखें डबडबायी हुई थीं.

"शायद तुम ठीक कह रही हो," पुरुष ने भी मुस्कराते हुए कहा, "देवदूत अपनी जेब में रुपये लेकर नहीं चलते." उसे मालूम न था, आंखें उसकी भी डबडबा आयी थीं. □

● 4 ए, कमलानगर, दिल्ली-110007

एक बागी का आत्म-मंथन : समापन किस्त

• रामकुमार भ्रमर

अब तक आप पढ़ चुके हैं...

डाकू मलखानसिंह की बेटी की सगाई बिरज के बेटे से तय हो चुकी थी. शादी होने वाली थी, पर बिरादरी के डर से बिरज ने यह रिश्ता तोड़ दिया. इस पर अपमान की ज्वाला में धधकता मलखान बिरज की हत्या करने जा पहुंचा, किंतु बालसखा बिरज की बेटी की दुहाई ने उसका अंतस झकझोर डाला और वह विवश-सा बैरंग लौट आया. परंतु मन में रह गयी इस कसक ने उसे चैन से नहीं बैठने दिया. यहां तक कि वह अपने विश्वस्त सहयोगी बिंदा पर भी शक करने लगा और कुमुक तथा रसद मुहैया करने वाले व्यापारी कासीराम के कहने पर किये जाने वाले कामों से भी उसे नफरत होती गयी. अपने प्रति धिक्कार और कुकृत्यों के प्रति अनच्छिा में मार-काट करते चले जाने के बावजूद एक दिन पुलिस भिड़ंत में उसने बिंदा को खुद ही गोली मार दी. उसने अच्छा किया या बुरा . . . सोचते हुए उसे एक सिपाही रामलहरी की याद आयी और उसके मन में सवाल उठा--क्या सिर्फ गोली किसी को मार सकती है?....और वह बिंदा के परिवार की खोज-खबर लेने उसके घर जा पहुंचा, जहां बिंदा की मां थी और थी नयी-नकोर घरवाली! . . . . वहीं उसे पता लगा कि पास के गांव का जहारसिंह पुनिया को आतंक के बल पर अपने घर बिठा लेना चाहता है. उसे लगा आत्मधिक्कार से मुक्ति पाने का एक यही अवसर है, वह पुनिया को जहारसिंह से बचा ले! शुरू में उसने जहारसिंह पर अपना नाम ज़ाहिर नहीं किया और उसके सब अपमान पीता रहा. जहारसिंह का अपहरण करके उसने पचास हज़ार रुपयों की फिरौती वसूल की. पर मलखान का सहयोगी गोवर्धन उससे टूट गया. तमाम दुश्चिंताओं के बीच मलखानसिंह बरखा से मिलने गया. बरखा के व्यवहार ने मलखानसिंह को और तोड़ा. उसे लगा बरखा की इस प्रतिक्रिया के पीछे जहारसिंह का षड्यंत्र है. मलखान ने जहार की हत्या की ठान ली. अब आगे पढ़िए--

ठीक है कि उसने विश्वास नहीं किया है, पर वह विश्वास-अविश्वास के बीच झूली ज़रूर है. मैंने बरखा को दिया ही क्या है? बोली थी—'सुहागिन होकर भी मन विधवा जैसा होकर रह गया है. किस बैर की सज़ा दे रहे हो मुझे?...' यह है बरखा का पहला दर्द और पुनिया की शर्त तो दूसरा दर्द दे देगी, उसका उपचार क्या कर पाऊंगा मैं?

मुझे कह देना चाहिए कि मैं इस तरह पुनिया की बात निबाह नहीं सकूंगा, पर यह कहने का साहस कहां से लाऊं? कैसे?

पुनिया का दोषी हूं मैं. उसे वैधव्य मैंने दिया है... अपने क्षणिक लाभ के लिए या अकारण ही सज्जनता दिखाने के लिए जहार के सामने अपने आपको उजागर करके मैंने ही पुनिया को लांछन दे दिया है. तब पुनिया की शर्त उसका अधिकार है!

अधिकार बरखा का भी है.

और मैं एक नाकारा आदमी, जो न पुनिया के लिए कुछ कर पाने की स्थिति में है, न बरखा के लिए.

मैं थोड़ी देर के लिए सोच-समझ से खाली होकर रह गया हूं या यों कि मेरे सोचों की सामर्थ्य-सीमा समाप्त होने लगी है.

"क्या सोचा है ठाकुर?" पुनिया का प्रश्न.

मैं थकी निगाहों से देखता हूं. चुप.

वह मुस्करा देती है, "कोई बात नहीं... तुम्हारी उलझन समझ पा रही हूं. ठकुराइन के बारे में सोच रहे होगे—जो बात मुझे जिला सकती है, वही बात उसे मार सकती है!.. है ना?"

मैं पुनः कहना चाहता हूं—'नहीं-नहीं...' पर नहीं कह पाता. इसलिए कि अब मुझमें बोलने तक का आत्मबल नहीं रह गया है.

पुनिया कहती है, "चिंता मत करो! मैं जी लूंगी... या यह कि मैं अपनी तरह मर लूंगी."

मैं एक गहरी सांस लेकर सिर झुका लेता हूं.

वह जूठे गिलास उठाकर भीतर चली जाती है. मेरा जी होता है कि इसी पल उठूं और भाग जाऊं यहां से...

वह लौट आयी है. एक बुत की तरह खड़ी होकर कुछ पल मुझे देखती रहती है, फिर कहती है, "रुकने के लिए नहीं कहूंगी मैं."

मैंने चौंककर देखा है उसे. ज़ाहिर है कि उसने मुझसे जाने के लिए कह दिया है. अपने लिए नहीं, मेरे लिए. शायद मेरे लिए भी नहीं, बरखा के लिए. पहली बार मुझे लगता है जैसे किसी ने मंदिर में पहुंचा दिया है और पुनिया एक मूरत है—
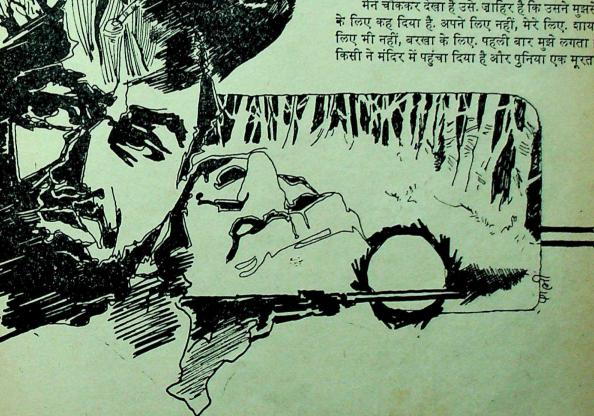
देवी की मूरत!

मैं उठ पड़ता हूं. बिना उसकी ओर देखे हुए बाहर चला आया हूं और उसी तरह तेज़ी से बढ़ चला हूं जंगल की ओर. . . वहीं मेरी जगह है. वहीं मेरे लिए जगह है.

▣

सब कुछ इतना उलझावभरा और तकलीफदेह है कि मैं थककर सोचना बंद कर चुका हूं. शायद सोचने की शक्ति जाती रही है. यांत्रिक ढंग से अंधेरे रास्ते पर बढ़ता चला जाता हूं.

अंधेरों में यात्रा करना मेरे लिए नया नहीं रहा है. आधी से ज़्यादा उम्र ऐसे ही अंधेरों में बीत गयी. कभी अंधेरे भविष्य में दौड़ते हुए या कभी भविष्य को अंधेरे में दौड़ाते हुए. सिर्फ अंधेरे!

पुनिया और बरखा के भीतर की गांठ फिर से मेरे मन में उभर आती है और उसी के साथ मेरा वह निर्णय मुझ पर सवार हो जाता है, जिसे थोड़ी देर भावुकता और विवेक की आंधी ने लड़खड़ा दिया था—जहारसिंह को दंडित करने का निर्णय!

मैं रुक गया हूं. यह निर्णय मेरे पैरों में जकड़कर रह गया है. बरखा को इस मन:स्थिति में लाने का अपराधी जहारसिंह है. . .पुनिया के जीवन को मौत में बदल देने वाला अपराधी भी जहारसिंह ही है और इस कारण मेरा अपराधी जहारसिंह है.

मुझे जहारसिंह से हिसाब चुकाना ही होगा.

मैंने रास्ता बदल दिया है. जहारसिंह से भुगतना है मुझे. जब-जब इस तरह के निश्चय मेरे भीतर उगते हैं, तब-तब बहुत ज़्यादा सोच नहीं पाता. या मेरी तरह के लोग सोच नहीं पाते होंगे. शायद इसका कारण है हत्या का एक अध्यवसाय बन जाना. कभी-कभी ऐसा होता है कि आदमी पहली बार शराब पिये तो वह उसके गले में चुभती है, आंखों को झक-झोर डालती है और जलन की एक लकीर गले से पेट तक खींच जाती है. . . पर वही आदमी जब दूसरी बार शराब के घूंट गले से नीचे उतारता है, तब अहसासों का पहला दौर मृत नहीं तो बेहोश ज़रूर होने लगता है. . . होते-होते यह दौर खत्म भी हो जाता है. अहसास मृत!

हम जैसे हत्यारों के साथ भी यही होता है. बिल्कुल इसी तरह. इसी तर्ज़ में. पहली हत्या का रोमांच, दूसरी और तीसरी के बाद इतना मृत हो जाता है कि फिर वह इससे ज़्यादा कोई अहसास ही नहीं देता कि आपने किसी गीत की कोई पंक्ति गायी है.

जहारसिंह को मारने से पहले और मारते समय यही होगा. . . होने लगा है. . .

अंधेरा गहरा है. शायद आधी रात की शुरुआत. अनुमान से जहार के गांव का रास्ता सोचता हूं मैं. दिशाओं को आधार बनाकर. . . जहारसिंह का गांव पश्चिम में है. फिर यह भी कि जहारसिंह का खात्मा करने के बाद मैं किस दिशा से निकल जाऊंगा? किस तरफ?

जहार के गांव से बैराड़ की ओर निकलूंगा मैं. वहां से मोहना और फिर जंगल में उतर जाऊंगा—घाटी गांव की ओर. जब तक पुलिस को मालूम हो पायेगा, उस समय तक मैं जंगलों में गुम हो चुका होऊंगा. यह भी कि बैराड़ थाना से बैराड़ की ओर खबर आयेगी और पुलिस सोच भी नहीं सकेगी कि मलखानसिंह थाने के गांव में आ पहुंचा है. मैं अपनी इस समझ पर खुश हो लिया हूं.

झांई की सनसनाहट अनवरत चल रही है. . . और मैं चलता जा रहा हूं. निश्चय की दृढ़ता ने थकान का अहसास मार डाला है. मुझे जहारसिंह की हवेली के बारे में जानकारी करनी होगी. . .

इस समय किससे पूछूंगा?

किसी को जगाना होगा. गांव में पहुंचते ही जो घर पहला होगा, उसी घर से जानकारी लूंगा. जानकारी से पहले सतर्कता के साथ अपनी राईफल छिपाये रखनी होगी. उजागर ढंग से भी पूछ सकता था, किंतु संभव नहीं. कारण है मेरा अकेला होना. जहार के गांव में राईफलें भी हो सकती हैं और जिस गांव में राईफलें हों, वहां संभलना होता है.

लगभग आधा-पौन घंटे तक अंधेरा चीरते हुए बढ़ा हूं और गांव में प्रवेश किया है. अब पहला घर. . .एक छोटे-से टापरे के करीब जा पहुंचा हूं. राईफल एक ओर टिका दी है, दरवाज़े पर दस्तकें देता हूं.

"कौन है?" दरवाज़ा खुला है. एक युवक सामने. हम लोगों के चेहरे एक-दूसरे के सामने धुंधलाये लगते हैं. शायद यह धुंधलाहट भी न होती, यदि उस युवक के घर में दीया न टिमटिमा रहा होता.

"राम-राम" मैंने आवाज़ में विनम्रता भर ली है, "पर गांव का आदमी हूं भाई. एक रिस्तेदार रहते हैं यहां... उनका घर मालूम नहीं है, इसीलिए. . ."

"कौन?"

"जहारसिंह. जहार ठाकुर."

"अच्छा-अच्छा. . ." वह बतलाता है, "उधर बायीं तरफ जो इकल्ला पक्का घर है ना, दोमंजिला, सफेद पुता है, अच्छी तरियां दीख जायेगा. वही है जहारसिंह का घर."

"अच्छा!" मैं मुड़ पड़ता हूं, इस तरह जैसे जाने वाला ही हूं. वह दरवाज़ा बंद कर लेता है, मैं एक क्षण रुककर दूसरी दीवार से टिकी अपनी राईफल उठा लेता हूं. सतर्क नज़रों से आगे-पीछे देखता हूं और फिर आश्वस्त होकर जहारसिंह के घर की ओर चल पड़ता हूं.

सन्नाटा है. सन्नाटे को ज़्यादा भयावह बना देती है झांई की अनवरतता. मैं जहारसिंह के दरवाज़े आ ठहरा हूं. सोच चुका हूं कि किस तरह जहार को बुलाऊंगा. मुझे याद है, भटनावर गांव का कोई रिश्तेदार जहार की फिरौती देने आया था. उसी का नाम बोलूंगा—राधे! यही नाम था उसका. मैं कुंडी खड़खड़ाने लगा हूं. ऊपर की मंज़िल में खिड़की खुलती है और शब्द मुझ पर आ गिरते हैं, "कौन है भईया?... क्या बात है?"

"हम हैं राधे. . . भटनावर से आये हैं."

"अरे?. . . इस बखत? क्या हुआ?"

"पैले दरवज्जा खोलोगे कि नहीं. . . ?" मैं बड़े अधिकार

और अपनापे से कहता हूं.

"हां-हां, क्यों नहीं . . .ज़रा ठहरो!" खिड़की बंद हो जाती है. मैं तेज़ी से सोचता हूं कि अब मुझे क्या करना होगा, किस तरह? जहारसिंह के घर में राईफल भी हो सकती है. खाता-पीता घर है. ऐसे घरों में अक्सर हथियार होता है, उस हथियार से बचाव के बारे में मुझे पहले सोचना होगा.

मैं सोच लेता हूं—जो सबसे पहले दरवाज़ा खोलने आयेगा, उसे ही बचाव का माध्यम बनना होगा.

दरवाज़ा खटकता है. मैं सतर्क हो गया हूं. हमले के लिए तैयार. और दरवाज़ा खुलता है, "तूने तो हद्द करदी राधे. . . . इस बखत. . ." शब्द पूरे नहीं हो पाते उसके, मैं राईफल लेकर एकदम टूट पड़ता हूं, "चुपचाप खड़ा रह! . . . भागा तो गोली मार दूंगा. मेरा नाम मलखानसिंह है."

वह हकबकाकर धरती पर गिर पड़ा है. लालटेन छिटक-कर एक ओर जा गिरी है. लौ भक्-भक् करती हुई. उसकी आंखें विस्मय और आतंक से फैली रह जाती हैं. सांस ज़ोरों से चलती हुई.

"लालटेन सीधी कर!" मैं गुर्राता हूं.

वह कभी मुझे और कभी लालटेन को देखता हुआ भयभीत धरती पर सरकता है. लालटेन सीधी कर देता है.

"पर. . . पर मेरा कसूर, मलखान ठाकुर?" वह घिघिया रहा है. अब मैंने ठीक तरह देखा है उसे, प्रौढ़ आयु का आदमी. ज़रूर जहारसिंह का बड़ा भाई या चाचा होगा.

"तेरा कसूर नहीं है. मारूंगा भी नहीं तुझे. . . पहले बता जहार कहां है?" मैं बुदबुदाकर पूछ रहा हूं.

"जहार. . . ऊपर, ऊपर है. सो रहा होगा." वह कांपने लगा है, पर मेरे आश्वासन ने दम डाल दिया है उसमें.

"बुला उसे!" मैं राईफल की नली से उसके सीने पर धक्का मारता हूं, बहुत हौले, जैसे उसके भीतर से आवाज़ उकेर रहा हूं.

"पर. . . . ?" वह घबरा गया है, "फिरौती दे तो दी थी ठाकुर?"

"बहस मत कर! . . . पहले उसे बुला!"

"ठीक! . . ठीक है." वह हांफने लगा है. फिर ज़ोर से जहारसिंह को पुकारता है, "ज़रा नीचे आ जहार! . . .ओ जहारसिंह!"

ऊपर कुछ खड़खड़ाहट होती है, फिर सवाल आता है, "क्या है?. . ."

"अरे, नीचे आ ना!"

"तू तो काका रात में भी चैन नहीं लेने देता." जहार की बड़बड़ाहट और फिर उसके आने की पदचाप सुनता हूं. जहारसिंह का काका कातर दृष्टि से मुझे देख रहा है. लगता है जैसे उसकी आंखों में हाथ जुड़े हुए हैं. . . प्रार्थना लिखी हुई है कि उसे जीवनदान दिया जाये.

जहारसिंह नीचे आ जाता है. पौर में. अलसाया हुआ, पर यह आलस मुझे राईफल लिये और अपने काका को धरती पर पड़े हुए देखकर टूट जाता है, पर वह भागता नहीं बड़ी बुलंदी से सामने आ खड़ा होता है, "राम-राम ठाकुर! . . . . बैठो. कैसे आना हुआ?"

मैंने दांत भींच लिये हैं. अपने आप पर बहुत काबू करने की कोशिश करता हूं, किंतु थम नहीं पाता. इसकी यह हिम्मत कि मुझसे इस तरह बात करे! इसे कांपना, गिड़गिड़ाना और मेरे पैरों में लोट जाना चाहिए था. मैं कौंधकर राईफल की नली उसके सीने में एक छुरे की तरह भोंक देता हूं. वह चीख कर गिर पड़ता है. मैं उससे भी कहीं ज़्यादा गरजकर कहता हूं, "हरामज़ादे! . . .दो मुंहे! . . बताता हूं कि क्यों आया हूं!"

वह नली की चोट से अब भी कराह रहा है. . . शायद उसकी एक-दो पसलियां चटक गयी होंगी. उसका काका भाग खड़ा हुआ है भीतर. ऊपर हड़बड़ी में स्त्रियों के दौड़ने-भागने की आवाज़ें आ रही हैं—'मलखान! . . .बागी! . . .' कुछ आवाज़ें भी.

अब मुझे ज़्यादा देर नहीं करनी चाहिए. मैं राईफल से उसका निशाना लेता हूं, "मैं इसलिए आया हूं कि तूने मेरी बहुत तारीफें की हैं. . . मेरे साथ-साथ उस निर्दोष औरत की भी बहुत तारीफें की हैं. . . ले. ." ट्रिगर दबाने को ही हूं कि एक खूबसूरत औरत सामने आ जाती है. मेरी राईफल और जहार के बीच. . . रोती, कांपती, बदहवास. . . !

मैं उसे धक्का मारकर हटा देना चाहता हूं, पर. . .पर यह क्या हो गया है मुझे? मैं एक मूरत की तरह स्थिर होकर रह गया हूं. उसे देखता हुआ. वह जहार की घरवाली है. . . वही हो सकती है. . . और कौन?

"हट् जा! . . . " जैसे-तैसे बोल पाता हूं मैं.

"नहीं-नहीं, मलखान भईया! . . . नहीं. इसे छोड़ दो! नहीं तो इसके साथ-साथ मुझे भी मार दो."

मैं कहता हूं, "हट जा!" मैं चीखा हूं, पर मेरी आवाज़ दब गयी है. लगता है, उस औरत ने मेरे भीतर ही कहीं उस आवाज़ को पकड़ रखा है. . . रुंधकर निकली है. गरज के बजाय एक निवेदन बनकर. यह क्या हो रहा है मुझे? लगता है जैसे उस औरत के चेहरे पल-पल बन-बिगड़ रहे हैं. . .किसी क्षण मुझे वह जहार की सुहागिन लगती है, किसी क्षण बरखा की तरह सुहागिन होकर भी विधवा-जैसी और किसी पल एकदम पुनिया. . .

फिलहाल वह सुहागिन है. . .

मेरा ट्रिगर दबेगा और वह पुनिया बन जायेगी. . .

और जहार ने उसे जिस विश्वास-अविश्वास की खाई में गिराये रखा है, उसने शायद किसी-किसी पल उसे बरखा की तरह जिलाया होगा.

पर यह सब सोचना और इसमें उलझकर अपना हित छोड़ देना—समझदारी नहीं होगी मेरी. मैंने मलखान को मलखान बनाये रखने की चेष्टा की है, पर वह सिर्फ चेष्टा ही रहती है. मेरा अपने आप से ही विश्वास उखड़ने-टूटने लगा है. लगता है राईफल जो हमेशा मेरे हाथों से मेरे जिस्म के हिस्से की तरह ही चिपकी रही है, अचानक परायी हो गयी है.

"इसे छोड़ दो भईया! . . . इसने जो गल्ती की हो, सो मेरे सिर! . . . मेरे लिए नहीं, बच्चों की खातिर छोड़ दो!" वह मेरे पैरों में गिर गयी है—बिलखती हुई और उसका

कायर, बेईमान पति सीना थामे हुए उसी तरह धरती पर बिलबिला रहा है. मैं राईफल नीची कर लेता हूं. मैं नहीं चाहता हूं, इसके बावजूद ऐसा कर रहा हूं. एक गहरी सांस लेता हूं और झटके से जहार की घरवाली के सिर के नीचे से अपने पैर निकालकर मुड़ पड़ता हूं... मैं बाहर आ जाता हूं... और बाहर आते ही मुझे याद हो आता है कि मैं अकेला हूं और इस गांव में राईफलें भी हो सकती हैं. मैं भाग खड़ा होता हूं. बीहड़ों में... जंगल उतरता हुआ... तेज, बहुत तेज...!

▣

हांफते-हांफते मैं एक चट्टान पर आ गिरा हूं. भोर होने को है. आंखों में जलन और उससे भी कहीं ज़्यादा जल रही हैं मेरी आंतें. जांघों और पिंडलियों में सूजन आ गयी है... दिमाग उस सबसे कहीं ज़्यादा थका हुआ और पराजित. सवालों की एक भीड़ और उन सबसे ऊपर बैठी हुई एक अंधेरी, काली, डरावनी, दुश्चिंता. मैं अकेला हूं... गिरोह नहीं है मेरे पास. फालिज मारे हुए एक आदमी जैसा होकर रह गया हूं... कोरा नाम फैला हुआ है सब तरफ. यह कितने दिन ज़िंदा रख पायेगा?

या इस नाम के कारण मुझे कितने दिन ज़िंदा रहने देगी पुलिस?

सारे सवाल उठ-उठकर गड-मड हो जाते हैं. एक-दूसरे से टकराते हुए सवाल. मैं चित लेट जाता हूं चट्टान पर. आंखें मूंदे हुए... सोना चाहता हूं, पर नींद नहीं आती. सवाल एक-दूसरे को काटते, दिमाग के दायें-बायें से निकलने लगते हैं... ऐसे जैसे धागों की कई पिंडियां एक-दूसरे से उलझ गयी हों...

किसलिए मैंने जहारसिंह को ज़िंदा छोड़ दिया? उसने पुनिया को तबाह किया. उसने किसी और तरह मुझे भी तबाह किया और किसी अलग तरह उसने अजाने ही बरखा को बरबाद कर डाला!... मुझे नहीं छोड़ना चाहिए था.

लगता है मेरे भीतर ही कोई और मलखानसिंह बैठा हुआ है. सवाल उठाता है, जवाब दे देता है.

उसे मारकर भी मुझे क्या मिल जाता? इससे पहले जिन-जिन को मैंने मार दिया—ऐसा क्या पा गया! सच तो यह है कि हर बार हर हत्या मेरे ही धीरे-धीरे मरने की प्रक्रिया का एक अंश बनती गयी है. कुछेक हत्याएं हैं, जिन्होंने अलग-अलग तरह बहुतों की हत्या की है... और सबका हत्यारा मैं!

चाचा को गोली मारकर मैंने बीहड़ों में मुंह छिपाया. उस तरह मैंने अपनी ही हत्या की. पर इस हत्या ने मेरे सुख-चैन, घर-बार, प्यार, पत्नी... सभी कुछ छीन लिया.

और इस तरह मैंने उनकी भी हत्या कर दी. बूढ़ी मां एक साथ जी-मर रही है. बरखा भी कुछ इसी तरह सांसें लिये जा रही है और मैं हूं, जिसे किसी पल अपनी ही सांस अपनी महसूस नहीं होती. लगता है कि किसी राईफल में मेरी सांसें कैद हैं... वह राईफल, जिसकी गोली लगते ही मैं मर जाऊंगा. वह उगलेगी गोली, मैं उगल दूंगा सांसें!

याद आता है एक बार बात-बात में कुछ इसी तरह की बात निकल पड़ी थी—मेरे अपने साथियों के बीच. ... थी मुकुंदपुर के जमींदार ठाकुर ने. अंगरेज़ी शराब और ... बेड़नी बुलायी थी दतिया जिले के किसी गांव की. ... रंगत. नया-नया गिरोह संभाला था मैंने. हरचरन को ... पहले ही पुलिस ने मुकाबले में मार दिया था और ... आसानी से गिरोह का सरदार बना था.

गैस की दूधिया रोशनी, तबला, हरमोनियम, ... लोढ़, सब इंतज़ाम. जमींदार के चार नौकर सेवा-... हाजिर. शाम से बोतलें खुलीं. जमींदार विश्वासी ... बागियों और पुलिस से एक-जैसा रसूख. अपराध और ... हाथ मिला लें तो गौरमिंट कहां रही?... इसलिए ... कहीं नहीं थी. अगर कहीं थी तो मुकुंदपुर के जमींदार ... नहीं थी.

बिंदा ने पहले ही बतला दिया था, "मुकुंदपुर के ... बड़े समझदार और अपने खास आदमी हैं. जब हरचरन ... संभाला था तो ऐसे ही दावत दी थी. अब तुमने ... संभाला है, तो तुम्हारी दावत!"

तो ठाकुर स्वागत कर रहा था. बरफ, सोडा, ... की शराब... सब हाज़िर! तिस पर बिजली-सी कड़कती ... आंधी-सी फड़कती जवानी लिये बेड़नी हाज़िर. ... सबसे बड़ी बात थी—इलाके के दरोगा-दीवान की ... असल में दावत से ज़्यादा यह मेल-मिलाप की पार्टी थी. ... ने इस बारे में भी समझा दिया था, "जमींदार पर ... रखो... मिसर थानेदार भी उसका है, हम भी ... गिरोह को चार घर-बाहर के आदमी लगते ही हैं. मि... पहला ही मिला है अभी...."

कभी हरचरन से भी इस मिसर का ज़िकर सुना ...

और अब मिसर से हाथ मिलना था मेरा. सो हाथ ... गले मिले. एक-दूसरे की राईफलें देखीं. तारीफ की. ... गिलास, सबके सामने आये और पहला गिलास जमीं... उठाकर ऊंचा किया, "जै भगवती मईया की!"

सब अपने-अपने सुर में बोले—कोई सिबजी की ... भगवती की और कोई कालका मईया की जै!... ... उतरे. प्याज़, नमक, टमाटर, कलेजी के दौर...

गले खुले, तो बातें खुलीं. पहले इलाके की बातें, ... मियों की बातें, मिसर ने हरभजन की तारीफ की, ... पिछले एस.पी. और आज के एस.पी. की खुशी-नाखुशी ... में बतलाया, फिर अगले पेग बने. घूंटों के बीच, कोई ... आयी और उस घटना के सिलसिले में बजरंगी की ... निकल आयी. मिसर ने ही पकड़ा था उसे. हरभजन ... इलाके में बागी बजरंगी का ही ज़ोर था, पर एक दिन ... क्या हुआ कि बजरंगी दिन दहाड़े थाने आ पहुंचा था. ... बांह में लगी हुई थी. उसे देखकर हवलदार, सिपाही ... हुए थे, और बजरंगी जा घुसा था मिसर के कमरे में. ... बक्का हो गया था मिसर थानेदार. बजरंगी ने रैफल ... पेटी कंधे से उतारकर उसके सामने टेबल पर रख ... बोला था, "लो, दरोगाजी, बंद कर दो मुझे!"

मिसर आंखें मलने लगा था—दिन में सपना ...

क्या संभव है?... बजरंगी, जिसे मारने आई. जी. से लेकर थाने तक फोन, वायरलेस, जीपें, राईफलें व्यस्त थीं, यों ज़िंदा आ पहुंचे? पर जल्दी ही विश्वास करना पड़ा था मिसर को. बजरंगी ने समर्पण किया था. मिसर ने लॉकअप में डाला, चाय-पानी करवाया. एस. पी. को खबर भिजवायी और बोला, "तू ऐसे क्यों आ पहुंचा बजरंगी? जानता है ना कि तुझे फांसी होगी?"

"मुझे तो साब, फांसी से भी कुछ बुरा होता हो, वह होना चाहिए!" बजरंगी ने मुंह बिसूरते हुए कहा था.

मिसर फिर हक्का-बक्का!

और बजरंगी ने सुनाया था कि कैसे एक-एक हत्या से उखड़ने-टूटने लगा था वह... एक बार उसे अपने भतीजे पर ही शक बैठ गया—पुलिस का आदमी है. बस, मार दिया बजरंगी ने. बहुत दिन इसी सोच में परेशान रहा कि भतीजे को मार दिया और खुद...? फिर एक बार डकैती डाली. डकैती में किसी सुहागन के गले से मंगलसूत्र उठा लाया और उसके घरवाले को मार आया... यह मंगलसूत्र अपनी औरत को ला पहनाया बजरंगी ने. जब औरत को मंगलसूत्र की कहानी सुनायी तो उसने गले से उतार फेंका और बजरंगी को गालियां देकर घर से खदेड़ दिया कि खून-सना सोना, तिस पर उस गहने से सुहाग का संबंध और किसी को वैधव्य देकर बजरंगी अपनी औरत को सुहाग दे रहा है. बजरंगी बहुत उखड़ गया. ढेर घटनाएं सुना डाली थीं मिसर थानेदार ने. आखिर में बोला था, "मलखान ठाकुर, बजरंगी बिल्कुल बोदा हो गया था. जब थाने में आया तो राईफल उठाते हाथ कांपते थे उसके. इतना डर गया था कि अदालत में पहली बार ही सब जुर्म मान लिये. फिर पागलों की तरह चीखने लगा था कि मुझे फांसी दो, सूली चढ़ाओ... जाने क्या-क्या?" और बात खत्म करके जोर से हंस पड़ा था मिसर.

पर मैं सहसा गंभीर हो उठा था... बजरंगी कायर नहीं हुआ था. सच तो यह है कि बजरंगी को मालूम हो गया था कि वह खुद को ज़िंदा रखने का धोखा दे रहा है और समझता है कि दूसरों को मौत दे रहा है. असल में बजरंगी खुद ही मरने लगा था. जिस दिन पूरा मर गया उस दिन थाने जा पहुंचा और बोलने लगा कि फांसी दे दो, सूली चढ़ाओ... वगैरा-वगैरा. अनायास ही मुस्कान आ गयी थी चेहरे पर... ऐसे मरे हुए आदमी को फांसी दो या सूली चढ़ाओ—क्या फरक पड़ता है?

फिर बहुत बहस होती रही थी इस बात पर.

पर अक्सर बजरंगी के हाल तक पहुंचने से पहले ऐसी बहसों का असल मुद्दा समझ में कहां आता है! उस दिन भी किसी को समझ नहीं आया था.

कुछ आता भी तो, बेड़नी की थिरकन ने कुचल-मसल डाला. पर मेरे दिमाग़ में उसी पल यह अहसास जनम आया था कि बजरंगी के साथ जो बीता, सो सबके साथ बीतता होगा. अंतर यही कि कोई उतनी तीव्रता से जल्दी महसूस कर पाता है, कोई नहीं!

तब क्या मैं उस स्थिति को आ पहुंचा हूं, जहां बजरंगी पहुंचा था...? मैं सिहर गया था एकदम. नहीं-नहीं.

एक दबी सिसकती आवाज़ मैंने अपने ही भीतर से आती महसूस की थी—शायद हां!... मैंने एकदम आंखें खोल दीं थीं. भोर की रोशनी तेज़ हो गयी थी और पेड़ों की फुनगियों और पत्तों के बीच से सूरज की गुदगुदाने वाली किरणों ने सारे माहौल को मुस्कानों से भर दिया था.

मैंने एक गहरी सांस ली. उठ बैठा. आलस के बावजूद अब पलक झपकना असंभव था. यों भी भूख और शरीर की तड़कन ने मुझे एक साथ बिजली के लगने वाले सौ-सौ करंटों से भर रखा था. हर पल झनझना उठता था, हर पल बदन के जोड़-जोड़ से चीख की तरह उठ पड़ती कसक.

मुझे यहां से उठ पड़ना है... किसी गांव में पहुंचना होगा. वहां से मालूम करना होगा कि 'गुरु' इन दिनों कहां हैं? इस ज़िले में 'गुरु' ही ऐसे आदमी हैं, जो गिरोह के लिए आदमी देते हैं. इन बिगड़ैल आदमियों को और अपराधियों को 'गुरु' जुटाते हैं और फिर सही गिरोह में पहुंचा देते हैं या किसी की देख-रेख में गिरोह ही बनवा देते हैं. इन 'गुरु' का भय इतना है, जितना मेरा भी नहीं है. होने का ठहरा. जो दसियों अपराधियों को जनम और संरक्षण देता हो, कानूनी दांव-पेंच से बचाता-निकालता हो, वह मुझ जैसे अपराधी की तुलना में कितना जबरदस्त हुआ!

इसलिए मैं 'गुरु' को पा लेना चाहता हूं. वह मिल जायें तो पलक मारते आदमी आयेंगे, पलक मारते राईफलों का जुगाड़ हो जायेगा... और फिर यह लगभग मृत, थका हुआ मलखान, मलखानसिंह हो लेगा!

मैं उठ पड़ा हूं.

▣

तीन दिन की लगातार मेहनत के बाद 'गुरु' से भेंट हुई. आदमी की प्रतीक्षा कर रहा हूं. कहा है कि भूरा बाह के पास मिलेंगे वे. मैं उस खास जगह पर रहूं. समय रहते आ पहुंचा हूं.

वे आ पहुंचे हैं. इस जगह, जहां मैं बैठा हुआ हूं, ऐसी ओट और बचाव की जगह है कि मुझ पर एकाएक किसी की नजर नहीं पड़ सकती, जबकि मैं सबको देख सकता हूं. मैंने देख लिया है उन्हें.

दूर जंगल चीरते बढ़े आ रहे हैं वे. दो जवान. उनके चेहरे क्रमशः स्पष्ट होते जा रहे हैं... एक—तीस पार कर चुका होगा, दूसरा तीस के भीतर... दोनों तेज़ लगते हैं. 'गुरु' ने बतला दिया था कि आदमी पक्के हैं. एक मुड़ैरी गांव में किसी युवती की हत्या कर चुका है. वापिस नहीं जायेगा. दूसरा धर्म का सच्चा—'गुरु' की अपनी जमानत है. और 'गुरु' की जमानत माननी ही पड़ती है. असल में सच्चे हैं 'गुरु'!

मुझे लगता है जैसे मेरी मुरदा होती जा रही नसों में रक्त-संचार शुरू हो गया है. क्रमशः गहरा और गहरा होता जाता जीवन-तत्व. व्यर्थ ही मैंने सोचा था कि मैं बजरंगी हो रहा हूं... झूठ!

मैं आज भी मलखानसिंह हूं!...

वे पास आ गये हैं. भटकी-भटकी नजरों से यहां-वहां देखते

हैं, मैं नहीं दीखता उन्हें. बहुत पास होते हुए भी नहीं दीखता. मैं उठकर उनके सामने आ खड़ा होता हूं. वे चौंक जाते हैं. सहसा मुझे पहचान लेते हैं. झुककर पैर छू लेते हैं मेरे.

"पा-लागें ठाकुर !"

"आओ." मैं उन्हें अपनी जगह ले आता हूं. यहां आराम से बैठकर बातें की जा सकती हैं.

"क्या नाम है तेरा?"

"मैं हजूरी." तीस साल से कम उम्र का युवक उत्तर देता है और उसके सिलसिले ही दूसरा कहता है, "मैं घासीराम."

"किस गांव के हो?"

"एक ही गांव के समझो." घासीराम ने उत्तर दिया.

"एक ही गांव के क्यों?" मैं एकदम कठोर हो जाता हूं. गिरोह में पहली भरती का तरीका यही होता है, "गुरु ने कहा था, तुम अलग-अलग गांव के हो!"

वे सिटपिटा जाते हैं. घासीराम कहता है, "हैं तो अलग-अलग गांव के, पर तीन मील का फरक है. . .एक ही गांव जैसे हुए!"

वे अपने 'अपराध' बतला देते हैं. घासीराम का भाई अपने ब्याह के आठवें दिन ही मर गया था. विधवा भाभी ने पुनर्विवाह कर लिया. घासीराम का कुल-वंश बहुत बदनाम हुआ. घासीराम ने अपनी इज़्ज़त इस तरह रखी कि भाभी की नाक काट ली और उसके दूसरे पति की हत्या कर डाली. हजूरी भी इज़्ज़त की खातिर डाकू होने आया है. इज़्ज़त उसकी निजी नहीं, पूरे गांव की थी. यों कि उसके गांव से कोई आदमी बागी नहीं है. जिस गांव से कोई बागी न हो, उसकी इज़्ज़त उन गांवों की तुलना में कितनी छोटी हो जाती है, जिससे एक न एक बागी होता है! गांव के चार लोगों में इस बात पर दुख होता था. यह दुख हजूरी ने फरार होकर और एक राईफल चुराकर पूरा कर दिया है. अब हजूरी के गांव और गांव वालों का सिर ऊंचा हो रहेगा!

मैंने चुपचाप सुन लिया है, पर भीतर ही भीतर इन दोनों के प्रति सुलग उठा हूं. एक ने निरपराध हत्याएं की हैं, तो दूसरा मूर्ख है, जो ख़्याली दुनिया में जीकर अपनी दुनिया को अंधेरे में डालने चला आया है. घिनौने हत्यारे और मूर्ख की सहायता से मैं अपनी सांसें जिऊंगा? ऐसी सांसें मुझे नहीं चाहिये! ......ऐसे साथी भी मुझे नहीं चाहिये....!

दोनों आराम से बैठे हैं, जैसे दीक्षित हो चुके ! अब गिरोह-धर्म निबाहना शेष. घासीराम ने सिगरेट का पैकट निकालकर मेरी ओर बढ़ा दिया है, "लो, ठाकुर!" अचानक मैं उस पैकट को हवा में उछाल देता हूं, लात की एक ठोकर देता हूं उसमें, फिर तमककर उठ खड़ा होता हूं, "गधे! . .चले जाओ यहां से! ... जल्दी! ...."

वे हड़बड़ाकर उठ जाते हैं, पर जाते नहीं. मेरी तरफ ऐसे देख रहे हैं जैसे मैं पागल हो गया हूं.

"सुना नहीं तुमने? ... मैं राईफल उठाता हूं. वे घबरा जाते हैं. घासीराम पूछता है, "पर...हुआ क्या ठाकुर? .... हमारी गलती?"

"गलती बताऊं तुझे?" मैं हिचक पड़ता हूं, जैसे मुझे जोर से काट लिया है या कोई नुकीली सुई चु... है, "तो सुन, तू एक हरामी आदमी है. कमीन! ... तो इस बखत गोली मार देनी चाहिए थी...तू समझ कि मैंने तुझे छोड़ दिया है...बस, अब तू... चला जा यहां से!" मैं आवेश और झुंझलाहट में ... अस्तव्यस्त हो उठा हूं कि मुझे यह सब बतलाने की ... होते हुए भी कि घासीराम ने अपनी भाभी के साथ ... किया है, उसके पति की निरपराध हत्या की है... नहीं पाता. मेरे मुंह से उसके लिए गालियां, धमकी ... धिक्कार ही निकल पाते हैं.

घासीराम सिटपिटाकर जाने के लिए मुड़ता है... उसके पीछे-पीछे हजूरी. मैं उन्हें जाते हुए देखता ... हूं. देखता रहता हूं...

और मैं फिर अकेला हो गया हूं... फिर थक ... हूं... फिर चल पड़ा हूं निरुद्देश्य!

ऐसे गिरोहों के बल पर नहीं जिऊंगा.

मगर मैंने समझदारी नहीं की. वे दो थे. दोनों के ... बढ़िया राईफलें भी थीं. मुझे पछतावा होता है.

कितना खूबसूरत, अच्छा लड़का था वह हजूरी... मेरे साथ उलझकर या तो किसी दिन जान खो दे... फिर इतने जुर्म कर बैठता कि मेरी ही तरह जीता... नहीं, जीता नहीं—मरता!

मुझे अपने आप पर हंसी हो आयी है. अपनी ... रुलाई से भरी अपनी हंसी. मैं भी कैसा मूर्ख हूं! ... हूं कि मैं जी रहा हूं.

यहां से सिर्फ तीन किलोमीटर है मेरा गांव. ... नहीं था कि इधर आ पहुंचूंगा. मालूम नहीं किस बे... आ पहुंचा हूं...जानता हूं कि मैं अपने गांव नहीं जा ... हूं, श्मशान घाट जा रहा हूं...यही कुछ सिद्ध हो... लिए. वह मेरा गांव है, इसलिए पुलिस का एक पूरा ... रहता है वहां. बरखा की ही तरह प्रतीक्षारत.

कभी तो आयेगा मलखानसिंह.....!

▣

दूर, पेड़ों का एक झुरमुट-सा दीखता है. गांव की ... खेतों की मेंढों से गुज़रता हुआ मैं क्रमशः बढ़ा जा र... रह-रहकर ध्यान हो आता है—बरखा का. और उससे ... जुड़कर खयाल आता है—वहां पुलिस गार्ड ज़रूर है...

बाहर वाले कमरे में ही रहता है गार्ड. एक पुलि... यानी चार सिपाही और एक हवलदार. बढ़िया रा... कारतूसों की भरी पेटियां. . मेरी ज़िंदा लाश का ...

वे कल्पना भी नहीं कर सकेंगे कि मलखानसिंह ... आ पहुंचेगा...बिल्कुल बजरंगी की धुन में. अंतर के... होगा कि बजरंगी थाने में पहुंचा था और मैं अपने बीहड़... लदे गांव में पहुंचूंगा.

वे हक्के-बक्के हो जायेंगे. हो सकता है कि ... ज्यादातर की हिम्मत उसी तरह जवाब दे जाये ...

बजरंगा [illegible] देखकर, संतरी-सिपाही, [illegible] भाग खड़े हुए थे. घबरा जाने और भौंचक्के हो रहने की बात ही है—कौन होगा जो इस तरह बारूद सुलगते पलीतेवाली तोप के मुंह पर खुद ही जाकर खड़ा हो जाये!

पर मैं जा रहा हूं. . .

शाम की शुरुआत. सूरज का चेहरा पीला होने लगा है और उसके साथ ही किरणें रौनक की उमर होते हुए भी बरखा की तरह उदास और रुग्ण हो उठी हैं. रोशनी है, पर बहुत धुंधलायी हुई. इधर-उधर से उठती गाय-भैंसों के रंभाने की आवाज़ें. एक लोकगीत गुनगुनाता-लगता मौसम.

कौन कहता है कि मैं अकेला हूं! सब कुछ तो है यहां. . ये मौसम, खुशियां, पेड़ों के झुरमुट से झांकता गांव और आसमान की ओर उठता हुआ धुआं. . इसको कुछ समय के लिए खो बैठा था मैं. कितना अकुलाया हूं, इस सबको फिर से पा जाने के लिए. और कैसे सपना बनकर रह गया यह सब!

पर आज पा जाऊंगा. . . इस तरह कि फिर कभी गुमने की आशंका न रहे. मैं अपने भीतर एक झरने की खिलखिलाहट महसूस करता हूं. वह सपना, जिसे अपने बाकी जीवन में अक्सर संजोये रहता हूं, सहसा ही किसी झरने की तरह मेरे भीतर उतरकर खिलखिलाने लगा है—एक खूबसूरत, सलोने सच की तरह.

बरखा होगी वहां. . . मैं उसे देखूंगा! इस देखने में और उस देखने में बहुत अंतर होगा, जिस तरह मैं बागी रहकर उसे देखता रहा हूं. . . .

मैं गांव की सीमा में आ जाता हूं. कुछ स्त्रियां मिली हैं. सहमकर देखती हैं और घूंघट खींच लेती हैं. और कुछेक ग्रामीण भी मिले हैं. . .

"राम-राम ठाकुर!. . . "

"राम-राम!" मैं रुके बिना तेज़ी से भीतर और भीतर धंसता जाता हूं. पास के कच्चे घर से एक वृद्ध निकल आया है. गांव का बढ़ई. कक्का कहता हूं इसे. . .

"मलखान!"

"हूं!" मैं मुड़ता हूं, "कैसा है कक्का?"

"मैं तो ठीक हूं, पर तू यहां?" वह भयभीत है. . .

"हां. . " जी हुआ, "मैं मुस्कराया हूं, "सोच रहे होंगे कि पुलिस के रहते कैसे आ गया हूं. . यही ना?"

"नहीं भईया, अब यहां पुलिस कहां है?" वृद्ध की आवाज़ में उसकी उम्र से ज्यादा थकान है.

"क्यों?" मैं चकित हो गया हूं.

"जब तेरे आने की आस ही खतम हो गयी, फिर पुलिसवाले क्यों रहेंगे भला?" वृद्ध कहता है, "वे तो कल ही लौट गये!"

मैं हैरान देखता हूं—कुछ भी समझ नहीं पाता. वृद्ध मेरे करीब आ गया है, "परसों बरखा नहीं रही, और बरखा नहीं रही तो कौन बचा, जिसके लिए तू यहां आयेगा? वे चले गये!"

बरखा नहीं रही. बरखा नहीं रही. . . मैं बुरी तरह लड़खड़ा गया हूं. मैं रो पड़ना चाहता हूं, पर पहली बार पाता हूं कि रोना भी सहज नहीं. उस वृद्ध ने आगे भी कुछ कहा है. . . क्या कहा है, मैं सुनकर भी सुन नहीं पाया हूं. शायद सुनने के लिए कुछ शेष भी नहीं रहा.

बरखा नहीं रही और पुलिस चली गयी. अब घर में घर के सिवा कौन रहा! किसलिए मुझे जाना चाहिए? क्यों जा रहा हूं?. . .

मैं लौट पड़ा हूं. सूरज डूब गया है. रोगी, कमज़ोर किरणें गुम हो चुकी हैं. अंधेरा उतरने लगा है. मेरे भीतर बहता झरना कब सूख गया—मुझे मालूम नहीं. अब सपने नहीं आयेंगे. शायद वे सीढ़ियां ही नहीं रहीं, जिन पर सवार होकर सपने पलकों के भीतर पहुंचते हैं. मैं फिर से उतर आया हूं उसी रास्ते पर, जिस पर एक बार अकेला उतरा था. अंतर यही है कि इस बार मैं पहले की तरह भागूंगा नहीं. मैं भयभीत भी नहीं हूं. मैं निश्चित हो गया हूं या यों कि मैं चिंता-अचिंता से मुक्ति पा चुका हूं.

मैं अकेला हूं. . पर लगता ही नहीं है कि अकेला हूं. महसूस करने की शक्ति-सामर्थ्य ही चुक जाये तो भीड़ में रहो या अकेले—कोई अंतर नहीं पड़ता.

अब सामने न पेड़ों का कोई झुरमुट है, न यहां-वहां से लोकगीत की गुनगुनाहट-जैसी गाय-भैंसों के रंभाने की आवाज़ें और न ही रोशनी का कोई इशारा. . .

यहीं तक लिख पाया था मलखान सिंह. आगे लिखने का न तो समय मिल पाया होगा, न आवश्यकता ही रही होगी . . . बहरहाल इतना निश्चित है कि जितना उसने लिखा—वह बहुत से बहुत ज्यादा है!

● 53/14, रामजस रोड, करौल बाग़,
नयी दिल्ली-110005

यह उपन्यास पुस्तक रूप में पराग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली-32 से शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है.

ग़ज़ल

वेषभूषा पहन पुजारी की,
है खड़ी शख्सियत शिकारी की.

होंठ पे वेद की ऋचाएं हैं,
हाथ में मूठ है कटारी की.

आँसुओं को ग़ज़ल बनाने की,
हम गरीबों ने दस्तकारी की.

दिल मिला बादशाह का हमको.
जन्मपत्री मिली भिखारी की.

▣ अम्बर

▣ महेंद्र कुलश्रेष्ठ

२२ लाख डालर में उपन्यास बिका

अमेरिका में पेपरबैक व्यवसाय बहुत आगे बढ़ चुका है. पिछले दिनों प्रख्यात लेखक मारियो पुज़ो के नये उपन्यास 'फूल्स डाइ' का पेपरबैक संस्करण 22 लाख डालर (पौने दो करोड़ रुपये) में बिका. इसके लिए बाकायदा नीलामी हुई और बढ़-चढ़कर दाम लगाये गये. ये दाम अब तक हुई इस तरह की बिक्रियों में सबसे ज्यादा हैं. इससे दुनिया भर के प्रकाशक चकित रह गये.

मारियो पुज़ो का उपन्यास 'गॉडफादर' भी इसी तरह लोकप्रिय हुआ था. उस पर बनी फिल्म भी बड़ी सफल रही. उसके बाद लेखक ने 'गॉडफादर-2' लिखा और अब वे 'गॉडफादर-3' लिख रहे हैं.

इस बिक्री का 40 प्रतिशत प्रकाशक को मिलेगा और 60 प्रतिशत लेखक को —जबकि आम तौर पर दोनों को 50-50 प्रतिशत मिलता है. 10 प्रतिशत लेखक के एजेंट को जायेगा और लगभग आधी राशि करों में चली जायेगी. अंत में कुल मिलाकर 5 लाख डालर लेखक को प्राप्त होगा.

प्रकाशक को आशा है कि वह उपन्यास की एक करोड़ प्रतियां बेच लेगा. उसे 8-10 लाख डालर प्रचार पर भी व्यय करने होंगे. लेकिन यदि उपन्यास 'फ्लाप' हो गया तो?

इतनी ज्यादा कीमत पर नीलामियां पिछले 5-7 साल से ही हो रही हैं. पहले किताब औसत एक लाख डालर की बिक जाती थी. बहुत जल्द यह रकम 10 लाख पर आ गयी. 1974 में 'आल दि प्रेसीडेंट्स मैन' 10 लाख की बिकी थी. फिर 10 से 15 और 20 होते हुए अब शायद अगले साल की किताब 25 पर बिके.

'गॉडफादर' के प्रकाशन से पहले पुज़ो साहब के दो उपन्यास निकले और कुल आमदनी छह हज़ार डालर हुई. फाकामस्ती के दिन थे वे. पिछले दस साल में उन्होंने 60 लाख डालर कमा लिये हैं.

इन किताबों की 70 प्रतिशत खरीददार औरतें होती हैं.

यह तो हुई चटपटे किस्म के लोकप्रिय लेखकों की बात, परंतु अच्छे लेखक भी विदेशों में बहुत काफी छपते और पढ़े जाते हैं. इन्हीं दिनों फ्रैंज काफ्का जैसे गंभीर और जटिल लेखक के अमेरिकी पेपरबैक अधिकार 2 लाख से ज्यादा डालर में बिके. लेखक यदि ज़िंदा होता तो उसे यह सब देखकर बहुत मज़ा आता.

इसी तरह प्रसिद्ध जर्मन लेखक हायनरिख बॉएल की किताबें दुनिया की पैंतीस भाषाओं में पौने दो करोड़ के लगभग छप चुकी हैं. अब उनकी साठवीं वर्षगांठ के अवसर जर्मनी में उनका संपूर्ण कृतित्व दस खंडों में छापा जा रहा है. पांच खंड छप चुके हैं, शेष अगले वर्ष के आरंभ में प्रकाशित हो जायेंगे. इसके संपादक श्री बर्ंड बाल्ज़र हैं परंतु लेखक हर स्तर पर सहयोग दे रहे हैं. □

पास्तरनाक : कमज़ोर और बेवफ़ा

साहित्यकार दुनिया की नज़र ... कुछ भी हों, अपनी पत्नी ... प्रेमिका की नज़र अक्सर उनकी असलि... को पहचान लेती है. ओल्गा इविन्स्का... नोबेल पुरस्कार प्राप्त रूसी लेखक बोरि... पास्तरनाक की प्रेमिका और मित्र... थीं. उन्होंने पास्तरनाक के साथ बिता... अपने दिनों पर पांच सौ पृष्ठों की किता... लिखी है. नाम है 'ए कैप्टिव ऑव टाइ...' पिछले ही दिनों प्रकाशित इस किता... में पास्तरनाक को एक कमज़ोर ... बेवफ़ा चरित्र बताया गया है.

स्टालिन के ज़माने में एक ... मित्र लेखक मैंडेलस्टेम ने उन्हें ... स्टालिन विरोधी कविता सुनायी. ... सड़क पर खड़े थे. कविता सुन... पास्तरनाक इतने परेशान हुए कि ... "मैंने यह कविता नहीं सुनी, न ... यह सुनायी" स्टालिन ने जब मैंडेल... को पकड़ा तब उसने खुद पास्तर... को फोन करके अपने मित्र की ... करने को कहा. पर पास्तरनाक ... डरे हुए थे कि स्टालिन को ही कह... पड़ा, "तुम अपने साथी की मदद ... लायक नहीं हो."

नोबेल पुरस्कार मिलने के ... पर भी पहले तो पास्तरनाक ने कहा ... कि मैं गोली खाने को भी तैयार हूं ... वे इतने झुक गये कि सार्वजनिक ... से चिट्ठियां प्रकाशित करके ... माफियां मांग लीं.

सौंदर्य का प्रेम भी उनका ... ही था. उनकी ही वजह से ओल्गा ... यातना शिविरों में चार साल काट... लौटने लगीं तो उन्होंने संदेश भिजवा... कि उनका सौंदर्य यदि इस बीच ... गया हो तो वे न मिलें. संदेश ले जाने ... स्वयं ओल्गा की लड़की ही थी ... जिसने समझदारी से काम लेकर ... उस समय मां को नहीं बताया. ... ने लिखा है कि पास्तरनाक ने ... पत्नी को इसलिए छोड़ा क्योंकि ... 'बूढ़े होने की गलती की.' ओल्गा ... 'डॉ. जिवागो' की नायिका लारा ...

काफ्का की नयी किताब

फ्रेंज काफ्का ने कम ही लिखा और उनमें से अधिकांश, पचपन साल पहले हुई, उसकी मृत्यु के पश्चात् ही प्रकाशित हुआ, फिर भी इस शताब्दी के साहित्य की वह एक प्रमुख सत्ता माना जाता है. उसकी डायरियों, पत्रों और छिटपुट नोटों में भी गहरी रुचि ली जाती है. डायरियां तो उसकी पहले ही प्रकाशित हो गयी थीं और दो प्रेमिकाओं, फेलिस और मिलेना, को लिखे पत्रों के संग्रह भी (क्रमशः 1973 और 1953 में) प्रकाशित हो गये थे. अब मित्रों, परिवार के सदस्यों तथा संपादकों को लिखे गये पत्रों का, पांच सौ से अधिक पृष्ठों का संग्रह प्रकाशित हुआ है. इसका मूल्य जरुरत से ज्यादा ही लगता है: बीस से आधा पौंड कम, यानी करीब सवा तीन सौ रुपये.

इस तरह के सभी संग्रह काफ्का की रोगी मनःस्थिति तथा उसकी अपनी विशिष्ट अनुभूतियों को ही उजागर करते हैं — और इस दृष्टि से यह निस्संदेह विशिष्ट कृति है. पत्रों को काफ्का विशेष महत्त्व देता भी था क्योंकि उन्हींके माध्यम से वह अपनी बात ज्यादा सही ढंग से कह सकता था. उसके अनुसार पत्र 'समुद्र के दो किनारों की एक दूसरे तक पहुंचने की छटपटाहट हैं.'

काफ्का की दृष्टि में लेखक 'मानवता का बलि का बकरा' होता है लेकिन अंततः वही वास्तव में सही अर्थों में जीवित भी बचा रहता है. सही किताब उसकी नजर में वह है "जो भीतर जमे समुद्र को आरे की तरह चीर दे.' 'हमें ऐसी किताबें चाहिए जो गहराई से परेशान करें, जो महाविनाश की तरह हमें झकझोर दें."

काफ्का की अपनी किताबें ऐसी ही हैं—यूं वह उन्हें जला देने के पक्ष में था, परंतु जिन्हें उसका घनिष्ट मित्र मैक्स ब्रॉड हीरे जवाहर की तरह तब तक संजोये रहा जब तक वे प्रकाशित न हो गयीं. दरअसल मैक्स ब्रॉड के ही कारण काफ्का प्रसिद्ध हो सका. उसकी अपनी प्रेमिकाएं तो उसे समझ ही न सकीं —और एक ने तो उसके पत्र खासे दाम लेकर बेच भी दिये. □
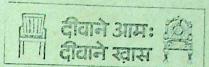
▣ दर्शन लाल

जान गयी. . .के मायने!

दर्शनलाल दीवानेख़ास में रोज की तरह आज भी बड़ी देर तक टेलीफोन की घंटी सुन रहा है. टेलीफोन के पास ही सलामत बाबू बैठे हैं. वे आज से नहीं, 31 साल से वहां बैठते आ रहे हैं. आखिर सलामत ने टेलीफोन की पुकार सुन ही ली. टेलीफोन से बात करते समय उसके चेहरे पर अचानक आत्मज्ञानी होने का भाव देखकर दर्शनलाल भौंचक्का हो गया है.

"ऐं! आज मंडे है! मुझे ध्यान ही नहीं रहा."

इस पर बाजू में बैठे सहायक ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, "घंटे और मिनट से आपका सरोकार नहीं है, यह तो पूरा देश जानता है. कम से कम अपने सामने लगे कैलेंडर का तो लिहाज कर लिया करो सलामत भाई! 'आज मंडे है,' यह समाचार आपको तत्काल अपने परिवार तथा इष्ट मित्रों को भेज देना चाहिए वरना आप तो मरते दम तक सलामत रहेंगे, पर हमारी खैर नहीं."

सलामत को सहायक की बात पट गयी. उसने तत्काल घर में फोन घुमाया.

"ये हिंदुस्तान है सलामत भाई! अंग्रेज़ों की चाकरी की आपने, फिर भी आपको इस टेलीफोन की माया समझ में नहीं आयी. यहां लाटरी लगने की गारंटी दी जा सकती है परंतु टेलीफोन की नहीं."

दर्शनलाल ने सहायक को झूठा पाया. टेलीफोन लग गया और फंस भी गया.

सलामत ने अपनी पत्नी को फोन से सविस्तार सूचित कर दिया कि 'आज मंडे है, और अंत में दोहराया "जान गयी."

"जान गयी!" शब्द सुनते ही दीवाने खास की सभा में बैठे शब्द-पारखी एक साथ सलामत-बाबू से पूछने लगे, "किसकी जान गयी? कैसे गयी?"

यह सवाल सलामत को बड़ा बुरा लगा. सालों से टेलीफोन में बात करने का 'दिदाउट ब्रेक एक्सपीरियंस' होने का उसे बड़ा गर्व रहा है. उसने उसी दम शब्द-पारखियों को मुंह तोड़-जवाब दिया, "जान गयी के मायने हैं समझ गयी."

इस बहस में अचानक भाग लेते हुए एक नये सहायक ने कहा, "मैं समझा अम्मी-जान गयी!"

दीवाने खास में शास्त्रार्थ लंबा हो रहा था, तभी एक बूढ़े चपरासी ने गहरी नींद से उठकर शुभचिंतक के रूप में बीच में ही घोषणा की, "साहब! लंच के लिए देर हो रही है." □

गरीबी का भूगोल!

भारत और पाकिस्तान की सीमा पर दोनों देशों के सुरक्षादल के सिपाही बातचीत करने लगे. समस्या थी एक व्यक्ति को बिना पासपोर्ट के सीमा पार करने की अनुमति देने की. देशभक्ति का पालन-पोषण सिर्फ भूगोल करता है. 'बिना पासपोर्ट के प्रवेश निषेध' इस पर दोनों सिपाही एकमत थे.

दूसरे दिन वही दोनों सिपाही आपस में बातें करने लगे. एक बोला—"क्यों भाई! आपका इस तनख्वाह से गुजारा चल जाता है?"

इसके उत्तर में दूसरा सिपाही हतप्रभ-सा हो गया. वह आत्मसमर्पण की स्थिति में था.

वह व्यक्ति, जिसे बिना पासपोर्ट के सीमा पार करने की अनुमति नहीं दी गयी थी, दूर खड़ा देख रहा था और सोच रहा था कि गरीबी भूगोल की परवाह किये बिना, किसी भी देश के संतरी को पासपोर्ट दिखाये बिना यात्रा कर सकती है. □

आम तौर से अपनी मौत के खौफनाक क्षणों की जानकारी किसी को नहीं होती. मगर जब किसी को निश्चित रूप से यह मालूम हो कि फलां समय उसकी जीवनलीला समाप्त कर दी जायेगी, तो उस शख्स की मनःस्थिति का अंदाज लगाना आसान नहीं रहता. तिस पर जब मौत का फैसला 'कुदरत' नहीं 'कानून' द्वारा किया जाता है, तो जिंदगी और मौत की ऊहापोह में उसे अपने चारों ओर घिरते हुए काले सन्नाटे का एहसास होने लगता है, और घड़ियाल की आवाज़ भी फांसी के तख्ते की 'खटाक' बन जाती है.... और ठंडी खामोशी में जीता, न जीता आदमी अपनी ही थरथराहटों की भयावहता में खो जाता है.....

यह मौत का फरमान, चाहे कानूनी हो या राजनीतिक, हलाक होते हुए आदमी के दर्द को कोई और नाम नहीं दिया जा सकता--इसका रिश्ता किसी एक इंसान से कम, इनसानी ज़िंदगी से ज्यादा है. प्रस्तुत है, संभवतः पहली बार किसी की फांसी के वक्त उपस्थित पत्रकार की कलम के इन्हीं एहसासों से कानून और मुजरिम के बीच व्याप्त इंसानी जिंदगी की उहापोह से एक सीधा साक्षात्कार.

19 अक्टूबर को जब बैजू को पता चला कि राष्ट्रपति ने उसकी 'मर्सी-अपील' नामंज़ूर कर दी है, उसे एहसास हो गया था कि अब एक न एक दिन उसका गला फांसी के फंदे में जकड़कर झूल जाना है. परंतु किस दिन?... इसका उसे कोई अंदाज़ नहीं था.

25 अक्टूबर को उसे फांसी दिया जाना तय हुआ. आधी रात तक वह इस अचानक होने वाले हादसे से अनजान ही रहा.

अलस्सुबह ठीक 3 बजे मैं रायपुर सेंट्रल जेल के दरवाज़े पर था. जेल अधीक्षक व जिला न्यायाधीश पंडितजी के साथ बैठे थे. तनावपूर्ण माहौल में कुछ औपचारिकताओं के बाद हम सब जेल के भीतर दाखिल हुए. हमारे साथ सिपाहियों का काफिला बंदूक व मशालें थामे चल रहा था. बूटों की आवाज़ों से हर बैरक की नींद टूट गयी. मगर हम उनमें से झांकती अनगिनत आंखों को अनदेखा करते हुए सीधे बैजू के बैरक की तरफ बढ़ते रहे.

बैरक पहले से ही खुला था. कुछ सिपाही गैस-बत्ती के साथ उसके पास तैनात थे. जेल अधीक्षक के कार्यालय से बैजू के बैरक तक का एक फर्लांग का फासला तय हुआ, मगर कोई किसीसे कुछ भी नहीं बोल सका. बैरक के पास सिपाहियों का काफिला रुका. बूटों की तेज़ आवाज़ें थम गयीं. और उसके स्थान पर मूरम पर पांव पड़ने से कसकसाहट होने लगी. पंडितजी के पीछे-पीछे मैं, जिला न्यायाधीश व जेल अधीक्षक सहित कुछ अन्य अधिकारी बैजू के पास गये.

...बेटा, राम-राम बोल!

पंडितजी की राम-राम का बैजू ने कोई जवाब नहीं दिया. न वह हम लोगों के आने पर खड़ा ही हुआ. इस वक्त उसे यह नहीं बताना पड़ा कि उसे अब फांसी के फंदे तक ले जाया जायेगा.

पंडितजी ने फिर राम-राम दुहराया लेकिन बैजू फिर चुप रहा. पंडितजी तुलसी के पत्ते बैजू को देते हुए बोले, "बेटा, राम राम बोल...!" उस क्षण बैजू फूट पड़ा, "अब का राम का नाम लेई महाराज, हम तो जात हन... बस हमार लइकन का दिखाय दो!"

यह उस बैजू की अंतिम इच्छा थी, जो अब कुछ देर का मेहमान था. बच्चों की बात आते ही जेल अधीक्षक लपक कर मुखातिब हुए, "भई, तुमसे हफ्ते भर से पूछ रहे हैं, किसीसे मिलना है क्या, पर तुमने तो कुछ नहीं बताया." बैजू बिना नज़र उठाये, बोला, "आप तो रिश्तेदारन का पूछत रहेव. हम किसी रिश्तेदारन से नहीं मिलव, सब दुश्मन हैं. हमार लइकन को दिखवा दो साहब!"

जेल अधीक्षक व अन्य जेल अधिकारी समझाने लगे कि उसने चूंकि अपने बच्चों का कोई पता ठिकाना नहीं बताया था और न ही उनकी कोई चर्चा की, इसलिए अब उनसे मिलना संभव नहीं होगा. इसलिए वह कुछ बोलें, पंडितजी श्लोक

फांसी !

रिश्ता इंसान से नहीं... इंसानियत से ज्यादा है !

▣ गिरिजा शंकर

पढ़ने लगे, "देखो बैजू, लोग तो पता नहीं किस हाल में मरते हैं, तुम तो पूरे होश-हवास में जा रहे हो, इसलिए भगवान का नाम लो और. . . .!"

"होश में होयसे का फायदा?" बैजू बीच में ही बात काटते हुए बोला, "अपन लइकन को तो नहीं देख सकंय?"

पंडितजी गंगाजल निकाल कर बैजू को देने लगे. बैजू अब तक तुलसी-पत्र को अपनी हथेली पर खैनी की तरह मल रहा था. गंगाजल लेने से उसने साफ इंकार कर दिया, राम का नाम लेने-जैसा ही. बड़ी मुश्किल से समझा-बुझाकर उसकी हथेली पर पंडित ने गंगाजल की कुछ बूंदे डालीं और बैजू गंगाजल में डूबे तुलसी-पत्र को कुनैन की गोली की तरह गटक गया!

अब तक घड़ी में 3-35 हो चुके थे. बैजू ही सबकी सोच का केंद्र बिंदु बना हुआ था. दीवाली के ठीक पहले की ठंडी रात, चांदनी होते हुए भी दहशतजदा और अनजाने भयमिश्रित उस निस्तब्ध माहौल को बार-बार बैजू की पुकार बिखरा देती, "हमार लइकन को दिखा दो साहब. . .आप मन तो मालिक हव. . . जैसे आदेश हो-ही वैसे ही करबो लेकिन हमार लइकन का दिखाय दो!"

बैजू की इस चीत्कार का कोई जवाब किसी के पास नहीं था. बड़ी मुश्किल से आंखें ऊपर करते हुए बैजू का स्वर आतंक और करुणा उपजाता रहा, "साहब अपन लइकन का हम कन्हैया पाकर (कमर पर बिठाकर) खेलाय रहेव, गैया चराय रहे, उन कर दिखाय दो साहब!"

सभी असहाय थे. मैं गुमसुम-सा खड़ा रहा, कभी बैजू को तो कभी दूसरों को निहारते हुए. पंडितजी बराबर अपने प्रवचन के हिस्से दुहराते रहे, जिसका कोई असर बैजू पर नहीं हुआ.

लेकिन लरकन का दिखाय तो देव!

समय सरकता जा रहा था. 4 बजने को थे. बस, आधे घंटे बाद फांसी होने वाली थी. बैजू को समझाने के सारे प्रयास असफल हो चुके थे. जबकि अपने बच्चों से मिलने की उसकी बेबस पुकार बरकरार थी. आखिरकार जेल अधिकारियों ने संवाद की स्थिति को समाप्त मानते हुए, सीधे-सीधे, कानूनी औपचारिकताएं पूरी करनी शुरू कर दीं. एक जेल अधिकारी ने न्यायालय के फैसले को पढ़कर सुनाया कि . . .बैजू को फांसी की सज़ा सुनायी जाती है, तथा बैजू की मर्सी-अपील राष्ट्रपति व राज्यपाल ने मंज़ूर नहीं की. फिर बैजू की वसीयत भी पढ़ी गयी, जिसके तहत उसने अपनी सारी जायदाद बच्चों के नाम की थी.

इन बयानों पर कैदी की सहमति होना अनिवार्य है, मगर बैजू खामोश, सिर झुकाये बैठा रहा. वसीयत पढ़कर न्यायाधीश ने बैजू की सहमति मांगी तो वह बिफर पड़ा, "जमीन-जायदाद तो सब लिख देहिं सरकार लेकिन लइकन का दिखाय तो देव?"

बात टालने की गरज से जेल अधीक्षक ने बैजू को सिगरेट दी. अनिच्छा के साथ लेकिन निरपेक्ष भाव से बैजू ने सिगरेट ले ली. वह सिगरेट सुलगाने लगा तो उसके हाथ बुरी तरह कांप रहे थे. उन कांपते हाथों को देखकर मैं घबरा-सा गया. फांसी शब्द की भयंकरता व आतंक के एहसास से यह मेरा पहला सीधा साक्षात्कार था.

नये वस्त्र : अंतिम स्नान

बैजू के नहाने को पानी, खाने को मिठाई व पहनने को नये कपड़े (लट्ठे की कुरतानुमा बनियान व कच्छानुमा पतलून) तैयार थे. मगर बैजू, न तो नहाया और न हीं उसने कुछ खाया! अलबत्ता काफी मनाने के बाद वह नये कपड़े पहनने को राज़ी हो गया. हम लोग बैरक से बाहर निकल गये.

बैजू का गुनाह चार व्यक्तियों की निर्मम हत्या बताया गया था. ये हत्याएं उसने मात्र ढाई-तीन हज़ार के सामान के वास्ते की थीं. वह एक संतानहीन परिवार में ओझा बनकर गया और बोला कि तंत्र-मंत्र के ज़रिये वह उन्हें संतान दिलवायेगा. फिर परिवार के प्रमुख व छोटी पत्नी को बारी-बारी से नाले के पास ले जाकर उनकी हत्या कर दी. लौटकर उसके दस वर्षीय भतीजे व दादी का भी काम तमाम कर दिया. उसके इस अपराध में सत्र-न्यायाधीश ने फांसी की सज़ा सुनायी, जो आखीर तक बदली नहीं जा सकी.

उसे फांसी लगने में अब केवल आधा घंटा बाकी था. जेल कर्मचारियों ने बैजू के दोनों हाथों को पीठ के पीछे लाकर हथकड़ी लगा दी. फिर ऊपर बांह तक मोटी रस्सी भी कस दी. ताकि वह हिल तक न सके. बैजू प्रतिरोध करता रहा. मगर अब उसकी किसी भी तरह की हरकत का कोई अर्थ नहीं रह गया था. कानून अपनी जगह अटल है. बैजू के चेहरे पर सिर को ढांपते हुए काला कनटोप भी चढ़ा दिया गया. फिर उसकी प्रार्थना पर सभी को रहम आ गया और फांसी के तख्ते पर पहुंचने तक के लिए कनटोप उतार दिया गया.

दो सिपाही दोनों ओर से बैजू को थामे बैरक से बाहर निकले, जहां पुलिस गारद दो कतारों में खड़ी हुई थी. यहां से काफिला रवाना हुआ. . .उस खुले मैदान की ओर जहां फांसी का फंदा बैजू का इंतज़ार कर रहा था. दोनों तरफ पुलिस वाले, उन दोनों के बीच हम लोग बैजू के साथ चले जा रहे थे. बैजू हालांकि बराबर चलता रहा लेकिन चेहरा खुला होने पर भी उसका मुंह ऊपर नहीं उठा.

मैंने उसके झुके हुए चेहरे को ध्यान से देखने की कोशिश की, किंतु वह इतना तटस्थ था कि किसी तरह का कोई भी भाव उसके चेहरे पर नहीं उभर रहा था. भले ही बैजू मानसिक रूप से फांसी के वास्ते तैयार रहा हो लेकिन क्या वह इन प्रक्रियाओं को झेलने के लिए भी तैयार था, जिनसे गुज़र उसे फांसी पर झूलना था?

जेल की सभी बैरकों को अपने में समाये एक मोटी-ऊंची दीवार है. उसके पार भी एक ऊंची चट्टानी दीवार खड़ी है. इन दीवारों के बीच खुला मैदान है, जहां फांसी दी जाती है. पहली दीवार को पार करके हम मैदान में पहुंचे, लगभग एक फर्लांग की दूरी तय करते हुए. बदन में समाती ठंडी हवाओं की सिहरन चंद मिनटों बाद के हादसे की कल्पना से ही बढ़ रही थी. सभी की ज़ुबान पर चुप्पी चिपक-सी गयी थी.

मैदान में पहुंचते ही सामने एक ऊंचे प्लेटफार्म पर फांसी के दो फंदे लगे हुए थे. प्लेटफार्म के ऊपर लोहे के मजबूत रॉड पर मोटी रस्सी झूल रही थी. नीचे लकड़ी का तख्ता और उसके नीचे लगभग दो मीटर गहरा पक्का गड्ढा, जिसका मुंह सामने की ओर से खुला था.

हम उसी ओर खड़े थे. प्लेटफार्म पर लगे रॉड के पास ही एक लीवर. . .जिसे खींचते ही लकड़ी का तख्ता हट जायेगा. . बैजू एक झटके से नीचे गिरेगा. . . उसके गले में डाली गयी रस्सी कसी जायेगी. . . .और देखते ही देखते उसकी जीवन लीला समाप्त हो जायेगी !

दो कैदी व कुछ जेल कर्मचारी टार्च, गैस-बत्ती के साथ बैजू को प्लेटफार्म पर ले गये. प्रतिरोध के बावजूद उसका मुंह काले कनटोपे से ढांप दिया गया. हाथ तो उसके पहले से ही बंधे थे, पैरों को भी पिंडलियों से लेकर घुटनों तक रस्सी से जकड़ दिया गया.

आदमी नहीं, लकड़ी का टुकड़ा!

बैजू अब कोई ज़िंदा आदमी नहीं बल्कि मोटी लकड़ी का टुकड़ा लग रहा था. उसके गले में रॉड से लटकती हुई मोटी रस्सी का फंदा डाल दिया गया और पीतल की कुंडी कस दी गयी. टार्च की रोशनी से करीब झांककर देखा गया कि रस्सी ठीक से कसी हुई है या... संतुष्ट होने पर सभी नीचे उतर... सिवा दो कैदियों के जो उम्र कैद की... भुगत रहे थे. वैसे लीवर खींचने... काम प्रायः वेतन भोगी जल्लाद... है, किंतु जेल में जल्लाद न होने के... कैदियों को ही यह काम करना पड़...

फंदे में झूलती ज़िंदगी

चार बजकर सत्ताईस मिनट! ... सांस रोके खड़े हैं. सबकी ... बैजू की ओर लगी हुई ... अब अपनी मौत की ... गिनने की स्थिति में भी नहीं है.

जेल अधीक्षक ने इशारा ... कैदियों ने फटाक से लीवर खींचा ... दूसरे ही क्षण बैजू की लाश झूल... लीवर खींचते ही बैजू पता नहीं ... जोर से चीखा होगा लेकिन उसके ... तीन मीटर दूर खड़े हम लोगों तक ... हल्की-सी आवाज़ ही आयी, ... भी पतली. . . छनाक! यकीन नहीं हो... था कि चंद मिनट पहले अपने बच्चों... देखने के वास्ते व्याकुल बैजू ज़िंदा ... रहा और उसकी लाश झूल रही है!

सांस और खून इतनी तेज़ी से ... थे कि मुझे लगा कि किसी भी क्षण ... सांस रुक जायेगी. बदन सिहर ... आतंक और बेचारगी इस कदर ... थे कि सूनी निगाहों से सब कुछ ... के आलावा अब बचा ही क्या था...

जेल अधीक्षक, डॉक्टर व न्याया... अपने-अपने पिछले अनुभवों की ... कर रहे थे. सभी इतने सामान्य ... मानो कुछ हुआ ही न हो, दीवारों ... तरह तटस्थ! फिर डॉक्टर साहब ... की लाश की तरफ बढ़े. उसके सीने ... स्टेथोस्कोप लगाकर देखा, धड़कनें ... रही थीं. कुछ देर और इंतज़ार ... पड़ेगा, जब तक कि लाश शून्य न हो ... फांसी के बाद भी कुछ देर तक ... चलती रहती हैं. फंदा कसते ही ... और हृदय का संबंध टूट जाता है ... इसके साथ धड़कनें बंद नहीं ...

चार-चालीस हो चुके थे. डॉक्टर ... फिर गये लाश के पास. स्टेथोस्कोप ... सीने पर. अब लाश की धड़कनें ... थीं. लाश को किसी का इंतज़ार न ...

संस्था की बैठक समाप्त होने को थी और चर्चा मुख्य विषय से हट कर व्यक्तियों के इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगी थी. मेरे पास जैसे किसी से कुछ भी कहने-बांटने को न था. बोलने की इच्छा या जरूरत या हालात न होने पर व्यक्ति भले ही मौन हो ले—अपने को निर्जन बना ले—अनसुना कर ले—पर अपने आस-पास को सुनने से वह कैसे इंकार कर सकता है! सुनाहट की आंतरिक सुगबुगाहट से भी वह कैसे बच सकता है! मेरे एक ओर खाली पड़े कानों में मेज के पार बैठे व्यक्तियों की बातचीत घुसपैठ करने लगी थी, ". . आजकल काबुल बीमार है."

सिम्मी हर्षिता

सुनने वाले व्यक्ति के स्वर में अब अविश्वास उभरा तो कहने वाले ने दोबारा वाक्य का रूप बदलकर बात को नया वज़न और असर दिया, "हां-हां, सच बीमार है! फलेरिया-मलेरिया और न जाने क्या-क्या हो गया है उसे! महीना होने को है चारपाई पर पड़े हुए. बेहद कमजोर हो गया है! मैं उसके पड़ोस में ही तो रहता हूं. . . "

"हूंऽ, इसी लिए उसका कई दिनों से फोन नहीं आया!" काबुल और उसका फोन जैसे एक-दूसरे के पर्याय हों और एक की चर्चा दूसरे के बिना अधूरी हो.

मेरे कानों ने जब काबुल के बारे में कुछ सुना है और मन को कुछ बताया है तो वह कैसे चुप बैठा रह सकता है! मन में विचारों की लहरें उठने लगती हैं और स्मृति के घर में बातों का एक सिलसिला शुरू हो जाता है—'ओह, काबुल बीमार है. इसी लिए उसका महीने भर से फोन नहीं आया . . .' सिलसिले की शुरुआत दुःख से होती है और एक बचाव के-से भाव तक जा पहुंचती है—'उसने फोन नहीं किया यानी परेशान नहीं किया! यानी अपनी सभ्यता-सज्जनता का परिचय दिया! तभी मैं सोचूं कि इतना धैर्य, इतनी समझदारी यानी परिपक्वता, इतनी तटस्थता और अलगाव या एक पुरुष का खूबसूरत अहम्‌भाव उसमें कहां से आ गया रातों रात कि महीने भर से ऊपर फोन न करे?' असंभव! एक अविश्वसनीय आश्चर्य!
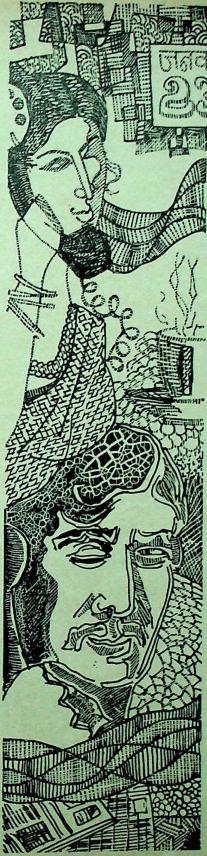
उसके फोन का अर्थ है—आध घंटा चोंगा हाथ में उठाये, कान से लगाये खड़े रहने की सज़ा! यदि गर्मी का मौसम है तो पसीना बह जाना और यदि सर्दी है तो सामने पड़ी चाय की भाप पूरी तरह से उड़ जाना. एक सीमा के बाद जी हां, जी नहीं या कोई उखड़ा-पुखड़ा टालू उत्तर दे देना या न देना. फोन बंद करने के अंदाज में मेरा कुछ कहना और उसका बातों की लस्सी में कुछ और पानी डाल देना—'हां, शिलाजीत जीत जी, तो मैं कह रहा था कि. . .' यह अच्छा ही है कि दूरभाष अभी दूरदर्शन नहीं बना और उसके साथ स्वर से ही सभ्यता का निवाह हो जाता है.

उसके फोन का अर्थ है—बार-बार इस या उस बहाने से अपने दिल की चिड़िया को अपने पिलपिले-फटे-पुराने-उधड़े राकेट से मेरे मन के कोर्ट में फेंकना और मेरा बार-बार उसे उठाकर उसके ही कोर्ट में डाल देना या बेध्याने इधर-उधर गिरे-पड़े रहने देना और उसका मायूस होकर उसे उठाकर अपने पास रख लेना, किसी दूसरे वक्त के लिए.

काबुल कितनी ही तरह से मेरी जिंदगी का रास्ता काटने का यत्न करता है. कितनी ही तरह के संबंधों की अर्गला खोलने का यत्न करता है. उसकी बातों में रफू और सिलावट-मिलावट साफ़ दिखाई देती रहती है.

"क्या आपके पास फलां-फलां किताबें हैं?" पुस्तकों का सदियों पुराना सदुपयोग होने पर भी कहना पड़ता है, "नहीं जी."

"फिर कौन-कौन-सी किताबें हैं आपके पास, मुझ बताएं. शायद उनमें से कोई मेरे काम की हो."

"किताबें खरीदने का शौक तो है मुझे, पर उनमें शायद ही आपके विषय या काम की कोई हो."

काबुल का स्वर फिर मायूस हो जाता है. जैसे हवा निकल गयी हो. वह फिर धैर्य के पंप से उसमें हवा भरता है और नये ढंग से बात शुरू करता है, "मैंने एक योजना बनायी है. यदि आप चाहें तो सफल हो सकती है."

"कौन-सी योजना?"

"मैं चाहता हूं, हम दोनों मिलकर एक नर्सरी स्कूल खोलें. इसमें मेहनत ज़्यादा नहीं और पैसा बहुत है. इसी लिए जगह-जगह ऐसे स्कूल खुले हुए हैं. आजकल सोचने लगा हूं, संसार में इतना रूप, इतना धन, इतना यश बिखरा हुआ है, फिर हम भी क्यों न उसे प्राप्त करें!"

"क्यों नहीं? पर मेरी इस काम में रुचि नहीं है. अपना स्कूल खोलने का अर्थ है बहुत-सा वक्त, बहुत-से झंझट, दिन-रात उसी में लगे रहो और अपनी व्यक्तिगत ज़िंदगी, रुचियां ख़त्म."

"क्यों? बच्चे सुबह आयेंगे, बारह-एक तक चले जायेंगे. फिर आप स्वतंत्र. जो चाहें करें."

"क्या बच्चों के लौट जाने के बाद स्कूल का काम ख़त्म हो जाता है? हज़ार झंझट फिर भी लगे रहते हैं. और फिर मेरी इस काम में रुचि भी नहीं."

"अच्छा! यदि आपका सहयोग नहीं तो फिर यह काम भी शुरू नहीं किया जा सकता." उसका स्वर बुझ जाता है. मैं उसे लौ छुआते हुए कहती हूं, "क्यों नहीं? आपके आस-पास बहुत से ऐसे लोग होंगे जो इसे करना चाहेंगे."

"नहीं, इसका मतलब यह योजना भी ख़त्म. मैं हर रोज़ कई योजनाएं बनाता हूं और कई तोड़ता हूं." एक धनी हताशा का धुआं उसके स्वर में सफर करता हुआ इस ओर आ जाता है.

फिर किसी दिन, "क्यों न मैं और आप मिलकर एक पत्रिका निकालें?"

"इस काम में भी मेरी रुचि नहीं. बड़े झंझट हैं इसमें भी."

"अच्छा! इसका मतलब यह योजना भी ख़त्म. फिर आप ही बताइए कोई योजना, जिसे शुरू किया जाये."

"मेरे मन में कोई योजना है ही नहीं."

एकाएक उधर से एक फ़िकरा इधर आ जाता है, "आजकल की लड़कियों को शीशे में उतारना आसान नहीं."

और बेध्याने ही इस ओर से हंसी में भीगा एक 'हूं ऽ!' फोन के उस पार चला जाता है.

मेरी हंसी में उसे एक खिड़की खुलती नज़र आती है जिसमें से झट से झांककर वह कहता है, "आप मुझे कॉफी कब पिला रही हैं अशोका होटल में? मंद संगीत की ध्वनि और चंद्र-रोशनी! कितना सुंदर और मोहक वातावरण होता है वहां!"

"हां, मुझे सब काम आपसे पूछकर, आपकी सलाह से, आपकी अनुमति से, आपकी इच्छा से और आपकी जरूरत के अनुसार ही तो करने होंगे!" मैं उस खिड़की को पट से बंद करते हुए कहती हूं. पर मेरे इस वाक्य के दौरान फोन का गला गरारे करने लगता है. उसके असहयोगी रवैये के कारण काबुल को मेरा यह तीखा स्वर स्पष्ट सुनाई नहीं देता. वह पूछ[illegible]
"आपने क्या कहा था?"

"कुछ नहीं. मैं कह रही थी कि आपकी कार (यानी आ[illegible] पिताजी की कार) जिसे कोई चोर रात को ले गया था, [illegible] कि नहीं?"

वह गंभीर उदास स्वर में कहता है, "नहीं जी, अभी [illegible] पता नहीं चला. यदि चोर मुझे मिले तो मैं उससे पूछ[illegible] कोई चीज़ चुराने से पहले उसे यह तो सोचना चाहिए कि [illegible] दूसरे को कितनी परेशानी होगी."

"यदि चोर इस सोच-विचार में पड़ गया तो वह [illegible] कैसे कर पायेगा? उसे तो फिर अपने धंधे से हाथ धोना पड़े[illegible]

"पर देखिए न, कितनी परेशानी है हमें! चोर कार में [illegible] करे और हम बस में धक्के खायें! अब उससे पूछिए ज़रा कि [illegible] कार हमने तुम्हारे लिए खरीदी थी!"

▣

ऐसी पहेली किस काम की जिसका उत्तर पहले से ही [illegible] हो या सुनते ही सूझ जाये? क्या घटित होना चाहता है [illegible] क्या होना चाहिए—जब यह साफ समझ में आ जाये तो [illegible] गणित बन जाता है. इसी लिए एक दिन मैंने हिसाबी अं[illegible] में कहा, "आप इतने लंबे-लंबे फोन करते हैं, क्या थकते नहीं[illegible]

वह ठहाका मारकर हंस देता है, "इसका मतलब [illegible] आपको काफी उबाता हूं."

"नहीं, यह बात नहीं, (बात वास्तव में यह है कि तुम [illegible] ही मुझ पर इतनी फोनी-कॉल खर्च कर रहे हो. मुझे इस [illegible] पर दुःख और दोषबोध होता है. तुम आकाशवृत्ति पर जीते [illegible] और उसमें आमदनी की संभावना इतनी कम नज़र आती [illegible] कि तुम अपने जीवन की सारी जवाबदेही अपने कंधों पर [illegible] हुए फोन की सुविधा को यूं लापरवाही से भोग सको. और [illegible] कोई दूसरा इस बोझ को उठाता है तो कितना अन्याय है उ[illegible] प्रति!) आपके फोन के बिल का भुगतान कौन करता है? आ[illegible] पिता जी क्या करते हैं?" मैं एकाएक पूछ बैठती हूं.

वह कोई उत्तर न देकर हंसकर प्रश्न को अपने सामने [illegible] परे सरका देता है. शायद मुझे ऐसा आयकर विभाग का [illegible] सवाल नहीं करना चाहिए था. उसके जीवन की घर बैठी-एक[illegible] एकाकी-काग़ज़ी-किताबी-कलमी दिनचर्या में संभवतः फोन [illegible] साथ ही उसके लिए मानवीय संबंधों का, दिलबहलाव का, [illegible] मिटाने का तथा काम-काज का माध्यम है. उसके परिचितों [illegible] बातचीत से ऐसा लगता है जैसे उसने हर एक को फोन क[illegible] का एक न एक दिन और वक्त निश्चित कर रखा है. दूसरे [illegible] लिए यह परेशानी हो सकती है—किसी का पीछे खड़ा होना [illegible] पर उसके लिए तो शायद यह एक गंभीर आवश्यकता है.

एक दिन काबुल एक अत्यंत जटिल समस्या मेरे स[illegible] रखता है, "इधर आजकल मुझे रात को नींद नहीं आती."

"सुबह लंबी सैर को जाया कीजिए."

वह हंस देता है, जैसे मैंने कोई गहरा मज़ाक कर दिया [illegible]

"इस वक्त मेरे चारों ओर किताबें और अखबार [illegible] हुए हैं. कई दिन हो गये बाहर निकले, धरती और आका[illegible]

रंग देखे."

"इसीलिए सुबह-शाम की सैर आपके लिए बहुत जरूरी है." वह फिर हंस देता है.

"आप मुझे राय दें कि मैं इस विषय पर अखबार में लिखूं या न लिखूं. आपकी राय पर मुझे विश्वास है कि वह अवश्य ठीक होगी. ऐसा न हो कि मैं लिखूं और विरोध का एक बवंडर मेरे चारों ओर खड़ा हो जाये."

"पर उससे आपका नाम तो हो ही जायेगा!"

"वह तो ठीक है. हर व्यक्ति को अपनी मूर्ति स्थापित करने के लिए एक चबूतरा चाहिए और जब तक हम किसी दूसरे की मूर्ति गिरायेंगे नहीं, तब तक हम अपनी मूर्ति स्थापित नहीं कर सकते. पर मैं विरोध और निंदा नहीं सह सकता. प्रशंसा वाला यश ही मुझे प्रिय है."

मेरे अगले सुझाव पर वह विशेषण जड़ते हुए कहता है, "शिलाजीत जी, आप बहुत अच्छी हैं!" वह इंसान अच्छा कैसे हो सकता है जो मन में कुछ और बोता है और मुख से कुछ और कातता है?

"यह आपका भ्रम है. वास्तव में इंसान जो कुछ होता है, जो कुछ स्वयं अपने बारे में सोचता-समझता और जानता है, यदि वही दूसरे भी उसके बारे में कहने लगें तो दुनिया कितनी नीरस हो जाये. जो एक भ्रम का रंग है, वही तो दुनिया का गुरुत्वाकर्षण है—वही तो उसका सम्मोहन है".

"आप ठीक कहती हैं."

▣

उसके शब्दों में मेरा हमेशा ठीक होना, उसका मेरे प्रति यह विश्वास और वक्त-वक्त पर दिये गये विशेषण तथा यह वाक्य कि 'मैं आपका बहुत सम्मान करता हूं' मुझे मुखर रूप से दो-टूक और ऊबड़-खाबड़ होने से बरजते रहते हैं. कुछ कड़वा कह कर या स्पष्ट बेरुखी दिखाकर उसकी राय में अपने को 'बुरा' बनाने और अपनी राय में अपने को 'असभ्य' बनाने का जी नहीं चाहता. उसका शब्दों द्वारा दिया गया विश्वास, आदर और महत्व—उसका कायरपन और नासमझी—दुनिया के प्रति उसका गुस्सा और शिकायती भाव—उसका कुंठित मन और झक्कीपन तथा अंधाधुंध अपनी ही हांके जाना मुझे उसकी ज़रूरत के अनुरूप सभ्य और अच्छा बने रहने—यानी धैर्यपूर्वक मौन और प्रतिक्रियाविहीन बने रहने को जैसे विवश करते रहते हैं. इसी लिए सब कुछ मन के ऊपर से वह जाने देती हूं. उसके ऐंडे-बेंडे शब्दों को—उसके बड़बोलेपन को एक कान से सुनकर दूसरे से बाहर निकल जाने देती हूं. जैसे कि राह चलते किसी लाउडस्पीकर से या किन्हीं अजनबी व्यक्तियों की बातचीत के कुछ अधूरे-पूरे शब्द कान में लुढ़क गये हों. उसके अटपटे यथार्थ से सीधे टकराने के बदले मैंने दार्शनिकता और लापरवाह भाव का—एक अनसुनेपन का आसान पल्लू पकड़ लिया है और सोच लिया है—शब्दों की ही तो यह दुनिया है—न चाहने पर भी, न ज़रूरत होने पर भी शब्द सुनाई देते रहते हैं—अब कौन हर शब्द और हर व्यक्ति को लेकर लड़े-झगड़े और माथापच्ची करे? संबंधों की सड़क पर बिना आगे-पीछे, दायें-बायें देखे शब्दों की गाड़ी घसीटे जाना उसका स्वभाव ही है जैसे. ऐसी-वैसी बातें करना तो उसकी आदत ही है. शायद इसे वह अपनी बहादुरी ही समझता हो या कोई ऐसा गुण जिसका मुझे पता नहीं. मुझे तो ऐसा लगता है जैसे वह स्वयं भी अपने शब्दों के किसी अर्थ या भाव की गंभीरता का जानकार नहीं है. वह है ही ऐसा. इसमें मेरी वजह से या मुझे लेकर या केवल मेरे लिए ही कुछ खास नहीं है. उसका यह सब किसी के लिए भी हो सकता है—होता है. काबुल के लिए एक या दूसरी जान-पहचान में कोई फ़र्क नहीं होता. न जाने कितने ही कांता-नाम उसने एक साथ पकड़े हुए हैं, इस आशा और यत्न के साथ कि कहीं न कहीं उसे मनचाही सफलता मिलेगी ही. वर्षों बाद विदेश से लौटने के बाद वह जिन कामों में सरगर्मी से लगा हुआ है उनमें से एक काम यह भी है. उसके फोन का नंबर सब जगह चक्कर काटता रहता है. उसने अपने को एक खीज पैदा करने वाला दयनीय मज़ाक बना लिया है—संबंधों को खालाजी का घर—भावना को हर जगह फिट हो जाने वाला पुर्जा और शब्दों को हरजाई—सबके लिए एक जैसे शब्द—एक जैसे वाक्य.

मैं सोचती हूं उसे किसी न किसी नौकरी की बंदिश पकड़ लेनी चाहिए. नौकरी बांधती तो है व्यक्ति की मनचाही वक्त की आज़ादी को, पर साथ ही शायद एक संतुलन भी देती है—शायद एक सुरक्षा भी. पर यह भी तो हो सकता है कि जैसे मनचाहे ढंग के रिश्ते वह नहीं फंसा पाता, उसी तरह मनचाही नौकरी भी न पा सका हो. कभी-कभी जीवन में दुर्घटनाओं का एक सिल-सिला चल पड़ता है. उसकी आकांक्षाओं का तिकोन कोई छोटा-मोटा नहीं है. पहले वह निर्यात हुआ था और अब वह आयातित माल है जिस पर भारी भरकम चुंगी लगती है.

▣

काबुल की फोनी बातों से शुरू-शुरू में लगता है जैसे वह बहुत भोला, सीधा-सरल तथा अनजान है. पर वास्तव में वह उस कछुए की तरह है जिसका मुंह, हाथ-पांव बड़े नन्हे-से, कोमल-से होते हैं, पर पीठ पत्थर-सी कठोर होती है और उसके नीचे सब कुछ दबा-ढका रहता है हिफाज़त से. काबुल हर नये परिचय को हाथों-हाथ लेता है और कुछ सार्थक संभावनाओं के प्रति पहले क्षण से ही आश्वस्त हो जाता है और इसी लिए हावी भी और कुछ बदहवास भी. वह हर परिचय को ठेकेदारी या सरकारी तरीके से शुरू करता है जैसे कि झटापट योजना का खाका अपने प्रयोजन के काग़ज़ पर खींचना और फिर फटाफट दूसरों की ज़िंदगी की ज़मीन पर मनचाहे ढंग से उसे लागू करने में जुट जाना.

अपरिचय के उन दिनों में वह किसी गंभीर वैचारिक पहाड़ी पर बैठकर बातचीत किया करता था जिस पर से एक ओर तो मेरी प्रशंसा का झरना झरता रहता, दूसरी ओर से सिद्धांतों, आदर्शों, पुस्तकों, वादों की गंभीर हवा बहती रहती और तीसरी ओर से देश की शोचनीय सामाजिक-राजनीतिक-साहित्यिक स्थितियों की आलोचना, आक्रोश और विरोध का लावा उफनता रहता. उसके वजनी शब्दों की किरणों से वह लावा चमककर चकाचौंध पैदा करता रहता. मुझे ऐसा आकाशीय आभास होता जैसे यह कोई बादल हो, जिसकी सोच का प्रत्येक कण केवल

दूसरे के लिए हो. मेरा मन उसमें रुचि लेने लगा था—प्रभावित होकर सोचने लगा था—यह व्यक्ति कितना मौलिक, कितना जागरूक, कितना अनुभवी, कितना गहरा, कितना प्रतिभाशाली, कितना समझदार, पर कुछ सनकी-सा है! यह व्यक्ति किसी भी क्षेत्र की वक्रता को चुपचाप स्वीकार नहीं करना चाहता. हर चीज़ की वर्षों पुरानी मैली परतें और सलवटें हटा देना चाहता है. मेरा दिमाग उसकी बातों पर ध्यान देने लगा था और अपनी सामर्थ्य के अनुसार तर्क-वितर्क भी करने लगा था. बहस में उलझने लगा था. सच पूछो तो उसकी दी प्रशंसा ने ही जैसे मेरे स्वभाव के विपरीत मेरी ज़बान को चलना सिखा दिया. मेरा मन उसके फोन का झीना-सा इंतज़ार करने लगा था. मेरे स्वर में इस उलझाव और इंतज़ार से उत्पन्न उत्साह और खुशी तथा उसमें मेरी रुचि का नन्हा-सा पड़ाव आते ही उसने अपने शब्दों की गाड़ी धीरे से बायीं ओर मोड़ दी. उसका वह सारा बौद्धिक खेल दिमाग की चोटी से उतरकर उसके दिल की बासी तलहटी में सरक आया था और सांकेतिक भाषा में बोलने लगा था.

▣

सोचा था, बोलते-बोलते थक कर आखिरकार कभी तो वह चुप हो जायेगा, पर गड़बड़ यह हुई कि जिस तरह मैं उसके शब्दों की उपेक्षा कर जाती हूं, वह मेरे मौन उदासीन भाव की उपेक्षा कर जाता है. इसका नतीजा यह हुआ है कि उसके शब्दों का रंग धीरे-धीरे गाढ़ा और मुखर होने लगा है. उस एक दिन किसी के घरेलू उत्सव में अचानक काबुल दिखाई दे गया था और फिर सुनाई भी, "आप बहुत खोयी-खोयी और बिखरी-बिखरी नज़र आ रही हैं!" उसके हिसाब से मेरे साथ अब तक ऐसा हो जाना चाहिए. आखिरकार उसके इतने दूरभाषी संकेतों का कम से कम इतना असर—इतना प्रतिफलन तो आना ही चाहिए.

"मैं तो बिल्कुल ठीक हूं. पर देखती हूं, लोगों को मेरी बहुत फ़िक्र है."

"कई दिनों से आप दिखाई नहीं दीं? फोन पर भी नहीं मिलीं?"

"बीमार थी मैं."

"आपमें और अधिक ताज़गी और शायस्तगी आ गयी है. यदि बीमारी का यह नतीज़ा है तो सभी को बीमार होना चाहिए." कायदे से शर्माने, गर्वाने, मुस्काने के बदले मेरा चेहरा जैसे बहरा बन जाता है.

"चाय नहीं पी रहीं आप? अरे, पी लीजिए! आपकी त्वचा को कोई नुकसान नहीं पहुंचेगा."

मन से चलकर त्वचा की दलदल तक जा पहुंचे उसके शब्दों के नये कदम से मैं चौंक उठी थी. आसपास बैठे लोग भी चौंकते हैं, मुस्कुराते हैं, त्वचा की ओर निगाह फेंकते हैं. मैं शून्यभाव से सामने के शून्य को देखने लगती हूं. मैं शून्य की धार और अनसुनेपन से उसके शब्दों की धार को काट देना चाहती हूं.

फिर वापसी में एक सवाल उसका, "शिलाजीत जी, क्या आपके पास कार है?"

"है तो, पर वह घर पड़ी है. मुझे चलानी जो नहीं आती."

और फिर आसपास का मुस्कराना.

फिर पता चलता रहता था—काबुल का फोन आया था या आया था. उसने कहा है कि मैं बाहर से लौटूं तो फोन कर...

महीनों गुज़र गये थे. एक दिन लौटती हूं तो सूचना मिल... है—किन्हीं डॉक्टर धीरेंद्र का फोन आया था. उन्होंने... दिया है कि फोन कर लूं. मैं सोचती हूं, ये डॉक्टर धीरेंद्र कौन हैं... किस नये नाम ने मुझे याद किया? नाम के भारीपन से प्रभावि... होकर नंबर घुमाती हूं. उस ओर से किसी स्त्री की आवा... आती है. मैं डॉक्टर धीरेंद्र के बारे में पूछती हूं. वह गुप्तचर की... तरह मेरे बारे में पूछती है, "आप कौन बोल रही हैं?"

न चाहते हुए भी ठंडे भाव से मैं नाम बता देती... फिर पूछती हूं, "क्या डॉक्टर धीरेंद्र हैं?"

"यहां तो कोई डॉक्टर धीरेंद्र नहीं रहते?"

"अच्छा! क्या यही है आपका नंबर?"

"हां, नंबर तो यही है."

"अच्छा! उन्होंने कहा था कि मैं इस नंबर पर फोन कर लूं..."

तभी एकाएक चोंगा दूसरे हाथ में चला जाता है, "शिलाजी... जी, नमस्कार! मैंने ही फोन किया था. मैंने सोचा, आप की... तो फोन करती नहीं, फोन पर मिलती नहीं, कम से कम शायद... इस तरह से आप फोन करें."

वाक्य का यह रूप जैसे वहां उपस्थित उस स्त्री को अच्छा... नहीं लगा. तभी काबुल के इसरार-आग्रह करते से शब्द फोन पर... सुनाई देते हैं, "अरे, बैठो न! जा रही हो?"

ओह! शायद यह काबुल की पत्नी है. फिर बीच में उसका... किसी को वरजता स्वर सुनाई पड़ता है, "नहीं, मत छेड़ो उसे... हाथ बीच में आ जायेगा."

ओह, यह काबुल का बच्चा है शायद!

और फिर ज़िंदगी की सड़क पर आड़े-टेढ़े ढंग से अपनी... बातों को बैलगाड़ी हांकने का उसका सिलसिला, "बनारस से... आजकल डॉक्टर धीरेंद्र आये हुए हैं. क्या आप उन्हें मिल... जायेंगी?"

"नहीं जी."

फिर एक मायूस स्वर, "अच्छा! मैंने सोचा, शायद आप... उनसे मिलना चाहेंगी."

"पर वह हैं कौन?"

काबुल मेरी गरज की दृष्टि से उन महोदय का महत्वपूर्ण... परिचय देता है. पर किसी लघुत्तर के लिए यह तो ज़रूरी नहीं... होता कि हर महत्तर से मिला ही जाये. और फिर काबुल के... माध्यम से ही क्यों जिसे एक फोन के लिए दूसरे की महत्ता... का सहारा लेने की ज़रूरत पड़ी?

"एक दिन आपने कहा था, आप मुझे अशोका होटल में कॉफी... पिलायेंगी."

"कब कहा था मैंने यह सब?"

"अब आप न पिलाना चाहें यह दूसरी बात है. आखिर हम... किसी को बाध्य तो कर नहीं सकते."

एक कंटीला मौन बीच में आकर ठहर जाता है. वह मौन... जैसे एक धमाके से फटना और उसे घायल करना चाहता है... पर वह उस मौन को संभाल लेता है, "आप कभी हमारे यहां...

तशा... दो-तं...

कोई...

मना... ही ह...

भेज...

कामन...

पृष्ठ
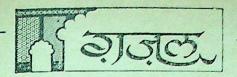
हम जाने क्यों आये हैं इस बस्ती में,
आते ही पछताये हैं इस बस्ती में.

कंघों ने सुलझानें का अभिनय करके,
केश बहुत उलझाये हैं इस बस्ती में.

लोग 'मेक-अप' द्वारा अपने चेहरों पर,
मुस्कानें चिपकाये हैं इस बस्ती में.

जितने भी चेहरे आलोचक दिखते हैं,
सब कुंठा के जाये हैं इस बस्ती में.

लोगों ने हर जगह अखाड़े खुदवाकर,
अपने दांव दिखाये हैं इस बस्ती में.

सच्चाई, ईमान और नैतिकता के,
निश्चित रहे किराये हैं इस बस्ती में

आईनों में अपनी ही 'परछाईं से,
लोग बहुत घबराये हैं इस बस्ती में.

▣ जहीर कुरेशी

तशरीफ लायें न. हमें भी मेहमान-नवाज़ी का मौका दें. मैं तो दो-तीन बार आपसे कॉफी पी आया हूं."

"अच्छा."

"कब?"

"जब भी कभी कोई वजह हुई."

"अब वजह क्या होगी हमारे जीवन में! जीवन में कहीं कोई कशिश नहीं रही."

"क्यों? ऐसी क्या बात है! आप अपना जन्म-दिन तो जरूर मनाते होंगे और मेरा अंदाज़ा है, शायद वह कहीं आसपास ही होगा."

"हां."

"कब है?"

"23 जनवरी, पर मैं मनाता कभी नहीं."

"कोई हरज नहीं. मैं उस दिन फोन पर आपको शुभकामनाएं भेज दूंगी."

"वाह! इससे अच्छी बात और क्या होगी! आपकी शुभ-कामनाएं हमें मिलें, ऐसी खुशनसीबी कहां?"

ओह!

नये वर्ष की पहली जनवरी निकल गयी थी. काबुल का फोन नहीं आया था और यह हैरानी की ही बात थी मेरे लिए. फिर काबुल के जन्म की 23 जनवरी भी आयी थी. शिष्टाचार की समस्या उपदेश देती रही थी कि हमें सदैव सभ्य और मानवीय व्यवहार करना चाहिए—दूसरों की ज़िंदगी को शुभकामना और खुशी को बधाई देनी चाहिए—अपने कहे शब्दों को निभाना चाहिए. इसमें बुरा क्या है! और कोई बहुत खास बात भी क्या है! किसी इंसान का दिल खुश हो जायेगा जरा-सी बात से! किसी इंसान की खुशी से बड़ी बात और क्या हो सकती है इस संसार में! देखो तो आज के अखबार में संपादक के नाम मानवता की स्याही से निखरा हुआ कैसा एक द्रवित कर देने वाला पत्र छपा है, 'भारत में और विदेशों में हज़ारों ऐसे अकेले व्यक्ति हैं जिनके पास न कोई मित्र है, न संबंधी जो उन्हें उत्सव-त्योहार के मौकों पर शुभकामना तथा मुबारकबाद दे. हमारी, मित्रों तथा लेखनी-मित्रों की अंतर्राष्ट्रीय संस्था, ऐसे अकेले, उदास, बीमार तथा बूढ़ों को शुभकामना-पत्र भेजती है तथा उनकी उदास ज़िंदगी में आशा और खुशी की उजास लाने की कोशिश करती है. मैं आपके पाठकों से अपील करता हूं कि वे कृपया नये या पुराने शुभकामना-कार्ड हमें भेजें जो कि उन लोगों को भेजे जायेंगे जो अपरिचित लेकिन सहृदय व्यक्तियों से कल्याण-कामना तथा हर्ष-प्रकाश पाना चाहते हैं.'

पढ़कर मन तरल और प्रश्नमय हो उठा था—क्या परिचितों का परिचितों के प्रति कोई दायित्व नहीं? क्या यह सब केवल अपरिचितों के लिए ही होना चाहिए? पर तभी मेरे सवालों को उत्तर देता हुआ आकाश में उड़ता एक गुब्बारा बोला—एक इंसान के दिल और एक आशिक मिज़ाज के दिल में अंतर होता है. किसी आशिक मिज़ाज के दिल को खुश करने की सभ्यता खतरनाक होती है. ऐसे लोग मेरी तरह केवल अदृश्य हवा में जीते और उड़ते हैं. वे यथार्थ की चुभन सहन नहीं कर पाते. इसलिए द्रवित और सभ्य-सवालिया होने की ज़रूरत नहीं.

पर आज सवाल यह है कि काबुल बीमार है. एक बार फिर वह जैसे मासूमियत से पूछ रहा है, "शिलाजीत जी, आप मेरी बात सुन रही हैं न? ऐसा लगता है जैसे आप कहीं और व्यस्त हों."

"नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं है."

"आप कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करतीं. नहीं तो मुझे कैसे पता चलेगा कि जो कुछ भी मैं आपसे कहता हूं, वह ठीक है या गलत?"

उसके शिकायतभरे शब्द जैसे एक बार फिर हम सब को दोषारोपण के घेरे में ले रहे हैं—...लोगों में सभ्यता और विनम्रता नाम की चीज नहीं रही. लोग मेरी उपेक्षा करते हैं! मैं यह तो बरदाश्त कर सकता हूं कि कोई मेरे नाम के आगे शून्य लगा दे क्योंकि शून्य से पहले कभी न कभी एक लग सकता है, पर मैं यह बरदाश्त नहीं कर सकता कि कोई मेरी उपेक्षा करे—क्योंकि उपेक्षा का अर्थ है आगे-पीछे कभी कुछ भी न लग सकना.'

पर आज इस बात का अवसर है कि काबुल के नाम के आगे कम से कम दूरभाषी-सभ्यता और फोनी-कॉल की विनम्रता अंकित की जा सके.

● III-के-24, लाजपत नगर, नयी दिल्ली-110024.

रोज़नामचा

शोक प्रस्ताव के बहाने

◘ से. रा. यात्री

पिछले अनेक बरसों से मेरी रोज़ी-रोटी में एक चीज़ बहुत अनाम ढंग से प्रवेश कर गयी है. विद्यालय में कोई अध्यापक या उसका सगा-संबंधी मर जाता है, तो हिंदी अध्यापक होने के नाते शोक प्रस्ताव लिखकर मैं शोक-सभा में पढ़कर सुना देता हूं. पूरी 'सभा' दो मिनट के लिए आंखें बंद करके दिवंगत के प्रति शोक मग्न हो जाती है और फिर छुट्टी का मज़ा लेती शोर मचाकर तितर-बितर हो जाती है. सुना है, अपने परसाई जी भी काली शेरवानी पहनकर अध्यापकीय जीवन में यही कुछ करते रहे. बस, फ़र्क इतना है कि मेरे लिए काली शेरवानी की कोई कैद नहीं है.

बड़ा कॉलेज है—चपरासी से प्रधानाचार्य तक सौ से ऊपर की संख्या में वेतनभोगी कर्मचारी सेवारत हैं. तीन हज़ार विद्यार्थी हैं. बढ़ती जनसंख्या वाला मुल्क है. मरने वालों की संख्या कभी-कभी इतनी बढ़ जाती है कि शोकसभा का आयोजन होते ही विद्यार्थी बड़बड़ाने लगते हैं, "आत्मा को शांति देकर यह भी बता देना कि कल स्कूल खुलेगा या कल भी 'शांति पाठ' होगा!" जैसाकि मैंने कहा कि आत्मा को शांति देने के मामले में मुझे काले चोगे से बरी कर दिया गया है. मैं कपड़े-लत्तों से पादरी या पुजारी दिखलाई भी नहीं पड़ता, लेकिन कभी छठे-छमाही किसी कक्षा को पढ़ाने जाता हूं, तो बच्चे एक दूसरे के कान में फुस-फुसाने लगते हैं, "लो आ गया पिंडदानी!"

एक दफा तो मरने वालों की बाढ़ ही आ गयी. घर-बाहर इतने लोग मरे कि नाक में दम आ गया. लड़कों ने अपनी एक अलग से सभा की और बा[illegible] प्रधानाचार्य को घेरकर कहा, [illegible] आपको चेतावनी देते हैं कि आ[illegible] शोक-सभा के बाद अगर स्कूल बंद [illegible] गया तो हम अनिश्चित काल के लि[illegible] हड़ताल पर बैठ जायेंगे. यही नहीं, [illegible] भी नहीं खुलने देंगे."

अब चूंकि यह शोकसभा-सचिव [illegible] काम मेरे जिम्मे था लिहाज़ा प्रधाना[illegible] ने मुझे तलब करके पूछा, "आप ही [illegible] अब क्या करें? मरने वालों ने तो [illegible] खड़ा कर रक्खा है. ज़्यादातर अध्[illegible] रिटायर होने से पहले ही मर [illegible] इसके अलावा देश के सभी बड़े [illegible] पचहत्तर और शतक छू रहे हैं. यह [illegible] सिला तो अब इतना बढ़ गया है [illegible] कॉलेज में ताला ही डालना पड़ जा[illegible] बोलो क्या करें?"

मैंने समस्या पर गंभीरता से [illegible] विचार करके कहा, "वरिष्ठों को बु[illegible] बात कीजिए. मरने का मामला [illegible] मेरा-आपका फैसला सबको एक[illegible] मालूम पड़ेगा."

निदान अध्यापकों की सभा [illegible] 'एजेंडा' सामने रखा गया—बढ़ती [illegible] शोक-सभाओं पर विचार-विमर्श! [illegible] काफी देर तक कुछ तय नहीं हो पा[illegible] प्रधानाचार्य ने कहा, "आगे से शोक[illegible] के बाद छुट्टी बंद कर दी जाये—शोक[illegible] के बाद कक्षाएं बदस्तूर चलें!" प्रधा[illegible] चार्य की इस सलाह पर इतनी कांव-[illegible] मची कि 'सभागार' की छत उड़ने [illegible] गयी. कई अध्यापक तो इतने उत्ते[illegible] हो उठे कि कुर्सियों से उठकर डेस्कों [illegible] बैठ गये. सबको गहन चिंता हुई [illegible] मृतकों की आत्माओं को जो सन्[illegible] मौरूसी-पट्टे जैसा प्राप्त है, वह ज़मीं[illegible] उन्मूलन की तरह एक झटके में ही उ[illegible] फेंका जा रहा है.

कई घंटे की गरमागरम बहस के [illegible] एक मध्य मार्ग खोज निकाला गया [illegible] स्टाफ का कोई भी मरे तो शोक स[illegible] बाद छुट्टी हो.—बीस बरस का सेवा[illegible] पूरा कर लेने वाले स्टाफ मेंबर का [illegible] संबंधी मरे तो शोक-सभा के बाद वि[illegible] बंद कर दिया जाये.—बाकी मरने [illegible] के लिए अंतिम कालांश (पीरियड [illegible] बाद शोक-सभा का आयोजन किया [illegible]

जहां तक मेरा संबंध है, मुझे कोई खास अंतर नहीं पड़ा. मुझे तो चित्रगुप्त की तरह लेखा-जोखा रखना ही पड़ता था. शोक प्रस्ताव की मैं दो प्रतियां बनाता था. एक प्रति डाक से या व्यक्तिगत रूप से संबंधित व्यक्ति को देता था. दूसरी कॉलेज के रिकार्ड में रखनी जरूरी थी, जिससे कि साल के अंत पर कॉलेज-पत्रिका में सब दिवंगतों का एक साथ फातिहा पढ़ा जा सके. बहरहाल इससे इतना अवश्य हुआ कि लड़कों की हड़ताल या भूख हड़ताल की धमकी खत्म हो गयी. प्रकट रूप से मरने के आंकड़ों में भी कुछ कमी हुई. बीस साल से कम की स्टैंडिंग वाले अध्यापकों ने अपने संबंधियों की मौतों का ज़िक्र करना छोड़ दिया. अगर ढंग से शोक मनाकर कॉलेज की छुट्टी भी न की जाये तो कौन अपने सगों की मौत को लजाये!

▣

किसी ने आकर सूचना दी कि 'डीलिंग-क्लर्क' की मां का देहांत हो गया. हिसाब लगाकर देखा गया, तो पता चला कि वह लिपिक चौबीस साल से विद्यालय की सेवा कर रहा है. अपने 'मेरिट' पर वह स्वतः ही वरिष्ठों की पंक्ति में पहुंच गया. प्रधानाचार्य ने मुझे बुलाकर कहा, "निहाल बाबू की मां मर गयीं. उसके लिए तो शोक-सभा करनी ही पड़ेगी. नहीं करेंगे तो दफ्तर के दूसरे बाबू तड़कें-भड़केंगे. आप फौरन शोक प्रस्ताव लिख लाइये ताकि शोक-सभा का मौन टूटते ही कॉलेज बंद कर दिया जाये."

हालांकि कई लोगों को इस शोक-सभा से हार्दिक शोक हुआ लेकिन क्या किया जा सकता था! निहाल चंद लिपिक ही सही—मगर चौबीस बरस पुरानी नौकरी तो किसी को भी वरिष्ठ बना देती है.

इस शोक-सभा के समाप्त होते ही कॉलेज परिसर खाली हो गया. चंद क्लर्क, चपरासी, एक-दो अध्यापक और प्रधानाचार्य को छोड़कर पूरे विद्यालय में उल्लू बोलने लगे. मैंने जल्दी-जल्दी शोक प्रस्ताव की दूसरी प्रति 'रिकार्ड' में रखने के लिए नकल की और उसे प्रिंसिपल को सौंपकर दफ्तर से बाहर जाने लगा—सोचा पूरे दिन की छुट्टी में घर के छोटे-मोटे काम ही निपटा लूंगा. इस बार यह छुट्टी काफी देर बाद मिल रही थी.

ज्योंही मैं दफ्तर के द्वार पर पहुंचा, डीलिंग क्लर्क निहाल चंद निहायत ग़मगीन हालत में आता दिखाई पड़ा. शोक प्रस्ताव की एक प्रति मेरे रजिस्टर में मौजूद थी. रजिस्टर से निकालकर वह प्रति मैंने उसके हाथ में दे दी और उसके कंधे पर हाथ रखकर शोकाकुल स्वर में बोला, "बड़ा दुख है निहाल बाबू, आपकी माताजी का स्वर्गवास हो गया."

उसने शोक प्रस्ताव के कागज़ को सरसरी नज़र से देखकर उलटा-पुलटा और रुंआसे स्वर में मुझसे बोला, "मां का क्या, सुरगवास तो मेरा हो गया मास्टरजी! आपणे भी तावली (जल्दबाजी) मचाने की हद्द कर दी."

मैंने और भी विचलित होकर कहा, "मुझे मालूम नहीं था कि तुम आज आओगे. मालूम होता तो शोक-सभा हम तुम्हारी उपस्थिति में ही करते."

उसने अधीर होकर हवा में हाथ हिलाया और मेरी नासमझी पर खीझकर बोला, "अजी शोक-सभा कूं मारो गोली! मेरा मतलब यो ना है. मां तो मरी परसों, कल हो गया इतवार, आज सोमवार कूं आपने छुट्टी करा दी. यहां तो होग्या पटड़ा. लड़कों कूं सिक्योरिटी वापस करनी थी. आज तीस-चालीस रुपये खरे बण जाते. मां-बाप कूं तो कधी न कधी मरणा होवे ई है पर, ऐसी अंधेरगर्दी इसी इस्कूल में देखी के कोई झट्टू को भी मर जाये तो सारे दिन भर कूं कालिज बंद. मरे का तो सबर हो जावे, पर दस आदमियों का टब्बर मेरी छाती पै धरा—तनखा मिले सोहरी (ससुरी) तीण सौ तेरे रुपल्ली. मां के कफन-दफन पै चारक सौ फूंक ही गये—रहे-सहे इस्कूल बंद करके आज आपणें पचासेक मरवा दिये."

"आपणें तो भली दुस्मनायगी निभाई मास्टरजी!" कहते हुए निहाल चंद ने शोक प्रस्ताव मेरे हाथ में रख दिया और दफ्तर में घुसते हुए तैश में बुदबुदाया, "इसे सीस्से में मढ़वा के अपणी बैठकां में लगा लो."

. . . और मैं निहाल चंद को मां का शोक प्रस्ताव लिए आगे बढ़ गया और करता क्या! □

लघुकथा

बेटे

▣ डॉ. सतीश दुबे

शीत का कोहरा फैला हुआ था. दूर चलते लोग केवल छाया से लगते. उसका ग्यारह साल का लड़का काम के लिए घर से निकल चुका था. अचानक उसकी घरवाली की आंखों ने धुंधली रोशनी से कपड़े में बंधी रोटी को देखा—लगता है, रोटी ले जाना भूल गया.

वह उठा और तथाकथित टिफिन देने चल पड़ा. सड़क के दोनों ओर क्वार्टर्स से हटकर लंबी रौ के सामने वाले क्वार्टर पर उसकी निगाह टिक गयी. अंगीठी से निकल रहे धुंए के बीच एक आकृति हिल-डुल रही थी. वह बढ़ता गया, उसने पहचाना, यही तो उसका बेटा है.

"ले रे तेरी रोटी तो रह गयी थी, किया कर रिया है ये. . ."

"पानी गरम कर रहा हूं काका."

"सुबे-सुबे पानी गरम. . ."

"हां काका, अभी साब के बेटे उठेंगे तो मुंह धोयेंगे."

उसने एक बार शीत के कारण कांप रहे बेटे की ओर देखा और फिर साहब के बेटों की धुंध तस्वीरें उसके सामने उभरने लगीं और दोनों की तस्वीरें अपने दिमाग़ में तौलते हुए उसने अपने कमज़ोर पैरों को रास्ते पर मोड़ दिया. □

अछूट

• ऋता शुक्ल

सुरजीत की अटैची से निकला माइकल अंकल का, कोर्ट की मुहर लगा घोषणा-पत्र हाथ में है और बड़ी दी की चिट्ठी सामने मेज पर . . . जिसका एक-एक अक्षर उसे कुरेद कर फिर उसी बीते हुए कल की ओर ले जा रहा है, जिसके विषय में पहले भी उसने कई बार सुरजीत से कहा था, "मुझे कुछ भी नहीं भूलता. बड़ी बेचैनी-सी महसूस करती रहती हूं. पापा का घर, उस घर में अपना छोटा-सा कमरा और उस कमरे से लिपटी सैकड़ों, हज़ारों, अनगिनत यादें किस तरह मुझे भीतर तक बेधती हैं, मैं नहीं बता सकती."

सुरजीत उसे बहलाना चाहते हैं. अतीत के दंश से मुक्त कर वर्तमान को भरपूर जीने की कशिश में बंधी हुई देखना चाहते हैं.

कहते हैं, "जो पीछे छूट गया उसे भूल जाओ." लेकिन पीछे छूटा हुआ कल अपनी तमाम कड़वी-मीठी कशिश के साथ कितना पुरअसर होता है—इसे कोई सुनीता से पूछे. . . . कैबिनेट की दाहिनी तरफ हंसते हुए पापा, कैबिनेट की बायीं तरफ मां . . . बीच में सुरजीत ने सुनीता के साथ अपनी ताजा खिंचवायी हुई तस्वीर रख दी है. पापा की मुस्कराती हुई तस्वीर, उनकी बोलती हुई-सी आंखें उसकी उद्विग्नता को भटकाती हुई बार-बार छज्जू-बाग, पटना की उस बड़ी-सी कोठी की ओर जो खींच ले जाती हैं!

ऊंचे फाटक की बगल में संगमरमर की चौड़ी प्लेट पर खुदा हुआ—कमल निवास . . . ! मां के चले जाने के बाद सुनीता ने जान बूझकर वे अक्षर मिटवा दिये थे! फाटक पर झूलती रातरानी की बेल की जगह स्लेटी रंग का साइनबोर्ड लग गया है—अतुल माइकल के. जी. स्कूल . . . !

अभी पिछले साल ही तो . . .

छज्जू बाग की वह बड़ी-सी कोठी खामोशी में डूबी भांय-भांय कर रही थी. बाहर ऊंघते हुए दरवान ने पूछा था, "किसे खोज रही हैं मेम सा'ब? आज तो बच्चों की छुट्टी बारह बजे ही हो गयी."

"यहां मिस्टर जॉन माइकल रहते हैं न?"

"हां-हां . . . ! आपको उनसे मिलना है क्या? दरवान की आंखों में एक खुशनुमा हैरत थी . . . आइए . . . आइए!"

▣

लंबे पोर्च पर सुनीता के पांव रपट चले थे. दोपहर का खाना खाने के लिए पापा अस्पताल से ठीक दो बजे घर आते थे. उसने घड़ी देखी—दो बजे थे. यही वक्त . . . , छोटी-सी सुनीता दौड़ कर पापा के स्वागत के लिए खड़ी हो जाती थी और पापा उसे बाहों के घेरे में लिये दिये खाने की मेज पर जा बैठते थे . . . पापा का दो बजे आना वैसे ही तय था, जैसे रोज सुबह सूरज का उगना . . . . . सुनीता बड़ी हुई, पटना वीमेंस कॉलेज से बी. ए. फाइनल में पहुंच गयी.

फिर एक दिन . . . पापा अपनी काली फिएट से अकेले नहीं उतरे. साथ में खूब ऊंचा, खूब गोरा एक युवक था. पापा ने बड़े जोश के साथ परिचय कराया, "सुनी, दिस यंग ब्वॉय सुरजीत . . . डॉ. सुरजीत . . . , वेरी जीनियस ऐंड वेरी गुड ब्वॉय . . . और जीत, यह मेरी बिटिया सुनी."

दरवान उसे गोल कमरे में बिठा गया. पापा की मनपसंद पुरानी ईरानी कालीन, पापा का खरीदा हुआ सोफासेट, नीली दीवार पर उनका बड़ा-सा तैल चित्र, लगता है अंकल ने इधर इसे बनवाया है, और उस चित्र के गले में झूलती हुई जरी के तारों की बड़ी-सी माला . . . पापा की तस्वीर के दाहिने टंगी हुई थी वड़ी-सी दीवार घड़ी, जिसकी टिक-टिक सुनीता के भीतर कहीं आघात करती हुई कह रही थी, "पांच साल बीत गये सुनीता! पांच साल क्या कम होते हैं पुरानी छाप को धो-पोंछ कर साफ करने के लिए . . . ?"

भीतर वाले दरवाजे पर लटका भूरा परदा खिसका कर अंकल माइकल सामने खड़े हो गये थे. सन से सफेद बाल, आंखों में कच्ची नींद से उठाये जाने के कारण पड़े लालडोरे और मुंह पर फैला हुआ विस्मित आह्लाद . . . ! दोनों बांहें फैला कर आगे बढ़े थे, "मेरी बच्ची सुनी, तू . . . ? ऐसे अचानक . . . ?"

एक नया नाम

■ ऋता शुक्ल
जन्म : 14 नवंबर 1949.
शिक्षा : एम. ए. हिंदी.
लेखन को शौक नहीं साधना का सफल मानती हैं. जिसका कोई पड़ाव नहीं, कोई अंत नहीं.
संप्रति : स्थानीय महिला कॉलिज में प्रवक्ता.
कुछेक कहानियां प्रकाशित. 'सारिका' में यह पहली कहानी है.

सुनीता को लगा था—सामने पापा खड़े हो गये हों . . . !

"बैठो बेटे, बैठो! सुरजीत नहीं आया?"

"उन्हें पी. एम. सी. एच. में कुछ काम था."

"अच्छा-अच्छा . . . ! तुम आराम से बैठ जाओ बेटे, मैं अभी आया!" अंकल अस्त-व्यस्त से होते अंदर चले गये थे.

कुछ ही देर बाद अंकल के पीछे-पीछे शरबत से भरे दो गिलास ट्रे में सजा कर दरवान अंदर दाखिल हुआ था. अंकल भी हाथ-मुंह धोकर ताजा हो आये थे.

सुनीता ने बात शुरू करने के लिए पूछा था, "अंकल, कितने बच्चे पढ़ते हैं स्कूल में?"

"ढाई सौ के लगभग तो ज़रूर ही होंगे. मेरा तो सारा वक्त यही स्कूल ले लेता है बेटे!"

अंकल अचानक उत्साहित होकर उठ खड़े हुए थे, "चलो, तुम्हें पूरा स्कूल दिखाऊं! चलो, कम ऑन . . . !

सारे कमरों में घुमाने के बाद अंकल ने पापा वाले कमरे के दरवाजे का परदा खिसकाया था, "और यह तुम्हारे अंकल का कमरा बेटे . . . ! . . . अतुल दा इसी में सोते थे न, मैंने सोचा—मुझे भी यहीं रह कर शांति मिलेगी . . . . तू जानती है बिटिया, पिछले जाड़े में मैं बुरी तरह बीमार पड़ गया था. उस वक्त अतुल दा बार-बार याद आते थे. उनकी सेवा के लिए अंतिम समय तक तू थी बिटिया! मेरा कौन है . . . ? उन दिनों मैं हमेशा यही सोचता था. और अब भी कभी-कभी यही खयाल बेहद परेशान करता है. यूसुफ के अलावा मेरी देखभाल करने वाला कोई नहीं!"

■

सिविल सर्विस में आने के पहले पापा फौजी डॉक्टर रह चुके थे. वहीं मेजर जॉन माइकल साहब उनके दोस्त बने थे. पहले हल्की जान-पहचान, फिर दोस्ती और फिर ऐसी घनिष्ठता कि फौजी जिंदगी छूटने के बाद भी मुंह से मेजर जॉन माइकल का नाम नहीं छूटा. वे बताया करते थे, "सुनी, उससे तुम्हें मिलवाऊंगा. इतना जिंदादिल, इतना खुशमिजाज आदमी मैंने आज तक नहीं देखा. पूरा दिन खिलखिलाहटों और चुटकलेबाजी में बिता ले जाने वाले आदमी की अंदरूनी ज़िंदगी चुपचाप तीन-तीन हादसों का बोझ एक साथ ढो सकती है—मेजर को देखकर कोई भी यकीन नहीं करेगा. जीप-दुर्घटना में बीवी के साथ दोनों ही बच्चे चल बसे, फिर भी वह शख्स जी रहा है. दूधिया रातों में चट्टान से सिर टकरा कर उसे रोते हुए मैंने देखा है और दिन के उजाले में उसका ठहाकों भरा पुरअसर अभिनय भी. माइकल अपने-आपको छलता हुआ जी रहा है सुनी! मुझे तो लगता है, इसी तरह हम सब भी कहीं-न-कहीं अपने आपको छलते हैं."

डाइबटीज़ का पूरा प्रभाव फैल जाने के दिनों में ही एक दिन अचानक पापा का पता ढूंढते हुए मेजर जॉन माइकल पटना आ गये थे. नौकरी छोड़ कर हमेशा के लिए . . . ! पापा ने उन्हें बड़े ताऊजी से भी ज्यादा सम्मान दिया था . . . ! सुनीता को याद है, उसी समय से परिवार में भी विघटन के आसार दिखाई पड़ने लगे थे. ताऊजी, बड़ी दी और जीजाजी ने एक अगोचर शिविर खड़ा कर लिया था और भीतर ही भीतर भरपूर मंत्रणा चलने लगी थी.

पापा के आखिरी दिनों में इस घर की हवा कितनी क्षुब्ध हो उठी थी . . . ? मां असहाय-सी कभी पापा के सिरहाने बैठी बिलखती और कभी चुपचाप जड़ बनी बड़ी दी, जीजाजी के सलाह-मशविरे को सुनती रहतीं.

एक दिन अचानक ही उनकी हालत कुछ ज्यादा खराब हो गयी थी. मां एकदम व्याकुल हो कर पापा का हाथ पकड़ती हुई बिलख उठी थी, "मुझे ऐसे मत छोड़ कर जाइए! सुनीता का ब्याह करना है, मैं अकेली क्या करूंगी?"

यातना की तंद्रा से ज़बर्दस्ती बाहर आने की कोशिश करते पापा की थकी हुई आंखें एक बार मां की ओर भरपूर खुली थीं—कितनी गहरी शिकायत चुपचाप कौंध गयी थी पापा की उस दृष्टि में! सुनीता की सूक्ष्म मानस-तरंग ने उस नीरव दृष्टि में अभिव्यंजित सारे अनकहे शब्द अपनी संवेदना के तरल फैलाव पर लिपिबद्ध कर लिये थे : "मैं जा रहा हूं. तुम्हें मेरे जाने का मोह नहीं, अपनी चिंता ज्यादा है. यही संबंध है, यही जीवन के छूटते हुए दायरे का मोह और उसका वास्तविक रूप . . ! सब अपने स्वार्थ के लिए ममता जोड़ते हैं. सचमुच, जहां स्वार्थ नहीं, वहां मोह भी नहीं!"

अंकल ने टोका था, "कहां खो गयी बेटे! पापा की याद आ रही है न?"

सुनीता अंकल के हाथों का वात्सल्य-स्निग्ध स्पर्श और भरी हुई आंखों से छलकती आशीष बटोर कर कोठी से बाहर चली आयी थी.

■

शाम को सुरजीत घुमाने ले गये थे. . . गंगा के किनारे डूबता हुआ सूरज और दूर से दिखाई पड़ते धुंधले बांसघाट पर जलती हुई एक-दो चिताएं, अस्त होते जीवन की आखिरी लपटें! सुनीता की अनमनी आंखों में पापा के जीवन की वह आखिरी रात कौंध उठी थी. प्राणों पर दर्द का असीमित दबाव महसूसते हुए पापा ने ईज़ीचेयर पर निंदियाई-सी बैठी सुनीता को हाथ से छूकर जगाया था, "बेटे, एक कप कॉफी. . ."

उनकी आवाज़ में याचना थी. वे दोनों हाथों से कले... मसलते हुए निढाल हुए जा रहे थे. सुनीता फौरन ... किचन की ओर भागी थी. गैलरी के बीचों-बीच बड़ी दी के ... से ज़ोरदार बहस की आवाज़ आ रही थी. तेज़-तेज़ कद... बावजूद कुछ वाक्य उसके कानों को झुलसा गये थे.

"मां को भी कुछ पता नहीं. . ."

"सुनीता इज़ वेरी क्लेवर! देखना शीलू, तुम्हें कुछ ... मिलेगा."

"उफ़! बोर हो गये यहां बैठे-बैठे! देखो, कब तक खींचते ..."

एक दिन पहले उसने ताऊजी को बड़ी दी और जीजाजी ... साथ लॉन के एक कोने में खुसफुसाते हुए साफ़ पकड़ लिया ... "अतुल का दिमाग ख़राब करने वाला एक सुरजीत तो ... आखिरी बेर ई ससुरा माइकल जाने कहां से आ टपका! ... क्रिस्तान, दूसरा पंजाबी. . . . ! बड़ी बिटिया, अतुल तो ... एकतरफा सोचता रहा, अब इन दोनों ने मिलकर उसकी ... बिल्कुल ही खराब कर दी है. . हम भी तो इतने दिन से ... कर बैठे हुए हैं. अरे भाई, आदमी को ज़िंदगी रहते पूरा हि... किताब साफ़ कर लेना चाहिए—इसी में बुद्धिमानी है. मैं ... से कहूंगा—ऐसा न हो कि बांट-बटखरे में तुम्हारे हाथ ... हो जाये. . ."

पापा के जीते-जी उनकी कोठी में उनके विरुद्ध जो ... चल रहा था, उसकी गंध पापा तक न पहुंचे, इसकी उसने ... कोशिश की थी, लेकिन बड़े ताऊजी उसकी अनुपस्थिति में ... के सिरहाने बैठकर संसार-धर्म पर लंबा प्रवचन दे ही ... वह दवा और फल लेकर कमरे में गयी थी तो पापा की बंद ... की कोरों से टप-टप आंसू टपक रहे थे.

पापा ने कॉफी पीकर सोना चाहा था. वह उन्हें गर्म ... से ढककर चली गयी थी. उनका शरीर ढका रह गया ... चुपचाप चले गये थे. . . और फिर तेरहवें दिन वसीयतनामे ... वह विस्फोट. . . .

रामकृष्ण सहाय—पापा के वयोवृद्ध एडवोकेट ने ... अकेले में मां को सब कुछ समझा दिया था. फिर पापा के ... कमरे में सबके सामने उनके द्वारा पढ़ा गया वसीयतनामा ...

"पापा के हिस्से का खेत बड़ी दी के लिए, गांव का मकान ... बैंक की कुल जमाराशि मां के नाम, पटना की कोठी माइकल ... और सुनीता के हिस्से और पापा की मेडिकल साइंस ... सारी किताबें मेडिकल कॉलेज की लाइब्रेरी के लिए. . ."

सुनीता की आंखें सबके चेहरों पर बारी-बारी से घूम ... थीं—माइकल अंकल का बच्चों-सा मासूम चेहरा किसी ... अपराध के बोध से सहमा निःशब्द आंसुओं में तर हो ... रहा था. बड़े ताऊजी के चेहरे पर कालिख की परत ... चली जा रही थी. जीजाजी की जलती हुई आंखों में क्रोध ... हताशा को चुपचाप पी जाने का संकेत था और बड़ी दी ... से जड़-सी हो गयी थीं. पापा ने कब चुपचाप ये फैसले ... किसी को पता तक नहीं चल सका था !

बड़े ताऊजी पापा के श्राद्ध में सम्मिलित हुए बगैर ... गये थे. बड़ी दी और जीजाजी को भी जल्दी थी. बच्चों की ... जीजाजी की नौकरी और गृहस्थी के कई झमेले, कई ...

सबके चले जाने के बाद मां और भी हताश, और भी टूटी-सी दिखने लगी थीं.

मां की मृत्यु ने सुनीता को बुरी तरह झकझोरकर रख दिया था. माइकल अंकल के स्नेह ने ही उसे टूटने से बचाया था. सब तरफ से कटी गुमसुम सुनीता उन दिनों जिस मनःस्थिति में थी, आज उसकी कल्पना भी सिहरा देने वाली है. बड़ी दी से सांत्वना की आशा थी, पर वे मुंह फेर कर चली गयी थीं. उनकी उपेक्षा के अप्रत्याशित आघात ने सुनीता को कितने बड़े मति-विभ्रम में डाल दिया था! उसी शंकाविकल मानसिकता के आवेश में एक दिन उसने सुरजीत से एकतरफा ज़ोरदार बहस भी कर डाली थी. सुरजीत जितनी जल्दी हो सके पटना छोड़ देना चाहते थे. उन्हें जमशेदपुर में एक ऊंचा ऑफर मिला था और वे सुनीता को लेकर 'सेटल' होने की फिक्र में रोज़ उसे समझाते थे, "सुनी, इस तरह गुमसुम रहने से तो कोई रास्ता नहीं निकलने का. तुम कहो तो मैं अंकल से बातचीत करूं. . . . "

सुरजीत के उस प्रस्ताव पर एक दिन सुनीता अकारण ही बिफर उठी थी, "तुम चाहते हो कि जितनी जल्दी हो सके पापा की आधी कोठी पर तुम्हारा अधिकार हो जाये, यही न? सब यहां अपना-अपना स्वार्थ लेकर ही आते हैं. . ."

और वह फूट-फूटकर रोने लगी थी.

सुरजीत देर तक ठंडी दृष्टि से उसे देखते रहे थे, फिर उन्होंने पूरी गंभीरता के साथ कहा था, "सुनी, पापा की पूरी कोठी माइकल अंकल के लिए छोड़ दो! उनकी ख़्वाहिश भी है नन्हें-नन्हें बच्चों का स्कूल खोलने की! और फिर मैं कोठी के काग़ज़ात नहीं, सिर्फ तुम्हें ले जाना चाहता हूं."

वकील के सामने दस्तखत करते वक्त माइकल अंकल साथ थे. कोठी छोड़ते वक्त उनकी भीगी हुई आंखें दूर तक साथ लगी चली गयी थीं.

सुनीता कैसे उस अतीत से नहीं जुड़े. . . ! एक सप्ताह पहले अंकल के अस्वस्थ होने की सूचना यूसुफ की टूटी-फूटी लिखावट में मिली थी. सुरजीत अकेले ही चले गये थे—वह शरीर की अवशता में बंधी छटपटाती रहने के लिए, आशंकाओं की अनगिनत अग्नि-शलाकाओं का स्पर्श झेलने के लिए यहीं जमशेदपुर में पड़ी रह गयी. लेडी-डॉक्टर ने कहा था, "एक सप्ताह और!"

सुरजीत ने जाते वक्त उसे बार-बार चेतावनी दी थी, "तुम्हें बिल्कुल नर्वस नहीं होना है. कोई ज़रूरत पड़े, पड़ोस में डॉ. चड्ढा हैं या फोन करके डॉ. मोहिनी को बुला लेना. रामू और आया दोनों को बराबर घर पर ही रखना. मैं अंकल को साथ लेता आऊंगा. . . . "

अंकल साथ नहीं आये. सुरजीत अकेले लौट आये हैं. उनकी अटैची में है—क्रॉस पर झूलते हुए ईसा मसीह का छोटा-सा लॉकेट—नन्हें शिशु के लिए अंकल का आखिरी उपहार और उसके साथ ही अंकल की अंतिम घोषणा—यह कोठी मिसेज़ सुनीता सुरजीत के नाम रहेगी! यदि वे चाहेंगी तो बच्चों का स्कूल चलता रहेगा.

और बड़ी दी की चिट्ठी में कौन-सी घोषणा है:

"सुनी, पापा मेरे साथ बहुत बड़ा छल कर गये. माइकल साहब की ज़िंदगी है ही कितने दिनों की, उनके बाद पटना वाली कोठी की मालकिन तुम्हीं बनोगी. समझ में नहीं आता, पापा ने मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया? तुम्हारे जीजाजी मेरी ओर से कचहरी में अपील करने जा रहे हैं. माइकल साहब के हिस्से तो कुछ नहीं आयेगा, इस्कूल-विस्कूल का झमेला खतम करके कोठी बराबर-बराबर दो भागों में बांट दी जायेगी. तुम सोच लेना और हमारी तरफ से माइकल साहब को भी खबर कर देना. बिना झगड़े-झंझट के मामला सुलझ जाये तो और भी बेहतर होगा. . . . "

सुनीता का तनाव एक बार फिर टुकड़े-टुकड़े बिखर जाने की हद तक पहुंच चुका है. एक बार फिर वह जड़ हो गयी है. माइकल अंकल की अकेली मौत पर कलेजे को फाड़ती हुई रुलाई उमरना चाह रही है और दीदी के शब्दों की प्रतिक्रिया तीखा अट्टहास बनकर चारों तरफ पसरने की चेष्टा कर रही है.

सुरजीत तो एक अनुभवी चिकित्सक की तरह उसे जबर्दस्ती बिस्तर में लिटाते हुए, ताकत की गोलियों के साथ तनावमुक्त होने की हिदायत देकर चले गये हैं. जाते-जाते फिर एक बार दुहरा गये हैं, "जो बीती, उसे भूल जाओ सुनी, मैं जो हूं"

लेकिन वह अब तक तय नहीं कर पायी कि माइकल अंकल की घोषणा में दोबारा में लौट आये अतीत का वरण करे या दीदी के निर्मम प्रहार से पराजित होकर उस अतीत का प्रत्याख्यान..?

सुना है, रेगिस्तानी इलाकों में लंबे सफर पर निकला यात्रियों का कारवां धूल भरी आंधी से संरक्षण पाने और सफर की रेतीली थकान भुलाने के लिए शाद्वल की तलाश करता रहता है. संबंधों के इस रेतीले एहसास में क्या सुनीता के लिए कोई शाद्वल नहीं. . ?

है. . . ! हो सकता है. . . ! अतुल माइकल स्कूल का अस्तित्व ही कड़वी स्मृतियों से अकुलाई हुई सुनीता की चेतना को शीतल करने का एकमात्र उपचार बने. . . ! इतना तो तय होना ही चाहिए कि मिसेज़ सुनीता, सुरजीत, अतुल, माइकल स्कूल को कभी टूटने नहीं देंगी. □

● **निकट शांति-सदन, टुंगरी, चाईबासा (बिहार)**

कुमुदिनी रातें—कमल दिन क्या हुए,
खिले-खुशबूदार पल छिन क्या हुए.

क्या हुई वे चौमुखी संझबातियाँ,
पर्व-तिथि-त्यौहार अनगिन क्या हुए.

चौक-अक्षत-फूल-टीका-जल शुभम्,
रोज के वे शकुन-अशकुन क्या हुए.

▣ **ओम प्रभाकर**

एक रिपोर्ताज

दिल्ली का नया बाजार : सड़कों पर बिखरे अनाज और पेट के रिश्ते का आदिम सिलसिला

▣ अ. ना. मुद्गल

दिल्ली के तिपहिए स्कूटरों के पीछे अक्सर कोई-न-कोई इबारत लिखी होती है. दरअसल वह सिर्फ इबारत ही नहीं होती–एक कहानी होती है, एक इतिहास होता है–आदमी का अपना, अपने परिवार का इतिहास, कुछ आस्थाएं होती हैं, कुछ विश्वास होते हैं, कुछ राहतें होती हैं और होता है मुगल बादशाहों के प्यार से भी बड़ा, गहरा और असली प्यार, और भी न जाने क्या-क्या! –'सत गुरू तेरी ओट. . .वाहे गुरू दी फतह. . . मुन्ना-मुन्नी दी गड्डी. . .भगवान रक्षा करें. . .जन्नत की सैर. . .बुरी नजर वाले तेरा मुह काला. . .'आदि का मतलब कहानी, इतिहास, आस्था, विश्वास, राहत, और प्यार सभी कुछ हो सकता है. इनके अलावा ऐसी इबारतों का एक मतलब और भी होता है—कुछ-कुछ 'शुभ लाभ' और 'लक्ष्मी जी सदा सहाय' जैसा. किसीके जहन में सत-गुरु शुभ है, किसीके वाहे गुरू, किसीके लिए मुन्ना-मुन्नी और किसीके लिए भगदान या जन्नत की सैर अथवा कोई साफ मुंह वाला. लेकिन ये सारे 'शुभ लाभ' पैसे के लिए हैं और हर सामान्य जन के लिए पैसे के साथ पेट जुड़ा होता है. मेरे लिए पैसे और पेट की बात उस दिन कुछ ज्यादा ही अहम हो गयी थी जब एक 'मुन्ना-मुन्नी दी गड्डी' ने मुझे 'नया बाजार' में उतारा था.

'नया बाजार', दिल्ली की अनाज मंडी. चारों ओर सड़ते हुए अनाज की बू, बैलों के पेशाब की बू और मेहनत-कश आदमी के पसीने की बू. ये सारी बूएं मिलकर दिमाग पर अजीब-सी कैमीकल प्रतिक्रिया पैदा कर रही थीं. सीधे हाथ के फुटपाथ पर फटे हुए तिरपालों के 'रैन बसेरे' और उन रैन बसेरों के बाहर पत्थर की चक्कियां और मिट्टी के चूल्हे. चूल्हे ठंडे पड़े थे और चक्कियां खामोश. किसी बया के उजड़े घोंसले-से सन्नाटे भरे रैन बसेरे.

फुटपाथ के इस हिस्से को छोड़कर सारे बाज़ार में रुके हुए ट्रैफिक का शोर और अफरा-तफरी मची हुई थी. युवा फोटोग्राफर जयनर मेरे साथ थे. दरअसल उन्होंने ही मुझे इस बाजार की खूबियां-खामियां बतायी थीं. काफी दिनों से इच्छा थी कि दिल्ली के पेट से जुड़े हुए इस हिस्से को देखा जाये और उस दिन हम वहां थे. जयनर ने बताया था कि यहां 'नो पार्किंग' है लेकिन सबसे ज्यादा 'पार्किंग' यहीं थी. ट्रकों, बैलगाड़ियों और हाथगाड़ियों का मेला-सा लगा था. हार्नों का शोर और पल्लेदारों की चीखें, खरीददारों और व्यापारियों की बेअसर तू-तू, मैं-मैं से बाजार भरा हुआ था.

'नया बाजार' के नाम के सिवाय सभी कुछ पुराना और बिखरा हुआ था. सड़कों, नालियों और फुटपाथों पर अनाज के दाने बिखरे पड़े थे. फटेहाल बच्चे अनाज के उन दानों को इस तरह बीन रहे थे जैसे बरात में लुटाये हुए पैसे और बताशे बीन रहे हों. एक नाली के ऊपर बैठी कुछ औरतें उस बीने हुए अनाज को फटक रही थीं और कुछ दालें दल रही थीं. जयनर ने बताया, "शाम को यही अनाज फुटपाथों पर बिकने लगेगा. यह सिलसिला वर्षों

से चला आ रहा है."

मेरे सामने सारा बाजार एक बहुत बड़े खेत में बदल गया था और लग रहा था जैसे अभी-अभी खेतों की फसल कट कर खलिहानों में पहुंची है और मजूरों के घर की औरतें-बच्चे 'सिला' (खेतों में पड़ी रह गयी बालियां) बीन रहे हैं. पेट की आग गंदी और साफ जमीन नहीं देखती, सिर्फ अनाज देखती है. और वही अनाज यहां देखा जा रहा था—बैलों के गोबर-पेशाब से भरी सड़कों पर, नालियों में, फुटपाथों पर. और ढेर-से इंसानी हाथ उसे बीनने में मशगूल थे और मेरे सामने फसल कटे खेत फैलते जा रहे. थे.

मुझे खेतों से शहर में वापस बुलाया जयनर ने चाय की बात का धक्का दे कर. हम जिस फुटपाथ पर खड़े थे वहीं एक बेंच पर चाय का स्टाल खुला था. कई पल्लेदार गंदे गिलासों में भरी काली चाय सुड़कते हुए सुस्ता रहे थे. मुझे लग रहा था, जिस तरह वर्षों से यह अनाज बीना जा रहा है उसी तरह वर्षों से ही इन केतलियों में यह चाय उबल रही है. मेरा आभिजात्य सोच रहा था—वर्षों पुरानी शराब जिस चाव से पी जाती है क्या उसी चाव से वर्षों पुरानी चाय भी पी जा सकती है!

हम लोग अनाज फटकती एक औरत के पास खड़े हो गये. क्षण भर आंखें उठा कर उसने तौला कि खरीददार है या पुलिसिया. और फिर आश्वस्त हो कर अपने काम में मशगूल हो गयी. हम लोग मशीनी ढंग से चलता उसका सूप देखते रहे. कुछ देर बाद मैंने पूछा, "आप लोग कहां के रहने वाले हैं?."
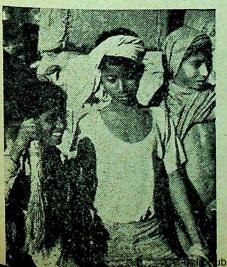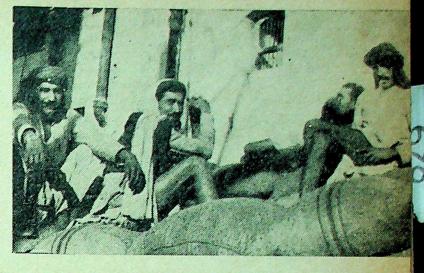
औरत ने एक क्षण मुझे देखा और पीछे मुड़ कर खामोश खड़े रैन बसेरे की ओर इशारा कर दिया, "वहां के",

मुझे हंसता देख पहले वह कुछ झेंपी और फिर खुद भी हंसने लगी. फिर बोली, "हां बाबू, अब तो हम यहीं के हैं. वैसे दूर बिहार से आये हैं. बिहार में 'काल' पड़ा तो हम बेघर हो गये और यहां बस गये."

"कितने प्राणी हैं?" मैंने पूछा.

"बाल-बच्चे मिला कर कुल दस जन हैं." उसने सूप उछालते हाथ रोक कर जवाब दिया.

"क्या इस सड़े अनाज से गुजारा हो जाता है?" मेरी सवाल पूछने की हिम्मत बढ़ने लगी.

"बाबू, यही सड़ा अनाज उन दिनों बिहार में मिल गया होता तो हम बतन छोड़ कर क्यों आते? पेट की आग सड़ा-गला नहीं देखती. और अब तो यह अनाज हमारा धंधा बन गया है. और बाबू जो धंधा दो जून की रोटी इज्जत से दे दे वह बुरा नहीं होता. . ." उसके रुके हुए हाथ फिर चलने लगे थे. अचानक उसके हाथों में भर गयी तेजी को देख कर मैं समझ नहीं पाया कि यह किसी और सवाल का जवाब देगी या कहेगी, 'बाबू अब फूटो.

मैं अभी कुछ निर्णय नहीं कर पाया था कि जयनर की ओर से आगे बढ़ने का सिगनल मिल गया. जयनर से ही पता चला कि शाम को इसी अनाज को खरीदने यहां भीड़ लग जाती है क्योंकि साफ सुथरा दिखाई देता है और बाजार दर से सस्ता होता है. खरीददारों में सभी तबके के लोग होते हैं—छोटे व्यापारियों की पत्नियां, दफ्तर के बाबू और मजदूर. अलग-अलग ग्रेड के अनाज की अलग-अलग ढेरियां बन जाती हैं—कंकड़ वाला और बगैर कंकड़ वाला.

मैं सोच रहा हूं, पेट की आग कितनी तेजअसर होती है कि कंकड़, पत्थर मिट्टी, रेत सभी अनाज बन जाते हैं. अनाज और पेट का रिश्ता आदिम रिश्ता है और इस रिश्ते में कोई दरार नहीं पैदा कर सकता. राजधानी की अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति के बीच नये बाजार की सड़कों पर फैली यह 'सिला'-संस्कृति किन्हीं भी अर्थों में घटिया और कम महत्त्व की नहीं है. □

चित्र बायें से
- यह बोरी पीठ पर नहीं पेट पर है
- सड़क से बीनी दाल पीसती हुई महिला और ग्राहक
- पेट का बादशाह : इसे बच्चे बीन के लाये हैं
- कमर नहीं टूटेगी तो पेट टूटेगा—सुस्ताते पल्लेदार

▣ सभी चित्रों के छायाकार : धर्मवीर जयनर

अनिल कुमार : सम्मान समारोह

भोपाल—हाल ही में तीन दिवसीय सम्मान–78 के समारोह में प्रखर साहित्यकार तथा एकमेव पैने कला-समीक्षक अनिल कुमार के 54 वर्ष पूरे करने पर एक अपूर्व, ऐतिहासिक एवं भव्य आयोजन किया गया. अशासकीय स्तर पर प्रतिमाओं के सम्मान में पहली बार शुरू की गयी इस पहल को आगे भी जारी रखने की घोषणा की गयी.

'गारुड़ मंत्र', 'इतिहास की परिक्रमा' और 'प्रणय-अंगार' जैसी समर्थ युग-बोधी कृतियों के रचयिता, सृजनात्मक और प्रदर्शनकारी कलाओं की एकमेव संघर्षशील लघु पत्रिका 'रंग-संधान' के सौजन्य संपादक—अनिल कुमार ने अपने सम्मान के उत्तर में कहा कि अभावों एवं तकलीफों ने कभी भी उनके लेखन को प्रभावित नहीं किया. उन्होंने बताया कि उनकी पहली रचना 1944 में 'वीर अर्जुन' में छपी थी. उनके बाद के प्रारंभिक एवं पूर्ववर्ती लेखन-प्रकाशन का उनके पास विस्तृत ब्यौरा नहीं है. आज उनकी अधिकांश रचनाएं अप्रकाशित हैं. समाज की इस प्रवृत्ति की निंदा करते हुए कि वह जिंदा या स्वस्थ आदमी का सम्मान नहीं करता और अपने इस सम्मान के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा कि मैं यह सब समाज को अर्पित करता हूं. प्रेमचंद मेरे लिए लेखन-आदर्श रहे हैं किंतु मैं अपने लिए दुष्यंत की मौत जैसी बहादुर मौत की कामना करता हूं...!

इस समारोह में अनिल कुमार को एक सुवैगा गाड़ी, एक शाल, चांदी में मढ़ा हुआ नारियल और रजत-पत्र दिये दिये गये. समारोह के मुख्य अतिथि थे संसद सदस्य श्री यमुना प्रसाद शास्त्री एवं अध्यक्षता सुकवि कला-मर्मज्ञ हरिभाऊ जो ने की. इस अवसर पर शताधिक कलाकारों, साहित्यकारों के अतिरिक्त रामचंद्र माहेश्वरी एवं सविता वाजपेयी भी उपस्थित थीं.

'जनधर्म' के संपादक कैलाश जोशी ने सम्मान के महत्व, औचित्य एवं अनिवार्यता पर प्रकाश डाला. 'नया नारा' के संपादक एवं अनिल कुमार सम्मान-संदर्भिका के नियामक श्री बाल मुकुंद भारती ने कहा कि अनिल कुमार जुझारू और मर्द साहित्यकार हैं.

डॉ. विनयमोहन शर्मा ने भी उन्हें आशीर्वाद दिया. अध्यक्षीय भाषण में श्री हरिभाऊ जोशी ने कहा कि अनिल निरंतर समाज को सजग करते रहे हैं.

प्रारंभ में अनिल कुमार के दो प्रारंभिक गीत 'घिरा अंधेरा' और 'पंछी सोने का' स्वर-संयोजित किये गये. 'घिरा अंधेरा' को स्वर दिये थे—सर्वश्री तैलंग, ज्योतिरत्न और नीति शर्मा ने. 'पंछी सोने का' चमन भारती ने प्रस्तुत किया.

अगली सुबह जागरूक चित्रकार भाऊ समर्थ की सत्ताईस चित्रकृतियों की प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए श्री शीतला-सहाय ने कहा, "म. प्र. में पहली बार उनके चित्र प्रदर्शित हो रहे हैं. यह सिलसिला आगे भी चलता रहेगा." अनिल कुमार ने भाऊ समर्थ का परिचय देते हुए कहा कि वह अपूर्व लगन, अध्यवसाय, निष्ठा और लगन के अप्रतिम हस्ताक्षर हैं. उन्होंने तमाम प्रतिकूलताओं के बीच रह कर भी अपना निर्माण किया है और आज वे एक शैली और मुहावरा बन गये हैं.

तांत्रिक बिंबों की सामाजिकता

'अंतर्यात्रा' द्वारा अनिल कुमार की चुनी हुई कविताओं का सव्याख्या पाठ एवं उन पर चर्चा-परिचर्चा का आयोजन सुप्रसिद्ध कवि एवं 'शिवम्' के सौजन्य संपादक विनोद तिवारी की अध्यक्षता एवं रामप्रकाश त्रिपाठी के संचालन में किया गया. अनिल कुमार ने अपने पिछले 35 वर्षों की चुनी हुई कविताएं सुनायीं. इनमें—उप राष्ट्रकवि के प्रति, प्रेम कविताएं, सूरज उगेगा, जीवन एक तांत्रिक व्याख्या—आदि विशेष रूप से सराही गयीं. उन्होंने अपने तांत्रिक-बिंबों-प्रतीकों की प्रक्रिया समझाते हुए कहा कि 1960 के आसपास 12 वीं सदी में जैन आचार्य का लिखा एक ग्रंथ 'भैरव पद्मावती' हाथ आया. एक
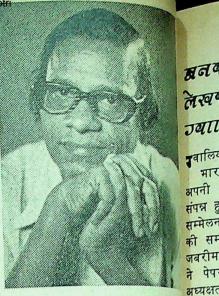
अनिल कुमार

अध्याय में 'गारुड विद्या' का कर्मकांड समझाया था. अमेरिका और रूस उन दिनों अणु परीक्षणों में संलग्न थे. 'गारुड मंत्र' जैसी तांत्रिक कविता इन्हीं अंतर्राष्ट्रीय विषम क्षणों की रचना है.

सतीश चतुर्वेदी और देवकीनंदन जोशी ने उनके कृतित्व की विभिन्न भंगिमाएं उद्घाटित कीं.

प्रमुख रंगकर्मी संस्था 'परिवर्तन' द्वारा इस अवसर पर 'औरत-75' (अनिल कुमार) का नाट्य पाठ किया गया. वाचक स्वर थे—मनोहर आशी और प्रशांत खिड़वड़कर. प्रशांत की ध्वनि और प्रकाश योजना उल्लेखनीय थी. इसी शाम 'अंधेर नगरी' (भारतेंदु हरिश्चंद्र) का भी जीवंत मंचन किया गया.

समारोह के तीसरे दिन रंगों के जादूगर भाऊ समर्थ ने कहा कि सभ्यता के नवनिर्माण में कला व साहित्य आधारभूत योगदान करते हैं. कलाकार एक राडार की तरह संसार में घूमता है और प्रभाव ग्रहण करके अपनी कला के माध्यम से प्रतिक्रिया में व्यक्त करता हुआ नयी सभ्यता की प्रेरणा देता है. इस चर्चा में प्रसिद्ध कलाकार श्री डी. जे. जोशी, रामप्रकाश, राजेश जोशी, महेंद्र कुमार मानव, एवं नवल जायसवाल ने भाग लिया. कार्यक्रम की सफलता में सर्वश्री कैलाश पंत, रमाकांत, राजेंद्र कुमार शर्मा, अशोक जैन, बालमुकुंद भारती का सहयोग उल्लेखनीय रहा.

विवरण : कृष्ण कमलेश

जनवादी लेखक सम्मेलन : ग्वालियर

ग्वालियर. पिछले दिनों यहां 'अखिल भारतीय जनवादी लेखक सम्मेलन' अपनी ऐतिहासिक सफलता के साथ संपन्न हुआ. द्वि-दिवसीय इस लेखक सम्मेलन के पहले दिन 'जनवादी लेखन की समस्याएं' विषय पर सव्यसाची, जबरीमल पारख, और अनिल जनविजय ने पेपर पढ़े. मकबूल अहमद की अध्यक्षता में इस गोष्ठी का संचालन मनमोहन ने किया. 'सर्वहारा के नेतृत्व में साहित्यकारों की भूमिका' विषय पर हुई द्वितीय गोष्ठी में पहला पेपर रामबक्ष ने पढ़ा. कांतिमोहन का पेपर उनकी अनुपस्थिति में मनमोहन ने पढ़ा. इस गोष्ठी की अध्यक्षता मुकुट बिहारी 'सरोज' व संचालन सुधीश पचौरी ने किया. रात्रि आठ बजे संस्था 'रंगशिल्प' ने सत्येंद्र जैन के निर्देशन में रमेश उपाध्याय का नाटक 'गिरगिट' प्रस्तुत किया.

सम्मेलन के दूसरे दिन 'साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन' पर सुधीश पचौरी, कौशल मिश्र, निसार परवेज़ ने पेपर पढ़े. अध्यक्षता प्रकाश दीक्षित ने व संचालन जबरीमल पारख ने किया. 'साहित्य और राजनीति' पर हुए खुले अधिवेशन में रामबक्ष ने इस परिप्रेक्ष्य में आजादी से पहले और आजादी के बाद की स्थितियां स्पष्ट कीं. सुधीश पचौरी ने कहा, "साहित्य राजनीति का न सिर्फ अभिन्न अंग है वरन् दोनों एक दूसरे के पूरक हैं." इस गोष्ठी की अध्यक्षता युवा-कथाकार रमेश बत्तरा ने की. उन्होंने कहा, "समस्या चाहे भूख की हो या शिक्षा की और यहां तक कि प्रेम और विवाह की, यह राजनीति से जुड़ी है और इसमें निर्णायक भूमिका राजनीति की ही होती है." इस गोष्ठी का संचालन विमल किशोर ने किया.

कार्यक्रम के अंतिम दिन रात देर तक चलने वाले जनवादी कवि सम्मेलन (अध्यक्षता : विश्वामित्र वास्वानी, संचालन : मुकुट बिहारी 'सरोज') में मनमोहन, सुरेंद्र सुकुमार, रमेश पंडित, डा. अख्तर नज्मी, जहीर कुरैशी, प्रकाश मिश्र प्रदीप चौबे, घनश्याम भारती, योगेंद्र योगी आदि को श्रोताओं ने खूब सराहा. सम्मेलन का संयोजन हरीश तलवानी ने किया. □

विवरण : हरीश पाठक

सुधीश पचौरी, सव्यसाची, हरीश तलवानी, कैसर, हरीश पाठक, आजाद रामपुरी आदि की उपस्थिति में बोलते हुए—रामबक्ष

आल माई संस

'प्रयाग रंगमंच' द्वारा आर्थर मिलर का बहुचर्चित नाटक 'आल माई संस' का डॉ. जीवन लाल गुप्त द्वारा किया गया हिंदी रूपांतर 'सब मेरे बच्चे' 6 व 7 जनवरी को प्रयाग संगीत समिति प्रेक्षागृह में प्रस्तुत किया गया. इसका निर्देशन किया सूर्य प्रताप ने.

खोसला इस नाटक का केंद्रीय पात्र है जिसके चारों ओर नाटक बुना गया है. नाटक के अनुसार खोसला के चरित्र के चार आयाम हैं. एक जगह वे काइयां व्यावसायी हैं जो बिजनेस के चक्कर में दरार पड़े इक्कीस सिलिंडरों को जुड़वा कर सेना को सप्लाई कर देते हैं. दूसरी ओर वे एक परिवार से भी जुड़े हैं जिसके वे सर्वेसर्वा हैं. वे देश से बड़ा अपना परिवार मानते हैं लेकिन बाद में अपनी गलती महसूस करते हैं. रामचंद्र गुप्त खोसला की इन सारी मनःस्थितियों के अंतर्द्वंद को जीवंत नहीं बना सके. श्रीमती खोसला (जो अपने पति के अपराध को जानती हैं) के चरित्र के दो आयाम हैं जिनको शांति बेन (एकाध दृश्यों को छोड़कर) नहीं छू सकीं. रश्मि मालवीय ने अवश्य शीला की अति प्रभावी भूमिका निभायी है. सुनील (हर्ष) एक तिहाई नाटक के बाद अपने प्रवेश के साथ ही कथानक को समेट कर नाटक को क्लाइमेक्स पर पहुंचाता है. हर्ष जैसे बिलकुल नये कलाकार ने अपने जीवंत अभिनय और संवादों के उतार-चढ़ाव, हाव-भाव से दूसरे पुराने कलाकारों के सामने एक चुनौती-सी दी है. शांति स्वरूप प्रधान (शुक्लाजी) तथा नगेश नाथ प्रसाद (डॉक्टर) 'ड्रेमेटिक रिलीफ' के रूप में प्रस्तुत किये गये थे और वे दर्शकों को हल्का हास्य देने में सफल रहे.

प्रकाश व्यवस्था ने अवश्य नाटक को उभारने में सहयोग दिया. कुल मिलाकर प्रयाग रंगमंच की यह प्रस्तुति, रूपांतर, निर्देशन तथा अभिनय तीनों दृष्टि से बहुत सफल नहीं कही जा सकती. लेकिन इलाहाबाद में कुछ हो रहा है, यही सोचकर संतोष कर लेना पड़ता है. □

विवरण : सतीश चित्रवंशी

आदमी पर चारों तरफ से होते हुए आक्रमण!

▣ डॉ. विनय

सामान्यतः आज के कथा साहित्य की सर्जनात्मक संवेदना का केंद्र समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार से टकराता हुआ कोई सही व्यक्ति होता है. अर्थात समाज के विभिन्न स्तरों में विभिन्न प्रकार से भ्रष्ट आचरण व्याप्त है और उसमें वही व्यक्ति पनप सकता है, जो अपनी संवेदना को बुनियादी आवश्यकताओं के नीचे दबाकर, उसका अंग बन जाये. नहीं तो उसे सबसे अलग होना पड़ता है, आत्महत्या करनी पड़ती है, या अपनी जगह छोड़नी पड़ती है. इस दृष्टि से मॉरिशस के लेखक **अभिमन्यु अनत** का उपन्यास **कुहासे का दायरा** द्वीप की भ्रष्ट राजनीति के गुंजलक में संघर्षरत अध्यापक घनेश के माध्यम से व्यापक सामाजिक भ्रष्टाचार से परिचित कराता है. इस उपन्यास की विशेषता यह है कि यह हमें मॉरिशस के सामाजिक-राजनीतिक जीवन-यथार्थ से परिचित कराते हुए संघर्ष को मानवीय अस्मिता के साथ जोड़कर मूल्यों की चिंता तक ले जाता है. मानव मूल्यों की सुरक्षा एक ऐसे समाज में ही हो सकती है जहां शोषण न हो, या कम से कम हो. शोषण-संयुक्त समाज में अभाव ग्रस्त व्यक्ति ही नहीं टूटता, मूल्यों का क्षरण भी होता है और उससे एक व्यापक सांस्कृतिक पतन की शुरुआत होती है. सांस्कृतिक क्षरण राजनीतिक उत्थान-पतन की तरह अधिक मूर्त नहीं होता, लेकिन उसका दंश जातीयता की बहुत बड़ी हानि करता है.

इधर परिवार उधर व्यवस्था

'कुहासे का दायरा' का नायक घनेश एक स्कूल में अध्यापक है और सामान्य मध्यवर्गीय व्यक्ति की तरह संघर्ष कर रहा है. उसका संघर्ष जो एक स्तर पर पारिवारिक या व्यक्तिगत लगता है, टकराहटों से घनत्व पाकर कहीं-कहीं व्यापक भी हो जाता है. उसके संघर्ष का एक छोर शांति और सीधू के परिवार से जुड़ा है और दूसरा व्यवस्था से. लेकिन दोनों के बीच व्यवस्था (राजनीतिक) ही सारे सूत्रों का संचालन करती है और सही व्यवस्था के निर्माण की कोशिश में लगा घनेश उस गुंजलक को अंत तक नहीं सुलझा पाता. यही व्यवस्था है जो सीधू को घर से बेघर कर देती है और सत्ता के विपरीत होने के कारण उसकी हत्या करवा दी जाती है. यही व्यवस्था है जो भिसम जैसे व्यक्ति को अनायास ही महत्वपूर्ण बना देती है और सामान्य सामाजिक मूल्य चटखते रहते हैं. इस व्यवस्था के हाथ इतने लंबे हैं कि घनेश को मिला नीरा के पिता का खेत, उससे छिन जाता है, और बदमाशों के विरुद्ध आक्रोशी मुद्रा अपनाने पर, वह मंत्री द्वारा भर्त्सना का शिकार होता है कि उसने बदमाशों का साथ दिया. यही नहीं उसकी मलमनसाहत परमचंद जैसे व्यापारिक व्यक्ति की कुदृष्टि का भी शिकार होती है. ऐसा लगता है जैसे एक सही व्यक्ति, मूल्य-चिंता से युक्त व्यक्ति, बीच में खड़ा है और चारों तरफ से हुए आक्रमण को झेल रहा है.

अभिशाप और सक्रियता

यह उपन्यास अपने छोटे-से फ़लक पर अनेक सामाजिक विसंगतियों को तो उघाड़ता है पर मानवीय संघर्ष को सही दिशा में रूपायित नहीं कर पाता, या कहना चाहिए कि विचार के स्तर पर मूल्यहीन जिम्मेवार पूंजीवादी, सामंती शासन के साथ किसी वर्ग-संघर्ष की मूर्त रेखाओं को स्पष्ट नहीं करता. लगता है कि सारा संघर्ष घनेश अकेला झेल रहा है और उसकी वर्गीय अनुभूति नहीं बन पाती. यही कारण है कि नीरा के विदेश चले जाने के बाद, उसके विश्वास को पाने के बाद, सामने शांति एक प्रश्न रखती है कि नीरा के पैसे से विदेश जाना चा[हिए] या शांति के! मैं यह नहीं कह[ता] उपन्यास का अंत नायक की पल[ायन]वृत्ति का परिचायक है—लेकिन य[ह] सच है कि उसकी संघर्षशील मन[ःस्थिति] कहीं न कहीं टूटती दिखायी देती है. अपनी बात के प्रमाण में मैं उपन्यास की पंक्तियां उद्धृत करना चाहूंगा—"... ही अस्वाभाविक ढंग से सोचना... घनेश अपने को सभी चीज़ों, सभी... से अलग मानने लगा था. अपने ... बहुत बड़ा अभिशाप मान चुकने ... भी सक्रिय रहना उसके लिए ... प्रतीत होने लगा."

सही व्यक्ति का शोचनीय ...

व्यवस्थागत भ्रष्टाचार के ... पिसती हुई एक लड़की रीना की ... **हिमांशु श्रीवास्तव** के उपन्यास ... की संवेदना का केंद्र है. 'रिहर्स...' लेखक ने रेडियो स्टेशन के संसा[र में] व्याप्त अनेक विसंगतियों को ... बनाकर समाजगत व्यापक भ्रष्ट[ाचार] से परिचय कराया है. मुख्य कथा रा[खाल] बाबू के परिवार की है, जो आर्थिक ... से नितांत असंपन्न परिवार है. ... आर्थिक विपन्नता के कारण राखाल ... की छोटी लड़की बेला, अशोक बाबू ... घर का शिकार होती है और ... यहां तक दयनीय हो जाती हैं कि रा[खाल] बाबू हिम्मत से स्थिति का सामना ... हुए पुत्री को मृत्यु की भेंट चढ़ने ... और इसके बाद प्रारंभ होता है री[ना के] संघर्ष का दौर—वह दो स्तरों ... असहायता और उससे उत्पन्न ... प्रक्रिया से लड़ती है, और दूसरी ... रेडियो स्टेशन की 'कैजुअल आर्टिस्ट' ... प्रति नीति से और बीच में प्रसंग... आये उन सब मेहरबानों की ... वृत्ति से जो उसकी मदद करने ... उसके शरीर का उपयोग करना ... हैं. इन दोनों स्तरों पर एक ... (राखाल बाबू के) जेल जाने ... है. दूसरी, रीना का, रक्त बेच... अशक्त होकर मरने की सीमा ... लेकिन उपन्यासकार की संवेद...

मूल वही है—सामाजिक भ्रष्टाचार के बीच अपनी अस्मिता के लिए संघर्षरत सही व्यक्ति का शोचनीय अंत!

हिमांशु इस शोषण की व्यवस्था को दृढ़ बनाने वाली शक्तियों के विरुद्ध किसी भी प्रकार से कोई वैचारिक फ़लक नहीं दे पाते. उनकी भाषिक संरचना ही समकालीन अनुभव के विरुद्ध पड़ जाती है और गहराती स्थितियों को ऊपर से ही गुज़र जाने देती है.

चिथड़े-चिथड़े यथार्थ!

सामान्यतः किसी विशेष तंत्र को आधार बनाकर लिखे गये अनेक उपन्यासों में भावात्मक ऊष्णता और वैचारिक दृष्टि का सही परिप्रेक्ष्य में उभरना कला की प्रभविष्णुता के लिए आवश्यक होता है. **हृदयेश के सफेद घोड़ा काला सवार, योगेश गुप्त के उनका फैसला, अशोक अग्रवाल के वायदा माफ गवाह, निरुपमा सेवती के बंटता हुआ आदमी, हिमांशु जोशी के समय साक्षी है** और **बदीउज्ज़मा के छठा तंत्र** आदि उपन्यासों में जिस 'व्यवस्था-अंग' को कथा का केंद्र बनाया गया है, उसकी अभिव्यक्ति अत्यंत समर्थ शैली में संवेदना की व्यापकता के साथ की है. इन रचनाओं में यथार्थ चिथड़े-चिथड़े होकर आता है और लेखकीय दृष्टि, उस यथार्थ का सर्जनात्मक उपयोग न केवल मनुष्य की अस्मिता रक्षा की संघर्षशीलता में करती है, बल्कि एक मूल्य गर्भित संकेत करती हुई पाठक की सोच को एक दिशा देने का रचनात्मक दायित्व भी वहन करती है. यह दृष्टि 'रिहर्सल' में नहीं उभरी.

रीना के संघर्ष के रास्ते में हनुमान की गर्हित मांग, सेक्रेटरी वकील साहब का वासनात्मक प्रदर्शन—समाज के दुष्ट लोगों के मुखौटे तो उभारता है किंतु रीना की मूल्यवता का सर्जनात्मक उपयोग उपन्यास में क्या है? पाठक इससे वंचित रह जाता है. लेखक न तो अविनाश की सच्चाई और सज्जनता का सर्जनात्मक उपयोग कर पाया, न रीना की मूल्यवता का. उसकी सारी कथा का निचोड़ यह निकला—अविनाश का स्थानांतरण हो गया. घर में जो जुए का खेल प्रारंभ हुआ था, उस खेल ने खेल ही खेल में राखाल बाबू को जेल भेज दिया और सारी योग्यताओं में वरिष्ठ होकर भी रीना रेडियो स्टेशन में नौकरी नहीं पा सकी."—और अंत में रीना की मृत्यु एक हल्का त्रासद प्रभाव तो अवश्य छोड़ती है लेकिन पाठक की संघर्षशील वृत्ति को, संघर्ष को आगे बढ़ाने का न तो कोई वैचारिक बिंदु दे पाती है, न भाव गत ऊष्मा.

छोटी-छोटी कहानियों का समूह

जगदीशचंद्र पांडेय के उपन्यास **धरती और नींव** में निश्चित रूप से ऐसा कुछ नहीं है जिससे इसको समकालीन अनुभव की टकराहट की कृति कहा जा सके. पांडेय जी ने, हो सकता है अपने जीवनानुभव से या मात्र कल्पना से अशरफ जैसे उदार पैसे वाले चरित्र की सृष्टि की है. उपन्यास का संपूर्ण कथानक एक केंद्र से आगे बढ़ता है कि 'मैं' खान साहब के सेक्शन में स्थानांतरित हो कर आया है और उसने वहां पर खान साहब के विचित्र चरित्र से परिचय पाया. खान साहब के विषय में जानने के लिए बढ़ी उत्सुकता के कारण वह उनके निवास की ओर जाता है. इसके पूर्व वह अपने दफ्तर में एक तो खान साहब के कारनामों से चमत्कृत हो चुका है, दूसरे अपने साथियों से खान साहब की उदारता के विषय में जानकर सश्रद्ध भाव से और अधिक जानकारी के लिए उत्सुक होता है. और लगता है कि उपन्यास एक स्वतंत्र कथा नहीं अपितु कई छोटी-छोटी कहानियों का समूह है जिन्हें एक पात्र खान साहब से जोड़ देने के कारण एक जगह एकत्रित होने का अवसर मिल गया है. इस कथाक्रम में मुख्य रूप से सबसे पहले सक्सेना साहब अपनी कथा सुनाते हैं. और फिर अशरफ के परिवार में आये परिवर्तन को रेखांकित करते हैं. इसके बाद यह सिलसिला शुरू हो जाता है, तो दीप्ति, प्रोफेसर शेखर, चपरासी या माली डाकू, खजांची, खान साहब की मां और अंत में उनके पिता अलग-अलग तरीके से खान साहब के विषय में बताते हैं. पिता तो एक दार्शनिक की तरह यह भी कह देते हैं—"बेटा, यदि तुम इस बात को जान सको तो हमें भी बताना!"

खान साहब की कृपा से...

'धरती और नींव' के रचनाकार की दृष्टि एक ऐसे उदारवादी, सुधारवादी पात्र को प्रस्तुत करना था, जो धनी हो और मानवतावादी दृष्टि से व्यवहार करे—अतः समकालीन जीवन के संघर्ष को वह अपनी रचनात्मक भावाकुलता का आधार नहीं बना पाया. सारी छोटी-छोटी कहानियां क्योंकि सूचना रूप में या वर्णन के रूप में आती हैं अतः वे भी बीत चुकी होने के कारण कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़तीं. इस उपन्यास की शैली भी इसके थोड़े बहुत प्रभाव की संभावना को समाप्त कर देती है. प्रस्तुत रचना में अभावग्रस्त मनुष्य की अनेक पीड़ायुक्त स्थितियां आती हैं किंतु पाठक उन्हें स्थिति के रूप में न पाकर पीछे बीती हुई घटना के रूप में जानता है और वह भी तब, जब सब कुछ ठीक हो जाता है—खान साहब की कृपा से!

इस आदर्श स्थिति को रचनात्मक अनुभव बनाने के लिए जिस कलात्मक संयोजन की जरूरत होती है, इस रचना में उस संयोजन से परिचय नहीं हो पाता.

समग्रतः आलोच्य उपन्यास विभिन्न दृष्टियों से जीवन को परखते हैं. किंतु औपन्यासिक कलात्मक गरिमा में कहीं न कहीं भारी चूक होने के कारण रचनात्मक प्रासंगिकता खो देते हैं. केवल अभिमन्यु अनत का 'कुहासे का दायरा' ही प्रासंगिक रह पाता है. □

चर्चित पुस्तकें

कुहासे का दायरा
● अभिमन्यु अनत
मूल्य : 12 रुपये

रिहर्सल
● हिमांशु श्रीवास्तव
मूल्य : 15 रुपये
प्रकाशक : राजपाल एंड संस, दिल्ली-6.

धरती और नींव
● जगदीशचंद्र पांडेय
मूल्य : 18 रुपये
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली-2

बस अगला ही अंक

मंटो विशेषांक

मई : अंक-दो

मोहन राकेश, दुष्यंतकुमार, यशपाल, तॉलस्तोय और रेणु सरीखे कवि-कथा मनीषियों की संपूर्ण रचनाधर्मिता के संदर्भ में प्रकाशित विशेषांकों की गौरवशाली परंपरा के तहत अब एक और भेंट—मंटो विशेषांक!

▣

"मैंने जो रेडियो नाटक लिखे हैं, वे रोटी के मसले की पैदावार हैं. दाद इस बात की चाहता हूं कि मेरे दिमाग ने मेरे पेट में घुसकर ऐसे हास्य-नाटक लिखे हैं, जो दूसरों को हंसाते रहे हैं, पर मेरे होठों पर हल्की-सी मुस्कराहट भी पैदा नहीं कर सके...!"

▣ देख कबीरा रोया :

मंटो के छोटे छोटे राजनीतिक व्यंग्य

▣ हास्य एकांकी :

आओ कहानी लिखें और खुदकशी.

▣ संस्मरण :

- **तुम साहित्य के विदेश मंत्री और हम गृहमंत्री हैं! —अहमद नदीम कासमी के संस्मरण.**
- **मंटो मामू की मौत! —मंटो के अंतिम दिनों की जानकारी उनके भांजे हामिद जलाल की कलम से.**
- **आपने क्या फैसला किया?—** मंटो की ही एक कहानी के संदर्भ में मंटो और एक संपादक के बीच हुई बातचीत का ब्यौरा.
- **मंटो की बातें :** समकालीन कथाकारों पर मंटो द्वारा उछाले गये हंसी के छींटे! —प्रस्तोता : सुरजीत

—अक्खड़ मगर सच्चाइयों से लबरेज़ कहानीकार मंटो की बेरहम तथ्यपरक कहानियां— **खोल दो, शरीफन, नया कानून, खुशिया, कौमें, काली सलवार और फूलों की साजि**

▣ मील का पत्थर :

प्रख्यात कथाकार उपेंद्रनाथ अश्क द्वारा प्रस्तुत कसौटी पर मंटो की सर्वोत्तम कहानी—मंत्र

▣ ललित लेख :

- **मैं कहानीकार नहीं, जेबकतरा हूं!**
- **अदब या तो अदब होता है, वरना एक बहुत बड़ी बेअदबी!**
- **अफसाना-निगार और जिंसी मसाइल!**
- **पंडित जवाहरलाल नेहरू के नाम : पंडित मंटो का पहला खत!**

परिचर्चा :

मंटो उर्दू अदब का मसीहा या शैतान

उर्दू के धुरंधर विद्वानों की बातचीत—
प्रस्तोता : **कमलकिशोर गोयनका**

अन्य स्थायी स्तंभ भी

अपनी प्रति आज ही सुरक्षित करवाइये

'मम्मी !
मैं ३ महीने का हो चुका हूँ !'

लिंटास-GLF. 65-2114 HI

KESAVARDHINI

विवाह संयोग नहीं!

सुनियोजित समाधान...
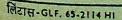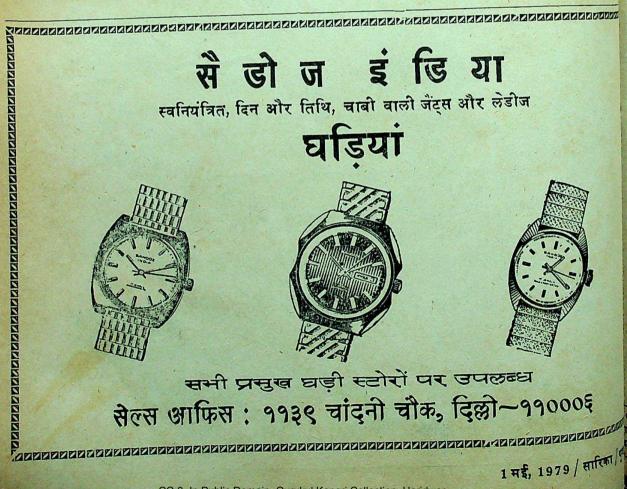
विवाह। आपके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण फैसला। आपके सुखी जीवन का स्थाई आधार। जन्म पत्री के मिलने से जीवन साथी तो मिल सकता है परन्तु उससे अधिक ज़रूरी है उन लोगों से सम्पर्क करना जिनमें से आप उचित चुनाव कर सकें।

क्या आप सब कुछ संयोग पर छोड़ देंगे? या सूझ बूझ से समस्या का समाधान करेंगे?

टाइम्स ऑफ इंडिया, दिल्ली में दिये गये वैवाहिक विज्ञापन उत्तर प्रदेश, दिल्ली, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, हरियाना, राजस्थान, बिहार, मध्य प्रदेश तथा अन्य क्षेत्रों के लगभग १,६०,००० कुलीन तथा खुशहाल परिवारों में पढ़े जाते हैं। इन पाठकों की संख्या ८ लाख से भी अधिक है।

इन परिवारों की भी एक चिंता है। अपनी लड़की, अथवा अपने लड़के, के लिये सुयोग्य जीवन साथी ढूंढने की।

आइये और अपनी चिंता हमारे हवाले कीजिये।

टाइम्स ऑफ इंडिया, दिल्ली के माध्यम से लाखों परिवारों के सुख की नींव पड़ी है। कोई भी अखबार इतने संपन्न परिवारों तक आपको नहीं पहुंचा सकता।

वर्गीकृत वैवाहिक विज्ञापन आप:

- हमारे कार्यालय में स्वयं आकर दे सकते हैं,
- डाक द्वारा भेज सकते हैं, अथवा
- टेलीफोन पर बुक कर सकते हैं। (यह सुविधा केवल दिल्ली, शाहदरा, बल्लभगढ़, फरीदाबाद तथा गाज़ियाबाद के वर्गीकृत विज्ञापनदाताओं के लिये उपलब्ध है।)
- फोन: २७३५८०, २७०१६१ एक्सटेन्शन-२२७।

आप किसी भी भाषा में अपना विज्ञापन भेजें, अंग्रेजी में अनुवाद हम करेंगे। यह सेवा निःशुल्क है।

सुखी जीवन विवाह से शुरू होता है, सुखी विवाह टाइम्स ऑफ इंडिया से!

Happiness begins with marriage
Happy marriages begin with the
TIMES OF INDIA

टाइम्स ऑफ इंडिया, दिल्ली
वर्गीकृत विज्ञापन विभाग
७, बहादुरशाह ज़फ़र मार्ग, नई दिल्ली-११० ००२
फोन: २७३५८०, २७०१६१ एक्सटेन्शन २२७

टाइम्स ऑफ इंडिया, दिल्ली में वैवाहिक विज्ञापन दीजिये, अपने सुखी भविष्य से नाता जोड़िये।

Headstart TOI/7918

...कोलमैन ऐंड कंपनी लिमिटेड, स्वत्वाधिकारी के लिए रमेशचन्द्र द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 से मुद्रित व प्रकाशित. जनरल मैनेजर: ...म तरनेजा. पंजीकृत कार्यालय: डा. दादाभाई नौरोजी रोड, बंबई-400001. शाखाएँ: 7, बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली-110002; 139, आश्रम रोड, ...बाद-380009; 105/7ए, एस. एन. बनर्जी रोड, कलकत्ता-700014. कार्यालय: 13/1, गवर्नमेंट प्लेस ईस्ट, कलकत्ता-700069; 15, मोंटियथ रोड, ...-600008; 407-1, तीरथ भवन, क्वार्टर गेट, पुणे-411002; 26, स्टेशन एप्रोच, सडबरी, वेंबले, मिडिलसेक्स, लंदन, यू. के., लंदन टेलीफोन: 01-903-9696.

पंजीयत सं. D-(C)-779
पूर्व शुल्क के बिना डाक में डालने
की अनुमति–लाइसेंस सं. U-89

पाक्षिक
सारिका
मई : अंक-2
मंटो विशेषांक
1.50

chic-modithread शिक-मोदीथ्रेड
एम्ब्रॉयडरी, झालर-काम, बुनाई, क्रोशिया या दस्तकारी जाननेवाला कोई भी विजयी हो सकता है!
"नीडलवर्क प्रतियोगिता"
1½ लाख रुपयों से भी अधिक कीमत के पुरस्कार जीतिए!
भाग लेना आसान! जीतना आसान!
TCI Sita Holiday की मज़ेदार सैर!
लाजवाब शानदार राष्ट्रीय पुरस्कार
सर्वश्रेष्ठ अखिल भारतीय प्रविष्टि को शिक-मोदीथ्रेड नीडलवर्क क्वीन ट्रॉफी दी जाएगी। इसके अलावा TCI Sita द्वारा आयोजित सभी खर्चों सहित पूरे अमेरिका की 21 दिवसीय सैर का मज़ा भी मुफ़्त में—जिसका खर्च 16,500 रुपये है.
प्रवेश मुफ़्त! कैसे भाग लें:
आपको सिर्फ़ पक्के रंग के रंगीन मोदी धागों से एम्ब्रॉयडरी, बुनाई, क्रोशिया, झालर-काम या दस्तकारी करनी है. कम से कम २० से.मी. × २० से.मी. आकार का कोई भी आकर्षक नमूना तैयार कीजिए. आप चाहे जिस वर्ग का नमूना भेजें, हर प्रविष्टि को सफाई, रंगों के मेल और डिज़ाइन की सुन्दरता के आधार पर परखा जाएगा. पूर्ण विवरण, नियम और प्रतियोगिता के प्रवेश कूपन, समस्त मोदी धागों के विक्रेताओं, मोदी धागों की क्राफ्ट शॉप, मोदी धागों के डिपो और वितरकों के यहाँ तो मिलेंगे ही. साथ ही शिक पत्रिका के मार्च, अप्रैल, मई, जून, जुलाई और अगस्त १९७९ के अंकों में भी मिल जाएंगे. प्रत्येक प्रविष्टि के साथ इस्तेमाल किए गये धागों का लेबल और छपा हुआ प्रतियोगिता प्रवेश कूपन होना आवश्यक है.
जीतने के कई अवसर!
आपको जीतने के अधिक अवसर देने के लिए इस प्रतियोगिता को देश के १० क्षेत्रों में बाँट दिया गया है. हर क्षेत्र के लिए ८० पुरस्कार हैं. यानी कुल मिलाकर ८०० पुरस्कार और एक शानदार राष्ट्रीय पुरस्कार. जिसका चुनाव १० क्षेत्रों की प्रथम पुरस्कार प्राप्त प्रविष्टियों में से किया जाएगा.
८०१ पुरस्कारों में से कोई भी जीतिए!
(आपके क्षेत्र में ८० पुरस्कार)
दस प्रथम पुरस्कार ZENITH 165 लीटर रेफ्रिजरेटर.
दस द्वितीय पुरस्कार Oberoi Hotels की ओर से पति-पत्नी के लिए दस ५-दिवसीय छुट्टियों का आयोजन— उनके काठमाडू, गोआ, कश्मीर, दार्जिलिंग, शिमला और गोपालपुर-ऑन सी स्थित आरामदायक होटलों में.
दस तृतीय पुरस्कार modifloor विश्व कोटि के मशीन से बने कालीन.
दस चतुर्थ पुरस्कार MERRITT सिलाई की मशीन.
दस पाँचवें पुरस्कार किचन वेयर सेट. हर एक की कीमत १,००० रुपये.
साथ ही
modicotton के १५० सराहना पुरस्कार. सलवार-कमीज़ खुद ही बनाइये. हर एक की कीमत ६५ रुपये.
५०० प्रोत्साहन पुरस्कार— शिक पब्लिकेशन्स की ओर से प्रत्येक ४० रुपये कीमत के पुरस्कार.
१०० बोनस पुरस्कार— ब्राउन एण्ड पोलसन और के उत्पादक कॉर्न प्रॉडक्ट्स की ओर से प्रत्येक २५ रुपये कीमत के उपहार.
जल्दी कीजिए! प्रतियोगिता की अन्तिम तिथि ३१ अगस्त '७९.
शिक के ग्राहक बनें
वार्षिक चन्दे में २० रुपया बचाइये. न्यूज़स्टॉलों में १२ अंकों की कीमत— ६० रुपये, वार्षिक चन्दा— ४० रुपये. दो वर्ष के लिए— ७५ रुपये।
कृपया अपने पोस्टल ऑर्डर, ड्राफ्ट, मनी ऑर्डर शिक पब्लिकेशन के हित में बम्बई में देय होने के लिए बनायें।
To subscribe, mail this to
CHIC PUBLICATIONS.
89. Bhulabhai Desai Road, Bombay 400036
OR VIJAY STORES
231, Dr. D.N. Rd., Commissariat Bldg.,
Fort, Bombay 400001.
Name
Address:
Enclosed Postal Order for Rs.
for years subscription from
chic- सृजनात्मक, मनोरंजक फैशन पत्रिका
अपनी प्रविष्टि अपने क्षेत्र के मोदीथ्रेड डिपो में भेजें. पते की जानकारी के लिए नियम व शर्तें पढ़ें.
प्रथम शिक-मोदीथ्रेड बच्चों की कसीदाकारी प्रतियोगिता के लिए बच्चों की पत्रिकाएँ देखें.

अब-आप अपने बिलों का भुगतान अपने "फिक्स्ड डिपॉज़िट" पर हर माह मिलने वाले ब्याज से कर सकते हैं.

बैंक ऑफ़ बडौदा के मन्थली इनकम प्लान में शामिल हो जाइए.

आपको हर महीने बच्चों के स्कूलों की फीस, घर का किराया तथा बिजली, टेलीफोन और अन्य मासिक बिलों का भुगतान करना होता है. पूरी सुविधा और विश्वास के साथ इन खर्चों को पूरा कर सकने में बैंक ऑफ़ बड़ौदा आपकी मदद करता है. हमारे "मन्थली इनकम प्लान" के अंतर्गत 500 रु. या उससे अधिक रकम 1 वर्ष से 10 वर्ष तक की अवधि के लिए जमा कीजिए. और उसपर प्राप्त ब्याज आपको हर महीने नियमित रुप से मिलता रहेगा जिससे आप अपने आवश्यक खर्चों को पूरा कर सकें.

या फिर आप हमारे "रेग्यूलर इनकम प्लान" मे सम्मिलित हो जाइये और हर तीन महीने बाद ब्याज पाइये.

अधिक जानकारी के लिए बैंक ऑफ़ बड़ौदा को नजदीकी शाखा में पधारिये.

बैंक ऑफ़ बड़ौदा

(भारत सरकार उपक्रम)

भारत और विदेशों— बहामा, बेल्जियम, फिजी द्वीप समूह, गयाना, केन्या, मारीशस, सीशल्स, ओमन सल्तनत, संयुक्त अरब अमिरात, यू. के. और यू. एस. ए. में — 1350 से भी अधिक शाखाओं का विस्तृत जाल.

Imageads-BOB-53

आवरण :
पारदर्शी : विमल सक्सेना, रेखाचित्र : पाली

मंटो विशेषांक

कहानियों और कथा-जगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष : १६; अंक २४३;
१६ से ३१ मई, १६७६

संपादक :
कन्हैयालाल नंदन
मुख्य उप-संपादक :
अवधनारायण मुद्गल
उप-संपादक :
रमेश बत्तरा, सुरेश उनियाल
आवरण सज्जा : रवि शर्मा

मंटो की कहानियां

मंटो का विचार-जगत

मील का पत्थर

हास्य एकांकी

विशेष

अन्य आकर्षण

लिजलिजेपन की परिधि से बाहर

अप्रैल अंक: एक देखा. रेणुजी की दुनिया का स्पष्ट चित्र सारिका के पृष्ठों पर उतारने की बधाई स्वीकारें. रेणुजी ने साहित्यिक लिजलिजेपन की परिधि से बाहर, साहित्य धर्म को जीते हुए समय सापेक्षता का परिचय दिया. ठूंठ हुए साहित्यिकों की बात मैं नहीं कह सकता, लेकिन युवा पीढ़ी रेणुजी के जीवन-मूल्यों को आत्मसात् करेगी, ऐसा विश्वास है.

▣ **गणेश गंभीर, बस्ती (उ. प्र.)**

कलम के सिपाही

आप स्वर्गीय लेखकों का जो स्मृति अंक प्रकाशित करते हैं वह सर्वदा संग्रहणीय ही होता है. अभी अप्रैल प्रथम का रेणु-स्मृति अंक भी उसी परंपरा का एक प्रयास है. लेखक की रचनाओं के सिवा पाठकों को लेखकों के व्यक्तिगत जीवन को भी जानने और समझने की अभिलाषा होती है. इसकी पूर्ति इसी तरह का स्मृति अंक करता है और उन दिवंगत साहित्यकारों के प्रति एक जो नैतिक कर्तव्य होता है, इसके माध्यम से वह भी पूरा हो जाता है. नहीं तो भला इस देश में किसे इतनी फुरसत है, जो इन कलम के सिपाहियों के प्रति दो क्षण भी जाया करे.

▣ **राजदीप गुप्ता, बर्नपुर, बर्दमान, वेस्ट बंगाल.**

साध अधूरी रह गयी

सारिका का रेणु स्मृति अंक खरीदा. आज भी मुझे उन दिनों की याद आती है जब रेणुजी पटना में कॉफी हाउस में बैठे रहते थे और मैं उन्हें तब तक देखता रहता था जब तक वह उठकर चले नहीं जाते थे. अनेक बार उनको वहां बैठे देखा लेकिन चाहकर भी कभी बात न कर सका. और उस समय मेरी साध अधूरी रह गयी जब पटना में उनका उपचार चल रहा था और एक दिन समाचार पत्र में यह प्रकाशित हुआ कि उनको रक्त की आवश्यकता है. समाचार पढ़ने के पश्चात निश्चय किया कि कल चलकर उनके डॉक्टर से मिलूंगा. शायद मेरा रक्त उनके काम आ जाये. लेकिन यह मेरा दुर्भाग्य ही था कि कल कभी नहीं आया. उसके पहले ही रेणुजी इस दुनि[या] छोड़ चुके थे. मैं उनकी कोई सेवा [न कर] सका, इसका अफसोस आज त[क है.]

▣ **राजेंद्र "परदेशी", भोजपुर (बि[हार])**

दाल भात में मूसलचंद

रेणु स्मृति अंक में सामग्री [अच्छी] मिली. रेणु का बहुत बड़ा [...] संसार है. लतिका रेणु की त[...] नहीं है. इसके बाद इसी अंक [में] कुमार भ्रमर का ताकि [...]

लफड़ा-दर-लफड़ा

सारिका का रेणु स्मृति अंक देखा. उनकी कहानी लफड़ा और मरीना गे[स्ट] हाउस में उनके प्रवास को लेकर जो लेख लिखा गया, वह बकवास [है.] रेणु मरीना गेस्ट हाउस में कभी नहीं ठहरे.

रेणु की पहली बंबई यात्रा के दौरान ही मैं उनका परिचित बन गया [था.] वे तब पार्वती सदन में ठहरे थे. दूसरी और तीसरी यात्रा के दौरान वे एव[र]ग्रीन गेस्ट हाउस में ठहराये गये. एवरग्रीन की जगह आज गुरू होटल खड़ा [है.]

मरीना गेस्ट हाउस में मैं करीब दस महीने के लिए टिका था. वहां [के] लफड़े मैं उन्हें सुनाया करता था—मैं स्वयं भी लफड़बाज रहा हूं. लेकिन लफड़ा कहानी में जो कुछ बयान किया गया वह सब कुछ सच नहीं है, ना ही मैडम की आदतें वैसी हैं जैसा उन्हें पेश किया गया है.

स्मृति अंक में जयप्रकाश बाबू ने भी बहुत कुछ लिखा है. उन्हें इस [...] की जानकारी है कि **मैला आंचल** पर फिल्म बन रही है और उपन्यास की आत्मा के साथ न्याय नहीं किया जा रहा है. जयप्रकाश बाबू का यह ब[यान] पहले माधुरी में भी छपवाया जा चुका है. मैं कहता हूं, ऐसा करके जयप्रकाश [बाबू] ने फिल्म के निर्माता के साथ न्याय नहीं किया.

सच यह है कि आज के दिन जो निर्माता और खासकर वह निर्माता [जिस]की फिल्म वित्त निगम से कुछ लेना-देना न हो, अगर किसी साहित्यिक कृति [पर] फिल्म बना रहा हो, वह पूजनीय है. साहित्यिक कृतियों से लाभ की आ[शा] सरकारी सहायता के बिना पूरी नहीं हो सकती.

मैला आंचल की आत्मा के साथ न्याय नहीं हो रहा, यह अभी से [कोई] भी बाहरी आदमी नहीं बता सकता. फिल्म अभी गर्भावस्था में है और [उसे] सही रूप देने में निर्माता और निर्देशक ने कोई कसर नहीं उठा रखी है. अ[गर] मैं इस फिल्म का निर्माता होता (मैंने एक अच्छी फिल्म बनायी है और [एक] अच्छी फिल्म बना रहा हूं) तो सैकड़ों आदमियों का हुजूम लेकर दो-दो [बार] फारबिसगंज, जिला पूर्णिया हर्गिज नहीं जाता. रेणुजी ने अपने जीवनकाल में [कई] बार फिल्म की पटकथा सुनी थी. वे पटकथा से संतुष्ट थे. फिल्म के नि[र्माता] मुंशी और निर्देशक कोई बड़ी हस्ती नहीं है. निर्देशन के क्षेत्र में नवेंदु [घोष] का यह पहला प्रयास है. कोई अनुमान नहीं लगा सकता कि जयप्रकाश बा[बू के] बयान से ये दोनों किस तरह आहत हुए हैं!

▣ **दीनानाथ शास्त्री, सांताक्रूज, बंबई.**

(जब मैं मैडम से मरीना में मिलने गया था तब स्वयं मैडम ने तथा मरी[ना की] ही अन्य सदस्यों ने रेणुजी के यहां ठहरने के बारे में बताया था. टैक्सी [वाली] घटना भी स्वयं मैडम ने ही बतायी थी और उसी घटना का जिक्र [...] कहानी में है.

अ. ना. मु[...]

दाल-मात में मूसलचंद जैसा ही लगा.

जरिया-नजरिया में आपने लिखा है कि साहित्यकार को समाज का, प्रशासन का असहयोग मिलता है. यह सही है—कोई अगर किसी से अपेक्षा रखता है तो उसे भी बदले में—लेकिन कालजयी साहित्यकार इस अपेक्षाओं के लिए तो जीता नहीं है—वह संघर्ष करता है अपने साहित्य के लिए—और यही साहित्य उसके पाठकों का होता है—उसके आस-पास के लोगों का होता है. साहित्य जो पाठकों के करीब होता है—उसे पढ़ने में पाठकों ने कभी असहयोग नहीं किया है और न करेगा. इस संदर्भ में लतिका रेणु का वक्तव्य—जो शीर्ष में प्रकाशित है—संगतियुक्त है.

फिर भी स्मृति अंक सराहनीय है.

▣ **प्रसून लतांत, जमशेदपुर (बिहार)**

गायन-दोष

सारिका का अप्रैल अंक–1 देखा. श्री रामधारीसिंह दिवाकर लिखित "चल, उधर गाड़ी की तरफ. मुड़-मुड़कर क्या देखता है?" के अंतर्गत एक भारी गलती हो गयी है. मैं समझता हूं यह रेणुजी की गलती नहीं, लेखक (जिनकी स्मृति शायद धोखा दे गयी हो) की गलती है. रेणुजी के अनुसार रसूलनबाई के ठुमरी गायन में एक खास बात यह थी कि उनका स्वर एक खास आरोह पर पहुंचकर थोड़ा फट जाता था. स्वर की यह विकृति गायन-दोष माना जाता है, उनका आकर्षण था.

यह स्वर फटने की बात रसूलनबाई के गायन में नहीं होता था, बल्कि यह दोष और आकर्षण बेग़म अख़्तर के गायन में था. बेग़म अख़्तर की आवाज टीप पर जाकर क्रेक करती थी. पर यह विकृति बेग़म अख़्तर के गायन की मुख्य आकर्षण मानी जाती थी.

▣ **गजेंद्र नारायण सिंह, पटना**

पात्रों के प्रति जुड़ाव

रेणु स्मृति अंक के कुछ अंश बहुत ही पसंद आये—मसलन **रेणु के पात्रों का यथार्थ** (अमरेंद्र मिश्र) के प्रस्तुतिकरण से जहां लेखक का अपने पात्रों के प्रति जुड़ाव परिलक्षित होता है वहीं पाठकों को प्रमाणिक सामग्री देने की आपकी उत्कट इच्छा भी.

▣ **नरेंद्र निर्मोही, चंडीगढ़**

सिपाहियों की साजिश

रेणु सिर्फ आंचलिक साहित्य के मसीहा ही नहीं थे, बल्कि 'सिपाहियान व्यक्तित्व' के स्वामी भी थे.

एक सज्जन एक दिन बोले, "रेणु का मकान कुर्क तो होगा ही. कर्ज खाओगे, बिल नहीं चुकाओगे तो तुम्हें छोड़ क्यों दिया जायेगा! इसलिए कि तुम लेखक हो! तुम्हें कहा किसने था कि तुम लेखक बनो ?" उनकी इस अनर्गल दलील का चाहे कोई जवाब न हो, पर इससे जो मानसिकता प्रतिबिंबित होती है उससे सचमुच बौद्धिक नपुंसकता पर किसी शक की गुंजाइश नहीं रह जाती. काश! वो समझ पाते कि "रिश्ते सिर्फ खून के ही नहीं होते, विचार और संस्कृति के भी होते हैं. . . . ." (**जरिया-नजरिया, फरवरी : 2**)

बहरहाल "संपूर्ण क्रांति" के आह्वानकर्ता की मृत्यु समय की सबसे बड़ी क्रूरता थी, परंतु संपूर्ण क्रांति के सिपाहियों की साजिश कहीं ज्यादा तकलीफदेह है.

▣ **अवधेश, राजेंद्र, रूद्रपुर (नैनीताल)**

चार की चाल

रेणु : कुछ अनजानी-अजनबी बातें—अच्छी छानबीन है. जन्म-4.3 1921–4 महत्वपूर्ण अंक है. सारिका का स्मृति अंक 1-4-1979—1+4+1+9+7+9=31=4. इसे भी जो दें. 4 के अंक में स्मृति अंक का प्रकाशन भी यही सिद्ध करता है.

▣ **गीता पुष्प शा, पटना**

रेणु और नेपाली साहित्य

सारिका अप्रैल अंक:1 हाल में मिलते ही पढ़ने बैठ गया और एक ही बैठक में सारी रेणु साहित्यिक सामग्री चाट डाली. मगर फिर मुझे कुछ चैन नहीं लगा. जहां रेणु-प्रसंग आता है वहीं नेपाली जन-जीवन से भी उन्हें जोड़ना चाहिए था. चाहे राजनीति हो चाहे साहित्य, आखिर वह दोनों विषय में रेणु नेपाली जनता के आत्मीय अनुज थे.

रेणुजी का नेपाली साहित्य से अति निकट का संपर्क था. वह श्री वि. पि. की कथा हिंदी में प्रस्तुत करते थे. वि. पि. का बहुचर्चित उपन्यास **नरेंद्रदाई** का भी अनुवाद किया था. वह प्रसिद्ध उपन्यासकार तारणी बाबू के तो लंगोटिया यार थे जो अक्सर फुर्सत के समय में मिलते रहते थे. इन दोनों के बीच नेपाली और हिंदी साहित्य के बारे में चर्चा-परिचर्चा होती रहती थी. सारिका की रेणु स्मृति बटोरने के लिए नेपाल की संपूर्ण संघर्षशील लेखकों की ओर से अपने मन-मंदिर के लेखक रेणु को हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पण करता हूं.

▣ **गिरिराज आचार्य, धरान (नेपाल)**

हम मृत्यु हो जाने पर ही क्यों चौंकते हैं ?

रेणु स्मृति अंक निकालकर सारिका ने एक साहित्यकार के लिये 'बहुत कुछ' कर दिखाया है. रेणु, उजाले का रथ उस समय थामकर आये थे, जब लोगों पर 'उजाले' का नाम लेने की पाबंदी थी और अंधेरे कोनों में दुबके अंधेरे से घबराये लोग किसी 'रेणु' की प्रतीक्षा कर रहे थे.

उजाला फैल गया, पर वह रथ हांकने वाला आज नहीं है. उसने रथ पर सवारी तबकी थी जबकि रथ आग के गोले-सा तप रहा था और तलवे जल रहे थे. शायद रेणु को उसी रथ ने झुलसा दिया था और आज यदि हम उन्हें भूलने की तनिक भी भूल करते हैं तो यह हमारा दोगलापन है. निसंदेह सारिका का यह अंक उनकी स्मृति अक्षुण बनाये रखने में भरपूर सहायता करेगा.

पर कभी-कभी यह विडंबना कचोटती है कि हमें, चाहे मुंशी प्रेमचंद हों या निराला, मुक्तिबोध हों या राधाकृष्ण, रेणु हों या दुष्यंत, सभी की स्मृति मरणोपरांत ही सताती है. जब तक वे होते हैं—अभाव, पीड़ा, उपेक्षा की धरती पर ही अपनी सांसों की फसल उगाते रहते हैं और हम उनके कार्यकलापों को दूर खड़े हो किसी अजूबे की तरह तकते रहते हैं और मृत्यु होने पर हम ऐसे चौंकते हैं मानो कोई स्वप्न भंग हुआ हो.

▣ **अर्जुन पंजाबी, मनासा, मंदसौर, (म.प्र.)**

"नैतिकता मुझे मदद नहीं करती. मैं पैदाइशी अधिकार-विरोधी हूं. मैं उनमें हूं जो कानून के लिए नहीं पैदा होते, बल्कि अपवाद होते हैं. मेरे ख़्याल में किसी का किया कोई काम गलत नहीं होता, बल्कि गलत यह होता है कि कोई क्या बनता है?

यह ठीक है कि व्यक्ति को कई बार बुरे काम के साथ-साथ अच्छे काम के लिए भी दंडित किया जाता है, पर ऐसा होना भी चाहिए, क्योंकि यह बुरे और अच्छे दोनों का बोध कराता है और किसी एक के प्रति पूर्वाग्रह को खत्म करता है. और तब अगर मैं अपने कैदी रह चुकने के लिए शर्मिंदा महसूस नहीं करता तो मुझे सोचने, घूमने और जीने के लिये मुक्त होना चाहिए. . ." (आस्कर वाइल्ड के 'आउट ऑफ द डेप्थ्स' से)

▣

आस्कर वाइल्ड का यह कथन, "मुझे सोचने, घूमने और जीने के लिए मुक्त होना चाहिए. . ." व्यक्तिगत रूप में सही हो सकता है, लेकिन जब तक यह सामाजिक संदर्भों में सही नहीं होता तब तक विशेष महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता. यही स्थिति —"नैतिकता मुझे मदद नहीं करती" की भी है. नैतिकता किसी की मदद नहीं कर सकती और सबकी मदद कर सकती है—यह मदद करना या न करना इस बात पर निर्भर करता है कि इंसानियत के हित में और समाज के हित में उस नैतिकता की भूमिका और मूल्य क्या हैं?

साहित्य में नैतिकता-अनैतिकता और श्लील-अश्लील के सवाल अक्सर उठते रहे हैं, लेकिन इनके संबंध में एक मत होकर कुछ भी नहीं कहा जा सका और न कहा जा सकता है.

मई के पहले अंक में मैंने

मंटो और नये नैतिक मूल्यों की पक्षधरता

'ये खूनी रात के मंजर' शी
सत्ता, कानून और समा
नैतिकता का सवाल उठा
सारिका का यह अंक ए
शख़्सियत से संबंध रखता है
लेखन पर अक्सर अनैतिक
अश्लीलता के आरोप ल
हैं. जब-जब आदमी के
औरत की संवेदनाओं को
मानवीय संवेदनाओं से अल
कर देखा है, उसे अश्ली
वर्जित करार दे दिया है
सही है कि वर्जनाएं हमेशा
आयी हैं और आज भी हैं
आज आदमी की सोच
खुली हुई, व्यापक और
कामी है. आज समाज में
को वह दर्जा हासिल हो
जो मंटो के ज़माने में न
उस वक्त औरत की प
मंटो के लिए भारी जोखि
साहस का काम था. वह
मंटो ने पुरुष समाज के
विद्रोह की आवाज बुलंद
उस समय तरक्कीपसंद
ने भी मंटो की भर्त्सना की
वह भर्त्सना भले ही प्र
से रही हो, भले ही घुमा-फि
या गोलमोल ढंग से की

▣

विभाजन के समय
यिकता और कौमी सोच ने
आदमी ने आदमी की ह
इंसानियत को इंसानी
नहलाया और इंसानी
ठुकराकर अपने ही
हमजोलियों और दोस्
लाशों के ढेर पर बैठकर
सेकीं—क्या वह सब
और अश्लील नहीं था
ने इस घिनौने और
घटनाचक्र को सही और
संवेदनाएं दी थीं. मानव
और संवेदनाओं को
उन्हें अर्थवाही शब्द दे
भी दृष्टि से अनैतिक और
नहीं हो सकता. आज

दिन ये घटनाचक्र दोहराये जाते हैं और इनमें सबसे ज़्यादा जलालत भोगनी पड़ती है औरत को. वह औरत चाहे किसी भी धर्म या संप्रदाय की क्यों न हो, शारीरिक और मानसिक संरचना के हिसाब से सबसे पहले औरत ही होती है. कानूनी तौर पर भीड़ को और समूचे जन समुदाय को सज़ा नहीं दी जा सकती, लेकिन उस कुकृत्य पर पर्दा डालकर नये कुकृत्यों को पैदा होने का मौका भी नहीं दिया जाना चाहिए. और ऐसे मौके को रोकने की कोशिश करना हर विचारशील और रचनाधर्मी का कर्तव्य हो जाता है. इस दृष्टि से भी मंटो की रचनाओं पर अनैतिकता का आरोप लगाना बेमानी हो जाता है. हमें आज भी मंटो की रचनाएं उतनी ही सशक्त, ताज़ा और सार्थक लगती हैं जितनी वे उस समय थीं. कालजयी रचनाओं का महत्व सार्वभौम और सार्वकालिक होता है.

▣

'अनैतिक' और 'अश्लील' शब्द हमारे बौद्धिक संकुचन और सांस्कृतिक वर्जनाओं के कारण अधिक मुखर हो उठते हैं. इनका सही आकलन इनके इस्तेमाल के प्रभाव को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए. सामाजिक हित-अहित, न्याय-अन्याय को ही इसकी कसौटी बनाया जाना चाहिए. कोई रचना जब सीधे सामाजिक स्थितियों से सही सामाजिक न्याय की आकांक्षा के साथ जुड़ती है तो वह बावजूद सामाजिक विकृतियों के उद्घाटन के महत्वपूर्ण हो उठती है. दरअसल उसके महत्व को समझा और स्वीकारा जाना चाहिए. यदि हम अपने आप में यह समझ और स्वीकार का साहस पैदा कर लें तो उस समय सापेक्ष नैतिकता-अनैतिकता का सही स्वरूप और अर्थ अपने आप उजागर हो जायेगा.

यह ज़रूरी नहीं, किसी एक व्यक्ति की नैतिकता पूरे समाज की नैतिकता हो या किसी खास वर्ग और समाज की नैतिकता पूरे देश की नैतिकता बन जाये. लेकिन यह ज़रूरी है कि किसी एक व्यक्ति की अनैतिकता को पूरे समाज और देश की अनैतिकता नहीं बनने दिया जाना चाहिए. यदि ज़हर का इंजेक्शन किसी की ज़िंदगी छीनने के लिए दिया जाता है तो वह बुरा है, अनैतिक है और यदि उससे किसी दूसरे ज़हर की शक्ति नष्ट करके किसी ज़िंदगी को बचाया जा सकता है तो वह निश्चय ही अच्छा और नतिक है. वहां ज़हर अमृत का काम करता है. लक्ष्य की प्रामाणिकता ही नैतिकता और अनैतिकता की प्रामाणिकता है.

परंपराएं टूटती हैं, रूढ़ियां टूटती हैं, बंधे-बंधाये जीवन-मूल्य टूटते हैं और उन्हीं के साथ जन्म लेती हैं नयी मान्यताएं, नये जीवन-मूल्य और नये सोच की अवधारणाएं. ये सारी चीज़ें मिलकर नयी नैतिकता को जन्म देती हैं. मतलब यह है कि वक्त के साथ नैतिकता-अनैतिकता के अर्थ, परिदृश्य और परिकल्पनाएं बदल जाती हैं और इस गैप को भरती है नयी परंपरा और नयी रूढ़ि बनने की प्रक्रिया.

▣

नैतिकता-अनैतिकता के साथ ही जुड़ा हुआ सवाल है—श्लील-अश्लील का. इस सवाल की ऐतिहासिकता, पारिभाषिकता तथा अन्य पहलुओं पर अगले अंक में विचार किया जायेगा, यहां मैं सिर्फ मंटो विशेषांक को ही ध्यान में रखकर कुछ बातें कहना चाहता हूं, क्योंकि मंटो ने इन शब्दों की मार को बहुत झेला है. मंटो ने आदमी की नियति को समझा है और उसमें साझेदारी की है. नियति की साझेदारी सीधे अपने वक्त के आदमी के साथ जुड़ती है और आदमी के साथ जुड़ना ही, सही रचनाधर्मिता की पहली और महत्वपूर्ण शर्त है. मंटो ने इस शर्त को बखूबी निबाहा है और इस निर्वाह के लिए खासा खामियाजा भी भुगता है. अश्लीलता के नाम पर मंटो की 'काली सलवार', 'बू' 'नंगी आवाज़ें', 'ठंडा गोश्त', 'खुशिया' आदि कहानियों को जमकर दुत्कारा गया, इन्हें लेकर मुकदमे चले. मंटो ने किसी भी नज़रिये से इन्हें अश्लील स्वीकार नहीं किया. 'काली सलवार' और 'खुशिया' हमने इस अंक में शरीक की है. हम अन्य कहानियां भी शरीक करना चाहते थे, ताकि हमारे सुधी पाठक स्वयं ही श्लील-अश्लील का निर्णय कर सकें, लेकिन स्थानाभाव तथा रचनात्मकता-वैचारिकता के प्रतिनिधित्व का संतुलन बनाये रखने के कारण उन्हें शरीक नहीं कर सके. सही बात तो यह है कि मन और सोच की स्थितियां ही सही-गलत स्थितियों को जन्म देती हैं. दर्शक, श्रोता और पाठक अपनी संवेदनाओं की तीव्रता के अनुसार दृश्य, श्रव्य और पठ्य से जुड़ते हैं और उनसे तदनुरूप अर्थ ग्रहण करते हैं. जिस तरह अपने मन की करुणा का प्रतिफल न हम बाहर महसूसते हैं उसी तरह अपनी आंतरिक अश्लीलता का प्रतिफल न भी हम बाहर ढूंढ़ते, देखते और महसूसते हैं. मंटो या कोई भी रचनाधर्मी इसी प्रतिफलन की प्रक्रिया का शिकार होता है.

बहरहाल, हम यह अंक मंटो की जीवंतता, उसकी यादों और उसकी संघर्ष-क्षमता को समर्पित कर रहे हैं. इन महत्वपूर्ण सवालों पर अगले अंकों में भी विस्तार से विचार करेंगे. □

रहमदिल - दहशतपसंद

पैदाइश: 11 मई, 1912 इंतकाल: 18 जनवरी, 1

७८६

कत्बा

यहां सआदत हसन मंटो दफ़न है. उसके सी
फ़ने-अफसाना-निगारी के सारे असरार व रमोज़ द
यह अब भी मनों मिट्टी के नीचे सोच रहा है कि व
अफसाना-निगार है या खुदा!

▣ सआदत हसन मंटो
18 अगस्त, 1954

अपनी कब्र पर खुदा यह कत्बा मौत से कुछ माह पहले खुद मंटो ने ही लिखा और उसके बाद ज्यादा दिन नहीं

मंटो विशेष

▣ सआदत हसन

मंटो : कहानी कहने की अदा—मैं कहानीकार नहीं, जेबकतरा हूं
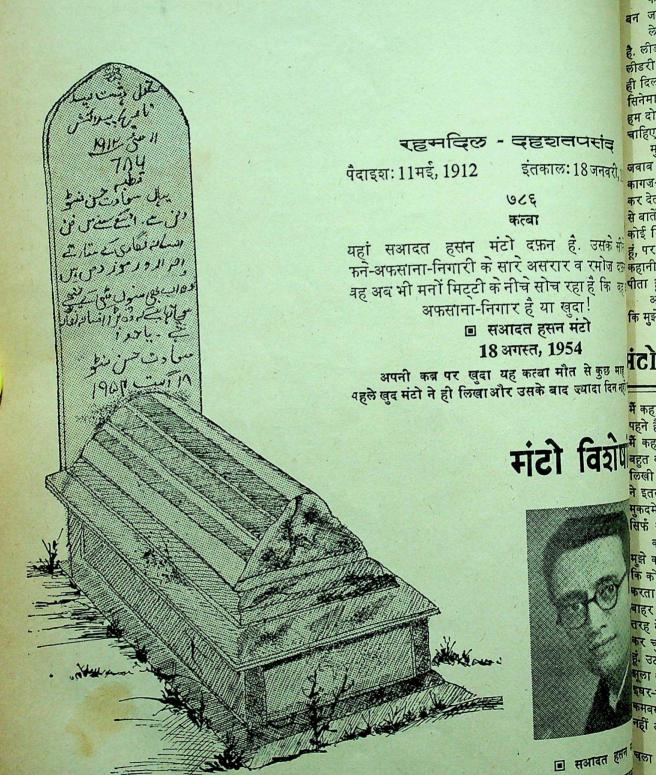
मेरी ज़िंदगी में तीन बड़ी घटनाएं घटी हैं. पहली मेरे जन्म की. दूसरी मेरी शादी की और तीसरी मेरे कहानीकार बन जाने की.

लेखक के तौर पर राजनीति में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है. लीडरों और दवाफरोशों को मैं एक ही नज़र से देखता हूं. लीडरी और दवाफरोशी दोनों पेशे हैं. राजनीति से मुझे उतनी ही दिलचस्पी है, जितनी गांधीजी को सिनेमा से थी. गांधीजी सिनेमा नहीं देखते थे, और मैं अखबार नहीं पढ़ता. दरअसल हम दोनों गलती करते हैं. गांधीजी को फिल्में ज़रूर देखनी चाहिए थीं, और मुझे अखबार ज़रूर पढ़ने चाहिए.

मुझसे पूछा जाता है कि मैं कहानी कैसे लिखता हूं. इसके जवाब में मैं कहूंगा कि अपने कमरे में सोफे पर बैठ जाता हूं, कागज़-कलम लेता हूं और 'बिस्मिल्ला' कहकर कहानी शुरू कर देता हूं. मेरी तीनों बेटियां शोर मचा रही होती हैं. मैं उन से बातें भी करता हूं. उनके लड़ाई-झगड़े का फैसला भी करता हूं. कोई मिलने वाला आ जाये, तो उसकी खातिरदारी भी करता हूं, पर कहानी भी लिखता रहता हूं. सच पूछिए तो मैं वैसे ही कहानी लिखता हूं, जैसे खाना खाता हूं, नहाता हूं, सिगरेट पीता हूं और झक मारता हूं.

अगर पूछा जाये कि मैं कहानी क्यों लिखता हूं, तो कहूंगा कि मुझे शराब की तरह कहानी लिखने की भी लत पड़ गयी है. मैं कहानी न लिखूं, तो मुझे ऐसा लगता है कि मैंने कपड़े नहीं पहने हैं या गुसल नहीं किया है या शराब नहीं पी है. दरअसल मैं कहानी नहीं लिखता हूं, बल्कि कहानी मुझे लिखती है. मैं बहुत कम पढ़ा-लिखा आदमी हूं. वैसे तो मैंने दो दर्जन किताबें लिखी हैं, पर कई बार मुझे हैरानी होती कि यह कौन है, जिसने इतनी अच्छी कहानियां लिखी हैं और जिस पर आये दिन मुकदमे चलते रहते हैं. जब कलम मेरे हाथ में न हो, तो मैं सिर्फ सआदत हसन होता हूं!

कहानी मेरे दिमाग में नहीं, मेरी जेब में होती है, जिसकी मुझे कोई खबर नहीं होती. मैं अपने दिमाग पर ज़ोर देता हूं कि कोई कहानी निकल आये. कहानी लिखने की बहुत कोशिश करता हूं. सिगरेट पर सिगरेट फूंकता हूं, पर कहानी दिमाग से बाहर नहीं निकलती. आखिर थक-हारकर बांझ औरत की तरह लेट जाता हूं. अनलिखी कहानी की कीमत पेशगी वसूल कर चुका हूं, इसलिए बड़ी झुंझलाहट होती है. करवट बदलता हूं. उठकर अपनी चिड़ियों को दाने डालता हूं. बच्चियों को झूला झुलाता हूं. घर का कूड़ा-करकट साफ़ करता हूं, घर में इधर-उधर बिखरे नन्हें-मुन्ने जूते उठाकर एक जगह रखता हूं, पर कमबख्त कहानी जो मेरी जेब में पड़ी होती है, मेरे दिमाग में नहीं आती और मैं तिलमिलाता रहता हूं.

जब बहुत ही ज़्यादा कोफ़्त होती है, तो गुसलखाने में चला जाता हूं, पर वहां से भी कुछ मिलता नहीं. सुना है कि हर बड़ा आदमी गुसलखाने में सोचता है. मुझे अपने तजुर्बे से पता लगा है कि मैं बड़ा आदमी नहीं हूं, क्योंकि गुसलखाने में जाकर सोच नहीं सकता हूं, पर हैरानी है कि फिर भी मैं हिंदुस्तान और पाकिस्तान का बहुत बड़ा कहानीकार हूं. इस बारे में मैं यही कह सकता हूं कि या तो मेरे आलोचकों को खुशफहमी है या फिर मैं उनकी आंखों में धूल झोंक रहा हूं.

ऐसे मौकों पर, जब कहानी नहीं ही लिखी जाती, तो कभी यह होता है कि मेरी बीवी मुझसे कहती है, "आप सोचिए नहीं, कलम उठाइये और लिखना शुरू कर दीजिए!" मैं उसके कहने पर कलम उठा कर लिखना शुरू कर देता हूं. उस समय दिमाग बिल्कुल खाली होता है, पर जेब भरी हुई होती है. तब अपने आप ही कोई कहानी उछलकर बाहर आ जाती है. इस नुक्ते से मैं खुद को कहानीकार नहीं, बल्कि जेबकतरा समझता हूं, जो अपनी जेब खुद काटता है और लोगों के हवाले कर देता है.

मैंने रेडियो के लिए जो नाटक लिखे, वे रोटी के उस मसले की पैदावार हैं, जो हर लेखक के सामने उस समय तक रहता है, जब तक वह पूरी तरह मानसिक तौर पर अपाहिज न हो जाये. मैं भूखा था, इसलिए मैंने यह नाटक लिखे. दाद इस बात की चाहता हूं कि मेरे दिमाग ने मेरे पेट में घुसकर ऐसे हास्य-नाटक लिखे हैं, जो दूसरों को हंसाते हैं, पर मेरे होंठों पर हलकी-सी मुस्कराहट भी पैदा नहीं कर सके.

रोटी और कला का रिश्ता कुछ अजीब-सा लगता है, पर क्या किया जाये! खुदावंदताला को यही मंज़ूर है. यह गलत है कि खुदा हर चीज़ से खुद को निर्लिप्त रखता है और उसको किसी चीज़ की भूख नहीं है. दरअसल उसे भक्ति चाहिए और भक्ति बड़ी नर्म और नाज़ुक रोटी है, बल्कि चुपड़ी हुई रोटी है, जिस से ईश्वर अपना पेट भरता है. सआदत हसन मंटो लिखता है, क्योंकि वह ईश्वर जितना कहानीकार और कवि नहीं है. उसे रोटी की खातिर लिखना पड़ता है.

मैं जानता हूं कि मेरी शख्सियत बहुत बड़ी है और उर्दू साहित्य में मेरा बहुत बड़ा नाम है. अगर यह खुशफहमी न हो तो ज़िंदगी और भी मुश्किल बन जाये. पर मेरे लिए यह एक तल्ख हकीकत है कि अपने मुल्क में, जिसे पाकिस्तान कहते हैं, मैं अपना सही स्थान ढूंढ नहीं पाया हूं. यही वजह है कि मेरी रूह बेचैन रहती है. मैं कभी पागलखाने में और कभी अस्पताल में होता हूं.

मुझसे पूछा जाता है कि मैं शराब से अपना पीछा क्यों नहीं छुड़ा लेता? मैं अपनी ज़िंदगी का तीन-चौथाई हिस्सा बदपरहेज़ियों की भेंट चढ़ा चुका हूं. अब तो यह हालत है कि परहेज़ शब्द ही मेरे लिए डिक्शनरी से गायब हो गया है.

मैं समझता हूं कि ज़िंदगी अगर परहेज़ से गुज़ारी जाये, तो एक कैद है. अगर वह बदपरहेज़ियों में गुज़ारी जाये, तो भी एक कैद है. किसी न किसी तरह हमें इस जुर्राब के धागे का एक सिरा पकड़कर उसे उधेड़ते जाना है और बस! □
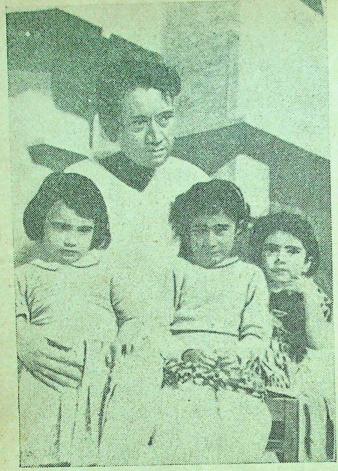
मंटो और उनकी तीन बेटियां—निगहत, नज़हत और नुसरत

मील का पत्थर

'मंत्र'

सीधी-सरल और उत्कृष्ट कहानी

प्रस्तुति : उपेंद्रनाथ अश्क

मेरी यह पुरानी आदत है कि अपना लिखते-लिखते मैं दूसरों की रचनाएं पढ़ता रहता हूं. किसी नये लेखक की अथवा किसी पुराने की लेखक की नयी पुस्तक मेज पर होती है तो उसे पढ़ता हूं, वरना रैक से कोई पुरानी पसंदीदा पुस्तक उठा लाता हूं और पहले से पढ़ी हुई रचनाओं को फिर पढ़ने लगता हूं. मैंने यह हमेशा देखा है कि पुरानी उत्कृष्ट रचनाओं को दोबारा-सहबारा पढ़ने में उतना ही और कई बार उससे ज़्यादा रस मिलता है, जो पहली बार पढ़ने पर मिला होता है, क्योंकि तब रचना का कोई ऐसा नुक्ता, कोण अथवा आयाम सामने आ जाता है, जिस पर पहली बार नज़र नहीं गयी होती.

जहां तक उर्दू कथाकारों का संबंध

मंटो की कहानियां :

है—बेदी, बलवंत सिंह और चुगताई के साथ मंटो मेरे कथाकार हैं. न जाने उनकी रचनाएं मैंने कितनी बार पढ़ी यह मानने में ज़रा भी संकोच मैंने हमेशा उनमें नया रस मंटो आमतौर पर दो कहानियों के लिए प्रसिद्ध हैं: (1) कहानियां, जिनमें सेक्स के किसी सूक्ष्म पहलू का उद्घाटन है, वाद-विवाद का कारण बनीं, कहलायीं और जिनके खिलाफ चले (2) ऐसी कहानियां, समाज अथवा व्यवस्था के भयंकर क्रोध और विक्षोभ है.

पहली तरह की कहानियों में 'धुआं', 'ब्लाउज़', 'काली 'बू', 'नंगी आवाज़ें', और 'ठंडा के नाम लिये जा सकते हैं. और तरह की कहानियों में 'टोबा टे 'टिथवाल का कुत्ता,' 'नया 'शहीद साज़', 'हतक', 'स्वराज्य 'ममी', 'खोल दो', 'नारा' आदि

लेकिन मंटो ने और भी तरह की कहानियां लिखी हैं-

तीसरी तरह की कहानियां जिनमें न तो कथाकथित है, न समाज तथा व्यवस्था किसी तरह का ग़मो-गुस्सा! चरित्र के विभिन्न पक्षों का करने वाली बहुत ही कला लेकिन उत्कृष्ट रचनाएं हैं. 'बा नाथ,' 'मंत्र', 'मैडम डिकास्टा', शील', 'डरपोक' और 'खुदकु ही कहानियां हैं.

मंटो ने चौथी तरह की कहानियां लिखी हैं, इनसे के स्वभाव की कमज़ोरियों, उनके ग़मो-गुस्से, उनके द्वंद्व और उनके दृष्टिकोण उनके शब्दों में, पता मिलता खत' और 'दो गड्ढे' इस उल्लेखनीय हैं.

पांचवीं तरह की कहानियां यहां ऐसी मिलती हैं, जिन्हें 'अफ़सांचे' और हिंदी में 'लघु

कहा जायेगा. ये कहानियां रूसी कथाकार सलोगव की शैली में लिखी गयी हैं और उसी की कहानियों की तरह यदि गंभीरता का पहलू न लिए हुए हों तो चुटकुले कहला सकती हैं. मंटो के कुछ विरोधी आलोचकों ने यह नाम देते हुए उनका मज़ाक भी उड़ाया है. ये कहानियां मंटो ने अधिकांशतः देश के विभाजन से प्रभावित होकर लिखी थीं. और ये सब उनकी पुस्तक 'स्याह हाशिए' में संकलित हुईं. इनमें 'जूता', 'हैवान', 'सहयोग', 'बंटवारा', 'सौरी', 'किस्मत' बहुत अच्छी उतरी हैं. उनमें मंटो की कला के तमाम गुण और उनके अंतर की तमाम यंत्रणा मौजूद है.

मंटो ने छठी तरह की सिर्फ एक कहानी लिखी है—फुंदने! यह ऐसी कहानी है, जैसी कि उर्दू के जदीदिए याने अपने आपको अत्याधुनिक कथाकार कहलाने वाले (बलराज मैनरा और उनके साथी) लिखते हैं. इसी लिए इस कहानी को उन्होंने परचम के तौर पर अपनी शोभायात्रा में (जो एक वृहद संकलन के रूप में निकली है) इस्तेमाल कर लिया है. वे लोग मानो कहना चाहते हैं कि मंटो की अन्य कहानियां महत्वपूर्ण नहीं, सिर्फ यही कहानी महत्वपूर्ण है. यह और बात है कि यह कहानी केवल जदीदियों के झंडे के ही काम आयेगी.

▣

अपनी जिंदगी के अंतिम दिनों में लगातार तीन हफ्तों तक, मंटो ने लाहौर के एक प्रकाशक के लिए एक बोतल शराब की कीमत पर रोज एक कहानी भी लिखी. ऐसी कहानियों की संख्या बीस है, जो 11 मई 1954 से लेकर 2 जून 1954 तक लिखी गयीं.

मैं अपने अनुभव से जानता हूं कि मंटो अपनी कहानियों पर बहुत मेहनत करते थे. उनकी कहानी 'स्वराज्य के लिए' जो उन्होंने बंबई में फिलिमस्तान की नौकरी के जमाने में लिखी और वक्त-वक्त पर मुझे सुनायी, कई महीनों में खत्म हुई थी. ज़ाहिर है, एक सिटिंग में लिखी गयी कहानियां सब की सब उच्चकोटि की नहीं हैं, लेकिन इनमें भी 'खुदकुशी' जो 25 मई 1954 को लिखी गयी और 'कमीशन' (जो कहानी नहीं नाटक है और उस सिलसिले की अंतिम रचना है), उच्चकोटि की कृतियाँ हैं. मंटो ने अपना साहित्यिक जीवन एक अनुवादक के रूप में शुरू किया. उन्होंने पहले कुछ रूसी कहानियों का अनुवाद किया, फिर विक्टर ह्यूगो के एक उपन्यास खंड का, जो 'सरगुज़श्त-ए-असीर' के नाम से 'उर्दू बुक स्टाल' लाहौर से छपा था. लेकिन जल्दी ही वे मौलिक कहानियां लिखने लगे. मैं नहीं जानता उन्होंने किन रूसी कथाकारों की कहानियों के अनुवाद किये, क्योंकि वे कहीं छप नहीं पायीं. लेकिन जब उन्होंने मौलिक कहानियां लिखनी शुरू कीं तो उन पर मा'म (समरसेट मा'म) का असर था और अपने तमाम दोस्तों को वे मा'म के अफसाने पढ़ने की सलाह देते थे. मैं यह समझता हूं कि मंटो ने चाहे कहानी लिखना तो मा'म के प्रभाव में शुरू किया, (ऊपर मैंने जिन तीसरी तरह की कहानियों का उल्लेख किया है, उन पर मा'म का प्रभाव साफ जाहिर है) लेकिन जल्दी ही उस प्रभाव से वह निकल गये. प्रगतिशील आंदोलन का जमाना था और तत्कालीन सभी कथाकारों की तरह मंटो पर भी उस आंदोलन का गहरा प्रभाव पड़ा. मंटो की कहानियों में ये दोनों प्रभाव उनकी अंतिम कहानियों तक देखे जा सकते हैं. एक तरफ ऐसी कहानियां हैं, जिनमें कोई समाजिक उद्देश्य नहीं, वे अत्यंत कलाकारिता से मानव मन के किसी अछूते पहलू का उद्घाटन करती हैं, दूसरी ओर ऐसी कहानियां हैं, जिनमें समाज या व्यवस्था के खिलाफ़ भयंकर विक्षोभ है और इनकी सोद्देश्यता असंदिग्ध है.

मुझे मंटो हमेशा मा'म से कहीं बेहतर और ऊंचे कथाकार लगे हैं, क्योंकि जहां तक मैंने मा'म को पढ़ा है, वह मानव की नियति के प्रति निरपेक्ष है—सिनिसिज्म की हद तक. वह मानव-नियति का महज़ दर्शक या चितेरा है, जबकि अपनी उत्कृष्ट कहानियों में मंटो मानव-नियति के प्रति निरपेक्ष नहीं है. वे उसमें भागीदार हैं, इन्वाल्वड हैं, उसका अंग हैं. अपनी हर ऐसी कहानी में मंटो स्वयं मौजूद हैं—'खुशिया' में खुशिया है तो 'ब्लाउज' में मोमिन, 'हतक' में सुगंधी है तो 'नंगी आवाजें' में भोलू, 'स्वराज्य के लिए' में गुलाम अली है तो 'प्रगतिशील' में जुगिंदर, 'नया कानून' में मंगू कोचवान है तो 'टोबा टेक सिंह' में पागल सिक्ख, 'बाबू गोपीनाथ' में वे बाबा गोपीनाथ हैं तो 'मंत्र' में नन्हा राम. मंटो की कहानियों में जो भी व्यक्ति सहता है—वह समाज अथवा व्यवस्था का जुल्म हो अथवा अपनी भावुकता-जनित मूर्खता का परिणाम या फिर अपनी विकृतियों (परवर्शन्ज) की मार—वह मंटो स्वयं है. वे महज़ दर्शक नहीं भोक्ता हैं. इसीलिए मा'म से प्रभावित होकर भी वे मा'म की अपेक्षा बेहतर कथाकार हैं.

▣

मैंने पहले भी किसी स्थल पर लिखा है—मंटो उतने बद नहीं थे, जितने बदनाम थे. वे बेहद भाव प्रवण लेखक थे. जब उनकी अपेक्षाकृत निरीह कहानी 'खुशिया' के खिलाफ़ किसी मजहबी पर्चे में सख्त नोट लिखा गया और उस पर अश्लीलता का इल्जाम लगाया तो उन लोगों को चिढ़ाने के लिए वे लगातार अश्लील कहानियां लिखते चले गये. जब व्यवस्था ने उनके खिलाफ़ मुकदमें चलाये तो मंटो ने उसी कलाकारिता और कटु यथार्थता से व्यवस्था के झूठ और जुल्म का पर्दाफाश किया.

मैंने मंटो की वे तथाकथित अश्लील कहानियां न सिर्फ कई बार स्वयं पढ़ी हैं, वरन् स्वयं यशपाल को भी सुनायी हैं. वे मुझसे सहमत थे कि वे भी ऐसी मानवीय संवेदना से भरी हैं, जो मन को कचोट जाती हैं. संवेदनशील पाठक को उनकी कचोट झकझोर जाती है और अश्लीलता कहीं भी नहीं छूती. 'मंत्र' मंटो की शुरु की कहानी है. बेदी की 'भोला' की तरह मैं इसे सीधी-सरल, लेकिन उच्चकोटि की कहानी मानता हूं. इसमें न किसी तरह की अश्लीलता है, न समाज अथवा व्यवस्था के खिलाफ़ क्रोध अथवा विक्षोभ. इस पर भी महज़ एक बार पढ़कर इसे भुलाना संभव नहीं.

कहानी : अगले पृष्ठ पर

नन्हा राम, नन्हा तो था,
शरारतों के लिहाज़ से बहुत
था. चेहरे से बेहद भोला-भाला लगता
कोई नक्श या रेखा ऐसी नहीं थी
शोख़ी का पता दे. उसके शरीर का
अंग भद्देपन की हद तक मोटा था.
तो लगता जैसे कि फुटबाल लुढ़क रहा
उम्र मुश्किल से आठ बरस की
पर बला का ज़हीन और चालाक
लेकिन उसकी समझ और चालाकी
पता उसके सरापे से लगाना बहुत मु
था. राम के पिता, श्री शंकराचार्य
ए., एल.-एल. बी., कहा करते थे कि
में राम-राम और बगल में छुरी
मिसाल इसी राम के लिए बनायी
है.

राम के मुंह से 'राम-राम' तो
ने सुना नहीं था, पर उसकी बग़ल में
की जगह एक छोटी-सी छड़ी ज़रूर
करती थी, जिससे वह कभी-कभी
फ़ेयर बैंक यानी 'बगदादी चोर' की
वारबाज़ी की नकल किया करता था.

जब राम की मां, यानी श्रीमती
चार्य, उसको कान से पकड़कर उसके
के सामने लायीं तो वह बिल्कुल
आंखें खुश्क थीं. उसका एक कान
उसकी मां के हाथ में था, दूसरे
बड़ा मालूम हो रहा था. वह मु
रहा था, पर उस मुस्कराहट में
भोलापन था. उसकी मां का चेहरा
में तमतमाया हुआ था, पर राम के
से पता चलता था कि वह अपने
से खेल रहा है और अपने कान
के हाथ में देकर एक खास किस्म
आनंद ले रहा है, जिसको वह दुसरों
ज़ाहिर करना नहीं चाहता.

जब राम, श्री शंकराचार्य के
लाया गया तो वे आराम-कुर्सी पर
बैठ गये कि उस नालायक के कान
हालांकि वे उसके कान खींच-खींच
काफ़ी से ज़्यादा लंबे कर चुके
उसकी शरारतों में कोई फ़र्क न
पाया था. वे अदालत में कानून के
बहुत कुछ कर लेते थे, पर यहां
छोटे-से लौंडे के सामने उनकी
न चलती थी.

एक बार श्री शंकराचार्य ने
शरारत पर उसको परमेश्वर के

राने की कोशिश की थी. उन्होंने कहा था, "देख राम, तू अच्छा लड़का बन जा, नहीं तो मुझे डर है, परमेश्वर तुझसे नाराज़ हो जायेंगे."

राम ने जवाब दिया था, "आप भी तो नाराज़ हो जाया करते हैं और मैं आपको मना लिया करता हूं." और फिर थोड़ी देर सोचने के बाद उसने यह पूछा था, "बाबूजी, ये परमेश्वर कौन हैं ?"

श्री शंकराचार्य ने उसे समझाने के लिए जवाब दिया था, "भगवान, और कौन ?....हम सबसे बड़े ?"

"इस मकान जितने ?"

"इससे भी बड़े.... देख, अब तू कोई शरारत न कीजियो, वरना वो तुझे मार डालेंगे." श्री शंकराचार्य ने अपने बेटे को डराने के लिए परमेश्वर को उससे ज्यादा डरावनी शक्ल में पेश करने के बाद सोच लिया था कि अब राम सुधर जायेगा और कोई शरारत न करेगा. राम ने, जो उस वक्त चुप बैठा, अपने दिमाग के तराजू में परमेश्वर को तौल रहा था, कुछ देर गौर करने के बाद जब भोलेपन से कहा, "बाबूजी, आप मुझे परमेश्वर दिखा दीजिए," तो शंकराचार्य महोदय की सारी कानूनदानी और वकालत धरी की धरी रह गयी थी. जब किसी मुकदमे का हवाला देना होता तो वे उसको फ़ाइल निकालकर दिखा देते या अगर कोई भारतीय दंड विधान की किसी धारा के बारे में सवाल करता तो वे अपनी मेज पर से वह मोटी किताब उठाकर खोलना शुरू कर देते, जिसकी जिल्द पर उनके उस बेटे ने चाकू से बेल-बूटे बना रखे थे, पर वे परमेश्वर को कहां से पकड़ लाते, जिसके बारे में उन्हें खुद भी अच्छी तरह मालूम नहीं था कि वह क्या है, कहां रहता है और क्या करता है !

जिस तरह उनको यह मालूम था कि धारा 379 चोरी के अपराध पर लागू होती है, उसी तरह उनको यह भी मालूम था कि मारने और पैदा करने वाले को परमेश्वर कहते हैं. और जिस तरह उनको यह मालूम नहीं था कि वह, जिसके कानून बने हुए हैं, उनकी असलियत क्या है, ठीक उसी तरह उनको ईश्वर की असलियत भी मालूम नहीं थी. वे एम. ए., एल.एल. बी. थे, पर यह डिग्री उन्होंने ऐसी उलझनों में फंसने के लिए नहीं, बल्कि पैसा कमाने के लिए हासिल की थी.

वे राम को परमेश्वर न दिखा सके और न उसको कोई माकूल जवाब ही दे सके, इसलिए कि यह सवाल ही कुछ इस तरह अचानक तौर पर किया गया था कि उनका दिमाग़ बिल्कुल खाली हो गया था. वे बस इतना कह सके थे, "जा राम, जा, मेरा दिमाग़ न चाट, मुझे बहुत काम करना है."

▣

इस वक्त भी उन्हें काम सचमुच बहुत करना था, पर वे पुरानी हारों को भूलकर फ़ौरन ही इस नये मुकदमे का फ़ैसला कर देना चाहते थे.

उन्होंने राम की तरफ़ गुस्से से भरी निगाहों से देखकर अपनी धर्मपत्नी से कहा, "आज इसने कौन-सी नयी शरारत की है?... मुझे जल्दी बताओ, मैं आज इसे डबल सज़ा दूंगा."

श्रीमती शंकराचार्य ने राम का कान छोड़ दिया और कहा, "इस मुए ने तो जीना दूभर कर रखा है. जब देखो, नाचना, थिरकना, कूदना.... न आये की शर्म, न गये का लिहाज़.... सुबह से मुझे सता रहा है. कई बार पीट चुकी हूं, पर यह अपनी शरारतों से बाज़ ही नहीं आता. रसोई घर में से दो कच्चे टमाटर निकालकर खा गया है. अब मैं सलाद में इसका सिर डालूं?"

यह सुनकर शंकराचार्य महोदय को एक धक्का-सा लगा. वे सोच रहे थे कि राम के खिलाफ़ कोई संगीन इल्ज़ाम होगा, पर यह सुनकर कि उसने रसोईघर से सिर्फ़ दो कच्चे टमाटर निकालकर खाये हैं, उन्हें घोर निराशा हुई. राम को झिड़कने और कोसने के लिए उनकी सब तैयारी सहसा ठंडी पड़ गयी. उन्हें लगा कि उनका सीना एकदम खाली हो गया है, जैसे एक बार उनके मोटर के पहिये की सारी हवा निकल गयी थी.

टमाटर खाना कोई अपराध नहीं. इसके अलावा अभी कल ही श्री शंकराचार्य के एक दोस्त थे, जो जर्मनी से डॉक्टरी की ऊंची सनद लेकर आये थे, उनसे कहा था कि अपने बच्चों को खाने के साथ कच्चे टमाटर जरूर दिया कीजिए, क्योंकि उनमें खूब विटामिन होते हैं. पर अब चूंकि वे राम को डांटने-डपटने के लिए तैयार हो गये थे और उनकी पत्नी की भी यही इच्छा थी, इसलिए उन्होंने थोड़ी देर गौर करने के बाद एक कानूनी नुक्ता निकाला और इस खोज पर मन ही मन खुश होकर अपने बेटे से कहा, "मेरे पास आ और जो कुछ मैं तुझसे पूछूं, सच-सच बता."

उनकी श्रीमती चली गयीं और राम खामोशी से अपने पिता के पास खड़ा हो गया.

शंकराचार्य जी ने पूछा, "तूने रसोई घर से दो कच्चे टमाटर निकालकर क्यों खाये ?"

राम ने जवाब दिया, "दो कहां थे ? माताजी झूठ बोलती हैं."

"तू ही बता कितने थे ?"

"डेढ़—एक और आधा." राम ने ये शब्द उंगलियों से आधे का निशान बनाकर कहे, "दूसरे आधे से माताजी ने दोपहर को चटनी बनायी थी."

"चलो डेढ़ ही सही. पर तूने ये वहां से उठाये क्यों ?"

राम ने जवाब दिया, "खाने के लिए."

"ठीक है, पर तूने चोरी की." श्री शंकराचार्य ने कानूनी नुक्ते को पेश किया.

"चोरी ! बाबूजी, मैंने चोरी नहीं की. टमाटर खाये हैं, पर यह चोरी कैसे हुई !" यह कहता हुआ वह फ़र्श पर बैठ गया और गौर से अपने बाप की तरफ़ देखने लगा.

"यह चोरी थी ! दूसरे की चीज़ को उसकी इजाज़त के बिना उठा लेना, चोरी होती है." शंकराचार्य जी ने यों अपने बच्चे को समझाया और सोचा कि वह उनका मतलब अच्छी तरह समझ गया है.

राम ने झट कहा, "पर टमाटर तो हमारे अपने थे, मेरी माताजी के."

शंकराचार्य सिटपिटा गये, पर फ़ौरन ही उन्होंने अपना मतलब स्पष्ट करने की कोशिश की, "तेरी माताजी के थे, ठीक है, पर वे तेरे तो नहीं हुए ? जो चीज़ उनकी है, वह तेरी कैसे हो सकती है? देख, मेज पर जो तेरा खिलौना पड़ा है, उठा ला. मैं तुझे अच्छी तरह समझाता हूं."

राम उठा और दौड़कर लकड़ी का

घोड़ा उठा लाया और उसे उसने अपने पिता के हाथ में दे दिया, "यह लीजिए."

शंकराचार्य बोले "हां, तो देख, यह घोड़ा तेरा है न ?"

"जी हां."

"अब अगर मैं इसे तेरी इजाज़त के बिना उठाकर अपने पास रख लूं तो यह चोरी होगी," फिर उन्होंने बात और भी स्पष्ट करने के लिए कहा, "और मैं चोर."

"नहीं बाबूजी, आप इसे अपने पास रख सकते हैं. मैं आपको चोर नहीं कहूंगा. मेरे पास खेलने के लिए हाथी जो है. क्या आपने अभी तक देखा नहीं ? कल ही मुंशी दादा ने लाकर दिया है. ठहरिए, मैं अभी आपको दिखाता हूं." यह कहकर वह तालियां बजाता हुआ दूसरे कमरे में चला गया और मिस्टर शंकराचार्य आंखें झपकते रह गये.

▣

दूसरे दिन श्री शंकराचार्य को एक खास काम से पूना जाना पड़ा. उनकी बड़ी बहन वहीं रहती थी. एक अर्से से वह छोटे राम को देखने के लिए बेचैन थी, इसलिए एक पंथ दो काज के अनुसार शंकराचार्य जी अपने बेटे को भी साथ ले गये, पर इस शर्त पर कि वह रास्ते में कोई शरारत न करेगा. नन्हा राम इस शर्त को बोरीबंदर स्टेशन तक तो निभा पाया, लेकिन उधर 'दक्खिन क्वीन' चली और इधर राम के नन्हें-से सीने में शरारतें मचलना शुरू हो गयीं.

शंकराचार्य सेकेंड क्लास कंपार्टमेंट की चौड़ी सीट पर बैठे, अपने साथ वाले मुसाफ़िर का अख़बार देख रहे थे और सीट के आखिरी हिस्से पर राम खिड़की में से बाहर झांक रहा था और हवा का दबाव देखकर, यह सोच रहा था कि अगर हवा उसे ले उड़े तो कितना मज़ा आये.

मिस्टर शंकराचार्य ने अपनी ऐनक के कोनों से राम की तरफ देखा और उसका हाथ पकड़कर नीचे बैठा दिया, "तू चैन भी लेने देगा या नहीं ! आराम से बैठ जा." यह कहते हुए उनकी नज़र राम की नयी टोपी पर पड़ी, जो उसके सिर पर चमक रही थी, "इसे उतारकर रख ले नालायक, हवा इसे उड़ा ले जायेगी."

उन्होंने राम के सिर पर से टोपी उतार कर उसकी गोद में रख दी.

पर थोड़ी देर के बाद टोपी फिर राम के सिर पर थी और वह खिड़की के बाहर सिर निकाले, दौड़ते हुए पेड़ों को ग़ौर से देख रहा था. दरख़्तों की भाग-दौड़ राम के दिमाग़ में आंख-मिचौली के दिलचस्प खेल का नक्शा खींच रही थी.

हवा के झोंके से अख़बार दोहरा हो गया और श्री शंकराचार्य ने अपने बेटे के सिर को फिर खिड़की से बाहर पाया. गुस्से में उन्होंने उसका हाथ खींचकर अपने पास बैठा लिया और कहा, "अगर तू यहां से एक इंच भी हिला तो तेरी ख़ैर नहीं." यह कहकर उन्होंने टोपी उतारकर उसकी टांगों पर रख दी.

इस काम से निपटकर, उन्होंने अख़बार उठाया और वे अभी उसमें वह पंक्ति ढूंढ़ ही रहे थे, जहां से उन्होंने पढ़ना छोड़ा था कि राम ने खिड़की के पास सरककर बाहर झांकना शुरू कर दिया. टोपी उसके सिर पर थी. यह देखकर श्री शंकराचार्य को सख़्त गुस्सा आया. उनका हाथ भूखी चील की तरह टोपी की तरफ बढ़ा और पलक-झपकते में वह उनकी सीट के नीचे थी. यह सब कुछ इतनी तेज़ी से हुआ कि राम को समझने का मौका ही न मिला. मुड़कर उसने अपने पिता की ओर देखा, पर उनके हाथ उसे खाली नज़र आये. इसी परेशानी में उसने खिड़की से बाहर झांककर देखा तो उसे रेल की पटरी पर बहुत पीछे, खाकी कागज़ का एक टुकड़ा उड़ता नज़र आया. . . . उसने सोचा कि यह मेरी टोपी है.

इस ख़्याल के आते ही उसके दिल को एक धक्का-सा लगा. पिता की ओर खेद-भरी दृष्टि से देखते हुए उसने कहा, "बाबूजी, मेरी टोपी !"

शंकराचार्य चुप रहे.

"हाय मेरी टोपी." राम की आवाज़ बुलंद हुई.

शंकराचार्य कुछ न बोले.

राम ने रोने स्वर में कहा, "मेरी टोपी!" और अपने पिता का हाथ पकड़ लिया.

श्री शंकराचार्य ने उसका हाथ झटक-कर कहा, "गिरा दी होगी तूने. अब रोता क्यों है !"

इस पर राम की आंखों
मोटे आंसू तैरने लगे.

"पर धक्का तो आप ही ने
उसने इतना कहा और रोने
शंकराचार्य जी ने ज़रा
तो राम ने और ज़्यादा रोना
दिया. उन्होंने उसे चुप कराने
कोशिश की, पर सफल न हु
रोना सिर्फ टोपी ही बंद करा
चुनांचे मिस्टर शंकराचार्य ने
उससे कहा, "टोपी वापस आ
पर शर्त यह है कि तू उसे पहने

हठात राम की आंखों में
गये, जैसे तपी हुई रेत में बारि
जज़्ब हो जायें. वह सरककर
आया, "उसे वापस लाइए."

शंकराचार्य जी ने कहा,
ही वापस आयेगी. मंत्र पढ़ना

कंपार्टमेंट में सब मुसाफ़िर
की बातें सुन रहे थे.

"मंत्र !" यह कहते हुए
एकदम वह किस्सा याद आ गया
एक लड़के ने मंत्र के द्वारा
चीज़ें गायब करनी शुरू कर
"पढ़िए बाबूजी."

यह कहकर वह खूब गौर से
पिता की ओर देखने लगा, जैसे
समय श्री शंकराचार्य के सिर
सींग उग आयेंगे.

शंकराचार्य ने उस मंत्र को
करते हुए, जो उन्होंने बचपन
इंद्रजाल' से पढ़कर कंठस्थ
कहा, "तू फिर तो शरारत नहीं

"नहीं बाबूजी." राम ने
की गहराइयों में डूब रहा था,
को शरारत न करने का वचन

शंकराचार्य महोदय को मं
याद आ गये और उन्होंने
अपनी स्मरण-शक्ति की प्रशंसा
अपने लड़के से कहा, "ले, अब
कर ले."

राम ने आंखें बंद कर लीं
चार्य जी ने मंत्र पढ़ना शुरू

'ओम् नमः कामेश्वरी,
उत्तमा दे भृंग प्रा स्वाहा.'

उनका एक हाथ सीट के
और 'स्वाहा' के साथ ही

उसकी गुदगुदी रानों पर आ गिरी.

राम ने आंखें खोल दीं. टोपी उसकी चपटी नाक के नीचे पड़ी थी और श्री शंकराचार्य की नुकीली नाक का बांसा, ऐनक की सुनहरी पकड़ के नीचे थरथरा रहा था. अदालत में मुकदमा जीतने के बाद उनका कुछ ऐसा ही हाल हुआ करता था.

"टोपी आ गयी." राम ने सिर्फ इतना कहा और चुप हो रहा और शंकराचार्य, राम को चुप बैठने का हुक्म देकर अखबार पढ़ने में तल्लीन हो गए. एक खबर काफी दिलचस्प और अखबारी जबान में बेहद 'सनसनीखेज' थी, चुनांचे मंत्र वगैरा सब कुछ भूलकर उसमें खो गये.

'दक्खिन क्वीन' बिजली के पैरों पर तेजी से उड़ रही थी. उसके पहियों की कर्कश गड़गड़ाहट, सनसनी पैदा करने वाली खबर की हर पंक्ति को शाब्दिक सहायता दे रही थी. शंकराचार्य यह पंक्ति पढ़ रहे थे :

अदालत में सन्नाटा छाया हुआ था. सिर्फ टाइपराइटर की टिक-टिक सुनाई देती थी. अभियुक्त सहसा चिल्लाया. . . 'बाबूजी !". . . .

ठीक उस समय राम ने अपने पिता को जोर से आवाज दी, "बाबूजी !" और शंकराचार्य जी को ऐसा लगा कि उस पंक्ति के अंतिम शब्द कागज पर उछल पड़े हैं.

राम के थरथराते हुए होंठ बता रहे थे कि वह कुछ कहना चाहता है.

शंकराचार्य ने जरा तेजी से कहा, "क्या है ?" और ऐनक के एक कोने से टोपी को सीट पर पड़ा देखकर, अपना इतमीनान कर लिया.

राम आगे सरक आया और कहने लगा, "बाबूजी, वही मंत्र पढ़िए."

"क्यों ?" यह कहते हुए शंकराचार्य ने राम की टोपी की तरफ़ गौर से देखा, जो सीट के कोने में पड़ी थी.

"आपके कागज, जो यहां पड़े थे, मैंने बाहर फेंक दिये हैं."

राम ने उससे आगे कुछ और भी कहा, पर शंकराचार्य महोदय की आंखों के सामने अंधेरा-सा छा गया. बिजली की-सी गति के साथ उठकर उन्होंने खिड़की में से बाहर झांककर देखा, परे रेल की पटरी के साथ, तितलियों की तरह फड़फड़ाते हुए कागज के पुर्जों के सिवा उन्हें और कुछ दिखायी न दिया.

"तूने वे कागज फेंक दिये, जो यहां पड़े थे ?" उन्होंने अपने दाहिने हाथ से सीट की तरफ़ इशारा करते हुए कहा.

राम ने स्वीकार में सिर हिला दिया, "आप वही मंत्र पढ़िए न."

शंकराचार्य महोदय को ऐसा कोई मंत्र याद न था, जो सचमुच की खोयी हुई चीजों को वापस ला सके. वे सख्त परेशान थे. वे कागजात, जो उनके बेटे ने फेंक दिये थे, एक नये मुकदमे की मिसिल थी जिसमें चालीस हजार की मालियत के कानूनी कागज़ात पड़े थे. श्री शंकराचार्य एम. ए., एल-एल. बी. की बाजी उनकी अपनी ही चाल से मात हो गयी थी. पल भर में उनके कानूनी दिमाग में कागजात के बारे में सैकड़ों विचार आये. ज़ाहिर है कि मिस्टर शंकराचार्य के मुवक्किल का नुकसान, उनका अपना नुकसान था. पर अब वे क्या कर सकते थे!

सिर्फ यह कि अगले स्टेशन पर उतरकर, रेल की पटरी के साथ-साथ चलना शुरू कर दें और दस-पंद्रह मील तक उन कागजों की तलाश में मारे-मारे फिरते रहें. मिलें न मिलें उनकी किस्मत !

क्षण भर में सैकड़ों बातें सोचने के बाद, अंत में उन्होंने अपने मन में यह फैसला कर लिया कि अगर तलाश करने पर भी कागजात न मिले तो वे मुवक्किल के सामने सिरे से ही इनकार कर देंगे कि उसने उनको कभी कागज़ात दिये थे. नैतिक और कानूनी तौर पर यह नितांत अनुचित था. लेकिन इसके अलावा और हो भी क्या सकता था!

इस संतोषप्रद विचार के बावजूद शंकराचार्य महोदय के मुंह में कड़वाहट-सी पैदा हो रही थी. सहसा उनके मन में आया कि कागज़ों की तरह, वे राम को भी उठाकर गाड़ी से बाहर फेंक दें, पर इस इच्छा को सीने में ही दबाकर उन्होंने उसकी ओर देखा.

राम के होंठों पर एक अजीबो-गरीब मुस्कराहट फैल रही थी. उसने हौले से कहा, "बाबूजी, मंत्र पढ़िए."

स्याह हाशिए

निगरानी में

● मंटो

'क' अपने दोस्त 'ख' को अपना हम-मज़हब ज़ाहिर करके उसे मुकाम पर पहुंचाने के लिए मिलिटरी के एक दस्ते के साथ रवाना हुआ. रास्ते में 'ख' ने जिसका मज़हब जान-बूझ कर बदल दिया गया था, मिलिटरी वालों से पूछा, "क्यों जनाब! आस-पास कोई वारदात तो नहीं हुई?"

जवाब मिला, "कोई खास नहीं. . . फलां महल्ले में अलबत्ता एक कुत्ता मारा गया."

सहम कर 'ख' ने पूछा, "कोई और खबर?"

जवाब मिला, "खास नहीं. . नहर में तीन कुत्तियों की लाशें मिलीं . . ."

'क' ने 'ख' की खातिर मिलिटरी वालों से कहा, "मिलिटरी कुछ इंतज़ाम नहीं करती!"

जवाब मिला, "क्यों नहीं . . . सब काम उसी की निगरानी में होता है." □

"आराम से बैठा रह, वरना याद रख, गला घोंट दूंगा." शंकराचार्य चिल्लाये.

उस मुसाफिर के होंठों पर, जो गौर से बाप-बेटे की बातें सुन रहा था, एक अर्थपूर्ण मुस्कराहट नाच रही थी.

राम आगे सरक आया, आप आंखें बंद कर लीजिए. मैं मंत्र पढ़ता हूं."

शंकराचार्य ने आंखें बंद न कीं, लेकिन राम ने मंत्र पढ़ना शुरू कर दिया :

'ओम् म्यांग श्यांग. . . लद...मदागा. . . प्रदोमा. . . स्वाहा !' और 'स्वाहा' के साथ ही मिस्टर शंकराचार्य की मांसल रानों पर कागजों का पुलिंदा आ गिरा.

उनकी नाक का बांसा ऐनक की सुनहरी पकड़ के नीचे जोर से कांपा.

राम की चपटी नाक के गोल और लाल-लाल नथुने भी कांप रहे थे. □

मंटो के
कहानी संग्रह-
चुगद-
की भूमिका

न सोचने की एक दिलचस्प मिसाल!

इस किताब का पहला एडीशन बंबई में छपा था. बंटवारे के बाद इसका पूरा मसौदा 'कुतुब पब्लिशर्स लिमिटेड' के हवाले करके मैं पाकिस्तान चला आया था. यहां से मैंने अली सरदार जाफरी को, जो उन दिनों 'कुतुब' वालों के यहां मुलाजिम थे, लिखा कि किताब जल्दी छपने की सिर्फ एक ही सूरत है कि इसका दीबाचा आप खुद ही लिख लें. आप जो कुछ लिखेंगे, मुझे मंजूर होगा.

आपने जवाब में लिखा, **"मैं बड़ी खुशी से तुम्हारी किताब पर दीबाचा लिखूंगा, हालांकि तुम्हारी किताब के लिए दीबाचे की और खसूसियत से मेरे दीबाचे की ज़रुरत नहीं हैं. तुम जानते हो कि मेरे और तुम्हारे अदबी नज़रिये में बहुत मतभेद हैं, लेकिन इसके बावजूद में तुम्हारी कद्र करता हूं और तुमसे बहुत सी आशाएं वाबस्ता किये हुए हूं."**

▣

मैंने यह खत मिलने पर जाफरी साहब से कहा, "तो ठीक है, किताब बगैर, दीबाचे के ही चलने दीजिए." लेकिन इस दौरान में मुझे उनका दूसरा खत मिला जिस से मालूम हुआ कि उन्होंने एक मुख्तसर दीबाचा लिखकर किताब में शामिल भी कर लिया है. यह दीबाचा जैसा भी है, 'चुगद' के पहले एडीशन में मौजूद है. इस एडिशन में उसको मैंने हटा दिया है. इसलिए नहीं कि खुदानख्वास्ता (खुदा न करे) मुझे जाफरी साहब से कोई ज़ाती दुश्मनी पैदा हो गयी है या मैं उनसे नफरत करने लगा हूं. दरअसल पिछले दिनों बंबई के नाम-नहाद तरक्कीपसंदों ने मेरी तहरीरों (रचनाओं) के बारे में जो बेमानी शोर बरपा किया और मुझे एकदम 'अदब-बाहर' किया, उसके पेशें-नज़र मैं मुनासिब नहीं समझता कि इस हलके का एक बहुत ही सरगर्म कारकुन मेरी रजअतपसंदी (प्रतिक्रिया-वादिता) का दुमल्ला बना रहे.

इस किताब का एक अफसाना 'बाबू गोपीनाथ' जब 'अदबे-लतीफ' में छपा तो मैं बंबई में ही रह रहा था. तमाम तरक्कीपसंद लेखकों ने उसकी बहुत तारीफ की. उसको उस साल का शाहकार अफसाना करार दिया. सरदार जाफरी, इस्मत चुगताई, कृश्नचंदर ने खसूसन बहुत सराहा. 'हल के साये' में कृश्नचंदर ने उसको खास जगह दी. यकायक खुदा जाने कैसा दौरा पड़ा, सब तरक्कीपसंद उस अफसाने की तारीफ से मुनकर हो गये. शुरू-शुरू में दबी ज़बान में उस पर तनकीद शुरू हुई. सरासर में उसको बुरा-भला कहा गया, अब भारत और पाकिस्तान के तरक्कीपसंद ममटियों पर चढ़कर अफसाने को रजअतपसंद, अश्लील, गिरा हुआ, घिनौना और गन्दा करार दे रहे हैं.

यही सुलूक मेरे अफसाने 'मेरा नाम राधा है' के साथ किया गया, हालांकि जब वह छपा था, तो तमाम तरक्की-पसंदों ने उछल-उछलकर उसकी तारीफ की थी. अली सरदार ने 'चुगद' पर दीबाचा 'सुपुर्दे-तरक्कीपसंद' किया, मुझे खत लिखा, **"दीबाचे के बारे में तुम्हारी राय मालूम करना चाहता हूं. मैंने बहुत खलूस और मुहब्बत से लिखा है. मैं तुम्हारी अफसाना-निगारी पर एक तवील (लंबा) मज़मून लिखने का इरादा कर रहा हूं. तुम्हें अब तक दकियानूसी किस्म के लोगों ने गालियां ही दी हैं. उनसे और किसी चीज़ की आशा करना भी बेकार है.**

▣

यह सतरें पढ़कर क्या जी नहीं चाहता कि उनके सब शब्द—तरक्की-पसंदों के मुंह पर दे मारे जायें और 'तरक्की-पसंदों' को ज़रे-लब मुसकराने का मौका दिया जाये. इसी खत में अली सरदार जाफरी लिखते हैं,

"तुम्हारी कहानी 'खोल दो' को इस दौर का शाहकार समझता हूं."

तरक्कीपसंदों के साथ या इस कहानी के साथ यह ट्रेजडी हुई कि यह माहनामा 'नकूश' लाहौर में छपी, जो पाकिस्तानी तरक्कीपसंदों के गुरू जनाब अहमद नदीम कासमी के संपादन में छपता था, वरना यह भी 'अदब-बाहर' कर दी जाती और मैं तरक्कीपसंदों का मुंह देखता रह जाता.

मेरी किताब 'स्याह हाशिए' तरक्कीपसंदों ने सिर्फ इसलिए नापसंद की कि उस पर दीबाचा 'हसन असकरी' का था, जिसका नाम वे 'स्याह फहरिस्तों' में दर्ज कर चुके थे. चुनांचे अली सरदार ने हस्बे मामूल बड़े खलूस और मुहब्बत के साथ मुझे लिखा, **"यहां लाहौर से मेरे पास एक खबर आयी है कि तुम्हारी नयी किताब पर हसन असकरी मुकदमा लिख रहे हैं. समझ में नहीं आ सका कि तुम्हारा और हसन असकरी का क्या साथ है. मैं हसन असकरी को बिल्कुल मखलस (सहृदय) नहीं समझता."**

तरक्कीपसंदों की 'खबर रसानी' का सिलसिला और इंतजाम काबिले-दाद है. यहां की खबरें 'खेलवाड़ी' के 'क्रेमलिन' में बड़ी सेहत से यों चुटकियों में पहुंच जाती हैं. अली सरदार को यहां से जो खबर मिली, बड़ी विश्वस्त और प्रमाणिक थी. चुनांचे नतीजा यह हुआ कि 'स्याह हाशिए' प्रेस की स्याही लगने से पहले ही 'रुसियाह' (कलंकित) करके रजअतपसंदी की टोकरी में फेंक दी गयी. हैरत है, जिस वक्त अली सरदार ने 'चुगद' पर दीबाचा लिखने के लिए कलम उठायी तो उन्होंने यह नहीं सोचा कि मंटो और मेरा क्या जोड़ है, जबकि उनके कहने के मुताबिक हमारे अदबी नज़रिये में बहुत मतभेद है, मगर मेरे तरक्कीपसंद दोस्त सोचा नहीं करते, यह उनके लिए शायद एक 'नकारात्मक क्रिया' है.

स्याह हाशिए

पेशबंदी

■ मंटो

पहली वारदात नाके के होटल के पास हुई. फौरन ही वहां एक सिपाही का पहरा लगा दिया गया.

दूसरी वारदात दूसरे ही रोज शाम को स्टोर के सामने हुई. सिपाही को पहली जगह से हटाकर दूसरी वारदात के मुकाम पर नियुक्त कर दिया गया.

तीसरा केस रात के बारह बजे लांडरी के पास हुआ.

जब इंस्पेक्टर ने सिपाही को उस नयी जगह पहरा देने का हुक्म दिया, तो उस ने कुछ देर गौर करने के बाद कहा, "मुझे वहां खड़ा कीजिये जहां नयी वारदात होने वाली है!"

■

न सोचने की एक दिलचस्प मिसाल पेश करता हूं. 'नया अदारा' का 'सवेरा,' जिस के मालिक नज़ीर चौधरी हैं, अदब की तरक्कीपसंदी तहरीक का तर्जुमा है. उसमें एक तरफ मेरा नाम 'स्याह फहरिस्तों' में शामिल कर के मुझे रजअतपसंद, मफादपरस्त, व्यक्तिवादी, लज्ज़तपसंद और फरारी करार दिया जाता है और दूसरी तरफ 'नया अदारा' मेरी एक किताब का इश्तहार इन शब्दों में देता है, **"सआदत हसन मंटो, सदाकत का आलंबरदार हैं. उसके हाथ में सच्चाई की दो-धारी तलवार है, जिसे वह हुकूमत और समाज के घने जंगल में इंतहाई बेरहमी से घुमाता है और बनावट और धोखे के परदों को चाक करता चला जाता है. उसे गालियां मिलती हैं और वह मुसकरा देता है. वह दुआओं और सज़ाओं की परवाह किये बगैर एक ऐसी राह पर गामज़न (चल रहा है) है, जिस पर सिर्फ वही चल सकता है."**

मैंने जब यह इश्तहार 'सवेरा' में पढ़ा था तो मैं मुस्कराने के बजाय खूब हंसा था. इश्तहार की 'इससे पढ़ने से बहुतों का भला होगा' वाली जुबान को छोड़िए और सोचिए कि यह तरक्कीपसंद और उनके तरक्कीपसंद प्रकाशक ज़मीर की परवाह किये बगैर क्या एक ऐसी राह पर नहीं चल रहे हैं, जिस पर सिर्फ वही चल सकते हैं. पिछले दिनों भोपाल कांफ्रेंस में इस्मत शाहिद लतीफ ने भरे मजमे में मर्दानावार अपने उन तमाम अफसानों पर लानत भेजकर उन से 'कलम-खलासी' करवा ली थी, जो तरक्कीपसंदों के धर्मकांटे पर पूरे नहीं उतरते थे.

यह तरक्कीपसंद प्रकाशक क्यों इस्मत की-सी दयानतदारी से काम नहीं लेते! उन्हें चाहिए कि स्याह फहरिस्तों रजअतपसंदों की तमाम किताबें नज़रे-आतिश (आग की भेंट) कर दें. अगर वे ऐसा करें तो मैं उन के हाथ चूम लूं.

■

आखिर में मुझे यह कहना है कि—तरक्कीपसंदी से मुझे कोई कुद नहीं, लेकिन नामनहाद तरक्कीपसंदों की उलटी-सीधी छलांगें, खलती हैं. □

खोल दो

अमृतसर से एक खास गाड़ी दोपहर दो बजे रवाना होकर आठ घंटों तक मारकाट, चीखों और कराहटों के दौर से गुजरती रफ्ता-रफ्ता मुगलपुरा स्टेशन पर जा लगी. रास्ते में सैकड़ों आदमी मारे गये, हजारों जख्मी हुए और कई जान बचाने की कोशिश में इधर-उधर भटक गये. फिर भी जो बच गये थे, खुदा का शुकर मनाते हुए रात को जहां जगह मिली टिक गये.

सुबह दस बजे, कैंप की ठंडी ज़मीन पर सिराजुद्दीन ने जब आंखें खोलीं और अपने चारों तरफ मर्दों, औरतों और बच्चों का घुमड़ता समंदर देखा, तो उसकी सोचने-समझने की पहले से ही काफी कमज़ोर पड़ चुकी ताकतें और भी कुंद हो गयीं. वह देर तक गंदलाये आसमान को टकटकी बांधे देखता रहा. कैंप में हर तरफ शोर मचा हुआ था, मगर बूढ़ा सिराजुद्दीन मानो बहरा हो चुका था. उसे कुछ सुनायी नहीं दे रहा था. कोई उसे देखता तो यही अंदाज करता कि वह किसी गहरी चिंता में डूबा है... मगर ऐसा नहीं था. उसके तो होशो-हवास ही गुम थे. उसका सारा वजूद मानो अधर में लटका हुआ था. बिना किसी इरादे के गंदलाये आसमान की तरफ देखते-देखते सिराजुद्दीन की निगाहें सूरज से जा टकरायीं. चमकीली धूप का लिश्कारा उसके रेशे-रेशे में उतर गया और वह जाग उठा. उसके जेहन में ऊपर-तले परस्पर गडमगड होती कई खौफनाक तस्वीरें खलबली मचा गयीं—लूट, आग, भागमभाग, स्टेशन, गोलियां, रात और.. सकीना!

सिराजुद्दीन सहसा उठ खड़ा हुआ और बावलों की तरह चारों तरफ बेतरतीब अथाह भीड़ को खंगालने लगा. तीन घंटे तक वह...'सकीना-सकीना' पुकारता कैंप की खाक छानता रहा मगर उसे अपनी जवान इकलौती बेटी का कहीं कोई निशान तक नहीं मिला. चारों तरफ अफरा-तफरी मची हुई थी. कोई अपना बच्चा ढूंढ रहा था, कोई मां, कोई बीवी और कोई बाप. सिराजुद्दीन थक-हारकर एक किनारे बैठ गया और दिमाग पर ज़ोर देकर सोचने लगा कि सकीना उससे कब और कहां बिछुड़ गयी थी.... लेकिन सोचते-सोचते उसका दिमाग सकीना की मां की लाश पर अटक गया, जिसकी सारी अंतड़ियां चमड़ी खोलकर बाहर निकल आयी थीं. वह मर चुकी थी. उसने सिराजुद्दीन की आंखों के सामने दम तोड़ा था. पर सकीना कहां थी, जिसके बारे में उसकी मां ने मरते हुए कहा था, "मेरी फिक्र छोड़ो और सकीना को लेकर जल्दी यहां से भाग जाओ!"

सकीना उसके साथ ही थी. दोनों मुंह उठाये नंगे पांव भागने लगे थे. भगदड़ में सकीना का दुपट्टा गिर पड़ा था. उसे उठाने के लिए वह ठिठका था तो सकीना ने चिल्लाकर कहा "अब्बाजी छोड़िये!" फिर भी ... दुपट्टा उठा ही लिया था. यह सो... सोचते उसने अपने कोट की तनिक ... हुई जेब की तरफ देखा. फिर ... हाथ डालकर एक कपड़ा नि... यह सकीना का वही दुपट्टा था... सकीना कहां रह गयी थी?

सिराजुद्दीन ने अपने थके हुए ... दिमाग पर बहुत ज़ोर डाला मगर ... तय नहीं कर पाया. वह फिर ... लगा...क्या वह सकीना को अपने ... स्टेशन तक ले आया था?...क्या ... उसके साथ ही गाड़ी में सवार थी? ... रास्ते में जब गाड़ी रोक ली गयी थी ... दंगई अंदर घुस आये थे...क्या ... बेहोश हो गया था और तब वे सकीना ... उठा ले गये...? सिराजुद्दीन के दि... में सिर्फ सवाल ही सवाल कुलबुला ... थे...जवाब कोई नहीं था.

◘

बेशक उसको हमदर्दी की जरूरत ... मगर चारों तरफ जितने भी लोग ... हुए थे उन सबको भी हमदर्दी की ज... थी. सिराजुद्दीन ने रोना चाहा ... आंखों ने इंकार कर दिया. उसके आं... जाने कहां, कौन सोख ले गया ...

छः दिन बाद उसके होशो-ह... कमोबेश दुरुस्त हुए तो वह उन लो... मिला, जो उसकी मदद कर सक...

आठ नौजवान थे. उनके पास ... भी थी, और बंदूकें भी. सिराजुद्दी... उनको लाख-लाख दुआएं दीं और ... का हुलिया बताते हुए कहा, "गोरा रं... बहुत ही खूबसूरत. . .मुझ पर ... अपनी मां पर थी. उम्र सत्रह बरस ... बड़ी-बड़ी आंखें, काले बाल, ... गाल पर मोटा-सा तिल. . .! ... इकलौती लड़की है. ढूंढ लाओ. . . तुम्हें नेकी बख्शेगा!"

उन नेक नौजवानों ने सिरा... को यकीन दिलाया कि अगर उसकी ... जिंदा हुई तो कुछ ही दिनों में वह ... पास होगी.

सभी नौजवानों ने जी तोड़ कोशिश की. वे जान हथेली पर रखकर अमृतसर भी गये. कई औरतों, मर्दों और बच्चों को मौत के मुंह से निकाल-निकालकर महफूज ठिकानों पर पहुंचाया. दस दिन बीत गये मगर वे नाकाम रहे. सकीना उन्हें कहीं न मिली !

■

एक दिन वे सकीना की तलाश में फिर से अपनी लारी पर अमृतसर जा रहे थे कि छहरटा के पास सड़क पर उन्हें एक लड़की दिखाई दी. लारी की आवाज़ सुनकर वह बदहवास-सी हुई बेतहाशा भागने लगी.

क्या माजरा है! सोचते हुए नौजवान भी लारी रोककर उसके पीछे भागने लगे. अब लड़की आगे-आगे थी और नौजवान पीछे-पीछे. लड़की भयभीत हिरनी की तरह भाग रही थी. मगर नौजवानों के हौसले बुलंद थे. उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और आखिर एक खेत में लड़की को पकड़ लिया. देखा तो बहुत खूबसूरत थी. दाहिने गाल पर मोटा-सा तिल था.

एक नौजवान ने उससे कहा, "घबराओ नहीं, क्या तुम्हारा नाम सकीना है?" लड़की का रंग और भी पीला पड़ गया. उसने कोई जवाब नहीं दिया. लेकिन जब सारे लड़कों ने उसे दम-दिलासा दिया तो उसकी बदहवासी दूर हो गयी. उसने गर्दन झुकाकर मान लिया कि उसका नाम सकीना है और वह सिराजुद्दीन की इकलौती बेटी है.

नौजवानों ने उसे दिलासा दिया. हर तरह से उसका मन बहलाया. उसे खाना खिलाया, दूध पिलाया और लारी में बिठा लिया. एक नौजवान ने अपना कोट उतारकर उसे दे दिया क्योंकि उसने दुपट्टा भी नहीं ओढ़ा हुआ था और खुली छाती लिये रहने-चलने की आदत न होने के कारण मारे संकोच के बेहद उलझन महसूस कर रही थी और बार-बार बाहों से अपने सीने को ढांपने की नाकामयाब कोशिश कर रही थी.

दिन गुजर गये. सिराजुद्दीन को सकीना की कोई खोज-खबर नहीं मिली वह दिन भर कई कैंपों और दफ्तरों के
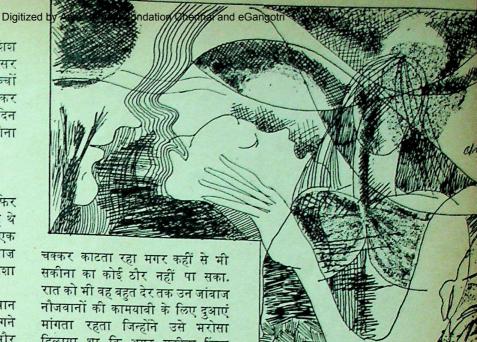
चक्कर काटता रहा मगर कहीं से भी सकीना का कोई ठौर नहीं पा सका. रात को भी वह बहुत देर तक उन जांबाज नौजवानों की कामयाबी के लिए दुआएं मांगता रहता जिन्होंने उसे भरोसा दिलाया था कि अगर सकीना जिंदा हुई तो कुछ दिनों में वह उसके पास होगी.

एक दिन सिराजुद्दीन ने कैंप में उन नौजवान कार्यकर्ताओं को देखा. वे अपनी लारी में बैठे थे. सिराजुद्दीन में जाने इतना दम कहां से आ गया कि वह भागा-भागा उनके पास जा पहुंचा. उनकी लारी चलने ही वाली थी कि उसने पूछा, "बेटा, मेरी सकीना का कुछ पता चला?"

सबने एक जवान होकर कहा, "चल जायेगा. . .जल्दी चल जायेगा!" और लारी आगे बढ़ा दी. सिराजुद्दीन ने एक बार फिर उनकी कामयाबी की दुआ मांगी और उसके मन को कुछ तसल्ली भी मिली.

■

कुछ दिन बाद कैंप में डूबते सूरज को ताकता सिराजुद्दीन जहां बैठा था, उसके नजदीक कुछ शोर-शराबा सा हुआ. उसने देखा चार आदमी किसी को उठा कर ला रहे थे. पूछताछ करने पर मालूम पड़ा कि एक लड़की रेल-पटरी के पास बेहोश पड़ी थी. लोग उसे उठाकर लाये हैं. सिराजुद्दीन को सकीना याद आ गयी. वह यंत्र-चालित-सा उनके पीछे हो लिया.

लोग उस लड़की को अस्पताल वालों के सुपुर्द करके चले गये तो भी वह कुछ देर अपने साथ हुए भयावह हादसों में बिखरता-टूटता अस्पताल के बाहर गड़े हुए लकड़ी के खंबे से सटकर खड़ा रहा और अनजानी-सी कशिश से हौले-हौले अंदर दाखिल हो गया.

वहां कमरे में कोई भी नहीं था. एक स्ट्रेचर था, जिस पर एक लाश-सी पड़ी थी. सिराजुद्दीन छोटे-छोटे कदम उठाता हुआ उसकी तरफ बढ़ा तो यकबयक कमरे में रोशनी हो गयी. सिराजुद्दीन ने लाश के पीले जर्द चेहरे पर चमकता हुआ तिल देखा और चिल्लाया, "सकीना ऽ ऽ!"

डाक्टर ने, जिसने कमरे में रोशनी की थी , सिराजुद्दीन से पूछा, "क्या है?"

सिराजुद्दीन के हलक से सिर्फ इतना निकल सका, "जी-जी. .मैं इसका. . बाप हूं. .बाप!"

डाक्टर ने स्ट्रेचर पर पड़ी हुई लाश की तरफ देखा. उसकी नब्ज टटोली और सिराजुद्दीन से कहा, "जरा खिड़की खोल दो. . !"

सकीना के मुर्दा जिस्म में हरकत हुई. . .उसने बेजान हाथों से इजारबंद खोला और सलवार नीचे सरका दी!

बूढ़ा सिराजुद्दीन खुशी से चिल्लाया, "जिंदा है. . .मेरी बेटी जिंदा है!"

डाक्टर की कंपकंपी छूट गयी. वह सिर से पैर तक पसीने से तर-बतर हो गया. □

● रूपांतर : रमेश बत्तरा

मंटो की कहानियां : तीन

जब कासिम ने अपने घर का दरवाज़ा खोला, तो उसे महसूस हो रही थी सिर्फ एक गोली की जलन, जो उसकी दाहिनी पिंडली में गड़ गयी थी, लेकिन अंदर दाखिल होकर जब उसने अपनी बीवी की लाश देखी तो उसकी आंखों में खून उतर आया. वह चाहता था कि लकड़ियां फाड़ने वाले गंडासे को उठाकर दीवानावार निकल जाये और कत्लो-गारतगरी का बाज़ार गर्म कर दे कि अचानक उसे अपनी लड़की शरीफन का ख्याल आया.

"शरीफन! शरीफन!!" उसने बुलंद आवाज़ में पुकारना शुरू किया.

सामने दालान के दोनों दरवाज़े बंद थे. कासिम ने सोचा, शायद डर के मारे वह अंदर छुप गयी होगी, चुनांचे वह उस तरफ बढ़ा और दरवाजे के साथ मुंह लगाकर कहा, "शरीफन! शरीफन!.... मैं हूं तुम्हारा बाप!" मगर अंदर से कोई जवाब न आया. कासिम ने दोनों हाथों से किवाड़ को धक्का दिया. पट खुले और वह औंधे मुंह दालान में गिर पड़ा. संभलकर जब उसने उठना चाहा, तो उसे महसूस हुआ कि वह किसी...! कासिम चीख कर उठ बैठा.

एक गज़ के फासले पर एक जवान लड़की की लाश पड़ी थी...नंगी.... बिल्कुल नंगी. एकदम कासिम का सारा वजूद हिल गया. उसकी गहराइयों से एक गगनभेदी चीख उठी, लेकिन उसके होंठ इस कदर ज़ोर से भिंचे हुए थे कि बाहर न निकल
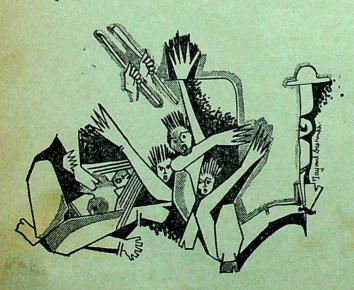
सकी. उसकी आंखें अपने आप बंद हो गयी थीं. फिर ... दोनों हाथों से अपना चेहरा ढांप लिया. मुरदा-सी आवाज़ ... मुंह से निकली, "शरीफन!" और उसने आंखें बंद किये ... में इधर-उधर हाथ मारकर कुछ कपड़े उठाये और उन्हें ... की लाश पर गिराकर, यह देखे बगैर ही बाहर निक... कि वह उससे कुछ दूर गिरे थे.

▣

बाहर निकलकर उसने अपनी बीवी की लाश न ... बहुत मुमकिन है, उसे नज़र ही न आयी हो. इसलिए कि ... आंखें शरीफन की नंगी लाश से भरी हुई थीं. उसने कोने ... हुआ लकड़ियां फाड़ने वाला गंडासा उठाया और ... बाहर निकल गया.

कासिम की दाहिनी पिंडली में गोली गड़ी हुई थी ... अहसास घर के अंदर दाखिल होते ही उसके दिलो-दिमा... लोप हो गया था. उसकी वफादार प्यारी बीवी हलाक हो ... थी. इसका सदमा भी उसके ज़ेहन के किसी कोने में मौजू... था. बार-बार उसकी आंखों के सामने एक ही तस्वीर आ... शरीफन की... नंगी शरीफन की... और वह नेज़े की अनी ... बनकर उसकी आंखों को छेदती हुई उसकी रूह में भी ... डाल देती.

गंडासा लिये कासिम सुनसान बाज़ारों में उबल... लावे की तरह बहता चला जा रहा था. चौक के पास ...

मुठभेड़ एक सिख से हुई. बड़ा कड़ियल जवान था, लेकिन ... ने कुछ ऐसे बेतुकेपन से हमला किया और ऐसा भरपूर हा... कि वह तेज़ तूफान में उखड़े हुए दरख्त की तरह ज़मीन ... रहा.

कासिम की रगों में बहता खून और ज़्यादा गर्म हो ... और बजने लगा तड़.... तड़.... तड़...जैसे जो... हुए तेल पर पानी का हल्का-सा छींटा पड़ जाये.

दूर सड़क के उस पार उसे चंद आदमी नज़र आये ... तरह वह उनकी तरफ बढ़ा. उसे देखकर उन लोगों ने ... महादेव' के नारे लगाये. कासिम ने जवाब में अपना नारा ... के बजाय उन्हें मां-बहन की मोटी-मोटी गालियां दीं और ... ताने उनमें घुस गया.

चंद मिनटों के अंदर ही तीन लाशें सड़क पर तड़प ... दूसरे भाग गये, लेकिन कासिम का गंडासा देर तक ... चलता रहा. असल में उसकी आंखें बंद थीं. गंडासा घुमा... वह एक लाश के साथ टकराया और गिर पड़ा. उस... कि शायद उसे गिरा लिया गया है, चुनांचे वह गालि... चिल्लाने लगा, "मार डालो मुझे! मार डालो...!
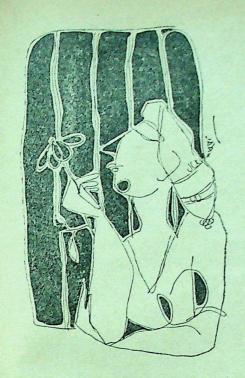
लेकिन जब कोई हाथ उसे गरदन पर महसूस न हुआ और कोई चोट उसके बदन पर न पड़ी तो उसने अपनी आंखें खोलीं और देखा कि सड़क पर तीन लाशों और उसके सिवा कोई भी नहीं था.

एक लम्हे के लिए कासिम को मायूसी हुई, क्योंकि शायद वह मर जाना चाहता था, लेकिन एकदम शरीफन. . . नंगी शरीफन की तस्वीर उसकी आंखों में पिघले हुए सीसे की तरह उतर गयी और उसके सारे वजूद को बारूद का जलता हुआ पलीता बना गयी. वह फौरन उठा. हाथ में गंडासा लिया और फिर खौलते हुए लावे की तरह सड़क पर बहने लगा.

जितने बाजार कासिम ने तय किये, सब खाली थे. एक गली में वह दाखिल हुआ, लेकिन उसमें सब मुसलमान थे. उसको बहुत कोफ्त हुई. चुनांचे उसने अपने लावे का रुख दूसरी तरफ फेर दिया. एक बाज़ार में पहुंचकर उसने अपना गंडासा ऊंचा हवा में लहराया और मां-बहन की गालियां उगलनी शुरू कीं.

लेकिन एकदम उसे बहुत ही तकलीफदेह अहसास हुआ कि अब तक वह सिर्फ मां-बहन की गालियां ही देता रहा था, चुनांचे उसने फौरन बेटी की गालियां देनी शुरू की और ऐसी जितनी गालियां उसे याद थीं, सब की सब एक ही सांस में बाहर उलट दीं. फिर भी उसकी तसल्ली न हुई. झुंझलाकर वह एक मकान की तरफ बढ़ा, जिसके दरवाजे के ऊपर हिंदी में कुछ लिखा था.

दरवाज़ा अंदर से बंद था. कासिम ने दीवानावार गंडासा चलाना शुरू किया. थोड़ी ही देर में दोनों किवाड़ रेज़ा-रेज़ा हो गये. कासिम अंदर दाखिल हुआ.

छोटा-सा घर था. कासिम ने अपने सूखे हुए हलक पर ज़ोर देकर फिर गालियां देना शुरू की, "बाहर निकलो. . . . बाहर !"

सामने दालान के दरवाजे पर चरचराहट पैदा हुई. कासिम अपने सूखे हुए हलक पर ज़ोर देकर गालियां देता रहा. दरवाज़ा खुला. एक लड़की नमूदार हुई.

कासिम के होंठ भिंच गये. उसने पूछा, "कौन हो तुम?"

लड़की ने खुश्क होंठों पर ज़बान फेरी और जवाब दिया, "हिंदू!"

कासिम तनकर खड़ा हो गया. शोलाबार (अग्नेय) आंखों से उसने लड़की की तरफ देखा, जिसकी उम्र चौदह या पंद्रह बरस की थी और हाथ से गंडासा गिरा दिया. फिर वह उकाब की तरह झपटा और उस लड़की को ढकेलकर अंदर दालान में ले गया. दोनों हाथों से उसने दीवानावार कपड़े नोंचने शुरू किये. धज्जियां और चंदियां यों उड़ने लगीं जैसे कोई रुई धुनक रहा हो.

लगभग आधा घंटा कासिम अपना इंतकाम लेने में मसरूफ रहा. लड़की ने कोई विरोध न किया. इसलिए कि वह फ़र्श पर गिरते ही बेहोश हो गयी थी.

▣

जब कासिम ने आंखें खोलीं तो उसके दोनों हाथ लड़की की गरदन में धंसे हुए थे. एक झटके के साथ उन्हें अलग करके वह उठा. पसीने में गर्क उसने एक नज़र उस लड़की की तरफ देखा, ताकि उसकी तसल्ली हो सके.

एक गज़ के फासले पर उस जवान लड़की की लाश पड़ी थी. नंगी. . . . बिल्कुल नंगी. . . कासिम की आंखें एकदम बंद हो गयीं. दोनों हाथों से उसने अपना चेहरा ढांप लिया. बदन पर गर्म-गर्म पसीना बर्फ हो गया और उसकी रगों में खौलता हुआ लावा पत्थर की तरह मुंजमिद हो गया.

थोड़ी देर के लिए एक आदमी तलवार से मसल्लह (युक्त) मकान के अंदर दाखिल हुआ. उसने देखा कि दालान में कोई शख्स बंद किये लरज़ते हाथों से फर्श पर पड़ी हुई चीज़ पर कंबल डाल रहा है. उसने गरजकर उससे पूछा, "कौन हो तुम?"

कासिम चौंका. . . . उसकी आंखें खुल गयीं, मगर उसे कुछ नज़र न आया. सशस्त्र आदमी चिल्लाया, "कासिम!"

कासिम एक बार फिर चौंका. उसने अपने से कुछ दूर खड़े आदमी को पहचानने की कोशिश की, मगर उसकी आंखों ने उसकी मदद न की.

सशस्त्र आदमी ने घबराये हुए लहजे में पूछा, "क्या कर रहे हो तुम यहां?"

कासिम ने लरज़ते हुए हाथ से फर्श पर पड़े हुए कंबल की तरफ इशारा किया और खोखली आवाज़ में सिर्फ इतना कहा, "शरीफन. . . . . !"

जल्दी से आगे बढ़कर सशस्त्र आदमी ने कंबल हटाया. नंगी लाश देखकर पहले वह कांपा, फिर एकदम उसने अपनी आंखें बंद कर लीं. तलवार उसके हाथ से गिर पड़ी. आंखों पर हाथ रखकर वह 'बिमला-बिमला' कहता लड़खड़ाते हुए कदमों से बाहर निकल गया. □

● अनुवाद : सुरजीत

मंटो ने मुझसे मुखातिब होकर कहा—

तुम साहित्य के विदेश मंत्री और हम गृह मंत्री हैं!

▫ अहमद नदीम कासमी

मेरे और मंटो मरहूम के संबंधों की कहानी अठारह बरस पर फैली हुई है और इस दौरान में मंटो ने अगर मुझे एक सतर का भी खत लिखा, तो मैंने उसे सुरक्षित कर लिया है. इसकी वजह ज़ाहिर है, मंटो की शख़्सियत से भी प्यार था और उसके फन से भी श्रद्धा थी और एक अदीब के खतूत में उसकी शख़्सियत और उसके फन की झलकियां कुछ इस तरह एकाकार होकर रह जाती हैं कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता.

1937 में अख़्तर शीरानी मरहूम के माध्यम से हमारा परिचय हुआ और चार बरस के पत्र-व्यवहार ने हमारे दरम्यान सहृदयता का एक ऐसा रिश्ता कायम कर दिया, जिसके बारे में मंटो को 1940 तक यह डर लगा रहा कि अगर कहीं हम दोनों की मुलाकात हो गयी तो यह रिश्ता टूट जायेगा. मेरी समझ में यह बात नहीं आती थी कि मंटो इस अंदाज में क्यों सोचता है! शायद मेरे खतूत से उसने ज़िंदगी और अख़्लाक के बारे में मेरे दृष्टिकोण का अंदाज़ा लगा लिया हो और उसे महसूस हुआ हो कि हम एक ही राह पर तो क्या, समानांतर राहों पर भी नहीं चल सकेंगे. यही वजह है कि जब 1940 में मंटो बंबई से दिल्ली आया और मुझे मुलतान से दिल्ली बुला भेजा तो मुझे उसके वह सभी खतूत याद आ गये, जिसमें उसने हमारी मुलाकात की खतरनाकी की आशंका ज़ाहिर की थी. मैं दिल्ली के रेलवे-स्टेशन से उतरा और तांगेवाले को अपनी 'मंजिल' का पता बताया तो वह मुस्कराने लगा. मैं समझा, यह शख़्स मेरी बड़ी-सी घेरदार शलवार और मेरे उस कोट के नज़ारे से आनंदित हो रहा है, जिसे यद्यपि पतलून पर पहनने के लिए तैयार किया गया है, लेकिन जिसे मैंने शलवार पर लटका रखा है. उन दिनों मेरी सेहत पहलवानों जैसी थी और कोचवान 'मखनचू' किस्म का आदमी था. इसलिए मैंने सोचा, संभव है, इस जिस्मानी हुलिये ने उसके फेफड़ों में हड़कंप पैदा किया हो, मगर कोचवान की मुस्कराहट का राज उस वक्त खुला, जब हम अपनी 'मंज़िल' के करीब पहुंचे.

मैं दिल्ली में पहली बार आया था. इसलिए कोचवान की दया पर था. पहले तो मुझे कुछ ऐसा महसूस हुआ जैसे यह कोचवान कोई गुंडा है और मेरे अजनबी तेवरों की शह पाकर इस बाज़ार में आ निकला है, जहां हर तरफ हारमोनियम बज रहे हैं. बिखरे बालों और लिपस्टिक से थुपे हुए होंठों [illegible] छा रही है. औरतें खिड़कियों और दरीचों में यों बैठी [illegible] नंबरदार अपनी चौपाल पर और कबड्डी के खिलाड़ी [illegible] दोस्तों के कंधों पर बैठे हैं. यहां से वहां तक खुले जबड़ों [illegible] मांदे कहकहे और पान की पीकें और मुरझाये हुए फूल [illegible] रहे हैं और कोचवान कह रहा है—'क्यों मियां! [illegible] दिल्ली में पहली बार आये हैं? यह चावड़ी है. आपने [illegible] बाज़ार जाने को कहा था न! कहां उतरियेगा?'

मंटो ने मुझे चावड़ी बाजार ही का पता लिखा था [illegible] हैरान था कि क्या पंडित कृपाराम को रिसाला 'मो[illegible] दफ्तर के लिए सारी दिल्ली में चावड़ी से बेहतर कोई [illegible] मिल सकी? लेकिन अब लोगों से उस दफ्तर का पता [illegible] झिझक महसूस हो रही थी. मैं सोचता था कि अगर कि[illegible] कह दिया कि मियां, यहां रिसालों के दफ्तर कहां. यहां [illegible] दफ्तर खुले हैं, तो मैं सिवाय झेंप जाने के और क्या कर [illegible] मैंने सोचा, खारी बावली में रिसाला 'साकी' का दफ्तर [illegible] चलते हैं. मगर अचानक 'मोवीज़' का बोर्ड नज़र आ [illegible] मैं तांगे से उतरकर अंदर चला गया.

मंटो से मेरी पहली मुलाकात

मैंने मंटो को पहचान लिया. वह रेलवे टाइम-टे[illegible] उस गाड़ी का वक्त देख रहा था, जिससे उतरकर मैं [illegible] में पहुंच चुका था. मंटो से यह मेरी पहली मुलाकात [illegible] जिस्मानी सेहत यूंही-सी थी, मगर आंखों में चमक और [illegible] सुनहरापन था. शाम को हम नयी दिल्ली के एक अ[illegible] सिनेमा-हाल की चौथी मंजिल पर लिफ्ट से पहुंच [illegible] मैंने एक मरहटा अदीब खांडेकर की फिल्मी कहानी [illegible] के संवाद और गीत लिखना शुरू किया और मंटो ने [illegible] और गीतों को टाइप करने का काम संभाल लिया. दि[illegible] यह सृजनात्मक और तकनीकी काम करते और शाम [illegible] बाज़ार में चले जाते. मंटो शराब पीता और मैं पॉ[illegible] खाता. दो-तीन दिन के बाद उसने कहा, "माफ कर[illegible] नदीम कासमी! तुम मेरी शराब के मुकाबले में [illegible] ये कतरनें खाते हुए भले नहीं लग रहे." और दूसरे [illegible] 'तनहाई' को खत्म करने के लिए शाहिद लतीफ को, जो [illegible] अलीगढ़ यूनीवर्सिटी में एम. ए. के छात्र थे, दिल्ली [illegible] और हम सिनेमा-हाल की चौथी मंजिल पर दस-[illegible] तक ठहरे.

मैं इस दौरान सोचता रहा कि आखिर मंटो मेरे [illegible] इतनी मेहनत क्यों कर रहा है? कहानी खांडेकर की है [illegible] और गीतों का मुआवज़ा मुझे मिलेगा, मगर मंटो क्यों [illegible] बैठा दर्जनों सफे टाइप कर डालता है, बल्कि अक्स[illegible] तकनीक के सिलसिले में मेरी रहनुमाई करता है और [illegible] लंबे सीन तो उसने खुद ही लिखकर टाइप कर डा[illegible] ठीक है कि वह मेरी मदद करना चाहता है, क्योंकि [illegible] है कि मुझे सब-इंस्पेक्टर आबकारी की हैसियत में [illegible] बहत्तर रुपये माहवार मिलते हैं, मगर मैं भी तो [illegible]

हूं कि मंटो बंबई के साप्ताहिक 'मसव्वर' के संपादन का पारिश्रमिक सिर्फ पचास रुपय माहवार की सूरत में हासिल करता है. फिर वह कौन-सी भावना है, जिसने मंटो को बंबई से दिल्ली लाकर उसे मेरी खातिर अंधाधुंध मुशक्कत पर मजबूर कर दिया है. ज़ाहिर है कि यह भावना उस निस्वार्थ सहृदयता की थी जो मंटो और मेरे स्वभाव में एक-सी थी. एक दूसरे से प्यार और एक दूसरे का आदर करने के सहारे हम अपनी-अपनी जिंदगी की अधिकांश सरगर्मियों में एक दूसरे का साथ न दे सके. स्वभावों की इस स्पष्ट भिन्नता के बावजूद हमारे दोस्ताना संबंध हमेशा कायम रहे. हमें एक दूसरे से शिकायत जरूर थीं और इन शिकायतों को यथासंभव प्रकट भी करते रहे, मगर हम जब भी एक दूसरे से मिले, मैल धुल गया और हम आज से सत्रह-अठारह बरस पहले के मंटो और नदीम बन गये.

कोट के कॉलर में खुदा का फूल!

मंटो से मेरी दूसरी मुलाकात उससे अगले साल हुई. वह बंबई को छोड़कर स्थायी रूप में दिल्ली आ गया था. यहां वह आल-इंडिया रेडियो में मुलाजिम था और निक्सन रोड पर किन बिल्डिंग के एक फ्लैट में रहता था. उन दिनों दिल्ली रेडियो स्टेशन में उर्दू के बहुत-से अदीब और शायर जमा थे. मौलाना चिराग हसन हसरत शायद न्यूज़ सेक्शन में थे. उनके अलावा कृष्नचंदर, मीराजी, उपेंद्रनाथ अश्क और न. म. राशद भी मौजूद थे. उर्दू शायरी के नयी प्रवृत्तियों के नुमाइंदा शायरों को रेडियो वालों ने आमंत्रित किया था. तासीर मरहूम इस महफिल के सदर थे. इस महफिल में शामिल होने वाले फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, हफ़ीज़ जालंधरी, राशद, मीराजी, मजाज़, तसदीक हुसैन, खालिद, सीमाब मरहूम, रविश सद्दीकी और सागर निज़ामी के नामों के अलावा अपना नाम याद रह गया है. मंटो का फन उन दिनों बेहद उत्कर्ष पर था. सेहत भी बुरी नहीं थी. तबीयत की शोखी और बेबाकी तो हमेशा से थी, लेकिन उन दिनों उस शख्सियत के यह पहलू भी अपनी चरम सीमा पर थे. एक दिन अचानक बोला, "आओ यार! ज़रा हफ़ीज़ साहब को छेड़ें." फिर वह भरी महफिल में हफ़ीज़ साहब के पास गया और बहुत अदब से बोला, "शाहाना-ए-इस्लाम के एक शेर के सिलसिले में आपसे पूछना है. बहुत गहरा शेर है. आपने फलसफे का कोई नुक्ता नज़्म फरमाया है. मैंने हज़ार सिर मारा. पढ़े-लिखे दोस्तों से भी मशवरा लिया, मगर वे मुझे आश्वस्त नहीं कर सके. आपका वह शेर यह है—

यह लड़का जो कि बैठा है, वह लड़की जो कि बैठी है,
यह पैगंबर का बेटा है, वह पैगंबर की बेटी है.

सारी महफिल कहकहों से गूंज उठी और हफ़ीज़ साहब भी मुस्कराकर टाल गये.

फिर एक दिन मंटो ने मौलाना चिराग हसन हसरत को छेड़ने का प्रोग्राम बनाया. मौलाना शायद मीराजी के कमरे में थे. कृश्न, अश्क और मैं मंटो के साथ उनके पास पहुंचे और मंटो ने बैठते ही अल्लामा (महाकवि) इकबाल पर बरसना शुरू कर दिया, "बांग-दरा के पहले हिस्से से आगे के इकबाल को मैं शायर के बजाय मौलाना समझता हूं. आखिर यह भी कोई शायरी है कि फलसफे के नजरियात को बगैर किसी मकसद के नज़्म करते जाओ और हर नजरिये के कोट के कॉलर में खुदा का फूल सजाते फिरो." पहले तो मौलाना हसरत साहब ने इकबाल की हिमायत में चंद-बहुत ठोस बातें कीं, मगर उन्हें मंटो के तेवरों से उसकी नीयत का जल्दी ही पता चल गया और उन्होंने ऐसी-ऐसी चुटकियां लेनी शुरू कीं कि मंटो की तजवीज के मुताबिक हम वहां से सचमुच भाग आये.

मंटो भी डरता था!

मैं चंद रोज मंटो ही के यहां रुका. मंटो के घर में मुझे सलीका, सफाई और सादगी का वह मियार नज़र आया, जो बड़े-बड़े घरों में भी महज़ कोमल रुचि के कमी के कारण गायब होता है. मंटो के लिखने वाले कमरे में सफेद चांदनी का फर्श बिछा रहता. फुट-डेढ़ फुट ऊंचे डेस्क में मंटो के मसौदे बंद होते. उतनी ही ऊंची तिपाई पर मंटो का टाइप राइटर रखा रहता. किताबें बहुत सलीके से एक लंबे सैल्फ में सजी रहतीं और गोरा-चिट्टा मंटो सफेद लिबास पहने वहां बैठा लिखता और टाइप करता नज़र आता. वह अपनी शराब की बोतल को भी उसी डेस्क के नीचे 'छुपाता' था. इसलिए कि उन दिनों मंटो की बड़ी बहन उसके यहां ठहरी हुई थीं और मंटो कहता था, "मैं अपनी बहन से डरता हूं और फिर आजकल के बच्चे इतने तेज़ हैं कि उन्हें हज़ार बार समझाया जाये कि इस बोतल में तेल भरा है,

---

ज़िंदगी के मानी : एक लंबी मौत!

परेशान हालत में अहमद नदीम कासमी को मई, 1938 को बंबई से लिखे गये मंटो के एक खत की प्रतिलिपि

17 Adelphi Chambers
Clare Road
Bombay 8

वह फटी-फटी आंखों से उसे घूरे ही जायेंगे. सो, उनसे भी छुपाना पड़ता है. रही सफिया, तो जब उसने देखा है कि मैं उसे छोड़ नहीं सकता तो उसने एक पैमाना मुकर्रर कर दिया है और उस पैमाने से मेरा जी नहीं भरता. लिहाजा, यह फ्राड करना पड़ता है."

मंटो के मकान की इस निहायत खूबसूरत सादगी से मुझे 1948 की एक और घटना याद आ गयी है. मंटो मेरे पास आया. हम ड्राइंग रूम में बैठे चंद मिनट तक बातें करते रहे कि अचानक उसने चौंककर कहा, "मालूम होता है, इस कमरे में ताजा-ताजा सफेदी हुई है." मैंने बताया कि सफेदी को बस एक हफ्ता ही गुजरा होगा. वह बोला, "तुम शायर होकर ऐसी भोंडी सफेदी को बर्दाश्त किये बैठे हो." मैंने उसे सूचना दी कि सफेदी खुद मैंने की है. इसलिए न बर्दाश्त करने का सवाल ही नहीं पैदा होता. वह कुछ देर खामोश रहा. फिर मुझे अपने घर ले गया और अपने ड्राइंग रूम में दाखिल होकर बोला, "सफेदी इसे कहते हैं!"

हमारी आपसी लड़ाई की शुरुआत!

तीसरी बार खुद मंटो ने मुझे दिल्ली बुला भेजा. मंटो और कृश्नचंदर ने 'बंजारा' के नाम से एक फिल्मी कहानी लिखी थी और मुझे इसके गीत लिखने थे. मुझे कोई एक महीना मंटो के यहां रहने का मौका मिला . इस दौरान में मंटो ने मुझसे रेडियो के लिए एक लंबा 'आपेरा' और कुछ काव्य-नाटक भी लिखवाये. परिश्रमिक के मामले में रेडियो के अधिकारियों से खूब-खूब लड़ाइयां की. फिर जब मुझे खासी माकूल रकम दिलवा चुका तो मुझे चांदनी चौक में ले गया. वहां उसने एक अमृतसरी दूकानदार से मेरे लिए पतलूनों और कोटों के कपड़े खरीदे. दो-तीन दिनों में मेरा यह लिबास तैयार हो गया और मैंने यों जिंदगी में पहली बार पतलून पहनी और टाई लगायी.

चौथी मुलाकात 'बू' पर मुकदमें के सिलसिले में हुई. जब मंटो बंबई में था और मैं अदबे-लतीफ लाहौर का संपादक था. पांचवीं मुलाकात अनारकली बाजार में महज इत्तफाक से हुई. जब मैं 'सवेरा' के खिलाफ एक मुकदमे के सिलसिले में लाहौर आया हुआ था और मंटो स्थायी रूप से लाहौर आ गया था. चंद रोज के बाद वह पेशावर में मेरे पास पहुंचा और वहां पंद्रह-बीस रोज ठहरा. हमारे दृष्टिकोणों के मतभेद का आरंभ वहीं से हुआ.

राजहंसों के हुजूम में कौआ!

हम दिन भर रेडियो स्टेशन पर गुजारते. शाम को मंटो किसी न किसी शख्स को अपने साथ ले आता और फिर शराब के दौर चलते. अदब में हकीकत और जिंस पर बहस होती. मंटो को उन तमाम मुकदमों का ज्ञान था, जो दुनिया के बड़े-बड़े मुल्कों में विभिन्न लेखकों पर अश्लीलता के इल्जाम में चलाये गये. वह इन लेखकों और उनकी रचनाओं के उदाहरण देता और उस वक्त उसकी जबान इतनी तेज हो जाती कि उस पर तेज-तर्रार वक्ता का धोखा होता. एक रोज मैंने कहा, "टालस्टाय ने मोपांसा की किसी कहानी के बारे में लिखा है कि अगर मोपासां को अपनी नंगी हीरोइन को नहाते हुए दिखा[...] क्या इतना कह देना काफी नहीं था कि वह नहा रही [...] चलिये, यह भी कह दीजिये कि वह नहा चुकी तो उसके [...] पर पानी के बेशुमार कतरे थमे रह गये. लेकिन [...] को यह कहने की ज़रूरत क्यों महसूस हुई कि पानी के [...] का रंग हीरोइन की जिस्म की रंगत की तरह हल्का [...] या हल्का गुलाबी था. यही वह मुकाम है, जहां से अदब [...] तियत का आरंभ हुआ है."

मंटो भड़क उठा. बोला, "तुम क्या जानो, औरत के [...] के राज. तुमने अभी तक शादी नहीं की. शराब तक नहीं [...] तुम उस रोज चावड़ी में क्यों नज़र आ रहे थे जैसे राज[हंसों के] हुजूम में कौआ घुस आये. तुम क्या जानो, मोपासां ने [...] रंग को प्रकट करना क्यों ज़रूरी समझा! अगर वह रंगत [...] न करता, तो यह औरत कैसी चिपटी-चिपटी और [...] लगती. इन गुलाबी कतरों ही ने तो उसे ज़िंदगी की [...] दी है. तुम किसानों की कहानियां लिख सकते हो तो [...] नहीं कि तुम किसान औरतों के मनोविज्ञान को भी सम[झ ...] औरत पर लिखते वक्त औरत बन जाना पड़ता है और [...] सृजन के क्षणों में औरत बने हो? तुम्हें कभी किसी ने [...] कभी किसी अजनबी ने तुम्हारे जिस्म पर हाथ रखा है [...] झुरझुरी महसूस की है? तुम्हारे अंग भी उस अजनबी [...] मिज़राब की तरह झनझुनाये हैं? सो, मेरी जान, [...] कभी-कभी उसी तरह गांधीपने पर उतर आता था, मगर [...] ख्याल में उसने अपनी **अन्ना कैरिनीना** के नंगे पांव [...] हुए वह कैफियत महसूस नहीं की होगी, जो मोपासां ने [...] हीरोइन के जिस्म पर पानी के गुलाबी कतरे देखने में मह[सूस की] सो, अहमद नदीम कासमी, बात यह है कि तुम साहित्य के [...] मंत्री और हम साहित्य के गृहमंत्री हैं. हमारी अपनी-अ[पनी ...] और अपनी मंजिलें हैं. न नदीम मंटो बन सकता है...न मंटो [...] तालस्तोय तालस्तोय है और मोपासां मोपासां है और मैं [...] में मैंने एक पैग ज़्यादा चढ़ा लिया है. चलो, अब सो [...]

जमीर की मस्जिद का इमाम!

उन दिनों मैंने निश्चय कर लिया कि मंटो से [...] कहानियों के अश्लील टुकड़ों की अश्लीलता की हकीकत [...] करा लूं. मैं पंजे झाड़कर उसके पीछे पड़ गया और [...] दिन मंटो ऐसी तल्ख-कलामी पर उतर आया, जिसकी मैं [...] भी नहीं कर सकता था. फिर एक रोज मैंने उसे वहीं [...] बहुत ज़्यादा शराब पीने से रोका तो वह तंग आ[कर ...] "यह मेरा प्राइवेट मामला है और तुम मेरे दोस्त [...] मगर मैंने तुम्हें अपने ज़मीर की मस्जिद का इमाम [...] नही किया."

दूसरे ही दिन उसे अपने उस खूबसूरत फिकरे की [...] अहसास हो गया, क्योंकि उसकी बातों और तेवरों [...] होता था कि वह मुझे मना रहा है. फिर यहां लाहौर में, [...] दरम्यान महीनों तक कोई मुलाकात नहीं हुई थी, वह [...] मेरे यहां आया. मुझे अपने घर ले गया और अंधा[...]

1937 से 1954 तक की तमाम बातों को इतने विस्तार से दुहराता रहा कि मैं उसकी बेपनाह याददाश्त पर हैरान रह गया. फिर वह बोला, "यह बातें नोट कर लो मेरी जान. शायद चंद दिनों बाद तुम्हें यह मरहूम मंटो की याद में लिखना पड़े."

मैं खिलाफे मामूल आपे से बाहर हो गया और यह सोचे बगैर कि मंटो नशे में है, कहना शुरू किया, "अगर आपको मेरी दोस्ती इतनी प्यारी है तो फिर आपको शराब छोड़नी पड़ेगी. आप तो पागलों की तरह पीते हैं. क्या आपको यह अहसास नहीं होता कि जिस घर में आप पी रहे हैं, उसमें निकहत बेटी भी रहती है. यह वही बच्ची है, जिसकी एक निहायत प्यारी तस्वीर आपने बंबई से मुझे भेजी थी और जो मेरे पास अब तक सुरक्षित है. आप तो साहित्य के गृह-मंत्री हैं, लेकिन क्या आप निकहत की इस आंतरिक प्रतिक्रिया को अभी से महसूस नहीं कर सकते, जो चंद बरस के बाद आपको इस कैफियत में देखकर उसके दिमाग पर उभरेगी? और अगर आपको इस बात का अहसास नहीं तो आप अपने आप को साहित्य का बेकलमदान मंत्री कहा कीजिये, क्योंकि वह लेखक केवल अपने अंदर बंद रहता है."

वे नशे की नहीं, होश की बातें थीं!

मंटो बोला, "इस फ्राड की कोई खास जरूरत तो नहीं." और इसके बारे में उसने मुझे साफ-साफ कह दिया कि उसकी जात के मामलों में दखल देने का मुझे कोई दूर-दराज का भी हक हासिल नहीं—मैं खफा हुए बगैर चला आया, क्योंकि मुझे यकीन था कि कल होश में आकर वह इन बातों पर पछतायेगा. मगर वह नहीं पछताया, बल्कि चंद रोज बाद रास्ते में मुलाकात हुई और मैंने शिकायत की तो मालूम हुआ कि उस रोज जो कुछ उसने कहा था, वह आखिरी शब्द थे, और वे नशे की नहीं, होश की बातें थीं.

तब मैंने हथियार डाल दिये. इस दौरान में कभी-कभार मुलाकात होती रही, मगर यह हकीकत अपनी जगह कायम रही कि मंटो को अपनी इंतहा-पसंदियों में न मेरी संगति गवारा है और न मुझमें इतना हौसला है कि उसे आहिस्ता-आहिस्ता खत्म होते देखूं और कुछ न बोलूं. मैंने बोलकर देख लिया था.

मुझे आपकी हमेशा जरूरत रहेगी!

मगर अब मुझे कुछ ऐसा महसूस होता है कि मैंने बुजदिली दिखाई थी. मैं उस का पहरेदार बनकर क्यों न बठ गया ! मैं उसकी झिड़कियां और गालियां तक सहता, मगर उसे जिंदा रखने की कोशिश करता. उसी मुहिम में उसके घराने के लोग और उसके चंद नेक दोस्त मेरा साथ देते. और हम सब मिलकर कौम की इस पूंजी को इतनी जल्दी तबाह होने से बचा लेते. और मंटो ने एक बार मुझे यह भी तो लिखा था—"मुझे आपकी हमेशा जरूरत रहेगी." सो, अब दो मातम मेरे सुपुर्द हुए हैं. एक मंटो का और दूसरा अपने स्वाभिमान की रक्षा के ढोंग का. □

मंटो और तिकड़ी

"सआदत हसन के नाम में तीन नुकते हैं और पूरा नाम तीन शब्दों पर आधारित है—यानी सआदत हसन मंटो. मैट्रिक के इम्तहान में तीन बार फेल हुआ, और जब पास हुआ, तो तीसरे दर्जे में. अपनी बीमारी के दौरान बटोत में तीन महीने रहा. जिगर की बीमारी की वजह से तीन महीने अस्पताल में रहा. उसके तीन अफसाने 'बू', काली शलवार, और ठंडा गोश्त, कानून की जद में आये. जिन पर उसे सजा हुई. उसके तीन सौतेले भाई थे और उसकी तीन बेटियां थीं. उसके दोस्त भी सिर्फ तीन थे:—अबू सईद कुरैशी, हसन अब्बास और बारी अलैग."

—हसन अब्बास

"मेरी जिंदगी में तीन बड़े हादसे हैं. पहला मेरी पैदाइश का, जिसका ब्यौरा मुझे मालूम नहीं. दूसरा मेरी शादी का...और तीसरा मेरे अफसाना-निगार बन जाने का. . . .मैं जिंदगी में सिर्फ तीन बार बेहोश हुआ. सबसे पहले अपने निकाह की तकरीब (समारोह) में सैयद फजल शाह मरहूम को दावते-शिरकत देने पर, दूसरी बार अपनी वालिदा की अचानक मौत पर और तीसरी बार अपने लड़के की वफात मौत पर."

—सआदत हसन मंटो

मंटो की कहानियां : चार

नया कानून

मंगू कोचवान स्टेशन के तांगा अड्डे में बहुत अक्लमंद आदमी समझा जाता था. हालांकि उसकी पढ़ाई-लिखाई न के बराबर थी. उसने कभी तख्ती लिखने की ज़हमत नहीं उठायी थी. इसके बावजूद, उसे दुनिया भर की बातों का पता था. अड्डे के सारे कोचवान, जिनको यह जानने की इच्छा होती थी कि दुनिया के अंदर क्या हो रहा है, उस्ताद मंगू की जानकारियों से फायदा उठाने के लिए उसके पास उठते-बैठते थे.

पिछले दिनों, जब उस्ताद मंगू ने अपनी एक सवारी से स्पेन में जंग छिड़ जाने की अफवाह सुनी थी तो उसने गामा चौधरी के चौड़े कंधे पर धौल जमाकर बुझक्कड़ अंदाज़ में भविष्यवाणी की थी, "देख लेना चौधरी, थोड़े ही दिनों में स्पेन के अंदर जंग छिड़ जायेगी."

हैरान-से गामा चौधरी ने उससे पूछा, "यह स्पेन कहां पर है?" तो उस्ताद मंगू ने बड़ी गंभीरता से जवाब दिया, "विलायत में है...और कहां?"

स्पेन में जंग छिड़ी और जब हर आदमी को इसका पता चल गया तो अड्डे में जितने कोचवान घेरा बनाये हुक्का पी रहे थे, मन ही मन में उस्ताद मंगू की 'महानता' स्वीकार कर रहे थे और उस्ताद मंगू उस समय माल रोड की चमकीली सड़क पर तांगा चलाते हुए अपनी सवारी से ताजा हिंदू-मुस्लिम फसाद पर सलाह-मश्विरा कर रहा था.

उस दिन, शाम के करीब, जब वह अड्डे में आया तो उसका चेहरा गैर-मामूली तौर पर तमतमाया हुआ था. हुक्के का दौर चलते-चलते जब हिंदू-मुस्लिम दंगे की बात छिड़ी तो मंगू ने सिर पर से खाकी पगड़ी उतारी और उसे बगल में दबाकर संतों के-से अंदाज़ में बोला, "यह किसी पीर की बद-दुआ का नतीजा है कि आये दिन हिंदुओं और मुसलमानों में चाकू-छुरियां चलते रहते हैं. मैंने बुजुर्गों से सुना है कि ने किसी दरवेश का दिल और उस दरवेश ने आग-बबूला बद-दुआ दी थी..जा, तेरे में हमेशा फसाद होते रहेंगे!... देख लो, जब से अकबर बादशाह खत्म हुआ है, हिंदुस्तान में फसाद होते रहते हैं." कहकर मंगू सांस भरी और फिर हुक्के का कर अपनी बात कहनी शुरू कांग्रेसी हिंदुस्तान को आज़ाद चाहते हैं. मैं कहता हूं, ये लोग साल भी सिर पटकते रहें तो कुछ हद से हद यह होगा कि अंग्रेज़ जायेगा और कोई इटली वाला जायेगा...या वो रूस वाला जिस में सुना है कि बहुत शातिर लेकिन हिंदुस्तान सदा गुलाम हां, मुझे यह बताना याद नहीं रहा. ने यह बद-दुआ भी दी थी कि हिं पर हमेशा बाहर के लोग ही राज

उस्ताद मंगू को अंग्रेज़ों से बड़ी थी. इस नफरत का कारण बतलाया करता था कि वे उसके हिं पर अपना सिक्का चलाते हैं और तरह के जुल्म ढाते हैं. मगर नफरत की सबसे बड़ी वजह यह छावनी के गोरे उसे बहुत सता थे. वे उसके साथ ऐसा बर्ताव जैसे वह एक जनावर हो.

जब किसी शराबी गोरे से झगड़ा हो जाता तो सारा दिन तबीयत नाखुश रहती और वह अड्डे में जाकर, लैंप मार्का सिग फिर हुक्के के कश लगाते हुए, को जी भरकर कोसा करता.

मोटी-सी गाली देने के ढीली पगड़ी-समेत, अपने सिर को देकर कहा करता था, "आग लेने घर के मालिक ही बन बैठे में दम कर रखा है. ऐसे रोब जैसे हम उनके बाबा के नौकर और नाक को खाकी कमीज की से साफ करने के बाद फिर लग जाता.

"कसम है भगवान की, इन लाट के नाज़-नखरे उठाते तंग आ जब कभी उनका मनहूस चेहरा

रगों में खून खौलने लगता है. कोई ...या कानून-वानून बने तो इन लोगों से ...टकारा मिले. तेरी कसम, जान में ...ान आ जाये!"

और जब एक दिन मंगू ने कचहरी ... अपने तांगे पर दो सवारियां लादी ...ौर उनकी बातों से उसे पता चला कि ...दुस्तान में नया कानून लागू होने वाला ... तो उसकी खुशी का कोई ठिकाना ... रहा.

दो मारवाड़ी, जो कचहरी में अपने ...वानी के मुकदमें के सिलसिले में आये ... वापस घर जाते हुए, नये कानून यानी ...डियन ऐक्ट' के बारे में बातें कर रहे थे.

"सुना है कि पहली अप्रैल से हिंदुस्तान ... नया कानून चलेगा? . . . क्या हर ...ज़ बदल जायेगी?"

"हर चीज़ तो नहीं बदलेगी, मगर ...हते हैं कि बहुत कुछ बदल जायेगा ...र हिंदुस्तानियों को आज़ादी मिल ...येगी".

"क्या ब्याज के बारे में भी कोई नया ...नून पास होगा?"

"यह पूछने की बात है. कल किसी ...क़ील से पूछेंगे".

उन मारवाड़ियों की बातचीत ...स्ताद मंगू के दिल में नाकाबिले-बयान ...शी पैदा कर रही थी. वह अपने घोड़े ... हमेशा गालियां देता था और चाबुक ... बुरी तरह पीटा करता था, पर उस ...न वह बार-बार पीछे मुड़कर मार-...ड़ियों की तरफ देखता रहा और अपनी ...ी हुए मूंछों के बाल, एक उंगली से बड़ी ...फ़ाई के साथ ऊंचे करके, घोड़े की ...ठ पर लगाम ढीली करते हुए बड़े ...ार से बोला, "चल बेटा, चल बेटा . . . ...रा हवा से बातें करके दिखा दे!"

... मारवाड़ियों को उनके ठिकाने ...पहुंचाकर, उसने अनारकली में दीनू ...लवाई की दुकान पर आध सेर दही ... लस्सी पी और एक बड़ी डकार लेते ...र मूंछों को मुंह में दबाकर उनको ...सते हुए यों ही ऊंची आवाज़ में बड़क ...ठा, "हत तेरी ऐसी की तैसी!"

शाम को, जब वह अड्डे पर गया ...ौर वहां उसे अपना कोई दोस्त तांगे ...ला बैठा नहीं मिला. उसके सीने में ...हसा अजीबो-गरीब-सा तूफान बरपा हो गया. आज वह एक बड़ी खबर अपने दोस्तों को सुनाने वाला था. . . बहुत बड़ी खबर और उस खबर को अपने अंदर से बाहर निकालने के लिए वह बहुत बेचैन हो रहा था. किंतु वहां कोई नहीं था.

आध घंटे तक वह चाबुक को बगल में दबाये, स्टेशन के अड्डे की लोहे वाली छत के नीचे, बेचैन-सा टहलता रहा. उसके दिमाग में बड़े उम्दा-उम्दा ख्याल आ रहे थे. नये कानून के लागू होने की खबर ने उसको एक नयी दुनिया में लाकर खड़ा कर दिया था. वह उस नये कानून के बारे में, जो पहली अप्रैल को हिंदुस्तान में लागू होने वाला था, अपने दिमाग की तमाम बत्तियां रौशन करके जोड़-तोड़ कर रहा था. उसके कानों में मारवाड़ी का शक भरा सवाल—क्या ब्याज के बारे में भी कोई नया कानून पास होगा? . . . बार-बार खटक कर उसके जिस्म में खुशी की एक लहर दौड़ा रहा था. कई बार अपनी मूंछों के अंदर हंसकर उसने उन मारवाड़ियों को गाली दी . . . गरीबों की खटिया में घुसे खटमल! नया कानून इनके लिए खौलता पानी साबित होगा!

▣

वह बेहद खुश था. खासकर उस समय उसके मन को बड़ी ठंडक पहुंचती जब वह सोचता था कि इन सफेद चूहों (गोरों) की थूथनियां नये कानून के आते ही, हमेशा-हमेशा के लिए बिलों में गायब हो जायेंगी.

जब नत्थू गंजा, पगड़ी बगल में दबाये, अड्डे में दाखिल हुआ तो मंगू दो कदम बढ़कर उससे मिला और उसका हाथ अपने हाथ में लेकर, ऊंची आवाज़ में कहने लगा, "ला हाथ इधर! ऐसी खबर सुनाऊं कि तेरा जी खुश हो जाये! . . तेरी गंजी खोपड़ी पर बाल उग आयें!"

अपना श्रोता पाकर मंगू ने बड़े मज़े ले लेकर नये कानून के बारे में बातें शुरू कर दीं. बातों के दौरान उसने कई बार नत्थू गंजे के हाथ पर ज़ोर से अपना हाथ मारकर कहा, "तू देखता रह, क्या बनता है. यह रूस वाला बादशाह ज़रूर कुछ न कुछ करके रहेगा."

कुछ अर्से से पेशावर और दूसरे शहरों से सुर्खपोशों (गफ्फार खां के खुदाई खिदमतगारों) का आंदोलन चल रहा था. मंगू ने उस आंदोलन को अपने दिमाग में 'रूस वाले बादशाह' और फिर 'नये कानून' के साथ गडमगड कर दिया था. इसके अलावा जब वह कभी किसी से सुनता कि अमुक शहर में इतने बम बनाने वाले पकड़े गये हैं, या फलां जगह, इतने लोगों पर बगावत के इल्ज़ाम में मुकदमा चलाया गया है, तो वह इन सारी घटनाओं को नये कानून की पूर्व-सूचना समझता और मन ही मन बहुत खुश होता.

इस घटना के तीसरे दिन वह सरकारी कालेज के तीन लड़कों को अपने तांगे में बैठा कर मजंग जा रहा था. तीनों लड़के आपस में बातें कर रहे थे . . .

"नये कानून ने मेरी उम्मीदें बढ़ा दी हैं. अगर फलां साहब विधान सभा के सदस्य हो गये तो किसी सरकारी दफ्तर में नौकरी ज़रूर मिल जायेगी."

"वैसे भी कई जगहें और निकलेंगी. शायद हमारे हाथ भी कुछ आ जाये."

"हां-हां, क्यों नहीं."

"ये बेकार ग्रेजुएट, जो मारे-मारे फिर रहे हैं, उनमें कुछ तो कमी होगी."

इस बातचीत ने उस्ताद मंगू के दिल में नये कानून का महत्व और भी बढ़ा दिया और वह उसको ऐसी चीज़ समझने लगा, जो बहुत चमकती हो. नया कानून . . ! . . वह दिन में कई-कई बार सोचता . . . 'यानी कोई नयी चीज़' और हर बार उसकी नज़रों के सामने अपने घोड़ों का वह नया साज आ जाता, जो दो बरस हुए, उसने चौधरी खुदाबख्श से, ठोक-बजाकर खरीदा था. उस साज पर, जब वह नया था, जगह-जगह लोहे पर निक्कल चढ़ी हुई कीलें चमकती थीं और जहां-जहां पीतल का काम था, वो तो सोने की तरह दमकता था. उसके तईं इस लिहाज से भी नये कानून का चमकता-दमकता होना बहुत ज़रूरी था.

▣

पहली अप्रैल तक उस्ताद मंगू ने नये विधान के पक्ष और विपक्ष में बहुत सुना. पर उसके बारे में जो खाका वह

अपने मन में बना चुका था, उसे बदल नहीं सका. वह समझता था कि पहली अप्रैल को नये कानून के आते ही सब मामला साफ हो जायेगा और उसके लागू होने पर जो चीजें नजर आयेंगी, उनसे उसकी आंखों को जरूर ठंडक पहुंचेगी.

▣

पहली अप्रैल को सुबह-सवेरे उस्ताद मंगू उठा और अस्तबल में जाकर उसने तांगे में घोड़े को जोता और बाहर निकल गया. उसकी तबीयत आज गदगद हो रही थी . . . वह आज नये कानून को देखने वाला था.

उसने सुबह के सर्द धुंधलके में कई तंग और खुले बाजारों का चक्कर लगाया, मगर उसे हर चीज पुरानी नजर आयी. आसमान की तरह पुरानी निगाहें आज खास तौर पर नया रंग देखना चाहती थीं. पर सिवाय उस कलगी के जो रंग-बिरंगे परों से बनी रहती थी और उसके घोड़े के सिर पर जमी हुई थी, बाकी सब चीजें पुरानी नजर आती थीं. यह नयी कलगी उसने नये कानून की खुशी में इकतीस मार्च को चौधरी से साढ़े पंद्रह आने में खरीदी थी.

घोड़े के टापों की आवाज; काली सड़क और उसके आस-पास, थोड़ा-थोड़ा फासला छोड़कर लगाये हुए बिजली के खंभे; दुकानों के बोर्ड; उसके घोड़े के गले में पड़े हुए घुंघरुओं की झनझनाहट; बाजार में चलते-फिरते आदमी—इनमें से कौन-सी चीज नयी थी? जाहिर है कि कोई भी नहीं! लेकिन मंगू निराश नहीं हुआ.

अभी बहुत सवेरा है. दुकानें भी तो सबकी-सब बंद हैं! इस ख्याल ने उसे तसकीन दी. इसके अलावा उसने यह भी सोचा कि हाई-कोर्ट में तो नौ बजे के बाद ही काम शुरू होता है, अब इससे पहले नया कानून क्या नजर आयेगा!

जब उसका तांगा सरकारी कालेज के दरवाजे के करीब पहुंचा तो कालेज के घड़ियाल ने बड़े घमंड से नौ बजाये. जो लड़के कालेज के बड़े दरवाजे से बाहर निकल रहे थे, खुश-पोश थे, पर उस्ताद मंगू को न जाने क्यों उनके कपड़े मैले-कुचैले-से नजर आये. शायद इसकी वजह यही थी कि उसकी निगाहें आज आंखों को चौंधिया देने वाले किसी जलवे का इंतजार कर रही थीं.

तांगे को दायें हाथ मोड़कर, वह थोड़ी देर के बाद फिर अनारकली में चला आया. बाजार की आधी दूकानें खुल चुकी थीं और अब लोगों की चहल-पहल भी बढ़ गयी थी. हलवाई की दूकानों पर ग्राहकों की खूब भीड़ थी. मनियारी वालों की नुमायशी चीजें शीशे की अलमारियों में से, लोगों को आकर्षित कर रही थीं और बिजली के तारों पर कई कबूतर आपस में लड़-झगड़ रहे थे, पर उस्ताद मंगू के लिए इन तमाम चीजों में कोई दिलचस्पी नहीं थी . . . वह नये कानून को देखना चाहता था, ठीक उसी तरह, जिस तरह कि वह अपने घोड़े को देख रहा था.

▣

जब उस्ताद के घर बच्चा पैदा होने वाला था तो उसने चार-पांच महीने बड़ी बेचैनी में गुजारे थे. उसको विश्वास था कि बच्चा किसी न किसी दिन जरूर पैदा होगा. पर वह इंतजार की घड़ियां नहीं काट सकता था. वह चाहता था कि अपने बच्चे को सिर्फ एक नजर देख ले. इसके बाद वह पैदा होता रहे. चुनांचे इसी उत्साह और उत्कंठ इच्छा के तहत उसने कई बार बीमार बीवी के पेट को दबाकर उसके ऊपर कान रख-रखकर, बच्चे के बारे में कुछ जानना चाहा था पर असफल रहा था. एक बार तो वह इंतजार करते-करते तंग आ गया था और अपनी बीवी पर बरस भी पड़ा था, "तू हर वक्त मुर्दे की तरह पड़ी रहती है. उठ, जरा चल-फिर . . तेरे अंगों में थोड़ी ताकत भी आये. यों तख्ता बने रहने से कुछ न होगा. तू समझती है कि इस तरह लेटे-लेटे बच्चा जन देगी?"

कुछ भी हो, पर उस्ताद मंगू नये कानून के इंतजार में इतना बेचैन नहीं था जितना कि उसे अपनी तबीयत के लिहाज से होना चाहिए था. वह आज नये कानून लागू होता देखने के लिए घर से निकला था, ठीक उसी तरह जैसे वह महात्मा गांधी या जवाहर लाल के जुलूस को देखने के लिए निकलता था.

नेताओं की महानता का [illegible]
उस्ताद मंगू हमेशा उनके [illegible]
हंगामों और उनके गले में [illegible]
फूल-मालाओं से किया कर[illegible]
अगर कोई नेता गेंदे के फूलों [illegible]
हो तो उस्ताद मंगू के नजदीक [illegible]
आदमी था और जिस नेता के [illegible]
भीड़ की वजह से दो-तीन दं[illegible]
रह जाते, वह उसकी नजर में [illegible]
बड़ा हो जाता. अब नये का[illegible]
वह अपने जेहन के इसी तराजू में [illegible]
जा रहा था.

जब उस्ताद मंगू को किसी स[illegible]
तलाश नहीं होती थी या उ[illegible]
बीती हुई घटना पर गौर करना [illegible]
तो वह आमतौर पर अगली सीट [illegible]
कर पिछली सीट पर बैठ जा[illegible]
बड़े इतमीनान से अपने घोड़े की [illegible]
दायें हाथ के गिर्द लपेट लिया कर[illegible]
ऐसे अवसरों पर उसका घोड़ा [illegible]
सा हिनहिनाने के बाद बड़ी धी[illegible]
चलना शुरू कर देता था. [illegible]
उसे कुछ देर के लिए भाग[illegible]
छुट्टी मिल गयी हो.

घोड़े की चाल और उस[illegible]
के दिमाग में ख्यालों की आ[illegible]
सुस्त थी. जिस तरह घोड़ा [illegible]
कदम उठा रहा था, उसी तरह [illegible]
मंगू के जेहन में नये कानून के [illegible]
नये अनुमान दाखिल हो रहे [illegible]

वह नये कानून के आने पर नग[illegible]
वालों से तांगों के नंबर मिलने [illegible]
पर गौर कर रहा था और इस [illegible]
बात को नये विधान की रो[illegible]
देखने की कोशिश कर रहा था. [illegible]
सोच-विचार में डूबा था, जब [illegible]
लगा, जैसे किसी सवारी ने उसे [illegible]
पीछे पलटकर देखने पर उसे [illegible]
उस पार, दूर बिजली के खंभे [illegible]
एक गोरा खड़ा नजर आया, [illegible]
हाथ के इशारे से बुला रहा था.

अपनी नयी सवारी को [illegible]
के रूप में देखा तो उसके मन [illegible]
के भाव जाग उठे. पहले तो उ[illegible]
आया कि बिल्कुल ध्यान न दे औ[illegible]
छोड़कर चला आये, पर बाद [illegible]
ख्याल आया कि इनके पैसे [illegible]
बेवकूफी है. कलगी पर जो मु[illegible]

चौदह आने खर्च कर दिये हैं, इनकी जेब से ही वसूल करने चाहिए... चलो चलते हैं! घोड़े की लगाम खींचकर उसने तांगा ठहराया और पिछली सीट पर बैठे-बैठे, गोरे से पूछा, "साब बहादुर, कहां जाना मांगता है?"

इस सवाल में गजब का कटाक्ष था. 'साहब बहादुर' कहते समय उसका ऊपर का मूंछों भरा होंठ, नीचे की ओर खिंच गया और पास ही गाल के दायीं तरफ हल्की बारीक-सी लकीर, जो नाक के नथुने से ठोड़ी के ऊपरी सिरे तक चली आ रही थी, एक कंपकंपी के साथ गहरी हो गयी, मानो किसी ने नोकीले चाकू से शीशम की सांवली लकड़ी में खरोंच-सी डाल दी हो. उसका सारा चेहरा हंस रहा था, मगर अपने अंदर उसने उस गोरे को सीने की आग में जलाकर राख कर डाला था!

गोरे ने सिगरेट का धुआं निगलते हुए कहा, "जाना मांगटा या फिर गड़बड़ करेगा?"

'वही है!' ये अलफ़ाज़ उस्ताद मंगू के दिमाग में उभरे और उसकी चौड़ी छाती के अंदर कसमसाने लगे. उसे यकीन हो गया कि यह गोरा वही है, जिससे पिछले बरस उसकी झड़प हुई थी और फालतूबाजी के झगड़े में, जिसकी वजह गोरे के दिमाग में नचनियाती शराब थी, उसे लाचार होकर बहुत-सी बातें सहनी पड़ी थीं. मंगू ने गोरे का दिमाग दुरुस्त कर दिया होता, बल्कि उसके परखचे उड़ा दिये होते, पर वह एक खास वजह से चुप ही रह गया था. उसको मालूम था कि ऐसे झगड़ों में अदालत का नजला आम तौर पर कोचवानों पर ही गिरता है.

उस्ताद मंगू ने पिछली बार की लड़ाई और पहली अप्रैल के नये कानून पर गौर करते हुए गोरे से चाबुक-सी तेजी से कहा, "क़हां जाना मांगटा है?"

गोरे ने जवाब दिया, "हीरा मंडी."

"किराया पांच रुपया होगा." मंगू की मूंछें मुस्करा दीं.

गोरा हैरान हो गया. वह चिल्लाया, "पांच रुपये! क्या टुम....?"

"हां-हां, पांच रुपये!" मंगू ने मुट्ठी कसकर घूंसा तान लिया. उसका लहजा और भी सख्त हो गया, "क्यों, चलते हो या बेकार बातें बनाओगे?"

गोरा पिछले वर्ष की घटना का ख्याल करके, मंगू के सीने की चौड़ाई नज़र-अंदाज़ कर चुका था. वह सोच रहा था, इसकी खोपड़ी फिर खुजला रही है. हौसला बढ़ाने वाले इस ख्याल के तहत, वह अकड़कर तांगे की ओर बढ़ा और अपनी छड़ी से मंगू को तांगे से नीचे उतरने का इशारा किया.

बेंत की वो पालिश की हुई पतली-सी छड़ी, उस्ताद मंगू की मोटी रान के साथ दो-तीन बार छुई तो उसने खड़े-खड़े नाटे कद के गोरे को ऊपर से नीचे तक देखा, जैसे वह अपनी निगाहों के भार ही से उसे पीस डालना चाहता हो. फिर उसका घूंसा कमान में तीर की तरह ऊपर को उठा और पलक झपकते ही गोरे की ठोड़ी के नीचे जम गया. धक्का देकर उसने गोरे को परे हटाया और लपक कर उसे धड़ाधड़ पीटना शुरू कर दिया.

गोरा हक्का-बक्का रह गया. उसने इधर-उधर सिमटकर मंगू के वजनी घूंसों से बचने की कोशिश की मगर जब देखा कि मंगू की हालत पागलों-सी हो गयी है और उसकी आंखों से अंगारे बरस रहे हैं तो मदद के लिए चिल्लाने लगा. उस चीख-पुकार ने उस्ताद मंगू की बांहों का काम और भी तेज कर दिया. वह गोरे को अंधाधुंध पीटता हुआ अपने आप में बड़बड़ाता भी जा रहा था, "पहली अप्रैल को भी वही अकड़-फूं...पहली अप्रैल को भी वही अकड़ फूं....अब हमारा राज है बच्चा!"

लोग जमा हो गये और पुलिस के दो सिपाहियों ने बड़ी मुश्किल से गोरे को उस्ताद मंगू की पकड़ से छुड़ाया. उस्ताद मंगू उन दो सिपाहियों के बीच खड़ा था. उसकी चौड़ी छाती फूली हुई सांस की वजह से, ऊपर-नीचे हो रही थी. मुंह से झाग बह रहा था और अपनी मुस्कराती हुई आंखों से सहमी और हैरतज़दा भीड़ की तरफ देख-देखकर, वह हांफती हुई आवाज में कह रहा था, "वो दिन गुज़र गये, जब खलील खां फाख़्ता उड़ाया करते थे. अब नया कानून है मियां... नया कानून!"

गोरा बेचारा अपने बिगड़े हुए चेहरे के साथ, बेवकूफों की तरह, कभी उस्ताद मंगू की तरफ देख रहा था और कभी भीड़ की तरफ.

उस्ताद मंगू को पुलिस के सिपाही थाने में ले गये. रास्ते में और थाने के अंदर कमरे में भी वह 'नया कानून' चिल्लाता रहा, पर किसी ने एक न सुनी.

"नया कानून, नया कानून क्या बक रहे हो? कानून वही है.. पुराना!" उसे पीटा गया और फिर हवालात में बंद कर दिया गया. □

● रूपांतर : रमेश बत्तरा

धोखा : मंटो की कहानी 'बाबू गोपीनाथ' का एक अंश

"बात दरअसल यह है कि मैं शुरू से फकीरों और कंजरों की सोहबत में रहा हूं. मुझे उनसे कुछ मुहब्बत-सी हो गयी है. मैं उनके बगैर नहीं रह सकता. मैंने सोच रखा है जब मेरी दौलत खत्म हो जायेगी, तो किसी तकिये में जा बैठूंगा. रंडी का कोठा और पीर का मज़ार, बस ये दो जगहें हैं जहां मेरे दिल को सुकून मिलता है... रंडी का कोठा तो छूट जायेगा.... इसलिए कि जेब खाली होने वाली है. मगर हिंदुस्तान में हज़ारों पीर हैं. किसी एक पीर के मज़ार पर चला जाऊंगा!"

मैंने उससे पूछा, "कोठे और तकिये ही क्यों पसंद हैं आपको?"

कुछ देर सोचकर उसने जवाब दिया, "इसलिए कि इन दोनों जगहों पर फर्श से लेकर छत तक धोखा ही धोखा है... जो आदमी खुद को धोखा देना चाहे उसके वास्ते इनसे बेहतर मुकाम और क्या हो सकता है?" □

आपको मेरे इस ख़त से जले हुए गोश्त की बू आयेगी !

सआदत हसन मंटो की कि
'बगैर उन्वान के' का भ
पंडित नेहरू के
पंडित मंटो का पहला
जो इस किताब
भूमिका बन

पंडित जी, अस्सलाम-अलैकुम!

यह मेरा पहला खत है, जो मैं आपकी खिदमत में अरसाल कर रहा हूं. आप माशाअल्लाह अमरीकनों में बड़े हसीन मुतसव्वर (कल्पित) किये जाते हैं, लेकिन मैं समझता हूं कि मेरे खदो-खाल (नैन-नक्श) भी कुछ ऐसे बुरे नहीं हैं. अगर मैं अमरीका जाऊं तो शायद मुझे भी हुस्न का रुतबा अता (प्रदान) हो जाये. लेकिन आप हिंदुस्तान के बज़ीरे-आज़म हैं, और मैं पाकिस्तान का अज़ीम अफसानानिगार. इनमें बहुत बड़ा तफ़ावुत (अंतर) है. बहरहाल हम दोनों में एक चीज़ मुश्तरक (साझी) है कि आप कश्मीरी हैं और मैं भी! आप नेहरू हैं, मैं मंटो! कश्मीरी होने का दूसरा मतलब खूबसूरती है और खूबसूरती का मतलब, मैंने नहीं देखा.

मुद्दत से मेरी तमन्ना थी कि आपसे मिलूं (शायद बशर्ते ज़िंदगी मुलाकात हो भी जाये). मेरे बुजुर्ग तो आप के बुजुर्गों से अक्सर मिलते-जुलते रहते हैं, लेकिन यहां कोई ऐसी सूरत नहीं निकली कि आपसे मुलाकात हो सके.

यह कितनी बड़ी ट्रेजडी है कि मैंने आपको देखा तक नहीं! आवाज रेडियो पर अलबत्ता ज़रूर सुनी है, एक दफा.

जैसाकि मैं कह चुका हूं, मुद्दत से मेरी तमन्ना थी कि आपसे मिलूं. इसलिए कि आपसे मेरा कश्मीर का रिश्ता है, लेकिन अब सोचता हूं, इसकी ज़रूरत ही क्या है! कश्मीरी किसी न किसी रास्ते से किसी न किसी चौराहे पर दूसरे कश्मीरी से मिल ही जाता है.

आप किसी नहर के करीब आबाद हुए और नेहरू हो गये, और मैं अभी तक सोचता हूं कि मंटो कैसे हो गया? आपने तो खैर लाखों मर्तबा कश्मीर देखा होगा. मगर मुझे सिर्फ बनिहाल तक जाना नसीब हुआ है. मेरे कश्मीरी दोस्त, जो कश्मीरी ज़ुबान जानते हैं, मुझे बताते हैं कि मंटो का मतलब 'मुंट' है, यानी डेढ़ सेर का बट्टा! आप यकीनन कश्मीरी ज़ुबान जानते होंगे. इस खत का जवाब लिखने की अगर आप ज़हमत (कष्ट) फरमाएं तो मुझे ज़रूर लिखिए कि 'मंटो' की वजह-तसमीया क्या है?

अगर मैं सिर्फ डेढ़ सेर हूं तो मेरा आपका मुकाबला नहीं. आप पूरी नहर हैं और मैं सिर्फ डेढ़ सेर. आपसे मैं क्या टक्कर ले सकता हूं! लेकिन हम दोनों ऐसी बंदूकें हैं, जो कश्मीरियों के बारे में मशहूर कहावत के मुताबिक— 'धुप में ठस करती हैं.'

माफ कीजिएगा, आप इसका बुरा न मानिएगा. मैंने भी यह फर्जी कहावत सुनी, तो कश्मीरी होने की वजह से मेरा तन-बदन जल गया. चूंकि यह दिलचस्प है, इसलिए मैंने इसका ज़िक्र तफरीही कर दिया, हालांकि मैं और आप दोनों अच्छी तरह जानते हैं कि हम कश्मीरी किसी मैदान में आज तक नहीं हारे!

मैं डेढ़ सेर का बट्टा हूं!

सियासत (राजनीति) में आपका नाम मैं बड़े फख्र से ले सकता हूं, क्योंकि आप बात कहकर फौरन तरदीद (खंडन) करना खूब जानते हैं. पहलवानी में हम कश्मीरियों को आज तक किसने हराया है! शायरी में हमसे कौन बाज़ी ले सकता है! लेकिन मुझे यह सुनकर हैरत हुई है कि आप हमारा दरिया बंद कर रहे हैं. लेकिन पंडित जी, आप तो सिर्फ नेहरू हैं. अफसोस कि मैं डेढ़ सेर का बट्टा हूं. अगर मैं तीस-चालीस हजार मन का पत्थर होता तो खुद को इस दरिया में लुढ़का देता कि आप कुछ देर के लिए उसको निकालने के लिए अपने इंजीनियरों से मशवरा करते रहते.

पंडित जी, इसमें कोई शक नहीं कि आप बहुत बड़े आदमी हैं. आप हिंदुस्तान के वज़ीरे-आज़म हैं. उस मुल्क पर, जिस पर हमारा भी तअल्लुक रहा है, आपकी हुक्मरानी है. आप सब कुछ हैं.

लेकिन गुस्ताखी माफ कि आप
खाकसार (सेवक, जो कश्मीरी है
किसी बात की परवाह नहीं की.

देखिए, मैं आपसे एक दिलचस्प
का ज़िक्र करता हूं. मेरे वालिद
(मरहूम) जो ज़ाहिर है कश्मीरी
जब किसी हातो को देखते, तो उ
ले आते. ड्योढ़ी में बिठाकर उसे
कीन-चाय पिलाते. साथ कुल
होता. उसके बाद वह बड़े फख्र
'हातो' से कहते, "मैं भी काशर

पंडित जी, आप काशर हैं
की कसम, अगर मेरी जान लेना
हर वक्त हाज़िर हूं. मैं जानता हूं
समझता हूं कि आप सिर्फ
कश्मीर के साथ चिमटे हुए हैं कि
को कश्मीर से कश्मीरी होने के
बड़ी मिकनातीसी किस्म की
है. जो हर कश्मीरी को, ख्वाह
कश्मीर देखा भी न हो, होना

जैसाकि मैं इस खत में पहले
चुका हूं, मैं सिर्फ बनिहाल तक
कुद, बटोत, कष्टवार, यह सब
देखे हैं. लेकिन हुस्न के साथ मैंने
(दरिद्रता) चिपका देखा. अगर
इस अफलास को दूर कर दिया
आप कश्मीर अपने पास रखि
मुझे यकीन है कि आप कश्मी
के बावजूद उसे दूर नहीं कर
इसलिए कि आपको फुरसत ही

आप ऐसा क्यों नहीं क
आपका पंडित भाई हूं. मुझे बुला
मैं पहले आपके घर शलजम
देग खाऊंगा. उसके बाद क
सारा काम संभाल लूंगा. य
वगैरा अब बख़्श देने के क
अव्वल दर्जे के चार सौ बीस

आपने ख्वाहमख्वाह अपनी जरूरियात के मुताबिक आला रुतबा बख्श दिया है. आखिर क्यों? ... मैं समझता हूं कि आप सियासतदान हैं, जो कि मैं नहीं हूं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि मैं कोई बात समझ न सकूं.

बंटवारा हुआ. रेडक्लिफ को जो झख मारना था, मारा. आपने जूनागढ़ पर नाजायज़ तौर पर कब्जा कर लिया. जो कोई कश्मीरी, किसी मरहटे के जरे-असर (प्रभावाधीन) ही कर सकता है. मेरा मतलब पटेल से है. (खुदा उसे मग़फिरत (मुक्ति) करे.)

आग बाहर से आ रही है !

आप अंग्रेज़ी ज़ुबान के अदीब (लेखक) हैं. मैं भी यहां उर्दू में अफसाना-निगारी करता हूं. उस ज़ुबान में, जिसको आपके हिंदुस्तान में मिटाने की कोशिश की जा रही है. पंडित जी, मैं आपके बयानात पढ़ता रहता हूं. उनसे मैंने यह नतीजा निकाला है कि आपको उर्दू अज़ीज (प्यारी) है, लेकिन मैंने आपकी एक तकरीर रेडियो पर, जब हिंदुस्तान के टुकड़े हुए थे, सुनी. आपकी अंग्रेज़ी के तो सब कायल हैं, लेकिन जब आपने नाम-नहाद उर्दू में बोलना शुरू किया तो ऐसा मालूम होता था कि आपकी अंग्रेज़ी तकरीर का तर्जुमा किसी कट्टर महासभाई ने किया है, जिसे पढ़ते वक्त आपकी जुबान का जायजा दुरुस्त नहीं था. आप हर फिकरे पर उबकाइयां ले रहे थे.

मेरी समझ में नहीं आता कि आपने तहरीर पढ़ना कबूल कैसे की! यह उस ज़माने की बात है, जब रेडक्लिफ ने हिंदुस्तान की डबलरोटी के दो तोस बनाकर रख लिये थे. लेकिन अफसोस है कि अभी तक वह सेंके नहीं गये. इधर आप सेंक रहे हैं और उधर हम! लेकिन आपकी-हमारी अंगीठियों में आग बाहर से आ रही है.

पंडित जी, आजकल बग्गो-गोशों का मौसम है. गोशे तो खैर मैंने बेशुमार देखे हैं. लेकिन बग्गो-गोशे खाने को जी बहुत चाहता है. यह आपने क्या जुल्म किया कि बख्शी को सारा हक बख्श दिया है कि वह बख्शीश में भी मुझे थोड़े से बग्गो-गोशे नहीं भेजता.

बख्शीश जाये जहन्नुम में और बग्गो-गोशे .. नहीं वह जहां है, सलामत रहें. मुझे आपसे दरअसल कहना यह था कि आप मेरी किताबें क्यों नहीं पढ़ते? आपने अगर पढ़ी तो मुझे अफसोस है कि आपने दाद नहीं दी. अगर नहीं पढ़ीं तो और भी ज्यादा अफसोस का मुकाम है. इसलिए कि आप अदीब हैं.

अब बताइये ... मैं क्या करूं?

आपसे मुझे एक और भी गिला है. आप हमारे दरियाओं का पानी बंद कर रहे हैं. और आपकी देखा-देखी आपकी राजधानी के पब्लिशर मेरी इजाज़त के बगैर मेरी किताबें धड़ाधड़ छाप रहे हैं. यह भी कोई शराफत है. मैं तो यह समझता था कि आपकी वज़रात में ऐसी कोई बेहूदा हरकत हो ही नहीं सकती! मगर आपको फौरन मालूम हो सकता है कि दिल्ली, लखनऊ और जालंधर में कितने प्रकाशकों ने मेरी किताबें नजायज तौर पर छापी हैं.

फुहश-निगारी (अश्लीलता) के इलज़ाम में मुझ पर कई मुकदमे चल चुके हैं, मगर यह कितनी बड़ी ज़्यादती है कि दिल्ली में, आपकी नाक के ऐन नीचे, वहां का एक पब्लिशर मेरे अफसानों का मजमूआ (संकलन) 'मंटो के फाहश (अश्लील) अफसाने' के नाम से छापता है.

मैंने किताब 'गंजे फरिश्ते' लिखी. उसको आपके भारत के एक पब्लिशर ने 'परदे के पीछे' के उन्वान (शीर्षक) से प्रकाशित कर दिया ... अब बताइये, मैं क्या करूं!

आ रहा हूं आपके पास!

मैंने यह नयी किताब लिखी है. इसका दीबाचा यही ख़त है, जो मैंने आपके नाम लिखा है. अगर यह किताब भी आपके यहां नाजायज़ तौर पर छप गयी तो खुदा की कसम, मैं किसी न किसी दिन दिल्ली पहुंचकर आपको गरेबान से पकड़ लूंगा. फिर छोड़ूंगा नहीं आपको ... आपके साथ ऐसा चिमटूंगा कि आप सारी उम्र याद रखेंगे. हर रोज़ सुबह को आपसे कहूंगा कि नमकीन-चाय पिलायें. साथ एक कुलचा भी हो. शलजमों की शबदेग तो खैर हर हफ्ते के बाद जरूर होगी.

यह किताब छप जाये तो मैं इसका एक नुस्खा (प्रति) आपको भेजूंगा. उम्मीद है, आप इसकी रसीद से मुझे जरूर सूचित करेंगे और मेरी तहरीर (लिखित) के बारे में अपनी राय से भी जरूर आगाह करेंगे.

आपको मेरे इस खत से जले हुए गोश्त की बू आयेगी. आपको मालूम है, हमारे वतन कश्मीर में एक शायर 'गनी' रहता था, जो 'गनी कश्मीरी' के नाम से मशहूर है. उसके पास ईरान से एक शायर आया. उसके घर के दरवाज़े खुले थे, इसलिए कि वह घर में नहीं था. वह लोगों से कहा करता था कि मेरे घर में है क्या जो मैं दरवाज़े बंद रखूं. अलबत्ता जब मैं घर में होता हूं तो दरवाज़े बंद कर देता हूं. इसलिए कि मैं ही तो उसकी वाहिद (एक मात्र) दौलत हूं.

मैं दिल जला!

ईरानी शायर उसके वीरान घर में अपनी बियाज (काव्य-संकलन) छोड़ गया. उसमें एक शेअर नामुकम्मल (अधूरा) था. मिसरा सानी (दूसरा) हो गया. मगर मिसरा अव्वल उस शायर से नहीं कहा गया था. मिसरा सानी यह था—

'कि अज लिबासे तू बूए कबाब मी आयद.'

जब वह ईरानी शायर कुछ देर के बाद वापस आया तो उसने अपनी बियाज देखी. मिसरा अव्वल मौजूद था—'कदाम सोख्ता जान दस्त ज़द बद अमानत.'

पंडित जी, मैं भी एक सोख्ता-जान (जला हुआ) हूं. मैंने आपके दामन पर अपना हाथ दिया है. इसलिए कि मैं यह किताब आपके नाम से मानून (समर्पित) कर रहा हूं.

सआदत मंटो
27 अगस्त, 1954

☐

मंटो की कहानियां : पांच
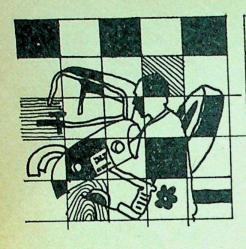
खुशिया सोच में डूबा हुआ था. बनवारी से काले तंबाकू वाला पान लेकर वह उसकी दूकान के साथ उस पत्थर के चबूतरे पर बैठा था जो दिन के वक्त टायरों और मोटरों के बेतरह पुर्जों से भरा रहता है. रात आठ बजे के करीब मोटर के पुर्जों और टायरों की यह दूकान बंद हो जाती है, तो यह चबूतरा खुशिया के लिए खाली हो जाता है.

वह धीरे-धीरे पान चबाता हुआ सोच रहा था. गाढ़ी तंबाकू मिली पीक उसके दांतों की रीखों से निकलकर उसके मुंह में इधर-उधर गुमक रही थी और उसे लग रहा था कि उसके विचार दांतों तले उसकी पीक में घुल रहे हैं. शायद इसी वजह से वह उसे फेंकना नहीं चाहता था.

खुशिया पान की पीक मुंह में पुलपुला रहा था और उस घटना के बारे में सोच रहा था जो उसके साथ अभी घटी थी.

▣

रोज़ की तरह वह उस चबूतरे पर बैठने से पहले खेतवाडी की पांचवीं गली में गया था. मंगलोर से जो नयी छोकरी कांता आयी थी, उसी गली के नुक्कड़ पर रहती थी. खुशिया को किसी ने बताया था कि वह अपना मकान बदल रही है. उसका धंधा ही ऐसा है कि उसे हर छोकरी का अता-पता ठीक से मालूम होना चाहिये. इसलिए वह इसी बात का पता लगाने के लिए वहां गया था.

उसने खोली का दरवाजा खटखटाया.
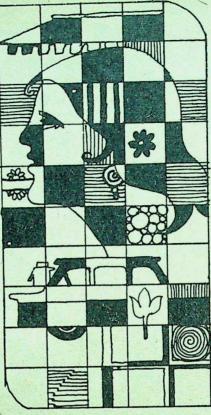
अंदर से आवाज आयी, "कौन है?" इस पर खुशिया ने कहा, "मैं, खुशिया!"

आवाज दूसरे कमरे से आयी थी. थोड़ी देर बाद दरवाजा खुला. खुशिया अंदर घुसा. जब कांता ने दरवाजा अंदर से बंद कर लिया, तब खुशिया ने मुड़कर देखा. उसकी हैरत की कोई इंतहा न रही. कांता उसके सामने मादरजाद खड़ी थी .. बिल्कुल मादरजाद ही समझो. वह खुद को सिर्फ एक तौलिये से ढांपे हुए थी. इसे ढांपना भी तो नहीं कहा जा सकता ... क्योंकि छिपाने की जितनी चीजें होती हैं वे सबकी-सब उसकी हैरान आंखों के सामने थीं.

"कह खुशिया, कैसे आया? ...मैं बस अब नहाने ही वाली थी. बैठ-बैठ .. बाहर चाय वाले से अपने लिए एक कप चाय के लिए तो कह आया होता . . . जानता है वह मुआ रामू यहां से भाग गया है."

खुशिया, जिसकी आंखों ने कभी औरत को इस तरह आदिम नहीं देखा था, बेहद घबरा गया. उसकी समझ में नहीं आया था कि क्या कहे! उसकी निगाहें एकदम निर्वस्त्र औरत से रू-ब-रू हो गयी थीं, अपने आपको कहीं छिपा लेना चाहती थीं.

उसने जल्दी-जल्दी सिर्फ इतना कहा, "जा . . .जा, तू नहा ले!" फिर एकाएक उसकी जुबान खुल गयी, "पर जब तू इस हालत में थी तो दरवाजा खोलने की क्या जरूरत थी? . . .अंदर से कह दिया होता, मैं फिर आ जाता . . . जा . . .तू नहा ले."

कांता मुस्करा दी, "जब तुमने कहा खुशिया, तो मैंने सोचा क्या हर्ज है. अपना खुशिया ही तो है, आने दो . ."

कांता की यही मुस्कराहट अभी तक खुशिया के दिल-दिमाग में डूब-तैर रही थी. इस वक्त भी कांता का जिस्म मोम के पुतले की तरह उसकी आंखों के सामने खड़ा था और पिघल-पिघलकर उसके अंदर समाता जा रहा था.

उसका जिस्म सुंदर था. पहली बार खुशिया को मालूम हुआ था कि रुपया बेचने वाली औरतें भी ऐसी सुडौल देह रखती हैं. उसको इस बात पर हैरत हुई थी. पर सबसे अधिक हैरत उसे इस बात पर हुई कि नंग-धड़ंग वह उसके सामने खड़ी हो गयी और उसको लाज तक न आयी . . .!

'क्यों?' उसने खुद से पूछा.

इसका जवाब तो कांता दे ही चुकी थी . . . . "जब तूने कहा खुशिया, तो मैंने सोचा क्या हर्ज है, अपना खुशिया . . .

तो है . . . आने दो!"

कांता और खुशिया एक ही पेशे में शरीक थे. वह उसका दलाल था, इस दृष्टि से वह उसी का था . . . पर यह कोई कारण नहीं था कि वह उसके सामने नंगी हो जाती. 'कोई खास बात थी...' कांता के सवाल का खुशिया कोई और ही अर्थ कुरेद रहा था.

यह अर्थ एक ही समय में इतना स्पष्ट और इतना अस्पष्ट था कि वह किसी खास नतीजे पर नहीं पहुंच सका था. उस समय भी वह कांता के नग्न शरीर को देख रहा था, जो ढोलकी पर मढ़े हुए चमड़े की भांति तना हुआ था. उसकी फिसलती हुई निगाहों से बिलकुल बे-परवाह. कई बार उस विमूढ़ स्थिति में

भी उसने कांता के सांवले-सलोने शरीर पर टोह लेने वाली नजरें गाड़ी थीं, पर उसका एक रोआं तक भी न कंपकंपाया था. बस पत्थर की उस मूर्ति के समान वह खड़ी रही, जो अनुभूतिहीन हो!

भई, एक मर्द उसके सामने खड़ा था . . . मर्द, जिसकी निगाहें कपड़ों में भी औरत के जिस्म तक पहुंच जाती हैं और जो, खुदा जाने ख़्याल ही ख़्याल में जाने कहां तक पहुंच जाता है! लेकिन वह ज़रा भी न घबरायी और . . . और उसकी आंखें, ऐसा समझ लो कि अभी लांड्री से धुलकर आयी हैं . . . उसको थोड़ी-सी लाज तो आनी चाहिए थी. ज़रा-सी सुर्खी तो उसकी आंखों में पैदा होनी चाहिए थी. मान लिया, वेश्या थी, पर वेश्याएं यों नंगी तो नहीं खड़ी हो जाती!

उसे दलाली करते दस साल हो गये थे और इन दस सालों में वह पेशा कराने वाली लड़कियों के सारे भेदों से वाक़िफ हो चुका था. मिसाल के तौर पर उसे यह मालूम था कि पायधोनी के अंतिम छोर पर जो छोकरी एक युवा लड़के को भाई बनाकर रहती है, इसलिए 'अछूत कन्या', का रिकार्ड 'काहे करता मूरख प्यार-प्यार . . .' अपने टूटे हुए बाजे पर बजाया करती है कि उसे अशोक कुमार से बुरी तरह इश्क है. कई मनचले अशोक कुमार से उसकी मुलाकात कराने का झांसा देकर अपना उल्लू सीधा कर चुके हैं. उसे यह भी मालूम था कि दादर में जो पंजाबिन रहती है, केवल इसलिए कोट-पतलून पहनती है कि उसके एक आशिक ने उससे कहा था कि तेरी टांगें तो बिलकुल उस अंग्रेज ऐक्ट्रेस की तरह हैं जिसने 'मराको' उर्फ़ 'खूने-तमन्ना' में काम किया था. यह फ़िल्म उसने कई बार देखी और जब उसके आशिक ने कहा कि मार्लिन डिट्रेच इसलिए पतलून पहनती है कि उसकी टांगें बहुत सुंदर हैं और उसने उन टांगों का दो लाख का बीमा करा रखा है, तो उसने भी पतलून पहननी शुरू कर दी, जो उसके नितंबों पर बुरी तरह फंस-कर आती थी. वह मझगांव वाली दक्षिणी छोकरी के बारे में भी जानता है, जो सिर्फ इसलिए कालेज के खूबसूरत लड़कों को फांसती है कि उसे एक खूबसूरत बच्चे की मां बनने का अरमान है. वह यह भी जानता है कि वह कभी भी अपनी इच्छा पूरी नहीं कर सकेगी, क्योंकि वह बांझ है. उस काली मद्रासिन के बारे में जो हर समय कानों में हीरे के टाप्स पहने रहती थी, उसे यह बात अच्छी तरह मालूम थी कि उसका रंग कभी सफ़ेद नहीं हो सकता और वह उन दवाओं पर फ़जूल पैसा बरबाद कर रही है जो वह आये दिन खरीदती रहती है.

वह उन सभी छोकरियों के अंदर-बाहर के हाल अच्छी तरह जानता था जो पेशे में शामिल थीं. पर उसको यह अंदाज न था कि एक दिन कांता कुमारी, जिसका असली नाम इतना कठिन था कि वह सारी उम्र भी याद नहीं कर सकता था, उसके सामने नंगी खड़ी हो जायेगी. और उसे जिंदगी के सबसे बड़े ताज्जुब में डाल देगी.

सोचते-सोचते उसके मुंह में पान की इतनी पीक इकट्ठी हो गयी थी कि अब वह मुश्किल से सुपारी के उन नन्हें-नन्हें रेज़ों को चबा सकता था जो उसकी दांतों में से इधर-उधर फिसलकर निकल जाते थे. उसके छोटे-से माथे पर पसीने की नन्हीं-नन्हीं बूंदें उभर आयी थीं जैसे मलमल में पनीर को थोड़े-से दबा दिया गया हो . . . उसके पुंसत्व को धक्का-सा पहुंचता था, जब भी वह कांता के नंगे जिस्म को अपनी कल्पना में देखता था. उसे महसूस होता था जैसे उसका अपमान हुआ है.

अनायास उसने अपने मन में सोचा; भई, यह अपमान नहीं है तो क्या है . . .! यानी एक छोकरी नंग-धड़ंग तुम्हारे सामने खड़ी हो जाती है . . .! 'तुम खुशिया ही तो हो' . . . खुशिया न हुआ साला वह बिल्ला हो गया जो उसके बिस्तर पर हर समय ऊंघता रहता है...!

▣

उसे विश्वास होने लगा कि सचमुच उसका अपमान हुआ है . . . वह मर्द था और उसको इस बात की पूरी आशा थी कि औरतें चाहे शरीफ़ हों, चाहे बाज़ारू, उसको मर्द ही समझेंगी और उसके तथा अपने बीच वो पर्दा कायम रखेंगी जो एक मुद्दत से चला आ रहा है.

वह तो सिर्फ़ यह पता लगाने के लिए कांता के यहां गया था कि वह कब तक मकान बदल रही है और कहां जा रही है! कांता के पास उसका जाना बिलकुल व्यापार से संबंधित था.

अगर खुशिया कांता के बारे में सोचता कि जब वह उसका दरवाज़ा खटखटायेगा, तो वह अंदर क्या कर रही होगी, तो उसकी कल्पना में हद से हद इतनी ही बातें आ सकती थीं . . .

—सिर पर पट्टी बांधे लेटी होगी!

—बिल्ले के बालों से पिस्सू निकाल रही होगी!

—उस हेयर-रिमूवर से अपनी बगलों के बाल साफ़ कर रही होगी जो इतनी बास मारता था कि खुशिया की नाक बर्दाश्त नहीं कर सकती थी!

—पलंग पर अकेली बैठी ताश फैलाये पेशंस खेलने में मस्त होगी.

बस यही काम थे, जो उसके दिमाग में आते. घर में वह किसी को रखती नहीं थी, इसलिए इस बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था. पर उसने यह

तो सोचा ही नहीं था. वह तो काम से वहां गया था कि अचानक कांता... यानी कपड़े पहनने वाली कांता मतलब यह कि वह कांता जिसको वह हमेशा कपड़ों में देखा करता था, उसके सामने निर्वस्त्र खड़ी हो गयी...बिल्कुल नंगी ही समझो, क्योंकि एक छोटा-सा तौलिया सब कुछ तो छिपा नहीं सकता. खुशिया को यह दृश्य देखकर ऐसा महसूस हुआ था कि जैसे छिलका तो उसके हाथ में रह गया है और केले का गूदा बिछल-कर उसके सामने जा गिरा है. नहीं, उसे कुछ और ही महसूस हुआ था जैसे ...जैसे वह स्वयं नग्न हो गया है. अगर बात यहीं पर खत्म हो जाती तो कुछ भी न होता. खुशिया अपने आश्चर्य को किसी न किसी तरह से दूर कर देता. मगर यहां मुसीबत यह आ पड़ी थी कि उस लौंडिया ने मुस्कराकर कहा था, "जब तुमने कहा खुशिया है, तो मैंने सोचा, अपना खुशिया ही तो है, आने दो...!" यह बात उसे खाये जा रही थी.

साली मुस्करा रही थी...! वह बार-बार बड़बड़ाया. जिस तरह कांता नंगी थी. उसी तरह उसकी मुस्कराहट भी उसे नंगी नज़र आयी थी. यह मुस्करा-हट ही नहीं, उसे कांता का बदन भी इस हद तक दिखायी दिया था जैसे उस पर रंदा फिरा हुआ है.

उसे बचपन के वे दिन याद आ रहे थे. जब पड़ोस की एक औरत उसे कहती थी, "खुशिया बेटा, जा दौड़कर यह बाल्टी पानी से भर ला." जब वह बाल्टी भरकर लाता तो उस धोती के बनाये हुए पर्दे के पीछे से वह कहती, "अंदर आकर यहां मेरे पास रख दे. मैंने मुंह पर साबुन लगा रखा है..." वह पर्दा हटाकर बाल्टी उसके पास रख दिया करता था. उस समय साबुन की झाग में लिपटी हुई एक नग्न औरत उसे नज़र आती थी, पर उसके मन में किसी तरह की उथल-पुथल नहीं होती थी.

भई, मैं उस समय बच्चा था. बिल्कुल भोला-भाला. बच्चे और मर्द में बहुत अंतर होता है! बच्चों से पर्दा कौन करता है. मगर अब....मर्द हूं. मेरी उम्र इस समय करीब अठ्ठाईस साल है और इस उम्र के जवान आदमी के सामने तो कोई बूढ़ी औरत भी नग्न नहीं होगी.

कांता ने उसे क्या समझा था? क्या उसमें वे तमाम बातें नहीं थीं जो एक नौजवान मर्द में होती हैं? इसमें कोई संदेह नहीं कि कांता को अनायास नंग-धड़ंग देखकर वह घबरा गया था. लेकिन चोर दृष्टि से क्या उसने कांता के उन अंगों का जायजा नहीं लिया था! क्या हैरानी के साथ उसके दिमाग में यह ख्याल नहीं आया था कि दस रुपये में कांता बिल्कुल महंगी नहीं. और दशहरे के दिन बैंक का वह बाबू जो दो रुपये की रिआयत न मिलने पर वापस लौट गया था, बिल्कुल गधा था. ....इन सबके ऊपर क्या एक क्षण के लिए उसकी नसों में एक अजीब किस्म का तनाव पैदा नहीं हो गया था! और उसने एक ऐसी अंगड़ाई लेनी चाही थी, जिससे उसकी हड्डियां तक चटखने लगें ... फिर आखिर क्या वजह थी कि मंगलौर की उस सांवली छोकरी ने उसे मर्द न समझा और सिर्फ़ .... खुशिया समझकर उसको अपना सब कुछ देखने दिया.

उसने गुस्से में आकर पान की पीक थूक दी, जिसने सड़क पर कई बेल-बूटे बना दिये. पीक थूक कर वह उठा और... परेशान-सा अपने घर चला गया.

■

घर में उसने नहा-धोकर नयी धोती पहनी. जिस बिल्डिंग में वह रहता था, उसकी एक दूकान में सैलून था. उसमें जाकर उसने आईने के सामने अपने बालों में कंघी की. फिर एकाएक कुछ सोचकर वह कुर्सी पर बैठ गया और गंभीरता से उसने दाढ़ी मूंड़ने के लिए नाई से कहा. आज चूंकि वह दूसरी बार दाढ़ी मुंड़वा रहा था, इसलिए नाई ने कहा, "अरे भाई खुशिया, भूल गये क्या! सुबह मैंने ही तो तुम्हारी दाढ़ी मूंड़ी थी. ..?" इस पर उसने बड़ी गंभीरता से चेहरे पर उल्टा हाथ फेरते हुए कहा, "खूंटी अच्छी तरह नहीं निकली. ......!"

अच्छी तरह खूंटी निकलवाकर और चेहरे पर पाउडर मलवाकर वह बाहर निकला. सामने टैक्सी-स्टैंड था. ... ख़ास अंदाज में उसने 'शी...शी...' करके एक टैक्सी वाले को अपनी ... आकृष्ट किया और उंगली के इ... उसे टैक्सी लाने को कहा.

जब वह टैक्सी में बैठ गया तो ... ने घूमकर उससे पूछा, "कहां ... है साहब ?"

इन चार शब्दों ने और खास ... से 'साहब' शब्द ने खुशिया को ... खुश कर दिया. मुस्कराकर उसने ... दोस्ताना लहज़े में जवाब दिया, "... पहले तुम लेमिंग्टन रोड से होते ... ऑपेरा हाउस की ओर चलो... स...

लेमिंग्टन रोड का आखिरी ... आ गया तो उसने ड्राइवर को ... दिया, "बायें हाथ मोड़ लो."

टैक्सी बायीं तरफ मुड़ गयी. ... ड्राइवर ने गियर भी नहीं बदला ... खुशिया ने कहा, "उस सामने वाले ... के पास रोक लेना ज़रा."

ड्राइवर ने ठीक खंभे के पास ... रोक दी. दरवाजा खोलकर वह ... निकला और एक पान वाले की ... की तरफ बढ़ गया. यहां से उसने ... लिया और एक आदमी से जो ... दूकान के पास खड़ा था, चंद बातें ... उसे अपने साथ टैक्सी में बिठा लिया ... फिर ड्राइवर को 'सीधे ले चलो' ... सीट पर पसर गया.

टैक्सी चलती रही. खुशिया ने ... संकेत किया, ड्राइवर ने उधर ही ... घुमा दिया. कई बाजारों से होते ... टैक्सी एक गली में दाखिल हुई ... धुंधली-सी रोशनी थी और कुछ ... आ-जा रहे थे. कुछ लोग फुटपाथ ... बिस्तर बिछाये लेटे थे. उनमें से ... बड़े इतमीनान से चंपी करवा रहे ... टैक्सी जब उन चंपी कराने वालों ... से निकली और एक लकड़ी के बंगले ... मकान के पास पहुंची तो खुशिया ... ड्राइवर को रोकने के लिए कहा, ... यहां रुक जाओ !"

टैक्सी रुक गयी तो खुशिया ने ... आदमी से, जिसे वह साथ लेकर आया ... कहा, "जाओ मैं यहां इंतजार करता ...

वह आदमी बेवकूफों की तरह ... की ओर देखता हुआ टैक्सी से ...

निकला और सामने मकान में घुस गया.

वह टैक्सी की सीट पर एक टांग दूसरी टांग पर रखकर बैठ गया. जेब से बीड़ी निकालकर सुलगायी और कुछ कश लेकर बाहर सड़क पर फेंक दी. वह अब बहुत बेचैन था, इसलिए उसे लगा कि टैक्सी का इंजन बंद नहीं हुआ. चूंकि उसके सीने में फड़फड़ाहट-सी हो रही थी, इसलिए वह समझा कि ड्राइवर ने बिल बढ़ाने के लिए पैट्रोल छोड़ रखा है. अतः उसने तेजी से कहा, "इंजन चालू रखकर तुम कित्ते पैसे और बढ़ा लोगे?"

ड्राइवर ने घूमकर उसकी ओर देखा और कहा, "सेठ, इंजन तो बंद है."

खुशिया को अपनी गलती का अहसास हुआ तो उसकी बेचैनी और बढ़ गयी. . . . उसने कुछ कहने के बजाय होंठ चबाने शुरू कर दिये. फिर एकाएक उसने ड्राइवर का कंधा हिलाया और कहा, "देखो, अभी एक छोकरी आयेगी. जैसे ही वह अंदर आये, तुम टैक्सी चला देना.....समझे?......घबराना नहीं!"

इतने में सामने वाले मकान से दो आदमी बाहर निकले. आगे-आगे खुशिया का दोस्त था, पीछे-पीछे कांता, जिसने शोख रंग की साड़ी पहन रखी थी.

▣

खुशिया झट से सीट के उस तरफ सरक गया, जिधर अंधेरा था. खुशिया के दोस्त ने टैक्सी का दरवाजा खोला और कांता को अंदर दाखिल करके दरवाजा बंद कर दिया. उसी समय कांता की हैरतअंगेज आवाज सुनायी दी, जो किसी कदर चीख से मिलती-जुलती थी, "खुशिया तू?"

"हां मैं. . . . .लेकिन तुझे रुपये मिल गये हैं न?" खुशिया की भरभरी आवाज बुलंद हुई, "देखो ड्राइवर, जुहू ले चलो!"

ड्राइवर ने सेल्फ दबाया. इंजन घड़-घड़ाने लगा. वो बात जो कांता ने कही, सुनायी न दे सकी. टैक्सी एक धक्के के साथ आगे बढ़ी और खुशिया के दोस्त को सड़क पर हक्का-बक्का खड़ा छोड़ उस लगभग अंधेरी गली में गायब हो गयी.

इसके बाद किसी ने खुशिया को मोटरों की दूकान के उस पत्थर के चबूतरे पर नहीं देखा! ☐

● **रूपांतर : महावीर**

मंटोनामा

वह बड़ा नामवर अफसाना-निगार था

जन्म: ११ मई, १९१२
जन्म स्थान: समराला, जिला: लुधियाना (पंजाब)
पत्नी का नाम: साफिया
औलाद: तीन लड़कियां—निगहत, नजहत और नुसरत
तालीम: अमृतसर, और अलीगढ़
आवास: अमृतसर, अलीगढ़, लाहौर, दिल्ली और बंबई
इंतकाल: १८ जनवरी, १९५५—लाहौर मियां साहब कब्रिस्तान में दफन किये गये.

▣

पहली कहानी: तमाशा (साप्ताहिक 'खल्क', अमृतसर)
पहला कहानी संकलन: चिंगारियां (१९३५)
आखिरी कहानी: कबूतर और कबूतरी

जिन कहानियों पर मुकदमे चले

'काली सलवार', 'बू', 'ठंडा गोश्त', 'धुआं', 'खोल दो', 'ऊपर, नीचे और दरम्यान'.

पुस्तकें

मंटो के अफसाने, चुगद, खाली बोतलें-खाली डिब्बे, सरकंडों के पीछे, जनाज़े, धुआं, स्याह हाशिये, ऊपर नीचे और दरम्यान, आओ, मंटो के ड्रामे, यज़ीद, सड़क के किनारे, बुरके, करवट, लज्जते-संग, तल्ख-तुर्श-शीरीं, फुंदने, तीन औरतें, अफसाने और ड्रामे, नमरुद की खुदाई, बादशाहत का खात्मा, मंटो के मज़ामीन, नूरजहां सरवर जान, ठंडा गोश्त, गंजे फरिश्ते, शिकारी औरतें, इस्मत चुगताई.

▣ **अनुवाद:** वीरा, सरगुज़श्ते असीरा, गोर्की के अफ़साने

☐ **'गंजे फरिश्ते' में जिन्ना, आगा हश्र, अख्तर शीरानी, मीराजी, इस्मत चुगताई, श्याम नसीम, नरगिस, डिसाई और बाबूराव पटेल आदि के रेखाचित्र हैं.**

☐ **अमृतसर में कूचा वकीलां 'मंटोओं का मुहल्ला' था. सआदत कहा करते थे कि 'मंट' कश्मीरी ज़ुबान में तराज़ू को कहते हैं. कश्मीर में हमारे अब्बा के यहां दौलत तराज में तुलती थी. इसी रिवायत से हम 'मंटो' कहलाये.** ☐

परिचर्चा
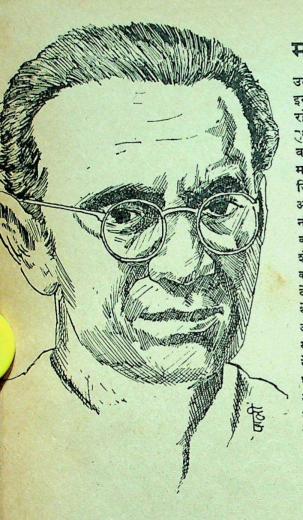
मंटो: उर्दू अदब का मसीहा या शैतान?

▣ डा. कमलकिशोर गोयनका

मंटो के जीवन और उसके रचना संसार को लेकर उर्दू अदब में बड़ी चर्चाएं हुई हैं. इन बहसों में दो तरह के अदीब रहे हैं—एक, जिन्होंने मंटो की हक़ीक़त निगारी और बेबाक वर्णन के लिए उसे उर्दू अदब का मसीहा घोषित किया और दूसरे, जिन्होंने उसे बीमार ज़ेहन का आदमी, तथा जिंसी भूख एवं नंगेपन का कहानीकार घोषित करते हुए उसे उर्दू अदब का शैतान बनाकर पेश किया. मंटो को शैतान मानने वाले असल में वे लोग थे जो मज़हब के करीब थे और नैतिकता के समर्थक एवं अश्लीलता के विरोधी थे. परंतु यह भी सच है कि ये लोग बाहर से मंटो को गाली देते थे और घर जाकर चुपके से उसके अफ़साने पढ़ते थे. मंटो ने एक बार अपने आलोचकों को उत्तर देते हुए कहा था कि ज़माने के जिस दौर से हम गुज़र रहे हैं, अगर आप उससे वाकिफ़ हैं तो मेरे अफ़साने पढ़िये और अगर आप इन अफ़सानों को बरदाश्त नहीं कर सकते तो इसका मतलब है कि ज़माना नाकाबिले-बरदाश्त है. मेरी तहरीर (लेखन-शैली) में कोई नक्श नहीं, जिस नक्श को मेरे नाम से मनसूब किया जाता है, वह दरअसल मौजूदा निज़ाम का एक नक्श है. मैं हंगामा पसंद नहीं हूं और लोगों के विचारों में उत्तेजना पैदा करना नहीं चाहता. मैं तहज़ीब और तमद्दुन (संस्कृति) और सोसाइटी की चोली क्या उतारूंगा, जो है ही नंगी. मैं उसे कपड़े पहनाने की कोशिश भी नहीं करता, क्योंकि यह मेरा काम नहीं, दर्जियों का काम है. यहां प्रस्तुत हैं मंटो के व्यक्तित्व-कृतित्व पर सुधी विद्वानों की टिप्पणियां—

उसे मसीहा कहा जा सकता है

▣ डा. क़मर रईस

मंटो का नाम ज़ेहन में आते ही उसके कुछ पात्र सामने आने लगते हैं, जैसे जानकी, मम्मद भाई, मोज़िल; और कुछ कहानियां—नया कानून, ठंडा गोश्त, आदि. 'स्याह हाशिये' भी एकदम ज़ेहन में उतर आते हैं जो उसने भारत विभाजन पर लिखे हैं और जिनमें छोटी-छोटी कहानियां दी गयी हैं. मंटो से मेरा सबसे पहले परिचय उस समय हुआ, जब मैं इंटरमिडिएट में पढ़ता था. दोस्तों ने बताया कि सैक्स का मज़ा लेने के लिए उसके अफ़साने पढ़ो. उस उम्र में मैंने सैक्स के लिए ही मंटो को पढ़ा था, क्योंकि उस समय उम्र ही ऐसी थी, परंतु आज महसूस करता हूं कि वह दृष्टिकोण गलत था. मंटो के अफ़सानों में केवल सैक्स नहीं है. वह केवल पच्चीस प्रतिशत है और शेष भाग में समाज के गिरे हुए लोगों—जल्लाद, वेश्या, एजेंट, दुकानदार, मज़दूर, साधु, क्लर्क, शराबी आदि की कहानियां आती हैं, जिनमें इंसानी घटना और भावना इस प्रकार से संश्लिष्ट रूप में व्यक्त हुई है कि ज़िंदगी की हकीकत सामने आ जाती है. मंटो ने वेश्या-वृत्ति, सांप्रदायिकता आदि कुछ समस्याओं को जिस वैज्ञानिक तटस्थता से पेश किया है, उसे देखते हुए उसे मसीहा कहा जा सकता है. वेश्या की घिनौनी ज़िंदगी को उसने घिनौने रूप में ही पेश किया, परंतु तवायफ़ के अंदर बैठे इंसान को भी उसने 'डिस्कवर' किया, जो उर्दू अफ़साने में एक नयी बात थी. यह सच है कि नैतिकतावादियों एवं प्रगतिशील लेखकों ने उसकी कटु आलोचना की लेकिन

कमल किशोर

क़मर

उर्दू अदब का शैतान हर्गिज नहीं कहा जा सकता. उसने बहुत-सी कहानियां लोगों को 'इरिटेट' करने तथा उन्हें झकझोरने के लिए लिखी और उनका वैसा ही असर भी हुआ. लोग झुंझलाते थे, गाली देते थे, परंतु घर जाकर कहानियां पढ़ते थे. मंटो का यह योगदान क्या कम है कि जो लोग उसे शैतान कहते थे, वे भी उसे पढ़ते थे. फिर भी, उसका योगदान कला की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है. उसके अफ़साने का आर्ट फ्रेंच यथार्थवादियों के आर्ट के बहुत करीब है. मंटो की गद्य-शैली उर्दू में सबसे अच्छी गद्य-शैली है और आज़ादी के बाद उभरी हुई लेखकों की पीढ़ी पर मंटो की कला-शैली का गहरा असर पड़ा है. नयी उर्दू कहानी पर प्रेमचंद का असर कहीं दिखलायी नहीं देता. मंटो की कला और शैली का असर ही सर्वाधिक है.

मैं उसे एक इंसान मानता हूं

▣ सैयद गुलाम समनानी

मंटो का नाम सुनते ही मेरे मन में जो पहली प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, वह है कि मंटो उर्दू में एक सुधारवादी लेखक था. एक चीज अश्लील हो सकती है, लेकिन उसका उद्देश्य अश्लील नहीं हो सकता. मंटो का उद्देश्य भी समस्याओं का चित्रण और सुधारवादी है. पाकिस्तान में उसकी तीन किताबों—'स्याह हाशिये', 'ठंडा गोश्त' और 'सरकंडे के पीछे' पर मुकदमा चला और प्रतिबंध लगाया गया, परंतु उस पर नंगेपन और अश्लीलता का इल्ज़ाम लगाना एकदम गलत बात है. उसका एक छोटा अफ़साना है, 'खोल दो.' हो सकता है, साहित्य को न समझने वाला तथा सैक्स के लिए ही पढ़ने वाला पाठक उसे अश्लील समझकर मज़ा ले, परंतु यह कहानी उद्देश्य की दृष्टि से बहुत ही अर्थवान है. इस कहानी में एक लड़की है, जो बेहोशी के आलम में डाक्टर के सामने लेटी है. डाक्टर अपने दूसरे साथी से इशारा करते हुए खिड़की खोल देने को कहता है, तभी 'खोल दो' शब्द सुनकर उस बेहोश लड़की का हाथ अपनी सलवार खोलने के लिए उठ जाता है. क्या लड़की की यह मन:स्थिति सारी कहानी नहीं कह देती! क्या मंटो का उद्देश्य यहां साफ नहीं हो जाता! मंटो

जिस बात को कहता है, उसके बाहर से अश्लील लगने पर भी वह उसमें मज़ा नहीं लेता. अंग्रेजी और फ्रांसीसी साहित्य में इस तरह का साहित्य बहुत लिखा गया है. 'लेडीज़ चटर्जीस लवर' और 'लोलिता' इसी तरह की किताबें हैं जो समाज के घिनौने रूप को उजागर करती हैं. और उर्दू साहित्य एवं संस्कृति में तो इस प्रकार का वर्णन नया नहीं है. उर्दू शायरी तथा 'तिलिस्मे होशरुबा' आदि में ऐसे बहुत उदाहरण हैं जहां भावनाओं को उत्तेजित करना ही उद्देश्य है. यदि हम पुराने शायरों को अनैतिक एवं शैतान कहने को तैयार हों, तो मंटो भी उसी कोटि का एक लेखक है. पुराने शायरों और मंटो में सबसे बड़ा अंतर यह है कि उनका कोई उद्देश्य नहीं था, जबकि मंटो में सभी कुछ उद्देश्य के साथ जुड़ा हुआ है. इसी कारण मैं उसे न मसीहा कहूंगा और न शैतान. मैं उसे एक इंसान मानता हूं, क्योंकि उसने अपनी कहानियों में इंसानी कमजोरियों एवं खूबियों का चित्रण किया है. मंटो खुद 'सुपर मैन' नहीं है, इस कारण उसके पात्र भी 'सुपर मैन' नहीं हैं. वह एक सामान्य आदमी है, उसके पात्र भी उसी तरह से सामान्य आदमी—अच्छाई और बुराई के पुतले हैं. उसकी कला भी सीधी-सरल है. वह बिंब भी समाज से लेता है. इसी कारण मंटो उर्दू के अस्तित्ववादी लेखकों में तो सबसे बड़ा लेखक है.

शैतान कहने को तैयार नहीं

▣ अनवार अहमद खां

मंटो को मैंने सबसे पहले तब पढ़ा था, जब मैं उर्दू से एम. ए. कर रहा था. उसके बाद फिर कई बार मैंने मंटो को पढ़ा. उसके कुछ अफ़साने—नया कानून, खुशिया, डरपोक, सरकंडों के पीछे, बुआं, ब्लाउज़, हतक, काली सलवार, ठंडा गोश्त आदि आज भी मेरे मस्तिस्क में जिंदा तस्वीरों की तरह विद्यमान हैं. उर्दू के कुछ आलोचकों ने उसे अश्लील अफ़साने लिखने वाला एवं बीमार ज़ेहन का आदमी कहा है. इन आरोपों से मैं उस समय भी सहमत नहीं था, जब मैंने एक छात्र के रूप में उसके अफ़साने पढ़े थे. मंटो के संदर्भ में अश्लीलता और जिंसी भूख क्या है, यह समझना जरूरी है. स्त्री-पुरुष का शारीरिक संबंध एक प्राकृतिक नियम है. फिर उसे चित्रित करना कैसे अश्लील हो सकता है? मैं नहीं मानता कि इस हकीकत को बयान करना अश्लीलता और नंगापन है. मंटो की कहानियां और किरदार किसी दूसरी दुनिया की चीज़ नहीं हैं. वे इसी समाज और परिवेश में से चुने गये हैं. उसने समाज की हकीकत को ही पाठक के

सामने रखा है. उसने हकीकत बयानी से काम लिया है अर्थात् उसने हकीकत की अक्कासी की है. हकीकत हमेशा तल्ख होती है, इसलिए लोग वो तल्खी बर-दाश्त नहीं कर सके.

मंटो ने सिर्फ जिंसयात पर ही नहीं लिखा, देश की आज़ादी पर भी उसके अफ़साने मिलते हैं. 'नया कानून' के किरदार मंगू कोचवान में अंग्रेजों के खिलाफ नफरत है. आज़ादी मिलने पर एक अंग्रेज जब उसे छड़ी छुआ देता है, तो वह कोचवान मुक्का मारता है. परंतु मंटो में गांधी के समान सियासत नहीं है. मंटो ने साफ लिखा है कि सियासत से मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है. लीडरों और दवाफरोशों को मैं एक ही ज़ुमारे (जन-समूह) में शुमार करता हूं. ये दोनों ही पेशे हैं.

रही मंटो को शैतान या मसीहा कहने की बात, तो मैं उसे शैतान कहने को कतई तैयार नहीं हूं. उसने समाज को गहरी नज़र से देखा और बड़े ही कलात्मक रूप में पेश किया. उसकी हकीकत बयानी ही उसे मसीहा बनाने के लिए काफी है.

मसीहा उसे नहीं कहूंगी

▣ **जाहिदा ज़ैदी**

मंटो का नाम किस परिस्थिति और किस संदर्भ में लिया जा रहा है, मंटो के संबंध में पड़ी पुरानी बहस को क्यों छेड़ा जा रहा है और हिंदी के अदीब इस बहस में इतनी दिलचस्पी क्यों ले रहे हैं? मंटो का संबंध किसी विशेष गुट या गिरोह से नहीं है. उसका संबंध चारों ओर फैली जिंदगी से है, अतः मंटो हिंदी वालों का भी उतना

ही है, जितना उर्दू वालों का. मैंने मंटो को अपनी युवावस्था में पढ़ा था. अदब से गहरी दिलचस्पी थी, परंतु उस समय मंटो के नाम से हुए हंगामों तथा मुकदमों से वाकिफ नहीं थी. यह सच है कि मंटो ने सेक्स पर काफ़ी ज़ोर दिया है, लेकिन मैं उसे बुरा नहीं समझती. वैसे भी मंटो के अफ़सानों में सैक्स प्रमुख नहीं है. उसने जीवन के दूसरे पहलुओं पर भी उतना ही ध्यान दिया है और पाठकों को भी ध्यान देने के लिए उत्तेजित किया है. उसके कई स्मरणीय पात्रों में वेश्याएं आती हैं, जो वेश्या होने के साथ इंसान और औरत की हैसियत से भी हमारे सामने आती हैं. सुल्ताना की तनहाई, परेशानियां और मज़हब के बारे में सीधे-सादे विचार, सुगंधी की खुद्दारी, निश्छलता और अपने ग्राहकों से हमदर्दी, जानकी का मुहब्बत भरा दिल और अपने आशिकों की खिदमत और देखभाल आदि उन्हें इंसान एवं औरत के रूप में पेश करते हैं. मंटो को बदनाम तो वही लोग करते हैं जो हर सच्चाई पर बिदकते हैं या फिर वे लोग जो सेक्स का ज़िक्र आते ही इतने मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं कि और कोई बात देख ही नहीं सकते. ये लोग उसके मज़े भी लूटते हैं और उसके ख़तरनाक होने का रोना भी रोते हैं. मंटो एक अनुभूतिशील दिल का मालिक है. ज़िंदगी को उसने करीब से और गहराई से देखा है. उसके किरदार बेहद मामूली इंसान हैं, लेकिन मंटो ने उन्हें बड़ी होशियारी और फन की नज़ाक़तों के साथ पेश किया है. उसने अपने किरदारों को इंतहाई हमदर्दी देने के बावजूद अपनी तटस्थता को कायम रखा है. किरदारों का हालात से समझौता करना या दुनिया से पलायन कर जाना, दोनों ही स्थितियों में उन्हें मंटो की हमदर्दी मिलती है. उसके बेहतरीन अफ़सानों में कामेडी-ट्रेजडी का मिला-जुला अंदाज़ है, जिसने उसके फन को बड़ा दिलकश और आधुनिक बना दिया है. उसके फन की एक और विशेषता है—'ब्रेविटि', अर्थात् वह इशारों में बात कह जाता है और कुछ बातें अनकही छोड़ देता है. उसके अफ़सानों के अंत में अक्सर एक सवाल पैदा होता है, जिसके कई जवाब हो सकते हैं. लेकिन ये सवाल हमें जिंदगी की बुनियादी हकीकतों से दो-चार नहीं करते, बल्कि उसी महदूद दायरे में वापस ले आते हैं जो मंटो के अफ़सानों की दुनिया है. मेरी निगाह में मंटो 'शैतान' तो हर्गिज नहीं था, क्योंकि यह जिंदगी आदम और हव्वा की जन्नत तो नहीं है, जहां इंसान की मासूमियत और पाकीज़गी के आगे फरिश्तों को भी सिर झुकाना पड़ा था. मंटो तो हमारी-आपकी तरह उस खोयी हुई जन्नत का वासी है जो पहले से ही गुनाहों में लिप्त है. परंतु उसने मासूम रूहों को गुमराह नहीं किया. फिर भी 'मसीहा' उसे नहीं कहूंगी, क्योंकि मंटो ने किसी मुर्दा जिस्म में जान नहीं डाली. उर्दू अफ़साना एक ज़िंदा हकीकत थी. मंटो ने अवश्य ही उसका रंग-रूप निखारा, ऊंचाइयों तक ले गया, लेकिन एक मसीहा की तरह उसकी नजात का ज़रिया न बन सका, क्योंकि नजात की मंजिल अभी दूर थी. □

मंटो की व्यंग्य रचनाएं
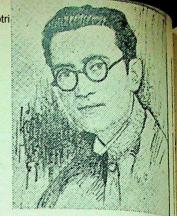
देख कबीरा रोया

"भाइयो! बाज-याफ़्ता औरतों का मसला हमारा सबसे बड़ा मसला है. इसका हल हमें सबसे पहले सोचना है. अगर हम गाफ़िल रहे, तो ये औरतें वेश्यालयों में चली जायेंगी. फाहिशा बन जायेंगी. सुन रहे हो, फाहिशा बन जायेंगी ... तुम्हारा फर्ज़ है कि तुम इनको इस खौफ़नाक भविष्य से बचाओ और अपने घरों में उनके लिए जगह पैदा करो ... अपनी, अपने भाई की या अपने बेटे की शादी करने से पहले तुम्हें इन औरतों को हरगिज़ भूलना नहीं चाहिये!"

कबीर फूट-फूटकर रोने लगा. तकरीर करने वाला रुक गया. कबीर की तरफ इशारा करके उसने बुलंद आवाज़ में हाज़रीन से कहा, "देखो, इस शख़्स के दिल पर कितना असर हुआ है!"

कबीर ने रुंधी आवाज़ में कहा, "शब्दों के बादशाह! तुम्हारी तकरीर ने मेरे दिल पर कुछ असर नहीं किया. मैंने जब सोचा कि तुम किसी मालदार औरत से शादी करने की खातिर अभी तक कुवांरे बैठे हो तो मेरी आंखों में आंसू आ गये!"

दो कौमें

मुख्तार ने शारदा को पहली बार झिरियों में से देखा. वह ऊपर कोठे पर कटी हुई पतंग लेने गया, तो उसे झिरियों में से एक झलक दिखायी दी. सामने वाले मकान की ऊपरी मंज़िल की खिड़की खुली थी. एक लड़की डोंगा हाथ में लिये नहा रही थी. मुख्तार को बड़ा विस्मय हुआ कि यह लड़की कहां से आ गयी, क्योंकि सामने वाले मकान में कोई लड़की नहीं थी. जो थी, ब्याही जा चुकी थी. केवल रूप कौर थी. उसका पिलपिला पति कालूमल था. उनके तीन लड़के थे और बस !

मुख्तार ने पतंग उठायी और ठिठक कर रह गया. लड़की

बहुत खूबसूरत थी. उसके नंगे बदन पर सुनहरे रोएं थे. उनमें फंसी हुई पानी की नन्हीं-नन्हीं बूंदें चमक रही थीं. उसका रंग हल्का सांवला था. सांवला भी नहीं, तांबे के रंग जैसा. पानी की नन्हीं-नन्हीं बूंदें ऐसी लगती थीं, जैसे उसका बदन पिघलकर बूंद-बूंद बनकर गिर रहा था.

मुख्तार ने झिरी के सुराखों के साथ अपनी आंखें जमा दीं और उस लड़की को, जो डोंगा हाथ में लिये नहा रही थी, दिलचस्पी और गौर से देखना शुरू कर दिया. उसकी उमर अधिक से अधिक सोलह वर्ष की थी. गीले सीने पर उसकी छोटी-छोटी गोल छातियां, जिन पर पानी की बूंदें फिसल रही थीं, बड़ी चित्ताकर्षक थीं. उसे देखकर मुख्तार के दिल-दिमाग में कामभावनाएं उत्पन्न नहीं हुई. एक जवान, खूबसूरत और बिल्कुल निरावरण लड़की उसकी नज़रों के सामने थी. होना यह चाहिए था कि मुख्तार के अंदर कामोत्तेजना व्याप्त हो जाती, पर वह बड़ी तल्लीनता से उसे देख रहा था, जैसे किसी चित्रकार का चित्र देख रहा हो.

लड़की के निचले होंठ के अंतिम कोने पर बड़ा-सा तिल था. . .बेहद गंभीर . .बेहद संजीदा, जैसे वह अपने अस्तित्व से अनभिज्ञ है, पर दूसरे उसके अस्तित्व से अवगत हैं. . . .केवल इस हद तक कि उसे वहां होना चाहिए था, जहां कि वह था.

बांहों पर सुनहरे रोएं पानी की बूंदों के साथ लिपटे हुए चमक रहे थे. उसके सिर के बाल सुनहरे नहीं, भूसले थे, जिन्होंने शायद सुनहरे होने से इंकार कर दिया था. शरीर सुडौल और गदराया हुआ था, पर उसे देखने से उत्तेजना पैदा नहीं होती थी. मुख्तार देर तक झिरी के साथ आंखें जमाये रहा.

लड़की ने बदन पर साबुन मला. मुख्तार तक उसकी खुशबू पहुंची. सलोने, तांबे जैसे रंग वाले बदन पर सफेद झाग बड़े सुहाने लगते थे. फिर जब यह झाग पानी के प्रवाह से फिसले तो मुख्तार ने महसूस किया, जैसे उस लड़की ने अपना बुलबुलों का लिबास बड़े इतमीनान से उतारकर एक ओर रख दिया है.

स्नान से निपटकर लड़की ने तौलिये से अपना बदन पोंछा. बड़ी शांति और निश्चितता से धीरे-धीरे कपड़े पहने. खिड़की के डंडे पर दोनों हाथ रखे और सामने देखा. एकदम उसकी आंखें लज्जा की झीलों में डूब गयीं. उसने खिड़की बंद कर दी. मुख्तार हठात् हंस पड़ा. लड़की ने फौरन खिड़की के पट खोले और बड़े गुस्से में झिरी की ओर देखा. मुख्तार ने कहा, "मैं कसूरवार नहीं. आप खिड़की खोलकर क्यों नहा रही थीं."

लड़की ने कुछ नहीं कहा. उद्विग्न नज़रों से झिरी को देखा और खिड़की बंद कर ली.

चौथे दिन रूप कौर आयी. उसके साथ वही लड़की थी. मुख्तार की मां और बहन दोनों सिलाई और क्रोशिये के काम में प्रवीण थीं. गली की अधिकांश लड़कियां उनसे यह काम सीखने के लिए आया करती थीं. रूप कौर भी इस लड़की को इसी मतलब से लायी थी, क्योंकि उसे क्रोशिये के काम का बहुत शौक था. मुख्तार अपने कमरे से निकलकर सेहन में आया, तो उसने रूप कौर को प्रणाम किया. लड़की पर उसकी नज़र पड़ी, तो वह सिमट-सी गयी. वह मुस्कराकर वहां से चला गया.

लड़की रोज़ाना आने लगी. मुख्तार को देखती, तो सिमट जाती. धीरे-धीरे उसकी यह प्रतिक्रिया दूर हुई और उसके दिमाग से यह ख़्याल कुछ लुप्त हुआ कि मुख्तार ने उसे नहाते हुए देखा था.

मुख्तार को मालूम हुआ कि उसका नाम शारदा है. रूप कौर के चाचा की लड़की है. अनाथ है. चेचोकी-मलिया में एक गरीब रिश्तेदार के साथ रहती थी. रूप कौर ने उसे अपने पास बुला लिया. इंट्रेंस पास है. बड़ी बुद्धिमान है, क्योंकि उसने क्रोशिये का मुश्किल से मुश्किल काम चुटकियों में सीख लिया था.

▣

दिन बीतते गये. इस दौरान मुख्तार ने महसूस किया कि वह शारदा के प्रेम में फंस गया है. यह सब कुछ धीरे-धीरे हुआ. जब मुख्तार ने उसे पहली बार झिरी में से देखा था, तो उस समय उसके सामने एक दृश्य था—बड़ा मनमोहक दृश्य, पर अब शारदा धीरे-धीरे उसके दिल में बैठ गयी थी. मुख्तार ने कई बार सोचा था कि यह प्रेम का मामला बिल्कुल गलत है, इसलिए कि शारदा हिंदू है. मुसलमान कैसे एक हिंदू लड़की से प्रेम करने का साहस कर सकता है! मुख्तार ने स्वयं को बहुत समझाया, पर वह अपनी प्रेम की भावना को मिटा न सका.

एक दिन घर में कोई नहीं था. मुख्तार की मां और बहन दोनों किसी रिश्तेदार के चालीसवें पर गयी हुई थीं. शारदा नित्य की तरह अपना थैला उठाये सुबह दस बजे आयी. मुख्तार सेहन में चारपाई पर लेटा अखबार पढ़ रहा था. शारदा ने उससे पूछा, "बहन जी कहां हैं?"

मुख्तार के हाथ कांपने लगे, "वह. . . . वह कहीं बाहर गयी है."

शारदा ने पूछा, "माता जी ?"

मुख्तार उठकर बैठ गया, "वह उसके साथ गयी हैं."

"अच्छा!" कहकर शारदा ने तनिक घबराई हुई नज़रों से मुख्तार को देखा और नमस्ते करके चलने लगी. मुख्तार ने उसे रोका, "ठहरो शारदा !"

शारदा को जैसे बिजली के करंट ने छू लिया. चौंककर रुक गयी, "जी?"

मुख्तार चारपाई पर से उठा, "बैठ जाओ. वह लोग अभी आ जायेंगे."

"जी नहीं. . . .मैं जाती हूं." कहकर भी शारदा खड़ी रही.

मुख्तार ने बड़े साहस से काम लिया. आगे बढ़ा. उसकी एक कलाई पकड़ी और खींचकर उसके होंठों को चूम लिया. यह सब कुछ इतनी जल्दी हुआ कि मुख्तार और शारदा दोनों को एक क्षण के लिए बिल्कुल पता न चला कि हुआ क्या है! उसके बाद दोनों कांपने लगे. मुख्तार ने केवल इतना कहा, "मुझे माफ कर देना!"

शारदा खामोश खड़ी रही. उसका तांबे जैसा रंग सुर्ख हो गया. होंठों में हल्की-सी कंपकंपाहट थी, जैसे वह छेड़े जाने पर शिकायत कर रहे हैं. मुख्तार अपनी क्रिया और उसके परिणामों को भूल गया. उसने एक बार फिर शारदा को अपनी ओर खींचा और सीने के साथ भींच लिया. शारदा ने प्रतिरोध न किया. वह केवल विस्मय-मूर्ति बनी हुई-सी एक प्रश्न बन गयी थी... एक ऐसा प्रश्न, जो स्वयं से किया गया हो. वह शायद स्वयं से पूछ रही थी. . .यह क्या हुआ है? यह क्या हो रहा है? क्या उसे होना चाहिए था? क्या ऐसा किसी और से भी हुआ है?

मुख्तार ने उसे चारपाई पर बिठा लिया और पूछा, "तुम बोलती क्यों नहीं हो शारदा?"

शारदा के दुपट्टे के पीछे उसका सीना धड़क रहा था. उसने कोई उत्तर न दिया. मुख्तार को उसका यह मौन बहुत चिंताजनक महसूस हुआ, "बोलो शारदा, अगर तुम्हें मेरी यह हरकत बरी लगी है तो कह दो. . . . .खुदा की कसम, मैं माफ़ी मांग लूंगा. तुम्हारी तरफ निगाह उठाकर नहीं देखूंगा. मैंने कभी ऐसी हिम्मत न की होती, लेकिन न जाने मुझे क्या हो गया है! . दरअसल. . . दरअसल मुझे तुमसे मुहब्बत है!"

शारदा के होंठ हिले, जैसे उन्होंने शब्द 'मुहब्बत' उच्चारण करने का प्रयत्न किया हो. मुख्तार ने बड़ी गर्मजोशी से कहना शुरू किया, "मुझे मालूम नहीं, तुम मुहब्बत का मतलब समझती हो कि नहीं . . . मैं खुद इसके बारे में ज़्यादा जानकारी नहीं रखता. सिर्फ इतना जानता हूं कि तुम्हें चाहता हूं. तुम्हारी सारी हस्ती को अपनी इस मुट्ठी में ले लेना चाहता हूं, अगर तुम चाहो तो मैं अपनी सारी ज़िंदगी तुम्हारे हवाले कर दूंगा. शारदा, तुम बोलती क्यों नहीं हो?"

शारदा की आंखें स्वप्निल हो गयीं. मुख्तार ने फिर बोलना शुरू कर दिया, "मैंने उस दिन झिरी में से तुम्हें देखा. नहीं... तुम मुझे खुद दिखायी दीं. यह ऐसा दृश्य था, जो मैं कयामत तक नहीं भूल सकता. तुम शरमाती क्यों हो, मेरी निगाहों ने तुम्हारी खूबसूरती चुरायी तो नहीं. . . मेरी आंखों में सिर्फ उस दृश्य की तस्वीर है. तुम उसे ज़िंदा कर दो तो मैं तुम्हारे पांव चूम लूंगा." यह कहकर मुख्तार ने शारदा का एक पांव चूम लिया.

वह कांप गयी. चारपाई पर से एकदम उठकर उसने कांपते स्वर में कहा, "यह आप क्या कर रहे हैं. हमारे धर्म में. . . ."

मुख्तार खुशी से उछल पड़ा, "धर्म-वर्म को छोड़ो. प्रेम के

धर्म में सब ठीक है." यह कहकर उसने शारदा को चूमना चाहा, पर वह तड़पकर एक ओर हटी और बड़े शर्मीले अंदाज़ में मुसकराती हुई भाग गयी. मुख्तार ने चाहा कि वह उड़कर ममटी पर पहुंच जाये. सेहन में कूदे और नाचना शुरू कर दे.

दूसरे दिन वह कोठे पर चढ़ा. झिरी में से झांका तो देखा कि शारदा खिड़की के पास खड़ी बालों में कंघी कर रही है. मुख्तार ने उसे आवाज़ दी, "शारदा!"

शारदा चौंकी. कंघी उसके हाथ से छूटकर नीचे गली में जा गिरी. मुख्तार हंसा. शारदा के होंठों पर भी मुसकराहट पैदा हुई. मुख्तार ने उससे कहा, "कितनी डरपोक हो तुम. . . हौले से आवाज़ दी और तुम्हारी कंघी छूट गयी."

शारदा ने कहा, "अब लाकर दीजिए नयी कंघी मुझे. . . यह तो मोरी में जा गिरी है." मुख्तार ने जवाब दिया, "अभी लाऊं!"

शारदा ने फौरन कहा, "नहीं नहीं, मैंने मज़ाक किया है."

"मैंने भी मज़ाक किया था. तुम्हें छोड़कर मैं लेने जाता? . . .कभी नहीं." शारदा मुसकरायी, "मैं बाल कैसे बनाऊं?"

मुख्तार ने झिरी के सूराखों में अपनी उंगलियां डालीं, "यह मेरी उंगलियां ले लो."

शारदा हंसी. मुख्तार का जी चाहा कि वह अपनी सारी उमर इस हंसी की छाया में बिता दे, "शारदा, खुदा की कसम, तुम हंसती हो, तो मेरा रोआं-रोआं प्रफुल्लित हो जाता है. तुम क्यों इतनी प्यारी हो ? क्या दुनिया में कोई और लड़की भी तुम जितनी प्यारी होगी! यह कमबख्त झिरी. . . .यह मिट्टी के ज़लील परदे. जी चाहता है, इन्हें तोड़-फोड़ दूं."

शारदा ने कहा, "आप बातें बड़ी अच्छी करते हैं."

"तो मुझे इनाम दो. मुहब्बत की एक हल्की-सी निगाह इन झिरियों से मेरी तरफ फेंक दो. मैं इसे अपनी पलकों से उठा कर अपनी आंखों में छुपा लूंगा." मुख्तार ने शारदा के पीछे दूर एक छाया-सी देखी और फौरन झिरी से हट गया. थोड़ी देर बाद वापस आया, तो खिड़की खाली थी. शारदा जा चुकी थी.

▣

धीरे-धीरे मुख्तार और शारदा दोनों घी-शक्कर हो गये. तनहाई का मौका मिलता, तो देर तक प्यार-मुहब्बत की बातें करते रहते. एक दिन रूप कौर और उसका पति लाला कालूमल कहीं बाहर गये हुए थे. मुख्तार गली में से गुजर रहा था कि उसको एक कंकर लगा. उसने ऊपर देखा. शारदा थी. उसने हाथ के इशारे से उसे बुलाया.

मुख्तार उसके पास पहुंच गया. पूरा एकांत था. खूब घुल-मिलकर बातें हुईं. मुख्तार ने उससे कहा, "उस दिन मुझसे गुस्ताखी हुई थी और मैंने माफी मांग ली थी. आज फिर गुस्ताखी करने का इरादा रखता हूं, पर माफी नहीं मांगूंगा." और अपने होंठ शारदा के कंपकंपाते होंठों पर रख दिये.

शारदा ने शर्मीली शरारत से कहा, "अब माफी मांगिए!"

"जी नहीं. अब यह होंठ आपके नहीं, मेरे हैं. क्या मैं झूठ कहता हूं!"

शारदा ने निगाहें नीची करके कहा, "यह होंठ क्या, मैं भी आप की हूं."

मुख्तार एकदम संजीदा हो गया, "देखो शारदा. हम इस समय एक ज्वालामुखी पहाड़ पर खड़े हैं. तुम सोच लो, समझ लो, मैं तुम्हें यकीन दिलाता हूं, खुदा की कसम खा कर कहता हूं कि तुम्हारे सिवा मेरी ज़िंदगी में और कोई औरत नहीं आयेगी. मैं कसम खाता हूं कि ज़िंदगी भर तुम्हारा रहूंगा. मेरी मुहब्बत साबित-कदम रहेगी . . . क्या तुम भी इसकी प्रतिज्ञा करती हो ?"

शारदा ने अपनी नज़रें उठाकर मुख्तार की ओर देखा, "मेरा प्रेम सच्चा है."

मुख्तार ने उसे सीने के साथ भींच लिया और कहा, "ज़िंदा रहो. सिर्फ मेरे लिए, मेरी मुहब्बत के लिए. खुदा की कसम शारदा, अगर तुम्हारा प्रेम मुझे न मिलता, तो मैं अवश्य ही आत्म-हत्या कर लेता. तुम मेरे आलिंगन में हो तो मुझे ऐसा महसूस होता है कि सारी दुनिया की खुशियों से मेरी झोली भरी हुई है. मैं बहुत खुशकिस्मत हूं."

▣

देर तक दोनों एक दूसरे में खोये रहे. जब मुख्तार वहां से गया, तो उसकी आत्मा एक नये और सुहाने स्वाद से आनंदित थी. सारी रात वह सोचता रहा. दूसरे दिन कलकत्ता चला गया, जहां उसका बाप कारोबार करता था. आठ दिन के बाद वापस आया.

शारदा रोज की तरह कोशिये का काम सीखने निश्चित समय पर आयी. उसकी नज़रों ने उससे कई बातें कीं. कहां गायब रहे इतने दिन? मुझसे कुछ न कहा और कलकत्ते चले गये? मुहब्बत के बड़े दावे करते थे? . . . .मैं नहीं बोलूंगी तुमसे. . . मेरी ओर क्या देखते हो! क्या कहना चाहते हो मुझसे?

मुख्तार बहुत कुछ कहना चाहता था, पर तनहाई नहीं थी. वह उससे काफी लंबी बातचीत करना चाहता था. दो दिन बीत गये. अवसर न मिला. नज़रों ही नज़रों में गूंगी बातें होती रहीं, आखिर तीसरे दिन शारदा ने उसे बुलाया. मुख्तार बहुत खुश हुआ. रूप कौर और उसका पति लाला कालूमल घर में नहीं थे.

शारदा सीढ़ियों में मिली. मुख्तार ने वहीं उसे सीने के साथ लगाना चाहा. वह तड़पकर ऊपर चली गयी. नाराज़ थी. मुख्तार ने उससे कहा, "देखो मेरी जान ! मेरे पास बैठो ! मैं तुमसे बहुत जरूरी बात करना चाहता हूं, ऐसी बातें, जिनका हमारी ज़िंदगी से बड़ा गहरा संबंध है."

शारदा उसके पास पलंग पर बैठ गयी, "तुम बात टालो नहीं. . . . . बताओ, मुझे बताये बिना कलकत्ता क्यों गये? . . . सच. . . . मैं बहुत रोयी."

मुख्तार ने बढ़कर उसकी आंखें चूमीं, "उस दिन जब मैं गया तो सारी रात सोचता रहा. जो कुछ उस दिन हुआ, उसके बाद यह सोच-विचार जरूरी था. हमारी हैसियत मियां-बीवी की थी. मैंने गलती की. तुमने कुछ न सोचा. हमने एक ही छलांग में कई मंज़िलें तय कर लीं और यह सोचा ही नहीं कि हमें जाना किस तरफ है . . . समझ रही हो न शारदा!"

शारदा ने आंखें झुका लीं, "जी हां."

"मैं कलकत्ता इसलिए गया था कि अब्बाजी से मशवरा करूं. तुम्हें सुनकर खुशी होगी कि मैंने उन्हें राज़ी कर लिया है."
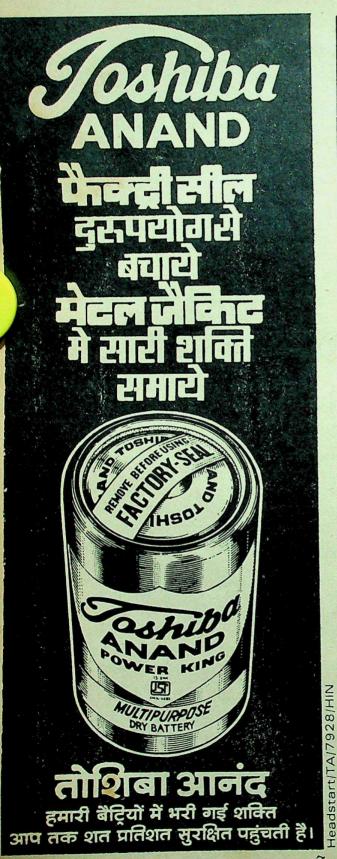
मुख्तार की आंखें खुशी से चमक उठीं. शारदा ने दोनों हाथों को अपने हाथों में लेकर उसने कहा, "मेरे दिल का सारा बोझ हल्का हो गया है. मैं अब तुमसे शादी कर सकता हूं."

शारदा ने हौले से कहा, "शादी !"

"हां, शादी."

शारदा ने पूछा, "कैसे हो सकती है हमारी शादी?"

मुख्तार मुस्कराया, "इसमें मुश्किल ही क्या है...तुम मुसलमान हो जाना."

शारदा एकदम चौंकी, "मुसलमान!"

मुख्तार ने बड़े इतमीनान से कहा, "हां ! हां ! इसके अलावा और हो ही क्या सकता है. . . .मुझे मालूम है कि तुम्हारे घर वाले बड़ा हंगामा मचायेंगे, लेकिन मैंने उसका इंतज़ाम कर लिया है. हम दोनों यहां से गायब हो जायेंगे. सीधे कलकत्ते चलेंगे. बाकी काम अब्बा जी के सुपुर्द है. जिस रोज़ वहां पहुंचेंगे, उसी रोज़ मौलवी बुलाकर तुम्हें मुसलमान बना देंगे. शादी भी उसी वक्त हो जायेगी."

शारदा के होंठ जैसे किसी ने सी दिये. मुख्तार ने उसकी तरफ देखा, "खामोश क्यों हो गयीं ?"

शारदा न बोली. मुख्तार को बड़ी उलझन हुई, "बताओ शारदा, क्या बात है?"

शारदा ने मुश्किल से इतना कहा, "तुम हिंदू हो जाओ."

"मैं हिंदू हो जाऊं !" मुख्तार के लहजे में हैरानी थी. वह हंसा, "मैं हिंदू कैसे हो सकता हूं!"

"मैं मुसलमान कैसे हो सकती हूं ?" शारदा की आवाज़ मद्धिम थी.

"तुम क्यों मुसलमान नहीं हो सकतीं ! मेरा मतलब है कि तुम मुझसे मुहब्बत करती हो. इसके अलावा इस्लाम सबसे अच्छा मज़हब है. हिंदू मज़हब भी कोई मज़हब है. गाय का पेशाब पीते हैं. बुत पूजते हैं. मेरा मतलब है कि ठीक है अपनी जगह यह मज़हब भी, मगर इस्लाम का मुकाबला नहीं कर सकता!" मुख्तार के ख़्यालात परेशान थे. "तुम मुसलमान हो जाओगी तो बस. . . . मेरा मतलब है कि सब ठीक हो जायेगा."

शारदा के चेहरे का तांबे जैसा रंग ज़र्द पड़ गया, "आप हिंदू नहीं होंगे ?"

मुख्तार हंसा, "पागल हो तुम ?"

शारदा का रंग और ज़र्द हो गया, "आप जाइए. वह लोग आने वाले हैं." यह कहकर वह पलंग पर से उठी.

मुख्तार विस्मित-विमूढ़ हो गया, "लेकिन शारदा..."

"नहीं ! नहीं, जाइए आप. . . . जल्दी जाइए. वे आ जायेंगे." शारदा के लहजे में बेपरवाही की सरदी थी.

मुख्तार ने अपने खुश्क गले से मुश्किल से यह शब्द निकाले, "हम दोनों एक दूसरे से मुहब्बत करते हैं. शारदा, तुम नाराज़ क्यों हो गयीं ?"

"जाओ. चले जाओ. हमारा हिंदू मज़हब बहुत बुरा है तुम मुसलमान बहुत अच्छे हो !" शारदा के लहजे में नफ़रत थी. वह दूसरे कमरे में चली गयी और दरवाज़ा बंद कर दिया. मुख्तार अपना इस्लाम सीने में दबाये वहां से चला गया! ☐

● अनुवाद : सुरजीत

दिल्ली आने से पहले वह अंबाला छावनी में थी, जहां कई गोरे उसके ग्राहक थे. इन गोरों से मिलने-जुलने के कारण वह अंग्रेजी के दस-पंद्रह वाक्य सीख गयी थी. इनको वह आम बातचीत में इस्तेमाल नहीं करती थी. लेकिन जब वह दिल्ली में आयी और उसका कारोबार न चला तो एक दिन उसने अपनी पड़ोसिन तमंचाजान से कहा, "दिस लैफ वैरी बैड, यानी यह ज़िंदगी बहुत बुरी है, जबकि खाने को ही नहीं मिलता!"

अंबाला छावनी में उसका धंधा बहुत अच्छा चलता था. छावनी के गोरे शराब पीकर उसके पास जाते थे और वह तीन-चार घंटों ही में आठ-दस गोरों को निबटाकर बीस-तीस रुपये पैदा कर लिया करती थी. ये गोरे इसके देशवासियों की अपेक्षा बहुत अच्छे थे. इसमें कोई शक नहीं कि वे ऐसी जुबान बोलते थे, जो सुल्ताना की समझ में नहीं आती थी. किंतु उनकी भाषा से उसका अंग्रेजी ठीक से न समझना उसके वास्ते अच्छा ही साबित होता था. यदि वे उससे कुछ रिआयत चाहते तो वह सिर हिलाकर कह दिया करती थी, "साहब, हमारी समझ में तुम्हारी बात नहीं आता!" कभी वे उससे ज़रूरत से ज्यादा छेड़छाड़ करते तो वह उनको अपनी जुबान में गालियां देना शुरू कर देती. वे आश्चर्य से उसका मुंह ताकने लगते तो वह कहती, "साहब, एकदम उल्लू का पट्ठा है! हरामजादा! समझा?" यह कहते समय वह अपने चेहरे पर कड़वाहट न लाकर हंसते-हंसते उनसे बातें करती. गोरे हंस देते और हंसते समय सुल्ताना को बिल्कुल उल्लू के पट्ठे दिखाई देते.

मगर वह जब से दिल्ली आयी थी, एक गोरा भी उसके यहां नहीं आया था. तीन महीने उसको हिंदुस्तान के उस शहर में रहते हो गये थे, जहां उसने सुना था कि बड़े-बड़े लाट साहब रहते हैं, जो गर्मियों में शिमला चले जाते हैं. अब तक सिर्फ छः आदमी उसके पास आये थे. छः यानी महीने में दो. . .और उन छः ग्राहकों से उसने, खुदा झूठ न बुलवाये तो साढ़े अठारह रुपये वसूल किये थे. तीन रुपये से ज्यादा कोई देने को तैयार ही न होता था. सुल्ताना ने उनमें से पांच आदमियों को दस रुपये रेट बताया था. मगर हैरानी इस बात की थी कि हर किसीने यही कहा, "भई, हम तीन रुपये से ज्यादा नहीं देंगे." न जाने क्या बात थी कि उनमें से हरेक ने उसे बस तीन रुपये के काबिल समझा. इसलिए जब छठा आदमी आया तो उसने खुद उससे कहा, "देखो, मैं तीन रुपये एक टैम के लूंगी. उससे एक अधेला भी कम कहो तो न होगा. तुम्हारी इच्छा हो, रहो, नहीं तो जाओ." छठे आदमी ने यह बात सुनकर तकरार नहीं की और उसके यहां ठहर गया. जब दूसरे कमरे में दरवाजे बंद करके वह अपना कोट उतारने लगा तो सुल्ताना ने कहा, "एक रुपया दूध का लाओ." उसने एक रुपया तो न दिया किंतु नये बादशाह की चमकती हुई अठन्नी जेब में से निकालकर

उसको दे दी और सुल्ताना ने भी चुपके से ले ली. . . जो आता है अच्छा है.

खुदाबख्श और सुल्ताना का आपस में कैसे संबंध हुआ, इसकी एक लंबी दास्तान है. खुदाबख्श रावलपिंडी का था. मैट्रिक करने के बाद उसने लारी चलाना सीख लिया और चार साल तक रावलपिंडी और काश्मीर के बीच लारी चलाने का काम करता रहा. उसके बाद काश्मीर में एक औरत से उसकी दोस्ती हो गयी. उसको भगाकर वह लाहौर ले आया. लाहौर में उसे कोई काम न मिला, तो उसने उस स्त्री को पेशे पर लगा दिया. दो-तीन बरस तक यह सिलसिला जारी रहा. फिर वह किसी दूसरे के साथ भाग गयी. खुदाबख्श को पता लगा कि वह अंबाला में है. वह वहां उसकी तलाश में आया तो वहीं उससे सुल्ताना मिल गयी. सुल्ताना ने उसे पसंद कर लिया और दोनों में गहरी छाने लगी.

▣

खुदाबख्श के आने से सुल्ताना का कारोबार चमक उठा. वह अंधविश्वासी औरत थी. उसे लगा खुदाबख्श बड़ा किस्मत वाला है. उसके आने पर पहले से ज़्यादा और बढ़िया ग्राहक आने लगे हैं. इसलिए सुल्ताना की दृष्टि में खुदाबख्श की इज्जत बढ़ गयी.

खुदाबख्श मेहनती आदमी था. सारा दिन हाथ पर हाथ रखकर बैठना उसे पसंद नहीं था. उसने एक फोटोग्राफर से दोस्ती की, जो रेलवे स्टेशन के बाहर काले पर्दे वाले कैमरे से फोटो खींचा करता था. उससे उसने फोटो खींचना सीखा. फिर सुल्ताना से साठ रुपया लेकर कैमरा खरीद लिया. धीरे-धीरे एक पर्दा बनवाया, दो कुर्सियां खरीदीं और फोटो धोने का सब सामान लेकर उसने अलग से अपना काम शुरू कर दिया. काम चल निकला. कुछ ही दिनों के बाद उसने अपना अड्डा अंबाला छावनी में कायम कर दिया. वहां वह गोरों के फोटो खींचता. एक महीने के अंदर-अंदर छावनी में रहने वाले गोरों से अच्छी जान-पहचान भी हो गयी. इसलिए वह सुल्ताना को वहीं ले गया और वहां छावनी में खुदाबख्श के जरिए से कई गोरे सुल्ताना के पक्के ग्राहक बन गये.

अंबाला छावनी में वह बहुत चैन से थी, किंतु एकाएक न जाने खुदाबख्श के दिल में क्या आया कि उसने दिल्ली जाने की ठान ली. सुल्ताना इंकार न कर सकी क्योंकि वह खुदाबख्श को अपने लिए बहुत शुभ मानती थी. उसने खुशी-खुशी दिल्ली जाना मंजूर कर लिया. उसे यह भी लगा कि इतने बड़े शहर में, जहां लाट साहब रहते हैं, उसका धंधा और भी अच्छा चलेगा. अपनी सहेलियों से वह दिल्ली की तारीफ सुन ही चुकी थी. उस पर हजरत निज़ामुद्दीन औलिया की खानकाह भी थी जिसमें उसकी बेहद श्रद्धा थी. इसीलिए जल्दी-जल्दी घर का भारी सामान बेच-बाचकर वह खुदाबख्श के साथ दिल्ली आ गयी. वहां आकर खुदाबख्श ने वह बीस रुपये महीना का मकान ले लिया जिसमें वे दोनों रहने लगे.

दूकान खोलते ही ग्राहक थोड़े ही आते हैं. इसलिए एक महीने सुल्ताना जब बेकार रही तो उसने यही सोचकर अपने दिल को तसल्ली दी. किंतु जब यों ही दो महीने गुज़र गये और कोई ग्राहक नहीं आया तो उसे बड़ी परेशानी हुई. उसने खुदाबख्श से कहा, "क्या बात है खुदाबख्श, हमें यहां आये दो महीने हो गये हैं लेकिन किसीने इस तरफ का रुख ही नहीं किया. . .माना आजकल बाज़ार बहुत मंदा है, पर इतना मंदा नहीं कि महीने भर में एक भी आदमी हमारे यहां न आये." खुदाबख्श को भी यह बात बहुत समय से खटक रही थी. उसने कहा, "मैं कई दिनों से इसकी बाबत सोच रहा हूं. एक बात समझ में आती है, वह यह कि लड़ाई की वजह से लोग-बाग दूसरे धंधों में पड़कर इधर का रास्ता भूल गये हैं—या फिर हो सकता है. . .!" वह इसके आगे कुछ कहने ही वाला था कि सीढ़ियों पर किसीके चढ़ने की आवाज़ आयी. दोनों का ध्यान आवाज़ की तरफ खिंच गया. फिर किसीने आवाज़ दी. खुदाबख्श ने लपककर दरवाज़ा खोला. एक आदमी अंदर आया. वह पहला ग्राहक था जिससे तीन रुपये में सौदा तय हु[आ]. उसके बाद पांच और आये यानी [तीन] महीने में छः ग्राहक, जिनसे सुल्ताना [को] सिर्फ साढ़े अठारह रुपये प्राप्त [हुए].

बीस रुपये महीने तो मकान के [किराये] में निकल जाते थे. पानी और बि[जली] का बिल अलग रहा. इसके अ[लावा] घर के दूसरे खर्च, खाना-पीना, क[पड़े], दवा-दारू, दसियों खर्चे और. आम[दनी] कुछ भी नहीं थी. साढ़े अठारह रु[पये] तीन महीने में आये भी तो उसे आम[दनी] तो नहीं कह सकते. सुल्ताना परेशान [हो] गयी. साढ़े पांच तोले की आठ कंगनि[यां] जो उसने अंबाले में बनवायी थीं, [बिक] गयीं. धीरे-धीरे जब आखिरी कं[गनी] की बारी आयी तो उसने खुदाबख्श [से] कहा, "तुम मेरी सुनो और चलो वा[पस] अंबाला. यहां क्या रखा है. और अ[गर] कुछ होगा तो कहीं होगा. . हमारे लि[ए] तो यह शहर मनहूस ही साबित हुआ. [तु]म्हारा काम तो वहां भी खूब चलता [था]. चलो, वहीं चलते हैं जो-जो नुक[सान] हुआ है उसे किस्मत में बदा सम[झो]. इस कंगनी को बेच आओ, मैं साम[ान] वगैरा बांधकर तैयार रखती हूं. रात [की] गाड़ी से ही चल देंगे."

खुदाबख्श ने कंगनी सुल्ताना के हा[थ] से ले ली और कहा, "नहीं जानेम[न], अंबाले नहीं जायेंगे. यहीं दिल्ली में र[ह]कर कमायेंगे. ये तुम्हारी चूड़ियां सब [की सब] वापस आयेंगी, अल्लाह पर भरोसा र[खो]. वह बिगड़ा काम बनाने वाला है."

सुल्ताना चुप हो रही और आखि[र] कंगनी भी हाथ से उतर गयी. अ[पनी] नंगी कलाई देखकर उसे बहुत दु[ख] होता था. पर क्या करती, पेट भी [तो] आखिर किसी तरह भरना ही [था].

▣

जब पांच महीने गुजर गये [और] आमदनी व्यय की अपेक्षा चौथाई [से भी] कुछ कम में ही रही, तो सुल्ताना [की] परेशानी और ज़्यादा बढ़ गयी. खुदा[बख्श] सारे दिन घर से गायब रहने लगा [था]. सुल्ताना को इसका अफसोस भी था. [वह] सारा दिन सुनसान घर में बैठी रहती. [कभी] सुपारी काटती रहती और कभी पुराने [और] फटे कपड़ों को सीती रहती और [...]

बाल्कनी में आकर जंगले से सटकर स्थिर हो जाती और सामने रेलवे शेड में पटरी पर खड़े और दौड़ते हुए इंजनों को घंटों अपलक निहारती रहती.

कभी-कभी गाड़ी के किसी डिब्बे को, जिसे इंजन ने धक्का देकर छोड़ दिया हो, वह अकेले पटरियों पर रेंगता देखती तो उसे अपना ख्याल आता. वह सोचती कि उसे भी किसी ने जिंदगी की पटरी पर धक्का देकर छोड़ दिया है और वह दिशाहीन-सी चली जा रही है. दूसरे लोग कांटे बदल रहे हैं और वह पटरियां बदल रही है. कुछ पता नहीं कौन-सी पटरी कहां ले जायेगी? एक दिन जब उस धक्के का जोर धीमे-धीमे खत्म होगा और वह कहीं रुक जायेगी, किसी ऐसी जगह पर जो उसकी जानी-पहचानी नहीं होगी.

सुल्ताना सोचती थी कि ऐसी बातें सोचना दिमाग की खराबी का कारण है, इसलिए जब इस प्रकार के विचार उसके दिमाग में आने लगे तो उसने बाल्कनी में जाना छोड़ दिया. खुदाबख्श से उसने बार-बार कहा, "देखो, मेरे हाल पर रहम करो और यहां घर में रहा करो, मैं सारे दिन यहां मरीजों की तरह पड़ी रहती हूं." किंतु उसने हर बार सुल्ताना को यह कहकर सांत्वना दी, "जानेमन, मैं बाहर कुछ कमाने की फिकर कर रहा हूं. अल्लाह ने चाहा तो कुछ दिनों में ही बेड़ा पार हो जायेगा."

पूरे पांच महीने हो गये किंतु अभी तक न सुल्ताना का बेड़ा पार हुआ था और न खुदाबख्श का.

▣

मुहर्रम का महीना सिर पर आ रहा था. सुल्ताना के पास काले कपड़े बनवाने के लिए भी कुछ नहीं था. मुख्तार ने लेडी हैमिल्टन के कट की नयी कमीज बनवायी थी, जिसकी आस्तीनें काली जार्जट की थीं. उसके साथ मैच करने के लिए उसके पास काली साटन की सलवार थी जो काजल की तरह चमकती थी. अनवरी ने रेशमी जार्जट की एक बड़ी बढ़िया साड़ी खरीदी थी. उसने सुल्ताना से कहा था कि वह उस साड़ी के नीचे सफेद बोस्की का पेटीकोट पहनेगी, क्योंकि यह नया फैशन था. उस साड़ी के साथ पहनने को अनवरी काली मखमल का एक जूता लायी थी जो बड़ा नाजुक था. सुल्ताना ने जब यह तमाम चीजें देखीं तो उसे यह सोचकर बड़ा दुःख हुआ कि वह मुहर्रम मनाने के लिए वैसी चीजें खरीदने की सामर्थ्य नहीं रखती.

अनवरी और मुख्तार के पास ऐसे कपड़े देखकर जब वह घर आयी तो उसका दिल बहुत उदास था. उसे लगता कि कोई फोड़ा-सा उसके अंदर पैदा हो गया है. घर बिल्कुल खाली था, खुदाबख्श बाहर गया हुआ था. देर तक वह दरी पर सिर के नीचे तकिया लगाये लेटी रही. लेकिन जब उसकी गर्दन ऊंचाई के कारण अकड़-सी गयी तो वह बाहर बाल्कनी में चली गयी, ताकि अपने दुःख-दर्द को किसी तरह भुला सके.

सामने पटरियों पर गाड़ी के डिब्बे खड़े थे. आज वहां कोई इंजन नहीं था. शाम का वक्त था. छिड़काव हो चुका था, इसलिए मिट्टी-धूल दब गयी थी. बाजार में ऐसे आदमी चलने शुरू हो गये थे, जो ताक-झांक करने के बाद चुपचाप घरों का रुख करते हैं. ऐसे ही एक आदमी ने गर्दन ऊंची करके सुल्ताना की ओर देखा. सुल्ताना मुस्करा दी और कुछ देर को वह दुःख-दर्द भूल गयी, क्योंकि सामने पटरियों पर एक इंजन चढ़ आया था. सुल्ताना गौर से उसकी ओर देखने लगी और धीरे-धीरे यह विचार उसके दिमाग में आया कि इंजन ने भी काले कपड़े पहन रखे हैं. यह विचित्र विचार अपने मस्तिष्क से निकालने के लिए उसने जब सड़क की ओर देखा तो उसे वही आदमी बैलगाड़ी के पास खड़ा नज़र आया, जिसने उसकी ओर ललचाई नज़रों से देखा था. सुल्ताना ने हाथ से उसे इशारा किया. उस आदमी ने इधर-उधर देखकर एक हल्के इशारे से पूछा, "किधर से आऊं?" सुल्ताना ने उसे रास्ता बता दिया. वह आदमी थोड़ी देर वहां खड़ा रहा और फिर बड़ी तेज़ी से ऊपर चढ़ आया.

▣

सुल्ताना ने उसे दरी पर बिठाया. जब वह बैठ गया तो उसने बातचीत शुरू करने के लिए कहा, "आप ऊपर आने में डर क्यों रहे थे?"—वह आदमी यह सुनकर मुस्कराया, "तुम्हें कैसे मालूम हुआ—डरने की बात ही क्या थी!" इस पर सुल्ताना ने कहा, "यह मैंने इसलिए कहा कि आप देर तक वहीं खड़े रहे और फिर कुछ सोचकर इधर आये." वह यह सुनकर फिर मुस्कराया, "तुम्हें गलतफहमी हुई. मैं तुम्हारे ऊपर वाले फ्लैट की ओर देख रहा था. वहां कोई स्त्री खड़ी एक पुरुष को ठेंगा (अंगूठा) दिखा रही थी. मुझे यह दृश्य अच्छा लगा. फिर बाल्कनी में हरा बल्ब जला तो मैं कुछ देर के लिए खड़ा हो गया. हरी रोशनी मुझे बहुत पसंद है, आंखों को बहुत अच्छी लगती है." यह कहकर उसने कमरे में इधर-उधर नज़रें दौड़ाना शुरू कर दिया और फिर वह उठ खड़ा हुआ. सुल्ताना ने पूछा, "आप जा रहे हैं?" उस आदमी ने जवाब दिया, "नहीं मैं तुम्हारे घर को देखना चाहता हूं. मुझे तमाम कमरे दिखाओ."

सुल्ताना ने तीनों कमरे उसे दिखा दिये. जब वे दोनों घूमकर उसी कमरे में आ बैठे जहां पहले बैठे थे, तो उस आदमी ने कहा, "मेरा नाम शंकर है."

▣

शंकर दरी पर कुछ इस तरह बैठा था, जिससे मालूम होता था कि शंकर के बजाय सुल्ताना ग्राहक है. इस तरह के रुख ने सुल्ताना को बहुत परेशान कर दिया. उसने शंकर से कहा, "कहिए."

शंकर बैठा था. यह सुनकर लेट गया, "मैं क्या कहूं, कुछ तुम ही कहो. बुलाया तुम्हीं ने है." जब सुल्ताना कुछ न बोली तो वह उठ बैठा. "मैं समझा, लो अब मुझसे सुनो. जो कुछ तुमने समझा वह गलत है. मैं उन लोगों में से नहीं हूं जो कुछ देकर जाते हैं. डाक्टरों की तरह मेरी भी फीस है. मुझे जब बुलाया जाए तो फीस देनी ही पड़ती है."

सुल्ताना यह सुनकर चकरा गयी, किंतु इसके बावजूद उसे इतनी हंसी आयी कि रोके न रुकी, "आप काम क्या करते हैं?"

शंकर ने जवाब दिया, "यही जो तुम लोग करती हो."

"क्या?"
"तुम क्या करती हो?"
"मैं. . .मैं. . .मैं कुछ भी नहीं करती."
"मैं भी कुछ नहीं करता!"
"तो आओ दोनों झख मारें!"
सुल्ताना ने भिन्नाकर कहा, "यह तो कोई बात न हुई, आप कुछ न कुछ तो करते ही होंगे."
शंकर ने बड़े इत्मीनान से जवाब दिया, "तुम भी कुछ न कुछ जरूर करती होगी.
"झख मारती हूं."
"मैं भी झख मारता हूं."
"हाजिर हूं, किंतु झख मारने के दाम मैं कभी नहीं दिया करता."
"होश की बात करो, यह लंगरखाना नहीं है."
"और मैं भी वालंटियर नहीं हूं."
सुल्ताना यहां रुक गयी. उसने पूछा, "ये वालंटियर कौन होते हैं?"
शंकर ने जवाब दिया, "उल्लू के पट्ठे."
"मैं उल्लू की पट्ठी नहीं."
"किंतु वह आदमी खुदाबख्श जो तुम्हारे साथ रहता है, ज़रूर उल्लू का पट्ठा है."
"क्यों?"
"इसलिए कि वह कई दिनों से एक ऐसे खुदा के प्यारे फकीर के पास अपनी तकदीर खुलवाने के लिए जा रहा है जिसकी अपनी तकदीर जंग लगे ताले की तरह बंद है." यह कहकर शंकर हंसा.
इस पर सुल्ताना ने कहा, "तुम हिंदू हो, इसलिएं तुम हमारे बुजुर्गों का मजाक उड़ाते हो."
शंकर मुस्कराया, "ऐसी जगहों पर हिंदू-मुस्लिम सवाल पैदा नहीं हुआ करते. बड़े-बड़े पंडित और मौलवी भी यहां आयें तो शरीफ आदमी बन जायें."
"जाने क्या ऊटपटांग बातें करते हो—बोलो, रहोगे?"
"उसी शर्त पर जो पहले बता चुका हूं."
सुल्ताना उठकर खड़ी हो गयी, "तो जाओ, अपनी राह नापो."

▣

शंकर आराम से उठा. पतलून की जेबों में अपने दोनों हाथ ठूंसे और जाते हुए बोला—"मैं कभी-कभी इस बाजार से गुज़रा करता हूं. तुम्हें मेरी ज़रूरत हो, बता देना. बहुत काम का आदमी हूं."
शंकर चला गया और सुल्ताना अपने काले लिबास को भूलकर देर तक उसके बारे सोचती रही. उस आदमी की बातों ने उसके दुःख को बहुत हल्का कर दिया था. यदि वह अंबाले में आया होता, जहां कि वह खुशहाल थी, तो उसने किसी और रंग में उस आदमी को देखा होता और बहुत संभव है कि उसे धक्के देकर बाहर निकाल दिया होता, किंतु यहां वह बहुत उदास रहती थी, इसलिए शंकर की बातें उसे पसंद आयीं.

▣

संध्या को जब खुदाबख्श घर आया तो सुल्ताना ने उससे पूछा, "तुम आज सारे दिन किधर गायब रहे हो?"
खुदाबख्श थककर चूर-चूर हो रहा था, कहने लगा, "पुराने किले के पास से आ रहा हूं. वहां एक बुजुर्ग कुछ दिनों से ठहरे हुए हैं, उन्हीं के पास हर रोज जाता हूं ताकि हमारे दिन फिर जायें. . ."
"कुछ उन्होंने तुमसे कहा?"
"नहीं, अभी वे मेहरबान नहीं हुए—मगर सुल्ताना, मैं जो उनकी सेवा कर रहा हूं, वह अकारथ कभी नहीं जाएगी. अगर अल्लाह की टेढ़ी नज़र न हुई तो ज़रूर वारे-न्यारे हो जायेंगे."
सुल्ताना के दिमाग में मुहर्रम का ख्याल समाया हुआ था. वह रोनी आवाज़ में बोली, "तुम सारे के सारे दिन गायब रहते हो. मैं यहां पिंजरे में कैद रहती हूं. कहीं जा सकती हूं न आ सकती हूं. मुहर्रम सिर पर आ गया है, कभी तुमने उसकी भी फिकर की है. मुझे काले कपड़े चाहिए. घर में फूटी कौड़ी तक नहीं. कंगनियां थीं सो एक-एक करके बिक गयीं. अब तुम्हीं बताओ, क्या होगा? यों फकीरों के पीछे कब तक मारे-मारे फिरा करोगे! मुझे तो ऐसा दिखाई देता है कि यहां दिल्ली में भी खुदा ने हमसे मुंह मोड़ लिया है. मेरी सुनो तो अपना काम शुरू करो, कुछ तो सहारा हो ही जायेगा."
खुदाबख्श दरी पर लेट गया और कहने लगा, "लेकिन यह काम शुरू करने के लिए भी तो थोड़ा-बहुत रुपया चाहिए? खुदा के लिए अब ऐसी दुःखभरी बातें न करो. मुझसे अब बरदाशत नहीं हो सकता. सचमुच अंबाला छोड़कर मैंने गलती की. लेकिन जो कुछ करता है, वह अल्लाह करता है और वह हमारी भलाई के लिए ही करता है. क्या पता कुछ तकलीफें उठाने के बाद हम. . ."
सुल्ताना ने बात काटकर कहा, "तुम खुदा के लिए कुछ करो. चोरी करो, डाका डालो, लेकिन मुझे एक सलवार का कपड़ा ज़रूर ला दो. मेरे पास सफेद बोस्की की कमीज़ पड़ी है. उसको मैं रंगवा लूंगी. सफेद नैनी का दुपट्टा भी मेरे पास मौजूद है, वही जो तुमने मुझे दीवाली पर लाकर दिया था. वह भी कमीज़ के साथ रंगवा लिया जाएगा. एक सिर्फ सलवार की ज़रूरत है, सो वह तुम किसी न किसी तरह पूरी करो. . .देखो तुम्हें मेरी जान की कसम किसी न किसी तरह से ज़रूर लाओ. मेरा मरा मुंह देखो, अगर न लाओ."
खुदाबख्श उठ बैठा, "अब तुम बेकार जोर दिये चली जा रही हो. कहां से लाऊंगा? अफीम खाने के लिए तो मेरे पास एक पैसा नहीं!"
"कुछ भी करो, मुझे साढ़े चार गज काली साटन ला दो!"
"दुआ करो कि आज रात ही अल्लाह दो-तीन आदमी भेज दे."
"लेकिन तुम कुछ नहीं करोगे. तुम अगर चाहो तो ज़रूर उतने पैसे पैदा कर सकते हो. . .लड़ाई से पहले यह साटन बारह-चौदह आना गज मिल जाती थी. अब सवा रुपया गज़ के हिसाब से मिलती है. साढ़े चार गज़ पर कितने रुपये खर्च हो जायेंगे?"
"अब तुम कहती हो तो कोई इंतजाम करूंगा," यह कहकर खुदाबख्श उठा. "लो, अब उन बातों को भूल जाओ. मैं होटल से खाना ले आऊं."
होटल से खाना आया. दोनों ने मिल कर खाया और सो गये.

▣

शाम हो चुकी थी, बल्ब जल रहे थे. नीचे सड़क पर रौनक दिखायी देने लगी. सर्दी कुछ बढ़ गयी—किंतु सुल्ताना को यह बुरी नहीं लगी. वह सड़क पर आने जाने वाले तांगों और मोटरों की ओर

काफी समय से देख रही थी. एकाएक उसे शंकर दिखायी पड़ गया. घर के नीचे पहुंचकर उसने गर्दन ऊंची की और सुल्ताना की तरफ देखकर मुस्करा दिया. सुल्ताना ने ही अनजाने में ही हाथ का इशारा करके उसे ऊपर बुला लिया.

शंकर ऊपर आ गया तो सुल्ताना बहुत परेशान हुई कि उससे क्या कहे! वास्तव में उसने ऐसे ही बिना सोचे-समझे उसे इशारा कर दिया था. सुल्ताना ने देर तक उससे कोई बात नहीं की तो उसने कहा, "तुम मुझे सौ बार बुला सकती हो और सौ बार कह सकती हो कि जाओ. मैं ऐसी बातों पर कभी नाराज़ नहीं हुआ करता."

सुल्ताना असमंजस में पड़ गयी और कहने लगी, "नहीं, बैठो, तुम्हें जाने को कौन कहता है?"

शंकर इस पर मुस्करा दिया, "तो मेरी शर्तें तुम्हें मंजूर हैं?"

"कैसी शर्तें ?" सुल्ताना ने हंसकर कहा, "क्या निकाह कर रहे हो मुझसे?"

"निकाह और शादी कैसी? न उम्र भर तुम किसी से निकाह करोगी और न मैं. ये रस्में हम लोगों के लिए नहीं. छोड़ो इन बेकार की बातों को, कोई काम की बात करो?"

"बोलो क्या बात करूं?"

"तुम औरत हो—कोई ऐसी बात शुरू करो जिससे दो घड़ी दिल बहल जाए. इस दुनिया में सिर्फ दुकानदारी नहीं, कुछ और भी है?"

सुल्ताना मन ही मन शंकर के प्रति झुक गयी थी. वह कहने लगी, "साफ-साफ कहो, तुम मुझसे क्या चाहते हो?"

"जो दूसरे लोग चाहते हैं," शंकर उठकर बैठ गया.

"तुममें और दूसरों में फिर फर्क ही क्या रहा?"

"तुममे और मुझमे कोई फर्क नहीं, लेकिन उनमे और मुझमें जमीन-आसमान का फर्क है. बहुत-सी बातें होती हैं जो पूछनी नहीं चाहिए, खुद समझना चाहिए."

सुल्ताना ने थोड़ी देर शंकर की इस बात को समझने की कोशिश की, फिर कहा, "मैं समझ गयी."

"तो कहो क्या इरादा है?"

"तुम जीते मैं हारी, पर आज तक किसी ने ऐसी बात न मानी होगी."

"तुम गलत कहती हो. इसी मुहल्ले में तुम्हें ऐसी भोली औरतें भी मिल जाएंगी जो विश्वास न करेंगी कि कोई स्त्री ऐसी लज्जा की बात स्वीकार कर सकती है, जिसे तुम बिना किसी विचार के अब तक मानती रही हो. लेकिन उनके विश्वास न करने पर भी तुम हजारों की संख्या में मौजूद हो! तुम्हारा नाम सुल्ताना है न?"

"सुल्ताना ही है."

शंकर उठकर खड़ा हुआ और हंसने लगा, "मेरा नाम शंकर है. ये नाम भी अजब ऊटपटांग होते हैं. चलो, आओ अंदर चलें."

▣

शंकर और सुल्ताना दरी वाले कमरे में वापस आये तो वो दोनों हंस रहे थे, न जाने किस बात पर. जब शंकर जाने लगा तो सुल्ताना ने कहा, "शंकर मेरी एक बात मानोगे?"

शंकर ने कहा, "पहले बात बताओ."

सुल्ताना कुछ झेंप-सी गयी, "तुम कहोगे कि मैं दाम वसूल करना चाहती हूं, लेकिन. . ."

"कहो-कहो ....रुक क्यों गयी हो?"

सुल्ताना ने कुछ साहस से काम लेकर कहा, "बात यह है कि मुहर्रम आ रहा है और मेरे पास इतने पैसे नहीं कि मैं काली सलवार बना सकूं. यहां के सारे दुखड़े तो तुम मुझसे सुन ही चुके हो. कमीज और दुपट्टा मेरे पास मौजूद था जो मैंने आज रंगवाने के लिए दे दिया है."

"शंकर ने यह सुनकर कहा, "तुम चाहती हो कि मैं तुम्हें कुछ रुपये दे दूं जिससे तुम यह काली सलवार बन सको?"

सुल्ताना ने तुरंत कहा, "नहीं, मेरा मतलब यह है कि अगर हो सके तो तुम मुझे एक काली सलवार ला दो."

शंकर मुस्कराया, "मेरी जेब में तो शायद ही कभी कुछ होता है. कुछ भी सही, मैं कोशिश करूंगा. मुहर्रम की पहली तारीख को तुम्हें यह सलवार मिल जाएगी. ले, अब खुश हो गयी?" सुल्ताना के बुंदों की तरफ देखकर फिर उसने पूछा, "क्या ये बुंदे तुम मुझे दे सकती हो?"

सुल्ताना ने हंसकर कहा, "तुम इनका क्या करोगे? चांदी के मामूली बुंदे हैं, ज्यादा से ज्यादा पांच रुपये के होंगे."

इस पर शंकर ने कहा, "मैंने तुमसे बुंदे मांगे हैं, कीमत नहीं पूछी! दोगी?"

"ले लो," यह कहकर सुल्ताना ने बुंदे उतारकर शंकर को दे दिये. इसके बाद उसे दुःख भी हुआ, मगर तब तक शंकर जा चुका था.

▣

सुल्ताना को भरोसा नहीं था कि शंकर अपना वादा पूरा करेगा, लेकिन आठ दिन बाद मुहर्रम की पहली तारीख को सुबह नौ बजे दरवाजे पर दस्तक हुई. सुल्ताना ने दरवाजा खोला तो शंकर खड़ा था. अखबार में लपेटी हुई चीज उसने सुल्ताना को दी और कहा, "साटन की काली सलवार है. देख लेना शायद लंबी हो. अब मैं चलता हूं" शंकर सलवार देकर चला गया, और कोई बात उसने सुल्ताना से न की.

सुल्ताना ने कागज खोला—साटन की काली सलवार थी, वैसी ही जैसी वह मुख्तार के पास देखकर आयी थी. सुल्ताना बहुत खुश हुई. बुंदों और उसके सौदे का जो दुःख उसे होता था, उसे काली सलवार ने और शंकर की ईमानदारी तथा वफाई ने दूर कर दिया.

दोपहर को वह नीचे लांड्री वाले से अपनी रंगी हुई कमीज और दुपट्टा ले आयी. तीनों काले कपड़े जब उसने पहन लिए तो दरवाजे पर दस्तक हुई. सुल्ताना ने दरवाजा खोला तो मुख्तार अंदर आयी. उसने सुल्ताना के तीनों कपड़ों की तरफ देखा और कहा, "कमीज और दुपट्टा तो रंगा हुआ मालूम होता है, पर यह सलवार नयी है—कब बनवाई?"

सुल्ताना ने जवाब दिया, "आज ही दरजी लाया है." यह कहते हुए उसकी नजर मुख्तार के कानों पर पड़ी.

"यह बुंदे तुमने कहां से लिये?"

मुख्तार ने जवाब दिया, "आज ही मंगवाये हैं."

इसके बाद दोनों को ही थोड़ी देर चुप रहना पड़ा. □

● रूपांतर : रमेश बत्तरा

मंटो की बातें
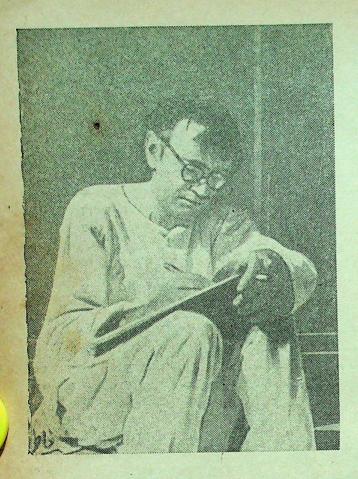
एक बार होटल में बैठे हुए मंटो साहब ने मदहोशी की अवस्था में कई गिलासों और प्लेटों को तोड़ दिया, लेकिन बैरा बिल लेकर आया तो उनकी आंखों में अक्लमंदी उभरकर आयी.

"इस बिल में टूटे हुए गिलासों और प्लेटों की कीमत क्यों शामिल की गयी है?" उन्होंने बैरे से पूछा.

"साहब, यहां का दस्तूर यही है."

"दस्तूर के बच्चे, बुलाओ मैनेजर को!" उन्होंने गुर्राते हुए बैरे को डांटा और जब मैनेजर आया तो उससे बहुत गंभीरता के साथ पूछने लगे, "क्यों साहब! आपकी बार में जो गिलास या प्लेटें टूट जायें, उनकी कीमत भी आप अपने ग्राहकों से ही वसूल करते हैं?"

"जी हां. . . .और असूल भी यही है!" मैनेजर ने विनम्रता से जवाब दिया.

"अच्छी बात है!" कहकर मंटो साहब खामोशी से बिल चुकाकर चल दिये.

लगभग एक सप्ताह बाद वह उसी होटल में फिर से मौजूद थे. उनके दोस्त अब उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे, जब वह एकदम बहक जायेंगे, लेकिन वह तो बहकने की बजाय एकदम चिल्ला उठे, "सांप. .अरे सांप!"

उनकी चीख-पुकार सुनकर बार के शांत वातावरण में खलबली की एक लहर दौड़ गयी. फिर सांप को देखकर वो हंगामा हुआ कि खुदा की पनाह! घबराकर भागने वालों ने कुरसियां और मेजें औंधी कर दीं. इस अंतराल में खाने की कई प्लेटें और गिलास इस अफर-तफरी की भेंट हो गये.

जब सांप मारा जा चुका और कुछ शांति हुई तो मंटो ने बैरे से बिल मंगवाया और फिर बिल को देखते ही मैनेजर को बुलाया. मैनेजर के सपाट चेहरे पर नजर पड़ते ही उनकी आंखों में खास चमक आ गयी.

"आज आपने बिल में टूटे हुए गिलासों और प्लेटों की कीमत शामिल क्यों नहीं की?"

मैनेजर ने कुछ अधिक विनम्रता से जवाब दिया, "वह तो सांप की वजह से टूटी हैं जनाब! कस्टमरों का क्या कुसूर?"

"लेकिन किबला मैनेजर साहब, यह आपके असूल के खिलाफ है!" उन्होंने मुस्कराते हुए फिकरा कसा और फिर बटुए में से कुछ नोट निकालकर मैनेजर के हवाले करते हुए कहने लगे, "लेकिन मुझे कोई फर्क नहीं पड़ा."

मैनेजर हैरान होकर उन्हें देखने लगा.

और जब मंटो अपने दोस्तों के साथ बाहर जाने लगे तो उन्होंने मैनेजर के कंधे पर अपना हाथ रखते हुए कहा, "मैनेजर साहब! पिछली बार जब प्लेटें टूटीं थीं, तो आपने बिल के अलावा क्रॉकरी के तीन-चार रुपये चार्ज कर लिये थे और आज जब आपकी प्लेटें टूटी हैं, तो मुझे यह तीन रुपये आपको अदा करने के बजाय यहां आने से पहले एक सपेरे को देने पड़े हैं!"

"सपेरे को. . .?" मैनेजर ने हक्का-बक्का होकर पूछा.

"जी हां! जिस सांप को आप लोगों ने मार दिया है, मैं उसे तीन रुपयों में खरीदकर यहां लाया था."

▣

मंटो साहब से जब अहमद नदीम कासमी का केरेक्टर-स्केच लिखने की फरमाइश की गयी तो वह उदास होकर बहुत बुझे-बुझे लहजे में कहने लगे, "कासमी का स्केच... .वह भी कोई आदमी है. जितने सफे चाहे स्याह करवा लो, लेकिन बार-बार मुझे यही जुमला लिखना पड़ेगा. . .कासमी बहुत शरीफ आदमी है."

▣

"अजी छोड़िए उपेंद्रनाथ अश्क की बात, आप भी किस दोज़खी का जिक्र ले बैठे. बेहद कंजूस है, बनिया है! सुनिये, खूब याद आया. . .! इस भूमिका के बाद मंटो ने कहना शुरू किया, "कमबख्त ने एक बिल्ली पाल रखी है. जी हां, बिल्ली! सुबह-सवेरे ही उसे अड़ोस-पड़ोस के घरों में भेज देते हैं. वह भी कहीं न कहीं से आंख बचाकर दूध पीकर जब वापस आती है, तो

साहब उसे उलटा-लटकाकर उसके पेट से सब दूध बाहर निकाल लेते हैं और फिर उसी दूध से चाय बनाकर पीते हैं. जी हां, बिलकुल सच कह रहा हूं. रत्ती भर मुबालगा (अतिश्योक्ति) नहीं. नहीं साहब, सुनी-सुनायी नहीं, आंखों देखी बात है. मैं खुद उनके यहां उस दूध की चाय पी चुका हूं."

▣

कहानी पूरी हो गयी तो मसौदा जेब में डालकर मंटो घर से बाहर निकले और आदत के अनुसार एक खाली तांगे की पिछली सीट पर अधलेट गये.

"कहां जाना है साहब?"

"अनारकली!"

तांगा चलने लगा. रास्ते में ऐनक के मोटे-मोटे शीशों के पीछे से उनकी बेचैन आंखें हर राह चलते को देख रही थीं. सहसा उनमें चमक पैदा हुई और तांगा रुकवा दिया गया.

एक प्रकाशक से राह ही मुलाकात हो गयी, लेकिन उसके पास से पांच के नोट के सिवा कुछ और हाथ न आ सका.

तांगा फिर से चलने लगा और आखिर एक पत्रिका के दफ्तर के सामने जा रुका उन्होंने उतरकर पांच का नोट कोचवान के हाथ में थमा दिया.

"साहब ! रेज़गारी नहीं है!" कोचवान ने कहा.

"यह क्या बकवास है? खैर, सामने दफ्तर में जा रहा हूं. बाकी पैसे वहीं पहुंचा देना." कहते वह लपककर दफ्तर में दाखिल हो गये.

"आइये! आइये! किबला मंटो साहब!" एक दुबले से नौजवान ने उठ कर स्वागत किया.

मंटो ने खट से अपनी जेब से कहानी का मसौदा निकालते हुए कहा, "लो मेरी जान! तुम्हारे रिसाले के लिए बड़ी टाप क्लास कहानी लिखी है, लेकिन इसके मुआवज़े की मुझे फौरन जरूरत है. कहां है वह फ्राडे-आज़म तुम्हारे आका-ए-मोहतरम!"

"उसकी क्या पूछते हैं आप मंटो साहब!" नौजवान ने तिलमिलाते हुए कहना शुरू किया, "साला सुबह से गायब है. मुझे खुद पैसों की सख्त ज़रूरत है. पिछले महीने की पूरी तनख्वाह भी कमबख्त ने अभी तक नहीं दी. इसलिए सुबह से बीड़ियों से काम चला रहा हूं. सिगरेट के लिए पैसे नहीं हैं."

इस बार अपनी झल्लाहट का प्रदर्शन उन्होंने खामोशी से किया. कुछ क्षण कुछ सोचते रहे और फिर दौड़कर बाहर निकल आये. उनके पीछे-पीछे संपादक भी आ गया.

बाहर तांगे वाले का निशान तक न था . दो-तीन बार ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ें देने के बाद मंटो ने देखा कि वह मर्दे-होशियार नौ-दो-ग्यारह हो चुका है, तो वह किसी अज्ञात प्रसन्नता के अहसास से मुस्करा दिये और संपादक से संबोधित होकर कहने लगे, "तुमने सच कहा था चुगद! वाकई तुम बदनसीब आदमी हो! और तुम जैसे बदनसीबों को सिगरेट की जगह बीड़ियां ही पीनी चाहियें!"

"जी हां, जी हां" फिर एकदम संपादक ने चौंकते हुए पूछा, "क्यों... वह क्यों मंटो साहब?"

मंटो साहब ने उसे बताया कि किस तरह वह अपनी सारी पूंजी कुल पांच रुपये के नोट के रूप में तांगे वाले को दे कर आये थे और वह रेज़गारी के बहाने नोट पर ही हाथ साफ कर गया.

"तो बदनसीब आप हुए हज़रत...!"

"अजीब बोगस आदमी हो. अरे मियां! मैंने सोचा था तांगे वाला किराया काट कर जो पैसे देगा, वह तुम्हें सिगरेटों के लिए दे दूंगा. इतनी बात नहीं समझे. बदनसीब नहीं तो और क्या हो?"

▣

मंटो की हंसमुखता की सैकड़ों घटनाएं लोगों की ज़ुबान पर हैं. जब मंटो की कहानी 'बू' पर कुछ शिष्ट लोग बिदक उठे और मामला अदालत तक जा पहुंचा तो एक लेखक ने मंटो से कहा, "लाहौर के कुछ प्रमुख भंगियों ने अदालत से शिकायत की है कि आपने एक कहानी 'बू' लिखी है, जिसकी बदबू दूर-दूर तक फैल गयी है."

मंटो ने मुस्कराते हुए जवाब दिया, "कोई बात नहीं. मैं एक कहानी 'फिनाइल' लिखकर उनकी शिकायत दूर कर दूंगा."

▣

किसी ने मंटो साहब से पूछा, "मंटो साहब! पिछली बार आप मिले थे, तो आपसे यह जानकर बेहद खुशी हुई थी कि आपने शराब से तौबा कर ली है, लेकिन कितने अफसोस की बात है कि आज आप फिर पिये हुए हैं."

"ठीक कहा आपने किबला! फर्क सिर्फ इतना है कि उस दिन आप खुश थे और आज मैं खुश हूं."

▣

जिगर मुरादाबादी लाहौर तशरीफ लाये तो कुछ स्थानीय लेखक और कवि दर्शन करने के लिए उनके आवास-स्थान पर पहुंचे. जिगर बहुत सहृदयता और तपाक से हर एक का स्वागत कर रहे थे कि इतने में सआदत हसन मंटो ने आगे बढ़कर जिगर साहब से हाथ मिलाते हुए कहा, "किबला! अगर आप मुरादाबाद के जिगर हैं तो यह खाकसार लाहौर का गुरदा है."

▣

एक रोज़ मंटो साहब बड़ी तेज़ी से रेडियो-स्टेशन की इमारत में दाखिल हो रहे थे कि वहां बरामदे में मडगार्ड के बगैर एक साइकल देखकर क्षण भर के लिए रुक गये और फिर दूसरे ही क्षण उनकी बड़ी-बड़ी आंखों में मुस्कराहट की एक चमकीली-सी लहर दौड़ गयी और वह चीख-चीखकर कहने लगे, "राशद साहब! जनाब राशद साहब! ज़रा जल्दी से बाहर तशरीफ लाइये!" शोर सुनकर न. म. राशद के अलावा कृश्नचंदर, उपेंद्रनाथ अश्क और रेडियो स्टेशन के अन्य कर्मचारी भी उनके गिर्द आ जमा हुए.

"राशद साहब! आप देख रहे हैं इसे!" मंटो ने इशारा करते हुए कहा, "यह बिना मडगार्ड की साइकिल! खुदा की कसम साइकिल नहीं, बल्कि हकीकत में आपकी कोई नज़्म मालूम पड़ती है." □

मंटो : कहानी से कोर्ट तक

साहित्य में श्लील-अश्लील को लेकर चर्चाएं होती हैं और उसे लेकर कभी-कभी साहित्यकार को कोर्ट की तारीखें भी भुगतनी पड़ती हैं. मंटो खुद ऐसे तल्ख अनुभवों से गुज़रे थे. यहां प्रस्तुत है उन्हीं अनुभवों का दस्तावेज़.

■ इब्राहीम अश्क

जब बुजुर्गों के मुंह से यह सुनते थे कि... भई अब क्या है. राजाओं और नवाबों के शहजादे अदब सीखने के लिए पहले तवायफ़ों के यहां जाया करते थे! ... तो बात कुछ समझ में नहीं आती थी. जहन घंटों इस गुत्थी को सुलझाने की नाकाम कोशिश करता रहता था और अंत में थक हार कर एक ही नतीजा निकलता था . . ."भला ऐसा कैसे हो सकता है? यह तो एक मुहावरा है. एक कहानी है, जो न जाने कितनी पीढ़ियों से चली आ रही है. हर कहानी की तरह इस कहानी का आधार भी झूठ पर है ही, जो सच के निकट तो लगता है लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं. बेअदब लोगों से अदब की शिक्षा लेना कैसे संभव है?"...लेकिन जब मंटो को पढ़ा तो लगा एक बहुत बड़ी गुत्थी सुलझ गयी है. एक बहुत बड़ा मसला हल हो गया है और मुझे इस बात पर पूरा विश्वास हो गया कि बुजुर्गों के कथन में इंच मात्र भी झूठ नहीं है. . .और न सिर्फ पुराने जमाने में बल्कि आज भी अदब बेअदब लोगों, बदनाम बस्तियों, गंदे समाज और घिनावने सायों की सड़ी-गली दुनिया में रहकर सीखा जा सकता है.

बंटवारे के बाद मंटो बेशक पाकिस्तान चला गया किंतु उसका ज़हन, उसका दिल हिंदुस्तान में ही रहा और उसकी इसी अंतर्द्वंद्व की स्थिति ने 'टोबा टेकसिंह' 'खोलदो' 'ठंडा गोश्त' और 'धुआं' जैसी कहानियों को जन्म दिया. इन सारी कहानियों पर पाकिस्तान सरकार ने मंटो पर मुकदमे चलाये. . .और इस तरह सच बात कहने की उसे बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ी. कोर्ट-कचहरी के चक्कर काटते वक्त मंटो की मानसिक स्थिति कैसी थी, इसके संदर्भ में मंटो ने एक लेख 'ठंडा गोश्त' के मुक़दमे के बाद लिखा था—

"मेरे लिए यह जगह कोई नई जगह नहीं थी. अपने पिछले तीन मुक़दमों के सिलसिले में मैं यहां आकर कई बार धूल फांक चुका था. इसका नाम तो ज़िला कचहरी है, लेकिन बेहद गंदी जगह है. मच्छर, मक्खियां, कीड़े-मकौड़े, हथकड़ियों और बेड़ियों की झनकारें, निहायत ही दकियानूसी टाइपराइटरों की उकता देने वाली टप-टप. . .

और आगे लिखते हैं, "कोई गंदी गालियां बक रहा है, कोई बिसूर रहा है. अंदर कमरों में मजिस्ट्रेट साहेबान निहायत ही वाहियात मेज़ों के पास बैठे मुक़द्दमों की समाअत फरमा रहे हैं. पास दोस्त-यार बैठे हैं. दौराने-समाअत उनसे भी गुफ्तगू जारी रहती हैं. अलफ़ाज़ ज़िला कचहरी की सही तस्वीर नहीं खींच सकते. यहां का माहौल अलग, यहां की जबान अलग, यहां के सुधार अलग—अजीबो-ग़रीब जगह है. खुदा इससे दूर ही रखे!"

'ठंडा गोश्त' के मुक़दमे को कुछ घटनाएं और गवाहों के कुछ बयानात बड़े ही दिलचस्प हैं. मंटो के गवाह के बयान चल ही रहे थे कि चार चुस्त नौजवान वकील काले कोट पहने दाखिल हुए और मंटो के पास आकर खड़े हो गये. उन्होंने पूछा "मंटो साहब, क्या हम आपके मुक़दमे की पैरवी कर सकते हैं?"

मंटो ने कुछ न सोचा और कह दिया "जी हां, आप पैरवी कर सकते हैं."

यह सुनते ही उन चारों में से एक नौजवान वकील आगे बढ़ा और पैरवी शुरू कर दी. मजिस्ट्रेट ने उस से पूछा, "आप कैसे?" वकील ने मुस्करा कर जवाब दिया, "हुजूर मैं इनका वकील हूं. क्यों मंटो साहब?" और मंटो ने 'हां' में सर हिला दिया.

कार्रवाई शुरू हुई तो बाक़ी तीन वकील भी बीच-बीच में बहस में हिस्सा लेने लगे. उनकी सरगर्मी में बड़ा दिलकश लड़कपन था, वही जो कॉलेज के जिंदादिल छात्रों में होता है. मजि... भन्ना गये. उन्होंने उन तीनों से... "आप हजरात क्यों बीच में बोल रहे..." "उन्होंने जवाब दिया "हुजूर हम भी मंटो के वकील हैं. क्यों ... साहब?" मंटो ने फिर 'हां' में सिर ... दिया. इन चारों वकीलों ने भरपूर ... की, लेकिन कोर्ट से बाहर आने के ... मंटो ने उनका आभार मानते हुए ... कहा कि आपने 'ठंडा गोश्त' की ... स्टडी की है, तो नौजवान वकील... जवाब दिया, "मंटो साहब! खुदा ... हम लोगों ने यह कहानी अब तक ... ही नहीं!"

एक साहब डॉक्टर आई. ... अध्यक्ष मनोविज्ञान विभाग, एफ़... कॉलेज, लाहौर, ने 'ठंडा गोश्त' ... मुक़द्दमे में कहानी के खिलाफ ... देते हुए कहा—

"मैंने 'ठंडा गोश्त' अभी-अभी ... है. यह एक ग़लत रिसाले (पत्रिका) ... छपी है. मेरा मतलब है यह ... एक पापुलर रिसाले में नहीं ... चाहिए थी. अगर यह किसी साइंटि... रिसाले में 'केस हिस्टरी' के तौर ... मर्दुमी (पुरुषत्व) और नामर्दी ... समर्थन या खंडन के रूप में छपती ... इस पर अश्लीलता का इल्ज़ाम नहीं ... जिन (अश्लील) शब्दों की ... इशारा किया गया है, बोलने में ... बुरा समझता हूं, लेकिन 'केस हिस्टरी' ... में यह शब्द बड़ी अहमियत रखते ...

वकील ने कहा, "मंटो साहब, ... गवाह तो 'होस्टाइल' हो गया ..." जवाब में मंटो ने कहा, 'हटाइए. ...'

'ठंडा गोश्त' के मुक़दमे का ... मंटो ने खुद लिखित रूप में दिया ... जिसमें उसने अपने पात्रों और ... की भरपूर समीक्षा की थी. इसे ... के बाद मजिस्ट्रेट ने कहा था, "यह ... ही मुल्ज़िम को सज़ा देने के लिए ... है."

मंटो का वह बयान कुछ इस ... था—

"मैं कहानी 'ठंडा गोश्त' ... मासिक 'जावेद' लाहौर का ...

वह मैं हूं

'काली सलवार', मंटो की मशहूर कहानी जब प्रकाशित हुई तो एक साहब ने, जो मंटो के दोस्त भी थे और खुद भी एक अच्छे कहानीकार की हैसियत रखते थे, उस कहानी पर समीक्षा करते हुए लिखा कि यह कहानी वास्तविकता से बहुत हटकर है और ऐसी कहानी लिखने के लिए लेखक को पूरी तरह उसी पात्र की जिंदगी जीनी चाहिये. मंटो ने जब सुना तो आग-बबूला हो गया और जब समीक्षक महोदय से मुठभेड़ हुई तो बुरी तरह बरस पड़ा. मंटो ने स्वीकार किया कि—वह पात्र, कोई और नहीं, खुद मैं हूं!

जो इस्तग़ासे के नज़दीक नग्न और अश्लील है. मैं इसका विरोध करता यह कहानी किसी भी दृष्टिकोण से ऐसी नहीं है.

इससे पहले भी तीन बार कुछ कहानियों के बारे में संदेह हुआ था कि वे अश्लील हैं, इसलिए मुझ पर मुकदमें चले, सजाएं हुईं, लेकिन अपील करने पर हर बार कोर्ट में मुझे और मेरी कहानियों को अश्लीलता के इल्ज़ाम से बरी किया गया.

कहानी में दो पात्र हैं. ईशर सिंह और उसकी रखैल या पत्नी कुलवंत कौर! दोनों ही ठेठ किस्म के गंवार सिक्ख हैं. दोनों ही यौन आधार पर बहुत तगड़े हैं. कहना चाहिए कि ईशर सिंह को यौन तृप्ति सिर्फ़ कुलवंत कौर जैसी औरत से ही और कुलवंत कौर को यौन तृप्ति सिर्फ ईशर सिंह जैसे मजबूत और तंदरुस्त मर्द ही से मिल सकती थी. दोनों का यौन-जीवन सुखी था लेकिन एक ऐसा वक्त आता है जब कुलवंत कौर महसूस करती है कि ईशर सिंह बदल गया है. उसके यौन-प्रेम में पहले जैसी शक्ति नहीं रही. वह उससे बेरुखी बरत रहा है, किसी और औरत से उसने नाता जोड़ लिया है, लेकिन असल बात यह थी कि सरदार ईशर सिंह एक जबरदस्त मानसिक विघटन का शिकार था, जिसके कारण उसकी यौन शक्ति लकवाग्रस्त हो चुकी थी. वह लूटमार में कई कत्ल करने के बाद एक नौजवान लड़की उठा लाया था, जिससे अपनी यौन आकांक्षा पूरी करना चाहता था, लेकिन जब उसने ऐसा करना चाहा तो उसे मालूम हुआ कि लड़की तो मारे डर के उसके कंधों पर ही मर चुकी थी और उसके सामने एक ठंडी लाश पड़ी थी. इस घटना का ईशर सिंह पर इतना भयावह असर पड़ा कि वह नामर्द हो गया.

यह बात यहां काबिले-ग़ौर है कि क़त्ल और लूटमार करने से ईशर सिंह पर कोई असर नहीं हुआ. उसने कई इंसानों को मौत के घाट उतारा था मगर उसकी आत्मा पर अहसास की एक हल्की-सी खराश भी नहीं आयी. मगर जब वह लड़की की ठंडी लाश पर झुका तो उसकी मर्दानगी गायब हो गयी.

मुझे अफसोस है कि वह तहरीर जो इंसानों को बताती है कि वह इंसान से हैवान बनकर भी इंसानियत से अलग नहीं हो सकते, अश्लील समझी जा रही है और लतीफा है कि कहानी में एक इंसान को उसकी रही-सही इंसानियत एक बहुत बड़ी सज़ा देती है.

कहानी में अगर कोई कलात्मक कमज़ोरी रह गयी थी, बयान में कोई लचक थी या शैली में कोई खामी थी तो उस पर साहित्यिक आलोचना की जाती, मुझे उस वक्त दिली खुशी होती. मैं यहां मुल्ज़िमों के कटघरे में खड़ा हूं और एक निहायत ही घिनौने इल्ज़ाम का मुंह देख रहा हूं कि मैंने अपने लेखन के द्वारा लोगों की यौन आकांक्षाओं को भड़काया है. इसके विरोध में मेरे दिल से विरोध के सिवा और क्या चीज़ निकल सकती है. और भी आश्चर्य है कि ईशर सिंह को जो दर्दनाक सज़ा मिली, वे पाठक के दिलो-दिमाग़ में यौन भावनाएं कैसे जागृत कर सकती हैं!"

मजिस्ट्रेट ने मंटो का यह बयान पढ़कर तीन महीने के कठोर कारावास की सज़ा सुनायी थी, लेकिन उच्च न्यायालय में अपील करने के बाद उसे बरी कर दिया गया था. □

मंटो की व्यंग्य रचनाएं

देख कबीरा रोया

▣

मुल्क का सबसे बड़ा नेता चल बसा तो चारों तरफ मातम की सफें बिछ गयीं. अक्सर लोग बाज़ुओं पर स्याह बिल्ले बांधकर फिरने लगे. कबीर ने यह देखा तो उसकी आंखों में आंसू आ गये. स्याह बिल्ले वालों ने उससे पूछा, "क्या दुख है?"

कबीर ने जवाब दिया, "यह काले रंग की चंदियां अगर जमा कर ली जायें तो सैकड़ों की सतरपोशी (अंग ढांपना) कर सकती हैं."

स्याह बिल्ले वालों ने कबीर को पीटना शुरू कर दिया, "तुम कम्युनिस्ट हो. पाकिस्तान के गद्दार हो!"

कबीर हंस पड़ा, "लेकिन दोस्तो! मेरे बाज़ू पर तो किसी रंग का बिल्ला नहीं!"

▣

पंक्तिबद्ध फौजों के सामने जरनैल ने तकरीर करते हुए कहा, "अनाज कम है, कोई परवाह नहीं. फसलें तबाह हो गयी हैं, कोई फिक्र नहीं. हमारे सिपाही भूखे ही लड़ेंगे."

फौजियों ने ज़िंदाबाद के नारे लगाने शुरू कर दिये.

कबीर चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा. जरनैल को बहुत गुस्सा आया. चुनांचे वह पुकार उठा, "ए शख़्स! बता सकता है, तू क्यों रोता है?"

कबीर ने रोनी आवाज़ में कहा, "ए मेरे बहादुर, भूख से कौन लड़ेगा?"

दो लाख आदमियों ने 'कबीर, मुर्दाबाद' के नारे लगाने शुरू कर दिये. □

मंटो : फिल्मी दुनिया का बदनाम दुश्मन !

■ कान्त कुमार

फिल्म-क्षेत्र में प्रवास के दौरान अपने स्पष्टवादी स्वभाव के कारण दोस्तों की बजाय दुश्मन अधिक बनाये. फिल्मों में आने से पूर्व वह दिल्ली आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले अपने साप्ताहिक नाटक 'आओ' शृंखला एवं अपनी लेखनी द्वारा, सुनने और पढ़ने वालों में चर्चित और बदनाम हो चुका था. और अधिक लोगों तक पहुंचने का लोभ उसे बंबई खींच लाया, जहां वह उर्दू पत्रिका 'मुसव्विर' का संपादन करता रहा, लेकिन अपनी कड़वी जबान के कारण वहां अधिक नहीं टिक सका. मुसव्विर को छोड़कर उसने फिल्म इंडिया के संपादक बाबुराव पटेल के साथ मिलकर 'कारवां' नामक उर्दू पत्र का संपादन शुरू कर दिया.

यह उसके फिल्म-कैरियर की शुरुआत थी. इसी दौरान उसका संपर्क अशोक कुमार, श्याम, नसीम बानो, कुलदीप कौर, नरगिस एवं सितारा देवी जैसी फिल्मी हस्तियों से हुआ. 'कारवां' छोड़कर उसने इंपीरियल फिल्म कंपनी में चालीस रुपये मासिक पर संवाद लेखक की नौकरी कर ली. कहीं जमकर काम करना तो मंटो ने सीखा ही नहीं था. इंपीरियल कंपनी छोड़कर उसने 'सरोज मूविटोन' के मालिक नानूभाई देसाई के लिए प्रसिद्ध लेखक कृशन चंदर के साथ मिल 'मड' (कीचड़) उर्फ 'अपनी नगरिया' फिल्म लिखी. फिल्म प्रदर्शित हुई तो टिकिट खिड़की पर दर्शकों से अधिक पुलिस की भीड़ थी, जो दर्शकों को संभाल रही थी. तभी नानू भाई ने फिल्म की सफलता के बावजूद भी कंपनी का दिवाला निकाल, मंटो को बंबई के रास्तों पर बेकार छोड़ दिया.

यह जमाने में दम नहीं!

मगर मंटो की आदत ... हमको मिटा सके, यह जमाने में दम नहीं! हमसे है यह जमाना, जमाने से हम नहीं! वह घबराया नहीं. कलम चलती रही.

इस बीच मंटो की भेंट फिल्म निर्माता एहसान से हुई. ताजमहल पिक्चर्ज के झंडे वाले मंटो ने फिल्म 'उजाला' लिखी. लेकिन फिल्म को बुरी तरह बॉक्स-आफिस पर असफलता मिली. निर्माता फिल्म की नायिका नसीम बानो से विवाह कर दिल्ली चला गया और मंटो फिर से बिना किसी काम के, केवल कलम के बूते पर गुजर करने लगा. तभी उसकी मुलाकात शहीद लतीफ और उनकी पत्नी इस्मत चुगतई से हुई और मंटो फिलमिस्तान में संवाद लेखकों के दल में 150 रु. मासिक पर शामिल हो गया. 'चल चल रे नौजवान' लिखी. फिल्मिस्तान के ज्ञान मुखर्जी और एस. मुखर्जी फिल्म का सिनेरियो लिखते और 'पीस डायलॉग' के रूप में संवाद लेखकों का दल, जिसमें मंटो के अलावा रेवती शरण वर्मा, उपेंद्रनाथ अश्क जैसे लेखक संवाद लिखते. तभी एहसान नसीम को लेकर वापिस बंबई लौट आए और मंटो द्वारा लिखी 'बेगम' पर फिल्म का निर्माण आरंभ किया. इस फिल्म में उन्होंने मंटो की मर्जी के विरुद्ध कहानी में अदला-बदली की. एहसान फिल्म में कहानी की बजाय नसीम की खूबसूरती को दर्शकों तक पहुंचाना चाहते थे. मंटो फिर बुरा बन गया लोगों के लिए.

उन्हीं दिनों प्रसिद्ध अशोक कुमार और मिस्टर बांबे टाकीज को अपने अधिकार लिया. मंटो ने न केवल 'आठ दिन' और 'आगोश' जैसी लिखीं, बल्कि 'आठ दिन' में के रूप में भी अवतरित हुआ. में उसने एक 'पागल' की भूमिका जो फुटबाल फेंक-फेंककर कहता उसने बम फेंका है! यह भूमिका बिल्कुल वास्तविक जीवन के थी. वह जो लिखता था, उसे बाल समझकर नकारते थे और 'बम' समझकर उसे पढ़ने समक्ष प्रस्तुत करता था. इसी उपेंद्रनाथ अश्क एवं राजा मेंहदी खां जैसे गीतकारों ने भी अभिनीत कीं. 'आगोश' बनी, कमजोर निर्देशन के कारण बुरी पिट गयी.

इस बीच मंटो ने अशोक की कंपनी के लिए इस्मत चुगताई कहानी 'जिद्दी' की पटकथा लेकिन उसे अशोक कुमार ने नहीं किया. इसके दो कारण थे. तो अशोक कुमार, जो उन दिनों प्रिय अभिनेता थे, कहानी की इस्मत चुगतई के अनुसार बैठते थे और दूसरा, मंटो ठीक से नहीं लिख पाते थे.

मंटो फिर बुरा बन गया, मित्रों की नज़र में. सोहराब उन्हें अपने यहां 'मिनर्वा में लिखने का निमंत्रण दिया, उन्होंने 'मिर्जा ग़ालिब', राजेंद्र के संवादों के सहयोग से लिखी. राजनीतिक दंगे आरंभ हो गये. फिर से कलम चलानी आरंभ विभाजन के कुछ समय पश्चात पाकिस्तान चला गया. उसकी पस्थिति में 'घमंड' फिल्म का हुआ, जो कमजोर अभिनय के अधिक समय तक पर्दे पर नहीं मंटो पाकिस्तान में फिल्म माध्यम अपना गुबार निकालना चाहता लेकिन उस के पास कुछ भी ... और यही उसके फिल्म अंत था.

मंटो लिखित फिल्म
कटारी
की पटकथा के कुछ दृश्य

बड़े सरकार की हवेली—बाग़.

माली क्यारियां दुरुस्त करने में मसरूफ़ है, चमेली भी हाथ बंटा रही है.

चमेली (थक कर): मुझसे नहीं होता.

माली (मानीखेज़ लहजे में) : नहीं होता तो न किया कर...

चमेली: पर अकेले में क्या किया करूं?

इतने में मुंशी नमूदार होता है

माली: आइये, मुंशी साहब, आइये.

मुंशी आता है, अफसरदा (दुखी) है

माली: गुलाब का कुछ पता लगाया?

मुंशी: नहीं.

माली: आपकी औलाद है, दिल पर इस तरह पत्थर नहीं रख लेना चाहिये.

मुंशी: क्या करूं, भाई मैं मजबूर हूं. (बैठ जाता है) मुझमें इतनी हिम्मत नहीं.

माली: अच्छे बाप हैं आप, मुंशी साहब!

मुंशी: मेरे जख्मों पर नमक न छिड़को. जब से वह गया है, मेरे दिल की बुरी हालत है. तुम समझते हो मुझे इसका दर्द नहीं, तुम समझते हो कि मैं उसे कसूरवार समझता हूं.—नहीं, नहीं , नहीं!

माली: मैं पता लूं गुलाब का?

मुंशी: (आहिस्ता) नहीं.

छोटे सरकार की आवाज़ आती है

छोटे सरकार: माली!

माली: (एकदम खड़े होकर) हुजूर!

छोटे सरकार: हमारे कमरे के गुलदानों में कल के ही बासी फूल पड़े झक मार रहे हैं...वजह?

माली: (चमेली की तरफ देखकर) हुजूर, यह चमेली का कसूर है.

छोटे सरकार: तो भेजो उसे जल्दी, नये फूल सजाये.

छोटे सरकार चमेली की तरफ कनखियों से देखता हुआ चला जाता है.

माली: जाओ चमेली, ताज़ा फूल फव्वारे के पास पड़े हैं.

चमेली चली जाती है. माली अपने काम में मशगूल हो जाता है.

माली: (बड़बड़ाते हुए) आपने क्यों गुलाब को जाने दिया, क्या आपको सारी बात मालूम नहीं थी?

मुंशी: तुमने चमेली को क्यों जाने दिया?

(माली चौंकता है)

मुंशी: क्या तुम्हें मालूम नहीं है?

माली: (एकदम उठकर) क्या?

मुंशी: मुझसे क्या पूछते हो, अपने दिल से पूछो.

माली: बताइये, बताइये मुंशी साहब, आपको क्या मालूम है?

मुंशी: अपने दिल से पूछो.

माली: अपने दिल से? (आहिस्ता से) मेरा दिल है कहां?

मुंशी: तुम मुझसे कह रहे थे, अच्छे बाप हैं आप मुंशी साहब! मैं कहता हूं क्या तुम बाप नहीं?...तुमने कहा था, गुलाब आपकी औलाद है, दिल पर इस तरह पत्थर नहीं रख लेना चाहिए. मैं कहता हूं, चमेली तुम्हारी औलाद है, तुमने क्यों आंखों पर पट्टी बांध रखी है!

माली खामोश हो जाता है

मुंशी: जो खेल तुम्हारी आंखों के सामने हो रहा है, इंसान की आंखों पर पट्टी बंधी हो तो भी देख सकता है. .. लेकिन तुम इतने बेग़ैरत हो...

माली: बस, बस,!

मुंशी: मैं गुलाम हूं, मेरे बाप-दादा गुलाम थे. . .सदियों की गुलामी मेरे खून में रची हुई है. . .बेकसूर गुलाब को यहां से निकाला गया, मैं उफ तक न कर सका, इसलिए कि मुझमें जुर्रत नहीं थी. पर मैं खुश हूं कि मेरा बेटा इस गंदगी से निकल गया जो कुछ दिनों से यहां फैल रही है. तुम तो एक लड़की के बाप हो माली. . .चमेली मेरी बेटी होती. . .!

माली: ऐसी बात मुंह से न निकालो.

मुंशी : क्यों?

माली: चमेली तुम्हारी बेटी क्यों हो?

मुंशी: (हैरत से) क्या मतलब?

माली: इधर आओ.

मुंशी उसके साथ चलता है. कवार्टर तक दोनों खामोश चलते रहते हैं.

बड़े सरकार की हवेली में माली का क्वार्टर. मुंशी और माली अंदर आते हैं.

मुंशी खामोश खाट पर बैठ जाता है. माली कुछ इधर-उधर टहलता है, फिर एकदम रुककर मुंशी से कहता है.

माली: चमेली मेरी लड़की नहीं है.

[मुंशी उठकर खड़ा होता है.]

मुंशी: चमेली तुम्हारी लड़की नहीं है?

माली: नहीं **[और बेतहाशा हंसना शुरू कर देता है, फिर एक कोने में रखे पलंग की तरफ देखता है]**

माली: वह. . . .वह यहां लेटी हुई थी.

मुंशी: कौन?

माली: मेरी बीवी **(उसकी आंखों में आंसू आ जाते हैं)** आखरी सांस थी... बच्चे की पैदाइश की जितनी खुशी थी, सब दुख बन गयी थी. . .उसकी आंखों से आंसू बह रहे थे. . यकायक बच्ची दूध के लिए बिलखने लगी. मैंने कहा आखिरी घूंट तो मेरी बेटी को देती जाओ. यह सुनकर उसने मुंदी-मुंदी आंखों से बच्ची की तरफ देखा, फिर मेरी तरफ आंख उठायी और यह खौफनाक बात कही, "यह तुम्हारी बेटी नहीं है..." यह सारा कवार्टर मेरी आंखों तले घूम गया. "किसकी है?" मैंने पूछा. उसने जवाब दिया, "बड़े सरकार की. . . गला घोंट दो इसका...!" यह सुनकर मुझे होश न रहा. . .मुझे मालूम नहीं, उस गुनहगार की कब जान निकल गयी!

मुंशी: तुमने गला क्यों नहीं घोंट दिया उस शैतान की बच्ची का?

माली: मैं गला घोंटने वाला था.. लेकिन मेरे मन के अंदर एक शैतान पैदा हुआ—उसने मुझसे कहा—नहीं, इसे जिंदा रहने दो...इसको पाल-पोसकर बड़ा करो. . .बड़े सरकार का एक लड़का है. ..जवान होकर वह भी बाप की तरह खेल खेलेगा... क्या पता है कि यह हराम की बच्ची और वह. . .

मुंशी: (एकदम चीख उठता है) बस, बस, बस!

माली: अभी बस कहां. . .मैं अपने दिल के फोड़े को चौदह बरस तक पकाता रहा हूं...अब तो इसके फूटने और बह जाने का वक्त है. . .! □

अदब या तो अदब है या एक बहुत बड़ी बेअदबी!

यह नयी चीज़ों का जमाना है. नये जूते, नयी ठोकरें, नये कानून, नये जुर्म, नयी घड़ियां, नयी बेवक्तियां, नये मालिक, नये गुलाम और लुत्फ यह है कि इन नये गुलामों की खाल भी नयी है, जो उधड़-उधड़कर नवीनप्रिय हो गयी है. अब उनके लिए नये कोड़े और नये चाबुक तैयार हो रहे हैं.

अदब (साहित्य) भी नया है, जिस के बेशुमार नाम हैं. कोई उसे तरक्कीपसंद कहता है, कोई प्रतिक्रियावादी. कोई अश्लील कहता है, कोई मज़दूरपरस्त. इन नये अदब को परखने के लिए नयी कसौटियां भी मौजूद हैं. यह कसौटियां पत्रिकाएं हैं. वार्षिकांक, मासिक, साप्ताहिक और दैनिक. इन पत्रिकाओं के मालिक और संपादक भी नये हैं. कोई पाकिस्तानी है. कोई अखंड हिंदुस्तानी. कोई कांग्रेसी है, कोई कम्युनिस्ट. . . सब अपनी-अपनी कसौटी पर इस नये अदब को परखते रहते हैं और उसका खोटा-खरा बताते रहते हैं, मगर अदब सोना नहीं, जो उसके घटते-बढ़ते भाव बताये जायें. अदब ज़ेवर है और जिस तरह खूबसूरत ज़ेवर खास सोना नहीं होते, उसी तरह खूबसूरत रचनाएं भी खालिस हकीकत नहीं होतीं. इनको सोने की तरह पत्थरों पर घिसा-घिसाकर परखना बहुत बड़ी बेज़ौकी (रुचि-हीनता) है.

अदब या तो अदब है, वरना एक बहुत बड़ी बेअदबी. ज़ेवर या तो ज़ेवर है, वरना एक बहुत ही बदनुमा शै है. अदब और गैर-अदब, ज़ेवर और गैर-ज़ेवर में कोई दरम्यानी इलाका नहीं.

यह जमाना नये दर्दों और नयी टीसों का जमाना है. एक नया दौर पुराने दौर का पेट चीरकर पैदा किया जा रहा है. पुराना दौर मौत के सदमे से रो रहा है. नया दौर ज़िंदगी की खुशी से चिल्ला रहा है. दोनों के गले रुंधे पड़े हैं. दोनों की आंखें सजल हैं.

इस नमी में अपनी कलम डुबोकर लिखने वाले लिख रहे हैं—नया अदब! ज़बान वही है. सिर्फ लहजा बदल गया है. दरअसल उसी बदले हुए लहजे का नाम नया अदब, तरक्कीपसंद अदब, अश्लील अदब या मज़दूरपरस्त अदब है.

आंसुओं और कहकहों का वजन!

जब किसी इंसान का लहजा बदल जाता है. जब कोई इंसान हंसते-हंसते रोने लगता है. जब किसी राग के मद्धिम सुर एकाएक ऊंचे हो जाते हैं. जब बच्चा बिलखने लगता है, तो आवाज़ मापने वाले यंत्र से यांत्रिक तरीके पर इस तबदीली को नहीं जांचते. जो विद्वान हैं, जो साहबे-ज़ौक हैं, हमेशा इस कैफियत, इस भावना, इस प्रेरणा को टटोलने की कोशिश करेंगे, जिसने यह तबदीली पैदा की.

अदब एक व्यक्ति की अपनी ज़िंदगी की तस्वीर नहीं. जब कोई अदीब कलम उठाता है तो वह अपने घरेलू मामलों का रोज़नामचा नहीं लिखता. अपनी ज़ाती खुशियों, रंजिशों, बीमारियों और तंदरुस्तियों का ज़िक्र नहीं करता. उसकी कलमी तसवीरों में बहुत मुमकिन है—आंसू उसके दुखी बहन के हों, मुस्कराटें आपकी हों और कहकहे एक खस्ताहाल मज़दूर के.

इसलिए अपने आंसुओं, अपनी मुस्कराहटों और अपने कहकहों के तराज़ू में इन तस्वीरों को तौलना बहुत बड़ी गलती है. हर रचना एक खास फिज़ा, एक खास असर, एक खास मकसद के लिए पैदा होती है. अगर उसमें वह खास फिज़ा, वह खास असर और वह खास मकसद मसहूस न किया जाये तो वह एक बेजान लाश रह जायेगी.

रोटी, औरत और तख्त!

मगर अदब लाश नहीं, जिसे डॉक्टर और उसके शागिर्द पत्थर की मेज़ पर लिटाकर पोस्ट-मार्टम शुरू कर दें. अदब बीमारी नहीं, बल्कि बीमारी का रद्दे-अमल (प्रतिक्रिया) है. दवा भी नहीं, जिसके इस्तेमाल के लिए औकात और मकदार की पाबंदी आयद की जाती है. अदब दर्जा हरारत (तापमान) है अपने मुल्क का, अपनी कौम का. वह उसकी सेहत और बीमारी की खबर देता रहता है.

पुरानी अलमारी के किसी खाने से हाथ बढ़ाकर कोई गर्द भरी किताब उठाइये. बीते हुए ज़माने की नब्ज़ आपकी उंगलियों के नीचे धड़कने लगेगी.

कितनी सदियां गुज़र चुकी हैं. कितनी नस्लें उन गुज़री हुई सदियों के नीचे दफन हैं. ऐसा लगता है कि लाशों का एक अंबार है, जिसकी चोटी पर हम खड़े हैं और नीचे एक अथाह समंदर की तरफ देख रहे हैं. आसमान की तरफ निगाह उठाते हैं तो ऐसा मालूम होता है, जैसे हम उसके बिल्कुल करीब पहुंच गये हैं, लेकिन आने वाले ज़माने की एक छोटी-सी करवट, एक और सदी हमारी लाशों पर हमारी औलाद को खड़ा कर देगी और वह समझेगी, हम ऊंचे हैं, लेकिन सबसे पहली सदी की लाश कहां है? किस हालत में है? किसी को कुछ मालूम नहीं. लेकिन आदम का किस्सा वही है. एक औरत और एक मर्द या दो औरतें और एक मर्द या दो मर्द और एक औरत. . . यह गरदान अज़ल से जारी है और अबद तक जारी रहेगी.

इंसान को भूख पहले भी लगती थी और अब भी लगती है. ताकत की इच्छा पहले भी थी, अब भी है. शेयर और शराब का शौकीन जैसा पहले था, अब भी है. तब्दीली क्या हुई है? . . .

कुछ भी नहीं. रोटी, औरत और तख्त. . रोटी, औरत और तख्त, और अगर उनसे उकता गया तो खुदा, एक ऐसी ताकत जो रोटी, औरत और तख्त से कहीं ज्यादा अबूझ और पहुंच से परे है.

इंसान औरत से मुहब्बत करता है तो हीर-रांझा की दास्तान बन जाती है. रोटी से मुहब्बत करता है तो एपीक्यूरस का फलसफा (दर्शन) पैदा हो जाता है. तख्त से प्यार करता है तो सिकंदर, चंगेज, तैमूर और हिटलर बन जाता है और जब खुदा से लौ लगाता है तो महात्मा बुद्ध का रूप अख्तियार कर लेता है.

पत्थर मारने का सलीका !

दुनिया बहुत विशाल है. कोई चींटी मारना बहुत बड़ा पाप समझता है. कोई लाखों इंसान हलाक कर देता है और अपने इस कार्य को बहादुरी और वीरता से ताबीर करता है. कोई मज़हब को लानत समझता है. कोई उसी को सबसे बड़ी नियामत.. इंसान को किस कसौटी पर परखा जाये. यों तो हर मज़हब के पास एक बटिया मौजूद है, जिस पर इंसान कसकर परखे जाते हैं, मगर वह बटिया कहां है ? . . . सब कौमों, सब मज़हबों, सब इंसानों की एकमात्र कसौटी, जिस पर आप मुझे और मैं आपको परख सकता हूं ?. . . वह धर्मकांटा कहां है, जिसके पलड़ों में हिंदू और मुसलमान, ईसाई और यहूदी, काले और गोरे तुल सकते हैं ?

यह कसौटी, यह धर्मकांटा, जहां कहीं भी है, न नया है न पुराना. . . न तरक्कीपसंद है, न प्रतिक्रियावादी. न निरावरण है और छुपा हुआ. न अश्लील है न शिष्ट. . . इंसान और इंसान के सारे कर्म इसी तराज़ू में तोले जा सकते हैं. मेरे नज़दीक किसी और तराज़ू की कल्पना करना ही बड़ी हिमाकत है.

हर इंसान दूसरे इंसान को पत्थर मारना चाहता है. हर इंसान दूसरे इंसान के कर्म परखने की कोशिश करता है. यह उसकी फितरत है, जिसे कोई भी हादसा तबदील नहीं कर सकता. मैं कहता हूं कि अगर आप मेरे पत्थर मारना ही चाहते हैं तो खुदा के लिए, ज़रा सलीके से मारिये. मैं उस आदमी से हरगिज़-हरगिज़ अपना सिर फुड़वाने के लिए तैयार नहीं, जिसे सिर फोड़ने का सलीका ही न आता हो. अगर आपको यह सलीका नहीं आता, तो सीखिये. दुनिया में रहकर जहां आप नमाज़ें पढ़ना, रोज़े रखना और महफिलों में जाना सीखते हैं, वहां पत्थर मारने का ढंग भी आप को सीखना चाहिए.

"अदब लाश नहीं, जिसे डाक्टर मेज़ पर लिटाकर पोस्ट-मार्टम शुरू कर दे. अदब बीमारी नहीं, बल्कि बीमारी का रद्दे-अमल है. दवा भी नहीं, जिसके इस्तेमाल के लिए औकात और मकदार की पाबंदी आयद की जाती है. अदब दर्जा हरारत है अपने मुल्क का, अपनी कौम का. वह उसकी सेहत और बीमारी की खबर देता रहता है.
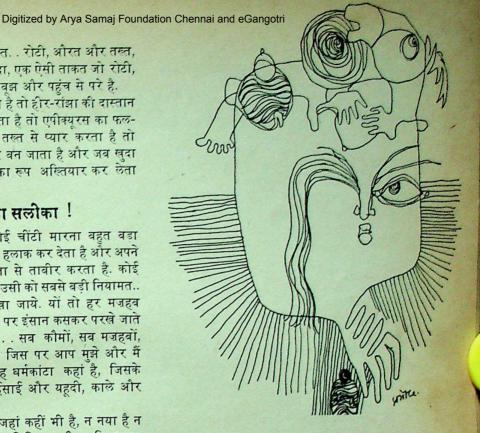
आप खुदा को खुश करने के लिए सौ हीले करते हैं. मैं आपके इस कदर नज़दीक हूं. मुझे खुश करना भी आपका फर्ज़ है. मैंने आपसे कुछ ज़्यादा तलब तो नहीं किया ? मुझे बड़े शौक से गालियां दीजिये. मैं गाली को बुरा नहीं समझता. इसलिए कि यह कोई गैर-फितरी चीज़ नहीं, लेकिन ज़रा सलीके से दीजिये. न आपका मुंह बदमज़ा हो और न मेरे ज़ौक को सदमा पहुंचे.

अदब की बेअदबियां !

मेरे नज़दीक बस यह सिलसिला भी एक कसौटी है. इंसान के हर कर्म के लिए, उसके गुनाह के लिए, उसके सवाब के लिए, उसकी शायरी के लिए, उसके अफसानों के लिए. मुझे नाम-निहाद (तथाकथित) आलोचकों में कोई दिलचस्पी नहीं. नुक्ताचीनियां सिर्फ पत्तियां नोंचकर बिखेर सकती हैं, लेकिन उन्हें जमा करके एक सालम फूल नहीं बना सकतीं.

बहुत से आलोचक गुज़र चुके हैं, लेकिन इस अदब से बेअदबियां दूर नहीं हुई. बहुत से पैगंबर आ चुके हैं, लेकिन इंसान एक दूसरे से संगठित नहीं हुआ. यह एक बहुत बड़ा दुखांत है, लेकिन मुसीबत यह है कि यह दुखांत ही इंसानियत की किस्मत है. उसकी ज़िंदगी और उसकी मौत, उसकी जवानी और उसका बुढ़ापा.. . . यह दुखांत ही सआदत हसन मंटो है. यह दुखांत ही आप हैं. यह दुखांत ही सारी दुनिया है, जिसमें कसौटियां ज़्यादा हैं और कसे जाने वाले कम. जिसमें पत्थर कम हैं और सिर फोड़ने वाले ज़्यादा ! □

मंटो का सवाल था कि

आपने क्या फैसला किया ?

पं. त्रिलोक नाथ 'आज़म' उर्दू के मशहूर रिसाले 'दस्तगीर' (सन् 1938-1952) के व्यवस्थापक, प्रकाशक और संपादक रहे हैं. जहां उन्होंने पारसी रंग-शैली में अनेक नाटक लिखे हैं, वहीं 'गीता' का उर्दू में पद्यानुवाद कर ख्याति प्राप्त की है. शायरी में रूहानियत इनका विशेष रंग है. संप्रति वे 83 वर्ष की आयु में पारसी रंगमंच पर एक पुस्तक लिख रहे हैं और यूनानी पद्धति के चिकित्सक भी हैं. प्रस्तुत है मंटो से हुई उनकी पहली और आखिरी मुलाकात.

प्रस्तुति : हरीश नवल

सन् 1939 के आसपास की बात है, चांदनी चौक में उर्दू पत्रिका 'दस्तगीर' के कार्यालय में संपादक की कुर्सी पर बैठा मैं 'दस्तगीर' के लिए रचनाएं देख रहा था. मेरे सामने फैली अनेक रचनाओं में सआदत हसन मंटो की एक कहानी भी थी. मंटो ने पहली बार कोई रचना 'दस्तगीर' को भेजी थी. मेरे संस्कार और मंटो के प्रति मेरे पूर्वग्रह उनकी कहानी को अपनी पत्रिका के योग्य न समझते थे. वह कहानी रोचक हो सकती थी किंतु मुझे मंटो की नंगी बयानी कतई पसंद न थी और मैं वह कहानी प्रकाशित न करने का निर्णय मन में ले रहा था.

इसे संयोग ही कहा जायेगा कि जिस व्यक्ति की कहानी पर मैं विचार कर रहा था, वही मंटो, थोड़ी देर बाद मेरे कार्यालय में हाजिर थे. उन्हें देख मैं बेहद प्रसन्न हुआ और गर्मजोशी से उनका स्वागत किया. वह शांत तबियत के प्रसन्नचित व्यक्ति लग रहे थे. चाय के दौर में उनसे खुली बातचीत हुई.

मेरे बताने पर कि मैं उन्हीं की कहानी पर विचार कर रहा था, उन्होंने मुस्कराते हुए पूछा, आपने क्या फैसला किया?

कुछ संकोच से मैंने उनसे क्षमा मांगते हुए बताया कि मैं उनकी कहानी प्रकाशित नहीं करना चाहता था.

उन्होंने चेहरे पर बिना कोई भाव लाये मेरी नापसंदगी का कारण पूछा. मैंने पत्रिका के साहित्यिक स्वर को गर्व से बयान करते हुए जवाब दिया कि उनकी कहानी इस साहित्यिक स्वर या स्तर को नहीं छूती है. "इसमें वह क्या है जो साहित्यिक नहीं है?" उन्होंने शांत गंभीर स्वर में पूछा. मैं सफल पत्रिका के सफल संपादन के जोश में कह गया, "मैं आपकी रचनाओं को समाज और साहित्य के लिए उपयोगी नहीं मानता. . . आपके कथा-साहित्य के नंगेपन को बर्दाश्त नहीं कर सकता. हालांकि आपको भी प्रेमचंद, सुदर्शन, कृश्नचंदर और अश्क की भांति बहुत बड़े पाठक वर्ग द्वारा पढ़ा जाने लगा है, लेकिन माफ करें, उनकी कहानियों में जिस समाज के दर्द का बयान किया जाता है, वह आपकी कहानियों में नहीं है. आपकी कहानियों में जिंदगी का जो जोश है उसे आप एक सही अर्थ दें तो आप उच्चकोटि के साहित्यकार कहला सकते हैं.

▣

मैं समझता था कि मंटो साहब मेरी टिप्पणी सुनकर क्रोधित हो उठेंगे किंतु वह उत्तेजित न होकर संजीदगी से बोले, "आज़म साहब, मैं आपका शुक्रगुज़ार हूं कि आपने मुझे अच्छी शिक्षा देने की कोशिश की. मगर यह तभी मुमकिन हो सकता है जब मैं समाज में हज़ारों बुराइयां देखने की बजाय सैकड़ों खूबियां देखूं. आप एक चिकित्सक और संपादक साहित्यकार हैं, इसलिए समाज और देश की नब्ज़ देखते रहे हैं और एक रहनुमा की तरह दवा करते हैं. पर मैं रहनुमा नहीं, एक अदना-सा लेखक हूं, एक चित्रकार की तरह देश और समाज की तस्वीर अपने नज़रिये से बनाता हूं. वही तस्वीर पेश करना ही एक चित्रकार का काम है. मैं वो नहीं जो—**रात को खूब ही पी/ सुबह को तौबा कर ली/ रिंद के रिंद रहे/ हाथ से जन्नत न छूटी.** मैं समाज के सामने कुछ और, और व्यक्तिगत जीवन में कुछ और नहीं हूं. क्या आप गवारा करेंगे कि कोई चित्रकार आपकी तस्वीर बनाते हुए आपका चेहरा इस कदर तराश दे कि पहचानने वाले आपकी तस्वीर पहचान ही न पायें. मेरी बनायी तस्वीर भी इसी तरह झूठी नहीं होती. मैं कोरी कल्पनाएं नहीं करता हूं, बल्कि आपके सामज ही में घट रही वास्तविकताओं की वह तस्वीर खींचता हूं जिनसे आप बचना चाहते हैं."

▣

उनके इस अकाट्य तर्कपूर्ण कथन का मैं कायल तो हो गया, पर फिर भी किसी तरह मैंने एक छोटा-सा प्रश्न उनके सामने उछाल दिया, "और आपकी कहानियों का नंगापन?"

मंटो ने चाय के चंद घूंट लेकर उसी गंभीरता से उत्तर दिया, "मैं सेक्स जैसे जान-बूझकर छिपाये जाने वाले विषयों पर दिल खोलकर बहस करता हूं लेकिन खुद को उसमें लिप्त नहीं रखता. **जब समाज में चारों ओर हवस के पुजारी ही नज़र आयें. जब कला के नाम पर भी वासना ही दिखायी पड़े तो मैं उन्हें क्यों छिपाऊं? मेरी कहानियों में आपको जहां नंगापन नज़र आता है. वहां मुझे इंसानियत दम तोड़ती नज़र आती है और आप मुझे माफ करें, जहां भी ये दम तोड़ती नज़र आयेगी, मेरी कलम पूरी ताकत से चलेगी, चाहे आप उसे छापें या न छापें."**

मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो उठा. इससे पहले कि मैं प्रकृतिस्थ हो सकूं, मंटो साहब उठे और 'फिर मिलेंगे! आमीन.' कहकर मुझे बुरी तरह परास्त कर सीढ़ियां उतर गये.

फूलों की साजिश

बाग में जितने फूल थे, सब के सब बागी हो गये. गुलाब के सीने में बगावत की आग भड़क रही थी. उसकी एक-एक पत्ती आग्नेय भावना के अधीन फड़क रही थी. एक रोज उसने अपनी कांटों भरी गरदन उठायी और सोच-विचार को ताक पे रखकर अपने साथियों से मुखातिब हुआ, "किसी को कोई हक हासिल नहीं कि हमारे सीने से अपने ऐश का सामान मुहैया करे..... हमारी जिंदगी की बहारें हमारे लिए हैं और हम उसमें किसी का हस्तक्षेप गवारा नहीं कर सकते."

गुलाब का मुंह गुस्से से लाल हो रहा था. उसकी पंखड़ियां थरथरा रही थीं.

चमेली की झाड़ी में तमाम कलियां यह शोर सुनकर जाग उठीं, और हैरानी में एक दूसरे का मुंह तकने लगीं. गुलाब की मर्दाना आवाज फिर बुलंद हुई, "हर जीव को अपने हकों की निगरानी का हक हासिल है, और हम फूल इससे अलग नहीं हैं. हमारे दिल ज्यादा नाजुक और हस्सास (संवेदनशील) हैं. गर्म हवा का एक झोंका हमारी रंगो-बू की दुनिया को जलाकर खाक कर सकता है और शबनम का एक बेमकदार कतरा हमारी प्यास बुझा सकता है. क्या हम उस काने माली के खुरदरे हाथों को बर्दाश्त कर सकते हैं, जिस पर मौसमों की तबदीली का कुछ असर ही नहीं होता!"

मोलिया के फूल चिल्लाये, "हरगिज नहीं !" लाला की आंखों में खून उतर आया और कहने लगा, "उसके जुल्म से मेरा सीना दागदार हो रहा है. मैं पहला फूल हूं जो इस जल्लाद के खिलाफ़ बगावत का सुर्ख झंडा बुलंद करेगा." यह कहकर वह गुस्से से थरथर कांपने लगा.

चमेली की कलियां हैरान थीं कि यह शोर क्यों बुलंद हो रहा है. एक कली नाज के साथ गुलाब के पौधे की तरफ झुकी और कहने लगी, "तुमने मेरी नींद खराब कर दी है! आखिर गला फाड़-फाड़ कर क्यों चिल्ला रहे हो ?"

गुलखैरो, जो कुछ दूर खड़ा गुलाब की जोरदार तकरीर पर गौर कर रहा था, बोला, "कतरा-कतरा मिलकर दरिया बनता है. यद्यपि हम कमज़ोर फूल हैं, लेकिन अगर हम सब मिल जायें तो कोई वजह नहीं कि हम अपनी जान के दुश्मन को पीसकर न रख दें. हमारी पत्तियां अगर खुशबू पैदा करती हैं तो वे जहरीली गैस भी तैयार कर सकती हैं. भाइयो, गुलाब का साथ दो और अपनी फतह समझो."

गुलाब कुछ कहने ही वाला था कि चमेली की कली ने अपने मर्मरी जिस्म पर एक थरथरी पैदा करते हुए कहा, "यह सब बेकार बातें हैं... आओ, तुम मुझे शे'र सुनाओ. मैं आज तुम्हारी गोद में सोना चाहती हूं.... तुम शायर हो. मेरे प्यारे, आओ ! हम बहार के इन खुशगवार दिनों को ऐसी फिजूल बातों में जाया न करें और उस दुनिया में चलें, जहां नींद ही नींद है... मीठी और राहतबख्श नींद !"

गुलाब के सीने में एक प्रचंडता पैदा हो गयी. उसकी नब्ज़ की धड़कन तेज़ हो गयी. उसे ऐसा महसूस हुआ कि वह किसी अथाह गहराई में उतर रहा है.

उसने कली की बातचीत के असर को दूर करने की चेष्टा करते हुए कहा, "नहीं ! मैं मैदाने-जंग में उतरने की कसम खा चुका हूं. अब ये तमाम रोमान मेरे लिए बेमानी हैं."

कली ने अपने लचकीले जिस्म को बल देकर ख्वाब भरे लहजे में कहा, "आह ! मेरे प्यारे गुलाब ! ऐसी बातें न करो. मुझे दहशत होती है... चांदनी रातों का ख्याल करो... जब मैं अपना लिबास उतारकर उस नूरानी फव्वारे के नीचे नहाऊंगी तो तुम्हारे गालों पर सुर्खी का उतार-चढ़ाव मुझे कितना प्यारा मालूम होगा और तुम मेरे खूबसूरत लब किस तरह दीवाना-वार होकर चूमोगे. . ..छोड़ो इन फिजूल बातों को. . . . मैं तुम्हारे कंधे पर सिर रखकर सोना चाहती हूं."

और चमेली की नाजुक-अदा कली गुलाब के थर्राते हुए गाल के साथ लगकर सो गयी... गुलाब मदहोश हो गया. चारों तरफ से एक अरसे तक दूसरे फूलों की सदाएं (आवाजें) बुलंद होती रहीं, मगर गुलाब न जागा. सारी रात वह बदमस्त रहा.

सुबह काना माली आया. उसने गुलाब के फूल की टहनी के साथ चमेली की कली चिमटी हुई पायी, उसने अपना खुरदरा हाथ बढ़ाया और दोनों को तोड़ लिया... ! □

● अनुवाद : सुरजीत

अफसाना-निगार और जिंसी मसाइल

शीलता-अश्लीलता यद्यपि आज तक न तो परिभाषित हो पायी है और न इसे किसी एक संदर्भ में रेखांकित किया जा सका है. किंतु मंटो क्योंकि कहानीकार के रूप में अश्लीलता संबंधी आरोपों और लांछनों का शिकार रहे हैं, संभवत: इसी लिए उन्होंने इस विवादास्पद विषय पर अपने अंतर्मन को भी खुलकर पेश किया. प्रस्तुत लेख भी मंटो की तरफ से अपनी कहानियों के बचावमें कोई सफाई नहीं अपितु कुछ सवाल हैं, जो उन्हें और उनकी रचनाधर्मिता को समझने में सहायक सिद्ध होंगे.

भूख किसी किस्म की हो, बहुत खतरनाक हैं. आज़ादी के भूखों को अगर गुलामी की जंजीरें ही पेश की जाती हैं, तो इंकलाब ज़रूर बरपा होगा. रोटी के भूखे अगर फाके ही खींचते रहें, तो वे तंग आकर दूसरे का निवाला ज़रूर छीनेंगे. मर्द की नज़रों को अगर औरत के दीदार का भूखा रखा गया तो शायद वह अपने हम-जिंसों और हैवानों ही में उसका अक्स देखने की कोशिश करे.

दुनिया में जितनी लानतें हैं. भूख उनकी मां है. भूख भीख मांगना सिखाती है. भूख जुर्मों को उकसाती है. भूख इस्मत-फरोशी पर मजबूर करती है. भूख इंतहापसंदी का सबक देती है. इसका हमला बहुत शदीद, उसका वार बहुत भरपूर और उसका ज़ख्म बहुत गहरा होता है. भूख दीवाने पैदा करती है, दीवानगी भूख पैदा नहीं करती.

दुनिया के किसी कोने का लेखक हो,

तरक्कीपसंद हो या प्रत्यागामी, बूढ़ा हो या जवान, उसके सामने दुनिया के तमाम बिखरे हुए मसाइल रहते हैं. चुन-चुनकर वह उन पर लिखता रहता हैं. कभी किसी के हक में, कभी खिलाफ़.

आज का अदीब बुनियादी तौर पर आज से पांच सौ साल पहले के अदीब से कोई ज्यादा मुख्तलफ नहीं. हर चीज़ पर नये-पुराने का लेबल वक्त लगाता है, इंसान नहीं लगाता. हम आज नये अदीब कहलाते हैं. आने वाला कल हमें पुराना कर अल्मारियों में बंद कर देगा, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हम बेगार किये जायें. हमने मुफ्त में मगज़-दर्दी की. घड़ी की सुई जब एक से गुज़र कर दो की तरफ रेंगती है, तो एक का अंक बेमतलब नहीं हो जाता. पूरा सफर तय कर के सुई फिर उसी अंक की तरफ लौटती है. यह घड़ी का असूल भी है और दुनिया का भी.

आज के नये मसाइल भी गुज़रे हुए कल के पुराने मसाइल से बुनियादी तौर पर मुख्तलफ हैं. आज की बुराइयों के बीज गुज़रे हुए कल ने बोये थे.

जिंसी मसाइल जिस तरह आज के नये अदीबों के सामने हैं, उसी तरह पुराने अदीबों के सामने भी थे. उन्होंने इन पर अपने रंग में लिखा. हम आज अपने रंग में लिख रहे हैं.

मुझे मालूम नहीं, मुझ से जिंसी मसाइल के बारे में बार-बार क्यों पूछा जाता है. शायद इसलिए कि लोग मुझे तरक्कीपसंद कहते हैं या शायद इसलिए कि मेरे चंद अफसाने जिंसी मसाइल के बारे में हैं. या फिर इसलिए कि आज के नये अदीबों को कई हज़रात 'जिंसी-ज़ेदा' (यौनग्रस्त) करार देकर उन्हें अदब, मज़हब और समाज से एकदम खारिज कर देना चाहते हैं.

रोटी और पेट, औरत–मर्द–यह दो बहुत पुराने रिश्ते है. अज़ली और अबदी. रोटी ज्यादा अहम हैं या पेट? औरत ज्यादा जरूरी हैं या मर्द? मैं इस बारे में कुछ नहीं कह सकता. इसलिए कि मेरा पेट रोटी मांगता है, लेकिन मुझे मालूम नहीं कि गेहूं भी मेरे पेट के लिए उतना ही तरसता है, जितना कि मेरा पेट.

फिर भी जब मैं सोचता हूं कि ज़मीन ने गेहूं के खोशों (बालियों) को बेकार जन्म नहीं दिया होगा, तो मुझे ... होती है कि मेरे पेट ही के लि... खेतों में सुनहरी बालियां ... और फिर हो सकता है कि मेरा ... पैदा हुआ हो और बालियां ...

कुछ भी हो, लेकिन यह बात रोशन (उजले दिन) की तरह ... है कि दुनिया का अदब सिर्फ ... रिश्तों से ही संबंध रखता है. ... किताबें भी, जिन को आसमानी ... कहना चाहिए, रोटी-पेट और ... मर्द के तज़करों (जिक्रों) से खाली ...

मगर सवाल पैदा होता हैं कि ... मसाइल इतने पुराने हैं कि इनका ... इलहामी किताबों में भी आ ... तो फिर क्यों आज के अदीब इन पर ... आज़माते हैं. क्यों औरत और ... संबंधों को बार-बार कुरेदा जाता ... उरियानी (अश्लीलता-नग्नता) ... जाती हैं. जबाव इस सवाल का ... अगर एक ही बार झूठ न बोलने ... चोरी न करने का उपदेश करने पर ... दुनिया झूठ और चोरी से परहेज ... तो शायद एक ही पैगंबर काफी ... लेकिन जैसा कि आप जानते हैं ... की सूचि खासी लंबी है.

हम लिखने वाले पैगंबर नहीं, ... ही चीज़ को, एक ही मसले को ... हालात में मुख्तलफ ज़ावियों ... हैं और जो कुछ हमारी समझ में ... दुनिया के सामने पेश कर देते ... कभी मजबूर नहीं करते कि ... कबूल ही करे.

हम कानूनसाज़ नहीं, मद्...

निरीक्षक भी नहीं, निरीक्षण और कानूनसाज़ी दूसरों का काम है.

हम हुकूमतों पर नुक्ताचीनी करते हैं, लेकिन खुद हाकिम नहीं बनते. हम इमारतों के नक्शे बनाते हैं, लेकिन राजगीर नहीं. हम मर्ज़ बताते हैं, लेकिन दवाखानों के व्यवस्थापक नहीं.

हम जिंसियात पर नहीं लिखते. जो समझते हैं कि हम ऐसा करते हैं, यह उनकी गलती है. हम अपने अफसानों में खास औरतों और खास मर्दों के हालात पर रौशनी डालते हैं—हमारे किसी अफसाने की हीरोइन से अगर उसका मर्द सिर्फ इस लिए बेज़ार हो जाता है कि वह सफेद कपड़े पसंद करती है और सादगी-पसंद है तो दूसरी औरतों को उसे असूल नहीं समझ लेना चाहिए. यह नफरत क्यों पैदा हुई और किन हालात में पैदा हुई? इस सवाल का जवाब आपको हमारे अफसाने में ज़रूर मिल जायेगा.

▣

जो लोग हमारे अफसानों में लज़्ज़त हासिल करने के तरीके देखना चाहते हैं, उन्हें यकीनन नाउम्मीदी होगी. हम दांवपेच बताने वाले खलीफे नहीं. हम जब अखाड़े में किसी को गिरता देखते हैं, तो अपनी समझ के मुताबिक आपको यह समझाने की कोशिश करते हैं कि वह क्यों गिरा था?

हम आशावादी हैं. दुनिया की स्याहियों में हम उजाले की लकीरें देख लेते हैं. हम किसी को हकारत (उपेक्षा) की नज़र से नहीं देखते. चकलों में जब कोई टखियाई अपने कोठे पर से किसी राहगुज़र पर पान की पीक थूकती हैं तो हम दूसरे तमाशाइयों की तरह न तो कभी उस राहगुज़र पर हंसते हैं और न कभी उस टखियाई को गालियां देते है. हम यह घटना देख कर रुक जायेंगे. हमारी निगाहें इस गलीज़ पेशेवर औरत के अर्धनग्न लिबास को चीरती हुई उसके स्याह ज़ख्मों भरे जिस्म के अंदर दाखिल होकर उसके दिल तक पहुंच जायेंगी—उसको टटोलेंगी और टटोलते-टटोलते हम खुद कुछ अरसे के लिए तसव्वर में वही घृणित और दुर्गंधि रंडी बन जायेंगे ... सिर्फ इसलिए कि इस घटना की तसवीर ही नहीं, बल्कि उसकी असल प्रेरणा की वजह भी पेश कर सकें.

जब किसी अच्छे खानदान की जवान, सेहतमंद और खूबसूरत लड़की किसी मरियल, बदसूरत और कंगाल लड़के के साथ भाग जाती है, तो हम उसे घृणित करार नहीं देंगे. दूसरे, उस लड़की का अतीत, वर्तमान और भविष्य अख्लाक की फांसी में लटका देंगे, लेकिन हम वह छोटी-सी गिरह खोलने की कोशिश करेंगे, जिसने उस लड़की की बुद्धि को बेहिस किया.

इंसान एक दूसरे से कोई ज्यादा भिन्न नहीं. जो गलती एक मर्द करता है, दूसरा भी कर सकता है. जब एक औरत बाज़ार में दुकान लगा कर अपना जिस्म बेच सकती है, तो दुनिया की सब औरतें ऐसा कर सकती हैं, लेकिन गलतकार इंसान नहीं, वह हालात है, जिन की खेतियों में इंसान अपनी गलतियां पैदा करता है और उनकी फसलें काटता है.

ज्यादातर जिंसी मसाइल ही आज के नये अदीबों के ध्यान का केंद्र क्यों बने हुए हैं. इसका जवाब मालूम करना कोई ज्यादा मुश्किल नहीं. यह ज़माना अजीबो-गरीब किस्म के विरोधाभासों का ज़माना है—औरत करीब भी है, दूर भी! कहीं वह निरावरण नज़र आती है तो कहीं कपड़ों में लिपटी हुई. कहीं औरत, मर्द के भेस में दिखाई देती, कहीं, मर्द, औरत के भेस में.

▣

दुनिया एक बहुत बड़ी करवट ले रही है. हिंदुस्तान भी जहां आज़ादी का नन्हा-मुन्ना बच्चा गुलामी से अपने आंसू पोंछ रहा है, मिट्टी का नया घरौंदा बनाने के लिए ज़िद कर रहा है. पूर्वी तहज़ीब की चोली के बंद कभी खोले जाते हैं, कभी बंद किये जाते हैं. पश्चिमी तहज़ीब के चेहरे का गाज़ा (पाउडर) कभी हटाया जाता है, कभी लगाया जाता है. एक अफरा-तफरी-सी मची है. नये खट-बुने पुरानी खाटों की मूंज उधेड़ रहे हैं. पुराने खट-बुने चिल्ला रहे हैं, हिली हुई चूलों से कहीं खटमल निकल रहे हैं. कहीं पिस्सू. कोई कहता है, इन्हें ज़िंदा रहने दो. कोई कहता है, नहीं, फना कर दो. इस धांधली में, इस शोरश (हमले) में हम नये लिखने वाले अपनी कलम संभाले कभी उस मसले से टकराते हैं, कभी इस मसले से!

अगर हमारी तहरीरों (रचनाओं) में औरत और मर्द के संबंधों का ज़िक्र आपको ज्यादा नज़र आये तो यह एक फितरी (स्वाभाविक) बात है. मुल्क-मुल्क से सियासी तौर पर जुदा किये जा सकते हैं, एक मज़हब दूसरे मज़हब से अपनी-अपनी श्रद्धा के आधार पर अलग किया जा सकता है. दो ज़मीनों को एक कानून एक दूसरे से बेगाना कर सकता है, लेकिन कोई सियासत, कोई अकीदा (असूल), कोई कानून, औरत और मर्द को एक दूसरे से दूर नहीं कर सकता.

▣

औरत और मर्द में जो फासला है, उसको पार करने की कोशिश हर ज़माने में होती रहेगी. औरत और मर्द में जो एक लरज़ती हुई दीवार बाधक है, उसे संभालने और गिराने की कोशिश हर सदी, हर युग में होती रहेगी. जो इसे उरियानी (नग्नता) समझते हैं, उन्हें अपने एहसास के नंग पर अफसोस होना चाहिए, जो उसे अख्लाक की कसौटी पर परखते है, उन्हें मालूम होना चाहिए कि अख्लाक ज़ंग है, जो समाज के उस्तरे पर जम गया हैं.

जो समझते हैं कि नये अदब ने जिंसी मसाइल पैदा किये हैं, गलती पर हैं, क्योंकि हकीकत यह है कि जिंसी मसाइल ने उस नये अदब को पैदा किया है—उस नये अदब को, जिस में आप कभी-कभी अपना ही अक्स देखते हैं और झुंझला उठते हैं... हकीकत ख्वाह शक्कर ही में लपेट कर पेश की जाये, उसकी कड़वाहट दूर नहीं होगी.

हमारी तहरीरें आपको कड़वी और कसैली लगती हैं, मगर अब तक जो मिठास आपको पेश की जाती रही है, उस से इंसानियत को क्या फायदा हुआ है? नीम के पत्ते कड़वे सही, मगर खून ज़रूर साफ करते है. □

मंटो के हास्य एकांकी

मंटो प्रायः कहानीकार के रूप में ही प्रख्यात हैं. बहुत कम जानकारी है कि मंटो एक लंबी अवधि तक आकाशवाणी से संबद्ध रहे और उन्होंने दसियों हास्य-एकांकी लिखे, जो खूब लोकप्रिय भी हुए. हंसना एक बात होती है और रोना दूसरी, परंतु मंटो के लेखन की खूबी हंसाते-हंसाते रुलाने और सोचने को मजबूर करना और रुलाते-रुलाते हंसाने की जीवंतता महसूस करवाना है. प्रस्तुत है उनका एक हास्य एकांकी जो खुदकुशी की जिजिविषा को मुखर करता है—

पात्र

औरत : आजकल के ज़माने की फैशनेबल औरत
चचा : पुराने ढंग के बुजुर्ग
हीर : हीर-रांझा ड्रामा की हीर. वही लिबास
नौकरानी : जवान औरत, सेविकाओं के लिबास में

◘ ◘

(परदा उठता है. स्टेज पर बिल्कुल अंधेरा छाया है. सामने एक औरत कुर्सी पर बैठी है. बाल खुले हैं. सिर्फ उसके चेहरे पर रोशनी पड़ रही है. पृष्ठभूमि में आर्केस्ट्रा पर एक दर्दनाक धुन बजायी जा रही है. औरत उठती है और सफेद रूमाल से अपने आंसू पोंछती है.)

औरत : (सिसकियां लेती है) मेरी दुनिया अंधेरी हो गयी है. चारों तरफ अंधेरा ही अंधेरा दिखाई दे रहा है. ए खुदा, अब क्या होगा. ज़िंदगी में अब क्या लुत्फ बाकी रह गया है! वह जिससे मुझे मुहब्बत थी, वह जिसकी खातिर मैं ज़िंदा थी . . वह जो मेरे दिल की धड़कन थी, हमेशा-हमेशा के लिए सो गया है. अब मैं क्या हूं? उसके बगैर क्या मेरी ज़िंदगी ऐसा साज़ नहीं, जिसकी सारी तरबें अलग कर दी गयी हों. . . जिसके सारे तार नोच डाले गये हों. . . . मौत . . . आह. . . . ज़ालिम मौत. . . . तूने कुछ देर तो सब्र किया होता. . . . . इतनी जल्दी क्या थी. . . . दुनिया में तुझे कई आदमी मरने के लिए तैयार मिल जाते. . . वह तो अभी ज़िंदा रहना चाहता था. उसने तो अभी मुहब्बत की दुनिया बसाई ही थी, कि तूने अपना सिर आगोश में ले लिया. (रोती है). . . . मैं क्या सोच रही हूं. . . यह रोना-धोना कैसा. . . उसके साथ तो मेरी ज़िंदगी का भी खात्मा हो चुका है. मुझे खुदकुशी में देर न करनी चाहिए.

(आहिस्ता-आहिस्ता स्टेज का अंधेरा दूर होना शुरू होता है. चंद लम्हों में पूरा स्टेज रोशन हो जाता है. औरत अपने परेशान बाल संवारती है. कुर्सी पर बैठती है और घंटी बजाती है. पृष्ठभूमि का संगीत बंद हो जाता है.)

(नौकरानी दाखिल होती है.)

नौकरानी : जी सरकार.
औरत : मैं खुदकुशी करना चाहती हूं.
नौकरानी : कब सरकार?
औरत : अभी इसी वक्त.
नौकरानी : बहुत अच्छा सरकार.
औरत : चचा जान को भेज दो यहां.
नौकरानी : बहुत अच्छा सरकार.
(चली जाती है.)
औरत : (उठकर फैसलाकुन लहज़े में) मैं खुदकुशी कर लूंगी. चचाजान की सख्तगीरी और रूढ़िवादिता के न... ही मेरे महबूब ने जान दी है. अगर च... जान शादी पर रज़ामंद हो जाते... उसकी सेहत चुटकियों में अच्छी हो ... मगर वह अपने हठ पर कायम रहे और... और. . . .!
(कदमों की चाप. फिर च... का दाखिला.)
चचा : बेटी! तूने मुझे बुलाया...
औरत : हां चचाजान! ... आपको बुलाया है.
चचा : क्या बात है?
बेटी : मैं खुदकुशी करना चाह...
चचा : ख्याल बुरा नहीं. ... तुम्हारा इरादा कब है?
बेटी : इसी वक्त . . . अ...
(बैठ जाती है.)
चचा : (कुर्सी पर बैठ ... रात के बारह बज चुके हैं और...

सवा बारह बजे सो जाने का आदी हूं. तुम्हें खुदकुशी करने से पहले कुछ लिखना भी होगा, जिस पर काफी वक्त सर्फ हो जायेगा, और फिर मुझे उसकी इबारत की गलतियां ठीक करनी पड़ेंगी, क्योंकि जितने खत तुमने अब तक अपने दोस्त को लिखे, सब के सब ज़बान की गलतियों से पुर (भरे हुए) हैं. मैं नहीं चाहता कि तुम्हारी आखिरी लिखित जो कई आदमियों की नज़र से गुज़रेगी, गलत-सलत हो. मेरी ज़ाती ज़बानदानी मशहूर है. मेरे शेअर लोग सनद के तौर पर पेश करते हैं. अगर तुम्हारी लिखित में इमला और ग्रामर की गलतियां मौजूद हैं तो मेरी नाक कट जायेगी.

टी : मुझे ज़बान की कोई परवाह नहीं. मैं हमेशा ख़्यालों को तरजीह देती रही हूं और अपनी आखिरी लिखित में भी अपनी उस विशिष्टता को कायम रखूंगी. ज़बान आखिर है क्या ? उसको इतनी अहमियत क्यों दी जाती है! . . . मेरे खत जिनकी गलतियों से आपका नाक कटता है. . . .

चचा : नाक स्त्रीलिंग है, पुलिंग नहीं.

औरत : मैं जानती हूं, लेकिन आपकी नाक किसी सूरत में भी स्त्रीलिंग नहीं हो सकती. अगर आपकी नाक स्त्रीलिंग होती तो आप विलायत से वह मशीन कभी न मंगवाते, जिससे मोटी नाकें छोटी और पतली हो जाती हैं.

चचा : (उठ खड़ा होता है) तुम मेरी नाक पर नाजायज़ हमला कर रही हो.

औरत : (उठ खड़ी होती है) आप मेरी ज़बान पर बेजा एतराज़ कर रहे हैं.

चचा : तुमने बदतमीज़ी की. . .आखिरी हद तक पहुंचकर तरक्कीपसंद हो गयी हो.

औरत : आप मुझे गाली दे रहे हैं, जिसका आपको कोई हक नहीं है.

चचा : तुम भूलती हो. मैं तुम्हारा चचा हूं.

औरत : (बैठ जाती है) मैं भूल गयी हूं. आप वाकई मेरे चचा हैं, जिसका बहुत बड़ा सबूत यह है कि आपने मुझे अपनी मर्ज़ी की शादी करने की इजाज़त न दी.

चचा : (बैठ जाता है) अपनी मर्ज़ी से अगर कोई मर्द या औरत शादी करे तो उसे रूमान (रोमांस) लड़ाना कहते हैं, जो शरीफ घरानों में सख्त दूषित समझा जाता है. मैं शरीफ आदमी हूं. शरीफ आदमी होने के अलावा तुम्हारा चचा हूं, इसलिए मैंने ऐसे रूमान की इजाज़त नहीं दी.

औरत : आप रूमान लड़ाना क्यों कहते हैं. यह बहुत बुरा मालूम होता है.

चचा : फज़हा ने उसे यों ही लिखा है. इसमें अब कोई तब्दीली नहीं हो सकती.

औरत : रूमान लड़ाना बहुत भद्दी तरकीब है. मुर्ग लड़ाये जाते हैं. बटेरें लड़ाई जाती हैं. यह रूमान लड़ाना क्या हुआ ?

चचा : तुम खुदकुशी करने वाली थी.

औरत : मैं खुदकुशी करने वाली थी नहीं, बल्कि हूं. मुझे आपसे इजाज़त लेनी थी.

चचा : मेरी तरफ से तुम्हें इजाज़त है. खुदा करे, तुम इसमें कामयाब हो जाओ.

औरत : कामयाबी के लिए दुआ का शुक्रिया. . . . मगर इससे पहले कि मैं अपनी जान अपने हाथों से हलाक करूं, मैं अपना पूरा-पूरा इतमीनान करना चाहती हूं कि मेरी इस क्रिया से आपकी नाक को कोई सदमा नहीं पहुंचेगा.

चचा : नहीं! मौत से नाक को सदमा पहुंचने की संभावना बहुत ही कम होती है और फिर जब तुम अपनी आखिरी लिखित में साफ-साफ लिख दोगी कि मैंने यानी तुमने अपनी ज़िंदगी का खात्मा इसलिए किया था कि मुझे फलां आदमी से पाक-मुहब्बत थी. 'पाक' शब्द बहुत ज़रूरी है.

औरत : क्या मुहब्बत खुद ही पाक नहीं होती?

चचा : नहीं! अकेली मुहब्बत पाक नहीं हो सकती, जब तक उसका स्पष्टीकरण न किया जाये.

औरत : तो क्या मुहब्बत के साथ मुझे 'पाक' ज़रूर लिखना पड़ेगा?

चचा : तुम कोई फिक्र न करो. . . मैं इस लिखित का मसौदा तुम्हें तैयार करके दूंगा. तुम्हारा काम सिर्फ नकल करना रह जायेगा.

औरत : और अगर मैं इस इबारत की नकल करने से इनकार कर दूं?

चचा : तो मैं तुम्हें खुदकुशी की इजाज़त नहीं दूंगा.

औरत : (कुछ क्षण रुककर) चूंकि मुझे खुदकुशी करना है, इसलिए मैं आपकी इबारत नकल कर दूंगी. फरमाइये, इस लिखित का मसौदा मुझे कब मिल जायेगा?

चचा : कल सुबह नाश्ते पर!

औरत : ज़रा खुशखत लिखियेगा, ताकि मैं आसानी से पढ़ लूं. आप शिकस्ता खत में लिखने के आदी हैं.

चचा : मैं अपना खत (लेखन) नहीं बदल सकता, लेकिन मैं तीन-चार बार पढ़के तुम्हें सुना दूंगा. मेरा ख़्याल है, फिर नकल करने में तुम्हें कोई दिक्कत पेश न आयेगी.

औरत : बहुत बेहतर.

चचा : अच्छा, तो मैं अब जाता हूं. (चलता है.)

औरत : (उठकर) शबे-बखैर (शुभ-रात्रि)

चचा : शबे-बखैर! मैं अब सोते वक्त इसका मज़मून सोचूंगा. मुझे यकीन है कि बहुत ही शानदार चीज़ बन जायेगी. और कोई अजब नहीं कि खुदकुशी के बाद तुम फरहाद की शीरीं और मजनूं की लैला से भी बाज़ी ले जाओगी.

औरत : खुदा आपकी ज़बान मुबारक करे.

(चचा चला जाता है)

औरत : (कुछ क्षणों के बाद) कुछ फैसला तो हो गया. . . मुझे तो यह अंदेशा था कि चचा-जान मुझे खुदकुशी की इजाज़त ही नहीं देंगे. . . बहरहाल यह मरहला (पड़ाव) तय हो गया. अब उनका मज़मून तैयार हो जाये तो मैं उसे नकल करके फौरन ही ज़हर खा लूंगी. (अल्मारी की तरफ बढ़ती है) ज़हर मुझे अभी घोल-घालकर रख देना चाहिए, ताकि सुबह वक्त ज़ाया न हो. (अल्मारी में से ज़हर की शीशी निकालती है. पानी भरे गिलास में उसके चंद कतरे डालती है) कल सुबह नाश्ते पर. . . यानी चाय के बजाय मुझे यह ज़हर पीना होगा. . .

(दस्तक होती है)

औरत : कौन है ?

(फिर दस्तक होती है)

औरत : कौन है ?

(कदमों की आवाज़. . . फिर सामने का दरवाज़ा खोला जाता है और

हीर परेशान सी अंदर दाखिल होती है.

औरत : कौन हो तुम?

हीर : क्या मैं अंदर आ सकती हूं?

औरत : तुम अंदर आ सकती हो, मगर यह तो बताओ, कि तुम हो कौन?

हीर : मैं ज़रा दम ले लूं, तो आपको सब कुछ बताती हूं. मैं सख़्त घबराई हुई हूं. दरवाज़ा बंद कर दूं ? (और दरवाज़ा बंद कर देती है). यहां ज़रूर आ जायेगा.

औरत : कौन यहां आ जायेगा?

हीर : आप उसे जानती हैं?

औरत : किसे?

हीर : रांझे को.

औरत : कौन रांझा?

हीर : तख़्त हज़ारे दा रांझा. चौधरी मौजू का छोटा लड़का धीदो. जिसे लोग रांझे के नाम से पुकारते हैं.

औरत : मैं किसी चौधरी मौजू के लड़के धीदो को नहीं जानती. . . बताओ, तुम कौन हो?

हीर : हीर !

औरत : हीर कौन ?

हीर : महर चूचक की बेटी हीर. . . जिसे हीर सियाल भी कहते हैं.

औरत : मैं अब समझी . . . तो तुम हीर-रांझे वाली हीर हो. . . पर तुम यहां कैसे आ गयीं. . . कुर्सी पर बैठ जाओ.

हीर : (कुर्सी पर बैठ जाती है) मैं और रांझा दोनों सिनेमा देखने आये थे. फिल्म में हमारा ही किस्सा था. आदमी देखकर ही मेरा सिर चकराने लगा. चुनांचे भई, मैं तो वहां से इंटरवल होते ही भाग आयी. मगर मुझे डर यह है कि रांझा मेरा पीछा करता-करता यहां पहुंच जायेगा और मुझे पकड़कर फिर वहीं ले जायेगा.

औरत : कहां?

हीर : उसी जगह जहां हमें कैद किया गया है.

औरत : (कुर्सी पर बैठ जाती है) वहां और कौन-कौन हैं?

हीर : बहुतेरे हैं. शीरी है. उसका चाहने वाला फरहाद है. लैला है, मजनूं है. मिरज़ा है, साहबां है. नल है, दमयंती है. बेशुमार ही हैं. . .

औरत : तुम्हें रांझे से अब मुहब्बत नहीं रही?

हीर : मुहब्बत कैसे कायम रह सकती है बहन! . . . उसे तो हर वक्त बांसुरी बजाने से काम है. शामत की मारी एक बार मैंने उससे कहा था कि तुम बहुत सुरीली बसुरी बजाते हो. . . अब उसके मुंह से निगोड़ा बांस का यह टुकड़ा जुदा ही नहीं होता. जब देखो, दरख़्त पर चढ़कर बांसुरी बजा रहा है. . यह दीवानापन नहीं, तो क्या है और फिर जनाब को ढोर-डंगर चराने का बहुत शौक है. . . . . मैं हज़ार बार कहती हूं कि रांझा, यह खेड़े नहीं, जहां तुम्हें गाय-भैंसें मिल जायेंगी. यहां दूध की नहरें बहती हैं. दूध पियो और मज़े से लंबी तानकर सो जाओ. मगर उसके सिर पर वही पुराना भूत सवार है. कहता है नहीं, जब दूध मौजूद है तो गाय-भैंसें भी कहीं न कहीं ज़रूर होंगी. . . एक दिन मैं उन्हें ढूंढ निकालूंगा. फिर हम दोनों उन्हें चराया करेंगे. शीरीं बेचारी भी उसी तरह फरहाद के हाथों बहुत दुखी है. जनाब चौबीस घंटे हाथ में तेशा लिये पत्थर फोड़ते हैं. . . शीरीं पूछती है, "फरहाद, यह तुम क्या कर रहे हो ?" जवाब मिलता है, "तुम्हारे लिए यह पहाड़ काटकर दूध की [illegible] जारी कर रहा हूं. . . वह बेचारी [illegible] है कि फरहाद ! यहां दूध की [illegible] नहरें मौजूद हैं, जिनको देख [illegible] मैं तंग आ गयी हूं. . . अगर कुछ [illegible] ही चाहते हो, तो इनमें से एक [illegible] कम कर दो. . . मगर वह शीरीं [illegible] नहीं सुनता और दिन-रात अपने [illegible] मशगूल रहता है. . . .

औरत : यह तो मुसीबत हुई!

हीर : मुसीबत जैसी मुसीबत . . . हमारा सिर्फ यह गुनाह है कि हमने मर्दों के लिए अपनी जान दी. . . [illegible] सोहनी की हालत तो मैं बयान नहीं [illegible] सकती. . . महीवाल साहब हर [illegible] अपनी रान के गोश्त का कीमा बनाते हैं और फिर उन नसीबों-जली को [illegible] करते हैं कि वह उस कीमे के [illegible] कबाब खाये. उसे उबकाइयां पर [illegible] काइयां आती हैं, मगर महीवाल [illegible] उसके मुंह में यह कबाब ठूंसते [illegible] हैं. . . .इसी पर बस नहीं. . . सोहनी [illegible] यह हुक्म आयद है कि वह रात को [illegible] घड़ा लेकर दूध की नहर तय किया [illegible]

वह दरियाए-चनाब में तैरने वाली दूध की नहर में कैसे तैर सकती है! मगर क्या करे, एक बार हिमाकत कर चुकी है, जो उसकी सज़ा भुगत रही है.

औरत : लैला का भी बुरा हाल होगा!

हीर : जी हां, लैला हज़ार बार मियां मजनूं से कह चुकी है, मुझे मत ढूंढो. मैं तुम्हारे सामने मौजूद हूं, मगर वह नहीं मानते और लैला को छोड़कर सहरा की खाक छानते रहते हैं.

औरत : मैं तो समझती थी कि तुम लोग बहुत खुश होगे.

...चलती हूं... अपन तो मुकद्दर में बांसुरी की यही तानें लिखी हैं. . . खुदा हाफिज..

(दरवाजा खोलकर बाहर चली जाती है. बांसुरी की आवाज़ चंद लम्हों तक आती रहती है. फिर आहिस्ता-आहिस्ता गायब हो जाती है. औरत दरवाज़े के पास से हटकर कुर्सी पर बैठ जाती है और घंटी बजाती है. कदमों की आवाज... फिर नौकरानी का प्रवेश)

नौकरानी : जी सरकार!

औरत : मैंने खुदकुशी करने का ख़्याल छोड़ दिया है.

यह ड्रामे रोटी के उस मसले की पैदावार हैं जो हिंदुस्तान में हर उर्दू अदीब के सामने उस वक्त तक मौजूद रहता है, जब तक वह मुकम्मल तौर पर ज़ेहनी अपाहिज न हो जाये.

—मैं भूखा था, चुनांचे मैंने यह ड्रामे लिखे. दाद इस बात की चाहता हूं कि मेरे दिमाग ने पेट में घुसकर चंद मज़ाहिया (हास्य) ड्रामे लिखे हैं, जो दूसरों को हंसाते रहे हैं, मगर मेरे होठों पर एक पतली-सी मुसकराहट भी पैदा नहीं कर सके.

▣ सआदत हसन मंटो,
कूचा वकीलां,
अमृतसर.
२८ दिसंबर, १९४०

[एकांकी संकलन 'आओ' (मज़ाहिया ड्रामे) की भूमिका]

...र : खाक भी खुश नहीं. . . . यह दुनिया जल्दी-जल्दी खत्म हो, तो हमें इस यातना से छुटकारा मिले. मुहब्बत की थी, लेकिन उस में मर जाना क्या ज़रूरी था! मैं तो बहन, उस वक्त को रोती हूं जब मैंने बगैर सोचे-समझे खुदकुशी कर ली. हीर, रांझे से पल भर के लिए जुदा नहीं हो सकती. . .शीरी, फरहाद से एक लम्हे के लिए नहीं हट सकती. . . ज़िंदगी अजीर्ण हो गयी है.

(दूर से बांसुरी की आवाज़ आती है.)

हीर : लीजिये, जनाब आ पहुंचे! दुनिया इतनी तरक्की कर गयी है. अगर कुछ बजाना ही है, तो वायलन बजायें, गिटार बजायें, सेक्सोफोन बजायें, मगर इन्हें समझाये कौन! . . . अच्छा बहन,

नौकरानी : बहुत अच्छा सरकार!

औरत : चचाजान सो रहे हैं या जागते हैं.

नौकरानी : जागते हैं. मुझे अपने पास बिठाकर वह आपके लिए 'पाक मुहब्बत' पर एक मज़मून सोच रहे थे.

औरत : चचाजान से कह दो कि वह तुम्हें अपने पास बिठाकर मेरे लिए 'पाक मुहब्बत' पर मज़मून न सोचें. मैंने खुदकुशी का इरादा छोड़ दिया है.

नौकरानी : बहुत अच्छा सरकार!

(नौकरानी चली जाती है. औरत गिलास का सारा ज़हर फर्श पर उंडेल देती है) ☐

मंटो के हास्य एकांकी

'आओ कहानी लिखें'

का एक अंश

लाजवंती : (अपने पति से उत्सुकता भरे लहजे में) आओ, कहानी लिखें.

किशोर : (चौंक कर) कहानी ?

लाजवंती : हां, हां, कहानी !

किशोर : मैं लिखना नहीं जानता. कहो तो एक सुना दूं.

लाजवंती : सुनाओ.

किशोर : सुनो. एक थी कहानी. उस की बहन थी नहानी. उसका भाई था बसोला. उसने बसाये तीन गांव. दो बसे-बसाये, एक बसा ही नहीं. जो बसा ही नहीं, उसमें आये तीन कुम्हार. दो लंगड़े-लूले, एक के हाथ ही नहीं. जिसके हाथ नहीं, उसने बनायी तीन हंडिया. दो टूटी-टाटी, एक का तला ही नहीं. जिस का तला ही नहीं, उस में पकाये तीन चावल. दो रेठें-आंठें. एक गला ही नहीं. जो गला ही नहीं, उस पर उतरे तीन मेहमान. दो रूठे-राठे, एक मना ही नहीं. जो मना ही नहीं. . . .

लाजवंती : हटाओ भी इस बकवास को.

किशोर : अरे ! यह बकवास है क्या? जब जानूं अगर तुम बता दो कि उस मेहमान का क्या हुआ, जो मना ही नहीं ?

लाजवंती : यह भी कोई बड़ी बात है.

किशोर : बात तो बड़ी नहीं, पर तुम न बता सकोगी. कोशिश करो. दो रूठे-राठे, एक मना ही नहीं, जो मना ही नहीं. . . उसको . . .?

लाजवंती : घर से निकाल बाहर किया.

किशोर : वह क्यों ?

लाजवंती : जब तुम नहीं माना करते तो मैं यही तो किया करती हूं.

किशोर : ठीक है, पर वह मेहमान है, मैं नहीं हूं. . . हर शख़्स मेरी तरह कमज़ोर दिल कैसे हो सकता है! . . .तुम ने सोचे-समझे बगैर उसे घर से निकाल दिया. . . वाह भई. वाह ! ☐

मंटो के आखिरी दिनों की जानकारी उनके भांजे 'हामिद जलाल' की कलम से—

मंटो मामूं की मौत

एक गैर जिम्मेदाराना हरकत!

कभी-कभी मैं सोचता हूं कि मंटो मामूं म्यानी साहब के कब्रिस्तान से उठकर घर चले आये तो मैं उनसे क्या कहूंगा! मुझे यकीन है कि मैं उनके पुनर्जन्म के चमत्कार को नज़रअंदाज़ करके उनसे सिर्फ इतना कहूंगा, 'मंटो साहब! आपने आज तक जितनी गैर-ज़िम्मेदाराना हरकतें की हैं, उनमें सबसे ज़्यादा गैर-ज़िम्मेदाराना हरकत थी आप की मौत!

बहावलपुर में पाकिस्तान और हिंदुस्तान के दरम्यान क्रिकेट का दूसरा टेस्ट-मैच हो रहा था और मैं 'डग स्टेडियम' में बैठा तालायार खां को मैच का आंखों देखा हाल प्रसारित करने में मदद दे रहा था कि लाहौर से मेरे नाम एक ट्रंक-काल आयी और मुझे बताया गया कि आज सुबह सआदत हसन मंटो का इंतकाल (निधन) हो गया. मैं फौरन ग़म से बेकाबू नहीं हो गया, बल्कि मुझमें शदीद उद्विग्नता पैदा हो गयी. मुझे मंटो मामूं पर बेहद शदीद गुस्सा आ रहा था कि वह अपने बीवी-बच्चों के साथ यह सलूक किस तरह कर सकते हैं! लेकिन मैंने इसको प्रकट नहीं किया और जब मैं बोला तो मेरी आवाज़ से गैर-मामूली चिंता नुमायां थी. मैंने पूछा, "कहां इंतकाल हुआ"? जवाब मिला, "घर पर". इस जवाब से मुझे बड़ा इतमीनान हुआ, क्योंकि डर था कि कहीं वह अचानक घर से बाहर किसी और मुकाम पर मौत से हम-आगोश न हो गये हों. ऐन मुमकिन था कि किसी तांगे पर, किसी रेस्तरां में, किसी पब्लिशर के दफ्तर में बैठे-बैठे या फिल्म स्टूडियो में उन्हें अचानक मौत आ गयी हो . !

दो अंतिम इच्छाएं!

जब मैं अपनी जगह पर वापस गया तो मैच का आंखों देखा हाल बयान करने वाले साथियों ने इशारों से पूछा कि क्या बात थी. मैंने एक कागज पर यह जुमला लिख दिया—एंपायर ने सआदत हसन मंटो को आखिर आउट दे ही दिया. आज सुबह ही उनका इंतकाल हो गया.

मंटो मामूं को आउट देने के लिए एंपायर से कई बार अपीलें की जा चुकी थीं, लेकिन हर बार अपील रद्द कर दी गयी थी. अब उनकी बेसब्र और डांवाडोल इनिंग्ज खत्म हो गयी थी. वह क्रिकेट के

खिलाड़ी होते तो मैं यकीन के साथ कह सकता हूं कि वह कभी हनीफ मुहम्मद की तरह होशियार और मुहतात (सावधान) खिलाड़ी नहीं बन सकते थे, जिसे वह लाहौर के तीसरे टेस्ट-मैच में खेलते हुए देखने को बेहद उत्सुक थे. इसका ज्ञान मुझे उनकी मौत के चौबीस घंटे बाद घर पहुंचकर हुआ. दरअसल उनकी ज़िंदगी की आखिरी दो ख्वाहिशों में से एक ख्वाहिश यह भी थी. अपनी मौत से एक दिन पहले उन्होंने एक रेस्तरां में अपने दोस्तों से कहा था, "हामिद जलाल को वापस आ जाने दो. मैं उसी के साथ टेस्ट-मैच में हनीफ का खेल देखने जाऊंगा."

उनकी दूसरी ख्वाहिश उस बेयारो-मददगार (असहाय) औरत की मौत पर अफ़साना लिखने की थी, जिसकी बरहना (नंगी) लाश गुजरात में सड़क के किनारे पायी गयी थी. अखबारों में छपने वाली सूचनाओं के अनुसार उस औरत और उसकी नन्हीं-सी बच्ची को बस के अड्डे से अगवा किया गया और आधे दर्जन के करीब हवसपरस्तों ने अपनी काम-वासना की पूर्ति की और जब वह कड़कड़ा... में उनके चंगुल से निकलकर ... उसके जिस्म पर लिबास का एक ... न था. चुनांचे दोनों मां-बेटी ने ... (बर्फ-सी सर्द) कर देने वाली ... में दम तोड़ दिया. इस त्रासदी से मंटो ... बेहद प्रभावित हुए थे. उसी रोज़ ... गुजरात से कुछ लोग उनके पास ... और उन्होंने हादसा और ब्यौरा ... था. उससे उनमें ज़रूर उत्तेजना ... आवेश पैदा हुआ होगा और मेरा ... है कि उसके बाद मंटो मामूं ने मा... ज़्यादा शराब पी ली होगी, जो उनके ... घातक साबित हुई.

वह काफी शाम गुजरने के बाद ... वापस आये. थोड़ी देर बाद उन्हें ... कै हुई. मेरे छः साला बच्चे ने, जो ... करीब ही खड़ा था, खून की धारियों ... तरफ उनका ध्यान दिलाया तो ... यह कहकर टाल दिया कि कुछ नहीं ... तो पान की पीक है. उन्होंने उसे यह ... भी कर दी कि वह इसका किसी से ... न करे. उसके बाद उन्होंने रोज़ की ... खाना खाया और सो गये. घर भर में ... को वहमो-गुमान भी न था कि ... रोज़ के उलट हुई है, क्योंकि मेरे ... ने मंटो मामूं का राज़ किसी पर ... नहीं किया था. मुमकिन है, खुद उन्होंने ... भी उसके बारे में कोई चिंता न ... यों भी वह घर वालों को ऐसे मामलों ... बेखबर रखना ही पसंद करते थे, ... हर तरफ से शराब छोड़ने का ... शुरू हो जाता था.

खून की पहली कै!

रात का पिछला पहर था. ... अपनी बीवी को उठाकर बताया ... शदीद दर्द महसूस कर रहे हैं और ... बहुत-सा खून जाया हो चुका है ... ख़्याल था कि उनका जिगर फट ... उनकी बीवी ने जब यह देखा कि ... सूरते-हाल (स्थिति) का अकेले ... नहीं कर सकतीं तो उन्होंने घर ... लोगों को जगाया और उन्हें मौत ... से निकालने की जद्दोजहद शुरू ... इससे पहले कई भयंकर बीमारियों ... वे निरोग हो चुके थे. इसलिए किसी ... ख्याल तक नहीं हो सकता था कि ...

सिर्फ चंद घंटों के मेहमान हैं. लेकिन हकीकत यह थी कि उन्हें आउट देने के लिए एंपायर की उंगली उसी वक्त से फिज़ा में बुलंद होनी शुरू हो गयी थी, जब मंटो मामूं को खून की पहली कै आयी थी.

किस्सा साढ़े तीन रुपये का!

मंटो मामूं के आखिरी लम्हों के बारे में मैंने जो कुछ सुना है, उससे मैं यही अंदाज़ा लगा सका हूं कि काफी देर तक उन्हें खुद भी यकीन नहीं था कि उनका वक्त अब आ गया है. डॉक्टर के इंजेक्शन वगैरा लगाने के एक-डेढ़ घंटे बाद तक वह मायूस नहीं हुए थे, लेकिन इस इलाज के बाद भी उनकी हालत खिलाफेमामल नहीं संभली. उनकी नब्ज़ बराबर डूबती गयी और दर्द में लगातार वृद्धि होती रही. खून की कै भी बंद नहीं हुई. सुबह को डॉक्टर ने तजवीज़ पेश की कि मंटो मामूं को अस्पताल पहुंचा दिया जाये.

उस वक्त मंटो मामूं के होश-हवास बिल्कुल ठीक थे और अस्पताल का नाम सुनते ही वह बोल उठे, "अब बहुत देर हो चुकी है. मुझे अस्पताल न ले जाओ और यहीं सुकून से पड़ा रहने दो."

घर की औरतों के लिए यह दृश्य नाकाबिले-बर्दाश्त (असहनीय) था. उन्होंने रोना शुरू कर दिया. यह देखकर मंटो मामूं फौरन उत्तेजित हो गये और उन्होंने गज़बनाक आवाज़ में कहा, "खबरदार, जो कोई रोया!" यह कहकर उन्होंने अपना मुंह रज़ाई में बंद कर लिया.

मंटो का यह असली रूप था. जिस शख्स की जिंदगी का कोई कोना आज तक दुनिया की नज़रों से छुपा नहीं रहा था, वह कैसे बर्दाश्त कर सकता था कि लोग उसे मरता हुआ देखें. मंटो मामूं सशरीर गुस्सा बने हुए थे. मालूम नहीं वह अपने आपसे नाराज़ थे या शराब से, जो उनकी वक्त से पहले मौत की ज़िम्मेदार थी.

एंबुलेंस आने से पहले सिर्फ एक या दो बार उन्होंने अपने मुंह से रजाई हटायी. उन्होंने कहा, "मुझे बड़ी सर्दी लग रही है. इतनी सर्दी शायद कब्र में भी नहीं लगेगी. मेरे ऊपर और रजाइयां डाल दो." कुछ देर रुकने के बाद उनकी आंखों में एक अजीब-सी चमक नमूदार (प्रकट) हुई. उन्होंने आहिस्ता से कहा, "मेरे कोट की जेब में साढ़े तीन रुपये पड़े हैं. उनमें कुछ पैसे मिलाकर थोड़ी-सी व्हिस्की मंगा दो."

शराब के लिए उनका इसरार जारी रहा और उनकी तसल्ली के लिए एक पौवा मंगा लिया गया. उन्होंने बोतल की को बड़ी अजीब और आसूदा (संतुष्ट) निगाहों से देखा और कहने लगे, "मेरे लिए दो पैग बना दो." यह कहते हुए वह दर्द और शदीद दौरे के कारण कांप-से उठे. लेकिन एक बार भी और एक लम्हे के लिए भी उन्होंने अपने ऊपर जज़्बातियत (भावुकता) नहीं तारी (छाने) होने दी. उन्होंने अपने बच्चों या किसी और को अपने पास नहीं बुलाया. वह वसीयत के कभी कायल नहीं थे. उन जैसी शख्सियतों के लिए ज़िंदगी और मौत के दरम्यान सीमा-रेखा बहुत ही सूक्ष्म और अस्पष्ट होती है, और यही होना भी चाहिए, क्योंकि उनकी ज़िंदगी और रूह तो पहले ही उनके जिस्म से उनकी किताबों में मुंतकिल (हस्तांतरित) हो चुकी होती है. वहां पहुंचकर उन्हें गैर-फ़ानी होने का यकीन हो जाता है, वहां वह अबद तक जिंदा रहते हैं. हंसते-बोलते हैं, मुहब्बत करते रहते हैं.

शराब तलबी का मंजर

बिस्तरे-मर्ग (मृत्यु-शैया) पर मंटो मामूं ने शराब के सिवा कोई और चीज नहीं मांगी. उन्हें बहुत पहले मालूम हो चुका था कि शराब उनकी जानी दुश्मन है और वह उसे मौत का हम-मानी समझने लगे थे, जिस पर जिस्नामी फतह किसी सूरत में मुमकिन नहीं है. जिस तरह मौत के आगे कोई इंसान पेश नहीं पा सकता, उसी तरह मंटो मामूं शराब के सामने बिल्कुल बेबस होते थे. लेकिन उनकी फितरत चूंकि हमेशा से बागियाना थी, इसलिए उन्होंने मौत से भी बगावत की थी. उन्हें शिकस्त से भी सख्त नफ़रत थी, ख्वाह वह मौत के हाथों ही क्यों न हो. और यही वजह है कि वह मौत से तनहाई में आंखें चार करना चाहते थे, जहां कोई उन्हें मरता न देख सके, जहां कोई उनकी शिकस्त का नज़ारा न कर सके.

उनसे कम दर्जे का आदमी शायद एक ड्रामाई (नाटकीय) मौत की व्यवस्था करता ताकि उसके मरने के बाद लोग उसकी चर्चा करें. उस पर मज़ामीन (लेख) लिखे जायें और उसके रिश्तेदार-दोस्त कह सकें कि उसकी जिंदगी ज़रूर ऐसी थी, जिसे हम पसंद नहीं करते थे, लेकिन मरने से पहले वह पश्चातापी हो गया था और अच्छा आदमी बन गया था. लेकिन मंटो मामूं पाखंडी नहीं थे. उन्होंने इस ख्वाहिश का सख्ती से मुकाबला किया. उनकी मौत के वक्त सिर्फ एक पहलू ड्रामाई था, यानी शराब तलबी करने का मंज़र (दृश्य), लेकिन इसका फायदा भी मरकज़ी (केंद्रीय-मुख्य) किरदार को पहुंच सकता था, क्योंकि उसका सही मतलब सिर्फ वही समझ सकता था.

सांप और इंसान की कहानी

मैं उस वक्त मौजूद होता तो मुझे यकीन है कि वह अपने ज़ेहन को एक हद तक मेरे सामने बेनकाब कर देते, और यह कुछ मुश्किल भी न था, क्योंकि उन्हें सिर्फ इतना कहने की ज़रूरत थी, सांप और इंसान की कहानी न भूलना. मैं अपने सिर को असबात (स्वीकृति) में जुंबिश देता और शराब का आखिरी जाम उन्हें पीने को दे देता. सिर्फ यही एक जुमला हर बात को स्पष्ट कर देने के लिए काफी होता. सांप और इंसान की कहानी सिर्फ इतनी थी कि एक आदमी ने अपने दोस्तों के मना करने के बावजूद एक जहरीला सांप पाल रखा था और एक दिन सांप ने अपना सारा जहर उसके जिस्म में उतार दिया, तो उसने भी सांप को पकड़ लिया और उसका सिर काटकर फेंक दिया.

एंबुलेंस जैसे ही दरवाजे पर आ खड़ी हुई, उन्होंने शराब का फिर मुतालबा किया. एक चम्मच व्हिस्की उनके मुंह में डाल दी गयी, लेकिन एक कतरा मुश्किल से उनके हलक से नीचे उतर सका. बाकी शराब उनके मुंह से गिर गयी और उन पर गशी तारी हो गयी. जिंदगी में यह पहला मौका था कि उन्होंने अपने होश-हवास खोये थे. उन्हें उसी हालत में एंबुलेंस में लिटा दिया गया.

एंबुलेंस अस्पताल पहुंची और डॉक्टर उन्हें देखने के लिए अंदर गये तो मंटो मामूं मर चुके थे. दोबारा होश में आये बगैर रास्ते में ही उनका इंतकाल हो चुका था. □

अगला अंक

जून-79 : अंक-एक

पेड़ घर आके फल नहीं देते, हाथ हैं, तोड़ क्यों नहीं लेते!

ज़िंदगी के हर सच-झूठ की हसल-बसल में सलीब टंगे सुखों को हासिल करते जुझारू लोगों की कहानियां—

कुंवर नारायण, प्रभाकर माचवे, चित्रा मुद्गल, सुरेश चतुर्वेदी, संजीव, कृष्ण कुमार, नासिरा शर्मा, अनवर सज्जाद (पाकिस्तान) और दीनू हरीश की कलम से.

● उपन्यास अंश : यात्रा—श्रवण कुमार

▣

जवाब पाना है, इसलिए.
कृतित्व और व्यक्तित्व के सूत्रों से जुड़ी कथा-यात्रा के अन्वेषी संदर्भों में कथाकार गोविंद मिश्र की आत्मरचना.

▣

"पाठक को पंगु मत बनाओ, उसके पांवों पर भरोसा रखो, वह तुम्हारी यात्रा में शामिल होगा!" बंगला के बहुचर्चित लेखक ज्योतिर्मय दत्त के साथ मणि मधुकर की बातचीत.

▣ यह दंगा किसने करवाया?

हनुमान जयंती के दिन. सामने मस्जिद. बगल में थाना.
अच्छा-खासा जुलूस रुक जाता है. नारेबाजी, भगदड़, एक बम विस्फोट...
और शुरू हो जाता है सांप्रदायिक दंगा!

—उदयन शर्मा द्वारा प्रस्तुत सचित्र रिपोर्ताज

● ज़रिया-नज़रिया, पाठकों का पन्ना, लघुकथाएं, तस्वीर बोलती है, दीवाने आम : दीवाने खास, रोजनामचा, पखवारे की पुस्तक, हलचल आदि सभी स्तंभों सहित.

सारिकाः धूल न धुआं, आग न विस्फोट फिर भी कंपन!

शीघ्र प्रकाश्य

संग्रहणीय अंकों की परंपरा में
सारिका की ओर से
पाठकों को अगली भेंट

अर्नेस्ट हेमिंग्वे विशेषांक

सॉकेट एक और प्लग अनेक?
यह ग़लत है
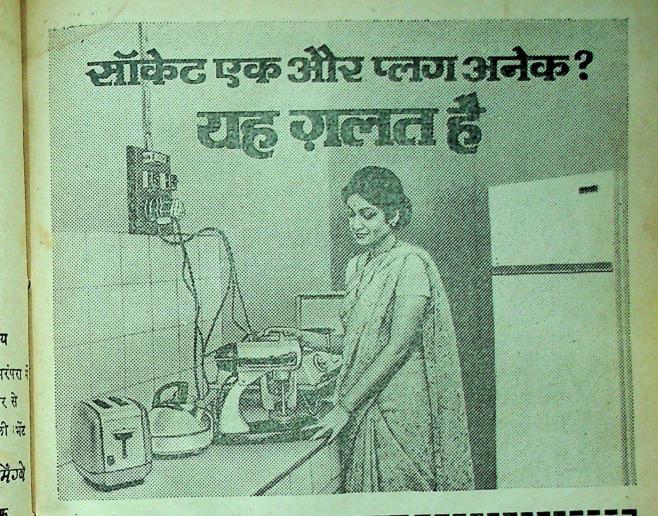
बिजली के उपकरणों का दुरुपयोग करने से आग लगने का भारी ख़तरा है—
आपके घर-परिवार पर चुपचाप मंडराने वाला एक भयानक ख़तरा।

बिजली से काम लीजिये,
काम बिगाड़िये नहीं

१. बिजली की एक ही 'आउटलेट' पर ज़्यादा यंत्रों को मत लगाइये। 'ओवरलोडिंग' से आग लग सकती है।
२. किसी यंत्र को सॉकिट से लगाने के लिये बिजली के नंगे तार के सिरों को मत जोड़िये। इसके लिये प्लग इस्तेमाल कीजिये।
३. 'रेटिड कॅपेसिटी' के फ्यूज़ ही प्रयोग में लाइये।
४. बिजली के काम में खुद मत पड़िये। बिजली की मरम्मत का काम लाइसेंसशुदा कारीगर से करवाइये।
५. बिजली के टूटे-घिसे तार, प्लग और स्विच बदल दीजिये।
६. गरमी पकड़ने वाले यंत्रों से कपड़ों को दूर रखिये।

काट कर पास रखिये

लॉस प्रिवेन्शन एसोसिएशन समान विचारधारावाले लोगों के साथ मिलकर काम करना चाहती है और आपके सहयोग का स्वागत करती है। अधिक जानकारी के लिये कृपया लिखें—

नुकसान रोकिये—समृद्धि बढ़ाइये
लॉस प्रिवेन्शन एसोसिएशन ऑफ़ इंडिया लिमिटेड,
वार्डन हाउस, पी. एम. रोड, बम्बई-४०० ००१

CASLPA-8-203 HN

मोदी थ्रैड विश्व का एक असाधारण धागा प्रस्तुत कर रहें हैं जो इस शताब्दी की महान तकनीकी उपलब्धि है

जब बुकिला न्यूयार्क को अपने कशीदाकारी किट और हस्तशिल्प की वस्तुओं के लिए एक मज़बूत विश्वसनीय धागे की आवश्यकता हुई तो उन्होंने मोदी थ्रैंड पसन्द किया

अब मोदी धागे कशीदाकारी किट और हस्तशिल्प वस्तुओं के निर्माण में उनकी ख्याति को सुरक्षित रख रहे हैं...

बुकिला के लोकप्रिय बुनाई, क्रोशिए और कशीदाकारी के किट। उनके सम्पूर्ण किटों में मोदी थ्रैड मिल्स से आयातित धागे भी रहते हैं।

बुकिला—मोदी थ्रैड मिल्स द्वारा सारे विश्व के क्वालिटी पसन्द करने वाले व्यक्तियों के लिए बढ़िया धागे बनाने का एक और उदाहरण।

मोदी धागे : बुनाई, टांका लगाने, कशीदा, केस, गोट लगाने, रफू करने, पशीनो सिलाई और जूतों की सिलाई में भी प्रयुक्त होते हैं।

प्रत्येक कार्य के लिए एक ही धागा—मोदी धागा।

मोदी थ्रैंड मिल्स, मोदीनगर, उ०प्र०

मोदी थ्रैंड

विश्व के ४० से भी अधिक देशों में बिकते हैं

भाषा विभाग, हरियाणा, चण्डीगढ़

अखिल भारतीय हिन्दी कहानी, निबंध तथा एकांकी प्रतियोगिता
वर्ष १९७९-८०

* * *

प्रतियोगिता निःशुल्क होगी और निम्नलिखित वर्गों में होगी:—
(क) कहानी (ख) निबंध (साहित्यिक एवं सांस्कृतिक) (ग) एकांकी

प्रथम पुरस्कार	२५०/- रुपये
द्वितीय पुरस्कार	१५०/- रुपये
तृतीय पुरस्कार	१००/- रुपये

नियम:—

१—पुरस्कारों को विभाजित किया जा सकता है.

२—पुरस्कृत तथा अच्छी रचनाएं विभागीय पत्रिकाओं में प्रकाशित भी की जा सकेंगी.

३—लेखक द्वारा रचना के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से प्रमाण-पत्र अवश्य संलग्न होना चाहिए:—

मैं——————————प्रमाणित करता/करती हूं कि रचना————————————(कहानी/निबंध/एकांकी) मौलिक, अप्रकाशित तथा अप्रसारित है. यह किसी भी प्रतियोगिता या पत्रिका में नहीं भेजी गई है, और प्रतियोगिता का परिणाम निकलने से पूर्व इसे (रचना) कहीं भी नहीं भेजूंगा/भेजूंगी.

लेखक के हस्ताक्षर तथा पूरा पता

४—लेखक का नाम (मोटे अक्षरों में) और पता केवल अग्रेषण पत्र पर होना चाहिए, रचना की किसी प्रति पर नहीं.

५—गत दो वर्षों में प्रतियोगिता के किसी एक वर्ग में निरन्तर विजेता को तीसरे वर्ष पुनः उसी वर्ग में विजेता घोषित होने पर केवल प्रशंसा पत्र ही दिया जायेगा. इस स्थिति में पुरस्कार द्वितीय सर्वोत्तम रचना पर दिया जायेगा.

६—एक वर्ग में लेखक से एक रचना ही स्वीकार्य होगी. लेखक अपनी एक-एक रचना तीनों वर्गों में भी भेज सकता है. किन्तु उसे पुरस्कार एक ही वर्ग में मिलेगा. अन्य दो वर्गों में रचना के पुरस्करणीय होने की स्थिति में उस वर्ग के अंतर्गत उसे केवल रचना के उत्कृष्ट होने का प्रशंसा पत्र ही दिया जायेगा.

७—रचना में कम से कम १५०० तथा अधिक से अधिक ३००० शब्द होने चाहिए.

८—प्रतियोगिता में प्राप्त रचनाओं को लौटाया नहीं जायेगा.

रचना की टाईप की हुई अथवा सुवाच्य तीन प्रतियां ३१ जुलाई, १९७९ को सांय ५-०० बजे तक निम्न पते पर अवश्य पहुंच जानी चाहियें. बाद में प्राप्त रचनाओं पर कोई विचार नहीं किया जाएगा.

निदेशक,
भाषा विभाग, हरियाणा,
१५८०/१८-डी, चण्डीगढ़-१६००१८
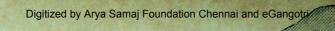
ना..ना..ना रेज़र आपके लिए नहीं...
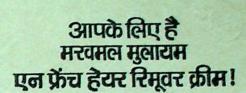
भला रेज़र आपके किस काम का? इसे पुरुषों तक ही रहने दीजिए!

ये तो त्वचा के ऊपर-ऊपर से ही बाल काटता है, और फिर अधकटे, भद्दे बाल भी तो छोड़ जाता है. लेकिन एन् फ्रेंच हेयर रिमूवर क्रीम बालों की जड़ों तक असर करता है, जहां रेज़र की पहुंच नहीं. इसीलिए आपकी त्वचा हफ़्तों मुलायम रहती है.

ये इस्तेमाल में भी आसान है. बस, क्रीम लगाइये, थोड़ी देर इंतज़ार कीजिए और फिर पोंछ डालिए. देखा, अनचाहे बाल गायब! आपकी त्वचा हफ़्तों मुलायम.

अनचाहे बालों को हटाने का मनचाहा क्रीम

एन् फ्रेंच हेयर रिमूवर

अब दो सुगंधों में

200 HR-203 HIN

...ड, कोलमैन एंड कम्पनी लिमिटेड, स्वत्वाधिकारी के लिए रमेशचन्द्र द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 से मुद्रित व प्रकाशित. जनरल मैनेजर : ...री. राम तरनेजा. पंजीकृत कार्यालय : डा. दादाभाई नौरोजी रोड, बंबई-400001. शाखाएं : 7, बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली-110002; 139, आश्रम रोड, ...अहमदाबाद-380009; 105/7ए, एस. एन. बनर्जी रोड, कलकत्ता-700014. कार्यालय : 13/1, गवर्नमेंट प्लेस ईस्ट, कलकत्ता-700069; 15, मोंटियथ रोड, इग्मोर, ...मद्रास-600008; 407-1, तीरथ भवन, क्वार्टर गेट, पुणे-411002; 26, स्टेशन एप्रोच, सडबरी, वेंबले, मिडिलसेक्स, लंदन, यू. के., लंदन टेलीफोन : 01-903-9696.

फैशनबाज़. एल्पार.
पॅरेगॉन टेक्स्टा
ग्लोब मिल्स पॅसेज,
पॅरेगॉन एल्पार कपड़ा
* देवी सहाय चरण दास
everest/7

पाक्षिक

सारिका

जून: अंक-२

क्या आप हररोज़ का कामकाज
फिरसे करने को उत्सुक हैं?
ग्लैक्सोज़-डी® आपको तुरन्त शक्ति
देकर थकान मिटाता है।
ग्लैक्सोज़-डी से आप घर के काम-काज के लिए तैयार हो जाती हैं। क्योंकि ग्लैक्सोज़-डी आप को वह भरपूर शक्ति देता है, जो आप को थकान के बाद फिर से चुस्ती-फुर्ती के लिए चाहिए। डॉक्टरों की सिफारिश पाने वाला ग्लैक्सोज़-डी बहुत उच्च कोटि का ग्लूकोज़ है जो विटामिन-डी, कैल्शियम और फॉस्फरस से युक्त है।
ग्लैक्सोज़-डी आप की थकान मिटाता है और आप को ऐसी शक्ति देता है कि आप मज़े से घर का काम-काज करती रहती हैं।
ग्लैक्सोज़-डी®
सारे परिवार के लिए
तुरन्त शक्ति का साधन

भरेड बिलोचनि वीर

सारिका, मई 79 प्रथम अंक में नंदन जी का तेज, मार्मिक एवं प्रखर बुद्धजीवियों को झकझोरने वाला सम्पादकीय "ये खूनी रात के मंजर" जहां तथाकथित आधुनिक सभ्य समाज पर एक करारा तमाचा है वहाँ सभी मानवतावादी उच्च आदर्शों का खोखलापन उजागर करता है. मृत्युदंड पर ही श्री गिरिजा शंकर का मर्मस्पर्शी लेख "फांसी" को पढ़ते ही नेत्र सजल हो उठते हैं.

☐ आजाद रामपुरी, ग्वालियर

सच्ची तत्परता की ओर

सारिका का मई अंक-1 देखा. जरिया नजरिया के अन्तर्गत "ये खूनी रात के मंजर" में आपने बढ़ती हुई इंसानी नफरत, टूटते मानव संबंधों के प्रति जो विचार रखे, उनकी आज के सुलगते परिवेश में काफी अहमियत है. समय की सिंगतियों और विकृतियों के साये में मानवीय संबंध आज जब केवल ऊब और नफरत पैदा कर रहे हैं, आपका 'सोच' निश्चय ही कई 'सोचों' को गहराई तक झकझोर कर रख देगा. इतना साफ और सटीक संपादकीय···आपको हार्दिक धन्यवाद.

ये खूनी रात······में आपकी बातें न केवल संसार के प्रति संवेदनशील बनाती हैं, वरन मानवीयता के शत्रुओं को पहचानने व उनसे प्रतिरोध करने की शक्ति जुटाने में सहायता भी करती हैं. वे हमें अपने पास भी लाती हैं और इस जहर की ओर आगाह भी करती हैं. वे हमें सजग करती हैं, उकसाती हैं और अपने तई 'मुनासिब कार्रवाई' के लिए हमें संवेदनात्मक रूप से तयार करती हैं. अगर हम उनसे प्रतिकृत होने को तैयार हैं. तो वे हमें सच्ची तत्परता की ओर ले जाती हैं.

☐ राकेश शर्मा, होशंगाबाद (म. प्र.)

प्राकृतिक अधिकार

सारिका मई अंक एक में प्रकाशित जरिया नजरिया स्तम्भ और फांसी: आंखों देखी रपट ने प्रभावित किया. इस वर्ष में जिस गति से फांसियों का सिलसिला चालू हुआ है ऐसा लगता है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय फांसी वर्ष हो— जैसा कि आपने भी कहा है. मनुष्य मात्र को जीवित रहने का प्राकृतिक अधिकार है और दण्ड के रूप में उसकी जिन्दगी को छीन लेना तर्क और सिद्धांत की कसौटी पर कभी भी खरा नहीं उतरता. काश, हमारे शासक इस जीने के अधिकार को ... लिए दण्ड व्यवस्था में ... की कोशिश करते. आ... को उठाया, इसके लिए ...

☐ प्रफुल्ल कुमार त्रि...

सैक्स की आशंका

"मंटो विशेषांक" ... खुश हो गयी. इस वि... गोश्त", "...", "नंगी आ... न देकर आपने कई ... दुखाया है.

इससे यह साबित ... भी समाज से डरते हैं. ... गोश्त" सरीखी कहानि... भी सैक्स नहीं पैदा हो...

☐ आर॰ के॰ कटारि... कम्पा कम्पाउंड, म॰...

विधिवत पायलागन

सारिका के "नवलेखन अंक" के लिए आपका पत्र लेख... प्रतिनिधि "नवलेखन तब और अब" के बारे में मुझसे बात... आए थे. वह लगभग एक घंटे तक इस विषय में मेरे विचार सु... नोट्स लेना उन्होंने अनावश्यक माना और बताया कि "हमें तो... ही कुछ छापना है" मैंने उनसे अनुरोध किया कि इस विस्तृ... से जो "कुछ" आप चुनो उसे लिखकर प्रकाशन से पूर्व मुझे... दें लेकिन उन्होंने दिखाया नहीं.

संयोग से उस अंक की प्रति हाथ लगने पर मैंने अब ... पढ़ा है और पढ़कर आश्चर्य-चकित रह गया हूं.

भाषा और शैली के संबंध में शिकायत करना भी मेरा ... होगा क्योंकि मैं उन महान लेखकों में से कहां जिनका कहने ... खास अन्दाज होता और माना जाता है.

बहरहाल इतनी शिकायत करने का अधिकार आप शायद ... सकें कि मेरे नाम से छपे वक्तव्य में विचार तक मेरे नहीं हैं ...

मैंने बातचीत के दौरान लेखकीय उत्साह के चूक जाने ... यह कहा था कि नई पीढ़ी में शायद कथा-लेखिकाएं ही सक्रि... हैं. उनमें ही बराबर लिखते रहने का उत्साह है. दुर्भाग्य ... भी अधिकतर के यहां कोई साहित्यिक महत्वकांक्षा, कोई ... नहीं है. पारिवारिक परिवेश की, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की, ... पहचाने ढर्रे की कहानियां ही वे लिख रही हैं.

इस बात को उन्होंने मेरे शिवानी-विरोधी बयान के रूप ... है. नवलेखन के सन्दर्भ में शिवानी की चर्चा करें···इसे ... मनोहर श्याम जोशी की मौलिक, दिलचस्प और बोल्ड, मु... एक नमूना माना होगा. शिवानी, बिरादरी के रिश्ते से, (और ... को कमाऊंनी समाज में आज भी पूरी तरह माना और बरता ... मनोहर श्याम जोशी की बड़ी बहन हैं, गोरा दी हैं, मनोहर ... विधिवत उन्हें पायलागन करते हैं.

☐ मनोहर ...

हिन्दी उपन्यास की हालत

कुंवर नारायण ने अपने साक्षात्कार में हिंदी उपन्यास की हालत पर टिप्पणी करते हुए भारतीय परंपरा और भारतीय जीवन में विविधता की कमी का जिक्र किया है.

उपन्यास के सन्दर्भ में अनुभव की विविधता ऊपरी तौर पर महत्वपूर्ण लग सकती है, मगर गहरे रचनात्मक स्तर पर ऐसा नहीं है, वही जब एक व्यापक सृजन-दृष्टि के ताप में अपनी स्वायत्तता खो देते हैं तो एक समग्र जीवन-दृष्टि के नियामक बन जाते हैं. जिन दबावों की वजह से मुक्तिशोध की कविताएं एक बिम्ब से दूसरे बिम्ब तक फैलती हुई लम्बी हो जाती हैं, संभवतः वैसे ही व्यापक रचनात्मक दबाव की दूसरी प्रक्रिया से उपन्यास की रचना करते हैं.

□ रवीन्द्र वर्मा, आगरा

आश्चर्य या आपत्ति

"जरिया नजरिया" में यह आपके विचार हैं न--'बच्चे जो मुल्क की अमानत होते हैं, औरतें--जो देश की इज्जत होती हैं, युवक--जो देश की हिफाजत होते हैं और बूढ़े जो गुजरे जमाने का इतिहास होते हैं......

(सारिका मई 79 अंक-1 पृष्ठ 11 कालम तीसरा)

और रेखांकित वाक्य पर आपत्ति है. इसे यूं होना चाहिए था "युवक जो देश के मुहाफिज होते हैं" मुझे आश्चर्य है कि आपसे यह भूल कैसे हो गई.

□ अशोक कुमार पाण्डेय, गोरखपुर

अहसान का एहसास

आपने सचमुच अहसान किया है पाठकों के सिर पर. मंटो जैसे महान कथाकार का विशेषांक निकालकर. समस्त सामग्री पठनीय और सराहनीय है. खासकर मंटो की "काली सलवार" बहुत पसन्द आई.

आशा है आगे मंटो की अन्य कहानियां जैसे "बू", "ठंडा गोश्त", "धुआं" आदि भी अवश्य प्रकाशित करेंगे.

□ देवेन्द्र पाल सिंह, सिन्द्री, धनबाद

अश्लील क्यों ?

"काली सलवार" और "खुशिया" जैसी निहायत संजीदा कहानियों को पता नहीं लोगों ने क्यों अश्लील कहा था? "खोल दो" कहानी पढ़कर पाठक किसी तरह भी उत्तेजित नहीं होता अपितु मन करुणा से भर जाता है. सब मिलाकर "मंटो विशेषांक" अच्छा बन पड़ा है, बधाई.

□ कुमारगुप्त, राजोपट्टी, सीतामढ़ी

जादू सा असर

रेणु अंक के बाद, 'मंटो' अंक और फिर हेमिंग्वे विशेषांक की तैयारी है, इस कड़े परिश्रम के लिए सारिका परिवार धन्यवाद का पात्र है. आपने सचमुच कुशल सम्पादन, रुचिकर संयोजन के द्वारा पाठक-वर्ग पर जादू-सा कर दिया है.

□ सूर्यकान्त त्रिपाठी, शेरपुर, मिर्जापुर

संग्रहणीय अंक

मंटो विशेषांक सारिका के पूर्व विशेषांकों की तरह ही अधिक आकर्षक व रोचक रहा. यह विशेषांक वाकई में मंटो विशेषांक साबित हुआ क्योंकि उसमें "मंटो" संबंधी साहित्य के अतिरिक्त अन्य सामग्री अन्य विशेषांकों की तरह प्रकाशित नहीं की गई है. इस विशेषांक द्वारा मंटो साहित्य उपलब्ध कराया गया होने से सारिका का यह अंक संग्रहणीय है.

□ गोपाल आचार्य, मंदसौर, म०प्र०

विस्तृत गहराइयां

पिछले आठ साल से सारिका का नियमित पाठक हूं. कुछ और भी साहित्य पढ़ा, मैंने महसूस किया है कि आमतौर पर लेखक डिक्सनरी के सीधे सादे परिवेश से उठाकर शब्दों को अजीब-अजीब, और कई बार अभूतपूर्व परिवेश में डाल कर अपनी कहानी कहता है, मगर मंटो की कहानियां पढ़ी तो लगा कि एक आम आदमी बैठा कहानी कह रहा है, जिसके सीधे-सादे शब्द अपने आप में विस्तृत और गहराइयां लिए हैं.

□ राजकुमार यादव, कुरुक्षेत्र

निवेदन

दो वर्ष की अवधि में आंध्र प्रदेश दूसरी बार समुद्री तूफान से आक्रांत हुआ. लाखों व्यक्तियों का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया और धन-जन की भारी हानि हुई.

पाठकों से हमारा विनम्र निवेदन है कि वे 'टाइम्स सहायता कोष' में उदारतापूर्वक दान दें. सहायता कोष में दी जाने वाली राशि पर दायक आय-कर कानून, 1961 की धारा 80-ग के अधीन कर में छूट का हकदार होगा. बीस रुपये या इससे अधिक राशि देने वालों के नाम टाइम्स आफ इंडिया में प्रकाशित किये जायेंगे.

दान राशि नकद, चेक/ड्राफ्ट के जरिये 'द टाइम्स आफ इंडिया रिलीफ फंड' के नाम से हमारे नयी दिल्ली, बंबई, अहमदाबाद, कलकत्ता, मद्रास और पुणे स्थित कार्यालयों को भेजी जा सकती है.

अपने जीवन की तीन चौथाई सदी जैनेन्द्रजी पार कर चुके हैं इन पचहत्तर वर्षों में उन्होंने जितने साहित्यिक, राज-नीतिक और सांस्कृतिक बदलाव को देखा है उस सब को सारिका के पाठकों तक पहुंचाने के लिए तीन व्यक्तियों द्वारा अपना-अपना उनसे साक्षात्कार करवाया गया.

आज से पचास साल से भी पहले जब जैनेन्द्रजी ने लिखना शुरू किया, प्रेमचंद्र, चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी : प्रभृति लेखक रचनारत थे। तब से अब तक उनके समकालीन लिखने वालों की संख्या हजारों में होगी पर जैनेन्द्रजी ही एक ऐसे लेखक हैं जो इस लंबे अरसे तक बराबर लिख रहे हैं। साहित्य के अतिरिक्त राजनीति व संस्कृति-दर्शन पर भी उनकी कलम बराबर चलती है। इन सभी विषयों पर उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं.

स्वाधीनता संग्राम में जैनेन्द्रजी ने सक्रिय रूप से भाग लिया था, उसके अपने वेतन पर प्रभाव के बारे में उन्होंने स्वयं ही बताया है : 'जो एक रचनात्मक रूप था आंदोलन का, वह मेरे लेखन में सीधा नहीं आया. मेरे मन में जो जो प्रश्न उठते रहे, मैंने उन प्रश्नों का समा-धान अपने लेखन में और उसके द्वारा खोजने की कोशिश की. वे प्रश्न राज-नीतिक नहीं थे, साहित्यिक भी नहीं थे ······इसलिए मेरे साहित्य में समय, समाज या राष्ट्र कोई सीधा नहीं आया है······मेरे मन में इस सारे राज-नीतिक कर्म के पीछे कोई बहुत मनोरम भाव, रोमांटिक भाव, स्पृद्धा का भाव बढ़ नहीं पाया.' (मेरे भटकाव: पृष्ठ 66-67)

तो अब प्रस्तुत हैं तीनों साक्षा-त्कार—पहला स्वतंत्र लेखक योगेश गुप्त द्वारा, दूसरा सारिका परिवार के सुरेश उनियाल द्वारा तथा तीसरा प्राध्यापक डा० कमलकिशोर गोयनका द्वारा.
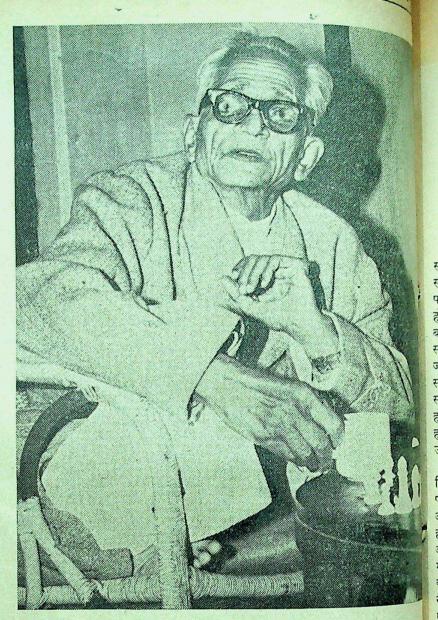
"कहानी के आंदोलन से जुड़कर किसी ने भी अपना या साहित्य का हित नहीं किया"

जैनेंद्र कुमार

पहला साक्षात्कार : योगेश गुप्त द्वारा

'मानसिक रूप से मैं बेहद विरोधों के बीच जीता हूं!'

लगभग पचास साल से आप हिंदी साहित्य में सक्रिय हैं और अपने समसामयिक लेखकों को ही नहीं, नये लेखकों को भी आप बराबर पढ़ते रहे हैं. इन वर्षों के लेखन, उसकी दशा, उसके विकास या ह्रास पर आपकी व्यापक प्रतिक्रिया क्या है?

साहित्य कोई बंद चीज तो है नहीं और समाज में प्राणी को दोहरा जीवन जीना पड़ता है. साहित्य की तरफ जिसकी रुचि हो, उसमें तो यह दोहरापन और भी तीखा बन जाता है. यानी व्यक्ति समाज में सहज सफल नहीं होता वो अनिवार्यतया कल्पनाजीवी और बुद्धिजीवी हो चलता है. समाज में उसे काम तो चाहिए ही, पर समाजोपजीवी बनना उसके लिए कठिन होता है. परिणाम में जो उसके भीतर द्वंद्व हो चलता है, लेखन का स्वरूप अधिकांश उसी से निर्धारित होता है.

मेरा लिखना शुरू हुआ तब मूल्य कुछ निश्चित थे और लेखन उसी आदर्शोपासना में हुआ करता था, इसलिए आसानी से वह सुधारवादी और रोमांटिक हो जाया करता था. धीरे-धीरे इसमें फर्क आया. फर्क इसलिए आया कि समाजमान्यता लेखक को अपेक्षतया बहुत ही कम प्राप्त थी. पहले का लेखक समाज की नैतिक धारणाओं को पुष्टि देता था और एवज में कुछ उसकी स्वीकृति पा ज.ता था. अर्थात् वह लेखक अपने अभ्यंतर में लेखन द्वारा लोकप्रतिष्ठ होना चाहता था. हिंदी कथा परंपरा में शायद पहली बार प्रेमचंद ने समाज-मूल्यों की पड़ताल में जाना शुरू किया, लेकिन असल में पैसे की––जिस पर प्रतिष्ठा निर्भर करती है––उधेड़बुन में वह गये पर कदाचित् उसकी जगह किसी दूसरे मूल्य को उदय में लाने की बात तक वह नहीं पहुंच सके. परिणाम में निषेध का स्वर तो आया पर वैकल्पिक रचना का चित्र नहीं उभर सका. मानो पैसे के समक्ष एक आदर्शवादी भावुकता को ही उन्होंने प्रतिष्ठा दी. कुल मिलाकर हासिल यह हुआ कि पैसे की संख्या ढीली नहीं हुई यद्यपि उसकी निंदा होती गयी.

प्रेमचंद के अनंतर लोगों को लगा कि विश्लेषण काफी तीखा और गहरा नहीं है और आदर्श से उसे ढका नहीं जा सकता. उसमें से भावुकता उत्पन्न होकर रह जाती है, प्रचलित मूल्यों पर गहरा आघात नहीं लगता. मानी गयी नैतिकता स्वयं विश्लेषणीय हो सकती है और लेखन के स्वर में सामाजिकता को ही मानो चुनौती दी जाने लगी. एक शब्द चलता था छायावाद. उत्तर में आया यथार्थवाद. विश्लेषण और अस्वीकार के आग्रह ने मूल्यों की ओर से आने वाले नियमन को ही इंकार कर दिया. माने, कदर्य और कुत्सित को ही प्रतिष्ठा दी जाने लगी. यह सब कुछ बाहर का द्वंद्व था, यानी समाज में अपनी अपनी मान्यता द्वारा प्रतिष्ठा पाने का द्वंद्व.

मुझे प्रतीत होता है कि प्रेमचंद के तत्काल नहीं तो कुछ बाद प्रगतिवाद नाम की जो लहर आयी उसमें यही सामाजिक, राजनीतिक प्रतिष्ठा पाने के द्वंद्व का स्वर प्रधान है.

संक्षेप में मुझे कहने दीजिए कि इन पचास सालों में से गुजर कर मुझे लगता है कि अब आकर कथा रचनाएं तितली की तरह इस कदर खूबसूरत हैं कि सोच में पड़ जाना पड़ता है कि यह खूबसूरती अगर टिक सकती तो––?

आपके मतानुसार हिंदी साहित्य निरंतर ऊपर से सजा-धजा और अंदर से खोखला होता जा रहा है. आपने साफ तो नहीं कहा, पर उसका एक कारण शायद आप प्रगतिशील आंदोलन को मानते हैं और दूसरा कारण साहित्य के व्यापारीकरण को. क्या ये बातें इतने ही स्पष्ट तौर से कही जा सकती हैं? या कारण कुछ और भी हैं?

व्यापारीकरण या साहित्य का राजनीतिकरण दोनों क्या स्वयं में अकारण हो सकते हैं. मेरा संकेत था कि साहित्य को इन आधुनिकीकरणों पर दोष फेंकने के सिवाय उनके और भी मूल कारणों की खोज में जाना चाहिए. मैं जानता हूं कि जिंदगी हठात् और अनावश्यक रूप से जटिल बनायी जा रही है और उस जटिलता को ही बुद्धिवाद का सेहरा पहनाया जा रहा है. साहित्य को उस लालच में नहीं पड़ना चाहिए. जीवन सहज और अकृत्रिम हो सकता है और आज की तमाम गूढ़ जटिलता का चित्रण कथा में इस प्रकार रचित और चित्रित किया जा सकता है कि प्रभाव सहजता के पक्ष में पड़े और उसको जटिलतर बनाते जाने की सभ्यता के प्रति चमत्कारी भाव उत्पन्न न हो, वरन उसके प्रति हमदर्दी जगे. मैं मानता हूं कि उस जटिलता के चक्र में पड़े व्यक्ति के भीतर जो उत्कट और उन्मुक्त भोगाभिमुखता है वह मूलतः उसके भीतर की ऊब और कराह का ही प्रक्षिप्त और प्रच्छन्न रूप है. उसमें अपनी कोई यथार्थता नहीं है. अर्थात् भोगाभिमुख सभ्यता की भर्त्सना और लांछना करने की आवश्यकता नहीं, वरन सहानुभूति पूर्वक उसे अंतरंग से समझने की आवश्यकता है. आदर्शाभिमानी पुरुष जो आसानी से निंदा पर उतर आता है वह उसकी मात्र क्षतिपूर्ति का प्रयत्न है, किसी आदर्शनिष्ठा का प्रमाण नहीं. साहित्य में किसी प्रकार के गर्व के टिकने का स्थान नहीं है. अपने को अध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक आदि मानने वाले महाशय जो ऊपर से देखकर किसी के प्रति तुच्छ भाव अपना लेते हैं, वे सिर्फ अपना दंभ दर्शाते हैं और इस परिपाटी के व्यक्ति साहित्य के लिए सर्वथा वर्जित हैं. ऊपर आपने प्रगतिवाद का नाम लिया. मैं मानता हूं कि इस दिशा में प्रगतिवाद ने (अनजाने ही सही) सचमुच बड़ी सेवा की है.

आपने कहा कि जीवन अनावश्यक रूप से जटिल बनाया जा रहा है. इसे थोड़ा स्पष्ट करेंगे.

अनावश्यक शब्द शायद बहुत सही न हो. पैसा उद्योगवाद के प्रवेश से अनिवार्यतया बढ़ता जा रहा है. इतना कि हर संबंध अर्थाश्रित होने को बाध्य है. इस तरह मानव संबंध सरल नहीं रहते, क्योंकि इस कारण बने से होते हैं कि पैसा बीच में आने से दोनों ओर अपने अलग स्वत्व और स्वार्थ

की चेतना हो आती है. एक बार आप-में अलग स्वत्व की चेतना जगी तो नाना प्रकार के छद्म और कौशल के परस्परता के बीच प्रविष्ट होने की भूख बन आती है. अनावश्यक की जगह इस तरह जटिलता को आवश्यक भी कह दिया जा सकता है. फिर भी मैं अगर उसे अनावश्यक कहता हूं तो इसलिए कि मनुष्य के यह वश में होना चाहिए कि वह संबंधों को अधिक हार्दिक रहने दे. और आर्थिक प्रयोजनों के अधीन बनने से उन्हें बचा ले. मानना होगा कि यह दिन-दिन कठिन होता जा रहा है. सभ्य रहने के लिए यह आवश्यक हो रहा है कि घर को तरह-तरह के सामान असबाव से, ड्राइंगरूम वगैरह से ठीक-ठाक रखा जाये और जीवन पर काफी हद तक पैसे का काबू आ जाने दिया जाये. बस ये सब बातें मजबूरियां बन जाती हैं और आदमी जरूरी मान लेता है कि धरती पर बैठकर थाली में से भोजन नहीं खाया जा सकता. डाइनिंग टेबल पर प्लेट में से ही खाने का तरीका एक तरीका है. अगर इस सब खटराग को मैं अनावश्यक कहूं तो क्या गलत है? पर दिल्ली में रहकर मैं ही जानता हूं कि घरवाले किस कदर नाराज हैं मुझसे, कि ढंग की एक डाइनिंग टेबल भी नहीं है. सच यह है कि उसके अभाव पर सचमुच गर्व या गौरव का अनुभव नहीं करता. ऊपरी सरंजाम को अनावश्यक जटिलता आसानी से मैं चाहे कह दूं लेकिन उसके लपेटे से बरी होना उतना आसान नहीं है.

पूछना चाहता था कि आपकी दिन-चर्या क्या है. पर मैं अपने प्रश्न को इस तरह रखना चाहूंगा कि पिछले पच्चीस सालों से मैं आपको इसी स्थान पर इसी जगह उसी सरलता से बैठा हुआ देखता रहा हूं. इससे आपको ऊब या बेचैनी नहीं होती? आपने क्यों इस एकरसता को नहीं तोड़ा?

ऊब और बेचैनी क्यों नहीं होती होगी, पर मुझे आस्तिकता क्या मिली कि उसने मुझे सदा के लिए निकम्मा कर दिया, यानी मेरे मन में निश्चय हो गया कि मैं अपने लिए कुछ नहीं कर सकता. अपने बारे में सोचना या करना ही पाप है. यानी मैं अपनी भौतिक परिस्थितियों में अपनी ओर से कोई परिवर्त्तन नहीं चाह सकता हूं. दूसरा मेरे बारे में सोचे कौन, नतीजा यह कि मैं वहीं का वहीं हूं. इसकी शिकायत ही मुझमें नहीं हो सकती. दूसरे यह भी कि मैं अपने को कभी किसी काबिल नहीं मान सका. इसलिए उस दिशा में अब कोई कल्पना भी नहीं उछलती. हठात् चाहे प्रतिक्रियास्वरूप हो, मन में मैंने यह बिठा लिया है कि इस व्यवस्था में देखना ऊपर की तरफ नहीं है, निगाह नीचे को रखनी है. इस कारण इन हालात में रहते हुए भी मैं पाता रहा हूं कि मैं जरूरत से ज्यादा भाग्यवान हूं.

आस्तिकता क्या आवश्यक रूप में भौकिता का नकार होती है?

नहीं. एकदम नहीं. पर भौतिक आकांक्षाओं में जरूर वह निगल जा सकती है.

एक अशिष्ट प्रश्न! आपके विषय में बाहर यह प्रसिद्ध है कि आप कहते यह हैं जो आपने ऊपर कहा है पर हैं बहुत अर्थलोलुप. बल्कि कुछ लोग लोग तो यहां तक कहते हैं कि आप क्योंकि भौतिक स्तर पर कुछ प्राप्त नहीं कर सके उसी कुंठा में से आपने यह अपरिग्रह का आभास देने वाला दर्शन गढ़ा है.

कहने वाले बिल्कुल ठीक कहते हैं. कारण मेरे अपरिग्रह दर्शन के पीछे अवश्य वह हो सकता है जो वह बताते हैं. लेकिन मेरे खुद के झूठे होने से दर्शन तो झूठा नहीं हो जाता.

आपके विचार से पिछले पचास वर्षों में साहित्यकारों में साहित्य के प्रति निष्ठा कम हुई है और साहित्य के माध्यम से कैरियर बनाने का लालच बढ़ा है. इसे क्या आप अधिक खोलकर कहना चाहेंगे? साथ ही यह कि कौन लोग हैं जो इस व्यामोह से बच पाये हैं?

लिखनेवालों और लिखाई के महत्त्व को जाननेवालों की दो अलग किस्में हैं. महत्व का संबंध कुछ जुड़ जाता है बाजार से और समाज से. बुद्धिमान व्यक्ति उस पहल के बारे में बेध्यान नहीं रह सकता. इसलिए वह आसपास अपने समूह चाहता है और एकाकिता की व्यथा से छुटकारा पा लेता है. पर साहित्य एक का एक के साथ संबंध उपजाता है और गहरा करता है. सामुदायिकता उसके लिए असंगत है. इसलिए मैं मानता ही नहीं, अनुभव से सिद्ध भी पाता हूं कि कहानी के बारे से जितने भी आंदोलन चले, उससे जुड़कर किसी ने अपना या साहित्य का हित नहीं किया, अहित ही साधा. उनकी रचनाओं में जैसे मांग बैठने लगी कि वे बाहर स्वीकृत और प्रशंसित हों. उसी मात्रा में वे रचनाएं अपने कर्त्ता के अंतरंग से दूर होने लगीं और मानो, 'फॉर इफैक्ट' लिखी जाने लगीं. दूसरे शब्दों में उनमें सच के साथ असच और सहज के साथ असहजता का मिश्रण हो जाने लगा. आंदोलनों के और उनके ध्वजाधारियों के अलग-अलग नाम गिनाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए. ध्वजा हाथ में लेने की आवश्यकता के मोह में क्या सीधे ही असाहित्य नहीं देखा जा सकता?

मुझे लगता है कि समूह की सत्ता तो चलती ही है, वर्गवाद, जातिवाद है, समाजवाद है, राष्ट्रवाद है. इनके बीच में जो खो जाता है, वह है मनुष्य. मैं मानता हूं कि साहित्य उस मनुष्य की प्रतिष्ठा के व्रत से टूट नहीं सकता. सामूहिकता के चक्कर में फिर-फिर उसे लाने की कोशिश करने से राजनीति को उस पर प्रधानता मिलने का यत्न होता है जो कभी सफल नहीं होता. राजनीति तत्काल में इतनी लिपटी रहती है कि उसके पास अपनी कोई दिशा नहीं रह जाती. दिशा उसको प्राप्त होती या हो सकती है साहित्य से. इसलिए वे लोग जिन्होंने साहित्य से तत्काल में ठोस सफलता भी प्राप्त की, उनको बधाई है. लेकिन तत्काल के साथ साहित्य का संबंध तर्कशः मीठा हो नहीं सकता. यह केवल इस कारण कि साहित्य पर भवितव्य का खिंचाव रहता है और यथास्थिति का भोग उसके भाग्य में नहीं है.

इसमें आप देख सकेंगे कि जो साहित्य के क्षेत्र में विज्ञ बनकर आये वे साहित्य को बल नहीं पहुंचा सके. कारण, साहित्य को उन्होने अपने को नहीं दिया, साहित्य में से अपने लिए कुछ पा लेने की ही चेष्टा में उनका लिखना होता गया. इसलिए उस क्षेत्र की विज्ञता से मुझे सदा डर लगता रहा है. तत्संबंधी अज्ञता में मुझे अधिक संभावनाएं दीखती हैं और मैं कह सकता हूं कि चर्चाओं और गोष्ठियों में से [illegible]

प्रेरणा और विचक्षणता प्राप्त की है, उन्होंने सारगर्भ इतना नहीं लिया है जितना अलग-थलग दूर-दूर रह जाने वाले जिज्ञासु जन दे सके हैं.

सुना है आप आजकल अपना बहुत-सा समय शतरंज को देते हैं. कारण क्या यह है कि आपके पास कहने या करने को कुछ भी और नहीं बचा है?

शतरंज शुद्ध बचाव है. बचाव उस जबर्दस्त उलझन से, जिसमें मैं अपने को घिरा पाता हूं और शतरंज में भाग छूटता हूं. उलझन तो कहने और करने के लिए अनूठी पूंजी भी हो सकती है. हां, शर्त यह कि उसके उपभोक्ता कम और दृष्टा अधिक हो चलें. शायद वही नहीं हो पा रहा. इसलिए लिखना-करना स्थगितप्राय है.

उलझन आपकी व्यक्तिगत है या चारों तरफ के परिवेश—सामाजिक, राजनीतिक में जो एक जड़ता और ह्रास दीख रहा है उसके कारण?

उलझन का पूरा निदान हाथ आ जाये तो कट ही न जाये. इमर्जेंसी के वक्त मैं इंदिराजी से घोर असहमत था. यह जैसे उन पर वैसे और सबके समक्ष भी प्रगट करता गया पर प्रशंसक उनका जैसे तब था वैसे अब भी हूं. मोरारजी और जयप्रकाश दोनों गांधी-भक्त हैं पर मेरी गांधी-भक्ति उनका भी समीक्षक होने से मुझे रोक नहीं पाती. इस तरह मानसिक रूप से मैं बेहद विरोधों के बीच जीता हूं. कैसे झेल रहा हूं उस सब अंतर्द्वंद्व को, मैं नहीं जानता. शायद शतरंज उस सबके लिए बड़ा सहारा है. बार-बार सोच उठता है कि उठूं और सबको उपन्यास में बांधकर बिखेर दूं पर दो-एक मिनट उस पहाड़ से अंधियारे को सामने करके देखता हूं तो घबरा जाता हूं और शतरंज की तरफ चल उठता हूं. अपने से अकेले मुझसे कुछ हो नहीं पाता. 'जयवर्द्धन' लिखा गया तब जवाहरलाल जीते थे. तब भी मन में घुमड़न चलती थी. एक साहब आये और जिद बांध बैठे कि कुछ लिखना होगा. जवाहर लाल के प्राइम मिनिस्टर स्तुति की बात दूसरी, वैसे उस नाम को मुंह तक कैसे लाया जाये, पर मन की उस हालत में उस नाम के बिना लिखाया कैसे जाये. इसलिए सन दो हजार आगे उसे डाल दिया और किताब शुरू हो गयी. कौन जाने कोई नया जिदवाला आ टकराये और जो चीज भीतर व्याधि बनकर परेशान कर रही है बाहर किताब की शक्ल में आकर वह शक्ति का उपकरण बन जाये. अब यह सब उलझन कितनी वैयक्तिक है कितनी निर्वैयक्तिक, मैं नहीं जानता. बाहर के और अंदर के सब सवालों से अलग कहानी उपन्यास गढ़गढ़ाकर कैसे प्रस्तुत किये जा सकते हैं मुझे नहीं मालूम. खुद मुझसे तो ऐसा नहीं हुआ. सच मानिये, प्रेम की समस्या और राष्ट्र की समस्या मुझे दो अलग-अलग नहीं लगीं. न कुछ मेरे लिए सत्य हो सकता है वह जो या तो नितांत मेरा है या नितांत मेरा नहीं है. सत्य एक साथ जगतिक और आत्मिक हो, उस सत्य को ढूंढ लेना चाहता हूं इस अपार और अथाह द्वंद्व में जो मेरे भीतर-बाहर चारों ओर है. आप देखते ही हैं, मुझमें भरा गहरा अंतर्विरोध है. द्वैतहीन अद्वैत भला हो कैसे सकता है. हो तो वह होने से पार है. यानी वह सब लेखन और आलेखन झूठ है जिसमें तनाव नहीं है, द्वंद्व की पीड़ा नहीं है. शांत समाधान जो दे डालता है वह शायद उसी कारण सच नहीं रहता और मुझे लगता है कि वह लेखक की सचाई में से आया हुआ नहीं हो सकता.

एक बात कहूं, साहित्य से और कहानी से वह एकदम दूर की बात है. भारत में आज तरह-तरह का अनैक्य फूट रहा है. जनता पार्टी फूटेगी और सब फटेगा. नहीं आ सकता ऐक्य वहां पर, जहां उसे ले आने का प्रयत्न किया जा रहा है. एकता आयेगी या तो बाहर के आक्रमण के उत्तर में या उस भीतर जाग पड़ सपने में से जो सारे यथार्थ से प्रबल हो जाये. इसलिए मेरा मन यथार्थ से उचटकर सपने में जाता है तो मुझे बुरा नहीं लगता बल्कि कभी-कभी जो होता है कि सपने से मैं ऐसा जुड़ जाऊं कि पैसेवाला सब यथार्थ अयथार्थ हो जाये.

'अस्तिकता ने मुझे सदा के लिए निकम्मा बना दिया'

दूसरा साक्षात्कार : सुरेश उनियाल द्वारा

'प्रेम विवाह में बंद नहीं हो सकता!'

कुछ समय पूर्व 'धर्मयुग' में आपके 'पत्नी और प्रेयसी' संबंधी वक्तव्य को लेकर एक लंबी-चौड़ी परिचर्चा चली, जिसने लगभग विवाद का रूप ले लिया. फिर भी मुझे लगता है कि उस परिचर्चा में भाग लेने वाले लेखक आपकी बात को पूरी तरह समझे बिना ही वक्तव्य दे रहे थे.

मुझे समझने की आवश्यकता ही उनके लिए क्या थी! वे अपनी समझ की बात कह रहे थे, इतना काफी है.

मैं विवाह संस्था में विश्वास रखता हूं, लेकिन वह संस्था समाज ने अपनी सुव्यवस्था के लिए नाना प्रयोग करने के अनंतर अपने बीच स्थापित की. किंतु मनुष्य को समाज ने नहीं, ईश्वर ने उपजाया है. अपने भीतर जो कुछ सामग्री लेकर मनुष्य सृष्ट हुआ है, वह उसे प्रकृति और परमेश्वर से प्राप्त हुए हैं. इसमें सबसे मूल्यवान तत्व है प्रेम. वह प्रेम-विवाह में बंद नहीं हो सकता. कोशिश की जाती रही है, पर यह संभव नहीं हुआ है. प्रेम के कारण समाज व्यवस्था सदा गड़बड़ाती रही है, और यह अनिवार्यतः टाली नहीं जा सकती. जाति, राष्ट्र, धर्म के दायरे बने हैं और आशा की जाती है कि उसकी मर्यादाएं सुरक्षित रहेंगी. पर अंतर्जातीय, अंतर्धर्मीय, अंतर्राष्ट्रीय प्रेम संबंध हुए हैं, और कभी यदि मनुष्य को, राष्ट्र को या जगत को मुक्ति प्राप्त होगी तो वह उस प्रेम की प्रेरणा को अंगीकार करने के द्वारा ही हो सकेगी. इसलिए मैं कहता हूं और लिखता आया हूं कि पत्नी या पति में प्रेम समाप्त नहीं हो सकता. प्रेयसी और प्रेमी की स्थिति या उपस्थिति सदा अनिवार्य रहती चली जायेगी. परिपूर्ण प्रेम का नाम मेरे निकट ब्रह्मचर्य है. मुझे प्रतीत होता है कि मर्यादाओं पर बाहर से अत्यधिक बल डालने से व्यभिचार की समस्या और संभावना जितनी बनती है, प्रेम को मुक्त मानने के द्वारा समस्या की उत्कंठता कम होगी और वैसी घटनाएं भी कम होंगी. प्रेम स्वयं अपने भीतर से मर्यादा की सृष्टि करता है और यदि हम समाज में संस्कारिता का विकास देखना चाहते हैं तो उसी मर्यादा के महत्व को उत्तरोत्तर स्थान देना होगा जो अंतस्थि प्रेम में से व्यक्तित्व को प्राप्त होती है. मनोविज्ञान में जाने की जरूरत नहीं है, यह अनुभव करने के लिए कि बलपूर्वक अपनाया गया संयम विस्फोट की संभावना ही पैदा करता है.

अभी आपने कहा है कि परिपूर्ण प्रेम का नाम मेरे निकट ब्रह्मचर्य है. मैं समझता हूं आपकी यह बात थोड़ा विस्तार चाहती है.

जिसको हम प्रेम करने लगते हैं वह उपलक्ष्य होता है, प्रेम का लक्ष्य सदा पार रहता है. इसलिए देखा जाता है कि प्रेमी और प्रेमिका यदि भोग को एक बार प्राप्त हो जाते हैं तो प्रेम वहां से भाग छूटता है और अपने लिए नया आसरा ढूंढ़ता है. प्रेम के लिए आवश्यक है कि बीच व्यवधान हो और लक्ष्य के प्रति कामना जग सके और चल सके. प्राप्त के प्रति संबंध कर्त्तव्य का हो चलता है, प्रेम सदा अप्राप्त और अप्राप्य की ओर बढ़ता है जो सदा-सदा के लिए अप्राप्त और अप्राप्य रहने वाला है, वह है परमेश्वर. प्रेम का असल और अंतिम गंतव्य वही है. प्रेमी और प्रेयसी में मानो क्षण के लिए उसी की झलक मिलती है और इसलिए प्रेमाकर्षण अनिरोध्य प्रतीत होता है. जो सदा-सर्वदा अप्राप्य; अतः काम्य रहने वाला है, उसके प्रति जो चर्या अर्पित होगी वही ब्रह्मचर्य है. वैराग्य संयम और विग्रह इत्यादि की भाषा ब्रह्मचर्य के यथार्थ को पाने में मुझे बहुत ओछी मालूम होती है. वह मुक्त है, आनंदमय है, जो कि है. प्रेम उसी तल्लीनता का नाम है. उसे किसी बाहरी तपश्चर्या आदि से जोड़ना मानो चिन्मय को निष्प्राणता की साधना द्वारा पाने के प्रलोभन में पड़ना है. प्रेम में जीवन का निषेध नहीं है,

'सेक्स को मैं आध्यात्म के बाद सबसे पवित्र और महत्व का विषय मानता हूं?'
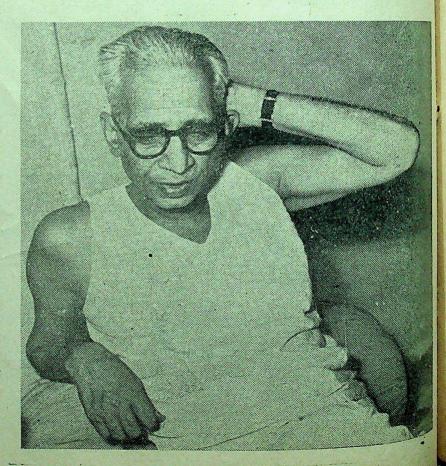
प्रत्युत उसकी पूर्णता है.

कभी अश्लीलता के प्रश्न पर आपने विचार किया है?

हां. काफी पहले यह प्रश्न मेरे सामने इस रूप में आया था कि एक लंबे लेख में मेरी 'ग्रामोफोन रिकार्ड' कहानी को अश्लील बताया गया था. अपने प्रति लगाये गये अभियोगों की मैंने शायद ही कभी सफाई दी हो. पर अश्लीलता पर मुझे लिखना हुआ था. नग्नता से अश्लीलता का कोई संबंध नहीं दीखता और न किसी शरीर व्यापार से उसका संबंध है. अश्लीलता भीतर मन के छल में है. यहां चावड़ी बाजार पहले 'रैडलाइट एरिया' था, कोठों पर वेश्याएं आवश्यकता से अधिक ही बनाव-शृंगार करके बैठती थीं. कपड़ा शरीर पर परिमाण से कम नहीं, ज्यादा ही होता था. पर मुझे ऊपर देखते संकोच होता था, किसी सामाजिकता के कारण नहीं, दृश्य की अश्लीलता के कारण. मध्यप्रदेश के वन प्रांतर में नग्नप्राय गोंड युवतियों को भी देखने का अवसर आया. वहां तनिक भी जुगुप्सा का भाव मैंने अनुभव नहीं किया.

सेक्स को मैं आध्यात्म के बाद सबसे पवित्र और महत्व का विषय मानता हूं. मेरे मन में सदा विस्मय रहा कि ईश्वर की ओर से सृष्टि का मंत्र संभोग की क्रिया में निहित है. व्यभिचार शब्द कहकर हम एक प्रकार से शक्ति का सामना लेने से अपने को बचा लेना चाहते हैं. आखिर विवाह के द्वारा उसी संभोग को हम एक संस्कारी अनुष्ठान का रूप देते हैं. अर्थात् इस विषय में साहसपूर्वक हमें वैज्ञानिक रुख अपनाना होगा. अपनी परिपक्वावस्था में गांधीजी के ब्रह्मचर्य के प्रयोग अनेक गांधी अनुयायियों और नीतिवादियों को असह्य हुए थे. गांधी तब नग्नप्राय होकर रहते थे. एक षड्यंत्र-सा है कि गांधी के उस रूप को प्रकाश में न आने दिया गया. पर मैं मानता हूं कि उनकी महात्माई की असली कुंजी वहां मिलेगी.

तो इसका अर्थ यह हुआ कि स्त्री के प्रति पुरुष में तथा पुरुष के प्रति स्त्री में जो आकर्षण होता है, वह शाश्वत नहीं है. उसे दबाया या कम किया जा सकता है.

पुरुष जब तक है स्त्री के आकर्षण से उत्तीर्ण नहीं हो सकता. यही बात स्त्री के संबंध में माननी चाहिए. यह उसी परस्पर आकर्षण का प्रतीक है जिस पर ब्रह्मांड थमा है. उपाय उस आकर्षण को जीतने का, सिवा अर्द्धनारीश्वर के आदर्श के दूसरा नहीं हो सकता. नर, नारी को अपने भीतर उतार ले, तभी वह इस आकर्षण से उत्तीर्ण इस कारण हो जायेगा कि उसे बीच में प्रतीक की आवश्यकता नहीं रह जायेगी. सीधे परमात्माकर्षण उस पर काम कर रहा होगा. धरती से अमुक ऊंचाई पर पहुंचकर भारहीनता प्राप्त हो जाती है और कुछ अनंतर अगर चांद के निकट पहुंचें तो उसका गुरुत्वाकर्षण काम करने लगता है. इसीलिए मैं फिर कहता हूं कि प्रेम में व्यक्ति अपने को छोड़ दे तो वह अनायास ब्रह्मत्व को प्राप्त होगा. काममय प्रेम कभी अनुपस्थित नहीं होता. इसलिए काम की निंदा से मैं सदा बचता रहा हूं. हां, प्रेम अवश्य निष्काम हो सकता है. मेरी रचनाओं में भोग का इसीलिए परिहार जब नहीं मिलता है तब उस भोग में मेरी ओर से प्रतिष्ठा त्याग की ही की जाती है. 'त्यागपत्र' क्यों पाठक को बांध पाता है, इसीलिए न कि पति को छोड़कर कोयलेवाले के साथ माने गये व्यभिचार में रहती हुई भी उसमें विसर्जन की दीप्ति दीख पाती है. व्यसनासक्ति का आरोप पाठक उस पर नहीं डाल पाता. दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सतीत्व के आदर्श को मैंने पातिव्रत्य से निरपेक्ष देखा है और पाठक उस प्रसूती से असहमत कितना भी हो, अप्रभावित नहीं रहता. कुल मिलाकर यह कहना होगा कि सेक्स के संबंध में हमें स्वस्थ और साहसिक रुख अपनाना होगा. पारंपरिक दृष्टिकोण उस विषय के साथ न्याय करने में अपर्याप्त सिद्ध हो रहा है.

साहित्यिक कृतियों के फिल्मांकन को लेकर समय-समय पर काफी विवाद पैदा होते रहे हैं. 'शतरंज के खिलाड़ी' का अंत परिवर्तित करने पर कई लोग काफी नाराज भी हुए हैं. क्या आप 'त्यागपत्र' के फिल्मांकन से संतुष्ट हैं?

मैंने वह फिल्म देखी नहीं है. फिल्म की दुनिया का मुझे कोई अता-पता नहीं था. और न ही है. दिन हुए, चेतन आनंद ने कहा कि तुम्हारी त्यागपत्र पर फिल्म बनाने का मैंने निश्चय किया है. मैंने कहा, 'आठ-दस लाख रुपया अपना डुबाना हो तो यों ही क्यों नहीं समुद्र में फेंक देते! त्यागपत्र फिल्म के लिए नहीं है.' लेकिन उन्होंने अपना दृढ़ निश्चय बताया. उस समय जहां मैं ठहरा था, वहां पहुंचने के लिए खासे अंधेरे में से जीना चढ़ना होता था. वह जगह चेतन आनंद को 'त्यागपत्र' की कहानी के कोयले वाले की जगह के लिए बेहद उपयुक्त जंची और मानो निश्चय और प्रबल हो गया. किंतु एक ऊंचे आदर्श की फिल्म में उन्हें कभी गहरा घाटा हो चुका था. बोले, 'घाटे की पूर्ति के लिए एक सस्ती फिल्म बना लें. फिर 'त्यागपत्र' लेंगे. क्योंकि, इसके लिए मार्किट देश में नहीं, इंटरकांटीनेंटल हो सकेगा.' बात आयी-गयी हो गयी. उसके बाद गुरुदत्त के प्रतिनिधि आये और फिल्म के लिए मेरी पुस्तक मांगने लगे. मैंने यह कहकर उन्हें बैरंग लौटा दिया कि पहले मुझे प्रमाण मिलना चाहिए कि पुस्तक के साथ न्याय हो सकेगा. संयोग कि गुरुदत्त स्वयं दिल्ली आये तो मैं बंबई में बैठा था. फिर तो उनका देहांत ही हो गया. अब 'त्यागपत्र' पर बनी फिल्म का किस्सा ये कि बंबई में मुझे फोन मिला. मैंने कहा, मुझसे मिलने से कोई लाभ नहीं. मैं आपको नहीं जानता.' अगले दिन अरविंद (माधुरी के तत्कालीन संपादक) को साथ लेकर वो महाशय उपस्थित हो गये और ऐसे 'त्यागपत्र' की कहानी फिल्म के लिए उनकी बन गयी. आगे मुझसे उसका जैसे कोई सरोकार नहीं रह गया. सिनेरियो की स्क्रिप्ट तक मैंने नहीं देखी. सुनते हैं, फिल्म पूरी हो चुकी है. एक-आध जन मुझे बता गये हैं कि पुस्तक के साथ अन्याय नहीं हुआ है, पर मुझे भरोसा हो नहीं पाता.

ऐसा क्यों ?

फिल्म शरीर के माध्यम से कथा को प्रस्तुत करती है. मैं अपने लिखने में उस माध्यम का कम से कम सहारा लेता हूं. यह साहित्य और फिल्म में गहरा व्यवधान डाले रखता है. मालूम होता है, बीच में कुछ आर्थिक प्रपंच आ गया है और बनी-बनायी 'त्यागपत्र' की फिल्म प्रदर्शित नहीं हो पा रही है. यह मेरा उस तरफ ध्यान नहीं है और फिल्मी जगत से मैं उतना ही दूर और कोरा हूं जितना था.

"दिगंबरता को मैं सबसे बड़ी उपलब्धि मानता हूं!"

कहानी या उपन्यास लिखने की प्रेरणा जीवन से सीधे मिलती है या उसके प्रति निर्मित अपने दृष्टिकोण से?

जीवन का भोक्ता नहीं लिखता, दृष्टा ही लिख पाता है अर्थात भोग से निवृत्ति सृजन के लिए आवश्यक है.

यह भोग से निवृत्ति क्या है?

निवृत्ति इंकार नहीं है, वह स्वीकार है तब का, जब आप उससे उपराम पा चुके हैं.

पर यह निवृत्ति सृजन कैसे कराती है?

भोग के दर्शक हैं, इसलिए उसे वर्णन और चित्रण में लाने की क्षमता आपको प्राप्त हो जाती है. देखने के लिए कुछ अंतर चाहिए. भोक्ता और भोग में वह अंतर रह नहीं जाता, इसलिए भोग का अनुभव, अनुभव रहता है, अनुभूति नहीं बनता. सृजन के लिए अनुभूति सहायक होती है. अनुभव देश-काल से बंधा है, अनुभूति उत्तीर्ण है और मुक्त है. अनुभूति आत्मपरक है, यद्यपि अनुभूत अपने से तनिक अलग भी रहता है.

क्या यह सत्य है कि एक कांग्रेस कार्यकर्त्ता के रूप में आपने अपना जीवन आरंभ किया?

हां, यह सत्य है. अगर विवाह से पहले के जीवन को जीवन कहा जाये.

परंतु आपने यह सक्रिय राजनीति क्यों छोड़ दी?

इसका जिक्र 'मेरे भटकाव' में आ जाता है. सन् 1930 में 'नौजवान भारत सभा' दिल्ली में बनी और 'नौजवान भारत सेना' के एक जुलूस में इस सेना के अनेक युवकों पर लाठियां पड़ी और कुछ उसमें मर तक गये. मैं उनका नायक था. इसलिए पंक्ति में नहीं था. अलग से चलने की सुविधा थी. नतीजा कि मैं उस लाठियों के हमले से एकाएक बचा रह गया, पहला लाठीवाले सिपाहियों का दौर निकल गया, तब कश्मीरी गेट के डाकखाने के सामने घास पर खड़े मुझ पर सिपाहियों की निगाह पड़ी. दो-चार लाठी के वार मुझ पर पड़े और मैं आसानी से वह सह गया, लेकिन मन में आया कि अगर मैं हटा नहीं, भागा नहीं तो सिर्फ इसलिए कि पैर जैसे जम गये थे, यानि मैंने देखा कि अंदर मेरे भय था. मैं मानता था और मानता हूं कि अहिंसा की लड़ाई में भय के लिए जगह का नेतृत्व ले सकने के आयोग्य हूं. भय जीता जा सकता है सिर्फ प्रेम से. वह जीत पाऊंगा, तब राजनीति के प्रति मेरा यह भाव खत्म हो जायेगा.

क्या कभी गांधीजी ने आपको कांग्रेस एंव खादी प्रचार का कार्य करने के लिए प्रेरित किया था?

उनका आह्वान सबके लिए हुआ कि समग्र ग्रामसेवक बनो. विचार मुझे पसंद आया. उस संबंध में मैं गांधीजी से मिला था, लेकिन गांधीजी ने देख लिया कि मैं स्वयं अपने विचारों से खाली नहीं हूं. इसलिए फिर तनिक भी उस ओर मुझे प्रेरणा देने की उन्होंने चेष्टा नहीं की. गांधीजी की महत्ता की छाप मुझ पर यही है कि वे किसी को अपना अनुगत देखना नहीं चाहते थे.

गांधीजी से क्या कभी आपने अपने लिए कर्तव्य पूछा था और क्या उन्होंने आपको कुछ परामर्श दिया था?

नहीं. न मैंने सीधा कर्तव्य मांगा, न कभी उन्होंने देना चाहा. पर एक बात मार्के की याद आती है. मैंने कहा, 'बापू, आपसे डर लगता है.' गांधी एकदम बोले, 'तभी तो मैं बचा हुआ हूं.' आशय कि भय का भी एक रचनात्मक उपयोग है और उन्होंने भय निकालना नहीं चाहा, बल्कि जैसे उसे उचित माना.

अब मैं दूसरे प्रश्नों पर आता हूं. क्या आपने जीवन में व्यथा की गहन अनुभूति की है?

गहन जाने किसे कहते हैं? व्यथा से मुक्त तो एक क्षण के लिए भी शायद ही हो पाया हूं. शब्द चलता है—संत्रास. हां, संत्रास तो उसे कह नहीं सकता. शायद कारण हो कि व्यथा की गहनता पर्याप्त होने पर ही उसे संत्रास की संज्ञा मिल सके.

पर यह व्यथा नितांत व्यक्तिगत है या सामाजिक या अन्य कोई?

व्यथा संभव परस्परता के आधार पर ही हो सकती है. अन्य और इतर की इसमें स्वीकृति आ जाती है. संबंध से अलग तो समाज की स्थिति कोई है नहीं, इसलिए सामाजिक या वैयक्तिक आदि विशेषण उसके लिए अनावश्यक हैं.

क्या आपकी भोगी हुई व्यथा ही आपके साहित्य में आयी है?

नहीं तो और क्या आया है! किंतु भोगा हुआ सब स्मृति का अंतराल पाकर सहानुभूति परक हो जाता है अर्थात वह निजता से मुक्त हो जाता है.

परंतु आपने अनेक बार कहा है कि मेरा साहित्य चिंतन से निकलता है. फिर ऐसा क्यों?

ऊपर जो अंतराल कहा गया है, उसका आशय यही है कि अनुभूत के साथ तब चिंतन अथवा दर्शन का नाता बन जाता है, तादात्म्य टूट जाता है. सहानुभूति परक होते ही व्यथा की प्रकृति बदल जाती है. वह जैसे आत्मिक बन जाती है. व्यथा को आत्म से जोड़ना उचित नहीं लगेगा, पर मैं, आध्यात्मिक [illegible] जिसे कहा जाता है, उसे इसी [illegible] प्राणों की बेचैनी के अर्थ में लेता हूं.

क्या आपके कलाकार की मनोभूमि में दार्शनिक का पदार्पण अतिक्रमण की [illegible] नहीं है?

जहां तक मैं देख पाता हूं, नहीं है. [illegible] मैं मानता हूं कि मैं ढंग का कथा[illegible] नहीं हूं. मुझमें जानने की भूख अधिक [illegible] इसलिए मेरा लिखना जैसे प्रश्न [illegible] अवसान पाता है. मैं सुधारक हो [illegible] सकता उतनी निश्चिति मेरे पास नहीं [illegible]

आपके साहित्य में अनेक स्थानों पर ऐसा क्यों प्रतीत होता है कि आपके दार्शनिक ने आपके लेखक पर कब्जा कर लिया है?

कब्जा किस दिन नहीं था! जिस जैनेंद्र को लेखक पाया गया, तब भी वह उस कब्जे से मुक्त नहीं था.

क्या यह सत्य है कि धन के अभाव के कारण आपका उसके प्रति अधिक मोह रहा है?

हां! और वह पक्ष की बात है.

आपने लेखन के साथ प्रकाशन का व्यवसाय क्यों अपनाया, जबकि आप देख चुके थे कि आपके स्वभाव के अनुकूल नहीं है.

बड़े बेटे दिलीप के कारण.

आजकल आप क्या लिख रहे हैं?

कुछ नहीं.

आपके कुछ उपन्यास अधूरे पड़े हैं, क्यों?

दिलीप टाइपराइटर लेकर बैठ जाता था और कुछ लिखा ही लेता था. अब वह नहीं है और इसलिए सब ठप है.

आप 'दशार्क' नाम से जो उपन्यास लिख रहे हैं, वह कब तक पूरा हो जायेगा?

हां, दिलीप ने वह शुरू करा लिया था और कुछ एक परिच्छेद से हुए भी थे. पर वह वहीं के वहीं छूटे पड़े हैं.

आपका परकीयादर्शन क्या जीवन और साहित्य दोनों के लिए है?

दर्शन अगर दर्शन है तो एकांगी कैसे होगा?

आप अपने जीवन में आयी परकीयाओं के बारे में कुछ बतायेंगे?

विवाह में प्रेम बंद नहीं होता, नहीं हो सकता, यानी प्रेम मुक्त है और कोई सिवा पति-पत्नी के, उसके लिए अपात्र नहीं है. पति-पत्नी अपात्र बनते हैं तो केवल इस कारण कि उन्हें परस्पर भोग की अनुभूति प्राप्त है, अर्थात इसी वैध भोगानुभूति के कारण प्रेम में वहां अमुक्त बनने की संभावना हो जाती है.

मेरे प्रश्न का सीधा जवाब नहीं मिला.

श्रीमती और श्री जैनेंद्र तीसरी पीढ़ी के साथ

सीधा-टेढ़ा जो कुछ है, यही जवाब है.

फिर भी, आप क्या बतायेंगे कि परकीया प्राप्ति की लालसा एवं प्राप्ति की अनुभूति क्या होती है?

परकीय शब्द में भाव है—अप्राप्त और दुर्लभ का. इसलिए उस प्रेम में वियोग-विरह की बेचैनी बनी रहती है. यह बेचैनी प्रेम का लक्षण है, पर याद रखना चाहिए कि प्रेम में परकीय कुछ रह नहीं जाता है. परकीय शब्द मात्र वहां रूढ़ और समाजिक होता है, वास्तविक नहीं होता, अर्थात प्रेयसी उस दुर्लभता के कारण पत्नी से अधिक स्वकीय हो जाती है.

क्या एक लेखक के रूप में आपने ऐसा पाया कि अनेक परकीयाएं आपसे जुड़ना चाहती हैं?

यह कैसे कहा जाये कि अगर चाहती हैं तो उस चाहत के कारण ही जुड़ी हुई नहीं है.

पर लेखक को छोड़िये, व्यक्ति के रूप में कितनी परकीयाएं आपके जीवन में आयी हैं?

अपना कच्चा-चिट्ठा आपके हाथ में दं तो क्यों?

शारीरिक प्रेम की स्वीकृति से आप बचना क्यों चाहते हैं? क्या उसमें कुछ लज्जा की बात है?

नहीं, काम को पुरुषार्थ मानता हूं और पुरुषार्थ मोक्ष की राह का. काम में लज्जा का तनिक भी प्रश्न होता तो मातृत्व और पितृत्व की संस्था समाज की आदि काल से धुरी बनी न रह सकती थी. मैं पिता बना, इस पर क्या मैं शर्म करूं? संख्या पांच पर परिवार-नियोजन की ओर से आपत्ति चाहे हो, पर पिता शरीरधारी ही हो सकता है. इसलिए शारीरिक तल पर प्रेम उतरे तो उसमें पुरुष होने का अर्थ देखा जा सकता है, अर्थात उसमें तिरस्करणीय कुछ नहीं है, पर उसके बखान की लालसा को मैं रति-स्मृति की संज्ञा दूंगा और वह अनावश्यक होना चाहिए.

आप जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि क्या मानते हैं?

मैं दिगंबर जैन हूं, लेकिन दिगंबर जैनी मुझसे बेहद असंतुष्ट हैं. पर जाने

नवलेखन : तब और अब

'जब मेरा लिखना शुरू हुआ' इतना तो है ही कि मैं निपट कोरा और नया था. साथ अबोध भी था. उस समय लिखने वाले कम थे. स्पर्धा उतनी नहीं थी, न साहित्यिक गोष्ठियों का रिवाज था. इसलिए अबोधपन मुझे ज्यादा बाधा बनता नहीं लगा और अपने लिखने के संबंध में मैं अपेक्षाकृत निश्चिंत रह सका था. आज नवोदितों की कठिनाई इस माने में बढ़ गयी है कि साहित्य-चर्चा खूब होती है और तरह-तरह के विचार उसे अनिश्चय में डाले रख सकते हैं. वह अपने लेखन के बारे में लगभग बाध्य है कि सचित रहे, निश्चिंत हो ही न सके. इस कारण आज के लेखन में परिज्ञान की और कुशलता की हमारे जमाने की अपेक्षा कहीं अधिकता मिलेगी. मैं अगर इतना अधपढ़ रहा कि अपढ़ तक अपने को मान सकूं तो इससे मेरी निश्चिंतता में कोई अंतर नहीं आया. लेकिन आज अधिकांश लेखक-लेखिकाएं प्रायः शिक्षित हैं. यह उसके पक्ष में जितना हितकर है, मुझे प्रतीत होता है कि अहितकर उससे अधिक सिद्ध हो रहा है.

अब लेखन का खुलापन और अनायासपन कम हो गया है. निपुणता की बारीकी बढ़ गयी है. शिल्प की दृष्टि से हर किसी को मानना पड़ेगा कि नवलेखन पूर्ववर्ती परंपरा से बहुत आगे है, कहीं बढ़िया है. वह नफीस है, सुघड़ है, साहसिक और सूक्ष्म है. लेकिन मुझे डर है कि कथ्य उसका क्या उतना मूल्यवान और ध्येयपरक है? आदर्श तो यथार्थ में तिरोहित हो ही गया है. और इस घटना पर रुष्ट होने का भी कोई कारण नहीं है. अधर में लटका आदर्श अधिकांश बौद्धिक मात्र रहकर जीवन में ग्रंथियां उत्पन्न करता है. उससे छद्म और दंभ पैदा होता है. किंतु ऐसा कुछ तो आवश्यक है ही जिसकी जीवन पर कशिश अनुभव हो और परिणाम में एक उत्कर्षण की अनुभूति मिलती रहे.

साहित्य, जो आज के नवलेखन में प्राप्त हो रहा है, भीतर की परतों को बहुत कुछ खोलकर दिखाता है. तरह-तरह से आपको आगाह करता है और आपकी आंख खोलता है, लेकिन आपको अपने से उठा देने और भीतर उन्नयन जैसा कुछ अहसास देने की क्षमता खो दे रहा है. मूल्य निष्ठा यदि आज बिखर रही है तो उसका भी लाभ हो सकता था, अगर नये मूल्यों की तलाश उसकी जगह लेती. ठीक है कि गतानुगतिक मूल्य अपर्याप्त पड़ते हैं, उनमें निरंतर संशोधन की आवश्यकता होती है, किंतु मात्र उनका विघटन नकार-निषेध का भाव उत्पन्न कर देता है. और ऐसा साहित्य रचनात्मक नहीं, समीक्षात्मक होकर रह जाता है.

नवलेखन में मुझे कुछ बहुत ही मूल्य और महत्त्व की रचनाएं मिली हैं, इसलिए यह नहीं मान लेना चाहिए कि नवलेखन की गठरी में सब माल एक जैसा है, किंतु अधिकांश नकार का स्वर प्रधान है और इसमें जायका भी अधिक माना जाता है.

हां, अब आकर नये लेखक की कठिनाइयां बढ़ गयी हैं. उनकी संख्या ज्यादा है. स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा ज्यादा है. बाजार को पाने और पकड़ने की होड़ तीखी है. पर निराशा की आवश्यकता नहीं है. नये-पुराने शब्द में कुछ सार नहीं हैं. लेखक अभी मैं हर लिहाज़ में सर्वथा नया था, किंतु पहली किताब पर 'अकादमी पुरस्कार' की छाप क्या लगी कि उसी कारण उसी क्षण से पुराना बन गया. अर्थात नये-पुराने का समीकरण बढ़िया और घटिया से नहीं किया जाना चाहिए. साहित्य की कसौटी सांप्रतिकता नहीं है. □

■ जैनेंद्र कुमार

उन्हें कैसा लगेगा, जब मैं आपसे क...
हूं कि दिगंबरता को मैं सबसे ...
उपलब्धि मानता हूं. अभागा है वह ...
किसी के प्रति नग्न नहीं हो सका ...
परम सौभाग्यशाली वह है ...
अंतर्बाह्य रूप में जगतभर ...
प्रति नग्न अनुभव कर सकता है. न ...
भीतर है छिपाने के लिये, न बाहर ...
संशय है. लेखक व्यवहार की ...
के लिए तनिक आवरण स्वीकार कर ...
है तो इस कारण नग्नता एकाएक ...
को सह्य नहीं हो पाती, अन्यथा जो ...
से और यथाशक्ति तन से दिगंबर ...
वही जीवनमुक्त माना जा सकता ...

शतरंज आपका प्रिय खेल ... क्या शतरंज की एकाग्रता ... की एकाग्रता से मिलती ...

नहीं, नहीं मिलती. लिखना मानो ... को काटते-छीलते जाने का ... है. शतरंज में वैसा कोई कष्ट नहीं ...

शतरंज एक बौद्धिक खेल ... क्या इसी कारण आप ... बौद्धिक एवं नीरस बन गये ...

बुद्धि बराबर है रसहीनता के ... समीकरण मेरे लिए नया है.

एक शतरंज के खिलाड़ी के ... में क्या आप प्रेमचंद की कहा... 'शतरंज के खिलाड़ी' ... खेल की आत्मा के लि... पाते हैं?

बिल्कुल सही चित्रण है वहां, ... के खेल में सुध-बुध भूल जाने का ...

शतरंज के व्यसन से ... होने पर आप कैसा ... करते हैं?

यास्नाया पोलियाना वाले ताल्स्तॉय ... घर में अब तक मेज पर ज्यों के ... शतरंज के बिछे हुए मोहरे सुरक्षित ... हुए हैं. मार्क्स के बारे में सुना ... कि रात को अधूरी बाजी छो... सोये तो रात के सपने के ... में अगले सबेरे नयी सूझ लाके ... हारती हुई बाजी को उस चाल ने ... ले गये. यानी शतरंज के साथ ... लोगों के नाम जुड़े पाकर इस ... लज्जा से मैं कुछ बच जाता हूं ... विनोबा एक अर्से नियमित शतरंज ... रहे. उनसे मिलना हुआ, तब ...

छोड़ चुके थे. उन्होंने फिर आने को कहा तो मैंने कहा, "क्या आयें, शतरंज तो आप खेलते नहीं." विनोबा बोले, "यह बात है! आ आओ जमेगी शतरंज." यानी आप यकीन मानिये, शौक मजेदार है.

एक लेखक के रूप में क्या आपने इमर्जेंसी में अभिव्यक्ति का संकट अनुभव किया था?

मैंने कोई संकट अनुभव नहीं किया. लेखक की अभिव्यक्ति कानून से कैसे रुक सकती है? हो सकता है कि लिखा हुआ छपे नहीं, तो यह लेखक के आगे नागरिक की बात है. लेखक की अभिव्यक्ति का अधिकार क्या कोई राज्य उसे प्रदान करता है, जो छीन भी ले सकता है? जी नहीं, वह उसमें गर्भित है और लेखक जैनेंद्र को किसी तानाशाह पर बिगड़ने की ज़रूरत नहीं है, बल्कि लेखक की हैसियत से मेरे मन में अब तक इच्छा है कि मैं उन इंदिरा गांधी को समझ सकूं, जिन्होंने इमरजेंसी लगाकर अपनी सत्ता के निष्कंटक होने की कल्पना की होगी. अगर लिख रहा होता तो उन्हीं को यानी उन्हीं के प्रश्न को केंद्र में रखकर मैंने लिखा होता. पर यह हो इसलिए नहीं सका कि मैं उनके भीतर काम कर रहे अंतर्विरोधों पर सही पकड़ पा नहीं सका.

एक नागरिक के रूप में आपने इमर्जेंसी का विरोध किस प्रकार किया?

दिल्ली में पहली रैली, यानी जयप्रकाश से भी पहले हुई, रैली में तो स्मरण पत्र लेकर आचार्य कृपलानी के साथ भीमसेन सच्चर और मैं ही भूतपूर्व प्रधानमंत्री के पास गये. निर्माण-समिति और संघर्ष समिति दोनों का निर्माण मेरी अध्यक्षता में हुआ था. विनोबा भावे के आचार्य सम्मेलन में जाने से पहले इंदिराजी से मिलकर मैंने उन्हीं के समक्ष कहा था कि सत्ता की कार्यकारी शक्ति को आप सब कुछ न समझें. आवश्यक है कि उसमें एक नैतिक आयाम भी खुले. उन्होंने जानना चाहा कि "क्या मतलब ?" तो मैंने स्पष्ट कहा कि क्या आप समझती हैं कि दमन और दंड की नीति के उत्तर में आपको जनता की श्रद्धा प्राप्त होगी? आचार्य सम्मेलन में मेरा यही रुख रहा कि उसकी सिफारिश इमर्जेंसी उठाने के पक्ष में हो सके, परंतु रैली के जुलूस में लगे नारों तथा विरोध पक्ष के नेताओं का व्यवहार देखकर मुझे लगा कि आंदोलन का रूप गांधी का नहीं है और आचार्य कृपलानी से कहा कि इस प्रकार के संघर्ष की समिति को आप संभालें. निर्माण वाली समिति को चाहे मुझ पर छोड़ दीजिए. लेकिन मैं आपसे कहता हूं कि लेखक जैनेंद्र इंदिरा गांधी से घोर असहमत रहते हुए भी उनका अडिग प्रशंसक है.

ज्ञानपीठ पुरस्कार को लेकर हिंदी के एक प्रतिष्ठित लेखक ने लिखा कि आपने इस पुरस्कार को प्राप्त करने की चेष्टा की थी. क्या यह सत्य है?

चेष्टा की बात सत्य नहीं है तो इसलिए कि मुझमें उतनी पात्रता नहीं है. पैसा और वह एक लाख जितना मिले तो, मेरे साथ मेरे सारे परिवार वालों को खुशी होगी. पर रोना तो यही है कि चेष्टा जैसी चीज अंदर से निकल पाती ही नहीं है.

अज्ञेय को ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त होने पर आपकी क्या प्रतिक्रिया हुई?

अज्ञेय मेरे बहुत निकट रहे हैं. कुछ देर बाद मुझे लगा कि एक तरह मेरे छोटे भाई के ज़रिये कुछ मेरे पास ही आया है, पुरस्कार.

क्या आपकी दृष्टि में यह पुरस्कार लेखक की सृजनात्मकता एवं रचना-धर्मिता को सामाजिक स्वीकृति है?

प्रधान तो कलात्मक विशेषता की स्वीकृति ही है, पर मैं इधर ठोस व वस्तु को अधिक महत्व देने लगा हूं.
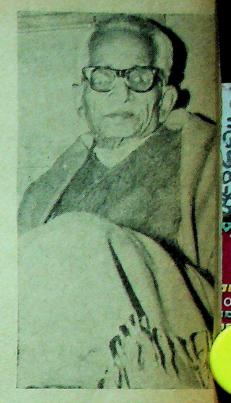
अभिव्यक्ति का अधिकार लेखक में गर्भित है

सुना है आप साहित्य-अकादमी के फेलो निर्वाचित हुए हैं. इसको आप क्या मानते हैं?

मालूम नहीं फेलो होने का मतलब क्या है. यह जरूर सुनता हूं कि सारे भारत-वर्ष से बहुत ही परिमित संख्या है. शायद ग्यारह के आस-पास. उस दृष्टि से इस सम्मान का पात्र बनना मुझे अपने लिए भारी लग रहा है. आगे उसमें कुछ ठोस प्राप्ति भी है या नहीं पता नहीं. पारिवारिक हैसियत से वह अधिक वास्तविक होनी चाहिए. □

अगले अंक में

जैनेंद्रजी की ताजा कथा-रचना

शार्क : ब्रह्म की भूमिका

जो उन्होंने सारिका के लिए विशेष रूप लिखी है

अज विलाप

○ लक्ष्मीनारायण लाल

वह देखो, वह! फुनगी चढ़ा आसमान, इमली के पेड़ अजामिल. बाप रे! पता नहीं इसकी लरिकाई जायेगी. बाइस-तेइस साल का पट्ठा जवान, मोंह दाढ़ी आयी हैं, देखो तनी, बंदर माफिक पेड़ पर चढ़ा है. सुनो, फसा चिचियाय रहा है...

वक्, चिचियाय नहीं गा रहा है—इमली के लेहुंचा जवान मोर पकरी पहुंचा. लेव, इमली के पेड़ पर से सारे भदर-भदर कूदकर भाग गये!

अपने दरवज्जे से लंका मिसराइन चिल्ला कर बोली—"अरे अज्जू, ओ अज्जू, दहिजरा कै पूत, कान फूटिगै का! अरे उतरिआव." पर कौन उतरता है. बंदर भगाने गया था अजामिल लंका मिसराइन ने भेजा था. जिस पेड़ पर अज्जू चढ़ने लगे, मजाल कि कोई बंदर उस पेड़ पर बैठा रह जाय. तीन साल जब बड़की आंधी आयी थी, पांडे जी के बगिया में न जाने लंगूर ने आकर डेरा जमा रखा था, तब उसे भगाने के लिए जी ने अजामिल को ही उकसाया था. लंगूर जिस डाल पर कर सोता, अज्जू चुपके से पहुंचकर उसकी पूंछ खींच
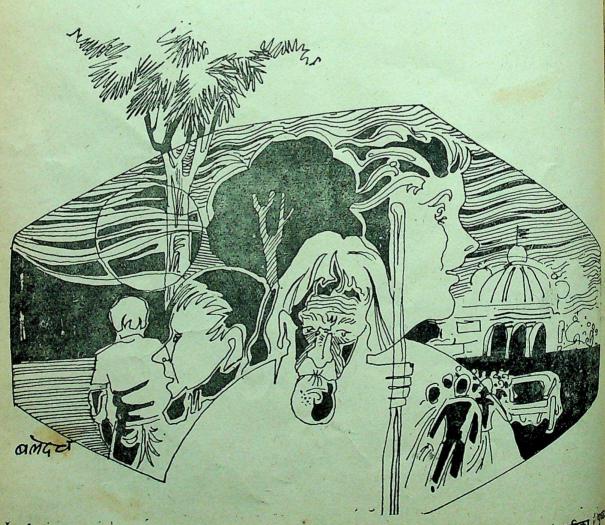
बेचारे लंगूर की नींद हराम हो गयी दुम दबाकर भागा.

इमली के पेड़ से नीचे कूदकर अज्जू पूरी तरह सांस भी नहीं ले सका था, कि रामरतन और झिनकू चौधरी दोनों उसकी ओर लपके. रामरतन ने कहा—"ले बेटा दौड़कर बाजार चला जा, अलीदीन दरजी के यहां से मेरे कपड़ा ला दे." झिनकू ने कहा—"अरे बेटा अज्जू, उधर से लपककर डाक्टर के यहां चले जाना, ई पुरजा देकर दवाई लेते आना. किसी और के कहने में मत आ जाना." अजामिल की माई ने दूर से कहा, "अरे अज्जू के मुंह में अभी तक दाना पानी नहीं गया है. पूरे गांव भर ने मानो मेरे बेटे को नौकर बना रखा है."

माई बोलती रह गयी. अजामिल किलकारियां मारता हिरन की तरह चौकड़ी भरता हुआ निकल गया. बाजार में अलीदीन के यहां से डाक्टर के यहां पहुंचा. दवाई लेकर जब चलने लगा तो डाक्टराइन ने कहा—"ओ रे, मेरी दो खाटें ढीली पड़ गयी हैं, ज़रा कस तो देना. खाटें खड़ी करते-करते अज्जू को बेतरह भूख लग गयी. गांव लौटा, तो दूर से ही शोर शराबा सुनायी दिया. चौधरी और रामरतन के घर उनके सामान रख जब वह अपने घर की ओर मुड़ा तो गांव के बीचो-बीच ठाकुर के अहाते में चकरघम्म मचा था. अज्जू के पिता पंडित सत्यप्रिय जी लोगों को डांट रहे थे—"अज्जू की सिधाई और भोलेपन का नाजायज़ फायदा उठाते हैं आप लोग. वह मेरा एकलौता बेटा है. पुरोहिती, कथा-वार्ता काज से मुझे अक्सर बाहर आना-जाना होता है. होता है कि नहीं?"

"हां हां, पंडित जी होता क्यों नहीं!"

"फिर, मेरा काम कैसे चले? इधर आ अज्जू!"

अजामिल ने पिता जी के पैर छूकर प्रणाम किया. पिता जी तीन दिन बाद घर लौटे तो बेटे को घर-दरवाजे पर न पाकर इतने नाराज हुए हैं. ठाकुर के दरवाज़े पर पूरे गांव को बुलाकर डांट फटक रहे हैं.

अज्जू बोला—"क्या हुकुम है पिता जी?"

पंडित जी गरजे—"तू सदा दूसरों का हुकुम बजाता रहेगा या अपने विवेक-ज्ञान से भी कुछ करेगा. बोल. बोलता क्यों नहीं?"

"बहुत करारी भूख लगी है पिता जी."

"तो मैं क्या करूं?"

"तुम कहो तो खाना खा आऊंगा."

"जा. खाना खाकर बैलों की सानी पानी कर, अपने दरवज्ज पर रहना, मैं अभी आया."

अजामिल अपने घर गया. अजामिल के पिताजी ने गांव के लोगों को सावधान करते हुए कहा—"फिर अजामिल से कोई अपना काम लेगा, तो मुझसे बुरा कोई नहीं होगा, हां, कान खोलकर सुन लो."

हां, हां, सबने कान खोलकर सुना. यह कोई नई बात तो नहीं. छटे छमासे पंडित सत्यप्रिय को इस बहाने पूरे बनकटी गांव को डांटने फटकारने को मिल जाता है. ब्राह्मण की फटकार, दुवारी गाय की फंफकार. आखिर अजामिल के ही तो पिताजी हैं. अजामिल के नाम पर इतनी डांट फटकार में क्या रखा है. कल भोर में पंडितजी फिर निकल जायेंगे पुरोहिती में, फिर अजामिल भइया पूरे गांव जवार का अज्जू बेटा.

ओरे अज्जू, जरा हेंगा पहुंचा दे मेरे तिनकठिया वाले खेत में. ओरे बचवा, आजा छप्पर उठा दे. जरा कोल्हू हांकना भाई, जरा दिसा जंगल हो आऊं!

शहर चलोगे अज्जू भाई, सनीमा देखेंगे.

नहीं भाई, पिता जी ने कहा है, सनीमा फनीमा से चरित्र भ्रष्ट होता है.

अच्छा, एक गाना गा दो अज्जू भइया!

कौन सा गाना?

अरे वही—बिना मोती के नैना पड़त नाहीं!

लो तुम कहते हो तो गा देता हूं जमुना भाई. गाना पूरा कर अज्जू ने कहा—"कहो तो अब घर जाऊं जमुना भाई!"

सुनो अज्जू!

कहो भाई!

अगर कोई तुमसे कहे कि अज्जू भाई, कुएं में कूद पड़ो, या आग लगा लो अपने कपड़ों में, तो क्या वैसा कर लोगे?

कोई ऐसा मुझे कहेगा क्यों? कल्पना करो.

कोई ऐसा कहे तो? ऐसी कल्पना मैं क्यों करूं?

ठीक कहा अजामिल ने. पूरा गांव जवार अज्जू को प्यार करता है. प्यार ही नहीं, इज्जत करता है. अजामिल जहां जिधर, गांव-सिवान में निकलता है,लोग उसे अपने पास बुलाने लगते हैं. लोग खुद दौड़े हुए उसके पास आ जाते हैं. जिस दिन जो अजामिल को न देखे, उस रात अजामिल से मिले वह रह नहीं सकता.

अज्जू की माई तब अपना सिर पीटती हुई कहती है—बाप रे बाप, हमरे बेटवा के नींद भी हराम, देखो, अब चुपचाप पैर दबाये चले जाव, हां. तनिक आहट हुई नहीं कि अज्जू जाग जायेगा.

अरे माई, अजामिल कोई लड़िका नदान तो है नहीं! हां हां, चलो चलो, बड़े चोंचले न बघारो शिवशंकर. हम सबै कै जानीं. रात को कोई काज आन पड़ा है, तब बड़ा परेम चर्राया है अज्जू के लिए. जाव जाव, नाहीं तो कहि दहत है. हां!

चैत रामनवमी अयोध्या के मेले में पैदल जाने को लंका मिसराइन फांड बांधकर खड़ी हो गयी. अस्सी साल की बुढ़िया मिसराइन, बनकटी गांव में घूम घूमकर कहती रहीं—"जिसे चलना हो चलै अजोध्या हमरे साथ. कुल ग्यारह लोग गठरी-मोटरी बांधकर तैयार. तीन मरद, मिसराइन सहित पांच मेहरारू और तीन लड़कियां मिसराइन डंडा पटकती हुई अजामिल के माई के पास पहुंची"

"कहां हैं अज्जू?"

माई ने गुस्से से पूछा—"क्यों?"

"अरे अज्जू हमरे पंचन के साथ अयोध्या मेला चलेगा."

"मेला चलेगा, हाय, हाय! गठरी मोटरी ढोवेगा. यह नहीं होगा, हर्गिज नहीं होगा; तुमसे चला न जायेगा तो अज्जू तुम्हें अपनी पीठ पर ढोवेगा, यह अब नहीं होगा. राह चला न जाय, रजाई के फांड बांधे जिसे जाना हो, आप अपने बूते. नहीं जाने दूंगी लुच्चे लपाडियों के साथ अपने बेटे को."

लंका मिसराइन अब बिगड़ी—"चुप रह बहू बहुत हो गया. अज्जू तुम्हारा बेटा है, बिल्कुल है. तुम जनी हो. मुला हमारा बेटा भी तोहै अज्जू!" "कैसा बेटा? किसी और के बेटे को क्यों नहीं बना लेतीं? भरा पड़ा तो है पूतों से बनकटी गांव. सब स्वार्थी

मुंहचोर कामचोर हैं बहू. अज्जू है अकेला बेटा, बीर बहादुर सेवकराम. तुम चाहती हो अज्जू भी वैसे हो जाय, जैसे औरों के कपूत हैं—मतलबी, कनकातुर, मेहरे. चलो अज्जू मेरा आडर है!"

वाह रे तेरा आडर. बैलों को सानी पानी कौन देगा? खेत खलिहान कौन देखेगा? पंडित जी को जवाब कौन देगा?

मैं दे दूंगी जवाब. मेरा बेटा रामकृपाल तब तक यहां का सारा कामकाज संभाल लेगा, समझिउ कि नाहीं!

क्या समझेगा कोई!

माई और मिसराइन के बीच जो महाभारत मचा हुआ था, अज्जू ने हाथ जोड़ कर कहा—"जब इतना कह रही हैं तो जाने दे माई. सब को अयोध्या पहुंचाकर, कहो तो उसी दिन उल्टे पैर लौट आऊंगा."

माई ने तड़पकर कहा—"तू अजोध्या जायेगा तो बिना सरजू में स्नान किये, हनुमान गढ़ी में परसाद चढ़ाये बिना लौट आयेगा रे!"

"जैसी आज्ञा करोगी, वही होगा माई!"

"तू कुछ अपने दिमाग, अपनी सोच समझ से करेगा या सदा दूसरों के ही कहने से चलेगा."

"तू क्या चाहती है माई, बोल मैं वह पूरा करके न दिखा दूं तो मेरा नाम अजामिल नहीं."

"मेरे तो भाग फूट गये, न जाने यह नाम किसने दे दिया?"

अजामिल जब सब को संग लिए अयोध्या तीर्थ यात्रा पर चला, तो गांव-गढ़ी के कुछ लंगड़े लूले भी साथ हो लिए. जब अज्जू भइया साथ है तो क्या चिंता?

बनकटी से साहबगंज, साहबगंज से राघवपुर गांव. राघवपुर के तिवारी का परिवार बैलगाड़ी से अयोध्या मेला में जा रहा था. सियाराम तिवारी ने अजामिल को देखते ही पुकारा—"अरे अज्जू बेटा, आजा, आजा. मेरी बैलगाड़ी के जुए पर. हम भी अयोध्या चल रहे हैं. अजामिल ने बढ़कर तिवारी के पांव छुए. बैलगाड़ी पर ओहार पड़ा था. "तिवारी जी, आज्ञा हो तो लंका मिसराइन को बैलगाड़ी में बिठाय दूं. आपन लोग तो पैदल आये हैं, पैदल चलेंगे." "हां हां, बिठा दें बेटा." पाय लागी मिसराइन! अज्जू ने मिसराइन बूढ़ी को गेंद की तरह उठाकर दम्म से डाल दिया बैलगाड़ी में. मिसराइन ओहार के निकट घिसक गयीं. आगे-आगे तिवारी जी की बैलगाड़ी. दायें-बायें लोग.

लंगड़दीन बोला—"अज्जू भइया, तुम आगे आगे चलो, नहीं तो सारी धूल उड़कर तुम्हारे ऊपर..."

"लेव, आगे-आगे ही सही."

पदारथ बहू बोली—"अरे कोई गाना छेड़ो अज्जू भइया, रास्ता ऐसे थोड़े कटी."

"लेव काकी सुनो!" बनवारी हो.

हमरा कै लरिका नादान.

चलती हुई बैलगाड़ी के भीतर से, जरा-सा ओहार उठाकर तिवारी जी की बड़ी लड़की कस्तूरी ने देखा. हाय यह कौन गा रहा है. पट्ठा कितनी मस्ती से गा रहा है.! ई कौन है!

अरे, यही तो अजामिल है आपन. लाखों में एक. हां, चरित्रवा

कर्मवान, दयावान, सेवावान और इतना सुंदर सजीला, भगवान भगवती माई, ठाकुर बाबा इसे अच्छे रखें, हां... लंका मिसराइन की आंखों से भर-भर आंसू झरने लगे. जैसे अज्जू उन्हीं की कोख जन्मा हो. मिसराइन को जितने सारे अच्छे-अच्छे शब्द याद सब जड़ दिये अजामिल की तारीफ में.

अच्छा.

हां तिवारिन.

तिवराइन ने अपनी जवान बेटी को डांटा—"बंद कर ओहार स्तूरी, क्या झांक रही है... हां तो मिसराइन..."

हां, तो मैं का कह रही थी?

अजामिल के बारे में.... !

मिसराइन ने बैलगाड़ी के फट्टे पर डंडा मारकर कहा—"अरे , ओरे अज.... !" अज्जू के लिए मिसराइन दादी को जब रत से ज्यादा प्यार दुलार उमड़ता है, तब उसे अज नाम से रती हैं.

"हां, दादी!" तब अज भी दादी कहता है.

"अरे का पें पों गा रहा है. अरे कोई भजन गा."

"लेव, भजन, जननी बिनुराम, अब ना अवध मा रहिवे."

"ई तो बहुत पुराना भजन है रे."

तो लेव फिलमी भजन सुनो—"माई जसोदा से पूछें नंदलाला, क्यों गोरी मैं क्यों काला!"

बैलगाड़ी में से एक खिलखिलाती हुई हंसी बाहर उफन

तिवराइन ने डांटा—चुप रह कस्तूरी.

लंका मिसराइन मुदित स्वरों में बोलीं—अरे यही तो हंसने ने की उमर है.

... बड़ी सुंदर बिटिया है तिवराइन. कहीं ब्याह-शादी की चिंता कर रही हो या हाथ पै हाथ धरे बैठी हो.

तिवारी जी कब से दौड़धूप कर रहे हैं. बात ई है कि... राइन ने बेटी की आंख बचाकर मिसराइन के कान में कहा— ई है कि बड़ी मुंहचढ़ी है अपने बाप की. बाप से मुंहफट दिया है—शादी मेरी पसंद की होगी बाबू. जब देखकर मैं कहूंगी तभी!"

मिसराइन खिलखिलाकर हंस पड़ी. तिवराइन भी हंसने लगी. दिन डूब चुका था.

तिवारी ने आम की बगिया में कुंए के पास बैलगाड़ी रोकते कहा—"बस, आज यहीं डेरा पड़ेगा. सुबह लड़ाके मुरुकुआ के साथ कूच करेंगे, दोपहर होते-होते अयोध्या जी. बोलो वर रामचंद्र की जै! बोलो अयोध्यानाथ की जै! बोलो राजा चंद्र की जै. पवनसुत हनुमान की जै.

जितने लोग थे साथ में, सब ने एक एक जैकार की, बाकी एकस्वर में हाथ उठा उठाकर जै कहते रहे.

आधी रात के समय, जब सारे लोग बेसुध सो रहे थे, लंका राइन ने बहुत धीरे से अजामिल को जगाया!

! ओरे अज!

है रे दादी!

"जा धीरे से आंख धोआ!" "लो आंख धोकर आ गया."

"अयोध्या धाम की ओर मुंह करके बैठ." "लो बैठ गया."

एक बात कहूं रे!

कहो न!

मेरी बात मानेगा न?

अरे आज्ञा करके देख लो.

तो सुन—तिवारी जी की बिटिया कस्तूरी है न?

हां, है!

देखा है?

देखा नहीं, सुना है.

भक! वह देख, वह सोयी पड़ी है. जा, देख ले ना. जा!

ना, ना, मुझे लाज लागे दादी!

मैं कहती हूं जाकर देख आ, नहीं तो मारूं वह डंडा!

अच्छा अच्छा, देख लेता हूं.

अज्जू सोती हुई कस्तूरी को देख आया.

देख लिया ? कैसी लगी?

बक!

बिना दांत के मिसराइन की बतीसी खिली रही. चारों ओर रात का सन्नाटा छाया हुआ था. कहीं दूर से तीर्थ यात्रियों का गायन सुनायी दे रहा था. मिसराइन ने अज्जू के माथे पर दायीं हथेली रखकर कहा—"अज्जू, मेरी एक बात पूरी कर?"

"जरूर करूंगा दादी!"

"तो सुन, कस्तूरी से प्रेम कर!"

अज ने बिलकुल उसी शुद्ध सेवा और भक्ति भाव से पूछ— "प्रेम कैसे किया जाता है दादी?" "अरे, बताऊंगी न!"

तो कर दूंगा दादी, इत्मिनान रखो! कहो तो अब सो जाऊं दादी, भूलना नहीं.

"राम जाने नहीं भूलूंगा. वचन पूरा करूंगा."

अजामिल सो गया, पर लंका मिसराइन बैठी-बैठी तुलसी-माला घुमाती, सियाराम सियाराम जपने लगी.

▣

अभी डेढ़ घंटा रात बाकी है. लोग जगकर यात्रा की तैयारी में लगें, इससे पहले मिसराइन ने कस्तूरी और तिवराइन को जगाया. तीनों जनी कुएं पर गयीं. कस्तूरी ने पानी भरने के लिए गगरा कुएं में डाला. भरा गगरा खींचने लगी कि आधे कुएं में उबहन टूट गयी और धड़ाम से गगरा कुएं में गिरा.

हाय दइया, बाबू जागेंगे तो क्या कहेंगे! कस्तूरी का दायां हाथ दबा दिया मिसराइन ने. तिवराइन अलग परेशान. "अब का होगा! कस्तूरी के बाबू जागेंगे तो मुझे डाटेंगे कि इसे क्यों गगरा भरने दिया अनजान कूएं में रात के वक्त. हाय दइया मैं क्या करूं?" मिसराइन ने हाथ दबाकर कहा, "बेटी मेरी बात मान. जा चुपके से उसी अजामिल को जगा, वह अभी कूएं में से गागरा निकाल देगा और कोई उपाय नहीं, जल्दी कर जल्दी! जल्दी, हां."

घबड़ायी हुई कस्तूरी ने अजामिल को किसी तरह जगा तो दिया, पर लाज के मारे कुछ न कह सकी. कुएं की तरफ किसी तरह इशारा भर किया. चुपचाप आगे-आगे कस्तूरी, पीछे-पीछे गाय के जवान बछवा की तरह अजामिल. पलक मांजते ही अज्जू

बोधकथा

परख

■ इदरीस शाह

एक दरवेश के पास कोई आदमी आया और उसने उसे एक-एक कपड़ा दिया.
उसी समय दरवेश ने अपनी झोली में हाथ डाला और एक मछली निकाल कर उस आदमी को दी.
दरवेश के पास बैठे उसके बहुत-से शिष्यों ने यह देखा तो उस आदमी और अपने गुरु के बीच हुए उस आदान-प्रदान का रहस्य जानने के लिए आपस में बहस करने लगे.
कई दिन बीत गये तो दरवेश ने उनसे पूछा कि वे किस नतीजे पर पहुंचे हैं. जब सभी शिष्य अपनी-अपनी बात बता चुके तो दरवेश ने कहा—
"उस आदान-प्रदान द्वारा मैं देखना चाहता था कि तुम में से इतना अक्लमंद कौन है जो यह समझ सके कि उस आदान-प्रदान का कोई मतलब नहीं था." □

कुएं के पानी में डूबकर नीचे गगरा टटोलने लगा. ऊपर कुएं की जगत पर कस्तूरी का जी धक-धक करने लगा. हाय! अज गगरा हाथ में लिए पानी के ऊपर आ गया. यात्रा चली.

लंका दादी ने कहा, "सुन रे अज, अब मौका देखकर कस्तूरी से झटाक से कह दे कि मुझे तुझसे प्रेम हो गया है, हमारा विवाह हो जाये!"

अयोध्या में बाबा राखाल दास की छावनी पर यात्रा पूरी हो गयी. गाड़ी रुकते ही कस्तूरी छावनी के मंदिर की ओर दौड़ी. दादी ने इशारा किया. अज्जू उसके पीछे-पीछे दौड़ा. मंदिर के चबूतरे पर अचानक कस्तूरी का दायां हाथ पकड़कर अज ने अजब मंत्रमुग्ध स्वरों में कहा, "प्यार हो गया मुझे तुमसे. अब बस ब्याह हो जाये!"

"बक!"

दांतों तले आंचल का कोना दबाये कस्तूरी दौड़ी अपनी मां के पास चली आयी. अज चुपचाप मंदिर के चबूतरे पर मूर्तिवत् खड़ा रहा.

बनकटी गांव में लंका मिसराइन ने बात फैला दी कि राघवपुर के तिवारी की इकलौती बेटी और पंडित जी के इकलौते बेटे आजमिल की शादी पक्की हो गयी है. यह बात जैसे ही पंडित सत्यप्रिय के कानों में पड़ी, उन्होंने अजमिल को पुकारा, "अज बेटे!"

"हां, पिताजी."

"यह राघवपुर के तिवारी की बेटी के साथ तुम्हारी की बात किसने की?"

"मैंने खुद पिताजी!"

"किसके कहने पर?"

"लंका दादी..."

पंडित सत्यप्रिय मारे आवेश और क्रोध के अज पर... अज्जू ने जरा भी अपना बीच-बचाव नहीं किया. अज्जू... छाती पीटने लगी. अज्जू को जमीन पर गिराकर पंडित... पागलों की तरह उसे पीटने लगे. पहले हाथ पैर... खड़ाऊं-जूते से. अज्जू की चीख सुनकर सारा गांव वहां... पर किसी की हिम्मत नहीं कि पंडित जी का कोई... अचानक उस भीड़ को चीरती हुई लंका मिसराइन... और तड़पते-छटपटाते हुए अजू के ऊपर बिछ गयी.

"ले मार और मार!"

"हट जाओ वरना बहुत बुरा होगा!"

मिसराइन ने रोते हुए कहा, "अब इससे बुरा... होगा? ऐसे निर्दोष, भोले जवान बेटे को कसाई की... बोल, क्यों मारा तूने? क्या कसूर किया इसने? ... नहीं? बता क्या है अज की गलती?"

पंडित सत्यप्रिय की आंखों से चुपचाप आंसू... भरे कंठ से बोले, "यह खुद क्यों नहीं मुझसे सवाल... मैंने इसे क्यों मारा? यह हर काम दूसरों के कहने से ही... है? यह स्वयं अपने कर्म का कर्ता कब होगा?"

पंडित सत्यप्रिय ने रोते हुए अज को पूरी ताकत... हुए कहा, "जो अपने कर्मों का कर्ता नहीं, वह उसका... नहीं, जो भोक्ता नहीं उसे कभी मुक्ति नहीं मिलती..."

अज चुपचाप बैठा जमीन में नजर गड़ाये था. अज... दृष्टि से न जाने क्या देखने लगा था, पहली बार... जी, लंका दादी और पूरा गांव रो रहा था. अज ने... से विलाप करते हुए पिता की ओर देखा. पास... पैर छूकर कहा, "रोओ नहीं पिताजी, आज मैं खुद... राघवपुर के तिवारी के पास. . .मेरे साथ कोई नहीं..."

लंका दादी के मुंह से निकला, "मुझे भी साथ नहीं..."

"नहीं!"

"अब तू किसी के कहने से कुछ नहीं करेगा?"

"नहीं, जो मैं चाहूंगा, वही करूंगा!"

अज की माई ने कहा, "तो मेरी सुन, तिवारी... की बदनामी है, मैं उससे तेरी शादी नहीं होने दूंगी!"

"अब मेरी शादी उसी से होगी."

अज ने जाकर कुएं पर खूब स्नान किया. अपने... कपड़े पहने. अपने गांव से राघवपुर के लिए चला.

पिताजी के मुंह से निकला, "बेटे, कल सुबह..."

अज अपने सिर पर हल्दी रंगी पगड़ी बांधता हु...

उसके पीछे अज के पिताजी पंडित सत्यप्रिय च... थे और उनके पीछे लंका मिसराइन.

● 8/17, ईस्ट पटेल नगर, नयी दिल्ली-11000...

अपना हाथ

▣ पृथ्वीराज अरोड़ा

एक सजी-धजी कार खड़ी थी. भीड़ भरे बाजार में आने-जाने वालों को इसकी वजह से असुविधा हो रही थी मगर कार के आस पास खड़े लोग इस तरफ से निश्चित बारी-बारी माईक पर चिल्ला रहे थे और लाउडस्पीकर उनकी आवाज़ दूर-दूर तक फेंक रहा था. . . .
"रातों-रात लखपति बनिये. . .पैसा ही पैसे को खींचता है. . . रुपया फेंको और तमाशा देखो. . . एक रुपये में एक लाख की आमदनी. . . घर बनाओ. . . व्यापार करो. . . कार, फ्रिज, टेलीविजन! किस्मत आजमाइये. . . ट्राई यूअर लक्क. . . !"

वह आवाज़ में संजोये सपनों में मुग्ध होकर कार की तरफ बढ़ने लगा.

"अगर मेरी लाटरी खुल जाये तो?. . . तो?"उसके कदमों में तेजी आ गयी.

लाउडस्पीकर के हौसले बुलंद थे, "गरीबी लानत है इसे दूर कीजिए. . . आप जानते ही होंगे. . . इस दुनिया के तीन नाम, परसु, परसा परसराम. . . जिंदगी के सभी सुख सिर्फ एक रुपये में. . . चाय पीयेंगे, पेशाब कर देंगे. . . पान खाकर थूक देंगे. . . पर यह मौका. . .नोट मिलेंगे, नोट. . . किसी के आगे हाथ पसारने की जरूरत नहीं. . . . !" कार के नजदीक पहुंचते-पहुंचते उसके सामने असंख्य हाथ उभर आये, जिनमें लाटरी के टिकट लहरा रहे थे. . . पत्थर कूटते मजदूरों के हाथ, हल जोतते किसानों के हाथ, पसीने से तरबतर रिक्शा वालों के हाथ, टाईपराइटर कूटते मरियल-से बाबुओं के हाथ! फिर सब मिलकर एक ही हाथ में तबदील हो गये. यह उसका अपना हाथ था. . .अपना हाथ, जगन्नाथ!, उसे लगा सुनहरे भविष्य का सपना दिखाकर उसे लुंज करने देने की खतरनाक साज़िश में फंसाया जा रहा है.

वह ठिठक गया. कुछ क्षण कार के बोनट पर फैली लाटरी टिकटों को हसरत भरी निगाह से देखता तेजी से पलटकर वह वापस कारखाने की ओर चल दिया. □

अ-यात्रा

▣ राजकुमार गौतम

छुट्टी आने पर पत्नी ने जब 'बात' बतायी तो वह पथरा गया. भला यह भी कोई बात है कि एक तो शादी को अभी सिर्फ दो ही साल हुए हैं और इतनी सतर्कता रखने के बावजूद पत्नी बियाने लग जाये . . दूसरे मुद्राराक्षस की बात! घर के लालच में पत्नी का यहां का और अपना वहां का खर्चा ही पता नहीं किस तरह रो-धोकर चलता है! महीने की आठ तारीख़ को तीन सौ रुपल्ली को जब वह थूक लगाकर गिनता है तो तभी घर का किराया, पत्नी का खर्चा, किरानी का बिल, दूधिये का हिसाब . . एक-एक करके उसकी थूक लगी उंगली को जकड़ते जाते हैं और तनख्वाह गिनने से पहले ही उसकी हथेलियों से फिसल जाती है! . . कोई बच्चा भी हो जाये तो, . . कैसे चलेगा?

उसने पत्नी को खूब डपटा! एकाध रुपल्ली की तभी ही दवा-गोली सटक लेती तो तभी ही राड़ा निपट जाता. . .! फिर चुप हो गया. हो सकता है वह मां बनना चाह रही हो . . ! वह स्वयं भी तो बाप बना चाह रहा है . . अगर . . उसने आगे सोचा तो. . .तो. . .? थूक लगी उंगली को इस बार एक बच्चे ने जकड़ लिया.

अच्छा ऐसा करें . . वैसा करें . . होने दें . . रहने दें . . होना चाहिए . . नहीं होना चाहिए . . . अच्छा . . फिर . . हां . . नहीं . . नहीं . . हां . . नहीं! ! ! फैसला हो गया कि 'सफाई' करा ही दी जानी चाहिए.

पांच सौ लगेंगे . . टाइम ज्यादा हो गया है . . ! सात सौ के करीब लग जायेंगे . . रिस्क ज्यादा है . . ! लेडी डॉक्टर्स के शब्द उसकी थूक लगी उंगली की जगह ज़ुबान को ही जकड़ते गये.

वह हारे हुए जुआरी की तरह थक गया और नौकरी पर लौटने से पहले पत्नी को सख्ताई से कह गया कि इस बृहस्पतिवार को अस्पताल में जाकर पर्ची ज़रूर बनवा ले . . .इस से कम खर्च! में तो बच्चा ही मिल जायेगा! □

विधवा हवेली

▣ मोहर सिंह यादव

पोरिया लघु कृषक था. उसके पास दस बीघे ज़मीन थी. अपने गांव के एक संपन्न किसान की नयी हवेली देखकर पोरिया का मन मचल उठा. उसने मन ही मन दृढ़ संकल्प किया कि वह भी एक-एक पाई जोड़कर छोटी-सी एक सुंदर हवेली बनायेगा.

कई साल बीत गये. पोरिया व उसके परिवार ने खूब मेहनत की. एकेक पाई बचाकर उन्होंने कुछ धन एकत्रित किया. इस दौरान उन्होंने ढकने लायक कपड़ा नहीं पहना और भर पेट खाना नहीं खाया.

पोरिया ने हवेली बनवाने का काम शुरू किया. तीन कमरे, एक रसोई, एक तिबारी और एक चौबारा—पोरिया की हवेली बन गयी. वह फूला नहीं समा रहा था.

एक दिन अपनी हवेली के गोखे पर बैठा वह हुक्का पी रहा था. सामने से बाहर गांव का एक राहगीर आया और पोरिया की छोटी-सी सुंदर हवेली को देखकर बोला,"यह हवेली सधवा है या विधवा?"

पोरिया सकते में पड़ गया. हवेली और सधवा-विधवा! उसकी समझ में कुछ भी नहीं आया. वह शरमाकर बोला, "भाई, मैं समझा नहीं, आपका मतलब. हवेली विधवा या सधवा कैसे होती है?"

नवागंतुक बोला, "तुम्हारे पास ज़मीन है?"

"हां, है दस बीघे का एक खेत."

"उस खेत में कुआं है?"

"नहीं. पोरिया बोला.

"तो तुम्हारी हवेली विधवा है." नवागंतुक ने तर्क दिया, "किसान के खेत में यदि सिंचाई का प्रबंध नहीं है, तो उसकी हवेली में अच्छी पैदावार का अनाज नहीं आयेगा और इस प्रकार खाली पड़ी हवेली विधवा ही कहलायेगी."

पोरिया को अपनी गलती का अहसास उसी क्षण हो गया. □
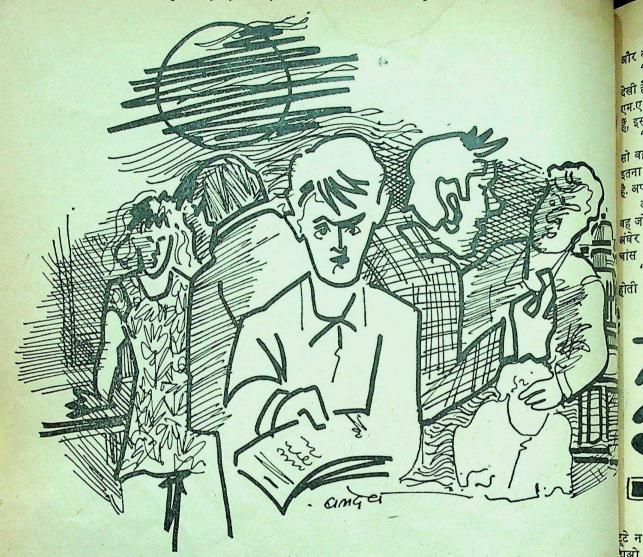
ओल्ड सेक्रेटेरियट की उस इमारत पर धूप की चिटकन गहरी और शोख हो गयी. गुलमोहरों का लाल रंग उसकी छेड़खानी से दूना लाल हो धधकने लगा.

आशीष ने पसीने से चिपचिपाती पेशानी पोंछी और ब्रीफ-केस से अर्थ-शास्त्र के प्रश्नोत्तरों की पुस्तक निकाल उसके पन्नों को आंखों से खुरचने लगा. मार्शल अर्थ-शास्त्र की परिभाषा करता हुआ कहता है . . . .

"क्यों भाई, तुम्हारा क्या ख़्याल है? अपन लंच के समय तक निवट जायेंगे?"

"कह नहीं सकता. मुश्किल ही है. सौ कैंडीडेटस का इंटरव्यू है, मेरा नंबर तो पचासवां है."

"आपसे पीछे तो मेरा नंबर है, साठ पर है. लगता है शाम ही हो जायेगी, मेरे लिए तो शहर ही नया है. वेटिंग रूम से सीधा दस बजे यहां पहुंचा हूं. पूरे बारह तक बैठकर तो सर्टिफिकेट चेक-अप हुए हैं. देख रहे हैं न वो सिर के ऊपर टंगा पंखा? बिगड़ गया है . . . गरमी से नहा रहा हूं."

"चलिये, थोड़ा टहल लें . . . बारामदे में अच्छी हवा है न हो तो पास से कुछ खा-पी लें."

"यहां आस-पास चने-फुटाने भी नहीं मिलते... मरा-मरा-सा चाय का ठेला उधर गेट पर खड़ा है. एक पोंछता लड़का चाय बना रहा है. चाय मैं पीता नहीं ... नहीं पीता कि आदत हो गयी तो बेकारी में रोज़ का खर्चा कौन करेगा!"

"तो चलिये, जल्दी से शहर जाकर कुछ खा-पी अभी तो पच्चीसवां ही गया है. आशीष ने उत्साह दिख

"रहने दो भाई, कहीं इस बीच अपना नंबर आ और कुछ पल वह रुक कर फुसफुसाया, "शहर जाने का दो रुपये जाने के. दो रुपये आने के . . . है न नो वेस्टेज!" वह गंभीर हो गया.

"तो सबसे बढ़िया है कि हम ठंडा पानी पीकर मस्त आशीष हंसने लगा.

"प्यारे, वह भी नहीं है. ऊपर से नीचे तक हो

और वह वापस पढ़ने की मुद्रा में लौट आया.

"क्या पढ़ रहे हैं इतनी सीरियसली. मैंने तो एक ही पुस्तक देखी है... हम कोई व्याख्याता तो हैं नहीं जो विषय पर पूछेंगे. एम.ए. पास किये चार वर्ष हो गये... हम तो 'डिपार्टमेंटल' हैं, इसलिए विभागीय अनुभव के ही प्रश्न पूछने चाहिये."

"अपने एक डायरेक्टर ने नया-नया एम.ए. पास किया है. सो वह डटकर अर्थशास्त्र की खाल उधेड़ रहे हैं. वैसे तुम भी इतना तो समझते ही हो कि इंटरव्यू तो एकमात्र औपचारिकता है. अपने-अपने आदमियों की लिस्ट तो पहले ही तैयार होगी."

आशीष चौंका. उसका उत्साहित चेहरा बुझ गया परंतु वह जोर देता बोला, "लेकिन पोस्ट तो अस्सी हैं, आखिर इतना अंधेर तो नहीं होगा, कुछ तो अनुभवी व योग्य व्यक्तियों को चांस देंगे ही."

"नाटक है नाटक. यदि योग्यता और अनुभव की ही कीमत होती तो आज इतना पढ़-लिखकर मैं या तुम इतने संत्रस्त व

टूटे न होते. दे लो इंटरव्यू, पर पढ़ने से ज़्यादा सोर्स पर जुट जाओ." एक खाली-खाली-सा ठहाका वहां गूंज उठा.

सच... अब आशीष कितना पढ़ेगा? और कब तक पढ़ता जायेगा. क्या इस पढ़ाई का उसके जीवन में कोई अंत है?

पहला एम. ए. पचपन प्रतिशत में!

दूसरा एम. ए. अट्ठावन प्रतिशत में!

लॉ फर्स्ट क्लास!

पिताजी उसके समय तक रिटायर्ड हो गये. किसी टेकनिकल लाइन में नहीं भेज सके... भेजते भी कैसे? मां बहुत बीमार रहती हैं, उन्हें दमा है. कहने को वे तीन भाई हैं, परंतु आशीष को भाई का प्यार पाने का अवसर ही नहीं मिला. बड़े भाई इंजीनियर हैं, परंतु कनाडा में हैं. पिताजी बहुत गर्व से कहते हैं कि मेरा बेटा इतनी बड़ी फॉरेन फर्म में है. बड़े भैया का अस्तित्व यदा-कदा भेजे गये किसी पार्सल से ही पता लगता है.

दूसरा भाई व्यापारी है. उसने पिताजी की बची-खुची पूंजी समाप्त कर दी है. और माफी मांग ली कि घाटा हो गया.

रहा आशीष... किसी तरह भाग-दौड़ कर पढ़ता रहा और माता-पिता के ही कारण उसी शहर में सेल्स टैक्स इंस्पैक्टर हो गया है.

पिताजी ने शहर से बहुत दूर छोटा-सा घर बनाया है... घर से ऑफिस... ऑफिस से बाजार साइकिल भगाते-भगाते आशीष की पीठ लकड़ी हो दर्द से चरमराने लगती है, परंतु उसके नसीब में चैन नहीं. कभी मेहमान... तो कभी स्टेशन!

थकावट शरीर के साथ घुल गयी है, इसीलिए आशीष इकहरी हड्डियों वाला नवयुवक है... मांस तो पसीने से गलबह ही नहीं पाता. आशीष की नाक लंबी, आंखें कजरारी हैं जिनका पैनापन घनी पलकों से झांकता है.

उसके लकलके व्यक्तित्व को बालों के घने गुच्छे और भी अधिक रसिक बना देते हैं, परंतु स्वरा ने सदा एक खास मुद्दे पर उसकी अवहेलना की है इसलिए आशीष अपनी आंखों से ही स्वरा को प्यार कर दुलरा लेता है... इसके आगे उसने कहीं भी कोई 'इन्वालमेंट' की बात नहीं सोची.

वे दोनों साथ उठते-बैठते बात करते नहीं अघाते. एक दिन भी आशीष यदि शाम छः तक स्वरा के घर नहीं पहुंचता तो वह खीजती हुई मीठे उलाहने बिखेर देती है, "हां-हां, तुम्हें भला फुरसत कहां मिलेगी! सारे तुम्हारे काम-काज जरूरी हैं. बस यहां आना ही एक फालतू काम है न, इसीलिए देर करते हो." इस पर भी आशीष चुप रह स्वरा के उन कामों में हाथ बंटाने लगता है जो कलात्मक और प्यारे हैं.

स्वरा कितना भी गुस्से का अभिनय करे परंतु आशीष की प्रत्येक जरूरत की उसे चिंता है. नाश्ते में बहुधा आशीष के पसंद की तली मछली और अंडे के ब्रेड-रोल बनते हैं. और हर माह आशीष के लिए सुंदर शर्ट सिल जाता है. आशीष भी किसी न किसी बहाने स्वरा की पसंद के रिकार्ड ला स्टीरियो पर बजाता है. मंत्रमुग्ध हो उसमें डूबने के बाद वह अपनी बड़ी-बड़ी गुलाब-सी आंखें हिलाने लगती है, "यह क्या बेहूदगी है भला, बिना पूछे तुम्हें इतना खर्च करने को किसने कहा है?"

"नाराज क्यों होती हो? रिकार्ड तो मैं बजाने को ही लाया हूं, वापस हो जायेगा." परंतु रिकार्ड कभी वापस नहीं होता.

एक समय का भोजन आशीष स्वरा के घर ही खाता है. एक को साथ खाना अच्छा लगता है, दूसरे को खिलाना अच्छा लगता है. यह सिलसिला टूट नहीं सकता.

पड़ोसियों की अश्लील आलोचना का सख्ती से सामना करके भी स्वरा अपने ममता भरे स्वागत को नहीं तोड़ सकी है. उसकी बड़ी आंखें फैल जाती हैं, "क्यों आशीष, बेवकूफों के कमेंट्स से क्या हम अपना निर्दोष सुख छोड़ देंगे?"

"बिलकुल ठीक है. मैं कोई जुआ खेलता हूं. शराब पीता हूं. खाना ही तो खाता हूं. मेरे बॉस मुझे इसलिए तंग करते हैं कि उन्हें यह दुख है कि वे यही तुम्हारे हाथ का बना भोजन क्यों नहीं खा पाते."

आशीष का दोस्त शर्मा उसे बहुधा छेड़ता है, "क्या यार आशीष, तुझसे तो दो साल में एक लड़की भी नहीं अपनायी गयी, गेलू जैसे चक्कर ही लगाते रहते हो."

"तुम अच्छी तरह जानते हो शर्मा कि स्वरा ऐसी-वैसी लड़की नहीं है... मैं उसके पीछे कुछ भी सुनना पसंद नहीं करता हूं." आशीष एकदम तन जाता है."

"बिगड़ो मत मेरे यार, जानता हूं स्वरा बहुत गंभीर, बढ़िया

ओल्ड सेक्रेटेरियट की उस इमारत पर धूप की चिटकन गहरी और शोख हो गयी. गुलमोहरों का लाल रंग उसकी छेड़खानी से दूना लाल हो धधकने लगा.

आशीष ने पसीने से चिपचिपाती पेशानी पोंछी और ब्रीफ-केस से अर्थ-शास्त्र के प्रश्नोत्तरों की पुस्तक निकाल उसके पन्नों को आंखों से खुरचने लगा. मार्शल अर्थ-शास्त्र की परिभाषा करता हुआ कहता है . . . .

"क्यों भाई, तुम्हारा क्या ख़्याल है? अपन लंच के समय तक निबट जायेंगे?"

"कह नहीं सकता. मुश्किल ही है. सौ कैंडीडेट्स का इंटरव्यू है, मेरा नंबर तो पचासवां है."

"आपसे पीछे तो मेरा नंबर है, साठ पर है. लगता है शाम ही हो जायेगी, मेरे लिए तो शहर ही नया है. वेटिंग रूम से सीधा दस बजे यहां पहुंचा हूं. पूरे बारह तक बैठकर तो सर्टिफिकेट चेक-अप हुए हैं. देख रहे हैं न वो सिर के ऊपर टंगा पंखा? बिगड़ गया है . . . गरमी से नहा रहा हूं."

"चलिये, थोड़ा टहल लें . . . बारामदे में अच्छी हवा है . . न हो तो पास से कुछ खा-पी लें."

"यहां आस-पास चने-फुटाने भी नहीं मिलते . . . एक मरा-मरा-सा चाय का ठेला उधर गेट पर खड़ा है. एक नाक पोंछता लड़का चाय बना रहा है. चाय मैं पीता नहीं . . . इसलिए नहीं पीता कि आदत हो गयी तो बेकारी में रोज़ का खर्चा बर्दाश्त कौन करेगा!"

"तो चलिये, जल्दी से शहर जाकर कुछ खा-पी आते हैं. अभी तो पच्चीसवां ही गया है. आशीष ने उत्साह दिखलाया.

"रहने दो भाई, कहीं इस बीच अपना नंबर आ गया तो." और कुछ पल वह रुक कर फुसफुसाया, "शहर जाने का अर्थ है दो रुपये जाने के. दो रुपये आने के . . . है न नो वेस्टेज!" और वह गंभीर हो गया.

"तो सबसे बढ़िया है कि हम ठंडा पानी पीकर मस्त रहें." आशीष हंसने लगा.

"प्यारे, वह भी नहीं है. ऊपर से नीचे तक हो आया हूं

और वह वापस पढ़ने की मुद्रा में लौट आया.

"क्या पढ़ रहे हैं इतनी सीरियसली. मैंने तो एक ही पुस्तक पढ़ी है . . . हम कोई व्याख्याता तो हैं नहीं जो विषय पर पूछेंगे. एम.ए. पास किये चार वर्ष हो गये . . . हम तो 'डिपार्टमेंटल' हैं इसलिए विभागीय अनुभव के ही प्रश्न पूछने चाहिये."

"अपने एक डायरेक्टर ने नया-नया एम.ए. पास किया है. तो वह डटकर अर्थशास्त्र की खाल उधेड़ रहे हैं. वैसे तुम भी इतना तो समझते ही हो कि इंटरव्यू तो एकमात्र औपचारिकता है. अपने-अपने आदमियों की लिस्ट तो पहले ही तैयार होगी."

आशीष चौंका. उसका उत्साहित चेहरा बुझ गया परंतु वह ज़ोर देता बोला, "लेकिन पोस्ट तो अस्सी हैं, आखिर इतना अंधेर तो नहीं होगा, कुछ तो अनुभवी व योग्य व्यक्तियों को स्थान देंगे ही."

"नाटक है नाटक. यदि योग्यता और अनुभव की ही कीमत होती तो आज इतना पढ़-लिखकर मैं या तुम इतने संत्रस्त व

टूटे न होते. दे लो इंटरव्यू, पर पढ़ने से ज़्यादा सोर्स पर जुट जाओ." एक खाली-खाली-सा ठहाका वहां गूंज उठा.

सच . . . अब आशीष कितना पढ़ेगा? और कब तक पढ़ता जायेगा. क्या इस पढ़ाई का उसके जीवन में कोई अंत है?

पहला एम. ए. पचपन प्रतिशत में!

दूसरा एम. ए. अट्ठावन प्रतिशत में!

लॉ फर्स्ट क्लास!

पिताजी उसके समय तक रिटायर्ड हो गये. किसी टेकनिकल लाइन में नहीं भेज सके . . . भेजते भी कैसे? मां बहुत बीमार रहती हैं, उन्हें दमा है. कहने को वे तीन भाई हैं, परंतु आशीष को भाई का प्यार पाने का अवसर ही नहीं मिला. बड़े भाई इंजीनियर हैं, परंतु कनाडा में हैं. पिताजी बहुत गर्व से कहते हैं कि मेरा बेटा इतनी बड़ी फॉरेन फर्म में है. बड़े भैया का अस्तित्व यदा-कदा भेजे गये किसी पार्सल से ही पता लगता है.

दूसरा भाई व्यापारी है. उसने पिताजी की बची-खुची पूंजी समाप्त कर दी है. और माफी मांग ली कि घाटा हो गया.

रहा आशीष . . . किसी तरह भाग-दौड़ कर पढ़ता रहा और माता-पिता के ही कारण उसी शहर में सेल्स टैक्स इंस्पैक्टर हो गया है.

पिताजी ने शहर से बहुत दूर छोटा-सा घर बनाया है . . . घर से ऑफिस . . . ऑफिस से बाजार साइकिल भगाते-भगाते आशीष की पीठ लकड़ी हो दर्द से चरमराने लगती है, परंतु उसके नसीब में चैन नहीं. कभी मेहमान . . . तो कभी स्टेशन!

थकावट शरीर के साथ घुल गयी है, इसीलिए आशीष इकहरी हड्डियों वाला नवयुवक है . . . मांस तो पसीने से गलबढ़ ही नहीं पाता. आशीष की नाक लंबी, आंखें कजरारी हैं जिनका पैनापन घनी पलकों से झांकता है.

उसके लकलके व्यक्तित्व को बालों के घने गुच्छे और भी अधिक रसिक बना देते हैं, परंतु स्वरा ने सदा एक खास मुद्दे पर उसकी अवहेलना की है इसलिए आशीष अपनी आंखों से ही स्वरा को प्यार कर दुलरा लेता है . . . इसके आगे उसने कहीं भी कोई 'इन्वालमेंट' की बात नहीं सोची.

वे दोनों साथ उठते-बैठते बात करते नहीं अघाते. एक दिन भी आशीष यदि शाम छः तक स्वरा के घर नहीं पहुंचता तो वह खीजती हुई मीठे उलाहनें बिखेर देती है, "हां-हां, तुम्हें भला फुरसत कहां मिलेगी! सारे तुम्हारे काम-काज जरूरी हैं. बस यहां आना ही एक फालतू काम है न, इसीलिए देर करते हो." इस पर भी आशीष चुप रह स्वरा के उन कामों में हाथ बंटाने लगता है जो कलात्मक और प्यारे हैं.

स्वरा कितना भी गुस्से का अभिनय करे परंतु आशीष की प्रत्येक जरूरत की उसे चिंता है. नाश्ते में बहुधा आशीष के पसंद की तली मछली और अंडे के ब्रेड-रोल बनते हैं. और हर माह आशीष के लिए सुंदर शर्ट सिल जाता है. आशीष भी किसी न किसी बहाने स्वरा की पसंद के रिकार्ड ला स्टीरियों पर बजाता है. मंत्रमुग्ध हो उसमें डूबने के बाद वह अपनी बड़ी-बड़ी गुलाब-सी आंखें हिलाने लगती है, "यह क्या बेहूदगी है भला, बिना पूछे तुम्हें इतना खर्च करने को किसने कहा है?"

"नाराज क्यों होती हो? रिकार्ड तो मैं बजाने को ही लाया हूं, वापस हो जायेगा." परंतु रिकार्ड कभी वापस नहीं होता.

एक समय का भोजन आशीष स्वरा के घर ही खाता है. एक को साथ खाना अच्छा लगता है, दूसरे को खिलाना अच्छा लगता है. यह सिलसिला टूट नहीं सकता.

पड़ोसियों की अश्लील आलोचना का सख्ती से सामना करके भी स्वरा अपने ममता भरे स्वागत को नहीं तोड़ सकी है. उसकी बड़ी आंखें फैल जाती हैं, "क्यों आशीष, बेवकूफों के कमेंट्स से क्या हम अपना निर्दोष सुख छोड़ देंगे?"

"बिलकुल ठीक है. मैं कोई जुआ खेलता हूं. शराब पीता हूं. खाना ही तो खाता हूं. मेरे बॉस मुझे इसलिए तंग करते हैं कि उन्हें यह दुख है कि वे यही तुम्हारे हाथ का बना भोजन क्यों नहीं खा पाते."

आशीष का दोस्त शर्मा उसे बहुधा छेड़ता है, "क्या यार आशीष, तुझसे तो दो साल में एक लड़की भी नहीं अपनायी गयी, गेलू जैसे चक्कर ही लगाते रहते हो."

"तुम अच्छी तरह जानते हो शर्मा कि स्वरा ऐसी-वैसी लड़की नहीं है . . . मैं उसके पीछे कुछ भी सुनना पसंद नहीं करता हूं." आशीष एकदम तन जाता है."

"बिगड़ो मत मेरे यार, जानता हूं स्वरा बहुत गंभीर, बढ़िया

और शालीन लड़की है, परंतु तू कह दे कि तुझे वह पसंद नहीं. इतना भी दब्बूपन क्या है भला . . . कह क्यों नहीं देता अपने मन की बात?"

"मैं तो प्रेसीडेंट बनना चाहूंगा तो क्या बन जाऊंगा? या मुझे तो एंपाला गाड़ी पसंद है तो क्या खरीद लूंगा?" आशीष साइकिल पर चढ़ जाता है.

"जानता हूं कि तुम्हारी स्वरा बहुत सुपीरियर चीज़ है, पर प्यार में तो छोटा-बड़ा, अच्छा-बुरा देखा नहीं जाता."

"पर प्यार की कोई बात ही हमारे बीच नहीं उठती, तू क्यों बेकार सिर दर्द पैदा करता है?" आशीष उसके खुले मुंह को छोड़ आगे बढ़ जाता है.

▣

है तो स्वरा बहुत ही लुभावनी. देखो तो देखते रह जाओ . . . किसी भी भीड़ में उसे अलग से पहचाना जा सकता है.

आशीष उसके सामने फीका पड़ता है . . . या फीकापन अनुभव करता है, क्योंकि एक पुरुष अपने जिस पद और नौकरी के गर्व पर चमकता है, वही आधार आशीष के पास नहीं है. मर्द की तो सूरत से अधिक नौकरी की सीरत मूल्यवान है . . . आशीष की नौकरी . . . ?

एक अदना-सा इंसपैक्टर! कितना भी अच्छा पैंट और शर्ट वह पहने, रहेगा तो थर्ड क्लास कर्मचारी ही . . . !

▣

स्वरा जैसी लड़की के अंतर्मन में यदि एक गज़ेटेड ऑफीसर की चाह है तो अस्वाभाविक नहीं. और स्वरा का अहं तो वैसे भी बहुत है . . . लोगों की दृष्टि में उसका पति एक थर्ड क्लास कर्मचारी रहे, इसे वह बर्दाश्त नहीं कर सकती.

जब कभी कहीं भी पब्लिक सर्विस कमीशन से नयी गज़ेटेड पोस्ट का आवेदन पत्र निकलता, वह उत्साहित हो आशीष को बाध्य करती कि वह तुरंत आवेदन पत्र भेज दे. इसके बाद ढेर सारी हिदायतें शुरू हो जातीं, "सेलेक्ट होना है तो अंग्रेज़ी बोलना सीखो, कब से सिर ठोंक रही हूं कि अपना अंग्रेज़ी का कॅरसपाँडेंस कोर्स ही पूरा कर लो, आशीष बुरा मत मानो, तुम ज़रा भी महत्वाकांक्षी नहीं हो . . . अन्यथा अब तक तो छोटा-मोटा बिज़नेस ही जमा लेते, वह भी इस नौकरी से अच्छा होता."

आशीष इस झिड़की से घुटता है . . . बोलता नहीं. नाश्ते की मेज पर गुमसुम बैठ वह अपना रोष व्यक्त करता है . . . आलू-चाप पलटता हुआ वह कॉफी ठंडी कर लेता है.

स्वरा ही कुछ नरमती है और जबरदस्ती आलू-चाप का एक बड़ा-सा टुकड़ा आशीष के मुंह में ठूंस कहती है, "देख तो . . . आज मेरा हाथ जल गया." तब स्वरा की मीठी आवाज आशीष को वर्फ के टुकड़े के समान पिघला देती है और वह चिंतित हो बरनॉल ढूंढने लगता है.

दोनों अपने असीम स्नेह के बावजूद अपनी-अपनी सीमा रेखाओं से परिचित हैं जिसे वे पार नहीं कर पा रहे हैं.

ऐसा तो नहीं है कि आशीष ने एक अच्छे जॉब के लिए प्रयत्न ही नहीं किया है . . . स्वरा के साथ हसीन ज़िंदगी जीने का हौसला तो किसी भी लड़के को होगा ही.

उस बार डिप्टी-कलेक्टरस की पोस्ट के लिए वह किस ... 'प्रिपेयर्ड' हुआ था. पूरे छः माह घर की दीवारों में घुट ... 'कांपीटीशन सक्सेस' की फाइलें चाट ली थीं.

अपना विषय उसे रटा था.

हिस्ट्री की तारीखें कंठस्थ थीं.

आत्मविश्वास से उसने लिखित परीक्षा में सत्तर प्रति... अंक प्राप्त किये और उसका इंटरव्यू कॉल भी आ गया. यहां ... कि इंटरव्यू बढ़िया रहा. सारे प्रश्नों के उत्तर उसने बखूबी दि...

पी. एस. सी. के एक परिचित सज्जन ने उसे कह भी दि... कि इंटरव्यू में वह सिलेक्ट हो गया है.

परंतु लिस्ट डिक्लेयर होने की प्रतीक्षा . . . लंबी होती ... और उस से भी अधिक अफ़वाहें गर्म हो गयीं.

वह भागा. परिचित व्यक्ति बोले, "अरे भाई, कई ... धूल चाटने के बाद तो पेपर जंचे . . . और इंटरव्यू हुआ है ... अब लिस्ट में भी तो बहस होगी ही."

"मेरिट से नहीं लेंगे क्या?" आशीष का मुंह छोटा-... हो गया.

"दस हजार से लोग पंद्रह-बीस तक पहुंच गये हैं. परंतु ... अपने-अपने ही. तुम किसी के अपने हो?"

"नहीं तो."

लिस्ट में नाम है यह सोच ही आशीष ने बड़ी पार्टी देने ... हौसला सजा लिया था और स्वरा को सिल्क की साड़ी देने ... निश्चय किया था.

▣

अचानक एक दिन आशीष को 'रिजेक्शन कार्ड' मिला, ... लेकर वह बिस्तर पर बैठा चुपचाप रोता रहा था.

उसने अपनी किस्मत की ही घड़ी को दोष दिया जो ... चाबी न लगने से बंद थी.

वही साइकिल . . .उससे लटकता टिफन . . . मां की खां... पिता का थका-निराश चेहरा.

इस पर भी पिछले कई चुनावों में उसकी ड्यूटी इंटी... के गांवों में लगी थी, यद्यपि उसकी मां को दमा उमड़ा था, ... भी उसे पड़ोसियों के रहम-करम पर छोड़ वह गांव तक बैल... में धचके खाते पहुंचा था.

उन्हें बताया गया था कि चुनाव के लिए बहुत खर्च हो ... है. चुनाव में काम करने वालों को बहुत सुविधाएं दी जा रही ... परंतु आशीष हैरत में पड़ा रह गया जब सरपंच ने उसके भोजन ... की व्यवस्था ढंग की नहीं की. दो घंटे बाद कुछ आटा व आलू ... भेज दिया गया. खिचड़ी के अतिरिक्त और कुछ बनाने की ... आशीष की आदत नहीं थी . . .आखिर एक चपरासी ने जैसे-... बाटियां बना दीं.

इनके बाद वाले चुनाव के समय तो ट्रक में बैठे-बैठे हड्डी ... पसली तक हिल गयी थी, उस पर बीहड़ जंगल में ट्रक ... बिगड़ गया. पर आशीष को तो गांव पहुंचकर रिपोर्ट करना ... था. अन्यथा नौकरी के लेने-देने पड़ते.

सांप-बिच्छू, शेर-चीते से डरता आशीष पैदल पगडंडी ...

लघुकथा

परोपकारी

■ ऑस्कर वाइल्ड

रात का समय था और वह अकेला था. उसने दूर एक भव्य नगरी का प्राचीर देखा और वह उसकी ओर बढ़ा...

जब वह पास पहुंचा तो उसने नगरी के अंतराल से आनंदमय पदचाप और प्रमुदित मुखों के हास और अनेक वीणाओं की उन्मत्त झंकार के शब्द मुखरित होते सुने. उसने मुख्यद्वार खटखटाया और द्वारपालों ने उसके लिए द्वार खोल दिये.

और उसने देखा एक भवन, जो स्फटिक का बना था और जिसके सामने स्फटिक के सुंदर स्तंभ खड़े थे. स्तंभों पर फूलों के वंदनवार लटके थे और घर के भीतर और बाहर चंदन की मशालें जल रह रही थीं. उसने भवन में प्रवेश किया.

जब वह पद्मराग के सभाकक्ष और मरकत के सभाकक्ष से होता हुआ भोज के कक्ष में पहुंचा तो उसने नीलरक्ताभ आसन पर एक व्यक्ति को लेटे पाया, जिसके बालों में गुलाब के फूल लगे थे और जिसके अधर मदिरा से लाल हो रहे थे.

वह उसके पास गया और उसके कंधे पर हाथ रखकर बोला, "तुम्हारा यह जीने का ढंग कैसा है?"

वह युवक उसकी ओर मुड़ा और उसे पहचानकर बोला, "लेकिन मैं तो पहले कोढ़ी था, तुमने मुझे स्वस्थ कर दिया. और किस तरह जीवन व्यतीत करूंगा?"

उसने उस भवन को त्याग दिया और सड़क पर लौट आया. कुछ देर बाद उसने एक स्त्री को देखा, जिसका मुखड़ा तथा परिधान रंगीन थे और जिसके नूपुरों में मोती लगे थे. एक युवक उसका पीछा एक शिकारी की तरह मंदगति से कर रहा था. युवक ने दोरंगी कमीज पहनी हुई थी. स्त्री का मुख एक मूर्ति की तरह सुंदर था और नवयुवक की आंखों में वासना की चमक थी.

उसने द्रुत गति से उसका पीछा किया और नवयुवक के हाथ पर हाथ रख कर कहा, "तुम इस स्त्री की ओर क्यों देख रहे हो और उसे इस तरह क्यों घूर रहे हो?"

नवयुवक पलटा और उसे पहचानकर कहा, "पर मैं तो अंधा था. तुमने मुझे दृष्टि दी. फिर मैं और किसे निहारूं!"

उसने दौड़कर स्त्री का रंगीन आवरण छुआ और कहा, "क्या पाप के अतिरिक्त कोई और मार्ग नहीं है?"

औरत उसे पहचानकर हंसी और बोली, "पर तुमने तो मेरे पाप क्षमा करा दिये थे और यह, मार्ग सुखमय भी है."

वह नगर छोड़कर बाहर चला गया.

जब वह नगर के बाहर हो गया, तो उसने सड़क के किनारे एक नवयुवक को बैठे रोते देखा.

वह उसके पास गया और उसके लंबे बालों को छूकर बोला, "तुम रोते क्यों हो?"

नवयुवक ने सिर उठाकर उसे देखा और उसे पहचान कर बोला, "मैं तो मर चुका था और तुमने मुझे फिर से जीवन दिया. मैं रोऊं नहीं, तो भला क्या करूं?" □

● प्रस्तुति: जया रावत

लगभग दौड़ने लगा था, तभी दो डाकुओं ने उसे घर दबोचा..! अच्छा हुआ माल गया, जान रह गयी. उसकी मेहनत की कमाई से खरीदी घड़ी व पैन ही वे ले गये थे.

लौटा तो मच्छरों के काटने से बुखार आ गया. स्वरा बहुत बड़बड़ाई, "ऐसी सड़ी-गली इंस्पेक्टरी में तुमने प्राण हलकान कर रखे हैं. कब तक ऐसा चलेगा?"

आशीष भी भर गया था. उसे क्या पता था कि कब तक ऐसा चलेगा और वह क्या करेगा? ऊपर से उस दिन जब बाजार में आशीष को स्वरा ने उसके बॉस के लड़के को साइकिल पर लादे-हांफते देखा तो वह उखड़ ही गयी, "मुझे नहीं अच्छा लगता कि तुम चपरासी जैसे काम करो, यह भी कोई नौकरी है भला!"

"बॉस के आगे-पीछे तो सभी नौकरियों में थोड़ा-बहुत घूमना पड़ता है स्वरा!"

"नहीं-नहीं, यह सब गलत है. गजेटेड पोस्ट की अपनी कुछ डिग्निटी होती है. यह छीछालेदर तो नहीं. आशीष अब यदि तुम गजेटेड पोस्ट के लिए संघर्ष नहीं करोगे तो मेरी तुम्हारी बिल्कुल नहीं पटेगी!" स्वरा रूठी.

इत्तफाक से उसके ही डिपार्टमेंट के एक्सटेंशन के कारण एकाएक अस्सी पोस्ट एडवरटाइज हुईं.

"वह बहुत अधिक आशान्वित हुआ और उसने आवेदन पत्र लगा दिया. अब रूठी स्वरा को वह मना सकेगा. इस बार तो कोई कारण ही नहीं कि उसका सेलेक्शन न हो.

अब उसे इतना पढ़-लिखकर रोजमर्रा के अपमानित व्यवहार नहीं झेलने पड़ेंगे.

इंटरव्यू के लिए रवाना होते समय स्वरा ने 'गुड-लक' कह आदेश दिया था, "देखो, जरा ठीक से उत्तर देना. मुंह में मत बोलना. लौटने की जल्दी न करना, पता करके वापस आना."

सर्टिफिकेट चेक-अप होते समय क्लर्क ने खींसें निपोर कहा था, "आपका डायरेक्ट आवेदन पत्र तो आया ही नहीं... डिपार्टमेंट से जो आया था, उसी पर इंटरव्यू कॉल भेजा."

जब आशीष ने ए. डी. जेब से निकाला तो वह बेशर्मी से हंसा, "आया होगा.... बाद में तो हमने आवेदन पत्र देखे ही नहीं. दस हजार तो पहले ही देख लिये थे न."

आशीष ने घड़ी देखी. तीन सेकंड... दो सैकंड.

भला इतने कम समय में वे क्या कैंडीडेट की योग्यता मापते होंगे. इतने कम समय में तो सूरत भी नहीं देखी जा सकती.

आसपास बिखरी कहानियां

परंपराएं

▣ रामानंद राठी

गांव के दो ही बड़े जमींदार थे जोधाराव और लादूसिंह. किसनू महतो के शब्दों में गांव के दो अभेद्य गढ़. इस बार दुर्गा-अष्टमी के अवसर पर लादूसिंह दुर्गा की नयी मूर्ति पुरानी की जगह प्रतिस्थापित करना चाह रहा था. बात उड़ती-उड़ती जोधाराव के कानों में पहुंची. जोधा उबल उठा, "अरे, कोई लोक-लाज बची है इस गांव में. लादू पुरानी मूर्ति को हटवा रहा है, अपने पुरखों की परंपरा को हम हर्गिज मिटने नहीं देंगे."

उमराव, पाछी, लीलिया, जिसने भी सुना, भड़क उठा. आखिर जोधाराव का उन्होंने नमक खाया था. यही वक़्त था जब उन्हें अपनी वफ़ादारी का परिचय देना था. जोधा की खोली के सारे मजदूर एकजुट हो गये कि अगर लादू ने यह नापाक हरकत की तो खून-खच्चर हो जायेगा.

खबर थी, मूर्ति एक दिन पहले लादूसिंह के घर आ रही है. जोधा ने अपने सभी आदमियों को हिदायत दे दी कि मूर्ति गांव में सलामत न आने पाये, रास्ते में ही उसे खंडित कर दो. उधर लादू भी सतर्क था. पूरे बीस आदमी मूर्ति लाने भेजे जा चुके थे.

मूर्ति आयी और जोधा के आदमियों द्वारा पीर के तिबारे पर ही रोक ली गयी. जमकर संघर्ष हुआ. दोनों ओर के दो-दो व्यक्ति मारे गये. मूर्ति तिबारे में वहीं की वहीं रुकी रही.

लादू ने जब सुना तो किसी तरह सुलह करने जोधा के पास पहुंचा. दोनों जमींदार काफी देर तक तर्क-वितर्क करते रहे. आखिर सुलह हुई कि लादू नयी मूर्ति जरूर स्थापित करेगा लेकिन पुरानी मूर्ति को हटाकर नहीं, उसी के पास नया मंडप बनवाकर उसमें.

▣

दूसरे दिन स्थापना-आयोजन पर दोनों जमींदार गले मिले. खूब राग-रंग हुआ. मृतक मजदूरों के परिवारों को आज रोने धोने की सख़्त मनाही थी. गांव की परंपरा थी कि ऐसे पवित्र आयोजनों में कोई रुदन न हो!

कितनी शीघ्रता से समय उड़ गया. और धड़काती हुई आवाज़ आयी . . . नंबर पचास . . .मि. आशीष!

"विश यू बैस्ट ऑफ लॅक." वह मुस्कराया. आशीष इंटरव्यू की सूली पर लटकने चल पड़ा.

वे सब पांच थे.

"बता सकते हो . . . विभाग ने क्या-क्या नये कार्य किये हैं?"

"और पूंजी का सही उपयोग क्या होगा?"

"स्पोर्ट्समैन थे? क्रिकेट बैटिंग पर कुछ बोलो."

"जाने दो." पांचवें ने बिना सर उठाये ही कह दिया.

पिछले चार बार तो प्रश्नों की अखाड़ेबाज़ी थी . . . इस बार तो जैसे टरका दिया गया था.

▣

विभागीय प्रश्न ही नहीं पूछे और न ही उनके सामने विभागीय रिकार्ड की कोई फाइल ही वहां थी. तब भी वह आशा से भरा था. दो दिन तक अपने एक परिचित मित्र के पास रहा. जब मित्र के अफसर पिता लौटे तो उन्होंने फोन पर बातचीत की. एक खाली मुद्रा में बोले, "घर जाओ बेटे, यहां रहने से क्या होगा? तुम्हारा कोई सामाजिक-राजनैतिक प्रेशर है क्या?"

"जी नहीं."

"तुम किसी पार्टी के आदमी हो या किसी भी पार्टी के आदमी नहीं बिल्कुल भी ?"

"नहीं."

"तो यहां क्यों पड़े हो? जो किसी पार्टी का आदमी नहीं... वह सही चुनाव का आदमी नहीं. अब लौट ही जाओ . . . वे तो अपने-अपने आदमी लेंगे. इंटरव्यू तो मात्र दिखावा है. इसीलिए तो फ्रेश कैंडीडेट लिये हैं. वे भी फर्स्ट क्लास ही हैं. डिपार्टमेंट का कोई लिया ही नहीं.

▣

आशीष ने सर नीचा किया और उसे लगा जैसे उसके सिर पर कई डंडे पड़ रहे हैं. कितनी विचित्र स्थिति थी कि वह उन डंडों से अपनी आत्मरक्षा तक नहीं कर सकता था. आंसू आंखों से अनगिनत गिरने लगे और स्वरा की सूरत हिलने लगी. जब वह फ्रेश कैंडीडेट था तो अनुभवहीनता उसकी अयोग्यता थी. अब विभागीय अनुभव है तो फ्रेश कैंडीडेट्स की आवश्यकता है.

उसका डूबता मन एक बार जोर से उछालें लेने लगा कि वह भागे और भागता हुआ देश की सारी पीर्टियों के झंडे फेंक दे और कहे, "हां-हां, मैं किसी झंडे के नीचे नहीं परंतु राष्ट्रीय झंडे के नीचे तो हूं. माना कि मैं किसी पार्टी का आदमी नहीं परंतु इस देश का एक योग्य, होनहार ज़िंदा आदमी तो हूं, जिसे सही जिंदगी जीने का अधिकार नहीं दिया जा रहा!"

● गवर्नमेंट गर्ल्स डिग्री कालेज, खंडवा (मध्य प्रदेश)

डील साहब कौन थे, यह नहीं जानता, न ही यह कि इस तालाब का नाम डील साहब के नाम पर ही क्यों और कब रखा गया, लेकिन यह सभी जानते हैं कि यह तालाब इस शहर की पूरी गतिविधियों पर नजर रखता है. इसके पक्के घाटों पर बैठकर दिन में मुहल्ले के लोग नौगुटिया और चौपड़ खेलते हैं, शाम को बूटी छनती है, गांजे का दम लगता है और नगरपालिका की कार्यवाहियों से लेकर शहर की राजनीति तक की बेलाग चर्चा होती है, लेकिन तालाब शांत रहता है. आसमान में उड़ते परिंदे की छाया इसमें यथावत देखी जा सकती है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि सुबह किनारे के बने कच्चे-पक्के मकानों की ऊंची-नीची तस्वीरें और शाम दीये, लालटेन और बिजली के लट्टुओं की झिलमिलाती रोशनी की खूबसूरती इसमें कैद रहती है. छठ के दिनों में सुबह-शाम अरग देने के लिए सूप में फल-फरहरी के ऊपर टिमटिमाती रोशनी, हवा की लहरों पर तैरती-उतराती तैरायी गयी सिरकी की बनायी गयी घिन्नई पर दीये, और गरहन में नहाने वालों की भीड़ श्रद्धानत होकर इस तालाब के जल को स्पर्श करती है. लेकिन न जाने कितने वर्षों से लोगों के मन में कलुषता धोते-धोते अब डील साहब के तालाब के पानी का रंग भी बदलने लगा है.

आज तैराकी प्रतियोगिता थी. तालाब पर बड़ी चहल-पहल थी. मुनादी पहले से फिर चुकी थी, इसलिए आठ बजने के पहले से ही रंगीन, सादे और मटमैले कपड़े पहने लोगों की टोलियां चारों तरफ से तालाब के दक्खिन तरफ मंदिर वाले पक्के घाट पर इकट्ठी होने लगी थीं.

चबूतरे की सबसे निचली सीढ़ी पर डॉक्टर हरिशंकर खड़े थे. उनकी झंडी हिलते ही तैराक लड़के पानी में छपाक से एक साथ कूदे और देखते ही देखते सातों लड़कों को पीछे छोड़ गोपाल कई गज सबसे आगे निकल गया.

उधर 'बाल हिंदी पुस्तकालय' से सटे मस्जिद के पीछे वाले पक्के घाट की सीढ़ियों के नीचे छाती भर पानी में पाली की रंग-बिरंगी रस्सी बंधी थी. लोग हाथ उठा-उठाकर शोर कर रहे थे, तैरते आ रहे तैराकों को प्रोत्साहन दे रहे थे. गोपाल अब भी सबसे आगे था. उसके हाथ पानी में तेजी से चल रहे थे. वह बहुत
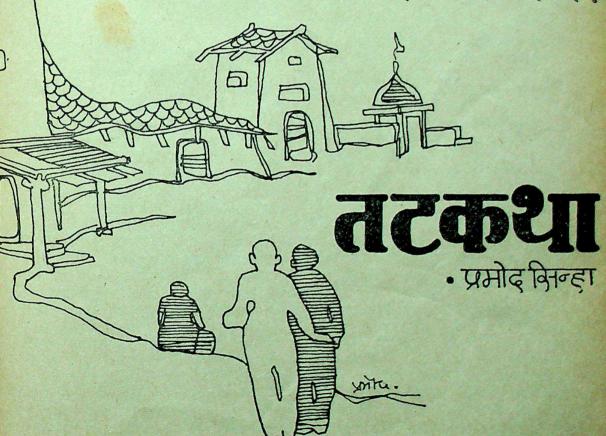
तटकथा

• प्रमोद सिन्हा

तेज तैर रहा था. तभी उसने हांफते हुए एक झटके से पाली छू दी और छाती भर पानी में अभी खड़ा ही हुआ था कि किनारे खड़ी मोदिआइन ने कहा, "गोपाल बाजी मार लेलस."

शिवमंदिर घाट के दूसरी तरफ वाले घाट पर भी बड़ी भीड़ थी. तैराकी-प्रतियोगिता देखने के लिए रंगा बाबू, ललनजी, नसरत हुसैन से लेकर महावीर स्थान वाले पुजारी जी, थाना डील साहब के सिपाही, आसपास रहने वाले कुंजड़े तथा छोटे-बड़े लड़के-लड़कियों की बड़ी उत्साहित भीड़ थी. पर भीड़ में से किसी का भी ध्यान मोदिआइन की ओर नहीं गया. मोदिआइन तकाजे से लौटते समय भीड़ देख वहां थोड़ी देर के लिए यों ही रुक गयी थी. मोदिआइन ने अपने ऊबड़-खाबड़ पायरिया वाले दांतों के बीच से पिच से थूका और कतराकर अपनी दूकान की ओर बढ़ने लगी थी.

इस इलाके में मोदिआइन की दूकान 'महाशक्ति आयुर्वेद भवन' के साइनबोर्ड के ठीक नीचे थी, जिस पर गांव से कचहरी मुकद्दमा लड़ने आये हुए लोग सतुआ खाने चले आते थे. गोबर से लिपी-पुती दूकान में दीवार से सटकर घो-मांजकर चमचमाती हुई लोटे सहित चौड़े वार वाली थालियां एक करीने से सजाकर रखी रहती थीं. मुअक्किल इनका प्रयोग होटल के प्लेटों से भी अधिक आत्मीय ढंग से करते थे.

नींबू का आचार, मंह-मंह महकती अमिया-पुदीना की चटनी और लंबी चुह-चुह करती हरी-मिर्च जिस ढंग से वह अपने ग्राहकों को देती, उससे उसकी आत्मीयता झलकती थी. यही कारण था कि डील साहब के तालाब के चारों ओर इकट्ठा होने वाले रिक्शे, इक्केवालों से लेकर एक फर्लांग दूर कचहरी तक के मुअक्किल मोदिआइन के यहां आने में एक सुकून का अनुभव करते थे, क्योंकि खाने के बाद यहां बतरस का भी मजा मिलता था.

दूकान में दउरा चंगेली में जौ, चना का सतुआ, सतुई की पिंडी वह बड़ी हिकमत से बनाती और मचिया के पास ताख पर बैठे लक्ष्मी-गनेश के मूरत के नीचे वाले खाने में बोइयाम में खटमिट्ठा चूरन भी रखती जिसका स्वाद मुहल्ले के लड़कों की जुबान पर चढ़ गया था.

अपने घर से टाउन स्कूल जाते समय कांख में बस्ता दबाये एक हाथ में मोदिआइन से पांच पैसे का चूरन लिये गोपाल दूसरे हाथ से चुटकी-चुटकीभर उसे अपनी जीभ पर रख इस कदर चटखारे भरता कि दूसरों के मुंह में भी पानी आ जाता. तब इस स्वाद के आगे उसे कुनकुन साहु की दूकान की मिठाई भी फीकी लगती थी.

टिफिन में अपने दोस्तों के साथ स्कूल के कसरत-घर के दाहिनी तरफ वाले पीपल के पेड़ के नीचे बैठकर गोपाल अपने दोस्तों से ऊपर डाल के खोंडर में घोंसला बनाये गये उल्लू, संस्कृत और हिंदी पढ़ाने वाले हेड पंडित जी, रूपम और मोहन सिनेमा के रंगीन पोस्टरों के अलावा कभी-कभी गप-सड़ाका मारते-मारते इस बात पर भी बहस कर बैठता कि डील साहब के तालाब में किस साल किसने कितनी बड़ी मछली मारी थी. यों मछली मारने के लिए बंसी लगायी जाती थी और आटे की जगह सतुआ की गोली या चारे को ज़मीन से खोद-निकालकर कंटिया में तरकीब से फंसाना पड़ता था, पर कभी-कभी धोती लेकर भी दो आदमी दोनों कोना पकड़ पानी में हेल जाते और धोती पानी के भीतर बिछा उसे उठाकर छत की तरह तानते तो पानी खुद-ब-खुद गर जाता और छोटी-छोटी मछलियां निकल आतीं. कुछ लोग तो पानी में घड़ा औंधाकर भी कमर और बरछा लेकर तैरते-तैरते बीचोंबीच चले जाते ताकि बड़ी मछलियों का शिकार कर सकें, पर ऐसी हिकमत करने वाले कम ही थे, क्योंकि जलकुंभी की वजह से उन्हें परेशानी उठानी पड़ती थी. इसमें बीचों-बीच तैरा नहीं जा सकता था और कभी-कभी जलकुंभी में छिपने की वजह से मछलियां भी नहीं फंसती थीं, तब तालाब की सफाई के लिए उसके चारों ओर के सड़क के किनारे-किनारे रहने वाले खेदन-लाल मुख्तार, नारायण मास्टर, विपिन सेठ, मोदिआइन, चमरटोली, चिकटोली, तरी मुहल्ला और यहां तक कि थाना डील साहब के तालाब के सिपाहियों से भी चंदा वसूला जाता. जो भी चंदा नहीं देता था उसके दरवाजे पर रात में खल्ली से खूब मोटी-मोटी गालियां लिखी जातीं. सुबह-सुबह बड़ा बमचक मचता था, पर अक्सर यह बात मोदिआइन को ही भुगतनी पड़ती थी, क्योंकि वह कंजूस थी और इसलिए भी कि उसकी गालियों का इस मुहल्ले में कोई बुरा नहीं मानता था. बल्कि मोदिआइन की इस लरछुत आदत के विपरीत अगर कुछ दिनों तक शांति बनी रहती तो यहां के लोग कुछ खाली-खाली-सा महसूस करने लगते थे. इसीलिए गोपाल इसे चिढ़ाने से बाज नहीं आता था. वह एक न एक शरारत खड़ी करता रहता जिससे मोदिआइन की जुबान का ताला भी खुलता रहे और लोगों को मज़ा भी आता रहे.

तालाब के किनारे ही गोपाल का घर था. गोपाल के बाबूजी कचहरी में मुंशी थे. वे सुबह ही सुबह आसमान में सुकवा उगते ही अपने बिस्तर से उठ जाते और 'जाके प्रिय न राम वैदेही...' का अपना प्रिय भजन गुनगुनाने लगते. भजन-ध्यान खतम होते ही खंखारकर इस तरह ज़ोर से आवाज लगाते कि गोपाल के कमरे तक उनकी दहशतभरी खंखार की आवाज पहुंच जाती. बाबूजी की इस आदत से गोपाल को बड़ी कोफ्त होती, पर इससे बचने का भी कोई चारा नहीं था. कभी-कभी गोपाल चादर मुंह तक तानकर बहटिया जाता, पर इससे उसका पिंड नहीं छूटता था, क्योंकि आहट न मिलने पर मुंशीजी सीढ़ियां चढ़ खुद ऊपर आ बेटे की लालटेन जला देते और उठकर न पढ़ने पर डांटने लगते थे. सुबह-सुबह डांट खाने पर गोपाल को लगता कि उसका पूरा दिन खराब हो जायेगा और स्कूल में भी मार पड़ेगी. इसलिए ऐसा भी होता कि मुंशीजी के नीचे से पुकारने पर वह बोल देता और फिर अपने जागने के सबूत में बर्राक रटे-रटाये पाठ को ही आंखें बंद कर ज़ोर-ज़ोर से दोहराता तो सुबह की ठंडक में उसे बिस्तर से उठकर लालटेन जलाने या टेबुल-कुर्सी पर बैठकर किताब खोलने की ज़रूरत नहीं पड़ती और नीचे बैठे बाबूजी यही समझते कि वह खूब मेहनत से पढ़ रहा है.

नहा-धोकर आने के बाद बाबूजी नाश्ता नहीं करते थे, इसलिए उन्हें शुरू से जल्दी खाने की आदत थी. खाने के पहले ताख से उठाकर मुंह में वे नकली दांत लगा लेते और आसनी या पीढ़ा पर पालथी मारकर खाना ज़्यादा पसंद करते तो गोपाल

को अच्छा नहीं लगता, क्योंकि दाल-भात और सतुआ का चोखा प्रेम से खाते समय उनके ऊंचे जबड़े चलने लगते और मुंह बंद रहता. वे चारों उंगलियों से सानकर कौर मुंह में डाल आंखें बंद कर लेते तो खूब चबा-चबाकर खाने के कारण उनकी कनपटी की नसें भी नीली पड़ जाती थीं. उस समय जबड़े की पेशियों पर पड़ने वाले दबाव के बावजूद उनके चेहरे के तृप्त भाव को आसानी से देखा जा सकता था.

दलान के बाहर वाले ओसारे की चौकी पर हर वक्त जाजिम बिछी रहती. मुंशीजी नींबू का शर्बत पीकर सुबह बस्ता ले कचहरी के काम में लग जाते और मुद्दई या मुद्दालय की तरफ से मुकद्दमे की बारीकियों की खाल उधेड़ने लगते. वकील साहब को भी पक्की सलाह देने की तैयारी करते. मोटिया के लाल कपड़ों में बंधे पतले-मोटे बस्ते उनके दाहिने--बायें ओर रखे रहते जिसमें टैग से नत्थी किये मालगुजारी और फौजदारी के कागजात अपनी पूरी दास्तान और कानूनी गुत्थियों सहित उसमें बंद रहते. नाक पर पतली-टूटी कमानी की जगह धागा बंधा चश्मा चढ़ाये पैरवी के लिए वे एक-एक कागज को ध्यान से पढ़ते और कैथी में कुछ न कुछ लिखते जाते. कैथी के अक्षरों को गोपाल पढ़ नहीं पाता, पर उसके मिडिल पास होते ही दूरदर्शी बाप की तरह मुंशीजी बराबर इस बात पर जोर देते रहे कि उसे कैथी सीख लेनी चाहिए, क्योंकि खानदानी पेशे में महारत हासिल करने के लिए इसके जानने के सिवा और कोई दूसरा चारा नहीं है.

मुंशीजी को अपने पेशे के अलावा और किसी दूसरी बात की चिंता नहीं थी, जबकि शहर में बढ़े दामों के विरोध में जुलूस और नारों के माध्यम से महंगाई, बेरोजगारी, काला-बाजारी, जखीरेबाजी के खिलाफ युवकों के इतने जबरदस्त प्रदर्शन कभी नहीं हुए थे. स्थिति की सुरक्षा के लिए पूरी तरह वातावरण पर काबू बनाये रखने का प्रयत्न हो रहा था.

लेकिन मुंशीजी के घर का महौल दूसरा ही था. वे हड़तालियों के सख्त खिलाफ थे. इसलिए गोपाल को घर में हड़तालियों के विषय में बातचीत करने तक की मनाही थी. बूढ़े लोगों की तरह अपनी नजरों से इतने उतार-चढ़ाव देखने के बाद उनका आत्म-विश्वास कुछ खो-सा गया था. लेकिन गोपाल के लिए तो सारी दुनिया अपनी नजरों से देखने के लिए पड़ी थी.

इधर दो-एक रोज से शहर में बड़ी हलचल थी. तालाब पर भी चर्चा थी कि खास चौक से जुलूस उठकर बिजली सड़क, टाउन स्कूल और डील साहब के तालाब के किनारे-किनारे होते हुए आर्यसमाज-मंदिर से मुड़कर रमना मैदान तक जायेगा. वहां जनता को सही समाजिक-आर्थिक स्थिति से अवगत कराने के लिए एक आम-सभा होने वाली थी, तो उधर कुछ गुंडों ने शांतिपूर्ण जुलूस को तोड़ने के लिए कुछ लंबे-चौड़े दावे भी किये थे, जिससे झगड़े के आसार नजर आने लगे थे. इसलिए इंस्पेक्टर ऑव स्कूल के हुक्म से स्कूलों में बड़ी कड़ाई कर दी गयी थी. टाउन स्कूल के हेडमास्टर आनंदपति सहाय के नोटिस के मुताबिक सब लड़के अपनी-अपनी कक्षा में साढ़े दस बजे से ही वापस चले गये थे. कोई भी स्कूल के मेहराबदार बरामदे, मैदान या कसरत-घर में नहीं टहल सकता था. खाली घंटों में जहां लड़कों की टोलियां गप्पें मारा करती थीं या इधर-उधर झूमती-झामती

रहतीं वहां आज इस समय क्लास के बाहर कोई दिखाई नहीं पड़ता था. हेडमास्टर साहब के अलावा जैनू मौलवी साहब, आचारीजी और हेडपंडितजी भी इस बात से काफी घबराये हुए थे कि जुलूस में अपने स्कूल के लड़के न शामिल हों, क्योंकि प्रार्थना के बाद मास्टरों की बैठक में इस बात की देखरेख की सख्त हिदायत के साथ पूरी जिम्मेदारी इन्हीं लोगों पर सौंपी गयी थी, पर जुलूस के आते ही नारों की तेज आवाज सुनकर ऐन मौके पर स्कूल भर में बड़ी खलबली मच गयी. फिर सलाह करके गोपाल और उसके साथी पेशाब करने के बहाने क्लास से निकलकर पीछे की पोरसामर ऊंची चहारदीवारी फानते हुए सरपट भागकर जुलूस में जिस तरह शामिल हुए, इससे उन्हें बड़ा मजा आया, क्योंकि वहां भीड़ थी. इतनी बड़ी भीड़ तो यहां के सावन के सोमारी या मंगरवारी मेले में भी नहीं होती थी.

जुलूस में सबसे पहले कलगी साफा बांधे रिसाले के घुड़-सवार थे. फिर खाकी जीपों पर लदे हुए पुलिस के दस्ते आसमान की ओर संगीन किये सूर्य की रोशनी में बेवजह उन्हें चमका रहे थे. शायद वे अपने अहं मसले को सुलझाने के लिए सजग भाव से बैठे हुए थे. जुलूस सड़क के बीचों-बीच गुजर रहा था. उसके दोनों ओर लाठी लिये हुए जवानों की कतार धीरे-धीरे कदम से कदम मिलाते हुए जुलूस का एक अंग बन साथ-साथ चल रही थी. थोड़ा पीछे ट्रकों का एक काफिला भी था, जिन पर आगे-पीछे भोंपूनुमा लाउडस्पीकर लगे थे, और इनके पीछे हजारों लोगों की पैदल भीड़ चल रही थी. लोग बड़ी-बड़ी दफ्तियों पर नारा लिखे हुए उन्हें हवा में काफी जोश-खरोश से बार-बार उठाकर लाउडस्पीकर से बोले गये नारों को बुलंदी से पूरा कर रहे थे.

उनमें जबरदस्त उत्साह था, जिसे किसी तरह भी नहीं

दबाया जा सकता था, 'मेहनतकश खायेगा. इनकलाब आयेगा.'

स्कूल के पास जुलूस में पहले तो गोपाल भीड़ में दुबका रहा, पर थोड़ा-सा आगे बढ़ते ही उसके गले की आवाज़ तेज हो गयी और वह बड़े इत्मीनान से ज़ोर-ज़ोर से नारे लगाने लगा था. अपना हाथ दुख जाने के कारण इसके जोश को देखकर एक आदमी ने अपनी नारे वाली तख्ती इसे थमा दी और अब यह उत्साह में अपने को जमीन से कुछ ऊपर ही समझने लगा था.

जुलूस टाउन स्कूल से डील साहब के तालाब के किनारे-किनारे धीरे-धीरे चक्कर काटता मोदिआइन की दूकान से आर्यसमाज मंदिर की ओर मुड़ रहा था कि गोपाल की नज़र मोदिआइन पर पड़ी तो वह सकपका गया. उसका आधा नारा बाहर और आधा पेट में ही रह गया, क्योंकि मोदिआइन ने गोपाल को देख मुंह बिचका, हाथ पसारकर चोंधर कहा तो उसकी दूकान पर खड़े दो-तीन देहाती मुअक्किल भी दांत निपोरे खी-खी कर हंस पड़े थे.

जुलूस की धक्कम–धुक्की में गोपाल के स्कूल के साथी उससे जाने कहां बिछुड़ गये थे, पर आर्य समाज के मोड़ पर उसकी भेंट दुमुहां-कल पर रहने वाले कपिलदेव नारायण से हुई तो दोनों ही नारा लगाना भूल आपस में बतिआने लगे, "कुनकुन शाह की पांचों ऊंगलियां घी, और सिर कड़ाही में है. उसकी गद्दी बड़ी गुलगुल और आरामदेह है, तभी सुबह से रात देर तक भी वह वहां से हटने का नाम नहीं लेता. सारे मोटे लोग माल काट रहे हैं और यहां पुजारी जी ने मुहल्ले के तालाब में मछली मारने की मनाही कर दी है. आजकल मछली-विभाग वाले इसमें चारा डाले हुए हैं. रात में ही चला जाये मछली मारने. पुजारी मौके पर आ जायें तो उनको पटाने के लिए अधिक से अधिक बीड़ी पिलायी जा सकती है, फिर भी न माने तो.... कहकर आंख दबाते हुए गोपाल ने मस्ती में एक धक्का दिया तो कपिलदेव भरभराकर गिर गया और उसकी कोहनी छिल गयी तो रुआंसा होकर वह बेचारा आधे रास्ते से ही घर लौट गया.

अब जुलूस धीरे-धीरे आगे बढ़ता–बढ़ता रमना मैदान में आम-सभा के रूप में बदलने लगा था. थोड़ी देर में लाउडस्पीकर फिट हो गये, जनता बैठने लगी. तब तक न जाने कहां से चिनिया-बदाम और चाटवाले भी खोमचा लेकर अपना अपना रोजगार करने आ गये थे. भाषण के लिए राधा बाबू के आने में थोड़ी देर हुई तो जनता इंतजारी से ऊबकर भम्भड़ करने लगी. तभी रंगा बाबू के इशारे पर मंच पर खड़े माइक के सामने लकदक सदरी-कुर्ता-पायजामा पहने खंजड़ी लिये हुए एक नवही आकर ताल दे-देकर पूर्बी तर्ज में गाने लगा कि,

"बाबा गांधी हो, कवने करनवा महंगी आइल जोर. . ."

तब राग के पहले ही उठान में एक बारगी सारी सभा मस्त हो गयी. लोग इस तरह मंत्र-मुग्ध होकर सुनने लगे कि जैसे इस जगत में यही एक सत्य, बाकी सब मिथ्या है और इस महंगाई और बेरोजगारी के लिए गांधी बाबा ही जिम्मेदार हों! पर पूरा गीत सुनने के बाद गोपाल को लगा कि मंहगी को लेकर गांधी बाबा से केवल फरियाद की गयी है कि स्वतंत्रता के बाद मुनाफाखोरों ने किस कदर देश की अर्थव्यवस्था में गड़बड़ की, पर अब उनके दिन लद गये हैं.

गाना खत्म होते ही राधा बाबू मंच पर आ गये और माइक के पास खड़े होते ही उन्होंने अपना जोशिला भाषण शुरू कर दिया. भाषण खूब देर तक चलता रहा. शाम ढलने लगी थी. दिनभर खूब भाग-दौड़ की. इसलिए थोड़ी देर और सुनते रहने के बाद गोपाल थकान महसूस करने लगा था.

▣

दोपहर गर्मी के दिनों में घर में कुछ देर से खाना-पीना होता था. खा-पीकर गोपाल की माई पंखा झलते-झलते औंघा गयी थीं. तभी मुंशीजी कुछ तमतमाये हुए कचहरी से आये. आते ही उन्होंने लाल कपड़े में बंधा बस्ता सिरहाने पटका तो गोपाल की माई चौंककर उठ गयी और पास रखा ताड़ का पंखा उठाकर जल्दी-जल्दी उन्हें झलने लगी थीं. मूंशीजी ने सामने की जेब से निकालकर उन्हें कुछ नोट और रेजगारी दी. फिर खट्टे पसीने से लथपथ अपनी काली शेरवानी और मटमैला पायजामा खूंटी पर टांग दिया. चेकदार लुंगी लपेटी और फिर खड़ाऊं पहनकर गुसलखाना चले गये. गुसलखाना के दरवाजे का दोनों पट्टा खुला हुआ था. मुंशीजी ने एक बार बाहर झांका, फिर बनिआइन निकालकर नल के नीचे डाल दिया. नल की चूड़ी घिसी हुई थी. पानी एकरसता में बह रहा था. उन्होंने खूब मल-मलकर हाथ-मुंह पोंछा और चौकी पर बैठ पैर की एक-एक उंगली का पोर पोंछते हुए पत्नी की ओर मुखातिब होकर बतियाने लगे.

गोपाल की माई लालटेन का शीशा साफकर बत्ती का गुल काटती हुई बीच-बीच में हां हूं भी करती जाती थी. तभी गोपाल दबे पांव बाहर से आया. उसने झांककर माई-बाबू को देखा और अपने कमरे में जाने के लिए सीढ़ियां चढ़ने लगा.

मुंशी जी ने खखारकर अपनी दबदबाहटभरी आवाज में पुकारा, "गोपाल. . ."

उसने महसूसा कि बाबूजी कि आवाज़ आज कुछ बदली हुई है. उसका कलेजा धक् से हो गया. पहले तो वह सहमा फिर डरते-डरते वह उनके सामने आकर खड़ा हो गया.

बाबू उसे देखते ही बरस पड़े, "तू स्कूल से भागकर जुलूस में जाने लगा है."

गोपाल चुप था.

"तू मोदिआइन को मुंह बिराता और लोगों को गाली देता है."

गोपाल फिर भी चुप रहा तो मुंशीजी ने इस चुप्पी को तोड़ा "तू लंठ होता जा रहा है. कपिल को धक्के देकर अपना जोर दिखाता है. उसके हाथ की हड्डी टूट जाती तो . . ." और इस तो के साथ ही उन्होंने अपनी खड़ाऊं उठाकर उसकी पीठ पर इस तरह ज़ोर से दे मारी कि चोट सह न सकने के कारण गोपाल घुटने के बल गिर पड़ा.

फिर गोपाल पर बेभाव की पड़ने लगी, "अभी से नेता की दुम होता जा रहा है. सबक याद होता नहीं, जुलूस निकालेंगे नारे लगायेंगे. साले अपनी सूरत देखी है. तुम्हारे सात पुश्त में भी किसी ने इस तरह नेतागीरी की है!"

सौ वक्ता न एक चुप. दहशत थी इसीलिए वह एकदम चुप रहा.

माई ने हिम्मत करके एक-दो बार बीच-बचाव भी करना चाहा, पर एक जबरदस्त झटका खा जाने के बाद अपनी विवशता में वह रोने लगी थी.

शोरगुल सुनकर मोदिआइन अपनी दूकान छोड़ लाठी टेकती हुई वहां पहुंची तो मुंशीजी को ही बोलने लगी, "बड़ा हत्यार बा इ मुंशी. इ त गोपला के जान मार दी." मोदिआइन ने मुंशी का हाथ तेजी से झटक दिया था.

मुंशी मोदिआइन की बात सुनकर भी कुछ नहीं बोले. कहीं न कहीं रुकावट तो थी ही. वे गुस्से में कोई दूसरा विकल्प न देख पाने के बहाने चुपचाप गुसलखाने में चले गये तो हल्दी और मुसब्बर पीसकर पीठ पर लगाते समय भी गोपाल की माई की आंखें नम थीं और हाथ कांपता रहा था.

मोदिआइन ने एक-दो बात और कही, पर मुंशीजी ने मोदिआइन की किसी बात का जवाब नहीं दिया. मुंशीजी का लेहाज भी ऐसे नहीं था. मोदिआइन इनके चचेरे भाई की रखैल थी. अपने मालिक के इस दुनिया से उठ जाने पर भी इसकी आंखों का पानी सूखा न था. मोदिआइन भी मुंशीजी को अपना देवर मानती और वक्त जरूरत ब्याज पर रुपये का भी इंतज़ाम कर देती थी.

अब भी मुंशीजी को मोदिआइन की ढेर सारी पुरानी बातें नहीं भूली थीं.

बातें याद आते ही मोदिआइन की जवानी, उसके जूड़े में लिपटी बेले की माला की तरह गम-गमकर महकने लगती थी. तब मोदिआइन चौड़े पाड़ की साड़ी पहनती थी. नाक में नकबेसर, बांह में पहुंची और चिकने-चिकने पैरों में पायजेब पहने सामने रखे पनबट्टे से लगा पान का बीड़ा गाल में दबाकर दूकान में मचिया पर इस तरह बैठती कि लोग उसे देखते ही रह जाते. पर अब इस उम्र में भी ज़बान इतनी तेज़ कि क्या मजाल कोई आंख दबाकर इस गली से निकल जाये. सिर्फ मुंशीजी ही रिश्ते की नजाकत से कुछ छूट पा गये थे. इसी से कचहरी जाते समय मोदिआइन उन्हें नित अपने हाथ से एक बीड़ा पान खिलाती तब ये भी कुछ न कुछ ठिठोली कर लिया करते थे.

नल का पानी जिस तरह उन्हें भिगोता जा रहा था, उन्हें याद आया कि एक दिन कचहरी जाते समय चौखट पर खड़े कई-कई चंगेलियों में सतुआ के अलावा चूरा, मटर आदि देख धीरे से उन्होंने पूछा था, "आखिर का का बेचतारू भउजी"

"तोहरा के चाहीं का?"

"जौन चाहीं उ कहां मिलेला."

"अइसन कह-कह के पछता मत, हेने आव हेने." और मोदिआइन की तबकी मुंह बिचकाकर हाथ मटकाने की अदा याद आते ही मुंशीजी नहाते-नहाते दीवार की ओर मुंह किये हुए मन ही मन हंसने लगे थे. नल की टोंटी का पेंच ढीला होने के कारण पानी अपनी एकरसता में हद-हदद-हदद-हद कर गिरता जा रहा था.

इधर आंगन में शांति होते ही माई गोपाल का हाथ पकड़ खींचते हुए उसे उसके ऊपर वाले कमरे में ले गयीं और ठंडा तेल मंगाकर माथे पर खूब अच्छी तरह मालिश करने लगी थीं.

मुंशीजी फारिग हुए तो उन्होंने आंगन से ही जोर की आवाज़ लगायी, "गोपाल की मां . . . अरे ओ गोपाल की मां. . . ." और आवाज़ सुनते ही मुंशीआइन जल्दी-जल्दी सीढ़ियां उतरने लगी थीं.

शाम ढलने के साथ ही साथ चेहरे की बारीकियां अस्तित्वहीन होने लगी थीं. पड़ोस के कुत्ते भौंककर डरावनी आवाज में अपनी उपस्थिति का एहसास करा देते थे. घर में पूरी तरह शांति थी. मुंशीजी आंगन में अनार के पेड़ के नीचे खटिया डालकर चारखाने की लुंगी लगाये हुए थे. माई पंखा झला रही थीं. वे चिंतित मुद्रा में कुछ बतिया रहे थे, पर पूरी बात साफ-साफ सुनायी नहीं पड़ती थी. बात सुनते-सुनते गोपाल की मां बीच-बीच में अपनी आंखें पोंछ लेती थीं तो उसे लगा कि उसी की बातें हो रही हैं.

अब मुंशीजी ठुड्डी पर उंगली रखे अपनी छोटी-छोटी आंखों से भावशून्य बने आसमान ताक रहे थे जैसे लड़का नहीं गाय मारने के बाद मन ही मन बार-बार पछता रहे हों.

कई बार माई के बुलाने पर भी रोज की तरह गोपाल खाना खाने नीचे चौके में नहीं गया तो माई लालटेन जलाकर थरिया में दाल-भात और आलू का चोखा ऊपर ही ले आयी और अपने हाथ से ही सानकर खिलाया-पिलाया. फिर देर तक उसे समझाती रही कि सहसा पिछवाड़े जोर का शोरगुल होने लगा था. सभी लोग घबराकर सकते में आ गये. कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि बात क्या है. तभी लाठी टेकती हुई मोदिआइन, 'गोपाल की मां, अरी ओ गोपाल की मां' कहती हुई भीतर आ गयी. उसका मन यह बताने के लिए बेचैन था कि दिन के जुलूस के प्रभाव में आकर पुलिस ने अपना काम शुरू कर दिया है. उसने सुखुआ महाजन के घर गोदाम पर एक साथ छापा मारा और सैकड़ों टिन बनस्पति, साबुन की बट्टियां और केरोसिन तेल बरामद किया. मोदिआइन ने बताया कि सुखुआ महाजन की घर से ही गिरफ्तारी हुई, हाथ में हथकड़ी और कमर में रस्सा बांधकर पुलिस थाने ले गयी तो उसकी क्या इज्जत आबरू रही. . . कहते हुए हथेलियों से अपना सिर पीटती हुई मोदिआइन बड़े आश्वस्त मुद्राओं में आंखें नचाकर सब बताती रही तो गोपाल कुछ नहीं बोला.

मोदिआइन को चाय देने माई के नीचे चले जाने के बाद गोपाल चुपचाप लेट गया और सोने की कोशिश करने लगा था, पर आधी रात तक उसे नींद नहीं आयी तो वह बेचैनी का अनुभव करने लगा था. थोड़ी देर बाद उसे किसी के आने की आहट मिली.

गोपाल चुपचाप सोया रहा. मुंशीजी ने दबे पांव सीढ़ी से ही झांककर गोपाल के कमरे में देखा, फिर उसे सोता जान तेज़ जलते लालटेन को कम कर दिया था.

उसे गहरी नींद में सोया जानकर वात्सल्य भाव से धीरे-धीरे उसके सिर के बाल इस तरह सहलाते रहे कि उसकी नींद न खुल जाए. वे अपने किये पर पछता रहे थे और उनका जी मन ही मन कचोट रहा था. तभी बाल सहलाते-सहलाते अचानक उनका हाथ गोपाल के ललाट से छू गया तो वे एकदम चिहुंक गये. फिर उन्होंने उसका पेट देखा, पैर टोया, हाथ देखा और बारजे पर आकर रेलिंग के सहारे जरा नीचे झांक घबराये से गोपाल की मां को बुलाने के लिए आवाज देने लगे थे. माई जल्दी-जल्दी सीढ़ियां चढ़ती आयीं और इतने तेज बुखार में दप दप जलते गोपाल को टोकर बुरी तरह घबरा गयी थीं.

तेज बुखार के कारण गोपाल का जी अपने में डूबने लगा था.

"मुझे तो अपने मुन्ने के लिए सम्पूर्ण स्वास्थ्यप्रद पेय ही चाहिए।"

कॉम्प्लान®

सबके के लिए आवश्यक २३ पोषक तत्त्वों वाला एकमात्र सम्पूर्ण स्वास्थ्यप्रद पेय।

केवल कॉम्प्लान में ही वैज्ञानिक ढंग से सुनियोजित अनुपात में प्रोटीन, कारबोहाइड्रेट्स, खनिज तत्त्व, विटामिन और अन्य पोषक तत्त्व हैं जिनकी हर किसी को हर रोज़ ज़रूरत रहती है। जो बच्चे खाने में आनाकानी करते हों उनके लिए तो यह आदर्श आहार है। उन पतियों के लिए भी जो काम की भागादौड़ी में ठीक से खा न पाते हों। और घर में उन बुजुर्गों के लिए जो तबीयत की नरमी के कारण खा न पाएँ। आपके लिए भी, जब थकान के मारे खाया न जाता हो।

याद रहे, डॉक्टर पूर्ण पौष्टिकता के लिए सबसे ज्यादा कॉम्प्लान की ही सिफ़ारिश करते हैं।

कॉम्प्लान सादा और कई स्वादिष्ट ज़ायकों में मिलता है जिनमें हैं चॉकलेट, इलायची-केसर और अब बच्चों का प्यारा स्ट्रॉबेरी कॉम्प्लान।
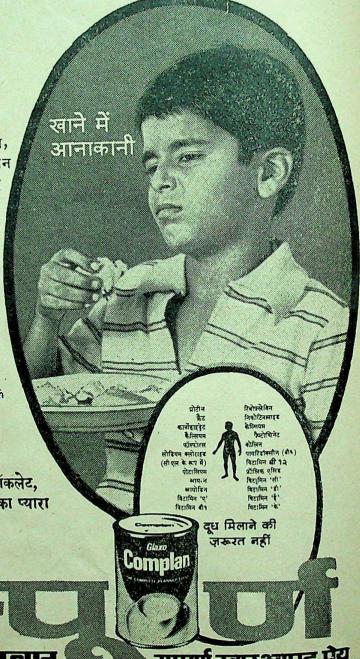
सम्पूर्ण

कॉम्प्लान सम्पूर्ण स्वास्थ्यप्रद पेय

CASGC-45-172 HIN

अयोध्या से वापसी

■ मेहरुन्निसा परवेज

स्नान के लिए हाथ में कपड़े लिए बाथरूम की ओर वह जा रही थी कि अचानक ऊपर की सीढ़ियों पर ठिठक गयी. सामने भीड़ लगी थी. हॉस्टल की कुछ लड़कियां एक घोंसले को बाहर फेंकने में लगी थीं. घोंसला काफी बड़ा-सा था, जिसमें नन्हे-नन्हे कई अंडे रखे थे, जो घोंसले के नीचे गिर जाने के कारण फूट गये थे.

लड़कियों के लिए अच्छा-खासा मनोरंजन हो गया था. एक परेशान चिड़िया बड़ी ही बेचैनी से दीवार पर भटकती उड़ रही थी. कभी एक दरवाजे पर बैठ जाती, कभी वह खिड़की पर बैठ जाती, कभी यूं ही दीवारों के चक्कर लगाती, फिर बैठकर गिरे हुए घोंसले, फूटे हुए अंडों को निहारने लगती.

घोंसला शायद तस्वीर के पीछे था जो थोड़ी-सी असावधानी के कारण नीचे गिर गया था.

सीढ़ियों के हत्थे को पकड़े उसका मन इन्हीं फूटे अंडों की तरह तड़क गया था. हॉस्टल का नौकर आया, वह घोंसले को बेदर्दी से उठाकर बाहर कचरे में फेंक आया. लड़कियां हंसती-खिलखिलाती अपने-अपने कमरे में चली गयीं. चिड़िया अब भी व्याकुलता से तड़पकर अपने घोंसले के लिए, अंडों के लिए विलापकर चीख रही थी.

वह पोर्च में आ गयी. शाम की ठंडी बयार बह रही थी.
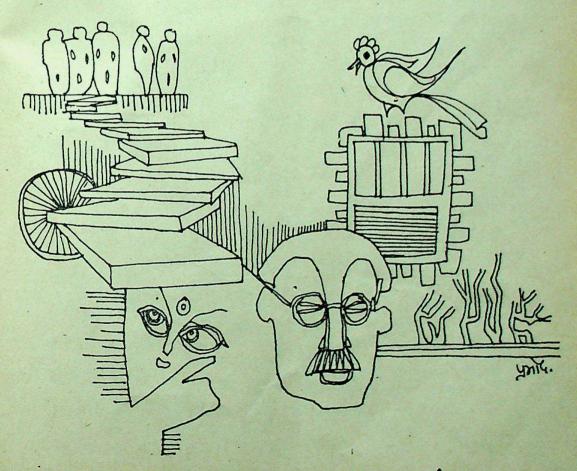
दिल्ली की इस भीड़ के सैलाब में, चमक-दमक में उसे बस शाम की यह ठंडी बयार ही भली लगती थी. इस अजनबियों के शहर में, अजनबी लोगों की भीड़ में जब से वह आयी थी, उसने अपनी पहचान भी खो दी थी. वह कौन है? कहां से आयी है? सारे प्रश्न धुंधले हो गये थे, पर अचानक इस बेघर हुई चिड़िया ने अपने पंजों से उसके जख्मों को और. . . और कुरेद दिया था!

▣

मौहल्ले के सूनेपन में रिक्शे के घुंघरुओं के बोल दूर-दूर तक गूंज रहे थे. लंबे अरसे के बाद उसी पहचाने मौहल्ले में अपने को पा उसे विचित्र लग रहा था. उसने मन ही मन सोचा, अच्छा हुआ रात का अंधेरा था, वरना अभी सारा मौहल्ला इकट्ठा हो जाता. सोचते ही घबराहट में उसके माथे पर पसीना झलक आया. उसने दो-तीन मरतबा मुड़-मुड़कर जाने-पहचाने पड़ोसियों के दरवाजे को देखा. इस आशंका से कि कहीं वह खुले न हों!

बाबूजी ने आगे बढ़कर घंटी बजायी. जानी-पहचानी घंटी की आवाज़ कमरे में टनटना उठी. किसी के उठने, फिर चप्पल घसीट कर इधर आने की आहट मिली. झटके से दरवाजा खुला और सामने राजेंद्र खड़े थे.

राजेंद्र अचकचाकर एक तरफ हो गये. वह अपनी अटैची उठाकर तेज़ी से अंदर हो गयी. उसने एक बार भी आंख उठा कर राजेंद्र को नहीं देखा.

उसने कमरे में अटैची रख दी और घूम-घूम कर सारे घर को देखने लगी. सारा घर बेतरतीब-सा बिखरा, धूल में सना पड़ा था. दीवार पर अपनी तस्वीर उलटी टंगी देख उसका मन दुःखी हो गया. अपनी उलटी तस्वीर देख उसे धक्का-सा लगा तो राजेंद्र ने उसे मरा हुआ समझ लिया था? उसने झट स्टूल पर चढ़कर तस्वीर सीधी की और अपने आंचल से धूल साफ कर दी.

बाहर बरामदे में ही बाबूजी और राजेंद्र बैठे बातें कर रहे थे. राजेंद्र बहुत ही संतुलित शब्दों में बाबूजी से बात कर रहा था. पुरानी बातों की जरा भी कड़वाहट नहीं थी शब्दों में.

मां ने टिफिन में काफी खाने का सामान रख दिया था. रास्ते में भूख ही नहीं लगी थी, इसलिये सारा खाना वैसा ही रखा था. उसे तुरंत कुछ नहीं बनाना पड़ा. उसने उसी खाने को गरम कर टेबल पर लगा दिया और बाबूजी को खबर दे दी. बाबूजी मुंह हाथ धोकर राजेंद्र के साथ खाने बैठ गये.

"तुम भी खा लो नीरा". बाबूजी ने दो तीन बार कहा, पर उसने बात को टाल दिया.

बाबूजी और राजेंद्र खाकर उठ गये तो उसने टिफिन बंद कर रख दिया. उसे भूख थी नहीं.

रात काफी हो गयी थी. बाबूजी ड्राइंगरूम वाले तख्त पर ही लेट गये. वह अपने कमरे में चली गयी. राजेंद्र ऊपर अपने कमरे में चले गये.

सुबह उठकर उसने बाहर का दरवाजा खोला और खिड़कियों के परदे खींच दिये. ढेर सारा उजाला कमरे में बिखर गया.

"नीरा". वह पलटी ही थी कि बाबूजी ने आवाज़ दी. शायद बाबूजी काफी पहले से जाग गये थे.

"जी". वह उनके पास जाकर बैठ गयी.

"बेटा, रात तुम लोगों में कोई बात नहीं हुई?" बाबूजी ने उसके चेहरे को निहारते हुए पूछा.

उसका चेहरा शर्म से लाल हो गया. उसने कोई उत्तर नहीं दिया और सर झुकाये पैर के नाखूनों को देखती रही.

"आदमी क्या पढ़ लिख कर इतना अपने-अपने दायरे में बंद हो जाता है कि दायरे के तोड़ नहीं पाता? हम ही लोग ठीक हैं, कैसा भी वातावरण हो पत्नी से बोल लेते हैं."

बाबूजी की बातों से उसे बड़ी परेशानी-सी हुई, तभी पर्दा हटा कर राजेंद्र आ गये. बाबूजी और वह दोनों सकपका से गये. कहीं राजेंद्र ने बातें सुन तो नहीं लीं? राजेंद्र ने भी दोनों के चेहरे देखा, जैसे कह रहे हों, "जानता हूं बाप-बेटी में क्या बातें हो रही थीं."

राजेंद्र सोफे पर बैठ गये, वह उठकर पीछे बरामदे में आ गयी.

▣

किचन में पारो आ गयी थी और अपना काम कर रही थी. पारो ने मुस्करा कर उसे नमस्ते की. उत्तर में वह हंस दी. पारो ने उसे ऊपर से नीचे तक देखा और बोली, "अब मत जाना आप, बिन औरत के घर शमशान लगता है."

उसने उत्तर नहीं दिया बस मुस्करा कर रह गयी. आंगन में लगा केले का पेड़ जो उसने लगाया था, अब काफी बड़ा हो गया था. उसे देख उसने अंदाज़ा लगाया वाकई वह काफी दिन बाहर रही.

"चाय मैं बनाऊं या आप बनायेंगी." पारो उसके निकट आती बोली, क्योंकि उसे पता था उसे किसी के हाथ की चाय पसंद नहीं थी.

"क्यों इतने दिन तू बनाती थी, मुझे देखते ही जी चुरा रही है? मुझे भी तो बना कर खिला. देखूं कैसा बनाती थी."

"नहीं आप ही बनाइये, मेरे हाथ की चाय आप पसंद नहीं करेंगी". पारो झेंपती हुई बोली.

"अच्छा". कहती वह किचन में गयी. किचन में जाते ही उसे विचित्र-सा लगा. चाय नाश्ता बनाकर उसने ट्रे में लगा दिया और पारो को पकड़ा दिया.

"आपकी चाय"! ट्रे उठाकर भीतर जाते पारो आश्चर्य से बोली.

"यहीं ले लूंगी, तू ले जा."

पारो के भीतर जाते ही बाबूजी की आवाज़ आई, "नीरा चाय लो आकर."

"बाबूजी अभी ब्रश नहीं किया है". वह झूठ बोल गयी.

वह अपनी चाय ले कर बैठी ही थी कि ऊपर वालों की खिड़की खुली और भाभी जी ने नीचे झांका.

"नीरा आ गयी."

"नमस्ते भाभी जी, आप अच्छी थीं". उसने अपने चेहरे की घबराहट को छुपाते हुए पूछा.

"हम तो ठीक थे अपनी कहो, अब मत जाना, हम से झूठ कह कर गयी कि दो दिन में लौट आऊंगी और इतने दिन लगा दिये. मुझे तो रात को ही आवाज़ मिल गयी थी. इच्छा तो रात को ही हो रही थी तुमसे बात करने की, पर तुम्हारे भाई साहब ने मना कर दिया, बोले सुबह बोल लेना.

उसने कोई उत्तर नहीं दिया, बस मुस्करा कर रह गई.

"साड़ी तो बढ़िया पहन रखी है, मां ने दी होगी". मामी जी ने ऊपर से नीचे तक उसका आंख घुमाकर मुआयना किया. घबराहट से उसे पसीना आने लगा, तभी बाबूजी ने उसे आवाज दी और उसने चैन की सांस खींची और भीतर चली गई.

"तुमने चाय ली". बाबूजी ने पूछा

"अभी ले लूंगी".

"अभी कब?", बाबूजी ने पारो को आवाज दे कर उसकी चाय वहीं मंगवा ली. वह चाय पीते सामने दीवार को देखती रही.

बाहर कोई आया था शायद. राजेंद्र उठकर बाहर चले गये.

"सोचता हूं शाम की गाड़ी से चला जाऊं." बाबूजी ने पैर के एक्जीमे के घाव पर मलहम लगाते हुए कहा.

बाबूजी की बात से उसका चेहरा सफेद पड़ गया. उसकी समझ में कुछ नहीं आया कि क्या बोले.

"इतनी जल्दी".

"हां, उधर भी तो देखना है न, तुम्हें लाकर पहुंचा दिया मेरी ड्यूटी खत्म."

"नहीं, अभी आप रहिए आठ-दस दिन, आपने तो कहा था कि आप रहेंगे थोड़े दिन मेरे साथ, फिर यहां आकर इतनी जल्दी जाने का प्रस्ताव."

"अब जाऊंगा बेटा, तुम दोनों समझदार हो, पढ़े लिखे हो, अपने हालत खुद ठीक करो, मेरे रहने से तुम लोग और नहीं बोल पाओगे. मैंने राजेंद्र को समझा दिया है, वह पुरानी बातों की चर्चा नहीं करेगा ... और तुम्हें भी चाहिए अब पति जो कहे मान लेना चाहिए. औरत पति के घर ही अच्छी लगती है. अपने स्वाभिमान को लेकर कब तक जिंदा रहोगी? स्वाभिमान को कुचल दो, यह डंक जब तक रहेगा, तुम्हें डसता रहेगा. पत्नी का दरजा छोटा होता है. पति का बड़ा". बाबूजी बोले जा रहे थे और वह आश्चर्य में भरी उनके चेहरे को देख रही थी. बाबूजी का बात करने का ढंग कितना बदल गया है? क्या यह वही बाबूजी हैं जो सब के सामने जोर से बोले थे, "वह मेरी लड़की है, वह पति के पैर की जूती बनकर नहीं रह सकती. नीरा को रखना है तो राजेंद्र को उसे बराबरी का दरजा देना होगा." और आज अचानक बाबूजी का बदला हुआ लहजा सुनकर वह दंग थी. तो बाबूजी ने भी हालात के आगे घुटने टेक दिये? लड़की का बोझ उन्हें भी महसूस होने लगा?

वह बिना कुछ बोले चुप रही और चाय पीती रही. रोष से उसका मन भर गया था, पर वह कुछ नहीं बोली.

"तो मैं शाम को चला जाऊं." बाबूजी ने आहिस्ता से फिर पूछा.

"हां, चले जाईये." उसने एकदम सपाट शब्दों में कहा और खाली मग को वापस ट्रे में रख दिया. वह समझ गई थी बाबूजी का सहारा वह कब तक लेती रहेगी.

"नहीं, तू कहेगी तो रुक जाऊंगा" बाबूजी उसके बोलने के ढंग पर चौंक गये और सकपकाये से उसे निहारते रहे, फिर थोड़ा नरम पड़कर प्यार से बोले, "तो रुक जाऊं."

"रुक कर क्या करेंगे, नहीं अब मैं खुद देख लूंगी, आप जाइये, आखिर उधर भी तो देखना है न". उसने रोष में भरकर बाबूजी के शब्दों को ही दोहरा दिया.

"ठीक है जैसा तू कहे." बाबूजी सहमे से ऐसे बोले जैसे खुद अपने जाल में फंस गये हों.

▣

शाम की गाड़ी से बाबूजी लौट रहे थे. रिक्शे पर सामान रखा गया. सब पड़ोस के लोग इकट्ठे हो गये उत्सुकता से. वह भी बस स्टैंड तक जाने को तैयार हो गई थी.

"आप भी जा रही हैं." जब वह बाबूजी के साथ रिक्शे पर बैठी, तो पड़ोस की मामी जी बोलीं.

"नहीं, बस स्टैंड तक छोड़ने जा रही हूं." उसने खीजे शब्दों में कहा.

वह जब से यहां आई थी, सब उसे विचित्र ढंग से देखते थे. जैसे किसी होने वाली घटना की बाट जोह रहे हों. सबको शायद इंतजार था कि उसके आते ही घर में झगड़ा होगा, चटपटे दृश्य देखने को मिलेंगे, पर इसके विपरीत वातावरण देखकर सब क्षण-क्षण प्रतीक्षा में थे कि अब कुछ होगा, अब कुछ होगा, पर सबके सपाट चेहरे देखकर सब आश्चर्य में थे.

बस छूटने में समय था. बाबूजी उन दोनों के सामने खड़े थे. वह दूर होटल में जलते चूल्हे को देख रही थी.

"देखो, दोनों पुरानी बातों को भूलकर फिर से नया जीवन शुरू करो". बाबूजी ने उपदेश देने के लहजे में कहा.

"मैं तो अपनी जगह सही हूं, नीरा को ही समझा दीजिए. पति के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह उसे आना चाहिए न". राजेंद्र ने कहा तो नीरा ने चमक कर राजेंद्र को देखा था.

वह तो आई ही थी सारी स्थितियों से समझौता करने, पर इस तरह बोल-बोल कर तो उसे उकसाया जा रहा था. लड़ने के लिये तैयार किया जा रहा था. राजेंद्र की आंखों में अभी भी उसके लिये परायापन था, यह उसकी आंखों और शब्दों से स्पष्ट था.

बाबूजी के बस में बैठते ही बस छूट गयी. बस के पीछे उड़ती धूल को क्षणभर को ताकती वह अकेली रह गयी.

दोनों रिक्शा-स्टैंड की ओर बढ़े. दोनों ने अलग-अलग रिक्शा किया और घर लौट आये. घर पर जब मामी जी ने झांककर दोनों को रिक्शे के पैसे देते देखा, तब उसे अपनी गलती का अहसास हुआ. दोनों अलग रिक्शे पर आये, अब इस पर टीका-टिप्पणी होगी.

▣

उसने महसूस किया, जीवन अब पहले से अधिक यातनापूर्ण हो गया था. पहले तो वह लोग लड़कर, एक दूसरे पर व्यंग्य कर ही मन का रोष निकाल लेते थे, पर अब वह दोनों एक दूसरे को कुछ नहीं कहते थे. इस तरह वातावरण ज्यादा गंभीर लगने लगा था. परायापन अधिक नंगा होकर दिखने लगा था.

क्या कभी-कभी ऐसा नहीं होता . . . हम सोचते हैं, हम जो जगह छोड़ आये हैं, वह सुरक्षित होगी. लौटने पर फिर

हमें अपना सुरक्षित स्थान मिल जायेगा. इसी भ्रम में आदमी जानबूझ कर मौत के अंधेरे की ओर खिंचता चला जाता है. सच क्या है, फिर भी झूठ की छाया को थामे बैठने को जी चाहता है, खोई हुई मान-मर्यादा क्या फिर मिल सकती है?

वह अपनी आलमारी में सूटकेस से कपड़े निकाल रही थी. उसके पुराने कपड़े तुड़े-मुड़े से आलमारी में पड़े थे. उसने देखा आलमारी से उसकी नीले रंग की साड़ी गायब है. उसने महसूस कर लिया, साड़ी पारो ने गायब की होगी. बस यही सोचकर कि अब तो वह लौटेगी नहीं, जितनी चोरी करना है कर लो. वह आलमारी में कपड़े तह कर रख रही थी, इस बीच राजेंद्र दो बार कमरे में झांक गये यह देखने, कि वह क्या कर रही है? उसे घरेलू काम में व्यस्त देख काफी आश्वस्त से बाहर चले गये.

धीरे-धीरे उसने घर का कोना-कोना देखना, झटकना-पोंछना शुरू कर दिया. वह पहले की तरह ही अपने काम में व्यस्त हो गई थी. मनीप्लांट की बेल जो पूरी तरह सूखने चली थी उसे भी उसने ठीक किया. पके-सड़े पत्तों को बाहर फेंका और बेल को काटकर नये सिरे से रोप दिया बोतल में.

बाथरूम से वह नहाकर लौटी और गीले बालों को तौलिए से झटकती बाहर आई तो देखा, पारो ऊपर वालों के यहां से तेजी से उतर रही थी, यकायक उसे देख वह हड़बड़ा कर चौंक गयी.

"क्या बात है? ऊपर क्यों गई थी?"

"ऊपर वाली माता जी ने बुलाया था." वह सहमी सी बोली.

"क्यों?" उसने आश्चर्य से पूछा.

"जी, वह पूछ रही थीं कि तेरी बाई साहब से बोलती हैं या नहीं और साहब बाई से बोलते हैं या नहीं."

"अच्छा". उसका चेहरा सफेद पड़ने लगा. गले में कुछ फंसता सा लगा. ऐसा भी प्रश्न लोग कर सकते हैं, यह उसके लिए आश्चर्य की बात थी. फिर भी उसने अपने को संयत किया और बोली, "फिर तूने क्या कहा."

"मैंने तो साफ गप्प लगा दी बोली, "मियां-बीवी हैं, बोलेंगे नहीं?" पारो ने अपने शब्दों में ढेर सारा एहसान, उदारता लादते हुये आगे कहा, "मैंने तो कहा हमारी बाई साहब से नहीं बोलेंगी तो क्या आपके साहब से बोलेंगी".

अंत वाली बात झूठ थी. इतनी हिम्मत इसकी थोड़े हो सकती है. फिर भी वह चुप रही. चुप रह जाना ही बेहतर था. वह अपने कमरे में लौटने लगी तो नौकरानी आगे बोली, "वह यह भी बोल रही थी, "तेरी बाई तो जवान है, दूसरा आदमी बना लेती. पर साहब बेचारे क्या करते?"

"बस बहुत हुआ पारो, अपना काम कर तो." उसने उसकी बेतुकी बातों से ऊब कर कहा और भीतर चली गई. रोष से उसकी आंखें जलने लगीं. लोग कितने विचित्र हैं, नहीं आई थी तो चिंता थी, आ गई तो चिंता है. लोगों को कहीं भी चैन नहीं.

इन दिनों उसने अजीब बदलाव का एहसास अपने अंदर महसूस किया है. पहले मन क्रोध या उदासी में बोलने को होता था, पर अब चुप रहने को मन करता है. अजब सी निष्क्रियता घेरे रहती है. लगता है उसकी जगह कोई पत्थर चल-फिर रहा है. इस पर कितनी चोटें. . . .कितनी ही आवाज दी जाये यह वही
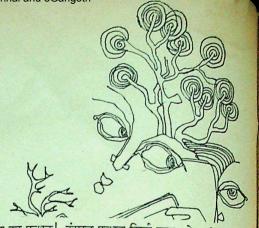
पत्थर का पत्थर! इंसान पत्थर सिर्फ बाहर से नहीं होता, भीतर से भी होता है. . . .अंदर का वज़न और-और दबाता है.

राजेंद्र के व्यवहार में उसने एक विचित्र सा परायापन देखा. अब वह हर बात में उसकी जांच-पड़ताल करता. बार-बार आकर देख जाता कि वह क्या कर रही है. याने उसकी सब गतिविधियों का वह बारीकी से निरीक्षण करता. वह घर पर आये किसी परिचित से बात करती तो वह उसे विचित्र ढंग से तकता, जिससे अंदर ही अंदर उसे घबराहट होने लगती थी. राजेंद्र के पहले और बाद के नेचर में साफ अंतर आ गया था. पहले वह मुंह से बोल कर गुस्सा निकाल लेता था, पर अब वह बोलता नहीं, बस उसे पारखी, ताड़ती, तौलती नज़र से उसका पीछा करता था, जिसके कारण वह अस्त-व्यस्त हो उठती थी. मन दुःख से भारी हो उठता था. गुस्से से शब्द मुंह तक आते थे, पर वह कह नहीं पाती थी. दोनों को लगने लगा था कि दोनों एक दूसरे के लिए अजनबी, अनजान व्यक्ति हैं, जिनका एक दूसरे पर बोलने का हक नहीं बनता था.

▣

डायरियां लिखने की उसकी बचपन की आदत थी. बचपन से ही बाबूजी को लिखते देख उसने भी उनकी यह आदत चुपचाप से अपना ली थी. शुरू में यह बड़ों की नकल की तरह उसने अपनाया था, पर बाद में धीरे-धीरे यह उसकी आदत में शुमार हो गया था. उसकी इस आदत को राजेंद्र जानते थे, इसीलिए जब वह रसोई में या और कोई काम में व्यस्त होती, तो वह देखती उसकी डायरियों को पढ़ा गया है, जांच-पड़ताल की गई है. राजेंद्र के दिमाग में यह शक किसी ने बैठा दिया था, कि जो वह मायके चली गई थी, उसके पीछे कोई था जिससे वह बाद में शादी करती. इसी शक से भरकर उसकी सब गतिविधियों पर नजर रखी जा रही थी. यहां तक की जो उसके दोस्तों की चिट्ठियां आती थीं, उन्हें भी राजेंद्र चुप से पढ़ता, जैसे उन पत्रों में कोई सुराग ढूंढ रहा हो, किसी खजाने की खोज के लिए.

राजेंद्र की इन हरकतों से उसे हंसी आती थी. आदमी कभी-कभी अपने संबंधों को बचाने के लिए, बनाये रखने के लिये ऐसी हरकतें, ऐसी पहरेदारी करता है कि सबंध और टूटने लगते हैं. वह किसी से बात करती, मिलती तो वह बहुत ध्यान से उस पर नजर रखता. राजेंद्र, जो पहले निरंतर अपने काम में व्यस्त रहता था, अब निरंतर उसकी चौकीदारी में अपना समय नष्ट करते

लगा था. वह घर के किसी काम में व्यस्त रहती तो बार-बार झांक जाता कि वह क्या कर रही है. वह किसी दोस्त को पत्र लिखती तो वह बेचैनी से भरा कई-कई चक्कर लगाता, यदि वह अधूरा पत्र छोड़ किसी काम से बाहर चली जाती तो वह तुरंत पढ़ने लगता. अब वह भी राजेंद्र की इस हरकत से परिचित हो गई थी, इसलिये वह भी पत्र लिखते-लिखते जानबूझ कर उठकर चली जाती और काफी देर में लौटती, ताकि वह आराम से पत्र पढ़ ले. लौटकर देखती, राजेंद्र का परेशान चेहरा निश्चिंत हो गया है और वह आराम से अपने कमरे में बैठा पेपर पढ़ रहा है. पर तब वह खुद बेचैन हो उठती, उसका मन फिर पत्र लिखने में या डायरी लिखने में नहीं लगता. वह दोनों हाथों का टेबल पर रखे, सर को उस पर टेके बैठी रहती. न जाने कब तक वह ऐसे ही बैठी रहती...कभी-कभी तो घंटों गुज़र जाते, तब वह चौंककर उठती और थकी, कटी डाल सी अपने पलंग पर ढह जाती.

राजेंद्र को पता चल गया था कि मायके में जब वह थी तो उन लोगों ने उसे कैसा तंग किया था, कितना अपमान किया था. उसे रहने नहीं दिया. अंत में तंग आकर राजेंद्र के घर लौटना उसने स्वीकार लिया था. अब तक राजेंद्र को यह भय था कि वह मायके जा सकती है, पर उसके मन से यह भय भी मिट गया था. अब वह पूरी तरह समझ गया था कि इस घर में रहने के अलावा उसके पास दूसरा दरवाजा नहीं, जो उसे दो इंच जगह भी रहने के लिए दे सके. इसलिये अब वह दिलेर हो उठा था. अब उसे परेशान करने, दुःख देने, अपमान करने में उसे मजा आने लगा था. राजेंद्र की आंखों में उसके लिये इतनी हिकारत, घृणा-सी भर गई थी कि वह परेशान हो उठती थी. राजेंद्र का घाव दिन प्रतिदिन जहर उगलती नज़रें, उसके व्यक्तित्व को और खोखला कर देती थीं.

घर में पड़े-पड़े वह घुट सी गई थी. शाम को उसने सोचा थोड़ा घूम आये और जरूरी सामान भी ले आये. जब से वह पिता के घर से आई है, बाजार भी नहीं जा पाई है. वह टहलते हुए बाजार की तरफ चली गई. दुकान पर कुछ परिचित महिलाएं मिल गई और वह उनसे बात करने लगी. सामान खरीदने में समय हो गया. घर लौटी तो अंधेरा हो गया था. वह समझ गई राजेंद्र लौट आया होगा. घर पहुंचते ही उसने देखा राजेंद्र गुस्से से भरे बैठा था.

"कहां चली गई थीं तुम."

"सामान लेना था, दुकान में समय हो गया". उसने धीरे से सफाई दी.

"कौन सी दुकान गई थीं, जहां इतना समय हो गया?"

"तो अब मुझे यह भी बताना होगा." राजेंद्र का बोलने का ढंग उसे अच्छा नहीं लगा.

"हां"

"और यदि मैं न बताऊं तो." उसने दिलेरी से तन कर कहा. राजेंद्र गुस्से से भन्नाते हुए अपने कमरे में लौट गये.

वह चुपचाप अपने कमरे में जाकर पलंग पर लेट गई. अपमान से उसका मुंह लाल हो गया. तो राजेंद्र को शक है कि दुकान का कह कर कहीं और गई थी. इस त्रासदायक वातावरण में वह भला कैसे और कब तक जी पायेगी. जिंदगी में विश्वास ही कुल जमा पूंजी होती है और जब वही नहीं, तो कब तक जिया जा सकता है. अब ऐसे वातावरण को सहज बनाना कठिन था.

दोपहर को वह बालकनी में खड़ी थी कि उसने देखा, पीछे रहने वाली चंपाबाई जो अस्पताल में दाई का काम करती थी, उसकी वही नीले रंग की साड़ी पहन कर जा रही है. आश्चर्य से उसका मुंह खुला का खुला रह गया. उससे रहा नहीं गया, उसने आवाज दे कर चंपाबाई को रोक लिया. चंपाबाई झिझक कर उसके सामने आ खड़ी हुई.

"यह साड़ी तुम्हें कहां मिली, यह तो मेरी है".

"आपकी है? मगर मुझे क्या मालूम? आपकी नौकरानी इसे बेच गई है". चंपाबाई ने घबराहट में अपना जुर्म स्वीकार लिया.

"हां, तो तुम चोरी का माल खरीदती हो. तुम्हारी तो पुलिस में रिपोर्ट होनी चाहिये." उसे गुस्सा आ गया.

"हां, हां, करो पुलिस में रिपोर्ट." चंपाबाई भड़कते हुये अपना हाथ नचाते हुए बोली, "पुलिस मेरा क्या करेगी? बड़ी आई पुलिस का डर दिखाने वाली. ऐसे ही अपने घर के सामान की चिंता करने वाली थी, तो घर छोड़कर गई क्यों थी! अरे सब ऊपर से शरीफ दिखती हैं, भीतर से पोल हैं. और देखो रास्ता रोक कर कैसा टोका-टोकी कर रही हैं."

"देखो मुंह संभाल कर बोलो, बहुत मुंह चढ़ी जा रही हो!"

"हां, हां क्या कर लोगी? बड़ी साड़ी वाली आ गई." चंपा बाई जोर-जोर से बोलने लगी. आसपास के दरवाजे खुलने लगे थे. उसका गुस्सा बढ़ता जा रहा था, पर वह अपने गुस्से को पी गई. नीच के मुंह कौन लगे. उसे तो अब अपने आप पर गुस्सा आ रहा था, वह क्यों ऐसी औरत के मुंह लगी. वह भीतर आ गई.

उसने दरवाजा बंद कर लिया था, पर चंपाबाई सबको सुना सुना कर बक रही थी. उसने अपने कानों पर हाथ रख लिये. गुस्सा आंखों के रास्ते पिघल कर बहने लगा. चंपाबाई ने बीच बाजार में उसे नंगा कर दिया था, यह पीड़ा उसे चीर रही थी. पीड़ा से उसकी छाती दुखने लगी. वह दरवाजे खिड़कियां बंद कर सारी दोपहर मुरदे की तरह पड़ी रही.

जिंदगी वास्तव में कितनी विचित्र है, पता ही नहीं चलता. चलते-चलते जिंदगी किसी कोने-कोने में कैसी-कैसी गलियों से मुड़ जाती है. कभी लगता है सारे अधिकार हमारे हैं, सब पर हमारा अधिकार है और कभी अनायास यह एहसास होता है, नहीं हम एक झूठे भ्रम को पाले हुये थे. हमें सारे अधिकारों से वंचित कर दिया गया है. तिनके पर भी हमारा हक नहीं बनता. अचानक लगता है कि समय के दावेदार ने हमें दिवालिया घोषित कर दिया है. और मन के कोने, कोने से निकलकर एक एक, सुखों की बोली बोल दी है. सब कुछ कितना अनिश्चित सा.

उसने अपने आप को सहज बनाने में कोई कसर नहीं रखी. पुरानी बातों को दफन करना ही ठीक समझा. उन लड़ाइयों को लेकर जिंदा रहना भी तो मुश्किल हो जाता न. अब राजेंद्र को चाय देने से लेकर उसका बिस्तर लगाने का काम भी वह खुद करने लगी थी. राजेंद्र भी जैसे समझ गया था कि स्थिति सामान्य है, सारा तूफान उतर चुका है.

शाम को वह लाल रंग की जोधपुरी साड़ी में बाहर लॉन में आ बैठी. घास पर नन्हा खरगोश दौड़ रहा था. वह उसे दिन भर

पिंजड़े में बंद रखती थी और शाम थोड़ी देर के लिए खोलती थी, वरना वह कोने-कोने में जा छुपता था और उसे वापस बंद करने में दिक्कत होती.

राजेंद्र भी अपनी चाय लेकर स्टडी से इधर ही आ गये. उसने सर उठाकर राजेंद्र को देखा फिर वह खरगोश को देखने लगी. खरगोश नर्म-ठंडी दूब में अपना सर छुपाये खेल रहा था, लोट रहा था.

"नीरा, पिक्चर अच्छी लगी है चलोगी?" राजेंद्र ने पूछा.

"कौन सी है?"

"घर"

"यह तो मेरी देखी हुई है, बाबूजी के घर थी तब देख आई थी."

"और क्या, क्या करतीं थीं तुम वहां?" राजेंद्र ने तेज जहर बुझे लहजे में अचानक पूछा.

"क्या मतलब." राजेंद्र का इस तरह बोलना उसे खल गया, उसकी भवें तन गईं.

"मतलब क्या, मतलब साफ है इतने दिन तुम वहां रहीं किसी से दोस्ती तो हुई होगी. सुना है वहां काफी ज़ोर-शोर से तुम्हारी शादी की बातें आ रही थीं. तुम्हारे इतने आशिक होंगे, यह तो हमें भी पता नहीं था."

"देखो, जो कहना हो ढंग से कहो, इस तरह सस्ते मत कहो!" उसका चेहरा अपमान से लाल हो उठा, "शादी की बात आ रही थी, यह सब तुम्हारे मन का शक है."

"वह तो मेरा कानूनी डंडा बजा, तो तुम्हारा खूसट बेवकूफ बाप एक ही नोटिस में तुम्हें पहुंचा गया, वरना तुम तो शादी कर चुकी होतीं. सुना है बड़े कद्रदान तुम्हारे पैदा हो गये थे वहां."

"देखो, तमीज से बोलो." वह तमक कर खड़ी हो गई. "मेरे बाप को बुरा-भला कहा तो ठीक नहीं होगा. तुम्हारे मन में इतना ढेर सारा मेरे लिए शक है यह आज पता चला. मुझे पहले ही पता था यहां लौटने पर मुझे क्षण क्षण अपमान मिलेगा. पर बाबूजी के, मां के आगे मैं हार गई. किसी भी युग में झगड़े के बाद पति के घर लौटने पर नारी को सम्मान नहीं मिला. सीता का भी अयोध्या लौटने पर अपमान हुआ था, पर इससे पहले कि राम की तरह अंधे हो कर तुम मुझे निकालो, मैं खुद तुम्हारी अयोध्या त्याग कर जा रही हूं, अब कभी न लौटने के लिए."

राजेंद्र अचकचा कर उसे निहारने लगे. वह सहमे से उसे देखने लगे. वह तेज-तेज आगे बढ़ गई.

"नीरा, सुनो तो. . . ." राजेंद्र ने उसे आवाज दी, पर वह भीड़ से भरी सड़क पर उतर चुकी थी.

हॉस्टल की सारी लाइट जल गई थी. बेतहाशा कुमकुमों से जगमगाती दिल्ली शहर रात के अंधेरे में बेहद हसीन हो गया था. उसने पोर्च पर आकर कचरे के टीन को देखना चाहा, जहां चिड़िया का घोंसला फेंका गया था, पर वहां ढेर सारा अंधेरा होने के कारण उसे कुछ नज़र नहीं आया. चिड़िया अभी भी अंधेरे में छटपटा रही थी. जहां इतनी रोशनी थी, वहां ऐसी भी जगह थी, जिसे अंधेरा निगल गया था! ☐

● द्वारा श्री भगीरथ प्रसाद, एस. डी. एम. डबरा, ग्वालियर. (म. प्र.)

पुष्प चरित उर्फ मेरे पहले प्रेम प्रसंग

• रवींद्र नाथ त्यागी

रह गया पीछे
नगर, घर, द्वार
सब कुछ रह गया पीछे :
आओ ये चिह्न गिनें
कहें सूख गयी नदी की कथा.

ओम प्रभाकर का काव्यग्रंथ 'पुष्प-चरित' क्या पढ़ा कि मुझे अपने प्रेम-प्रसंग याद आने लगे. प्रेम-प्रसंगों के मामले में हालांकि मैं अभी तक पिटा नहीं हूं, मगर वैसे काफी उदारमना रहा हूं. ईश्वर की बनायी स्त्री जाति से प्रेम न करना, ईश्वर के प्रति अनादर होगा—ऐसा मेरा अटूट विश्वास रहा है. मगर ईश्वर ने इस संदर्भ में दो गलतियां कीं. एक तो यह कि सौंदर्य को इतनी मात्रा में जन्म दिया कि समझ में नहीं आता कि इंसान किस-किस से प्रेम करे, और दूसरी गलती यह कि पता नहीं यों लड़कियों को काफी संगदिल बनाया है. कवि के शब्दों में ये दोनों स्थितियां इस प्रकार बयान की जा सकती हैं:

इलाही कैसी-कैसी सूरतें तूने बनायी हैं,
कि हर सूरत कलेजे से लगा लेने के काबिल है.
(अकबर)

लगा न दिल को कहीं, क्या सुना नहीं तूने,
जो कुछ कि मीर का इस आशिकी ने हाल किया.
(मीर)

मेरे प्रेम-प्रसंगों की कथा 'प्रेमसागर' की भांति काफी लंबी है. जहां तक मुझे याद पड़ता है, पैदा होते ही मैंने एक ऐसी स्त्री से मुहब्बत करनी शुरू कर दी थी जो कि पहले से ही विवाहित थी. वह मेरी मां थी. यानी की मेरे मरहूम पिता की पत्नी. यह मुहब्बत इतनी सच्ची निकली कि उम्रभर चलती रही और कोई खास बदनामी भी नहीं हुई. मगर इस इकलौती मुहब्बत के अलावा खाकसार ने जहां कहीं भी इश्क किया, वहां प्रायः निराशा ही हाथ लगी.

मेरा दूसरा इश्क एक ऐसी लड़की से हुआ जो वैसे तो गरीब थी, मगर खूबसूरती के मामले में जरूरत से ज्यादा अमीर थी. उन दिनों खाकसार कोई सोलह-सतरह साल का रहा होगा और वह थी कोई चौदह-पंद्रह साल की. फटे कपड़ों में वह ठीक ऐसी लगती थी जैसी कि क्लियोपेट्रा. इतिहास के छात्रों को पता होगा कि क्लियोपेट्रा को जब सीजर के सामने पहली बार पेश किया गया था तो निहायत गलीज कपड़ों में ही किया गया था. मगर यहां तकदीर ने हमारा साथ नहीं दिया. बाधा क्रमसंख्या एक तो यह थी कि वह इतनी भोली थी कि प्रेम के ढाई अक्षर भी समझने को तैयार न थी. कवि के शब्दों में मैंने उससे न जाने कितनी बार कहा कि 'उठो सुहागन चांद ढल गया' या 'री सुहागन, कुसुम ऋतु छायी बागन-बागन', मगर उस पर कोई असर ही नहीं पड़ा. ऐसी डल लड़की को तो 'डल झील' में ही फेंक देना चाहिए. बाधा क्रमसंख्या दो यह थी कि जिन हजरत के यहां वह लड़की काम करती थी, उनकी अपनी निगाह भी उस पर थी, ऐसी स्थिति में हमने वही किया जो कवि ने आज्ञा दी थी :

चलो, अब तो यहां से भी चलें
अब तो पहाड़ी के उस पार
बूढ़ा सूर्य बनकर ढलें,
चलें अब तो बंद कमरे में
सुलगती लकड़ियों से जलें

इस हादसे के बाद हमने अपने दिल की दस्तावेज एक ऐसी कन्या के सामने प्रस्तुत की जो हमारे ही मुहल्ले की थी, जिसे हम बाकी पब्लिक के सामने 'बहन' कहकर पुकारते थे. वह प्यार के सहारे दोस्ती तक पहुंचना चाहती थी और हम थे कि दोस्ती के सहारे प्यार तक पहुंचना चाहते थे. प्रेम के क्षेत्र में उतनी अनुभवी कन्या हमें फिर नहीं मिली. जहां पहली लड़की हमारे मनोभाव नहीं पहचानती थी, वहां इससे हम इस दिशा में पीछे पड़ते थे. बड़ी चौकस छोकरी थी. 'क्वांरी मत समझो, मैं ब्याही हूं नंदलाल' टाइप. इसने हमें विरह और मिलन का अंतर समझाया, बुलाने के इशारे समझाये,

प्रेम का वक्त बतलाया और बाकी हिदायतें भी दीं. बुंदेलखंड का यह फाग इस पर पूरी तरह फिट बैठता था :

नयी गोरी, नये बालमा, नयी होरी की झांक
ऐसी होरी दागियो, जो कुल को न आवै आंच
सम्हरि के यारि करौ मोरे बालमा

लड़की वैसे सच्ची थी. शादी के बाद भी, जबकि उसके बच्चे मुझे सार्वजनिक तौर पर मामा कहकर पुकारते थे. वह जब अकेले में मिलती थी तो स्थिति यही रहती थी कि :

पीपर पत्ता चीकनै, दिल चिलकैं औ रात
यारी बालापने की खटकत है दिन रात
लगी को कौन बिसारै मोरे बालमा

इस बालिका की शादी के कुछ वर्ष उपरांत हमारा तबादला हो गया और हम इंटरमिडिएट की परीक्षा के लिए एक और कस्बे में चले गये. वहां एक भाभी जी मिलीं, जिन्होंने हमें पहली बार अश्लील चित्र दिखलाये और यह भी बताया कि उनमें अश्लील जो था वह क्या था. हम समझ गये और कवि शब्दों में :

वह तट भी छोड़ चले,
ऐसे में क्या करते निरुपाय
रथ ही तोड़ चले

▣

इसके बाद प्रेम का प्रथम सच्चा अनुभव तब हुआ जब हमने एक लड़की का ट्यूशन शुरू किया. इतनी सुंदर लड़की मैंने फिर कभी नहीं देखी. मैं उसे क्या पढ़ाता था, वह ही मुझे पढ़ाती थी :

थके चेहरे
झुके माथे
भरी आंखें
ढले कांधे
चटकती हिचकियों में थरथराते नाम
ताल के ठहरे हुए जल में सिसकती शाम

बड़ी प्यारी लड़की थी. बस दिक्कत थी तो यह कि अकेले बहुत कम प्राप्त होती थी. जितनी देर भी वह साथ रहती थी, घर का कोई और सदस्य भी वहीं बैठा रहता था. एक वर्ष के निरंतर सहवास में मैं उसका हाथ केवल एक बार छू पाया था. पवित्र प्रेम की ठीक वही स्थिति जो एक कवि ने कभी इस प्रकार बयान की थी :

उश्शाक़ कहीं खींच न ले टांग पकड़ कर
इस खौफ़ से माशूक लबे बाम न आया
(जरीफ़)

खैर वह बेचारी तो पल्ले नहीं पड़ी, मगर उनकी विधवा माता मेरे पीछे बुरी तरह पंजे झाड़कर पड़ गयीं. मैं उनकी पुत्री से प्रेम करता था और वह मुझसे इश्क करती थीं. उनकी उम्र कोई पैंतीस वर्ष के लगभग रही होगी और सिवाय इसके कि उनके चाहने वाले काफी थे, उनमें और कोई कमी नज़र नहीं आती थी. अलबत्ता, चाहने वाले उनके इतने थे कि न जाने कितने शायरों का कलाम एक साथ याद आता था :

बीसियों चाहने वालों की ज़रूरत क्या है
नाज़ उठवाओगे तुम उनसे कि छप्पर कोई?
(बेढब)

हुजूमे आशिकी देखा जो दरवाज़े पै, वे बोले
हमें ये टीम कुछ आल इंडिया मालूम होती है
(जरीफ़)

▣

माशाअल्लाह, किसी तरह मैं उस चक्रव्यूह से निकला. इसके बाद मेरा अंतिम प्रेम विश्वविद्यालय में हुआ जो मेरी कायरता के कारण शादी का रूप न ले सका. शादी हो जाती तो शायद बच्चे भी हो जाते. बड़ी भली लड़की थी. मंझला कद, सांवला रंग, पतले होंठ और बड़ी-बड़ी आंखें. ज्यादा कुछ कहने के बजाय बेहतर होगा कि ओम प्रभाकर की कुछ पंक्तियां उद्धृत कर दूं :

किसने धोये केश
प्राण तक गमक उठे?
कोई आकर बैठ गया बिल्कुल सट के
जा न सकूंगा कहीं और अब मैं हट के
तनक झुके ये अधर
तनक वे अधर उठे
किसने बाले दीप
अंधेरे चमक उठे?

▣

सरकारी तौर पर मेरा यह अंतिम प्रणय था. इसके बाद मेरी शादी हो गयी. शादी के बाद प्यार-व्यार कुछ नहीं होता. गम और भी हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा. हां अलबत्ता, कभी-कभी पुरानी आदत लौट आती है, मगर वह दीगर बात है. पिछली बार अस्पताल में भर्ती हुआ तो दो नर्सें दोनों नयनों में हमेशा के लिए समा गयीं. एक को खड़ी खाने का शौक था तो दूसरी को अंगड़ाई लेने का. कवि के शब्दों में कुल मिलाकर स्थिति यह रही कि जब मैं चला तो ये शेर खुद-ब-खुद ज़ुबान पर आ गये :

ज़ायका चख के वो कहने लगा वालाई का
काश मैं छोकरा होता किसी हलवाई का
ऊंट जब जंगल में उठता है जंभाई लेकर
याद आ जाता है नक्शा उनकी अंगड़ाई का
(अज्ञात)

▣

आज इतवार का दिन है, कोई काम नहीं है और मैं हूं कि इश्क के बारे में सोच रहा हूं. लैला-मजनू, शीरी-फरहाद, सोहनी महिवाल, रोमियो और जूलियट तथा हीर-रांझा की प्रेम कथाएं आंखों के सामने उतर रही हैं. इन लोगों का नाम इतिहास में केवल इस कारण आया कि इन्होंने प्रेम किया और तबीयत के साथ किया. मेरे ख्याल से ये सब उल्लू के पट्ठे थे जो एक ही लड़की या लड़के के पीछे दीवाने रहते रहे और अच्छे-खासे धंधे को दुखांत बना दिया. आदमी तो वे हैं जो 'वुडहाउस' के पात्रों की भांति बीस-पचीस जगह दिल एक साथ लगाते हैं. इसे कहते हैं थोक व्यापार. बापदादा जो था, औरत को बनियान समझता था

और यह तो बहुत ही बेहूदा बात है कि शादी के बाद इंसान प्रेम करने की आदत ही छोड़ दे. भगवान रजनीश कहते हैं कि सुखी दांपत्य-जीवन की कुंजी शादी की सीमा के बाहर के प्रणय में ही छिपी है. और जब रूसो, शेली, गेटे, बायरन, जार्ज ईलियट, पिकासो, शरत्चंद्र, दुनिया भर की किस्म के लोग प्रेम कर सकते थे तो मैं वैसा क्यों नहीं कर सकता!

हां अलबत्ता, इतना ख्याल ज़रूर रखूंगा कि लड़की जो हो, वह कुछ धंधा करती हो ताकि धर्म-पत्नी यदि पृष्ठभूमि पर लात मारकर वनवास भी दे दे तो भूखों न मरना पड़े. मेहतरानी से इश्क करना अमीरों का पुराना शौक रहा है और कुछ मेहतरानियां तो रानियां जैसी ही लगती भी हैं, क्योंकि प्रायः उनकी रगों में भी सूर्यवंश और चंद्रवंश का रक्त पाया जाता है, ऐसा करने से हरिजनोद्धार जो होगा, सो अलग. वकौल कवि की स्थिति यह होगी कि :

मेहतरानी से दिल लगाते हैं
वह कमाती है, आप खाते हैं

(फ़िराक)

▣

कुछ जिज्ञासु भाई यह शंका कर सकते हैं कि प्रेम होता कैसे है? वे अगर शुरुआत करें तो आंखों से करें या दिल से करें? बात को खत्म करने के लिए मैं कवि की कुछ पंक्तियां उद्धृत करता हूं, और बड़ी उदासी के साथ इस गाथा को यहीं समाप्त करता हूं!

कहता है दिल कि आंख ने मुझको
किया खराब
कहती है आंख ये कि मुझे दिल ने
खो दिया
लगता नहीं पता कि सही कौन सी
है बात
दोनों ने मिल के 'मीर' हमें तो
डुबो दिया ☐

(मीर)

● ज्वाइंट कंट्रोलर, डिफेंस एकाउंटस, अदर रेंक्स, मेरठ छावनी (उ. प्र.)

भूख

बड़े पेड़ के पास नन्हा पेड़ भी बढ़ रहा था. कुछ पक्षी उस पर भी आकर बैठते थे, उड़ जाते थे. एक दिन नन्हें पेड़ पर एक कठफोड़वा आकर बैठा और लगा अपनी चोंच से उस पेड़ के शरीर पर चोट करने. नन्हा पेड़ दर्द से तिलमिला उठा. अब कठफोड़वा चला गया तो बड़े पेड़ से पूछा, "भाई साहब, तुम्हारी तरह अब मुझ पर सुंदर-सुंदर पक्षी बैठने लगे हैं. कभी तोता आता है और फलों के रस से भीगी अपनी चोंच मुझ पर पोंछ जाता है. कौआ आता है, कभी दही के स्वाद से कभी मांस के स्वाद से मुझे परिचित करवा जाता है. कुछ पक्षी तो मुझ पर अपनी चोंच से ऐसे-ऐसे खाद्य पदार्थ छोड़ जाते हैं कि मैं उनका नाम भी नहीं जानता. लेकिन आज यह कैसा सुंदर पक्षी आया जिसने मेरे शरीर में जगह-जगह घाव कर दिये हैं! यह कैसा स्वाद है?

अब तक जितने पक्षी तुम्हारे पास आये थे उन सबका पेट और मन भरा हुआ था. अब तक तृप्त चोंचों ने तुम्हारे नन्हें शरीर को छुआ था. पहली बार एक भूखी चोंच का अहसास तुम्हें हुआ है. यह भूख थी!"

दूरदर्शी

नेताजी जंगल में भटक गये. काफी भटकने के बाद उन्हें एक लकड़हारा नजर आया. उसने नेताजी को रास्ता दिखाया. नेताजी ने कहा, "मैं मंत्री हूं. कोई काम पड़े, मेरे पास शहर में जरूर आना." लकड़हारे ने कहा, "नहीं मैं शहर नहीं आऊंगा. सुना है, वहां जाने वाले गांव का रास्ता भूल जाते हैं." नेताजी ने 'वाह' कहा और अपने रास्ते चल दिये.

दूसरे दिन सुबह नेताजी ने देखा, उनके बंगले के बरामदे में वही लकड़हारा बैठा है.

"क्यों भैया, क्या काम आ पड़ा?"

"काम तो कुछ नहीं है. यह सोचकर चला आया कि जब मुझे कोई काम पड़ेगा तब आप मंत्री होंगे, इसकी क्या गारंटी है? इसीलिए मेरा कोई काम करना है तो आज ही कर दो."

वाह, इतने दूरदर्शी हो फिर भी आज तक लकड़हारे ही रहे", यह कहते हुए उसे वन-संरक्षण-समिति का अध्यक्ष बनाने का फैसला कर लिया गया.

अभी तो कुर्सी पर हो

मंत्रीजी जंगल में भटक गये. सिर पर ताजपोशी वाली टोपी थी, पीछे सेक्रेटरी था, सेक्रेटरी के हाथ में तिरंगी झंडी थी. कोई भी पहचान लेता कि ये मंत्रीजी हैं. भटकते-भटकते एक आदमी दिखाई दिया. नेताजी ने उसके कंधे पर हाथ रखते हुए पूछा, "भैया तुम बता सकते हो कि मैं कहां हूं?"

"अभी तो कुर्सी पर, लेकिन जिस दिन यह छूट जायेगी, उस दिन असली जगह का पता चल सकेगा," कहते हुए वह आदमी अपने रास्ते चल दिया.

▣ गोविंद शर्मा

नौ बजे के करीब बस फिर चल पड़ी. लेकिन रैना बहुत उदास थी. विमल उसके साथ होते हुए भी जैसे साथ नहीं था. इस बीच उसने विमल के बारे में सब कुछ जान लिया था और अपने बारे में भी उसे सब कुछ बता दिया था. विमल एक सरकारी प्रतिष्ठान में पी. आर. ओ. था और वह स्वयं एक सरकारी स्कूल में वरिष्ठ अध्यापिका थी. विमल के पिता की रेल दुर्घटना में मृत्यु हो गयी थी, लेकिन उसकी मां भी पिता की मृत्यु के बाद मुश्किल से एक वर्ष जीवित रह सकी थी. लोग कहते थे कि दोनों में इतना गहरा लगाव था कि पिता उसे भी अपने साथ ले गये. वैसे उसकी मां जब तक जिंदा रही, बराबर अपने पति के ही बारे में सपने देखती रही, बल्कि कई बार तो उसने

स्वयं अपने कानों से मां को रात के वक्त किसी से बातें करते सुना. पहले तो उसे विश्वास नहीं हुआ, लेकिन फिर उसने उस बात की तह तक जाना चाहा. इसलिए एक रात वह बिल्कुल सोया नहीं. नियत समय पर उसे मां की आवाज फिर सुनाई दी. वह फौरन चौकन्ना हो गया. मां बिस्तर में पड़े-पड़े ही बातें कर रही थी. वह उठ खड़ा हुआ और मां की ओर बढ़ा. अब मां आराम से सो रही थी.

तेरह-चौदह वर्ष की उम्र कुछ कम नहीं होती. वह सब समझता था. पर दरवाजे-खिड़कियां तो सब वैसे ही बंद थे. कहीं किसी प्रकार की हरकत नहीं थी. तब मां किसके साथ बातें कर रही थी? उसने लेट कर फिर सोने की मुद्रा बना ली. मां की आवाज फिर सुनाई पड़ने लगी. उसने फिर अपनी आंखें खोलीं और एकाएक उठकर बैठ गया. मां फिर चुप थी और आराम से सो रही थी. यह सब क्या माजरा है? अब उसे एकाएक भय लगने लगा. जरूर मां किसी प्रेत से बातें करती है.

अगली सुबह वह मां से पूछे बिना रह न सका. और तब उसकी मां ने उसे बताया कि रोज रात को उसके पिताजी उससे मिलने आते हैं और सब हालचाल पूछकर लौट जाते हैं.

लेकिन इस बीच उसकी मां दिन-ब-दिन दुबली होती गयी थी और फिर इतनी दुबली हो गयी थी कि भयानक लगने लगी थी. और अंततः उसने पिता की राह पकड़ ली थी.

बेशक, उसके पिताजी उसके नाम खासी रकम छोड़ गये
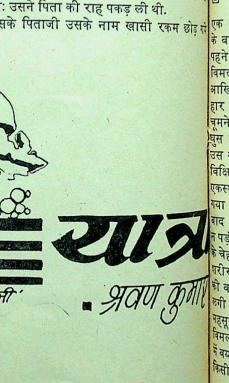
थे, पर नाबालिग होने की वजह से वह उसे छेड़ नहीं सकता था. उधर रिश्ते में भी कोई ऐसा नहीं था जिस पर निर्भर किया जा सकता. गनीमत यह थी कि मकान पुश्तैनी था, पर इतने बड़े मकान में अकेले कैसे रहा जाये. नौकर-चाकर की घर में प्रथा नहीं थी. आखिर उसके विद्यालय का एक शिक्षक वहां सपरिवार आकर रहने लगा. परिवार में केवल दो लड़कियां थीं. उनकी मां को मरे भी तीनेक वर्ष हो चुके थे. बड़ी लड़की लगभग अठारह वर्ष की थी और छोटी सोलह वर्ष की. यानी दोनों उम्र में उससे बड़ी थीं, लेकिन दोनों उसे बहुत स्नेह देती थीं. बड़ी कॉलिज जाने लगी थी, लेकिन छोटी अभी स्कूल में ही थी. घर-गृहस्थी खूब संभाल की थी उन्होंने. स्कूल कॉलिज से लौटने के बाद घर में ये दो लड़कियां और नन्हा विमल ही होता. तीनों खूब जमकर पढ़ते और खूब जमकर खेलते. घर में हर तरह के इनडोर खेल थे. शतरंज में विमल का मन खूब लगता था. दीप्ति यानी बड़ी लड़की भी शतरंज में माहिर थी. वह कई बार विमल को शह देती. विमल शह लेता, लेकिन बच निकलता. कई बार ऐसे लगता जैसे वह अब निकल नहीं पायेगा, लेकिन वह बचने की राह निकाल ही लेता. खैर, धीरे-धीरे वह खुद इतना माहिर हो गया कि दीप्ति को शह देते-देते उसे मात देने लगा. दीप्ति कभी-कभी उखड़-सी जाती और अजीब-सी नजरों से देखने लगती. विमल उन नज़रों को ठीक से तो नहीं पहचानता था, पर उसे वे सामान्य न दिखतीं.

▣

एक दिन घर में केवल वह और दीप्ति ही थे. पढ़-लिख चुकने के बाद शतरंज की बाजी जमने को थी. विमल हाफ-पैंट पहने था. वे फर्श पर बैठे थे. खेल शुरू हुआ तो पहले दीप्ति ने विमल को शह दी, लेकिन फिर विमल उसे शह देने लगा. आखिर दीप्ति घिर गयी और हार गयी. पर हारकर भी उसने हार न मानी. वह विमल से लिपट गयी और उसे बेतहाशा चूमने लगी. फिर उसका हाथ विमल की हाफ-पैंट के भीतर घुस गया और विमल के भीतर सोये पुरुष को जगाने लगा. उस समय दीप्ति की सांस बहुत तेज चल रही थी और वह विक्षिप्त-सी हुई जा रही थी. फिर न जाने कैसे दोनों के शरीर एकस्थ हो गये और विमल को लगा कि वह एकाएक जवान हो गया है और दीप्ति से उम्र में भी कहीं बड़ा हो गया है. उसके बाद दीप्ति को विमल के भीतर के पुरुष को जगाने की जरूरत न पड़ी, विमल ही उसके भीतर की नारी को जगाने लगा. दीप्ति के चेहरे पर अब जैसे जगमगाहट-सी व्याप्त हो गयी थी और उसके शरीर में भी जैसे लास्य आ गया था. उस जगमगाहट और लास्य की वजह से वह अब अधिक सम्मोहक, अधिक स्पृहणीय लगने लगी थी. विमल भी अब अपने को हमेशा हल्का-हल्का-सा महसूस करता, जैसे उसके पंजों में स्प्रिंग लग गये हों. वैसे भी विमल अब अठारह वर्ष पूरे कर गया था और कानून की निगाह में वयस्क हो चुका था. इसलिए अब उसे किसी बात के लिए किसी का मुंह देखने की जरूरत नहीं थी.

इधर दीप्ति की छोटी बहन तृप्ति भी विमल की ओर उन्हीं आंखों से देखने लगी थी, जिन आंखों से कभी दीप्ति ने उसकी ओर देखा था. विमल अजब असमंजस में पड़ गया था, इसलिए एक बार वह लगातार कई दिनों के लिए घर से बाहर रहने के लिए कहीं चला गया और जब घर लौटा तो वह एक दूसरा आदमी था. उसमें अब चट्टान की-सी पुख्तगी आ चुकी थी. उसका लक्ष्य अब उसके लिए प्रमुख हो गया था. वह जीवन की गुत्थियों को समझना चाहता था. इसलिए ज्ञान के हर क्षेत्र की ओर वह अग्रसर होने को आतुर था. कभी वह विज्ञान से कुछ पाने की कोशिश करता कभी दर्शन की गहराई में उतरना चाहता और कभी साहित्य-कला को परखता. पर साहित्य-कला के प्रति उसकी रुचि कुछ अधिक विकसित होने लगी, जैसे इसी में उसे त्राण मिलेगा. वह स्वयं भी अब कुछ-न-कुछ लिखता रहता और जो लिखता उसे संजोये जाता. फिर धीरे-धीरे उसकी वे रचनाएं प्रकाश में आने लगीं और उसे मान्यता भी मिलने लगी. यहां तक कि उसे एक अग्रणी रचनाकार माना जाने लगा.

▣

लेकिन इस बीच उसके मन में एक तरह का खला भी पैदा हुआ था. दीप्ति और तृप्ति दोनों अब विवाहित थीं, बल्कि दो-दो, तीन-तीन बच्चों की मां बन चुकी थीं और शिक्षक महोदय पता नहीं कहां थे. संभवतया तमाम उम्र संघर्षरत रहने के बाद उनमें विरक्ति-सी आ गयी थी और उन्होंने सन्यास ले लिया था. दीप्ति से कभी-कभार उसकी भेंट अब भी हो जाती थी. उसमें कमनीयता अब भी कम नहीं थी, पर वह उसके काफी दूर जा चुकी थी. अलबत्ता इस बीच विमल एकदम कुंवारा रहा. लतिका, मृदुला, सांत्वना तथा सुधा से उसके संबंध काफी घनिष्ठ रहे, लेकिन बात जब शरीर तक आती तो वे एकाएक छिटक कर परे हट जातीं और विमल ने यह कभी न चाहा कि नौबत बलात्कार तक पहुंचे. दरअसल, वह उन सबमें दीप्ति ढूंढता रहा, वही दीप्ति जिसने उसके साथ लगभग पुरुष जैसा व्यवहार किया था. और अब एकाएक रैना उससे आ टकरायी थी.

रैना कद्दावर थी, लचीली और अच्छी तराश लिये हुए थी, लेकिन ताज्जुब कि उसे कला-संस्कृति से कोई सरोकार नहीं था. वह कॉमर्स की अध्यापिका थी और शायद इसी कारण एकदम सीधे-सीधे बात करती थी. परोक्ष का उसके यहां कोई महत्व नहीं था. उसके घर में भी परोक्ष को कोई महत्व नहीं मिलता था. उसके पिता एक अवकाश-प्राप्त सरकार मुलाजिम थे. उसकी मां भी एक लंबे अर्से तक नौकरी में रही और बाद में छुट्टी लेकर जब घर बैठी तो बैठी ही रही. बहन-भाइयों में रैना सबसे बड़ी थी. उम्र बेशक उसकी तीस की होने को आयी थी, पर शादी का मसला कभी किसी ने संजीदगी से उठाया नहीं. सभी ऐसा सोच बैठे थे जैसे यह उसका निजी मामला हो. वैसे वह राकेश के बहुत निकट रही, लेकिन उसे वह अपना न सकी. राकेश था भी विवाहित. अपनी पहली पत्नी को छोड़े तब इसे रखे. लुका-छिपी में रैना को मजा नहीं आता था. अवधेश से भी उसके संबंध लगभग वैसे ही रहे. पर वह तो विवाह-संस्था को एकदम बोसीदा और जर्जरित करार देता था और हिप्पियों की तरह उन्मुक्त रहना चाहता था. रैना को पीठ पर बच्चे लादकर घूमती हिप्पी लड़कियां बड़ी बेचारी लगतीं. यह सारी मजबूरी तो फिर औरत

की हुई न? जैसे वह आदिम समाज में लौट गये हों, लेकिन अगर विवाह-संस्था जर्जरित भी हो चुकी है, तब इसका विकल्प क्या है? आदमी-औरत बने तो एक-दूसरे के लिए ही हैं न. शरीर की रचना भी कितने अनुपात में हुई है. हर अंग की अपनी उपयोगिता है. हर अंग में अपनी तरह की विलक्षणता है. फिर उन अंगों में उठने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म तरंगें! रैना बड़े अचरज में पड़ जाती, यह सब सोचकर. लेकिन इसके परे उसकी बुद्धि चकराने-सी लगती. बेशक, कला-संस्कृति से वह दूर रही, पर जीवन-के रहस्यों को जानने के लिए वह भी काफी आतुर रही. दरअसल, शुरू-शुरू में उसने कुछ कविताएं लिखीं भी, लेकिन उसे लगा जैसे यह सब सच्चाई नहीं, सच्चाई की नकल है या उससे पलायन है. क्या ऐसा नहीं होता कि लेखक स्थिति की सच्चाई को अंकित-करते-करते उसमें कल्पना का पुट कुछ अधिक देने लगता है ताकि वह सबकी सच्चाई बन सके? निस्संदेह, विज्ञान ने बहुत कुलाचें भरी हैं, लेकिन फिर भी कहीं-न-कहीं उसे घुटने टेक देने पड़ते हैं. सबसे बड़ी चुनौती तो विज्ञान के लिए आदमी के शरीर की संरचना ही है? क्या विज्ञान कभी ऐसी संरचना कर पायेगा? क्या विज्ञान हाड़-मांस का एक जीता-जागता आदमी खड़ा कर सकता है? और तो और, परीक्षण-नली के बच्चे भी अब कहीं अपना अस्तित्व बरकरार रख पाये? और यह सौर मंडल? और इस दृश्य सौर मंडल से परे के अदृश्य सौर मंडल. कितना विलक्षण है यह समूचा वितान! क्या आदमी इस ब्रह्मांड के तमाम भेद जान पायेगा? तब इस समूची सृष्टि के पीछे कौन है? है न यह फिर वही दकियानूसी प्रश्न? क्या इससे ईश्वर की सत्ता प्रमाणित हो सकती है? एक बार उसके एक ईश्वरवादी अध्यापक ने कहा भी था कि जब तुमने सूक्ष्म पदार्थों को देखने के लिए सूक्ष्मवीक्षण यंत्र बनाये हैं, तब तुम्हें ईश्वर-रूपी ऊर्जा को अनुभव करने के लिए वैसे ही यंत्रों का अविष्कार करना होगा. सच?

▣

विमल से उसकी एक दिन इसी विषय पर बातचीत चल रही थी. तब वे कन्याकुमारी के त्रिवेणी घाट पर खड़े समुद्र की विशालता पर अचरज कर रहे थे. किसी ने कहा था कि इस स्थल पर तीन सागर मिलते हैं—अरब सागर, हिंद महासागर तथा बंगाल की खाड़ी—और तीनों सागरों का पानी अपनी अलग-अलग रंगत लिये होता है, बल्कि तीनों सागरों की रेत भी अलग-अलग रंग की होती है. खैर! और तो और, समुद्र की ऐसी भव्यता और विशालता शायद ही कहीं और देखने को मिले. पास ही विवेकानंद की स्मृति में निर्मित रॉक मेमोरियल था. पर वहां मोटर बोट के जरिये ही पहुंचा जा सकता था. कहते हैं स्वामी विवेकानंद 1892 में शार्क-भरे इस समुद्र को तैर कर वहां पहुंचे थे और फिर रात भर वहां मनन करते रहे और इसके बाद ही उन्होंने निश्चय किया था कि वह जी-जान से गरीब जनता की सेवा में जुट जायेंगे. इस चट्टान का विवेकानंद के जीवन में वही महत्व है जो बोधि-वृक्ष का महात्मा बुद्ध के जीवन में था. यह चट्टान समुद्र तट से काफी हटकर है और लगभग पांच एकड़ के क्षेत्रफल में फैली हुई है.

विमल और रैना जब इस स्मारक में घूम रहे थे, तब हवा का वेग काफी तेज था, यहां तक कि रैना की साड़ी एकदम उड़ने को हुई. मजबूरन रैना को वहीं के वहीं बैठ जाना पड़ा. तब विमल हवा की मार को खुद झेलता हुआ रैना को किसी तरह एक सुरक्षित कक्ष में ले गया. पास ही वहां 'ध्यान कक्ष' था. बातचीत करने की वहां एकदम मनाही थी. कक्ष में सोंधी-सोंधी अगरबत्ती की खुशबू थी. प्रकाश भी वहां काफी कम था, केवल सामने की दीवार पर बहुत बड़े सुनहरी अक्षरों में 'ॐ' लिखा हुआ था. फर्श एकदम कांच की तरह चमक रहा था. कुछ लोग वहां आंखें बंद किये आलथी-पालथी मारे वाकई ध्यान में लीन थे और कुछ दो-चार क्षण मौन रह कर वहां से बाहर निकल जाते थे. विमल और रैना भी वहां कुछ क्षण मौन रहे और फिर बाहर चले आये.

"वैसे देखो रैना, इच्छा-शक्ति क्या चीज है. इसी इच्छा-शक्ति से तुम चाहो तो सम्मोहन की स्थिति पैदा कर सकती हो और इसी इच्छा-शक्ति के बल पर तुम पत्थर गला सकती हो." विमल के मुंह से अनायास निकल गया.

रैना विमल की तरफ देखकर केवल मुस्करा भर दी. अब वे वैसे खड़े तो रेलिंग के पास ही थे, पर ऐसे बिंदु पर, जहां हवा की मार कम-से-कम थी. हवा के चलने से समुद्र काफी उग्र हो गया था और उसकी लहरें बार-बार चट्टान से आ भिड़ती थीं. समुद्र के किनारे, एक चट्टान की ओट में उन्होंने समुद्री फेन जमा होते और फिर हवा में उड़ते भी देखा था. रैना की मुस्कराहट उसी समुद्री फेन की तरह थी जो स्थायी भी थी और अस्थायी भी. पर वाकई, मुस्कराती हुई रैना बहुत प्यारी लगती थी, क्योंकि मुस्कराते समय उसका मुंह थोड़ा खुला रह जाता था और हवा के कारण उसके बाल-उड़-उड़ कर उससे उलझते रहते थे.

"इसी इच्छा-शक्ति के सहारे तो आदमी का विकास हुआ है." रैना ने बात में बात जोड़ने की कोशिश की.

"पर मुझे विकास वाले सिद्धांत में सच्चाई कम दिखती है." विमल ने उसकी बात काटी, "और अगर आदमी का विकास हुआ भी है तो उसके पीछे संघर्ष रहा होगा, इच्छा-शक्ति नहीं. इच्छा-शक्ति से लक्ष्य-सिद्धि तो होती है, विकास नहीं."

"विकास वाले सिद्धांत में तुम्हें सच्चाई क्यों नहीं दिखती?"

"इसलिए कि जिस युग में भी वेदों या उपनिषदों की रचना हुई होगी, आज से चार हजार या पांच हजार वर्ष पहले, तब आदमी किन्हीं अर्थों में भी अविकसित नहीं रहा होगा. जहां तक आदमी के भीतर झांकने का संबंध है, उस दृष्टि से तो उसे पूर्णरूप से विकसित ही मानना चाहिए. शायद इसीलिए कुछ मतावलंबियों का कहना है कि वेद मनुष्य द्वारा रचित नहीं, सीधे ईश्वर से प्राप्त हुए."

"लेकिन आज की प्रौद्योगिक उन्नति को कौन नकार सकता है!"

"बेशक, लेकिन क्या तुम्हें मिस्र के पिरामिड्स अविकसित मानव द्वारा निर्मित किये गये लगते हैं? बल्कि उनकी विशालता को देखते हुए एरिक फोन डेनिकंस को कहना पड़ा कि उनके निर्माता इस धारा के मनुष्य नहीं थे. वे किसी दूसरे लोक से आये थे और अपना काम पूरा करके लौट गये. अपने यहां की एलोरा की मूर्तियां क्या तुम्हें कम आश्चर्यकारी लगी थीं?"

"लेकिन आदमी का चांद पर पहुंचना तथा मंगल एवं अन्य ग्रहों की ओर बढ़ने के प्रयास करना?"

"बेशक, पर आज से सैकड़ों वर्ष पहले की ज्योतिर्विद्या क्या किसी तरह पुरानी पड़ गयी है? और क्या चांद पर पहुंचने के बावजूद आदमी का ज्योतिषविद्या से विश्वास उठ गया है? बल्कि ताज्जुब तो तब होता है कि जब अपने को वैज्ञानिक घोषित करने वाले लोग भी अपना भविष्य जानने की आतुरता में इन्हीं ज्योतिषियों की शरण जाते हैं!"

यह नहीं कि विमल और रैना आपस में किसी प्रकार का तर्क-वितर्क कर रहे थे, बल्कि सहज रूप से अपने विचारों का आदान-प्रदान कर रहे थे. तब रैना ने विमल को बताया था कि इसी चट्टान पर बैठकर कभी कन्या यानी पार्वती ने भी शिव को पाने के लिए तपस्या की थी.

"तब तुम भी इसी चट्टान पर बैठकर अपने शिव को पाने के लिए क्यों नहीं तपस्या करतीं?" विमल ने चुटकी ली थी.

"मिल ही जायेगा कभी-न-कभी." रैना ने उसकी तरफ एक मीठी मुस्कान फेंकी थी.

रॉक मेमोरियल से लौटकर वे दोनों काफी देर तक कन्याकुमारी के बाजार में घूमते रहे थे और वहां के कारीगरों की कारीगरी सराहते रहे थे—कि किस खूबी से उन्होंने समुद्र में पायी जाने वाली सीपियों और घोंघों से तरह-तरह की मालाएं और कला-कृतियां तैयार की हैं. बस, अफसोस यही था कि ग्राहक अधिक न होने के कारण उन्हें वे कृतियां काफी सस्ते दामों पर देनी पड़ती हैं जिससे उनकी गरीबी अपनी जगह पर ज्यों की त्यों बनी हुई है. हां, कुछ पैसे वाले ठेकेदार या दुकानदार इस सौदे में जरूर अपने हाथ रंग लेते हैं और उन्होंने भी रंगे होंगे. जबलपुर में भेड़ाघाट पर भी उन्हें लगभग वही स्थिति दिखी. संगमरमर की चट्टानों में बहती नर्मदा की धारा की ओर बढ़ते समय उन्हें अनेक मूर्ति-शिल्पी संगमरमर की एक-से-एक सुंदर मूर्ति तराशते नजर आये, लेकिन उन्हें खरीदने वाले कितने थे? इसीलिए एक नन्हा कलाकार उन्हें एक छोटी मूर्ति केवल पचास पैसे में ले लेने के लिए बार-बार आग्रह करता रहा.

▣

कन्याकुमारी, रामेश्वरम, मदुरै तथा तिरुपति के मंदिरों में उन्हें एक बात बार-बार अखरी कि यहां के पुजारी तथा उनके आस-पास के लोग इतने रूढ़िवादी तथा कर्मकांडी क्यों हैं? कन्याकुमारी के मंदिरों में उन्हें आदेश मिला कि विमल को अपने धड़ के वस्त्र उतारने होंगे और निचले हिस्से पर परिधान के रूप में सफेद धोती लपेटनी होगी. बहरहाल, रैना के लिए कोई मनाही नहीं थी. परिणामस्वरूप, रैना तो देवी कन्याकुमारी के दर्शन कर आयी, पर विमल उससे वंचित ही रहा. इसी तरह रामेश्वरम तथा मदुरै के मंदिरों में भी कई वर्जनाएं थीं, जिनमें मुख्य वर्जना यह थी कि केवल हिंदू ही इन मंदिरों में प्रवेश पा सकते हैं. दूसरे, देवी-देवताओं के अलग-अलग रूप में दर्शन करने के लिए अलग-अलग दर के टिकट लेने होते थे. लेकिन सबसे ज्यादा हैरानी उन्हें तिरुमला में हुई, जहां तिरुपति के दर्शन करने के लिए आये दर्शनार्थियों की भीड़ हजारों-लाखों की थी और जहां मूर्ति से साक्षात्कार करने के लिए घंटों की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी. हां, जो सवा सौ रुपये का टिकट खरीद सकते थे, वे भगवान के द्वार पर तुरंत पहुंच सकते थे. बेशक, ऐसी व्यवस्था कुछ दर्शनार्थियों की सुविधा के लिए की गयी होगी, पर अंततोगत्वा या तो पैसे का ही बोलबाला न! दूसरे अर्थों में भगवान तो पैसे वालों का ही हुआ न.

लेकिन दर्शनार्थियों की ऐसी भीड़ शायद ही कहीं और जुटती हो. साधारण दर्शनार्थियों को कई आंगनों-गलियारों में से गुजरकर मुख्य द्वार तक पहुंचना था और ये गलियारे मोटी जाली से ढंके हुए थे ताकि किसी घुसपैठिए को अपनी कला दिखाने का मौका न मिले. जाली से कोई एक गज फासले पर रेलिंग भी लगी थी ताकि कोई आसानी से जाली के निकट न जा पाये. पर भिखमंगे यहां भी बाजी मार ले गये, क्योंकि बिना सीमा-उल्लंघन किये उन्होंने कुछ स्थलों पर टूटी या तोड़ी गयी जाली में से डंडों के सिरों पर बंधे अपने भिक्षापात्र इस तरह गलियारे में लटका रखे थे कि दर्शनार्थी बिना किसी असुविधा के उनमें जो चाहें, डाल सकते थे.

▣

विमल और रैना कौतूहलवश आध-एक घंटा एक बड़े हाल में साधारण दर्शनार्थियों के बीच बैठे रहे, लेकिन फिर दर्शन की अभिलाषा को छोड़ वैसे ही वहां से लौट आये. लेकिन उनके बाकी साथियों ने निष्ठापूर्वक अपनी बारी की इंतजार की और उन्हें निराश नहीं होना पड़ा, हालांकि भगवान के पास पहुंचकर भी वे भगवान पर प्रसाद चढ़ाने में सफल नहीं हो पाये.

क्या यह कोरी धर्मांधता नहीं है? कहते हैं, यहां सैकड़ों लोगों की मनोकामनाएं पूरी हुई हैं. तभी तो मंदिर के बाहर, तिरुमाला के परिसर में, कई पुरुष, स्त्रियां और बच्चे अपनी-अपनी मनोकामना पूरी हो जाने के एवज में तिरुपति को अपने केश-राशि भेंट कर रहे थे. यह अलग बात थी कि यह केश-राशि अब देश-विदेश से धन कमाने लगी थी. पर बिना बालों के स्त्री जैसे कि अपनी गरिमा खो देती है!

हां, एक बात से विमल और रैना बहुत खुश थे और वह थी तिरुपति तथा तिरुमाला में आवास-व्यवस्था. तिरुपति में बस अड्डे के पास ही सरकारी धर्मशालाएं थीं, जहां हर यात्री के लिए बिना छोटे-बड़ों का लिहाज किये, स्नानाघर तथा शौचालय से युक्त एक कमरा उपलब्ध था. तिरुमाला पहाड़ी पर स्थित था और तिरुपति का मंदिर वहीं था, पर तिरुपति नगर पहाड़ी से नीचे था. वैसी ही धर्मशालाएं तिरुमाला में भी उपलब्ध थीं, लेकिन यदि कोई एकदम अलग रहना चाहे तो वह थोड़ा-सा किराया देकर वहां अपना पूरा कॉटेज भी ले सकता था.

विमल और रैना चाहते थे कि वे अपना एक कॉटेज लेकर कुछ-एक दिन रुकें, पर इतना समय ही कहां था. उनकी बस यहां पिछली रात पहुंची थी और अगली शाम को उन्हें यहां से चल देना था. गनीमत थी कि कन्याकुमारी में वे दो रात रुक सके, जिससे वहां के सौंदर्य का थोड़ा आत्मसात करने का मौका उन्हें मिल गया. इसी तरह चितौड़ गढ़ के किले में समिद्धेश्वर मंदिर

की त्रिमूर्ति तथा मैसूर के निकट श्रीरंगापटन में श्रीरंगानाथ स्वामी मंदिर में शैयाशायी शिव की विराट मूर्ति ने भी उन्हें बांधा था, पर वहां समय इतना कम दिया गया था कि उन्हें मंदिरों के भीतर घुसते ही बाहर आना पड़ा था. एलोरा-अजंता की गुफाएं देखते समय भी उन्हें ऐसे लगता था जैसे कोई हाथ में कोड़ा लिये उन्हें सरपट दौड़ने पर मजबूर कर रहा है. वैसे गोवा में डोना पोला नामक स्थल पर भी समुद्र काफी भव्य था, पर वहां भी वे मुश्किल से एक-सवा घंटे तक रुक पाये थे. उस समय समुद्र व्यग्र था, इसलिए लहरें एक के ऊपर एक चढ़ती-सी, एक दूसरे से भिन्न रंगों में, स्पष्ट आकार लिये, तट की ओर दौड़ती नजर आती थीं और वहां चट्टानी पत्थरों से टकराकर ढेरों पानी उछालती हुई छिन्ना जाती थीं.

▣

कहते हैं डोना पोला प्रेमी-प्रेमिका थे—प्रेमिका गोवा-निवासी और प्रेमी फ्रांसीसी. लेकिन उनका प्रेम परवान न चढ़ सका, इसलिए उन्होंने समुद्र में कूदकर इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में अपने प्रेम को परिणति देनी चाही. इसलिए उस स्थल-विशेष को जहां से वे कूदे थे, 'लवर्स प्वाएंट' कहा जाता है. उसे अब अच्छी-खासी शक्ल दे दी गयी है. अब बाकायदा आप छोटी-छोटी सीढ़ियों की राह वहां तक पहुंचते हैं और वहां पहुंचकर दूर-दूर तक फैले समुद्र में उछाल भरते पानी को देख सकते हैं.

विमल और रैना जब वहां पहुंचे, नारायणदास तथा उसकी पत्नी रुक्मणी, अलका तथा उसकी मां दमयंती और पिता दौलतराम तथा हरजीत पहले से ही वहां मौजूद थे. उनके पीछे-पीछे अग्रवाल तथा उसकी पत्नी रूपवती, श्रीवास्तव तथा उसकी पत्नी मणि एवं पद्माकर तथा उसका परिवार भी चले आये थे. द्रविड़ तथा उसकी पत्नी शांति, विष्णुस्वरूप और आयोजक मेहरोत्रा नीचे बार में बीयर तथा ह्विस्की का मजा लेने रुक गये थे. द्रविड़ की दोनों जवान बेटियां अनुराधा और रेखा तथा अन्य यात्री अब भी नीचे रेलिंग के सहारे खड़े समुद्र की लहरों में भीग-भीग कर निहाल हो रहे थे.

इतने में हरजीत को जाने क्या सूझी कि वह अपनी पांच-छः वर्षीय बच्ची डिप्पी को नचाने लगी और स्वयं ताली पीट-पीट कर गाने लगी. वहां खड़े हर व्यक्ति का ध्यान उसकी ओर था और वे उसमें पूरी रुचि ले रहे थे.

पद्माकर ने सुझाव दिया कि सब लोग दायरे में बैठ जायें और बारी-बारी से एक-एक गीत या कुछ भी सुनायें.

सबसे पहले हरजीत ने ही नये सिरे से शुरू किया और उसकी बेटी अपनी नन्हीं कमर पर हाथ रखकर गोल-गोल घूमकर नाचने लगी :

ए री छोरी बामन की
तेरी कम्मर मैली हो री सै
ए री छोरी...
करम फूट गया उन मरदां के
जिनकी जोरू मोटी सै
दरवाजे में फंस गयी रे
धक्कम-धक्की हो रही सै
ऐ री छोरी...

'करम फूट गया उन मरदां के', नाचते समय छोटी बच्ची ने जब अपने माथे पर हाथ मारा तो हर कोई खिलखिलाकर हंस पड़ा. पहले जोरु मोटी बनी थी, फिर लंबी, फिर ठिगनी और फिर पतली, पर हर तरह मरदों के करम फूटे थे.

बच्ची बैठ गयी तो अग्रवाल ने एक तुक शुरू की और हर किसी से अनुरोध किया कि जब वह अपनी पंक्ति कह ले तो सब अखिरी पंक्ति दोहरायें:

अज वा पुरे दी वगदी ए
तेरी चुन्नी उड़दी जांदी ए
नी कूड़े तू चुन्नी लै—हां, कुड़े तू चुन्नी लै
मुटियारे देश पंजाब दिये
तक ऐंदर पील्लू तोड़ दी ए
नी चुन्नी लै—हां, कुड़े तू चुन्नी लै

अब तक वहां द्रविड़ तथा उसकी टोली एवं अनुराधा-रेखा तथा उनकी टोली भी पहुंच चुकी थी. अच्छा खासा मजमा लग गया था.

हरजीत ने अब पंजाबी गिद्धा शुरू किया था और फिर तुरंत ही उठकर अपने नितंब झुलाती नाचने लगी. उसके साथ अनुराधा और रेखा भी नाचने लगीं. नजारा एकदम रंगीन हो गया. चारों ओर कुलाचें भरता, गरजता समुद्र, यहां इस 'लवर्स प्वाएंट' पर प्रेम के उलाहने-भरे गीतों और नाच का समां! हर कोई सरूर में आ गया था. द्रविड़ तथा मेहरोत्रा को तो दूसरी तरह का भी सरूर था. इसलिए वे दोनों एक-दूसरे के मुकाबले ही भंगड़ा-नुमा ट्विस्ट करने लगे. बस, कसर ढोलचियों की थी और वह किसी तरह भी पूरी नहीं हो सकती थी. वहां खाली टीन के कनस्तर भी नहीं थे कि उन्हीं से काम चला लिया जाता. बहराल, मस्ती वहां अपने पूरे उन्माद में थी.

रैना से एक कश्मीरी गीत गाने को कहा गया. वह पहले सकुचायी, पर फिर गाने लगी. उसके स्वर में मिठास थी, पर संतुलन नहीं था. फिर भी वह बराबर गाती रही और द्रविड़ से थपकी लेने की हकदार बन गयी. कुछ लोगों को ताज्जुब हुआ कि द्रविड़ को थपकी देने की यह क्या सूझी.

रैना के बाद विमल ने गाया था. एक पुराना फिल्मी गीत था जिसमें क्लासिकल पुट काफी था. पर विमल उसे निभा ले गया. उसकी आवाज़ में एक महीन कंपन था जिससे वह गाना और असरदार हो गया. जब तक विमल गाता रहा, रैना उसकी ओर टकटकी लगाये देखती रही. वह भी रैना की ओर टकटकी लगाये देख रहा था. रैना समझ रही थी कि यह गीत उसी के लिए है.

आखिर मेहरोत्रा ने 'टाइम अप' होने का सिगनल दिया था और हर कोई खुश-खुश-सा उठ खड़ा हुआ था.

बस की ओर बढ़ते हुए और बस में बैठकर भी कुछ लोग बराबर कोई-न-कोई धुन गुनगुनाते रहे थे और मेहरोत्रा का गुणगान करते रहे थे कि उसने उनके कुछ क्षण तो निश्चित रूप से सुखमय बना दिये. □

● एच-259, डी.डी.ए. फ्लैट्स, नारायण विहार, नयी दिल्ली.

एक

बात कम कीजे ज़हानत को छुपाते रहिए,
ये नया शहर है कुछ दोस्त बनाते रहिए.

दुश्मनी लाख सही ख़त्म न कीजे रिश्ते...!
दिल मिले या न मिले हाथ मिलाते रहिए.

ये तो चेहरे का कोई अक्स है तस्वीर नहीं
इस प कुछ रंग अभी और चढ़ाते रहिए.

ग़म है आवारा अकेले में भटक जाता है
जिस जगह रहिए वहां मिलते-मिलाते रहिए.

जाने कब चांद बिखर जाये घने जंगल में
घर की चौखट पै कोई दीप जलाते रहिए.

■ निदा फ़ाज़ली

दो

कोई गिला, कोई शिकवा, ज़रा रहे तुमसे,
ये आरज़ू है कि एक सिलसिला रहे तुमसे.

अब एक दिन की जुदाई भी सह नहीं सकते,
जुदा रहे हैं तो बरसों जुदा रहे तुमसे.

फ़क़त ये बात कि तुमसे बड़ी उमीदें हैं,
ख़फ़ा न होना अगर हम ख़फ़ा रहे तुमसे.

क़दम-क़दम पै कोई आरज़ू की राहों में,
ठहर के अपना पता पूछता रहे तुमसे.

तुम्हारे ग़म से हमें कितने काम बाक़ी हैं,
तमाम उम्र यूं ही जी लगा रहे तुमसे.

हरेक शख़्स की होती है अपनी मजबूरी,
मैं उस जगह हूं जहां फ़ासला रहे तुमसे.

हमारे इश्क़ की बुनियाद है फ़िराक़ पै शाज़,
खुदा करे कि ये नुक्ता छुपा रहे तुमसे.

■ शाज़ तमकनत

तीन

आजकल इस बात से अब ये भी घबराने लगे
चिलचिलाती धूप में साये नज़र आने लगे.

मौत से ज़्यादा भयानक हो गयीं ख़ामोशियां
तोड़कर ख़ामोशियों को लोग चिल्लाने लगे.

ठंड से सिकुड़ी हुई जब बाज़ुएं जुड़ने लगीं
धमनियों में रक्त के नाले नज़र आने लगे.

इस क़दर तोड़ा है आदम को मुई महंगाई ने
पसलिय्रों में भूख के जाले नज़र आने लगे.

■ रवि खंडेलवाल
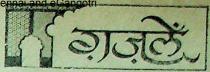
चार

देखकर उनकी हरकतें औ जांच कर उनके बयान,
हो रहा फिर से अंधेरा पहले जितना सावधान.

कल हुई थी गुप्त बैठक कर्णधारों के यहां,
तय हुआ है बख़्श दो कुछ ख़ास लोगों को ज़ुबान.

देश की जनता के प्रति जब व्यक्त निष्ठा हो गयी,
रो पड़ी पूरी व्यवस्था, हंस रहा था संविधान.

आदमी के सोचने का दायरा सीमित करो,
ताकि उनकी दिक़्क़तों का हो सके जल्दी निदान.

कह रहीं लहरें नदी से आज थोड़ा कम उफन,
बाढ़ का दौरा करेंगे देश के कुछ वायुयान.

खिड़कियों के खोलते ही सूचना मुझको मिली,
रात फांसी दे चुका है रोशनी को आसमान.

इससे पहले मैं ज़मानत पर किया जाऊं रिहा,
आईने में देखने दो मुझको चोटों के निशान.

■ गोविंद व्यास

पांच

अदलो इंसाफ़ को किस तौर सदा दी जाये
कौन मुजरिम है किसे इसकी सज़ा दी जाये.

दिल की बेचैनियां अब चैन न लेने देंगी
आशियाने को मेरे आग लगा दी जाये.

इतनी चिंगारियां भर दीं कि जला जिस्म तमाम
राख चुपचाप से दरिया में बहा दी जाये.

कोई गुलचीं न किसी फूल का गुलशन छीने
हर तरफ़ कांटों की दीवार उठा दी जाये.

ख़त्म होने नहीं आती है ये बेजान-सी रात
किसलिए शम्मा को जलने की सज़ा दी जाये.

अपनी तदबीर को हासिल है अगर रुसवाई
अपनी तकदीर की तहरीर मिटा दी जाये.

उनको हमसे है गिला हमको शिकायत उनसे
नब्ज़ को देख के दोनों को दवा दी जाये.

प्यास बुझती नहीं कितना ही पिलाओ परवेज़
मय व मीना मेरे आगे से हटा दी जाये.

■ रऊफ़ परवेज़

वक्त को हलाल करने वाले हाथ

■ स्नोण मधुक

तीन रोज तक झिर-झिर करती हुई बारिश के बाद आसमान में छंटाव आया था और दिन का रंग कुछ-कुछ तांबई हो उठा था.

लैंसडाउन रोड पर जगह-जगह घुटनों तक पानी भरा पड़ा था. कहीं-कहीं जल-भंवर में फंसी हुई टैक्सियां नजर आ रही थीं. सिर्फ हाथ-रिक्शा वाले टुन-टुन की आवाज घनघनाते हुए लोगों को आर-पार ले जा रहे थे. कमर और कंधों तक डूबे हुए छोटे-छोटे नंग-धड़ंग बच्चों के दल जाने किस ओर-ठोर से प्रकट हो गये थे. मुक्त भाव से हंसते-तैरते-चिल्लाते और मौसम द्वारा उत्पन्न अव्यवस्था में आनंद की हिलोर उठाते हुए. पानी में ठप्प होकर फंसी हुई गाड़ियों को धकेलने-निकालने की कार्रवाई को भी उन्होंने बड़े मजे से खेल भावना में शामिल कर लिया था और बाबू लोगों से मूड़ी के लिए पैसे वसूल कर रहे थे.

किसी तरह हम 'राउडन स्ट्रीट' के उस पुराने खस्ताहाल मकान तक पहुंचे थे और फिल्मांकन का रुका हुआ कार्य पूरा किया था. तीसरे पहर की चाय पर अमलेंदु ने चेताया कि यहां पर तो सिर्फ आज भर का काम है, आगे के दृश्यों को फिल्माने के लिए कोई अच्छा-सा क्लब ढूंढ़ना पड़ेगा.

सवाल उठा, कौन-सा क्लब? इस दृष्टि से कलकत्ता मेरे लिए बिल्कुल 'अपरिचित' था. एक असमंजस में डूबा-घिरा मैं स्क्रिप्ट को उलट-पुलट रहा था और सोच रहा था कि यदि बीच के कुछ शाट्स अभी छोड़ दिये जायें .... लेकिन तभी परेश मजूमदार, अतिमा सेन, मनु बैराठी और संकुल बनर्जी एक मेज पर सिर जोड़ कर अलग-अलग क्लबों की दुनिया को टटोलने लग गये. कहां-कैसा माहौल है, कितनी गुंजाइश और क्या-क्या अटरम-पटरम है, विचार होने लगा.

उस उलझन-भरे क्षण में, पहली बार, मेरे भीतर कलकत्ता के क्लबों को देखने-जानने की जिज्ञासा उठी. वह .... केवल शुरुआत थी—किंतु बाद में मैंने अपनी कई शामों को, , . . कभी मर्जी से, कभी जबरन, . . वहां ले जाकर रखा और वक्त को आहिस्ता-आहिस्ता जिबह करने वाले हाथों को . . उनसे टपकते हुए ठंडे खून के कतरों को, करीब से देखा. यह भी महसूस किया कि अपने ही भीतर निरंतर हत्या में शामिल वे खूंखार-से लगने वाले हाथ. . . मानो लकवे से पीड़ित हैं, बेजान हैं, लेकिन—उनकी उंगलियों में एक अदृश्य चाकू ठहरा हुआ है.
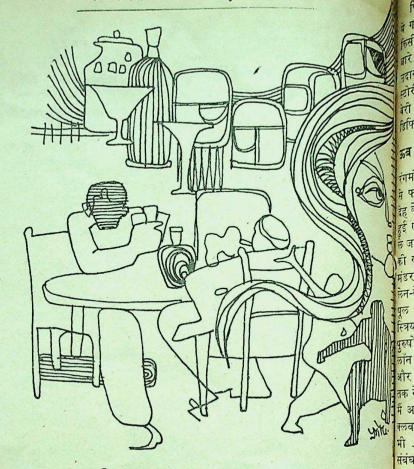
वह अबूझ पहेलियों, अनदेखे रास्तों और बसेरों में भटकने का बसेरा था. अमलेंदु मुझे न सिर्फ क्लबों, बल्कि उनसे जुड़े हुए 'कोलिकाता' के इतिहास में भी खींच ले गया. उसकी सचित्र शैली ने साहबी ठाठ-बाट के गुजरे हुए जमाने को हूबहू सामने ला दिया. अतिमा ने अपने पिता जतींद्रनाथ सेन के साथ एक खुली और गहरी मुलाकात की व्यवस्था की. उन्होंने बड़ इत्मीनान से मुझे कुछ दि-चस्प संस्मरण सुनाये.

"जानते हो, किंग्सले एमिस की बा. . सारी दुनिया में घूमने के बाद घोषणा की थी कि असली अंग्रेज मुझे सिर्फ एक ही जगह देखने को मि था—और, वह. .कलकत्ता का बंगाली था!"

सेन मोशाय ने ठहाका लगा "'कलकत्ता के क्लबों में तुम्हें ये अंग्रेज मुर्गे की टांग और शब्दों के डंठल लगातार चूसते-चबाते हुए मिलेंगे. ऐसा करने के बावजूद, मजाल है कि भर के लिए भी उनके दांतों के बीच के कटने की नौबत आये! ताज्जुब है..

फिर उन्होंने एक क्लब की रंगीनियों में गर्क हो जाने के बाद नष्ट हो गये किसी मध्यवर्गीय बंगाली परिवार के बारे में मुझे बतलाया. और, उनका स्वर उदास हो उठा, "इट्स रॉदर अ लांग स्टोरी . . आयंम अफ्रेड इट्स नॉट अ वेरी नाइस वन एंड, आइ फाइंड इट रादर डिफिकल्ट टु टेल--"

ऊब के पहाड़ों तले

रंगमंच के शौकिया अभिनेता और पेशे से फोटोग्राफर, परेश मजूमदार ने मुझे देह के सुनसान जंगलों में कहकहे लगाती हुई एक ऐसी जहरीली 'झील' के किनारे ले जाकर खड़ा कर दिया. . . जहां शराब की खाली बोतलों और जूठी प्लेटों पर मंडराती हुई उबकाइयों मे जिस्मानी लेन-देन का बेपनाह शोर था, स्वीमिंग पूल से निकल कर कपड़े बदलती हुई स्त्रियों और गोल्फ खेलकर लौटते हुए पुरुषों के मध्य ऊब के ऊंचे-ऊंचे पहाड़ थे, लॉन में किलकारियां भरते हुए बच्चों और तेजी से आवाजाही करते हुए बैरों तक ने बर्फ के ठंडे चेहरे पहन रखे थे . . . मैं आंतक से भर उठा यह देखकर कि क्लब के हरे-हरे पौधों और फूलों के बीच भी . . केवल थकान और विरक्ति के संबंध थे,

तब परेश ने मुझे उबारने का भरसक यत्न करते हुए कहा था, "मुझे पता था, तुम इन लोगों से घृणा करने लगोगे. यह संसार . . . तुम्हें अरुचि और खीझ के सिवा कभी कुछ नहीं दे सकेगा. लेकिन—जरा यह देखने की तो कोशिश करो कि जीवित रहने का ऐसा छद्म . . मृत्यु से भी बदतर है, खासतौर से इस भद्रलोक में."

यह भद्रलोक सांझ पड़े क्लबों की ओर दौड़ पड़ता है. घर-दफ्तर-गद्दी से छुटकारा पाते ही उसकी आंखों में मिरगी के मरीज का-सा दीवानापन नजर आने लगता है. . . . हर क्लब के सामने कारों की लंबी कतारें, चौकीदारों के सलाम, 'हाऽऽई' में ढले हुए अभिवादन के साथ-साथ फैशन की नयी सनकों का ईर्ष्या-भरा मूल्यांकन, शानदार कार्पेट पर लड़खड़ाते हुए पांवों की बेमेल ताल, होंठों पर चिपके हुए बियर और गालियों के एक-से झाग, ताश के पत्तों और शतरंज की चालों के बीच गर्म-गर्म चुटकियों का आदान-प्रदान . . सीत्कार, बैडमिंटन का बल्ला और पसीने की चिपचिपाहट. संगीत और कॉमिक्स के जाल में खोये हुए बच्चे कुछ समझते हैं, कुछ नहीं समझते हैं. मम्मी हर शनिवार या रविवार को कहीं से एक 'अंकल' उनके लिए पकड़ लाती हैं और पापा के पास कितनी उधार की 'आंटियां' हैं, वे गिनती कर ठीक-ठीक बतला सकते हैं.

रिकार्ड-प्लेयर पर झनझनाता हुआ लयबद्ध शोर, बात-बात पर बहस, गुस्सा, टूटते हुए गिलास और फिर . . . सहसा, मुर्दाघर की सी खामोशी!

यही होता है, अक्सर. कुछ हेरफेर के साथ, सब जगह यही होता है. एकरसता को 'सरसता' में बदलने का इसके सिवा और कोई चारा नहीं. . . . वे रीत चुके हैं, सुकांत भट्टाचार्य की भाषा में कहूं कि . . उनके भीतर न ताजा धान की गंध है, न टहनियों पर खुलती हुई पंखुड़ियों की खुशबू. वे सिर्फ पोखर से निकलकर अस्तबल की ओर जाते हैं. सुनते हैं घोड़े की हिनहिनाहट. कीच से लथपथ . . . धीरे-धीरे अपनी नींद की कालिख में लौट जाते हैं—हतप्रभ, क्लांत, असंतुष्ट!

गोर्की की कहानी 'मकरछुद्रा' पर बनी रूसी फिल्म की नायिका स्वेतलाना ने उस रात यहां . . . क्लबों के संसार को एक कत्लगाह के रूप में चीन्हा था. वधस्थल! हैरत है, आदमी अपने हत्यारे को नहीं पहचानता है. वह उसके अंदरूनी इलाकों की किसी खोह में छुपा रहता है और रोज सूरज डूबते ही उकसाता है—चलो चलो, वहां चलो, वहीं तुम्हारी अंधी और बेमानी और लोलुपता से भरी दौड़ का अंतिम छोर है!

इकसठ वर्ष बूढ़ी डायरी

अंग्रेजों की विरासत के जैसे और जितने अवशेष कलकत्ता में बिखरे हुए हैं, संभवतः हिंदुस्तान के किसी अन्य शहर में नहीं हैं. उन्हें बहुत संभालकर रखा गया है. अंग्रेजियत की व्यतीत-गंध को सबसे अधिक आग्रह के साथ ओढ़े हुए है—बंगाल क्लब. चौरंगी से हट कर अब यह क्लब रसेल स्ट्रीट पर आ गया है. आधुनिक साज-सज्जा और सुविधाओं से संपन्न. 1827 ई. में स्थापित इस क्लब को ड्यूक ऑव एडिनबरा का स्वागत करने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है. स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले इसमें अंग्रेज अधिकारियों, सुप्रीम कौंसिल के सदस्यों और गिने-चुने रईसों का बोलबाला था. बाद में कुछ रियायत बरती जाने लगी. देशी और विदेशी सदस्यों का अनुपात क्रमशः चालीस और साठ प्रतिशत हो गया.

यहीं पॉल गुमर से मुलाकात हुई. मैंने उनके बारे में सुन रखा था. दुनिया भर के अच्छे-अच्छे क्लबों का कच्चा चिट्ठा उनके पास सुरक्षित है, स्मृति में—वैसे एक कत्थई रंग की छोटी-सी डायरी भी जेब में रखते हैं. डायरी की उम्र अपने मालिक से सिर्फ अठारह वर्ष कम है यानी कुल इकसठ साल. ऊपर के पृष्ठ पर सन् 1917 टंका हुआ है. मेरी गुजारिश पर पॉल गुमर कॉकटेल पार्टी छोड़कर निकल आये. मनु बैराठी के जरिये मेरा संदेश उन्हें मिल चुका था. बरामदे की एक कुर्सी पर बैठते हुए बोले, "मैं भी लेखक बनना चाहता था, लेकिन जब-जब लिखने की कोशिश की, भाषा ने साथ नहीं दिया और हिम्मत पस्त हो गयी. कैसे-कैसे तजुर्बे मिले हैं, जिंदगी में . . . एक पिटारा बन गया है, लेकिन अफसोस है कि वह कभी खुलकर सामने नहीं आ पायेगा. जो मेरा है . . . कितना ही क्यों न चाहूं, वह . . . दूसरों का नहीं बन सकता. वैसे . . . नाम नहीं लूंगा, किंतु बंगला के कई गल्पकार मुझसे 'कथानक' लेकर गये हैं, कुछ अंग्रेजी वाले भी . . .-सॉल बेलो से मिला हूं शिकागो के 'सेवन-ट्रीज क्लब' में और फिर मेरी दी हुई थीम पर उन्होंने एक लंबी कहानी लिखी . . . लेकिन मुझे किसी से संतोष नहीं हुआ. हो नहीं सकता है . . औरों के अपने अनुभव भी होते हैं, वे जुड़ जाते हैं और फिर वह कहानी अप्रामाणिक होकर फिसल जाती है. . . . "

पॉल गुमर देर तक आत्मालाप में बहते रहे. मैंने उन्हें रोका नहीं. यात्राओं के अद्भुत, रोमांचक प्रसंग. उनका नशा जबरदस्त होता है, करीब-करीब बेकाबू. अपने आप ही वह अपने से मुक्त हुए, फिर मुझसे किसी और दिन आने के लिए बोले, लेकिन मेरे पुनः विनम्र आग्रह पर थोड़े पिछले और क्लबों के संबंध में

कुछ जानकारी दी.

"यूनान और रोम में. . . बंगाली जिसे अड्डेबाजी कहते हैं, उसके लिए 'हटेरिया' और 'सोडलिटा' जैसे कुछ मनोरंजन-घर थे. फ्रेडरिक के समय जर्मनी में 'क्लूबे' बने. . . आप यहां से प्रारंभ मान सकते हैं. लेकिन हेनरी चतुर्थ के जमाने का 'ले कुर्त दे बॉन कंपाने' सबसे पुराना क्लब कहा जाना चाहिए. बॉलिनबुक का सेटरडे क्लब 1711 ई. में खुला और उसके तुरंत बाद किग्स हैड, किट-कैट, मर्मेड टैवर्न, हनोवर क्लब और अथेनियम ने खूब शोहरत हासिल की. 1749 में डॉ. जान्सन के 'आवी लेन क्लब' की इतनी चर्चा हुई कि उसे 'द क्लब' पुकारा जाने लगा. सर जेसुआ रेनॉल्ड्स, जेम्स बॉसवेल ऑलिवर गोल्ड स्मिथ, डेविड गैरिक और सर जॉन हाकिन्स जैसी हस्तियों के जमघट के कारण वह बुद्धिजीवियों का घोंसला माना गया. हिंदुस्तान में, वैसे तो राजाओं और बादशाहों के . . . उनके खास दरबारियों के मेल-मिलन के लिए स्थान थे ही, किंतु लंदन-छाप क्लब लॉर्ड क्लाइव के 'रॉयल हट' से शुरू हुए. यह बंगाल क्लब उसी परंपरा में है . . . "

पॉल गुमर ने सिगार सुलगाया; "टालीगंज क्लब . . . पहले कंट्री क्लब कहते थे उसे, सन् 1885 में खुला. वह इलाका टीपू सुल्तान के कब्जे में था. 1781 ई. में वहीं जान्सन परिवार रहता था. कलकता क्लब सन् 1905 ई. में, काशीपुर क्लब सन् 1906 में बने—ओह, सॉरी! इनसे भी पहले सेडरडे क्लब खुल चुका है सन् 1898 में. . आज तो लॉर्ड सिन्हा रोड है, वहां पर. सन् 1903 में वह वुड स्ट्रीट पर आ गया. पंजाब क्लब . . . 1930 में कैमक स्ट्रीट पर खुला था. फिर बालीगंज सर्कुलर रोड पर ले जाया गया. ब्रिटिश आर्मी के अफसरों ने 1938 में 'आर्डिनेंस क्लब' बनाया. लैंसडाउन रोड पर, हिंदुस्तान क्लब की नींव 1946 में पड़ी. और भी क्लब हैं, लेकिन वे. . . . अधूरे-से हैं. कोई किसी खेल के लिए है, तो कोई तैराकी या घुड़दौड़ के लिए. मसलन, 'कैलकटा साउथ क्लब'. . . टेनिसके लिए मशहूर है. टिल्डन, कोहेत, लियो हुड, रोजवल और सगुरा जैसे टेनिस के खिलाड़ी उस क्लब के मैदान में खेल चुके है, रॉयल कैलकटा गोल्फ क्लब, कैलकटा रोइंग क्लब, कैलकटा स्वीमिंग क्लब, रॉयल कैलकटा टर्फ क्लब, कैलकटा फुटबाल क्लब, कैलकटा क्रिकेट क्लब . . . खुद अपना परिचय दे देते हैं."

वह उठे, धुंआ उड़ाते हुए. कान्फ्रेंस हॉल की तरफ बढ़ते हुए बोले, "कुछ और तरह के क्लब भी हैं. मकसद है, समाज-सेवा . . . लेकिन खेल-खेल में, हंसी-खुशी के साथ. 1922 में पॉल पी. हैरिस ने शिकागो में जो क्लब बनाया था, वह आज रोटरी क्लब के रूप में जाना जाता है. इसी तरह लॉयन्स क्लब 1917 में टेक्सास से प्रारंभ हुआ. ये दोनों क्लब आज सारी दुनिया में अपने सदस्य होने का दावा करते हैं."

हल्के हरे रंग की एक फियेट अंदर दाखिल हुई. उसमें से एक जापानी परिवार उतरा और उधर से आवाजें उठने लगीं, "हलो, मिस्टर पॉल! हाउ आर यू . . . . . "

पॉल गुमर सिगार को होंठों में दबाये-रखे मुस्कराये. हवा में हाथ हिलाया . . . मैंने धन्यवाद देकर उनसे विदा ली.

एक ठहरा हुआ आतंक

इतवार. एक खूबसूरत चौकोर मेज. ताश के पत्ते. उनके चौगिर्द बार-बार फेंटे गये चेहरे.

वह सुबह से क्लब में थे और जुआ खेल रहे थे. हार जाते थे, लेकिन उनकी बुझी आंखों में न उत्सुकता थी, न उछाह और चाह की कोई छाया.

खेलते-खेलते उनकी पलकें झपकने लगीं. वह मेज पर माथा टिकाकर सो गये. फुसफुसाहट हुई, "अब?"

"हां, इन्हें तो नींद आ गयी है."

"जागेंगे, तभी हिसाब करेंगे."

"खूब हारे हैं आज."

"हारने के लिए ही तो आये थे. इन पर . . .जुनून सवार होता है."

"जूट में बहुत कमाया है इस साल."

"रंगून में एक होटल भी तो खोला है."

"होटल तो कई हैं इनके, इटली में, ब्राजील में, स्पेन में . . . "

"बीवी को छोड़ दिया है—"

"तीन और हैं अभी. पहली को. . . छोड़ा है, वह बिहार के किसी राजघराने से है."

"कोई कह रहा था, ये चुनाव लड़ने वाले हैं."

"नहीं, चुनाव-वुनाव के चक्कर में कभी नहीं पड़ेंगे. वैसे ही एम. पी. और मिनिस्टर हाजरी भरते हैं इनकी."

"तुमने इनके घर का स्वीमिंग-पूल देखा है?"

"नहीं, मुझे इतनी लिफ्ट नहीं मिली इनसे."

"इस क्लब के ताल से चौगुना बड़ा है. पानी के जहाज की शेप में बनाया गया है, दो तल्ले का. नीचे का हिस्सा तैरने के लिए. ऊपर के तल्ले पर बार है."

"बहुत पीते हैं."

"चौदह-पंद्रह पेग तो अभी पी चुके हैं."

"पीकर बीवी का डांस देखते हैं. इनकी एक बीवी बहुत अच्छी डांसर है. तेहरान में कैबरे करती थी. वहीं से लाये हैं."

हठात् . . . अपने ही तेज खर्राटों की आवाज से वह हड़बड़ाकर जागे और होंठों पर सरक आयी लार पोंछते हुए खड़े हो गये. आसपास देखा. सेक्रेटरी को बुलाया, "वेंकट!"

एक सांवला-सा अधेड़ व्यक्ति दुलकी चाल से उनकी बगल में आ खड़ा हुआ.

"इन लोगों का . . . जो भी बनता है, चुका दो!"

वह डगमगाते हुए चल पड़े. डाइनिंग हॉल से एक युवती दौड़ती हुई आयी. उसने उनकी बांह थाम ली.

कार में जाकर बैठे. युवती के कंधे पर सिर टिकाये. अधसोये. सहसा खर्राटे खींच लेते हुए. उनकी लार युवती के कंधे पर से होती फिसलने लगी.

मैं सीढ़ियों पर खड़ा था. देख रहा था. युवती से नजरें मिलीं. नहीं, वहां कुछ नहीं था. न शर्म, न ग्लानि. वह चेहरा जो सुंदर और आकर्षक तो था . . . किंतु पत्थर का था—एकदम तराशा हुआ.

फिर एक रोज मैंने उन्हें दूसरे क्लब में पाया. वह 'रूना-लैला' के प्रोग्राम में आये थे और स्टेज पर किसी मंत्री के साथ व्यस्त थे.

तीसरी बार एक अन्य क्लब में उनसे भेंट हुई. बंगला फिल्मों की एक अभिनेत्री

…विवाह हुआ था. वह उसके 'धर्म-पिता' …ते हुए थे. इसलिए अपनी ओर से दावत … रहे थे. बहुत शानदार इंतजाम था …लेकिन—वह किसी बात पर भन्नाये हुए. …पत्रकारों का ग्रुप जोर-जोर से बातें कर रहा था. उन्होंने पास आकर डांटा, "आप लोग शोर मत मचाइये!"

सब सहम गये और बगलें झांकने लगे.

तभी सुगंधित दुग्ध का शीतल पेय सर्व होने लगा. उन्होंने एक बोतल हाथ में लेकर देखी और चीखे, "यह ठंडा क्यों नहीं हुआ अभी तक?"

मैनेजर भागकर आया, गिड़गिड़ाया, "काफी ठंडा है, सर!"

"खाक!" उनका गुस्सा सातवें आसमान पर चढ़ गया, "मुझे अक्ल सिखाते हो!"

वह मुड़े. हुक्म दिया, "इसे सर्व मत करो. सारी बोतलें हौज में फेंक दो . . . . समझते क्या हैं, मैं यह क्लब बंद करवा दूंगा.

मैनेजर डर के मारे पीला पड़ गया. दूध की बोतलें हौज में फेंक दी गयीं, तत्काल . . . उसी समय हिंदी फिल्मों के एक लोकप्रिय हीरो ने हाथ जोड़े-जोड़े प्रवेश किया. त्यौरियां चढ़ाये-चढ़ाये ही उन्होंने गर्दन हिलाकर उसका सलाम कबूल किया.

हाल ही में, जब दंडकारण्य के शरणार्थियों ने शहीद मीनार के मैदान में पड़ाव डाला, तो अचानक फिर उनके दर्शन हो गये.

वह अपनी इंपोर्टेड कार में कुछ विदेशियों को भरकर लाये थे और उन्हें शरणार्थियों के 'दृश्य' दिखला रहे थे. मुझे सामने पाकर पलभर के लिए ठिठके, फिर रूखी आवाज में बोले, "हलो, कैसे हो?"

एक स्त्री पानी में सत्तू घोल कर गोद के बच्चे को पिला रही थी. ह्विस्की के पसीने से भीगे अपने थुलथुल चेहरे को रूमाल से पोंछते हुए वह उसके पास रुके, "तुम इसे दूध क्यों नहीं पिलाती हो?"

स्त्री ने कोई जवाब नहीं दिया. सिर झुकाते, चम्मच से बच्चे को सत्तू पिलाने की चेष्टा करती रही.

"ए, सुना नहीं तुमने? इसको दूध पिलाओ . . . .. बहरी हो क्या?"

इस बार स्त्री ने उनकी तरफ देखा. वे धधकती हुई निगाहें, वह स्वाभिमान, वह ऊंचाई! मुझे लगा, बरसों-बरसों बाद मैं इतने पवित्र, इतने उज्वल ताप से भरे चेहरे को 'चीन्ह' रहा हूं.

"बेशी बोक-बोक कोरे ना . . एखाने दिके पालिये जाव—ज्यादा बकबक करने की जरूरत नहीं . . . . भागो यहां से!"

उन्होंने सकपकाकर पीछे कदम रखा और तेजी से चल दिये. मुझे निकट पाकर खिसियानी हंसी में ढल गये, "मुझे इनके लिए कुछ करना पड़ेगा. . . . .अपने क्लब से खाने-पीने का थोड़ा-बहुत सामान मैं भिजवा दूंगा. . . . आफ्टर ऑल दे आर अवर पीपुल—"

ये लोग और वे लोग

अतिमा ने फोन पर एक क्लब का जिक्र किया और कहा कि कल सवेरे साढ़े आठ बजे वहां से काठमांडू के लिए कार-रैली शुरू होगी, तुम पहुंच जाना . . . .नजारा देखना!

और, नजारा मैंने देखा.

दूल्हों की तरह सजे हुए कार-चालक. शुभचिंतकों के उपहार और पत्नियों-प्रेमिकाओं के चुंबन स्वीकार करते हुए. धूप में कारों का रंग-रोगन ऐसा चमक रहा था कि लगा, उन्हें लगातार ताकते रहो तो आंखें पथरा सकती हैं.

मिठाइयां बांटी जा रही थीं. गुब्बारे उड़ाये जा रहे थे. मनपसंद गवैयों के रिकार्ड बजा कर रूमानियत बिखेरने का कारज हो रहा था. माइक पर एक सज्जन कारों की खूबियों और उनके अलग-अलग मॉडलों का बखान कर रहे थे.

तभी हलचल बढ़ी. एक बम फटने का सा धड़ाका हुआ. कारें चल पड़ीं. दर्शक तालियां पीटने लगे. "ऑल द बेस्ट . . ." के साथ हाय-हुई की चीख-पुकार मच गयी.

कारों को अभी एक गोल घेरे का चक्कर लगाना था. वे धीमे-धीमे सरक रही थीं.

मैं बाहर आ गया, सड़क पर. बस-स्टैंड की ओर चल पड़ा.

रास्ते में एक डबल-डेकर बस अड़ कर खड़ी थी. यात्री उतर कर पीछे से धक्के लगा रहे थे.

"जोर लगाओ, मार धक्का—" यहां भी एक हांफता हुआ शोर.
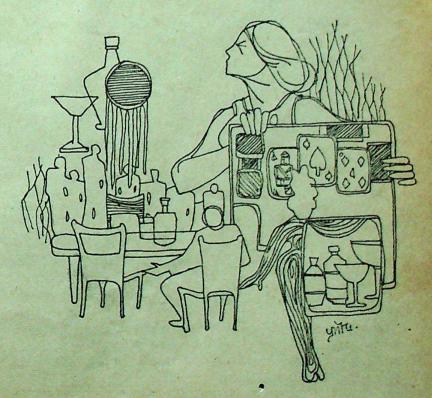
उसी समय कारों का काफिला आया और ठप्प पड़ी हुई बस की बगल से गुजरने लगा. धक्का देने वाले उन्हें हैरत और हसरत से देखने लगे.

यह बस, वे कारें! ये लोग और वे लोग! ट्राम पकड़ने की सोचता हुआ मैं, इस आक्रामक नजारे को सह नहीं सका....

मरे हुए लोगों का काफिला

ऋत्विक घटक खलासी टोला से पीकर आ रहे थे और अब उन्हें संभालना मुश्किल था.

"ही इज... आमार फाइनेंसर—" उन्होंने अपने साथ के व्यक्ति से मिलवाया और फिर मुझे आंखें सिकोड़कर देखा, "एंड दिस फैलो.... "वह चुप हो गये, एक क्षण बाद चौंके, "आंह... हिंदी स्टेज... आंह खूब भालो प्लेराइट... तोमार नाम की... आंह माथा खोराब होइ गियाछे... आंह की... मोनी मोदुकर..."

उनका फाइनेंसर हंसने लगा. बोला, "ऋत्विक मोशाय एक क्लब में ले चलने का आर्डर दिये हुए हैं मुझे. कहते हैं, वहां वर्मा का एक कंट्री लिकर पेश किया जाता है. डिनर वहीं लेंगे. आप भी चलिए."

ऋत्विक घटक भड़के, "मैंय कहता है ये श्शाला तो चलेगा ई.. इशका वाश्ते वो प्लेस बहूत अच्छा हैय...ही विल सी... हाउ वी आर डाइंग—वी इंडियंस... यस्स, वी मस्ट डाय..."

आशुतोष मुखर्जी रोड से गुजरते हुए देखा कि सड़क के बीचों-बीच एक औरत बेहोश पड़ी थी. मिनी बस टक्कर देकर भाग गयी है. औरत के सिर से खून बह रहा है...

एक एंबेसडर आयी, रुकी... जाने के लिए उसे रास्ता नहीं मिल रहा था. एक नीला सूट गाड़ी में से उतरा. उसने अपने ऊंची एड़ियों वाले नये ढब के बूटों से औरत को खिसकाकर किनारे किया... जगह बन गयी. एंबेसडर चली गयी... औरत पड़ी रही, माथे पर ताजा रक्त से भीगे बाल चिपकाये हुए....

"वह मर रही है." टैक्सी में से झांक कर ऋत्विक बाबू के फाइनेंसर ने कहा...

"वी ऑल... हैव फिनिश्ड आवर लाइफ—" ऋत्विक बड़बड़ा रहे थे. चश्मे के शीशों के पीछे उनकी आंखों में था... वह शून्य! मैं कांप उठा.

क्लब में हंगामा था. ...बनाने के एक बड़े सूबेदार की पुत्रवधू ने कुछ चित्र बनाये थे. उनकी प्रदर्शनी लगी हुई थी. कला-समीक्षकों की टोली हर चित्र पर मुक्त प्रशंसाओं का गंध... लगाती हुई मत्त मंडरा रही थी. सूबेदार ने एक लंबी मेज पर स्कॉच, वोदका, कोन्याक, ब्रांडी... किस्म-किस्म की शराब की बहार ला दी थी.

"हलो स्वीटी!" ऋत्विक की ल...

ती हुई आवाज में व्यंग्य और वितृष्णा
कसैलापन उभर आया, "हाउ आर
हसबैंड्स?"
बेदार से सटकर खड़ी हुई लड़की
हो गयी.
"यह मेरी बेटी है," सूबेदार ने हम
लों की ओर मुड़कर लड़की की पीठ
हाथ रखा, फिर ऋत्विक बाबू से
, "घटक साहब, क्या कह रहे हैं
? . . . होश में आइये. स्वीटी की
अभी शादी ही नहीं हुई. वैसे ... मैं
नी अच्छे रिश्ते की तलाश में हूं."
"ओह . . . पुअर फादर . . . यू डोंट
योर डॉटर . . . शी हैज ए बिग
मिली—" ऋत्विक एक कुर्सी पर ढह
, "जदि हम उशको अपनी पिक्चर में
ठो रोल दे देता तो वो हमारे शंग लग
ता . . माइ गॉड! बहुत फ्लर्ट हैय."
"शी हैज गट्स . . . कैलकटा की सबसे
टि सुंदरी. . . आइ मीन रंभा है स्वीटी
" एक क्रिटिक नकियाये स्वर में चहके.
दार की पुत्रवधू ने, जो बार-बार
टिस्ट की तरह भावुकतापूर्ण मुद्राएं
ना रही थी, उनकी ओर कटखनी दृष्टि
देखा.
शराब की मेज पर उमंगों और आवेगों
जुमले खनखना रहे थे. अपने एक चित्र
ास आर्टिस्ट ने एक नया पोज़ बनाया
र विग के घने-कजरारे बाल खोलकर
धों पर लहरा दिये.
स्वीटी ने उनकी इस अदा पर मुंह
चकाया, फिर अपने पापा की गरिमा-
ी तोंद को उंगली से खोदकर बोली,
गली दफा . . . हम अपनी पेंटिंग्ज
प्रदर्शनी लगायेंगे."
"श्योर, श्योर . . . तुम अपनी भाभी
भी अच्छी कलाकार बन सकती हो!"
दार ने टाई की गांठ ठीक की.
"वो कुछ नहीं जानती है, उसको तो
पकड़ना ही नहीं आता." स्वीटी तुनक
ी, "हमें सब मालूम है . . . ये पेंटिंग्ज
ी ने एक स्कूल के ड्राइंग-मास्टर से
रीदी हैं, काफी पैसा देकर और नीचे,
जगह अपना नाम लिखवा लिया है."
सूबेदार की पुत्रवधू के कानों में भनक
गयी. आर्टिस्ट की कोमल-ललित
िमा तजकर वह कोप-भरी कैकेयी-सी
कती हुई आई. ौर स्वीटी को एक
कोने में खींच ले गयी.

वहां ननद-भाभी का संवाद बाकायदा आरंभ हो गया . . .

"कैलकटा के क्लबवालाज . . . बहुत ग्रेट हैंय, असली जीनियस!" तमाचे की तरह करारी, ऋत्विक घटक की यह घोषणा कभी कलकत्ता के क्लबों में गूंजा करती थी, "श्याले . . . पैशा देकर शोब परचेज़ कर लेते हैंय."

महान लोग

उनके इस कथन में जितनी कटुता थी. उतनी ही सच्चाई भी. जिन्हें कैमरा उठाना नहीं आता, उनके द्वारा लिये गये छायाचित्रों की प्रदर्शनियां क्लबों में होती रहती हैं. अखबारों में आकर्षक विज्ञापन छपते रहते हैं. जो सितार को छूते हुए डरते हैं, वे संगीत-सभाओं के मोटे-मोटे अक्षरों में 'कन्वीनर' होते हैं. जिनका एक्टिंग और स्टेज से कोई वास्ता नहीं, उनका नाम निर्देशक की जगह छपता है. कभी कोई सेठ या सेठानी नाटक में दो-चार डॉयलाग बोल देते हैं तो उनके अभिनय की तुलना उत्तम कुमार और सुचित्रा सेन से की जाती है. एक क्लब में कवयित्रियों का सम्मेलन हो रहा था. आभूषणों से लदी-फदी एक कुबेर-कन्या मंच पर आयी और माइक को झाड़ू की तरह उठाकर बोली, "ल्यो, इब म्हारी कवीता सुणो!"

किराये के करतल-ध्वनिकारों को बड़े पैमाने पर बुलाकर हॉल में बिठा दिया गया था. तालियों की गड़गड़ाहट ने कवयित्री का हौसला इतना ज्यादा बढ़ा दिया कि उन्होंने एक-एक पंक्ति को कई-कई बार पढ़ा. ज्यों ही उनकी कविता खत्म हुई, करतल-ध्वनिकार उठकर चले गये और हॉल खाली हो गया.

एक सिरफिरा श्रोता कवयित्री के पास पहुंचा और बोला, "जो कविता आपने सुनायी; उसमें से अगर मारवाड़ीपन को निकाल दें तो वह महादेवी वर्मा की है."

"मैं किस्सी महादेई को नईं जाणती, कवीता म्हारी है." कवयित्री ने नाक की नथ घुमाते हुए कहा.

"कविता आपकी नहीं."

"चपर-चपर मत करो. ईस कवीता पर तो अव्वी मन्नै किलब की तर्फ सैं ईनाम भी मिलणै वाला है . . . खुद कप बणवाके दिया है आज ई—"

"लेकिन यह ज्यादती है . . मैं मंच पर जाकर इस साहित्यिक चोरी की निंदा करूंगा."

"क्यूं करोगे तुम्म निंदा? ल्यो, ये सौ रुपैये ले जावो और अपणे घर जाके अराम करो."

कवयित्री ने तुरंत बैग में से एक कड़कड़ाता नोट निकालकर फेंक दिया. श्रोता संतुष्ट होकर चला गया.

कुछ समय पूर्व, एक क्लब में तैराकी प्रतियोगिता हुई. राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति अर्जित करने वाली एक बंग-महिला जानबूझकर दूसरे नंबर पर आयी. पहले नंबर पर, एक धनपति की सुपुत्री. मैंने बंग-महिला को छेड़ा-कुरेदा तो बोलीं, "क्या फर्क पड़ता है इससे . . वह बेचारी बहुत भली है. अपने बाप से कहकर उसने मेरे पति को एक टी-कंपनी में बढ़िया नौकरी दिलवा दी है . . "

अकेलेपन के परकोटे

"हाउ टु किल द टाइम . . . माइ प्रॉब्लम इज दिस—आय'म द विक्टिम ऑव लोनलीनेस!"

वे अलग-अलग क्लबों के कोने थामे बैठे हैं और उनमें से हर एक के होंठों पर यही बुदबुदाहट उभरती है—कभी पीने के बाद, कभी अपने घरों के लिए लौटने से पहले. . . . उनकी समस्या है कि समय को कैसे हलाल करें और फिर किस तरह अपने अकेलेपन के परकोटे में स्वयं को छुपाकर बचा लें. सौदों, समझौतों, हीन-ग्रंथियों और अपराध-बोध की प्रेतछायाओं से छुटकारा पाने के लिए वे नशे की नदी में कूद पड़ते हैं, घुड़दौड़ में दांव लगाते हैं, पराये बिस्तरों के नीचे नोटों के बंडल फेंक आते हैं, कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में घुस जाते हैं—लेकिन वक्त . . . . जंगली जानवर की तरह सदा उनका पीछा करता है. वह मरता नहीं है, सिर्फ मरने का भ्रम देता है और अपने सींगों से, खुरों से . . . उन्हें निरंतर रौंदता रहता है! ! □

• 7/2, राजेंद्र नगर, नयी दिल्ली-60.

नेपाली क्रांति नया दौर!

सभी चित्रों के प्रस्तोता: चंचल

खुली मुस्कान के लिए लोकशाही
लोकशाही के लिए बलिदान
बलिदान के लिए सही नेतृत्व

नेपाल का युवा-मानस प्रजातंत्र और मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए कटिबद्ध हो चुका है. खुली मुस्कान के लिए लोकशाही और लोकशाही के लिए संघर्ष के संवाहक बने ये युवा अपनी आस्था पर अडिग हैं.

इस महत् बलिदान की सार्थकता के लिए जिस सही, सटीक और विश्लेषणात्मक नेतृत्व की आवश्यकता है, वह नेपाल कांग्रेस के आधारस्तंभ और नेपाली जनता की भावनाओं के परिचायक श्री बी. पी. कोइराला ने दिया है.

दुर्गा पोखरेल युवा-मानस के इन क्रांतिकारी कदमों की अगुवा रही हैं. बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के छात्रनेता श्री चंचल पिछले दिनों नेपाल गए और वहां क्रांति के इन संवाहकों से मुलाकात की. उन्होंने वहां जो देखा उसकी एक फोटो झांकी यहां प्रस्तुत है.

[चित्र : बाएं ऊपर से नीचे]

1. नेपाल नरेश वीरेंद्र वीर विक्रम शाह. साथ में प्रजातंत्र के लिए खुली मुस्कान.
2. नेपाली कांग्रेस के प्रमुख नेता श्री गणेशमान सिंह एक कार्यकर्ता के साथ.
3. नेपाली युवा आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाने वाली दुर्गा पोखरेल के साथ चंचल.
4. सड़कों पर युवा क्रांति के संवाहक.

[चित्र : इस पृष्ठ पर]

5. श्री बी. पी. को[illegible]ला : प्रजातंत्र की स्थापना के लिए संघर्ष.
6. रॉयल नेपाल विमान सेवा भवन : टूटने के बाद.
7. 'गोरखा पत्र' की जलती हुई इमारत.

सैंडोज इंडिया

स्वनियंत्रित, दिन और तिथि, चाबी वाली जैंट्स और लेडीज

घड़ियां

सभी प्रमुख घड़ी स्टोरों पर उपलब्ध

सेल्स आफिस : ११३९ चांदनी चौक, दिल्ली–११०००६

मुफ्त ! मुफ्त !! मुफ्त !!!

हमारी कंपनी ने पूरे हिंदुस्तान में बहुत नाम कमाया है. पांच साल गारंटी का माल पहले पहल हमने ही बनाया है. पंद्रह साल की कोशिश और तजुर्बे के बाद हमने यह माल बनाया है. हिंदुस्तान की तमाम कंपनियों में हमारी कंपनी एकदम बढ़िया है. हमारी कंपनी के समस्त जेवरों की सूची तथा उनके मूल्य आप घर बैठे ही मुफ्त मंगा सकते हैं. हमारे बहुमूल्य केटलाग को देखकर आप अपनी मनपसंद चीज़ सिर्फ नंबर लिखकर वी.पी.पी. द्वारा मंगा सकते हैं.

पूरे हिन्दुस्तान में हमें अनुभवी एजेंटों की जरूरत है।
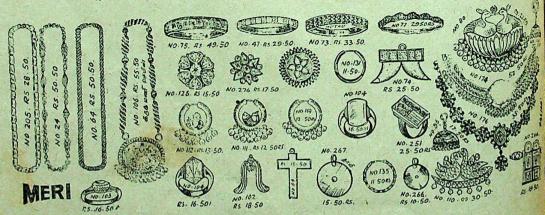
MERI GOLD COVERING WORKS (ESTD : 1963)
P.O. Box 1405 No. 14 RANGANATHAN ST., T-NAGAR, MADRAS-600017

सपनों की गंध

▪ सरोज सक्सेना

"देखिये श्रीमती गुप्ता, आप अपना इलाज ठीक से कर- वाइये . . . वर्ना इस बीमारी की हालत में आपको (नौ)करी से हाथ धोना पड़ सकता है. आपका घर आपकी नौकरी (के) सहारे चलता है. . . . .मैं आपके हालात जानता हूं. आपके पति ही बेकार बैठे हैं, कोई काम-धाम नहीं करते. . .इसलिए (मैंने पह)ले भी कई बार आपकी गलतियां नज़रअंदाज कर चुका . . . वरना तो. . . . .!"

बॉस की डांट-डपट अब तक उसके दिमाग पर हथौड़े (बर)सा रही थी. दफ्तर से लौटकर वह दमघुटी-सी कमरे में (आ)कर बिस्तर पर पस्त हो गयी. रह-रहकर उसे अपने पति सुदीप (पर) ताव आने लगा.

"रंजना, ओ रंजना ! लेट क्यों गयी ? उठो, कितना काम (पड़ा) है!" सुदीप की रोषभरी पुकार ने उसे और भी भड़का दिया. (उसे) उससे नफरत-सी हो आयी. मन एकदम विद्रोह के लिए (ललकार) कर उठा. परंतु वह जबरन गुस्सा पी गयी और कोई (जवा)ब न देकर करवट बदल ली जैसे जहर पी लिया हो!

(सु)बह वह घर से चली थी तो उसकी तबीयत ठीक नहीं (थी). सोचा था, आज की छुट्टी ले लेगी. लेकिन फिर ख़्याल आया, (यदि) छुट्टी ली तो एक दिन की पगार फालतू में कट जायेगी. (इस)के लिए वह तैयार नहीं थी. सुदीप के बेरोजगार होने से (आम)द का और कोई साधन भी तो नहीं था. इसलिए वह समय पर दफ्तर पहुंच गयी और पिछले दिन के पत्र टाइप करने लगी.

वह जल्दी से जल्दी काम समाप्त करना चाहती थी, किंतु मन के बवाल ने उसे चैन से काम नहीं करने दिया. और फिर जिस बात का उसे अंदेशा था, वही सामने आ गयी. आज कड़े शब्दों में साहब ने उसे चेतावनी दे दी थी. सुनते ही वह तिलमिला कर रह गयी. . . . क्या करती? कोई चारा भी तो नहीं था! उसकी अवस्था उस समय उस मरियल सांप जैसी थी जो फुफ- कारना चाहकर भी नहीं फुफकार सकता. उसकी पूंछ पकड़ कर उसे जोर का एक झटका दे दिया गया. उसका अंग चूर- चूर हो गया था. जिसने शक्ति रहते कभी अपने अस्तित्व से सबको डराया ही था, वही चुपचाप शांत व लाचार पड़ा था.

पिता के अत्यधिक लाड़-प्यार ने उसे बचपन से ही मनमानी करने का अधिकार दिया था. कोई भी उसकी इच्छा के विरुद्ध जाता या उसका कहा न मानता तो वह बिफर उठती थी. सबका अपमान करना उसकी एक आदत-सी बन चुकी थी. वह सदा यही समझती थी कि वह स्वयं जो कहती या करती है, वही सच है, वही ठीक है. अपने इसी अहं के आगे उसने सबको अपने समक्ष झुकने पर मजबूर कर दिया था, और यही कारण था कि उसके क्रोध को देखकर सभी डरते थे. किसी में जुर्रत नहीं थी उसकी बात टालने की. एकाध बार छोटे भाई या बहन ने कुछ बोलने की हिम्मत भी की तो उसने सारे घर को चिल्ला-चिल्लाकर सिर पर उठा लिया था. गुस्से में जो भी घर का सामान उसके सामने आया, उठाकर फेंक दिया. उसने कभी परवाह नहीं की कि कितना बचेगा कितना टूटेगा!

▣

उसने कभी भी अपनी मां की भावनाओं की चिंता नहीं की. पिताजी की भावनाओं की चिंता नहीं की जिन्होंने उसे इतना अधिक लाड़-प्यार दिया था. उसने कभी भी यह नहीं सोचा कि उसकी इन आदतों से उनके मन को ठेस लग सकती है. उसने तो सदा यही जाना, जैसे भी हो, जिस कीमत पर भी हो, उन दोनों को उसकी बात माननी ही है. कभी किसी को उसने अपनी इच्छा के विरुद्ध न खाने दिया, न पहनने दिया. उसकी उच्छृंखलता व क्रोध के कारण घर के सब सदस्य सहमे-सहमे-से रहते थे. उसके उदंड होने की एक वजह यह भी थी कि वह कतई सुंदर न थी. बहुत ही मामूली-सी लड़की थी. इसीलिए पिता ने उसे पढ़ाने-लिखाने में कोई कसर उठा न रखी. उन्हें पूर्ण विश्वास था कि उनकी लाड़ली की शादी आसानी से अच्छी तरह हो जायेगी.

लेकिन उसकी बढ़ती उम्र के साथ-साथ उनकी आशाएं भी मरती गयीं. उसकी शादी कहीं भी न हो सकी थी. हारकर पिता ने भैया की शादी पहले कर दी थी.

भाभी का खिला रूप देखकर वह अपने-आप में हीन भावना का शिकार होती गयी. मारे डाह के उसने उन्हें भी चैन से नहीं बैठने दिया था. सदा उनके साथ किसी न किसी कारण को लेकर झगड़े खड़े करती रही. मगर भाभी एकदम शांत स्वभाव की थीं. उन्होंने हमेशा चुप रहकर उसे टाल दिया. अपनी शादी से पहले वह कभी भी तो भैया-भाभी को पास बैठे देखकर सुख की सांस न ले सकी और न उन्हें लेने दी थी. कोई न कोई क्लेश, कोई न कोई दंश मुट्ठी खोलकर उनके कलेजे में उतार देती. . . .!

"रंजना सात बज चुके हैं. बच्चे भूखे हैं, उठना नहीं है क्या!" सुदीप की कर्कश आवाज ने उसे चौंका दिया. आंखें खोलकर देखा, सुदीप वहीं पास खड़ा चिल्ला रहा था. उसे कोई जवाब न देकर वह चुपचाप रसोई की तरफ उठकर चल दी.

उसके हाथ यंत्रवत चल रहे थे, किंतु मन बहुत उदास था. विचारों का सिलसिला था जो कहीं टूटने में ही नहीं आ रहा था.... जबसे वह ऑफिस से आयी थी, सुदीप ने एक बार भी तो उसके पास आत्मीयता से बैठकर नहीं पूछा था कि उसे क्या हुआ है. क्या सुदीप का यह फर्ज नहीं था, उसकी तकलीफ सुने. . . . उसकी समस्या पर गौर करे. . . !. . .सुदीप के साथ उसकी शादी भी उसे एक हादसा ही लगती है.

▣

शायद उसके रंग-रूप की बनिस्वत सुदीप उसकी नौकरी और आमदनी से अधिक प्रभावित हुआ था. उसे बिना देखे शादी की बात सुदीप के मां-बाप ने पक्की कर दी थी. नौकरी छोड़ देगी या पति स्वयं ही उसे नौकरी कराना पसंद नहीं करेगा. अभी तो वह सबकी इच्छा के विरुद्ध इसलिए नौकरी करती है कि उन पर हावी बनी रहे. सुदीप की आमदनी गुजर भर के लिए पर्याप्त होगी. बहुत मश्किल से उसकी शादी हुई थी. उम्र भी काफी हो चुकी थी. उसने तो शादी का ख़्याल ही छोड़ दिया था.

नयी आशाओं और उमंगों के बीच भाभी के साथ की हुई कटुता धुलती जा रही थी. उनके प्रति किये हुये अन्याय को अब न्याय की कसौटी पर वह तौलने लगी, और जब सच्चाई से उसका साक्षात्कार हुआ तो वह स्वयं ही अपने दुर्व्यवहार के कारण दुखी हो उठी.

उसने घर की स्वामिनी बनने का जो स्वप्न देखा था, पूरा न हो सका, क्योंकि कुछ ही अर्से बाद सुदीप ने अपनी सर्विस उसे यह आश्वासन दिलाते हुए छोड़ दी कि वह कोई दूसरा काम करेगा. लेकिन सुदीप वह भी न कर सका. जब भी वह कहती, सुदीप कोई न कोई बहाना करके टालता चला गया. आज-कल करते महीने, साल बनने लगे, किंतु सुदीप टस से मस नहीं हुआ. उसका वही रवैय्. रहता. वह दिनभर या तो पंखे के नीचे सोया रहता, या फिर मित्रों के साथ ताश खेलता या फिर रात को उसके पास सिमटकर प्यार की बड़ी-बड़ी बातें करता. वह सुदीप का यह रूप समझ नहीं पा रही थी. . . . उन दोनों के प्यार का अंकुर भी अब फूटने को था. अतः उसने कितनी ही बार सुदीप को एप्लीकेशन देकर इन्टरव्यू में जाने के लिए उकसाया. वह कामयाब न हो सकी. हारकर उसे चुप रह जाना... परिस्थितियों से उसने समझौता कर लिया था.

वह अब यह अच्छी तरह समझ गयी थी. जो सर्विस... कभी अपने पिता के घर में अपना मन बहलाने का व आर्थिक... जमाने का साधन समझी थी, वही अब उसकी आजीविका... एकमात्र साधन बन सामने आ खड़ी हुई है.

हर दो साल के बाद वह छुट्टी लेकर दो महीने... आराम करती और फिर बच्चा सुदीप की गोद में डाल वह... काम पर निकल जाती. दोनों ने ही अपना-अपना अधिकार... बांट लिया था. सुदीप बच्चे पालता था और वह ऑफिस... देखभाल करती थी. . . . उसने जो एक काल्पनिक महल बना... था, वह अब निराशा के खंडहरों में परिवर्तित होता... आया.

उसका सारा स्वाभिमान चूर-चूर हो गया था. . . उसे समझ में नहीं आता था, वह क्यों इतनी शांत हो गयी है... किस कारण वह सुदीप से अपनी पराजय मान रही है, जो... वही घर की अर्निंग मेंबर है. . . . .ढूंढ़ने से भी वह अपने प्रश्न का उत्तर नहीं पाती. . . . कहीं उसके प्रश्न का उत्तर यही... नहीं कि सुदीप को छोड़कर भी तो उसके लिए अब कोई... विकल्प नहीं ?. . . .इस हालत में यदि वह उससे अलग होती... तब भी सब उसे ही बदनाम करेंगे. मां-बाप के घर भी अब उस... लिए जगह नहीं. और फिर अब वह उसके बच्चों का पिता... तो बन गया है. . . सामाजिक मर्यादा भी तो उसे रखनी... सुदीप कितना भी बेकार सही, किंतु समाज में पति नाम... साया भी रक्षण के लिए सिर पर चाहिए!

▣

"मम्मी बहुत भूख लगी है." छोटी मीना ने रोते हुए कहा.

उसने मीना की तरफ अपनी निगाह उठायी. वह धूल... ऊपर से नीचे तक सनी थी. कपड़े एकदम गंदे हो गये थे. मीना... को देखते ही वह भभक उठी. सुदीप का सारा क्रोध उस पर... भड़क उठा. उसने दांत पीसते हुए गुस्से में आकर दो थप्पड़... उसके गाल पर जड़ दिये, "जाओ मरो जाकर." मीना और... मारकर रोने लगी. सुदीप ने कमरे से बाहर आकर रोती हुई... मीना को गोद में उठा लिया.

वह डबडबायी आंखों से मीना को देखती रही. उसकी आंखों... में सहसा एक तस्वीर उभर आयी, नन्हें की. उसे लगा वर्षों पहले... का छोटा भाई नन्हा उसके सामने मीना का रूप लेकर खड़ा हो... गया. नन्हा ! . . . . वह एक दिन धूलभरे हाथ-पैरों से उसके सामने... आकर खड़ा हो गया था. उस समय वह बहुत खुश था. बोला... "जीजी, हमने कबड्डी में फर्स्ट आकर यह मैडल जीता है."

अपने बड़प्पन में आकर उसने नन्हें की भावनाओं का ज़रा... भी ख़्याल नहीं किया था. उसे गंदा देखकर इसी तरह थप्पड़... मार दिया था. मार खाकर नन्हा कुछ देर तक तो जड़ ही बना... रहा था. वह समझ नहीं सका था, अचानक जीजी ने क्यों मार... दिया. वह कुछ समय तक अपलक देखता रहा. आंखों से आंसू... निकलकर गालों पर मैली रेखा बनाते हुए नीचे ढुलकने लगे...

भाभी ने झट से आकर उसे गोद में उठा लिया. उस दिन ली बार भाभी उसके सामने गुस्से से लाल-पीली हो उठी थी, हीं इस तरह बच्चे को मारते हैं. यदि उसकी आंख पर लग ती तो तुम्हारा क्या बिगड़ता!"

...वह हर पहली तारीख को घर का खर्च चलाने के लिए री सैलरी सुदीप के हाथों में दे देती है. सुदीप ने सदा ही हंस र खर्च हाथ में लिया है. उसने सुदीप के चेहरे पर कभी भी ज्ञ या शर्म की रेखा नहीं देखी. हां, उसने अवश्य वेतन देते समय क प्रसव की पीड़ा अनुभव की है. दिन ब दिन वह ऑफिस व र का काम तथा हर दो वर्ष बाद एक बच्चे को जन्म देकर ती चली गयी है....

ाज की घटना से पहले वह सुदीप से कई मर्तबा अपनी बीयत खराब होने की बात कह चुकी थी. वैसे उसने स्वयं ी सोचा था कि वह अकेली ही डॉक्टर को जाकर दिखायेगी. किंतु कुछ खर्च के कारण, कुछ समयाभाव के कारण और कुछ सकी यह इच्छा कि सुदीप स्वयं उसे डॉक्टर को दिखाये, उसका लाज कराये, वह टालती ही चली जा रही थी. लेकिन सुदीप ी लापरवाही के कारण ही आज उसे अपमान सहना पड़ा!

....वह समझ नहीं पाती, क्या करे?....एक ऊहापोह ी जिंदगी जी रही है. कभी वह एकदम शांत हो जाती है, कभी दीप की अवस्था देख उसका मन विद्रोही हो उठता है....

वह यह भी अच्छी तरह जानती है कि उसके पिता के घर भी सुदीप को सब हेय समझते हैं. अब मित्रों में भी वह हिकारत ी नज़रों से देखा जाता है. वह स्वयं भी सुदीप के घर में रहते ऊब-ऊब जाती है. उसका दिल होता है कि वह स्वयं घर में हकर अपनी गृहस्थी का प्रबंध करे, अपने बच्चों को देखे, ौर सुदीप पिता और पति का दायित्व संभाले. वह शाम को ब थका हुआ घर लौटे तो सजी-संवरी वह उसकी बाट जोहती मिले. उसकी थकान को अपनी मंद मुस्कान से बांटने का प्रयत्न रे...... मगर यह सुख उसकी तकदीर में नहीं.....

अपनी अवस्था देखकर उसे स्वयं पर आश्चर्य होता है, वह या थी और अब क्या हो गयी है! उसने यूं सुदीप के काम छोड़ ने का बुरा नहीं माना था. जहां तक उससे हो सका, उसने अपना ारा मान-अपमान जलाकर राख कर दिया था.

उसने कभी अपने मित्रों की, समाज की परवाह नहीं की थी क वह सुदीप के बारे में क्या कहते हैं. पर आज न जाने क्यों ह बांस द्वारा किये हुए अपमान को सहन नहीं कर सकी! वह तलमिला उठी है. सुदीप का अस्तित्व उसे एक लिजलिजाते केंचुये-सा लगा जिसे छूने में भी घिन आती है. पिता का र होता तो इतना अपमान सहने की नौबत न आती. वह जमीन-आसमान के कुलाबे मिला देती... पर यहां परिस्थितियों से बाध्य होकर उसने अपने स्वाभिमान को जलाकर बिल्कुल राख र दिया है. वह एकदम हिम की तरह शांत हो गयी है. उसमें ब वह गर्मी नहीं है, वह तपिश नहीं है. अब उसके मिजाज की गर्मी देखने वाले उसके अपने माता-पिता नहीं हैं...है तो केवल एक सुदीप नाम का व्यक्ति, जिसे समाज के सामने बहुत धूमधाम से बहुत तमन्नाओं से उसने पति रूप में स्वीकार किया था...

...यदि सुदीप किसी दुर्घटना से अपाहिज हो गया होता तब भी शायद वह इस कदर न टूटती. उस समय उसे सहारा देना उसका कर्तव्य होता, लेकिन सुदीप जैसी पर्सनैलिटी वाले व्यक्ति को, जो हाथ-पांव सलामत रहते सिर्फ अपने आराम के लिए अपाहिज-सा बन हर समय घर में रहकर बच्चे पालता है, देखकर शर्म से न जाने कितनी बार अपनी सहेलियों के आगे मरी है...एक बार उसकी सहेलियां घर में आयीं, उन्हें सुदीप का परिचय देते हुए ग्लानि-सी हुई, "कौन सी कन्सर्न में हैं आप?" उन्होंने पूछ लिया.

"रंजना एंड कंपनी!" सुदीप का उत्तर सुन जल-भुन कर रह गयी. सुदीप ने जान-बूझकर उसे अपमानित करने का प्रयत्न किया था. सहेलियों के जाने के बाद वह स्वयं पर काबू न पा सकी. अपमान से पीड़ित वह सुदीप पर बरस पड़ी.

"तुमने रंजना एंड कंपनी क्यों कहा, तुम कोई और जवाब नहीं दे सकते थे."

"मैं और क्या कहता! ठीक ही तो जवाब दिया है." उसने विषैली मुस्कराहट छोड़ते हुए कहा.

"शर्म से डूब नहीं मरे. तुम्हारी पत्नी बाहर काम करती है और तुम घर में बैठे रहते हो."

"इसमें शर्म की क्या बात है. मैं यदि काम करता तो तुम भी तो घर में बैठकर खातीं. मैंने अपना कार्यक्षेत्र बांट लिया तो क्या हुआ!" सुदीप ने हंसकर जवाब दिया.

"औरत का क्षेत्र घर में शोभा देता है, और अगर नौकरी भी करती है तो पति भी तो साथ में करता है. कोई तुम्हारी तरह बशर्मी से तो नहीं खाता."

"इससे क्या हुआ! आज तो नारी बाहर काम करती है, और मैं आधुनिक पति हूं इसलिए घर में बैठकर पत्नी की कमाई खाता हूं." सुदीप के तर्कों में बेशर्मी-जहालत की बू देखकर उसने चुप रह जाना ही ठीक समझा था. इससे अधिक अपमान उसका और हो नहीं सकता था.

तवे पर रोटी जलने की बू सारे घर में फैलते ही सुदीप की कर्कश आवाज़ ने उसे फिर चौंका दिया था, "रंजना! जान पड़ता है आज तुम्हारा दिमाग ठिकाने नहीं है, कोई काम ठीक से नहीं कर रही हो. कुछ दिनों से तुम्हें बहुत उखड़ा-उखड़ा देख रहा हूं. लेकिन आज जैसा तो तुम्हें कभी नहीं देखा, तबीयत तो ठीक है?"

उसकी समझ में नहीं आया, सुदीप की बात का क्या जवाब दे. एक निरीह दृष्टि डालकर बेजान-सी अपने काम में लग गयी.

अब वह एकदम शांत हिम की तरह ठंडी हो गयी है. उसे लगा उसका अस्तित्व भी बर्फ की तरह जमकर सर्द हो गया है. जिसका काम पिघलकर नदी की धारा बनना या वाष्प बनकर फिर से बरसना ही होता है. थोड़ी-बहुत अपेक्षा जो कभी उसने सुदीप से की थी वह भी इस घटना से सदा-सदा के लिए समाप्त हो गयी! एक डुबकी...दो डुबकी...और वह स्नेह से सराबोर हो उठी! □

● बी-78, गांधी नगर, बांद्रा (पूर्व) बंबई-400051

असली जगह की तलाश

◘ विजय मोहन सिंह

श्रीमती मन्नू भंडारी छठे दशक की शुरुआत से कहानियां लिख रही हैं. किंतु महत्वपूर्ण यह नहीं है कि वे तब से लगातार लिख रही हैं, बल्कि यह है कि वे तब से 'बहते आंदोलनों' से प्रायः अप्रभावित रहकर भी प्रासांगिक बनी हुई हैं. उनकी कहानियों को पढ़ते हुए प्रायः यह लगता है कि उनमें एक प्रकार की 'शिल्पहीनता' है (शिल्पहीनता शब्द का व्यवहार यहां सापेक्ष अर्थों में ही किया जा रहा है) और जहां वे शिल्प के प्रति थोड़ी अधिक सजग हुई हैं, वहां असफल हुई हैं—जैसे इस संग्रह की कहानी 'स्त्री सुबोधिनी' में. लेकिन इस 'शिल्पहीनता' के बावजूद उनकी कहानियां 'अपील' करती हैं. उनकी कहानियों को समझना इस 'अपील' को ही समझना है. निर्मल वर्मा की कहानियां भी 'अपील' करती हैं, पर वे 'शिल्पहीनता' नहीं हैं. निर्मल वर्मा शिल्प के प्रति अत्यंत सजग हैं. . .हिंदी कहानी में अज्ञेय के बाद सबसे ज्यादा! लेकिन निर्मल वर्मा की 'अपील' और मन्नू भंडारी की 'अपील' में बहुत फर्क है. बल्कि दोनों दो छोर के उदाहरण हैं. मन्नू भंडारी की कहानियों में जमीन की निकटता (डाउन टू अर्थ) की अपील है, वे फिलासोफाइज भी नहीं करतीं. . .

हिंदी कहानी का मिजाज

दरअसल इन कहानियों में सहजता के साथ जुड़ी हुई जो चीज है—वह है एक प्रकार का 'कॉमनसेंस'. यह 'कॉमनसेंस ही अपील करता है. इस प्रसंग में हम यह तो कह सकते हैं कि कुछ कम ज़ोर या अपे .ाकृत असफल कहानियां हैं. पर उन्हीं के बारे में यह कतई नहीं कहा जा सकता कि वे हमारे चारों ओर की ज़िंदगी को बिना किसी लाग लपेट के पेश नहीं करतीं. यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि एक प्रकार का बनावटीपन, प्रदर्शनप्रियता और इसलिए एक बुनियादी बेईमानी आज की अनेक हिंदी कहानियों का मिजाज़ बन गयी है. ऐसी कहानियां अपनी ही संवेदना को झुठलाने वाली कहानियां हैं. (वह कहानियां कौन और कैसी हैं. इसकी चर्चा हम किसी अन्य प्रसंग में करेंगे) इसलिए मन्नू भंडारी की कई कहानियां लोगों को कुछ पिछड़ी हुई कहानियां भी लग सकती हैं. मसलन इस संग्रह की पहली ही कहानी 'आते जाते यायावर' को लें. यह कहानी आज की छद्म आधुनिकता के खिलाफ लिखी गयी है. यानी स्त्रियों के इस्तेमाल के लिए यह आधुनिकता कैसे एक जाल का काम करती है, कहानी इसे ही बताती है. इस तरह कहानी में 'नयी बात' कुछ भी नहीं है. उसमें किसी प्रकार की 'उपचार वक्रता' भी नहीं है. सब कुछ वही जो हम रात दिन देखते-सुनते, जानते और प्रायः प्रयोग में भी लाते हैं. किंतु कहानी में अगर यही सारी बातें 'पुरुष-प्रभुत्व' को और इसी रूप में पुरुष की नीचता प्रमाणित करने के लिए लिखी गयी होती तो यह अपनी इस अत्यंत सामान्य सामग्री के साथ अत्यंत सामान्य कहानी होती. लेकिन कहानी आधुनिकता के संदर्भ में पुरुष के 'छल' को जितना खोलती है उतना ही स्त्री के छल को भी. कहानी की 'स्त्री' को पता है कि वह 'फंसाई' जा रही है, एक तथाकथित आधुनिक पुरुष के द्वारा चुस्त आधुनिक जुम्लों में दार्शनिकता बघारने के पीछे क्या है, यह उसे अच्छी तरह पता है. उसकी पद्धति और परिणति को भी वह पहचानती है. पर इस 'समझ हरेक राज़ को मगर फरेब खायेजा' में भी एक 'थ्रिल' है. इस 'थ्रिल' को स्वीकार करते ही वह अपनी भी एक बुनियादी कमज़ोरी को स्वीकार कर लेती है।

"लीक तोड़ना, संस्कारों से मुक्त होना इन मुहावरों का चारा डालने के लिए कैसी खूबसूरती से उपयोग किया जाता है आजकल···सचमुच आदमी तेज़ है और किसी को फंसाने के सारे हथकंडों से लैस···भीतर ही भीतर कुछ कुलबुलानेलगा. . .मैंने बड़ी तौलती-सी नज़र से एकबारउसे देखा."

धीरे-धीरे कहानी का स्वर ऐ[illegible] बन जाता है कि कौन किसका इस्तेमा[illegible] कर रहा है—कहना मुश्किल हो जा[illegible] है. अगर छल है तो दोनों तरफ है और [illegible] पूरी संवेदना का झूठ–उजागर हो जा[illegible] है. कहानी बिना किसी 'किल्शे' [illegible] 'जिप्सी होना', 'यायावर होना' आदि रोमांटिक जुमलों को हास्यस्पद ब[illegible] देती है. जबकि यह जानना दिलचस्प [illegible] कि कहानी में सारी बातचीत 'किल्शे[illegible]' में होती है. जिप्सी, यायावर, निरुद्दे[illegible] निरर्थक, भटकना, अतीत की छा[illegible] आदि. पर 'किल्शेज़' का इस्तेमाल [illegible] उन्हें 'किल्शेज़' साबित करने के लि[illegible] ही हुआ है. सारी बातचीत और सं[illegible] में जो झूठ है—उसे व्यक्त करने के लि[illegible]

जन्नत की हकीकत

मन्नू भंडारी की अधिकांश कहानि[illegible] का टोन 'माइल्ड होता है. उनका ट्रीटमें[illegible] भी बहुत धारदार नहीं होता. वे प्रा[illegible] मध्यमवर्गीय विवशताओं की कहानि[illegible] लिखती हैं. जिनमें पात्र कुछ न कर पा[illegible] की स्थिति में रहते हैं. उन में एक प्रका[illegible] की निरीहता और परिस्थितियों के प्र[illegible] समर्पण का भाव दीखता है: 'रेत [illegible] दीवार' और 'एखाने आकाशनाइं' [illegible] इसी तरह की मूक निरीहता है. सब कु[illegible] समझने, पर कुछ न कर पाने वाले पा[illegible] 'रेत की दीवार' में इसे भुगतता हु[illegible] 'पुरुष' है तो 'एखाने आकाशनाइं' में स्त्री[illegible] 'रेत की दीवार' में भी सब कुछ सुपरिचि[illegible] है—लगभग 'डिप्टी कलक्टरी' वा[illegible] स्थितियां हैं. वहां डिप्टी कलक्टरन ब[illegible] पाने की दीनता है तो यहां इंजीनिय[illegible] बन जाने की रिक्तता का एहसा[illegible] —एक बिखरते हुए निम्नमध्यमवर्गी[illegible] परिवार की आर्थिक स्थिति ही नहीं [illegible] उमीदें भी कथानक को इंजीनियर बनने [illegible] लिए दांव पर लगी हैं.पर इंजीनियर बन[illegible] वाले युवक को इस 'जन्नत की हकीक[illegible] पता है–"इंजीनियर बन भी गये तो क्या[illegible] बेकार इंजीनियर्स यूनियन की सदस्य[illegible]

ही तो!" औपनिवेशिक देश में ही हर बाप अपने बेटे को डिप्टी कलक्टर बनाने का सपना देखता है, पर वह सपना टूटता है क्योंकि हर लड़का तो डिप्टी कलक्टर नहीं हो सकता. पर यहां घर भर को भूखा रखकर बेटे को इंजीनियर बनाया जा रहा है. . .खून से सींच-सींच कर! पर बेटे को मालूम है कि इंजीनियर बन जाना नौकरी पाने की गारंटी नहीं है. एक बेहद महंगी पढ़ाई, उसके साथ जुड़ा एक झूठा गौरव बोध और फिर उसकी खौफनाक परिणति! ये सारी बातें उसे कई तरह से छोटा और हीन बना देती हैं? जबकि शायद होना इसका उलटा चाहिये! पर कहानी इसके आगे भी है. एक ज्यादा जटिल बोध से जुड़ी हुई. लड़के को इंजीनियर बनाने की कामना के पीछे पिता और परिवार का एक निरीह सा दीखने वाला पर लिजलिजा सा स्वार्थ है! उसे लगता है यदि यह एक शोषण और षड्यंत्र का जाल है जो इसके इर्द-गिर्द बुना जा रहा है

'ऊपर से सीधे सादे दीखने वाले बाबू उसे बहुत तेज़ और घाघ लगे. उसे लगा बाबू–अम्मा की अतिरिक्त सहनशीलता और त्याग, चंदा की समझदारी जैसे एक गुप्त षड्यंत्र के हिस्से हैं, जो उसके खिलाफ रचा गया है."

न आकाश, न बतास

पर कहानीकार तथा कथानायक दोनों को पता है कि इससे निस्तार नहीं है, इसलिए कहानी इसी 'नोट' के साथ खत्म हो जाती है :—समझदारी और विवशता के साथ ! वैसे भी समझदारी एक सीमा के बाद विवश तो बनाती है.

यह जानकार विवशता संग्रह की अंतिम कहानी 'एरवाने आकाशनाइ' में और भी अधिक स्पष्ट हो गयी है. यह कहानी एकवर्गीय संदर्भ में 'शहर' और 'गांव' दोनों की हकीकत पेश करती है–दोनों के बीच एक पुल की तरह जुड़ी हुई! कुछ दार्शनिक अंदाज में कहेंगे (जो कि कहानी में प्रत्यक्षतः नहींहै!) कहानी 'सुख' तलाशने की 'फ्यूटिलिटी' व्यक्त करती है–लेखा कलकत्ता में नौकरी करती है, अध्यापिका है. काम करते-करते उसने अपनी हड्डी-

मन्नू भंडारी

हड्डी निकाल ली है और ऐसी ही जिंदगी अपने आस-पास देखती है! एक और नयी जिंदगी शुरु करने का उत्साह, दूसरी ओर चरमराती गृहस्थियां! कलकत्ता–महानगर वह जगह है जहां न आकाश है, न बतास! दूसरी ओर गांव है–जहां खूब नीला बड़ा-सा आसमान है, खुली हवा है, हरे भरे खेत और अमराइयां हैं. पर. .? पर भयानक संकीर्णता है, छोटे-छोटे घिनौने पारिवारिक ईर्ष्या-द्वेष हैं! वहां (शहर में) लड़-झगड़कर भी एक तरह के 'वरण की स्वतंत्रता' है सुख भले न हों, पर यहां घुटती-घिसटती जिंदगियां हैं! 'सुरेश' शहर जाना चाहता है: "भाभी, यदि मैं कलकत्ता आ जाऊं तो कुछ ऐसा प्रबंध नहीं हो सकता कि काम भी मिल जाये और पढ़ाई भी चलती रहे?"

सुरेश के लिए शहर स्वर्ग है—जहां 'आकाश नहीं है, बतास नहीं !' –यहां घिनौनी-घुटन है.-शहर और गांव के साथ जुड़े हुए जिंदगी के इस सवाल को कहानी अनायास जिस तरह सामने ला देती है, वह हिंदी कहानियों में विरल हैं 'सुख' का यह सवाल अस्तित्ववादी नहीं है, अपने देश में हमारी स्थिति तथा आर्थिक हालातों से ताल्लुक रखता है.

सोचना और चाहना

एक ऐसी ही विवशता है 'शायद' कहानी में. बाहर रहकर नौकरी करता पति और कहीं दूर के शहर में खस्ताहाली में जीता परिवार. 'राखाल' को खामखयाली है कि वह दूर है तो क्या हुआ, जहां भी उसका परिवार है, उसका है वह वही जिंदगी जी रहा होता जो वह सोचता और चाहता है! पर वह भूल जाता है कि उसकी शारीरिक अनुपस्थिति उसके परिवार को उस तरह 'उसका' नहीं रहने देती, जैसे वह चाहता है बल्कि एक तरह से उसका परिवार' उसका रहता ही नहीं, वह हर छोटी चीज के लिए आसपास के 'दूसरों' का मोहताज ही नहीं रहता, उनके 'सहयोग' से जीता है. पर 'राखाल' के 'गृहस्वामी' अहं को यह स्वीकार नहीं, वह अपने छुट्टी के दिनों में उसे तोड़ना चाहता है, पर खुद टूट कर लौटता है, इस अहसास के साथ ही वह खुद भी वहां एक अस्वाभाविक और नकली जिंदगी जीता रहा है और अपने परिवार की 'स्वाभाविक' जिंदगी भी में उसने बाधा डाली है! सच्चाई यह है कि वे वहां (चाहे जैसे भी)स्वाभाविक है और वह यहां:—

". . .एकाएक उसे लगने लगा कि शायद वह एक बहुत ही नकली से माहौल से रहकर लौटा है. शायद माला कई बातों में केवल उसके डर के मारे ही चुप रही. बच्चू मन मारकर पढ़ने बैठता था. अब वह निश्चित होकर बस्ता पटक-शंकर के गराज या फुटपाथों पर खेलता फिरेगा. . . .छोटू शंकर के कंधों पर टंगकर तबला बजाया करेगा...राखाल नीचे उतर आया. मशीनों के बीच पहुंच उसे एक अजीब सी राहत मिली. लगा जैसे वह अपनी असली जगह आ गया."

जाहिर है कि यह 'असली जगह' भी भ्रम ही है; 'शायद असली जगह कहीं नहीं है! ये सारी कहानियां उस 'असली जगह' की तलाश ही करती हैं, जहां आदमी महसूस करे कि वह अपनी पूरी 'उपस्थिति' के साथ है! □

चर्चित पुस्तक

त्रिशंकु

प्रकाशकः अक्षर प्रकाशन
अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-2
मूल्य : बारह रुपये

जलन से सताती, खुजलाती घमौरियों की बेचैनी भूल जाइये।
नायसिल
अपनाइये!
शीघ्र आराम दिलानेवाला
घमौरियों का
पाउडर
केवल घमौरियों का पाउडर ही खाज, जलन व बेचैनी दूर करके शीघ्र आराम पहुंचाता है।
विशेष औषधियुक्त नायसिल हर दृष्टि से घमौरियों की रोकथाम करता है।
१. अत्यधिक पसीने को रोकता है।
२. पसीने को सोखता है।
३. दुर्गंध के कीटाणुओं का नाश करता है।
४. त्वचा को आराम पहुंचाता है।
२ पैक में उपलब्ध— नीला और सैण्डलवुड
नायसिल लाइये— घमौरियां भुलाइये!
केवल ६·६३रू.* में उपलब्ध
* अधिकतम रीटेल कीमत स्थानीय कर अतिरिक्त
nycil
PRICKLY HEAT POWDER
GN.79-364-E Hin

थैंक्यू मि. ग्लाड

महाराष्ट्र नाट्य मंडल, रायपुर द्वारा प्रस्तुत प्रदर्शन के एक दृश्य में वीर भूषण पटनायक व उमा की भूमिका में क्रमशः मुकुंद पराटकर तथा मीना घाट. निर्देशक थे—प्रो. जोगलंकर.

मराठी के प्रसिद्ध लेखक अनिल बर्वे का उपन्यास "थैंक्यू मि. ग्लाड" का नाट्य काफ़ी चर्चित रहा है. रूपांतर में लेखक ने मूल उपन्यास के

'उमा'– 'भूषण' : क्रांति में भावुक क्षण

ऐसे अंश नहीं दिये हैं, जो नाटक को विद्रोही एवं क्रांतिकारी मुद्रा प्रदान करते. इस तरह लेखक व्यवस्था से जहां सीधे टकराव से स्वयं का बचा ले गया है वही सामान्य जनता की नक्सलवाद के प्रति सहज उत्सुकता को भुनाने और स्वयं को अत्यन्त चतुराई के साथ क्रांतिकारिता की मुद्रा में दिखाने का सफल प्रयोग किया है. लेखक अपने इस चातुर्यपूर्ण कर्म में न केवल आज भी सफ़ल है, वरन इमरजेंसी में भी इस नाटक के मंचन ने उसे एक अलग किस्म की प्रतिष्ठा प्रदान की थी. इस गरीब देश का तथाकथित छद्म क्रांतिकारी बुद्धिजीवी किस तरह इस गरीब जनता की संभावनाओं के साथ खिलवाड़कर उन्हें सही नेतृत्व से वंचित करता है—यह नाटक इसका जीवंत प्रमाण है. **विभुकुमार**
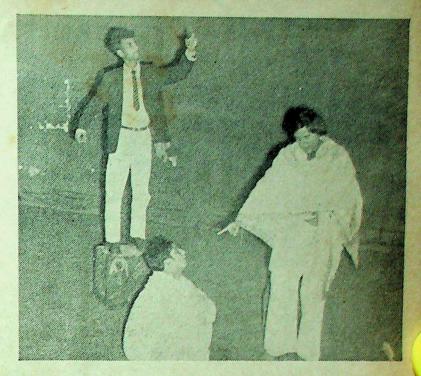
'क्लर्क', 'विश्वामित्र', 'क्रांति बाबू' : नाटक का एक भावपूर्ण दृश्य

शंबूक की हत्या

गत दिनों 'श्रीराम कलाकेंद्र,' दिल्ली में नाट्य संस्था 'शून्य' द्वारा आयोजित नरेंद्र कोहली के बहुचर्चित व्यंग्य नाटक 'शंबूक की हत्या' के एक संवेदनात्मक दृश्य में सुरेश भारद्वाज (क्लर्क), किरण खन्ना (विश्वामित्र) और शाम चोपड़ा (क्रांति बाबू). चंद्रमोहन के निर्देशन में इस सार्थक प्रदर्शन के अन्य प्रमुख कलाकार थे—सर्वश्री शिवकुमार शर्मा, विनोद गुप्ता, सुमन शुक्ला, राजीव कौशिक, रमेश खन्ना, बी. एस. राठौर, भरत धवन, योगेश वर्मा और कु. पोशिया मुकर्जी.

विवरण : प्रेम

नगरपुत्र हंसता है

नवलेखन मंच द्वारा धर्मेंद्र गुप्त के सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'नगर पुत्र हंसता है' पर प्रख्यात साहित्यकार श्री विष्णु प्रभाकर की अध्यक्षता में 17 फरवरी शनिवार को 'राजस्थान सूचना केंद्र' नयी दिल्ली में आयोजित परिचर्चा गोष्ठी में बोलते हुए श्री अजित कुमार ने कहा, 'मैं ऐसी कृति को अच्छी कृति मानता हूं जिसको एक से अधिक कोणों से पढ़ा और समझा जा सके.

दरअसल, अवमूल्यन एक ऐसी प्रक्रिया है कि जिसमें इस उपन्यास के सभी पात्र पड़े हुए हैं, गुणाकर समेत. सबसे अधिक अगर कोई अवमूल्यन करता है तो वह गुणाकर ही करता है. अपने सारे संबंधों को अवमूल्यन करता है, बदले में उसको अवमूल्यन मिलता है. यह सारी की सारी प्रक्रिया अवमूल्यन की इस उपन्यास में छायी हुई है.

डॉ हरदयाल ने कहा, 'संरचना के हिसाब से मुझे लगता है कि धर्मेंद्र गुप्त का यह उपन्यास रिपोर्ताज शैली का है. यह जो नगर सभ्यता है और हमारे जो परंपरागत संस्कार हैं, उसको देखते हुए यह उपन्यास हमको कई झटके देता है. जैसे माधवी का प्रसंग है, लगता है

कि माधवी को लेकर एक कथा पूरी की पूरी कहीं [illegible] लेकिन एक क्लाईमेक्स के साथ माधवी संबंध जुड़ती है और स्वयं मैं या उपन्यासकार उसे भूल जाता है. इस तरह का राजदान प्रसंग भी चलता है और उसके बाद वह प्रसंग समाप्त हो जाता है. इसी तरह से और जो प्रसंग हैं, वह एक बार उठते हैं और कुछ देर बाद उन्हें छोड़ दिया जाता है. सारे प्रसंगों को उठाना, महानगर की जो विसंगतिया हैं उनकी ओर संकेत करना है. महानगर में संबंध तात्कालिक होते हैं. कुछ समय के लिए वह संबंध बनते हैं और वह नदी नाव संयोग जैसे होते हैं. जिस भोलेपन के साथ इतनी गहरी बात कहने में धर्मेंद्र गुप्त समर्थ हो गये हैं वह बहुत महत्वपूर्ण चीज़ है.

डॉ. नरेंद्र मोहन ने कहा, 'प्रमुख पात्र गुणाकर अपनी मान्यताओं के विरुद्ध बात करता है. उपन्यास में यौन संबंधों की यांत्रिकता की ओर संकेत किया है और संघर्ष की स्थितियां उपन्यास में हैं, लेकिन लेखक प्रेम संबंधों के मोह में उन्हें छोड़ देता है. अवमूल्य का चित्र अच्छा है, व्यापक है, परंतु उपन्यास शुरू से भारतीय रुपये के अवमूल्यन के प्रसंग की ओर बार बार संकेत करना खटक सकता है. यह लेखक की नीति हो सकती है. सारी बात क्रूर शहरी व्यवस्था के खिलाफ खड़ी करने में समा गयी है.

डॉ. विनय ने कहा, 'रुपये के अवमूल्यन की बात मानवीय संबंधों के अवमूल्यन की ओर संकेत करती है. व्यक्ति और व्यवस्था के टकराव की बात भी उभर कर सामने आती है. पूरा उपन्यास एंटी रोमांटिक है. सभी पात्र वर्तमान में अधिक जीते हैं. कुछ बातें सामान्य पाठकों को उद्वेलित करती हैं. यह उपन्यास बहुत से उल्लेखनीय उपन्यासों में रखा जा सकता है.

श्री राजकुमार सैनी ने कहा, 'गुणाकर जो है वह एक अर्थ में अवमूल्यन का प्रतीक है. वह सिद्धांतहीन है. गुणाकर राइटर का स्पोक्स-मैन है.

इस उपन्यास में जो मुझे सबसे बड़ी निराशा हुई वह यह कि इसमें कहीं भी आत्मलोचन नहीं है. पूरे समाज की आलोचना है, सभी पार्टियों की आलोचना है, हर व्यक्ति की आलोचना है. अगर कुछ नहीं है तो आत्मलोचन नहीं है. इससे बड़ी रोमांटिकता और क्या है ?

श्री हंसराज रहवर ने कहा, 'यह उपन्यास मैं पढ़कर बोल रहा हूं, वरना बोलता न. इस उपन्यास को मैं बिल्कुल नहीं पढ़ सका. इसे उपन्यास नहीं कहा जा सकता, पुस्तक कह रहा हूं. जेम्स ज्वाइस पूंजीवाद की पतनोन्मुखता का प्रतिनिधि लेखक है और इसी से बिना कथानक के उपन्यास और कहानी लिखने की अस्वस्थ और पतनोन्मुख परंपरा चल पड़ी, जिसने जाने-अनजाने प्रतिक्रियावाद का हित पोषण होता है'

डॉ. रामदरश मिश्र ने कहा है, 'निश्चित रूप से गुणाकर लेखक का केंद्रीय पात्र है, जिसके माध्यम से लेखक यह बात कहना चाहता है कि गुणाकर बहुत बड़ा संघर्ष बहुत बड़ी लड़ाई लड़ने वाला पात्र नहीं है. लेखक ने उसमें आजकल की कुछ शक्तियां और उर्जा डालने की कोशिश की है. इसलिए ऐसा नहीं है कि गुणाकार के अनजाने ही सारी व्यवस्था या सारे संबंधों या सारी विसंगतियां नष्ट हो रही हैं. गुणाकार के माध्यम से हो रही हैं. मसलन गुणाकर टकराता है, कई जगहों से, स्त्रियों के संबंधों से, सारी सरकारी व्यवस्था से, सरकारी व्यवस्था का बिरोध करने वाली जो पार्टी है, उसकी विसंगतियों से इस उपन्यास में जो रुपये के अवमूल्यन की बात बार-बार आती है, मुझे ऐसा लगता है कि प्रतीकात्मक जो अर्थ हो सकता है वह यह कि स्वयं केंद्र जब अवमूल्यित हो रहा है तो सारे संबंधों का अवमूल्यन स्वाभाविक ही है.

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा है, 'जिसको आप यथार्थवादी लेखन कहते हैं तो जब तक यथार्थ और आदर्श का टकराव नहीं है, वह यथार्थ, यथार्थ नहीं है. नगर में आप हैं तो नगर में ही गांव है. सच बात तो यह है कि जो बड़े-बड़े नगरों का निर्माण हुआ है वह बिना किसान और मजदूर के नहीं सकता.

श्री रमाकांत ने कहा, 'सबसे पहली बात है कि मैं रहवर जी की राजनैतिक राय से आज तक सहमत नहीं हुआ धर्मेंद्र गुप्त का उपन्यास बोर नहीं है, जैसा कि रहवर जी कहते हैं.

मैं अपनी यह राय देना चाहूंगा कि इसमें जीवन के अवमूल्यन को दिखाने में, संबंधों का अवमूल्यन, प्रेम का अवमूल्यन , बौद्धिक जीवन का अवमूल्यन, राजनीति का अवमूल्यन, अखबारों का अवमूल्यन, इन तमाम जगहों में जहां पर उनका पात्र जाता है, उस अवमूल्यन को वह हमारे सामने रखने में समर्थ है. और उनका प्रमुख पात्र गुणाकर, उसमें कोई कमी है तो यही कि 'उस अवमूल्यन से वह कोई टकराव की स्थिति प्रस्तुत नहीं करता.'

जगदीश चर्तुवेदी ने कहा, 'रहवर जी और राजकुमार सैनी के कथनों से मैं सहमत नहीं हूं कि उपन्यास का मुख्य पात्र संवेदनशील नहीं है. अपने मित्र कैलाश के प्रति और उसकी मृत्यु के बाद उसके परिवार के प्रति गुणाकर का जो व्यवहार रहा है वह बताता है कि वह बहुत संवेदनशील है. उपन्यास के अंत से मैं जरूर सहमत नहीं हूं.'

गोष्ठी में इसके अतिरिक्त सर्वश्री गोपाल कृष्ण कौल, कुलदीप बग्गा, महीप सिंह, प्रदीप पंत, हिमांशु जोशी, ललित शुक्ल, रमेश बत्तरा, द्रोणवीर कोहली, रमेश रंजक, आदि साहित्यकार भी उपस्थित थे.

अध्यक्षीय भाषण में श्री विष्णु प्रभाकर ने कहा, 'मुश्किल बात यह है कि आप ईमानदारी के साथ क्या कहते हैं कहीं छद्म तो नहीं है. कहीं डायरी रखकर गहरायी में जाकर यह सब कुछ करने की बात तो नहीं है. इंटैलेक्चुअल बनने की कोशिश तो नहीं है. उपन्यास के अंदर जो बहुत साधारण से पात्र आते हैं जैसे जिलाराम, या सीताराम चपरासी आदि वह सब बहुत सशक्त हैं.

उपन्यास में दादा का चरित्र महत्वपूर्ण है. इस पात्र का विकास आवश्यक था. मगर ऐसा नहीं हुआ. गुणाकर प्रारंभ में एक्स्प्लायट करने की मुद्रा अपनाये हुए है, पर अंत में स्वयं एक्स्प्लायट हो जाता है. इसी के साथ राजदान के चरित्र में जो एकदम बदल जाने की प्रवृत्ति है वह सब वास्तव में रोजी-रोटी का यथार्थ ही है.

बैनेट, कोलमैन ऍंड कंपनी लिमिटेड, स्वत्वाधिकारी के लिए रमेशचन्द्र द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 से मुद्रित व प्रकाशित. जनरल-मैनेजर : डॉ. राम तरनेजा. पंजीकृत कार्यालय : डा. दादाभाई नौरोजी रोड, बंबई-400001. शाखाएँ : 7, बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली-110002; 139, आश्रम रोड, अहमदाबाद-380009; 105/7ए, एस. एन. बनर्जी रोड, कलकत्ता-700014. कार्यालय : 13/1, गवर्नमेंट प्लेस ईस्ट, कलकत्ता-700069; 15, मॉटियथ रोड, इग्मोर, मद्रास-600008; 407-1, तीरथ भवन, क्वार्टर गेट, पुणे-411002; 26, स्टेशन एप्रोच, सडबरी, वेंबले, मिडिलसेक्स, लंदन, यू. के., लंदन टेलीफोन : 01-903-9696.

पूर्व शुल्क के बिना डाक में डालने
की अनुमति–लाइसेंस सं. U-89